सम्यक् रचनावली
प्रथम संभार



प्रकाशक :
वाणीपुरम्
रूपायन संस्थान
बोरुन्दा ३४२ ६०४

प्रथम संस्करण :
मंगलवार, वसंतपंचमी, संवत् २०४३ विक्रमी
तीन फरवरी, १९८७ ईस्वी

मुद्रक :
कान्ति प्रसाद शर्मा
रुचिका प्रिण्टर्स
नवीन शाहदरा
दिल्ली ११० ०३२

जिल्द :
मोहम्मद रफी
ताज बुक वाइंडर
गली शाह तारा, नयी दिल्ली

दो सौ रुपये

अस्याभ्यासाद्ग्रन्थवर्यस्य शिष्यः सर्वज्ञः स्याद्विस्फुरच्चारुबुद्धिः ।
अर्थं कामं वेत्ति धर्मं च मोक्षं निःसंदेहं शीलितुं पण्डितोऽपि ॥ शार्ङ्गधरस्य ॥

इस ग्रन्थवर का अभ्यासी सर्वज्ञ सुपाठक चारुबुद्धि के विस्फुरण द्वारा अर्थ और काम को जानकर निस्सन्देह धर्म और मोक्षशीलित पण्डित भी हो सकता है ।

'मेरी परिकल्पना'
के
संख का यह बीज
अर्पित है :
त्रिमूर्ति . . . नहीं-नहीं
पंचमूर्ति के प्रतीक
डॉक्टर ब्रजगान मोहता
कोमल
प्रयाग
अनिल
और
विनय जैन को

बिज्जी

शाखा

खे शयति इति शाखा [आकाश में जो शयन करे वह शाखा]—यास्क

पूर्ण

है ॐ क्या ?
विज्ञान का 'बिग बैङ्ग' जो ; सम्पूर्ण अपने - आप में ।
उसकी धमक परमाणु-नर्त्तन-मूल में ।
संजीवनी - संचार उस से 'जीन' तक ।

'वह' पूर्ण है ; सम्पूर्ण, सारा एक - ही ;
नारी नही, नर भी नही, है शुद्ध चेतन एक 'वह' ।
है पूर्ण यह — संसार वर्द्धनशील, जीवन, चर - अचर ।

हर पूर्ण का उद्रेक होता पूर्ण ही ।
सम्पूर्ण देकर शेष बचता, पूर्ण ही है सर्वदा ।
सम्पूर्ण बचते विज्ञ गुरु — औ' शेष रहते ग्रन्थ भी सम्पूर्ण ही ।

पूरा महोसागर वही, गम्भीर, गह्वरवान, फैला आक्षितिज
वह मेघ विद्युत् - प्राणमय घुमड़ा हुआ आकाश पर, सम्पूर्ण है ।
वह बूंद उतनी पूर्ण है जितना महत् हिमलोक है ।
हर बीज उतना पूर्ण है, जितना, बड़ा वट - वृक्ष है ।
पत्ते नये या पंखुरी इक फूल की, फल-बीज सब तो पूर्ण है ।

आदान करते सूर्य, या नन्ही किरण — सम्पूर्ण हैं ।
आदान करती मां धरित्री पूर्ण है ।
आदान ही सम्पूर्ण है !

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

— बृहदारण्यकोपनिषद्, पंचम अध्याय, प्रथम ब्राह्मण, प्रथम श्लोक

विश्वास

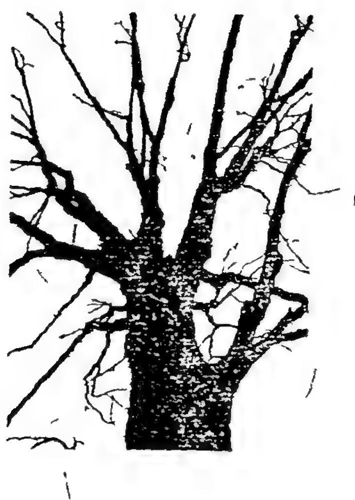
हंसते हुए
डंसते उपेक्षा - दंश से जो लोग
वे यह जान लें अच्छी तरह :
मेरे सृजन के यत्न ये
उनके लिए बिल्कुल नहीं।

सीमित नहीं है काल यह,
दिन - मास - वर्षों में कलित।
है काल - सागर आकलन या सङ्गणन की
अवधियों के पार भी।

विपुला मही बंजर नहीं, है उर्वरा
उत्पन्न होंगे ही कहीं, कुछ लोग मुझ - जैसे कभी
पहचान कर मेरी कला, समधर्मिता की आंख से
अपना सकेंगे आत्मवत इसको वही।

ये केचिदह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्तु ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ।।

— भवभूति



बोरून्दा

गुरुवार, २०-११-१९८६

चिरंजीव कर्मेन्दु शिशिर !

तुम्हें संबोधित करने के बहाने अपने तमाम अदीठ पाठकों को हाजिर-नाजिर मान कर आज पहली बार हिन्दी में उन से बात करना चाहता हूं—मुक्त मन से, मुक्त कलम से। जो सच्चाई मेरे अंतस की अतल गहराइयों में सोयी पड़ी थी, जिसे अब तक प्रकट करने का कोई औचित्य नहीं था। पर अब परिचित या अपरिचित विश्वस्त डॉक्टर के तुल्य अपने पाठकों के सामने संकोच से निर्मुक्त होकर कृत्रिम लिबास को परे खिसकाना ही होगा। अन्यथा भीतर-ही-भीतर पसरी हुई यह सुखद पीड़ा हमेशा के लिए असाध्य हो जायेगी। सामान्य सिद्धांत की हवाई बातें न बघार कर अपने अनुभव के कुछ आधे-अधूरे सत्य प्रस्तुत करना चाहता हूं। कतई जरूरी नहीं कि मेरे सिवाय किसी दूसरे लेखक पर यह प्रक्रिया लागू हो। फिर भी मेरे अजीज पाठकों की जानकारी के लिए यह संदिग्ध सच्चाई निहायत जरूरी है, नहीं तो मेरे लिए अब उसे दबा रखना अनुचित होगा, जिसकी क्षति से मेरे पाठक भी बच नहीं पायेंगे। आखिर अपने लेखक की क्षति, पाठकों के लिए ऐसी अपूरित क्षति होती है, जिसका खमियाजा किसी भी अन्य लेखक से वसूल नहीं हो सकता, चाहे वह कितना ही धाकड़, अपूर्व या अप्रतिम क्यों न हो।

क्या तुम विश्वास करोगे शिशिर, कि मेरे अध्ययन व सृजन में ये अजाने हिन्दी पाठक भी आंशिक रूप से भागीदार हैं, जिसकी आत्म-स्वीकृति के लिए अब मेरे मन में किसी तरह की दुविधा या उलझन नहीं है। पर एक बात स्पष्ट कर दूं कि मेरी मूल राजस्थानी रचनाओं के राजस्थानी पाठकों व अधिकांश लेखकों की तरह हिन्दी के पाठक भी यदि उसी तरह मेरी कसैली उपेक्षा करते, मुझे कोसते, फुसफुसाती निन्दा करते तो उन्हें अपने अध्ययन व सृजन का माझेदार हरगिज नहीं मानता। तुम बरस या डेढ़ बरस पहले बिहार

से यह सोच कर बोरुन्दा आये थे कि राजस्थान के घर-घर में मेरी 'फुलवाड़ी' की खुशबू महक रही होगी। जिस पहले व्यक्ति से मिलोगे, वह मुझे निश्चित रूप से पहचानता होगा, मेरी राजस्थानी कथाओं का जबरदस्त मुरीद होगा। मेरे बार-बार कहने पर भी तुम बड़ी मुश्किल से विश्वास कर पाये कि मुझ जैसी दारुण प्रताड़ना अपने प्रांत में, अपनी मातृभाषा में शायद ही किसी लेखक को मिली हो। हां, अलबत्ता मेरे इने-गिने आत्मीय मित्रों ने लेखक के रूप में मुझे अत्यधिक स्नेह व सम्मान दिया है, इस में कोई संदेह नहीं। कोरा-मोरा स्नेह-सम्मान ही नहीं, मुझे लेखक के रूप में अब तक कायम रखने का काफी कुछ श्रेय उन्हें है। उन अभिन्न मित्रों की प्रशंसा अपनी राय के अतिरिक्त ज्यादा उत्प्रेरक नहीं लगी। या यह भी संभव है कि प्रत्यक्ष मौखिक पसंदगी ने मुझे वांछित रूप से उद्वेलित नहीं किया हो। मगर लिखित या मुद्रित शब्द का काला जादू कुछ और ही होता है। रक्त के साथ-साथ मेरी हड्डियों तक में उसका असर घुला है। इस से इंकार करना तो अपने वजूद से इंकार करने जैसा है। यदि महेन्द्र कार्त्तिकेय की तरह मेरी कहानियों के प्रति वही माहौल बना रहता, उन्हें अश्लील, गंवई, अभद्र, अरुचिकर रूप में लांछित किया जाता तो अब तक मेरी समस्त कथाओं का हिन्दी अनुवाद 'राजकमल' के माध्यम से कब का प्रकाशित हो गया होता। और यह संयोग हिन्दी-साहित्य के लिए घाटे की बात होती या संवृद्धि की, फिलहाल इसका सही लेखा-जोखा नहीं किया जा सकता। सुदूर भविष्य का सिद्ध मुनीम ही इसके सही हिसाब का उचित निर्णायक होगा। अपने प्रांत में राजस्थानी के 'विशुद्ध' लेखकों व पाठकों की लांछना ने मेरे सृजन की गति को रंचमात्र भी शिथिल नहीं किया, मेरे उत्साह में किसी तरह की कोई हताशा किसी भी राह से प्रवेश नहीं पा सकी। मगर 'राजकमल' द्वारा प्रकाशित 'दुविधा' व 'उलझन' के मर्मज्ञ पाठकों व सामान्य समीक्षकों की अप्रत्याशित सराहना ने मुझे लगभग छह वर्ष से दिशाभ्रमित-सा कर रखा है और वही मेरे सृजन व अध्ययन की भावी उपलब्धि होगी। जीवन-पर्यन्त उनका चिर-उपकृत रहूंगा कि उन्होंने मुझे नये सिरे से सोचने-समझने के लिए बाध्य किया। मेरे सृजन की जानी-पहचानी राह मोड़ दी या मेरा रुख मोड़ दिया—दोनों एक ही बात है।

राजस्थानी में लिखना तो मेरे लिए पंछियों के कलरव की तरह नैसर्गिक था, तितली की उड़ान के समान नितांत स्वाभाविक था। मुझे यह आभास ही नहीं था कि मेरा सृजन या अध्ययन मेरे जीवन से अविच्छिन्न है। जिन्दा रहते जिस तरह सांस लेता हूं, देखता हूं, सुनता हूं, चलता हूं, उसी तरह मेरे लिए पढ़ना अनिवार्य है, लिखना अनिवार्य है। इन्हें बाद देकर मेरे अस्तित्व का कोई अर्थ ही नहीं। मेरे अस्तित्व को चाहे कोई भी बुरा कहे, भला कहे, मुझे हर सूरत में जीना है। कोई कुछ भी क्यों न कहे, मेरी बला से! वैसे ही मेरी रचनाओं की मौखिक भर्त्सना व प्रशंसा से मुझ पर जाने-अनजाने कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। सच, मुझे अब तक नहीं मालूम कि मैंने कितनी कथाएं लिखी हैं? सांस, धड़कन व कदम क्या कोई गिनती की चीज है?

'दुविधा' और 'उलझन' में तो केवल उनतालीस कथाओं का अनुवाद ही छपा है। राजस्थानी कथाओं की तुलना में नहीं के बराबर। और उन्हीं की निर्बन्ध सराहना ने मेरे जीवन, सृजन व अध्ययन तीनों को उलट-पलट कर रख दिया, यह कोई विश्वास करे जैसी

बात है ? जिसे अपने पर पुख्ता विश्वास नहीं होता, वह भला दूसरों पर क्या विश्वास करेगा ? हिन्दी के उन आत्म-विमुग्ध लेखकों के विश्वास या अविश्वास की मुझे दरकार भी नही है। मुझे अपने पर विश्वास है और मेरे अगोचर पाठकों का मुझ पर अगाध विश्वास है—चाहे वे कितनी ही अल्प संख्या में क्यों न हों ! गणना तो एक से ही प्रारंभ होती है, पर इसका अन्त...!

सो लिखित रूप में सबसे पहले मांगलिक शुरुआत की थी गोपाल भारद्वाज ने। निस्संकोच बताना चाहूंगा कि गोपाल भारद्वाज मेरा घनिष्ठ मित्र है—जोधपुर विश्वविद्यालय में समाज-शास्त्र का प्राध्यापक। नाम-मात्र का ही नहीं, सचमुच प्राध्यापक। अब भी उसे पढ़ाने की बजाय पढ़ने का ज्यादा शौक है। रुचि भी परिष्कृत है। आधुनिक सिनेमा, चालू संस्कृति, मनोरंजक पत्र-पत्रिकाओं तथा व्यावसायिक प्रकाशनों ने उसकी रुचि को भ्रष्ट नही किया। 'दूजौ कबीर' कहानी पढ़ कर, उसने दो-चार पंक्तियों में ही ऐसी उत्फुल्ल प्रशंसा की कि मैं हतप्रभ रह गया। पहली बार अपने सृजन के प्रति मैं सचेत हुआ। उसे अपने जीवन से अलग करके देखने का सर्वप्रथम यत्किंचित् अहसास हुआ। खुशी भी हुई। थोड़ा-बहुत प्रमोद भी हुआ। थोड़ा अविश्वास भी हुआ। कई बार उन पंक्तियों को बांचा। वास्तव में दुनिया जीने काबिल तो है ! उस सराहना में अपने सृजन की स्वतंत्र प्रतिच्छवि दिखलायी पड़ी। आज तुम्हें पहली बार बता रहा हूं कि 'दूजौ कबीर' के माध्यम से मैंने अपनी आत्म-यंत्रणा का मवाद ही बिखेरा है। इसे मेरी आत्म-कथा ही समझो। यों इस कहानी में वर्णित एक भी घटना का मेरे जीवन से दूर का भी संबंध नही है, पर मैंने अपने अध्ययन व सृजन के साथ आजीवन यही रिश्ता बरता है ; और पत्थर की तरह सब-कुछ चुपचाप सहा है। आखिर घूम-फिर कर लेखक की रचनाएं उसका नियोजित स्वप्न ही तो हैं !

विद्या-भवन, उदयपुर में एक और प्राध्यापक है—वेददान सुधीर। काफी निकट का रिश्तेदार। मेरी कथाएं मौखिक रूप से सुना-सुना कर, उनकी व्याख्या करके उसने इतना प्रचार किया है कि क्या बताऊं तुम्हें ? वाणी के शब्दों को तोलने का कोई यंत्र भी तो ईजाद नही हुआ। यदि उसके द्वारा उच्चरित शब्द ठोस, स्थूल रूप से एक जगह शामिल होते रहते तो अब तक छोटा-मोटा पहाड़-सा निर्मित हो जाता ! वह जब भी उदयपुर से गांव आता सिवाय मेरी कथाओं के दूसरी कुछ भी चर्चा नही करता। एक के बदले हजार मुंह भी होते तो वह मेरी प्रशंसा करते कभी नही अघाता। तभी तो महेन्द्र कार्त्तिकेय की भर्त्सना-मूलक समीक्षा पढ़ कर वह उबल पड़ा। किन्तु उसकी मौखिक प्रशंसा ने मुझे कभी प्रभावित नही किया। यह तो अपने मुंह से अपनी ही प्रशसा है। सच कहूं शिशिर, कि महेन्द्र कार्त्तिकेय की टिप्पणी भी मुझे अप्रत्याशित नही लगी ; क्योंकि राजस्थानी के अधिकांश लेखक व पाठक मेरी जी-भर कर निन्दा ही करते हैं। वे लेखक कौन हैं, कैसे हैं, क्या हैं, इसका हवाला देकर अपनी कलम का मुंह कलंकित नही करूंगा। हर भाषा की ऐसी विडम्बना रही है, इस में अनहोनी जैसी कोई बात नही। सृजन की बुलंदी के दौरान भी इस माजने के बंगाली लेखक, पाठक व संस्कृत के तथाकथित पंडितों ने रवि बाबू की क्या कम भर्त्सना की है ? कम खिल्ली उड़ायी है ? इनके मुंह से प्रशंसा के बोल निकलें तो

अवश्य अफसोस की बात है। किसी भी युग में मच्छरों की भिनभिनाहट न मिटी है और न मिटेगी। चेखोव की धारणा के अनुसार वे सिंह, हाथी व अजगर पर भी भिनभिना सकते हैं। मक्खी तो जहां बैठेगी, वहीं बैठेगी! मधुमक्खी की तरह वह फूलों से मधु का संचय नहीं करती। बेचारी मक्खी की यह क्षमता ही नहीं है, तब उसे दोष देना तो अपने ही शब्दों का अपव्यय करना है।

जो भी कहना चाहता हूं, उसी रूप में समझ रहे हो न? फिर भी, लिखित शब्दों के द्वारा अनलिखे शब्दों व निर्वाच्य सत्य को समझने की चेष्टा करना। गोपाल भारद्वाज और वेददान सुधीर मेरे अंतरंग आत्मीय हैं। बरसों से परिचित हैं। इनकी प्रशंसा मन और बुद्धि को सुहाती जरूर थी, पर मुझे बेखबर कभी नहीं किया। किसी अजाने व्यक्ति की इन से चौथाई प्रशंसा भी अधिक मादक होती। जिसका प्रत्यक्ष भुक्त-भोगी हूं मैं। इब्बार रब्बी और विष्णु नागर को मैं कतई नहीं जानता था। नाम से भी पूरा वाकिफ नहीं था। किसी अपरिचित की प्रशंसा का वह पहला पत्र था। शरत् बाबू, चेखोव तथा रवि बाबू की रचनाएं पढ़ कर मैं उनका परम भक्त हो सकता हूं। किन्तु मेरी कहानियां पढ़ कर कोई मेरा भक्त बने, बार-बार पढ़ने पर भी यह बात बड़ी मुश्किल से समझ में आयी। समझ कर भी विश्वास करना क्या आसान था? शराब का नशा तो बहुत मामूली होता है। आंखों से देखने मात्र से तो कुछ असर ही नहीं होता। हां, अलबत्ता औरत के रूप का नशा लिखित शब्दों के नशे की होड़ कर सकता है। क्योंकर तुलना करके बताऊं कि मेरे प्रथम प्रेम का नशा ज्यादा मादक था या इब्बार व विष्णु नागर की प्रशंसात्मक पंक्तियों का? फिर तो हिन्दी पाठकों और कुछेक समीक्षकों ने मुझ पर सराहना की बौछार ही कर दी। तुम्हारे पत्रों की अखूट पूंजी भी मेरे पास कम नहीं है। केवल पत्र लिख कर ही तुम्हें संतोष कहां हुआ? अपने परम-पूज्य लेखक से मिलने चले आये तुम! पटना से बोरुन्दा! 'जीसा' के दर्शनों की खातिर! मेरी संतान मुझे पापा, डैडी की बजाय 'जीसा' कहे तो अच्छी बात है। मगर यह बड़ी बात तो किसी सूरत में नहीं। पिता न होने पर भी कोई दूर-दराज का अपरिचित पाठक अपने प्रिय लेखक को पुत्रवत् 'जीसा' कहे—तो इस से बड़ा और क्या पुरस्कार हो सकता है? तुम जैसा ही एक बावरा व्यक्ति और है—मालचंद तिवाड़ी। श्रीडूंगरगढ़ का वासी। वह भी मुझे 'जीसा' कह कर संबोधित करता है। वह भी मुझ से गांव मिलने आया। प्रत्यक्ष संपर्क के उपरांत एक कविता भी लिख डाली उसने। मैं तो अपनी श्रद्धा के वशीभूत शरत् बाबू व गुरुदेव से मिलने, उनके दर्शन करने गांव से पैदल जाने का हौसला रखता था, पर मेरी रचनाओं से खिचकर पटना या श्रीडूंगरगढ़ से कोई बोरुन्दा आ धमके! किसी मुग्धा नायिका के लाजवाब सौंदर्य से आकर्षित होकर सूरज रात को उस से मिलने चला आये, इस पर भी विश्वास कर सकता हूं, पर मेरी कहानियों से 'ग्रस्त' होकर कोई मुझ से मिलने आये तो उसे क्या समझूं—पागल या मर्मज्ञ? क्या सचमुच इसका श्रेय मुझे है या चिर अविस्मरणीय मेरे गुरु शरत् बाबू को, चेखोव को या विश्व की समस्त प्रतिभाओं के गुरुदेव रवि बाबू को? क्या सच-मुच इस रूप में गुरु-दक्षिणा चुकाने के योग्य हूं मैं?

'सम्पूरण' तीन के दर्पण में कुछेक समीक्षाएं हैं: मणि कौल, स्वर्गीय सर्वेश्वरदयाल

सक्सेना, प्रेमकुमार मणि, योगेश गुप्त, बलराम, डॉक्टर संतोष तिवारी, गोपाल भारद्वाज, विजयमोहन सिह, मूलचंद गौतम, विष्णु नागर, अमृता प्रीतम, अब्दुल बिस्मिल्लाह, रवीन्द्र वर्मा, अरुण कमल की। बस, इतनी ही ! अन्य ख्याति प्राप्त लेखको की तुलना मे कुछ भी नही, पर मेरे लिए ये अनगिनत है। अधिकाश समीक्षको को जानता तक नही। न कोई परिचय और न कोई पत्र-व्यवहार ! भविष्य मे कारण-अकारण कुछेक व्यक्तियो से अनबन भी हो सकती है। पर मेरे भावी सृजन व अध्ययन के सीगे मे ये हमेशा के लिए निमित्त बन गये। मेरे नाम के साथ साहित्य की तवारीख मे इन उत्प्रेरक तत्त्वो का हवाला भी जुडना चाहिए, ऐसी मेरी धारणा है। इस आशय से प्रस्तुत रचनावली मे इन्हे प्रकाशित किया हे। इन समीक्षाओ के अलावा काफी पत्र भी है, जिन मे अधिकाश महिलाओ के है, यह मेरे लिए ओर भी गुमान की बात है। प्रत्यक्ष मिल कर तो न जाने कितनी महिलाओ ने रू-ब-रू अपने अतस के उद्‌गारो का इजहार किया है ! एक महिला ने तो पहली मुलाकात मे कुछ समय की चर्चा के उपरात मेरे पाव छूने की सहज प्रतिक्रिया प्रकट की तो मै शर्म के मारे गड़-सा गया। उसका तो बड़प्पन ही था, पर मै छोटा हो गया। इलियास कानेती की सूक्ति आखो के सामने कौध उठी—'कोई भी उपास्य या पूज्य व्यक्ति कितना दयनीय होता है। उफ्फ...बेचारे भगवान की दयनीयता का कोई पार है भला !' पर दूसरे ही क्षण...बरसो पूर्व बीते विद्यार्थी-जीवन की छेड़खानिया और शैतानी भी बिजली की भाति दमक उठी। एक-एक करके विगत आख्यान मेरे अंतस मे फूत्कारने लगे। कभी-कभार वर्त्तमान के क्षण यो विलुप्त अतीत मे डुबकी लगा जाते है। अपनी ठौर शारीरिक रूप से उपस्थित होते हुए भी मै भीतर से एकदम ओझल हो गया था। सहसा कानो मे तब के सहपाठी लड़को व लड़कियो का विद्रूप अट्टहास दहाड़ उठा। सर से पाव तक सिहरन दौड़ गयी। मेरा परम सौभाग्य कि मेरी प्रच्छन्न सिहरन वह भाप नही सकी। कहने की प्रबल इच्छा होते हुए भी उन विगत दुष्कृत्यो को मै होठो के बाहर दरसा नही सका।

मानुषी की सपादक मधु किश्वर ने 'दोहरी जिन्दगी' का अग्रेजी-अनुवाद भी प्रकाशित किया है। जिसकी प्रशंसा के कुछेक पत्र मानुषी मे छपे है। रूथ वनिता ने दस-बारह कथाओं का अंग्रेजी मे रूपातरण भी किया है। 'दुविधा' और 'उलझन' की अधिकाश कथाओ के नाटक भी मचित हुए है—हबीब तनवीर, दीपक केजरीवाल, इरपिदर, मृणाल पाण्डे, अमिता उद्‌गाता, असगर वजाहत, देवेन्द्र अंकुर इत्यादि के द्वारा। दूरदर्शन के लिए काफी चल-चित्र भी बने है। नीरजा मिश्रा व शारदाजी के तत्त्वावधान मे कुछेक कथाओ पर सेमिनार भी हुए। और यह सारा तामझाम घटित हुआ 'दुविधा' और 'उलझन' की उनतालीस कथाओ के इर्द-गिर्द। कोई दूसरा माने या न माने, पर मै निश्चित रूप से मानता हू कि मेरी रचनाओ के साथ 'राजकमल' का वाछित श्रेय भी कुछ कम नही है। प्रकाशक की भी अपनी पहचान और अपनी गरिमा होती है। 'साक्षात्कार' की बजाय माया अथवा मनोहर कहानियो मे 'प्रिय मृणाल' छपती तो क्या वह इस तरह उजागर हो सकती थी ?

और इस प्रशसा का क्या परिणाम हुआ, जानते हो ? तुम्हे ही क्या, किसी भी पाठक का आसानी से विश्वास नही होगा कि इस आशातीत सराहना के फलस्वरूप मेरा सृजन एकदम बिदक गया ! एक ही ठौर जैसे ठहर-सा गया। मुझ से मेरा सृजन स्वतत्र हो गया। पहली

वार महसूस हुआ कि मैं एक लेखक भी हूं। मेरे सृजन का मुझ से भिन्न अस्तित्व है। मुझ से प्रत्यक्ष मिले विना भी मेरे सृजन से पाठकों की आत्मीय मुलाकात हो सकती है। स्वप्न की भांति अप्रत्याशित पाठकों की इस प्रशंसा ने कौशल की अपेक्षा मेरी खामियों को मेरे सामने प्रतिविंवित कर दिया। किसी भी भारतीय लेखक के लिए यह कम धृष्टता का मसला है कि वेद, उपनिषद्, षड् दर्शन, महाभारत, रामायण, ब्रह्म-सूत्र, भरतमुनि, मम्मट, पाणिनी, कालिदास, भवभूति, दंडी, भामह इत्यादि को विना पढ़े ; प्राकृत, अपभ्रंश की विरासत को विना पचाये, स्वयं को लेखक माने ? नाम-मात्र के लिए इस अतुल्य थाती की छुट-पुट अभिज्ञता कतई पर्याप्त नहीं है ; अंगुलियों के पोरों पर अंकित होनी चाहिए। और न मुझे पश्चिम, यूनान, मिस्र व चीन इत्यादि की दार्शनिक, वैज्ञानिक, पौराणिक, ऐतिहासिक व साहित्यिक परंपरा का ही वांछित ज्ञान है। इस क्षेत्र में जो भी कमोवेश जानकारी है, वह एक पाठक के नाते तो अभिनन्दनीय है पर एक लेखक के नाते शोभनीय नहीं। अपने पाठकों की मर्यादा के अनुरूप ढल कर ही सृजन का वास्तविक श्रेय अर्जित करना है। अपेक्षित अध्ययन के लिए मेरा मन व्यग्र हो उठा। पर विना योग्य गुरु के संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश की अतल गहराइयों में पैठना भी संभव नहीं।

राजस्थानी के विजन पथ पर अकेला ही वढ़ रहा था। सहसा पांव रुक गये। आगे कहीं कोई राह दिखलायी नहीं पड़ी। तव से दिग्भ्रमित की तरह भटक रहा हूं। अव 'रूंख' के दौरान कुछ-कुछ धुंध छंटने लगी है। केवल लेखक ही पाठकों का निर्माण नहीं करता, पाठक भी लेखक का निर्माण करते हैं। सृजन के खाते में यह कम उपलब्धि है ? आजीवन उपकृत रहूंगा उन पाठकों का जिन्होंने जाने-अनजाने इस सच्चाई से साक्षात्कार करवाया। कम से कम तुम्हें, यह समझाने की कतई आवश्यकता नहीं कि अपनी छवि को उभारने के लिए मैंने ये समीक्षाएं प्रकाशित की हैं। मेरे भावी सृजन के इस परोक्ष योगदान को मेरे पाठक व समीक्षक प्रत्यक्ष रूप से जान सकें, वस इसी निखालिस मंशा से मैंने इन्हें पुनः प्रेषित किया है। फिर भी कोई मेरी मंशा पर संदेह करे, वैसे 'चतुर सुजान' को समझाने के लिए मेरे पास कोई सफाई या युक्ति नहीं है। वे जो समझना चाहें, समझें। 'विवेकचंद्र विश्वमानव' की तरह आखिर वही समझेंगे जो वे समझना चाहते हैं। लेखक की शारीरिक नियामत के लिए एक मां व एक पिता का होना तो अनिवार्य है और पर्याप्त भी, पर उसकी आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए क्या पाठकों के रूप में, क्या अन्य लेखकों के रूप में, जाने कितने मां-वाप हैं, जिनका आसानी से पता लग सकना भी संभव नहीं। सुतराम्, मेरे भी आध्यात्मिक 'माईत' अनेक हैं। लेखकों के साथ-साथ अब पाठक भी जुड़ गये। इसलिए तुम्हें संवोधित करने के वहाने अपने समस्त पाठकों के दरीखाने में उपस्थित होकर इस सच्चाई को सार्वजनिक रूप से स्वीकार कर लेना चाहता हूं कि 'दुविधा' और 'उलझन' की आशातीत सराहना के फलस्वरूप मेरा लिखना तो करीब-करीब रुक-सा गया है ; मगर अध्ययन हर सीगे में नियोजित ढंग से खूव किया—क्या विज्ञान, क्या दर्शन, क्या मानव-शास्त्र, क्या भाषा विज्ञान, क्या साहित्य—पर संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश की शुरुआत भी नहीं हुई। अव 'रूंख' के वाद उधर ही जमकर, आगे वढ़ूंगा। 'रूंख' की सम्यक् रचनावली के प्रथम संभार की समाप्ति तक अनुवाद, जेन-दर्शन, भाषा-शास्त्र, वनस्पति विज्ञान, भौतिक

विज्ञान, दर्शन व विकासवाद पर इतनी पुस्तके पढी कि पढने से जी भर गया और ज्ञान-प्रक्षालन की इस प्रक्रिया मे यह रहस्य धीरे-धीरे उघड़ने लगा कि अपने ऋषि-मुनियो के सदृश निर्मल व निर्ग्रन्थ होने के लिए मात्र अध्ययन ही पर्याप्त नही है। आचरण का अमृत ही अंतस को निर्मल व निर्ग्रन्थ बनाता है। फिर भी अध्ययन की अपनी महत्ता और अपना ही अलौकिक आनद है। करीव डेढ-साल तक 'रूख' के वीज को ही प्राप्त करने मे इस तरह व्यस्त रहा कि मेरे कुछेक घनिष्ठतम मित्रो को चिन्ता होने लगी कि मौलिक सृजन से विमुख होकर मै जगदीशचद्र वसु और रवि वाबू का अनुवाद करने मे जुत गया हू, न जाने कव इस मे मेरा निस्तार होगा। उनकी दृष्टि मे अनुवाद का कार्य भी काफी उपादेय है, किन्तु मुझे मौलिक सृजन की कीमत पर इस काम मे नही जुटना चाहिए। अपने अतर्द्वन्द्व को सही परिप्रेक्ष्य मे समझाने का कोई उचित संदर्भ नही मिला तो मैने खामोश रहना ही ठीक समझा। आज तुम्हारे माध्यम से वे भी मेरे आतरिक ऊहापोह से अवगत हो जायेगे। और उन्हे यह जानकर मुझ से ज्यादा खुशी होगी कि मै तैरता-तैरता उनकी मशा के अनुरूप सही घाट पर आ लगा हूं। अत्यधिक अध्ययन से अघा कर अब मौलिक सृजन की हूक मेरे अतस मे वेइन्तहा फड़फड़ा रही है। विज्ञान व दर्शन के वितण्डावाद मे सर खपाने की वजाय जू, सियार व कौवे की कहानिया लिखना ज्यादा श्रेयस्कर है। 'साहित्य ओर समाज' की रचना-प्रक्रिया के दौरान भी इसी मन:स्थिति से गुजरा था। जिसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप करीब तीस वर्ष तक मैने आलोचना व निवंध नही लिखे। पढना तो नियमित रूप से जारी रहेगा पर मौलिक सृजन को ज्यादा तरजीह दूगा। साथ-ही-साथ सस्कृत, प्राकृत व अपभ्रश की विरासत को सहेजने की भरसक चेप्टा करता रहूगा।

एक गहरे भेद की वात वताऊ शिशिर, कि 'रूख' की तैयारी के पहले मै जो व्यक्ति था, इसके समापन होते-होते वहुत-कुछ वदल गया हू। और मेरा यह विनम्र दावा है कि 'रूख' का पारायण करने के पश्चात् पाठक भी वह व्यक्ति नही रहेगा, जो इसे पूर्णतया वाचने के पूर्व था। अपने भीतर सर्वथा एक नये ही रूप से उसका परिचय होगा। यही तो वाचने की सिद्धि है, सृजन की सार्थकता है—अपने अंतस के पर्यटक के लिए एक नयी खोज—जो कोलम्वस द्वारा अमरीका की खोज से कही अधिक मागलिक व श्रेयस्कर हे। अमरीका की वह खोज तो एक दिन निश्चित ही सारे विश्व को विलुप्त करके रहेगी। कोलम्वस की उस खोज के वाद ही प्रत्येक देश के समुद्री डाकू, हत्यारे, अर्थलोलुप और निपट स्वार्थी लोग ही वहा जाकर वसे है। उस धरती के पुश्तैनी वाशिदो का उन्होंने मच्छर व पिस्सुओ की तरह सफाया किया है ओर आज भी कर रहे हे। सर्वथा अपनी परम्पराओ से कट कर उन्होने उस नयी दुनिया मे अपने जघन्यतम स्वार्थ की नयी जड़े जमायी है। जो लोभ की जड़े है, लालसा की जड़े है, वासना की जडे है, हिसा की जड़े है!

जरुर जानना चाहोगे कि 'रुख' की शुरुआत कैसे हुई?

जिन दम्मूजी को 'अधूरी चिट्ठी' सवोधित हे—उनका पूरा नाम है दामोदर थानवी। जगन्नाथ जी जाजू के फार्म मे पेड उगाते-उगाते, हरियाली देखते-देखते, नये अकुर, नये पत्ते और नयी कोपले निहारते-निहारते एक दिन सचमुच वाहर के पेड़ उनके अतस मे

अंकुरित होने लगे। भीतर छांह करने लगे। वयार करने लगे। भीतर-ही-भीतर पल्लवित और पुष्पित होने लगे। तव किसी एक संयोग की मांगलिक वेला में उन्होंने अपनी मंशा प्रकट की कि वे 'रूंख' नाम से एक मासिक पत्रिका निकालना चाहते हैं। कम-से-कम सोलह और अधिक-से-अधिक चौवीस पृष्ठों की। उनकी हार्दिक तमन्ना है कि मैं इसके लिए सहयोग करूं। हामी भरने से उऋण तो क्या होता, फिर भी वखुशी उसके लिए तैयार हो गया। एक वार मंजूर करने पर किसी भी काम को अधूरे मन से नहीं करता, चाहे झाड़ू लगाने का ही काम क्यों न हो! हर काम की सृजनात्मक मर्यादा होती है, वशर्ते कि वह मन के हाथों किया जाय। 'रूंख' के लिए मन की तरंगें काम करने लगीं तो सबसे पहले खयाल कौंधा—जगदीशचन्द्र वसु का। तव तक उनका नाम-ही-नाम सुना था। एकाध छुट-पुट जीवनी पढ़ी थी; जिसकी धूमिल-सी याद शेष रह गयी थी।

शंकर, केवल शंकर ही इस काम में मेरा सहयोगी रहेगा। 'मिस मूली' के निमित्त उस अचीती हानि का खमियाजा भी मुझे भरना था। दो अप्रेल १९८५ को शंकर गांव क्या आया, मानो मेरा स्वप्न पांवों चल कर मेरे पास आया हो। उसकी सहायता से जगदीश वावू का 'अव्यक्त' हिन्दी में व्यक्त होने लगा। सच कहूं शिशिर, कि मेरे अपने सृजन में तो मुझे कभी इस तरह के अनहद आनंद की अनुभूति नहीं हुई। 'अव्यक्त' की मशक्कत में दिन का उजाला चुटकियों की तत्पर गति से वीतने लगा। धरती के पेड़ अंतस में उगने लगे। गाछ-विरछ और पौधों को देखने की तासीर ही वदल गयी। खुशवू के अलावा भी मुस्कराते फूल कई वातें चुपचाप सुनाने लगे। पेड़ों की सांवली छाया में भी प्राणों का स्पंदन व हरियाली का रस नजर आने लगा। 'अव्यक्त' का यह कैसा प्रत्यक्ष प्रभाव हुआ? पेड़ फुसफुसा कर अपने सुख-दुख की वातें करने लगे। अपने हर्ष-विषाद के समाचार सुनाने लगे। परिवार की सीमित आत्मीयता पसरते-पसरते गाछ-विरछ व झाड़-झंखाड़ों तक फैल गयी। उनकी टहनियां तोड़ने पर अंगुलियों में पीड़ा कसक उठती। वसु मोशाय के छोटे-छोटे निवंधों में कविता-कहानी-सा अनुपम आनंद झूम-झूम उठता। नींद के सपनों में भी उस अनुवाद का अलौकिक आनंद आता रहा। टाइप होने तक हर अनुवाद हमारी तीन जोड़ी आंखों से आठ-दस वार गुजर चुका होता। पहले शंकर, फिर सत्यदेव और अंत में मैंने स्वयं एक-एक पंक्ति को जांच परख कर फिर से लिखा है। और छपने तक कुल दस-वारह मर्त्तवा छन कर हर रचना शुद्ध होती रही है, फिर भी अंतिम परिष्कार के लिए कुछ अशुद्धियां रह ही गयीं। मनुष्य के पुरुषार्थ का ऐसा दम-खम हो कि उसके काम में कुछ भी गलती न रहे। यदि रह जाय तो मनुष्य होने की यही सार्थकता है। यंत्र की तरह अचूक होने में मनुष्य के लिए गौरव की नहीं, लज्जा की वात है।

जगदीशचंद्र वसु की कुछेक चुनिंदा रचनाओं का सांगापांग संतोषप्रद अनुवाद संपन्न करके रवि वावू और वसु मोशाय के आपसी पत्र-व्यवहार का अनुवाद करना मुनासिव समझा ताकि एक वैज्ञानिक और कवि की अभिन्न आत्मीयता की अपूर्व झलक दिखलायी पड़े—जिस से छिछले साहित्यकारों की तुच्छ ईर्ष्या को झेंपने का मौका तो मिले! एक वैज्ञानिक कितना चिंतित था कि भारत का एक अतुल्य कवि उसके अथक परिश्रम से क्योंकर पश्चिम के सामने ठीक सूरज की तरह प्रतिभासित हो? एक कवि किस

कदर हमेशा चिंतित रहता था कि भारत का एक बेजोड़ वैज्ञानिक किस प्रकार पूनम के चंद्रमा की तरह अनंत आकाश में चांदनी फैलाये ! एक वैज्ञानिक विश्व के बेमिसाल कवि से कर्ण के चरित्र पर लिखने का आग्रह कर रहा है। और कवि उस आग्रह को विनम्र शालीनता के साथ अंगीकार कर रहा है। वैज्ञानिक प्रति क्षण परेशान है कि कवि की कुछेक कहानियों का अनुवाद पश्चिम के पाठकों की खातिर प्रस्तुत करे। और उधर कवि मार हैरान है कि वसु विज्ञान मंदिर के लिए किसके सामने झोली फैलाये ? उस भिक्षा से दोनों के गौरव की अभिवृद्धि होगी। यदि रवि बाबू की आर्थिक स्थिति अनुकूल होती तो वे स्वयं जगदीशचंद्र के लिए अपना सब-कुछ निछावर कर देते।

एक बार बसु मोशाय का मन क्लांत हुआ तो रवि बाबू ने उन्हें अपने यहां आमंत्रित किया। पद्मा नदी पर उन के बजरे में कवि और वैज्ञानिक पल-पल आगे बढ़ेंगे। हवा, आकाश और चांदनी का नैसर्गिक आनंद लेंगे। पक्षियों के साथ उड़ेंगे। तब वैज्ञानिक ने न जाने क्या सोच कर उन्हें लिखा कि यदि वे हर सांझ एक नयी कहानी लिख कर सुनायें तो यह आमंत्रण स्वीकार है, अन्यथा नहीं। जिस दिन कहानी रुक जायेगी, वे चल देंगे। रवि बाबू ने एक आज्ञाकारी शिशु की नाई उनकी बात मान ली। लगभग चौदह दिन तक वही सशर्त्त क्रम चलता रहा। ना, ये किसी परी देश की अनूठी कथाएं नहीं हैं। काश ! मैं ऐसी कल्पना कर सकता। वे कौन-सी चौदह कथाएं थीं, जिन्हें प्रति दिन लिख कर महाकवि ने विश्व के महान वैज्ञानिक को सुनायीं ? शांति निकेतन और बसु विज्ञान मंदिर जाकर इन कथाओं का पता करना होगा, तभी वे अपना मर्म उद्‌घाटित करेंगी। लो, अभी इसी वक्त यह खुशखबरी जान लो कि प्रूफ संशोधन के दौरान ही श्री कार्त्तिक चन्द्र दत्त ने पड़ताल करके जब मुझे इस जानकारी से समृद्ध किया तो तुम्हें क्योंकर महरूम रखूं ? सच, इतनी कहानियों का पता तो यहीं लग गया, रवीन्द्र भवन की साहित्य अकादमी के पुस्तकालय में। आभार-प्रदर्शन के शिष्टाचार में यदि मेरी तरह तुम्हें झिझक न हो तो दिल्ली-यात्रा के दौरान कार्त्तिक भाई के प्रति जरूर आभार प्रदर्शित करना। सबसे नीचे माले में ही इनका कमरा है, दाहिने हाथ की तरफ एकदम पहला ही ! तो अब सुन लो इन कहानियों के नाम—उद्धार, दुर्बुद्धि, फेल, सदर-अन्दर, शुभ दृष्टि, यज्ञेश्वरेर यज्ञ और उलखड़ेर विपद यह सन् १९०२ का अद्वितीय आख्यान है, जब वह महान वैज्ञानिक महाकवि के साथ शिलाईदह में रहे थे। काश ! शेष कथाओं में 'स्त्रीर पत्र', 'एक रात' आदि का जिक्र मिल जाय तो मेरी खुशी का पार नहीं रहेगा !

तुम्हें यह जान कर आश्चर्य होगा शिशिर, कि मैंने अब तक न शांति निकेतन देखा है और न बसु विज्ञान मंदिर। सच, मैं तो इन्हें यहीं अपने पास जब चाहूं, पा लेता हूं। दोनों ही अपनी रचनाओं के अच्छर-अच्छर में मौजूद हैं। मुझ से जी खोल कर बातें करते हैं। यदि अच्छरों से मन उचट जाता है तो जगदीश बाबू को गाछ-विरछ की उघड़ी जड़ों में पा लेता हूं, वृक्षों की हरियाली और पत्तों में खोज लेता हूं। फूलों की कलियों और उनकी भीनी खुशबू में उनकी गंध मिल जाती है मुझे। और रवि बाबू को शांति निकेतन के शाल वन में कहां तलाश करने जाऊं ? उन्हें संस्थान के बेर-खेजड़ी और बबूल के पत्तों में मुस्कराते देखता हूं। वे कभी बादलों से पानी के रूप में झिरमिर बरसते हैं, तो कभी बिजली बन कर

अट्टहास करते हैं' तो कभी ऊषा की अगवानी करते हुए मिल जाते हैं, तो कभी स्मित चांदनी में इस पार से उस पार तैरते हुए दिखलायी पड़ते हैं। कभी बच्चों की तुतली मुस्कान में छिपे मिलते हैं तो कभी उनकी टोली में खेलते हुए नजर आते हैं। 'रूंख' का एक-एक आखर आत्मसात कर लोगे तो वे तुम्हें भी इसी तरह सर्वत्र दिखलायी पड़ने लगेंगे।

बेचारे दम्मूजी के वे सोलह या चौबीस पन्ने बढ़ते-बढ़ते एक बार तीन सौ चौबीस पृष्ठों की त्रैमासिक पत्रिका के रूप में फैल गये थे और आज तुम्हारे हाथ में मौजूद हैं, सम्यक् रचनावली के रूप में। उन्होंने एक बार भी मेरी सनक को टोकने की जरूरत नहीं समझी। पर कभी-कभार दिल्लगी करते हुए जरूर कहते हैं, 'मेरे रूंख को तो आप के साहित्य की बकरी उगते ही चर गयी। कहीं नामोनिशान तक नहीं छोड़ा। हरि इच्छा! आप जो कुछ भी करेंगे, अच्छा ही करेंगे।' पर एक बात निश्चित है शिशिर, कि मेरे दुर्भाग्य से यदि दम्मूजी एक साहित्यकार होते, पत्रकार होते, प्रकाशक होते, आलोचक या बुद्धिजीवी होते तो वे मेरा जमकर विरोध करते। मेरी कोई बात उनके आगे पार नहीं पड़ती। संपर्क की आत्मीयता जहां शुरू हुई थी, वहीं समाप्त हो जाती। तब मेरा क्या हश्र होता? इस 'रूंख' की क्या गति होती? मेरे सृजन व अध्ययन की क्या परिणति होती? लेकिन संयोग का करिश्मा, कि ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। और जो हुआ वह सबके सामने है—मेरे जीवन और सृजन का नया सर्ग!

उद्भिज के महाकवि जगदीशचंद्र के ये गाछ-बिरछ अंकुरित होकर कब इतना विशाल आकार ग्रहण कर लेते हैं? कब किस वेला इनकी अभिवृद्धि होती है, कब टहनियां निकलती हैं, कब पत्ते फूटते हैं और कब पतली-पतली सुकोमल सींक प्रचण्ड तना बन जाती है, कुछ पता नहीं चलता! यह सब होता भी है या नहीं? केवल विभ्रम मात्र ही तो नहीं है? होता हुआ भी प्रतीत क्यों नहीं होता? वे स्थिर होते हुए भी क्षण-क्षण गतिशील हैं और गतिशील होते हुए भी स्थिर हैं। चंचल होते हुए भी अचंचल हैं और अचंचल होते हुए भी चंचल हैं। मूक होते हुए भी मुखर हैं और हर पल मुखर होते हुए भी निर्वाक् हैं। काल में प्रति क्षण बढ़ते हुए भी कालातीत हैं। भविष्य की ओर सदैव उन्मुख होते हुए भी ये गाछ-बिरछ पूर्णतया अतीत के ही प्राणवंत अवशेष हैं!

अपने अंतस्तल में झांक कर पड़ताल करता हूं तो मुझे ऐसा महसूस होता है कि गाछ-बिरछ के विकास की तरह ही मेरे सृजन और मेरी मर्मज्ञता का संवर्धन हुआ है। काल-सापेक्ष होते हुए भी वह कालातीत है। प्रति क्षण बढ़ता हुआ भी वह स्थिर है और स्थिर होते हुए भी गतिशील है। भविष्य की ओर उन्मुख होते हुए भी अतीत की जूठन है। जिस प्रकार कोई भी वृक्ष किसी दूसरे वृक्ष का स्वरूप ग्रहण नहीं करता, अपने 'स्व' के विस्तार में ही उसकी समूची परिणति है, उसी प्रकार मेरी मर्मज्ञता, मेरा सौंदर्य-बोध और मेरी रुचि अपने 'स्व' के विस्तार में ही परिवर्धित हुई है। ठेठ बचपन में परी कथाओं को सुनना मेरी शारीरिक आवश्यकता थी और आज उन्हें उसी रूप में सुनना मेरी आत्मा की जरूरत है। उन्हें सुनने में ठीक वैसा ही आनंद प्राप्त होता है। केवल 'स्त्रीर पत्र' को छोड़ कर 'रूंख' में प्रकाशित सभी कहानियां मुझे निरंतर तीस वर्ष से वैसा ही अक्षुण्ण आनंद प्रदान कर रही हैं। तब भी इन्हें पढ़ कर मेरे अंतस में हरियाली छिटकती थी और आज

भी उन्हें पढ़कर वैसी ही हरियाली दमकती है। वैसे ही फूल चटखते हैं। 'आत्मा की मुक्ति' के अतिरिक्त रॉबर्टो ब्राको की मैंने कोई अन्य रचना नहीं पढ़ी। पर इस एक कथा में ही जैसे उसकी अनेक कथाएं समाहित हों। जितनी बार पढ़ता हूं, मुझे यह एक नयी कथा ही महसूस होती है। जिन रचनाओं को मैं अब तक अपने मानस की अतल गहराइयों से पसंद करता रहा हूं, उनकी आंशिक बानगी, इस सम्यक् रचनावली के प्रथम-संभार में प्रस्तुत है। मेरे सृजन की तरह मेरी मर्मज्ञता भी मेरे पाठकों को उसी तरह उत्फुल्ल करेगी। इस विश्वास में यदि रंचमात्र भी शंका होती तो मैं आज के प्रदूषित साहित्यिक पर्यावरण में ये सब उत्कृष्ट रचनाएं देने की हिम्मत नहीं कर पाता। हर श्रेष्ठ कलाकृति के प्रति मेरी अक्षुण्ण आस्था है और निकृष्ट व फूहड़ चीजों के प्रति दुर्दम्य घृणा—इन दोनों के बीच सोते हुए भी मैं समझौता नहीं कर पाता। यदि मेरे विश्वस्त पाठक अपना समय और अपना अकलुषित मन मुझे देंगे तो 'रूंख' की ऐसी विभिन्न रचनावलियों द्वारा मैं उन्हें मुक्ति दूंगा। इस विनम्र दावे का मैं पूर्णतया अधिकृत दावेदार हूं। क्योंकि मैंने अब तक पुस्तकों में ही अपने जीवन की सर्वाधिक खोज करके मुक्ति का वरण किया है। मुझे पुस्तकों में चित्रित कल्पनाओं ने संसार की भौतिक वास्तविकताओं की अपेक्षा ज्यादा आकर्षित किया है। वे मेरे लिए सूरज-चांद की तरह सत्य हैं, अनिवार्य हैं। कथा-साहित्य के कल्पित पात्र मुझे अपने चतुर्दिक् संसार के जीवित व्यक्तियों की बनिस्बत अधिक वास्तविक लगते हैं। मैं किसी भी गुरुजन, श्रीमंत, विद्वान व बड़े-से-बड़े नेता की अवहेलना कर सकता हूं, पर मृणाल की, उसके छोटे भाई शरत् की, बिन्दु, अल्योशा, सिस्टर फिलोमना, गफूर व आमिना इत्यादि की उपेक्षा नहीं कर सकता। वे कदम-कदम पर मुझे टोकते हैं। तुम बिलकुल सही समझ रहे हो शिशिर, कि यदि मैं 'रूंख' से बाहर पात्रों के नाम गिनाने लगता तो वे अनगिनत हो जाते। जब भी ऐसा मौका आया मैंने 'रूंख' की छांह के बाहर पांव नहीं धरा। इन कल्पित पात्रों की आंतरिक मान्यताएं मेरे लिए नीति वाक्य हैं। कुछ भी गलत काम करने पर ये मुझे टोकते हैं, फटकारते हैं। अच्छा काम करने के लिए हर दम उकसाते हैं, मेरा हौसला बढ़ाते हैं। इन पात्रों की चारित्रिक गरिमा ही मेरी सर्वोपरि संपदा है, जिसके सामने मैंने अब तक भौतिक वैभव की तनिक भी परवाह नहीं की। और इस तरह बेपरवाह बनने के काबिल मुझे मेरे मित्रों ने बनाया है, इस बात को मैं जब-तब कबूल करता रहा हूं और कबूल करता रहूंगा। पुनरावृत्ति की कृत्रिम बौद्धिक आशंका मुझे बार-बार इस तथ्य को प्रचारित करने से रोक नही पायेगी। यह पुनरावृत्ति तो मेरी धड़कन व सांस की तरह है। नियमित सूर्योदय की भांति यह पुनरावृत्ति मुझे अनिवार्य महसूस होती है। समय-समय पर बारिश की पुनरा-वृत्ति न होने से ही अकाल पड़ता है। पुनरावृत्ति के दोष से कोयल एक बार बोल कर ही चुप नहीं रह जाती !

रवि बाबू के निबंधों में सर्वत्र कुहुक की पुनरावृत्तियों का वरदान भरा पड़ा है— संगीत की टेर के सदृश विमुग्धकारी। नमूने के बतौर पेड़ पर एकाध पत्ते से स्रष्टा का काम नहीं सरता और न सुन्दरता ही मुखरित होती है। उस पर असंख्य अगणित पत्तों का हरियल मुकुट चाहिए। रवि बाबू की कला का ऐसा ही अद्वितीय कौशल है। वे स्रष्टा

थे। ठौर-ठौर एक ही भाव और विचार की पुनरावृत्ति बौद्धिक-रति की परिचायक नहीं, उनकी आत्मा की उन्मुक्त झड़ी है, जो निरंतर रिमझिम-रिमझिम का मधुर छंद झंकृत करती ही रहेगी। आइंस्टीन ने तो सृष्टि के नियमों की खोज की है। ब्रह्मांड, गति, समय, ऊर्जा के बारे में नये-नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। दिक्-काल के सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित किया है, किन्तु रवि बाबू ने ब्रह्मा की तरह स्वयं सृष्टि की है। जो कुछ भी बाहर दृष्टिगोचर हो रहा है—पर्वत, झरने, नदियां, आकाश, मेघ, विद्युत, हरियाली, फूल, भौंरे, तितली, सूरज, चंद्रमा, दीपक, पंछी, पशु, समुद्र, मछलियां... इत्यादि वह सब उनकी रचनावली में अपनी गरिमा के साथ, वेश बदल कर प्रच्छन्न भाव से सुरक्षित है। उन्होंने अपनी कृतियों में समूची प्रकृति को ही चिर-बन्दिनी बना लिया है और वह बंधन ही उसकी चरम मुक्ति है, उसकी काव्यमयी अभ्यर्थना है, छंदमयी पूजा है। प्रकृति की पुनरावृत्ति को ही उन्होंने अपनी रचनाओं में लयबद्ध किया है।

कभी-कभार मुझे विभ्रम होता है कि भारत-भूमि का प्राकृतिक परिवेश रवि बाबू के वियोग में म्लान, क्लांत व श्रीहीन हो गया है। शायद इसीलिए कि सत्तर-करोड़ की किलबिलाती आबादी में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जो ऊषा के काव्य को बांच सके, नदी-झरनों के कलकल संगीत को समझ सके, फूलों के सौरभ की व्याख्या कर सके, बादल, बिजली व गूढ़ नक्षत्रों की टीका कर सके। हम भारतवासियों को तो सूरज-चांद भी नजर नही आते क्योंकि ये अमरीका या जापान के बने हुए नहीं हैं। प्रकृति के महाकाव्य का रस ग्रहण करने वाला वैसा कोई बन्दा भी तो पैदा नहीं हुआ! इसीलिए सूर्य का मुख-मंडल मलिन है, चांद की कांति धूमिल है। तब अलादीन का चिराग प्राप्त करने की प्रबल इच्छा होती है। चिराग को रगड़ते ही कसैले धुएं से 'जिन' की आकृति प्रकट होगी। मुझे चुप देख कर व्यग्र स्वर में वह दरियाफ्त करेगा कि मुझे क्या चाहिए? जो भी आकांक्षा हो तत्काल जाहिर करूं। चाहूं तो वह दूसरे ही क्षण आकाश का चांद तोड़ कर सामने ला पटकेगा। बहुमूल्य माणिक-मोतियों का अम्बार लगा देगा। इंद्रलोक की अप्सराओं को हाजिर कर देगा। हर चीज की खातिर इनकार सुनने के बाद वह झुंझला कर पूछेगा—'फिर क्या चाहिए तुम्हें, जल्द बताओ।'

तब मैं गंभीर स्वर में आदेश करता हुआ कहूंगा—'जाओ, दुनिया में जितनी भी भाषाएं हैं, उन में रवि बाबू की रचनावली का अनुवाद घर-घर पहुंचा दो। इस से अधिक दुनिया का कुछ भी कल्याण नहीं हो सकता!'

'कल्याण की चर्चा बाद में होगी, पहले यह बताओ कि ये रवि बाबू कौन हैं?'

'यह भी नहीं जानते? फिर कैसे 'जिन' हो? रवि बाबू के माने हैं श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर!'

'बड़ा टेढ़ा नाम है। मैं तो बोल ही नहीं सकता। जबान लड़खड़ाने लगती है। कोई सीधा-सा नाम रख सकते थे... मसलन अमिताभ, गावस्कर...!'

'खामोश! सवेरे-सवेरे ही सारा मजा किरकिरा कर दिया। जो कहा वही करके दिखाओ।'

'यह अनुवाद-फनुवाद का काम मेरे बस का नहीं। कहो तो अगली चुटकी तक अमरीका

पहुंचा दूं।' फिर थोड़ा मुस्करा कर पूछा—'न हो तो बम्बई के इन्द्रलोक से कोई चटपटी...।'

'नहीं चाहिए मुझे।' झिड़कने के पश्चात् फिर धीरे-से कहता हूं—'बस मेरी कलम में हरी स्याही भर दो और दफा हो जाओ। मुझे कोई दूसरा काम नहीं है।'

इधर मेरी कलम में स्याही पूरी हुई और उधर 'जिन' ओझल !

जानते हो शिशिर, रवि बाबू जीवन पर्यन्त आगाह करते रहे कि 'जिस पेड़ की जड़ कट जाती है, उसे सूर्य का प्रकाश सुखा देता है, वर्षा का जल सड़ा देता है।' धरती से जुड़े पेड़ को सूरज का प्रकाश पल-पल सहलाता है। उसकी किरणों के चुम्बन से वह आकाश की ओर बढ़ता है। बारिश की फुहार उस में फूल खिलाती है, सुगंध भरती है, गुदगुदी करती है। पर धरती से जड़ कटते ही सारी ऊर्जा नष्ट हो जाती है। प्राणों का संचार करने वाले देवता उसका अस्तित्व मिटाने के लिए बेताव हो उठते हैं। चिरंजीव कर्मेन्दु शिशिर, हमारे रूंख की जड़ें कट चुकी हैं। हमारा समूचा अस्तित्व ही खतरे में है। सूरज का प्रकाश हमें सुखा देगा। वर्षा का जल हमें सड़ा देगा। कहने भर को अंग्रेजों की गुलामी से पीछा छूटा तो अमरीका के सांस्कृतिक दास हो गये। दासता का कोई एक रूप नहीं होता, ईश्वर की तरह उसके अनेक रूप हैं। काश ! कृषि की उपज से संबंधित ईतियों की तरह सांस्कृतिक उपद्रव तथा विघटन की दारुण विभीषिका के प्रति भी 'समाज-सुधारकों' का चित्त आकर्षित होता। मेरी राय जानना चाहो तो ये सांस्कृतिक ईतियां कहीं, हजारगुना घातक हैं। वासी उदासीनता के इस रौरव नरक से क्या हमें नींद के दौरान भी मुक्ति मिल सकेगी ? मुझे तो न पांवों के नीचे आशा नजर आती है और न माथे के ऊपर ! झूठी, बेबुनियाद आशा तो निराशा से अधिक घिनौनी होती है।

रवि बाबू ने स्वयं अपनी भूल स्वीकार करते हुए कहा, 'मैं बचपन से केवल आंख के द्वारा देखने का अभ्यस्त था। आज एकाएक मैंने अपनी पूरी चेतना से देखना शुरू किया।' तो ललाट की आंखों से देख कर समझने का गुमान कितना भ्रामक है ! उन से कुछ नहीं दिखता, केवल चैतन्य की आंखों से, आतमा की आंखों से सत्य की झांकी मिल सकती है। 'सहज को दुरूह करके जब पाया जाता है, तभी पाना सार्थक होता है।' और हम सहज में सब-कुछ हथिया लेना चाहते हैं—हिमालय को, गंगा-गोदावरी को ! पर हिमालय और समूची गंगा निगलने के बाद भी हमारा पेट तो वैसा ही खाली रह जायेगा ! पेट की क्षुधा या शरीर की भूख भला कब शांत होने वाली है ? यह जठराग्नि तो हमारी आत्मा, हमारी बुद्धि तक स्वाहा कर डालेगी। और हम अमरीका व पश्चिम की नकल करने में ही मगन हैं। काच की गोलियों के सामने हम अपने अमूल्य नगीनों को बिसरते जा रहे हैं ! कल रात ज़हीर भाई के मुंह से मदालसा की लोरी सुनी तो निर्लज्ज तुलना के अपराध-बोध से दिल दहल उठा। तब से आज सवेरे तक न जाने कितनी वार किकिया उठा हूं : शुद्धोऽसि, बुद्धोऽसि, निरंजनोऽसि।—लाल मेरे ! शुद्ध है तू। बुद्ध है तू—जान ले। तू है निरंजन—पहिचान ले !

सांस्कृतिक गुलामी के इसी 'भूल सुधार' के लिए 'रूंख' की छटपटाहट है। नहीं जानता शिशिर, कि इसे किस रूप में स्वीकार किया जायेगा ? 'देश मनुष्य की सृष्टि है। वह

मृण्मय नहीं, चिन्मय है। यदि मनुष्य प्रकाशमान हो तभी देश प्रकाशित होता है।...देश मिट्टी से नहीं, मनुष्यों से बनता है।' 'साथ-ही-साथ यह सूक्ति से भी काम नहीं चलेगा कि माल मनुष्य का है, मनुष्य स्वयं माल नहीं है। वह अपने विश्व-जगत को केवल माल का संसार बना लेगा तो अपने-आपको मनुष्य कह कर पहचानेगा कैसे?' 'हतभागे' रवि बाबू की रचनावली में ठौर-ठौर ऐसा अमृत छलक रहा है। मगर कौन पीना चाहेगा उसे? किसके गले में वैसी प्यास है? हम तो गंदे पोखर से प्यास बुझाने के आदी हो गये हैं। धर्मयुग के इस प्रदूषित परिवेश में ये सत्य-कथाएं, ये दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र दिन-ब-दिन काला जहर घोलने की होड़ में व्यग्र हो रहे हैं।

मनोरंजन!

मनोरंजन!!

आम आदमी का मनोरंजन करने के लिए कितने परेशान हैं ये पत्रकार! कितने उद्विग्न हैं ये सम्पादक! जैसे इस लक्ष्य के सिवाय उनके पास दूसरा काम ही न हो! जन-जन का दिल बहलाने के लिए ही अवतरित हुए हैं मनोरंजन के ये ठावेदार! समय काटने के निमित्त, मनोरंजन की ओट में, अभिव्यक्ति की आजादी के नाम पर, जो हलाहल उंडेला जा रहा है, उस घातक मंत्रणा के प्रतिरोध में मेरी परिकल्पना के 'रूंख' का यह बीज प्रस्तुत है। मगर यह अंकुरित कैसे होगा? प्रस्फुटित कैसे होगा? चारों ओर जहर-ही-जहर घुल रहा है! इसकी शीतल स्वस्थ बयार जन-जन के पास पहुंचे, उसके पहले मनोरंजन का उन्मादी पांव इसे कुचल डालेगा। और उसी पल शेखचिल्ली का दिवास्वप्न ध्वस्त हो जायेगा। क्यों शिशिर, हम सभी शेखचिल्ली व डॉन क्विक्जोट के प्रतिरूप ही हैं न? यह भी तो एक बहुत बड़ी सच्चाई है और साथ-ही-साथ यह भी नजरअंदाज करने जैसी छोटी सच्चाई नहीं है कि इस 'मनोरंजन-उद्योग' की सफलता के लिए, अभिव्यक्ति की आजादी के नाम पर, व्यावसायिक मुनाफे के निमित्त, अच्छी खबरों की बजाय सनसनीखेज बुरी खबरें छापना निहायत जरूरी है, क्योंकि नैतिक खबरों की तुलना में अनैतिक खबरें धड़ल्ले से बिकती हैं। मास मीडिया का यही तो जबरदस्त अभिशाप है कि हम खबरों के पास नहीं पहुंचते, खबरें हमारे पास पहुंचती हैं। और यह असह्य सच्चाई मनुष्य को निष्क्रिय, जड़, उदासीन, अकर्मण्य और निर्मम बना देती है। कार्ल मार्क्स की दृष्टि से 'किसी भी कीमत पर व्यावसायिक न बनना ही संचार-जगत की एकमात्र आजादी है।' मुनाफे का शत-प्रतिशत निषेध ही उसकी चरम मुक्ति है। मुनाफे की स्वच्छन्द प्रतिस्पर्धा तो डकैती से भी बदतर जघन्य अपराध है। पूंजीवादी समाज की यही विषाक्त त्रासदी है कि उसके पिछलग्गू बुद्धिजीवी, वैज्ञानिक, धर्म और ईश्वर तक खरीद-फरोख्त की वस्तु बन जाते हैं। वैज्ञानिक खोज का प्रत्येक नवीन उपहार अपनी घातक भूमिका अदा करने के लिए बाध्य है। 'यह जाहिर है कि बाह्य यथार्थ को देखने के लिए अन्मानवीय प्राकृत नेत्रों की तुलना में मानवीय परिष्कृत आंखों की एक अपनी ही विशेष नियामत है। और सुनने के लिए प्राकृत कान की तुलना में परिष्कृत कान की एक दूसरी ही विशिष्ट तासीर है।' यह रवि बाबू का नहीं, कार्ल मार्क्स का उद्धरण है। मगर आर्य-सत्य को समझने की दोनों में कितनी गहरी समानता है! मार्क्स की 'परिष्कृत मानवीय आंखें' रवि बाबू की चेतना-स्रवण आंखें

हैं। न जाने ऐसे कितने उद्धरण हैं, जिन में दोनों मनीषियों के तात्त्विक विचारों में गहरा साम्य है। फिर भी यह कहने की नादानी नही करूंगा कि बौद्ध-सत्य तक पहुंचने के लिए दोनों का पथ एक ही है। वे अपनी-अपनी अलग राहों से एक ही सत्य के करीब पहुंचे हैं। सत्य का बोध उन्हें अपने-अपने ढंग से हुआ और उसे परिभाषित भी उन्होंने अपनी-अपनी शैली में किया। रवि बाबू कवि थे और कार्ल मार्क्स राजनीति व अर्थशास्त्र के अपूर्व चिंतक थे। कार्ल मार्क्स बाह्य-जगत के दार्शनिक थे और रवि बाबू अंतर्जगत के महाकवि ! जो कार्ल मार्क्स के आगे का सत्य है, बहुत आगे का। फिर भी हर कदम और हर मंजिल की अपनी सार्थकता और अपनी गरिमा है।

पिछले तीस वर्षो तक मार्क्स की एक ब्रह्म-सूक्ति ने साहित्य के पथ पर मुझे जितना संबल प्रदान किया, वैसा अयाचित वरदान मुझे और कही से प्राप्त नही हुआ। अभेद्य कवच की तरह उस सूक्ति ने प्रत्येक अचूक तीर से मुझे बचाया है। अन्यथा 'दूबरी हिरणी' का रोम-रोम उन जहरीली नोकों मे बिंध कर लहूलुहान हो गया होता। 'यह नितांत अपरिहार्य है कि एक लेखक अपने जीवन-यापन के लिए आवश्यक साधन जुटाये, जरूर जुटाये ; इसलिए कि उसे जिन्दा रहना है और लिखना है। पर किसी भी सूरत में उसे हरगिज ऐसा नही करना चाहिए कि वह जीवन-यापन के साधन जुटाने की खातिर जिन्दा रहे और लिखता रहे।' इन दोनों प्रकार के लेखन में जमीन-आसमान का अन्तर है। एक फूलों की भीनी खुशबू है तो दूसरा मरे पशु की असह्य बदबू ! इन दोनों प्रक्रियाओं के विभिन्न आयाम की मन-ही-मन छान-बीन कर रहा था कि ज़हीर भाई कत्थई मुस्कान को दबाने की चेष्टा करते हुए मेरे सामने आकर खड़े हुए। बच्चे की नाई मन में उठी हुई बात को होंठों से बाहर निकालने पर ही इनकी उद्विग्नता निथरती है। बोले, 'बड़ी भारी गलती रह गयी—'महेश' कहानी में 'आमिना' को 'अमीना' कर दिया ?'

मैंने तुरंत सर हिलाते हुए प्रतिवाद किया, 'नही, ऐसा हो ही नही सकता। गफूर की बेटी अमीना तो मेरे दिल में बसी हुई है, उसके नाम में कैसे चूक हो सकती है ?'

उनके हाथ में महाभारत के समान ही 'शरत् साहित्य समग्र' की सघन पोथी थी। आनन्द पब्लिशर्स प्रा. लि. का अपूर्व प्रकाशन। मुस्कराहट के साथ उसे सामने करते हुए बोले, 'यह देखिये !'

सचमुच आमिना ही था। फिर भी मैंने खामखा जिद करते हुए कहा, 'इस में गलत छपा है। मैं नही मानता।' मुझे शरत् बाबू से अधिक उनके पात्रों पर विश्वास था। पोथीखाने में जाकर एकाध और संस्करण देखे। उन में भी आमिना छपा था। जहीर भाई उल्लसित होकर कहने लगे, 'आमिना जो अम्न पा गयी हो। मुहम्मद साहब की मां का नाम था। शरत् बाबू ने बहुत सोच-समझ कर यह नाम रखा है।'

'तब तो जरूर अंतिम परिष्कार में यह भयंकर गलती दुरुस्त हो जानी चाहिए। मगर यह हुआ कैसे ? अब भी विश्वास करने को जी नही करता। मुझ से शरत् बाबू के बारे में भूल नही पड़ सकती।'

'मगर भूल तो पड़ ही गयी। मन की आंखो से पढ़ने पर प्रूफ की गलतियां छूट जाती हैं।'

मुलाकात के बाद यह रहस्य कुछ-कुछ समझ में आने लगा है। वह सुयोग शायद...शायद क्यों, निश्चित रूप से अगस्त के दूसरे सप्ताह में फलित हुआ। 'रूंख' की छपाई के लिए वह मेरा पांचवां दिल्ली प्रवास था। नवीन शाहदरा के 'रुचिका प्रिंटर्स' में इसकी छपाई हो रही थी। 'राजकमल' प्रकाशन की अधिकांश पुस्तकें यहीं छपती हैं। मोहन गुप्त की वजह से कान्ति के साथ मेरा अच्छा-खासा घरापा हो गया। दिल्ली में छपाई हो और मेरा 'रूंख' कान्ति के प्रेस में न छपे, यह मेरी समझ के बाहर की बात थी। मुझे अच्छे यंत्र की नहीं, हमेशा अच्छे आदमी की तलाश रहती है। हालांकि कान्ति ने काफी हैरान किया है, मैंने भी उसे कम हैरान नहीं किया, पर उसके साथ मेरी अच्छी पटती है। थोड़ी देर के लिए नाराज भले हो जाऊं, उसे छोड़ नहीं सकता। मजेदार जीव है। बेहद जीवट वाला, जिन्दादिल। तबीयत से सिगरेट के कश खींचता है। मुंह से निकले धुएं का भले कुछ भी रंग हो, उसका मन उजला है। यदि वह संबंधित अधिकारियों को रिश्वत देने में पटु होता तो अब तक काफी कमाई कर लेता। कई बार कहता है, 'यार बिज्जी, कुछ भी हो, रिश्वत मुझ से नहीं दी जाती। मोहन जी के आशीर्वाद से दाल-रोटी का जुगाड़ तो हो ही जाता है।' सबसे बड़ी बात है शिशिर, कि उसकी रगों का खून काला नहीं है, कृतघ्न नहीं है। कोई उसके साथ धोखा करे तो भूल जाता है, पर एहसान किसी का नहीं भूलता। और जमाना ऐसा है कि लोग मां-बाप को भी याद नहीं रखना चाहते।

सो बात यों बनी शिशिर, कि कान्ति के मुंह से किसी प्रसंग में मेरा नाम सुन कर स्वामी प्रेम ज़हीर कुछ चौकन्ने होकर बोले, 'बिज्जी ! कौन बिज्जी ? 'बापू के तीन हत्यारे' के लेखक तो नहीं ?'

उसके मुंह से हामी सुन कर उन्हें बेहद खुशी हुई। कान्ति के खयाल से शायद इतनी खुशी उन्हें लॉटरी का इनाम खुलने पर भी नहीं होती। दूसरे दिन प्रेस पहुंचा तो कान्ति ने बड़ी शान के साथ 'दो महान हस्तियों' की मुलाकात करवायी। अपने प्रेस की तवारीख में नौ अगस्त १९८६ का वह शुभ दिन उसे हमेशा याद रहेगा। जहां तक मेरा खयाल है उस अवसर पर उसने मिठाई भी बांटी थी। मुझ से थोड़ी देर औपचारिक बातें करके वे 'संयोग की लीला' के संशोधित प्रूफ फिर बांचने में मशगूल हो गये। उनका मन उन्हीं में अटका हुआ था। अबोध बच्चे की नाईं अपने आनन्द का स्रोत उन से छूट नहीं रहा था। अपनी चेतना के अजाने कुछ ही क्षण बाद वे इस तरह जोर-जोर से पढ़ने लगे, मानो आंखों की बजाय होंठों से पढ़ रहे हों। हठात् उनकी आंखों में आंसू छलक आये, गला भरभरा उठा, मुंह इस कदर लाल हो गया, जैसे लहू उबक पड़ेगा। शरत् बाबू की रचनाएं पढ़ कर इस तरह तो मैं रोता रहा हूं ! मेरी रचनाएं भी क्या किसी की आंखें नम कर सकती हैं ? उनकी आंखों के आंसू मेरे अंतस में उतर गये। समानधर्मा आंसुओं की छूत से पहली ही मुलाकात में आत्मीयता का ऐसा आदान-प्रदान हुआ जैसे बरसों बाद दो बिछुड़े हुए भाई मिले हों। यदि संयोग से 'रूंख' अगस्त के पहले प्रकाशित हो जाता तो रुचिका प्रिंटर्स में ज़हीर भाई से मुलाकात क्योंकर हो पाती ? मगर संयोग तो स्वयं अपना नियंता है, भला वह किसका नियंत्रण माने ? उसे घटित होना होता है तब एक क्षण का अंतराल भी संभव नहीं। न एक पल उधर और न एक पल इधर। उसी अविस्मरणीय सांझ की लालिमा

को साक्षी बना कर मैंने कान्ति को गले लगाया और उन्मुक्त भाव से कहा, 'कान्ति, तेरी ढिलाई तो वरदान साबित हो गयी ! कभी क्षमता हुई तो तुझे इनाम दूंगा।'

'बस, आपका आशीर्वाद चाहिए ।'

वापस गांव लौटते समय उन्हें साथ चलने के लिए कहा तो वे उसी क्षण मान गये, जैसे उन्हीं का काम हो । जिस माला के एक सौ आठ मनकों की मुझे विकट तलाश है, 'विनय' के बाद यह दूसरा मनका तो मुझे बैठे-ठाले ही मिल गया । शायद तलाश करने पर कुछ भी हाथ न लगे । हाथ पसारने से भीख भी नहीं मिलती और बिन मांगे मोती मिल जाते हैं । मैं भी अपने काम में निष्ठारत कम नहीं हूं, पर ज़हीर भाई मेरे काम में मुझ से भी ज्यादा मुस्तैद हैं । दूसरे के काम में इस तरह मन उंड़ेलने वाले अन्य व्यक्ति से मेरा अब तक साबका नहीं पड़ा । सवेरे चार बजे संस्थान में आता हूं तो पोथीखाने की रोशनी फाटक में घुसते ही नजर आ जाती है । कभी तीन बजे आकर आवाज देता हूं, 'ज़हीर भाई !'

पोथियों के बीच से गुजरती हुई आवाज सुनायी देती है '...जी ।' साथ ही एक उत्फुल्ल मुक्त हंसी की गुंजार ।

कभी-कभार दो बजे रोशनी के दीदार होने पर मेरा अंतस आलोक से भर उठता है । दरवाजे से कुछ पहले ही बरामदे में आगे बढ़ता हुआ और जोर से पुकारता हूं, 'ज़हीर भाई ।'

हंसी की पांखों पर उड़ती हुई आवाज मेरे कानों में झंकृत होती है, 'जी ।'

भीतर पांव रखते ही देखता हूं—ज़हीर भाई कुर्सी पर बैठे लिख रहे हैं । मुड़ कर पीछे देखने की भी उन्हें फुरसत नहीं । प्राचीन ऋषियों के रंग में रंगा हुआ मन । ऊपरी बाना उसी के अनुरूप—कसूमल चोला और कसूमल सुरतन । मुंह भी हर दम उसी रंग से वेष्टित । सर पर खिचड़ीनुमा घने बाल । दाढ़ी बनाने का समय नहीं मिला तो वह धीरे-धीरे बढ़ रही है । उसे तो बढ़ने के सिवाय काई दूसरा काम नहीं । कभी-कभार मैं बड़े पसोपेश में फंस जाता हूं, ठीक निर्णय नहीं कर पाता कि रोशनी किताबों पर पड़ रही है या किताबों के बीच से आलोक उद्भासित हो रहा है । कई बार ऐसा लगता है शिशिर, कि डी.एच. लॉरेंस ही पुनर्जीवित होकर मेरे साथ 'रूंख' के काम में जुट गया है । मिलान करोगे तो स्वयं तुम्हें यह जान कर बड़ा आश्चर्य होगा कि दोनों की सूरत में कितना साम्य है ? अपने खेल में मगन सत्यदेव के लड़के 'नींबू' [निर्मल] और अपने काम में तल्लीन ज़हीर भाई में परस्पर कम समानता नहीं है । एक-सी तन्मयता और एक-सा आनंद । परिश्रमी तो मैं भी कम नहीं हूं पर काम के साथ बाल्य-लीला जैसा जुड़ाव नहीं है । पहले तो कबीर की एक ही पंक्ति जबान से चिपकी रहती थी । जब-तब गुनगुनाता रहता—'जे घर फूंकै आपना, चलै हमारै साथ ।' आजकल चार पांच दिन से मदालसा की लोरी भी जबान पर चढ़ गयी है—'शुद्धोऽसि, बुद्धोऽसि, निरंजनोऽसि । लाल मेरे ! शुद्ध है तू । बुद्ध है तू—जान ले । तू है निरंजन—पहिचान ले !'

ज़हीर भाई बिना मुड़े ही खिलखिलाहट के साथ बोल पड़ते हैं, 'कोई जबरदस्ती है !' इनकी हंसी में बच्चे की-सी अवचैतन्य निर्मलता है ।

काफी मगजमारी करने के उपरांत भी जब मुझे कोई उपयुक्त उद्धरण हाथ नहीं लगा तो मैंने ज़हीर भाई के सामने अपनी आंतरिक इच्छा जाहिर की कि 'मंजूषा' के प्रारंभ में कोई ऐसी लाजवाब सूक्ति जाये जिसकी संगत से सारे शब्द खिल उठें। निमिष भर सोचने के बाद वे इस तरह उत्साह व खुशी के साथ चहक उठे मानो समुद्र की अतल गहराई में डुबकी लगाकर मोती निकाल लाये हों। "इस में क्या मुश्किल है। भगवान पतंजलि बहुत पहले ही आपकी जिज्ञासा का निवारण कर चुके हैं --'एकः शब्दः सम्यगधीतः सम्यक् प्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति।' सम्यक् रूप से एक भी शब्द का अध्ययन और प्रयोग मृत्युलोक और स्वर्ग दोनों में सब कामनाएं पूरी करने वाला होता है।"

समस्त भौतिक खुशियों की उड़ान का तो एक सीमित मंडल है, शिशिर, पर इस तरह के आत्मिक आनंद का कहीं कोई ओर-छोर नहीं। ज़हीर भाई की निष्ठा व तन्मयता से सोने में सुहागा घुलेगा। 'रूंख' जैसा उपादेय और कल्याणकारी परिशिष्ट भी तुम्हें कहीं नहीं मिलेगा। मेरे लिए इतना सब-कुछ करना वाकई बहुत दूभर था। फिर किसके अदीठ विश्वास पर मैंने यह योजना बनायी थी? मगर संयोग की निगाह से कुछ भी छिपा नहीं रहता। वह तो स्वयं अपना नियंता है। यदि 'रूंख' के प्रकाशन में इतनी देर नहीं होती तो ज़हीर भाई का संयोग कैसे जुड़ता? मेरी इस बात के लिए बुरा तो नहीं मानोगे शिशिर, कि इस अचीते सहयोग के लिए मैं इनका आभारी नहीं हूं। क्योंकि इस सारे काम में इन्होंने मुझ से कम आनंद नहीं उठाया है। मेरा नहीं, बिल्कुल अपना समझ कर यह काम किया है, निष्काम होकर। पूर्णतया बंधन मान कर भी इन्होंने इस से मुक्ति हासिल की है। अभी तक मैं ठीक तरह नहीं जान पाया कि ये किस भाषा में अधिक निष्णात हैं—अरबी, फारसी, हिन्दी, उर्दू या संस्कृत। बातचीत के दौरान एक बार इन्होंने स्वयं बताया कि औपचारिक शिक्षा का तालमेल ठीक-सर नहीं बैठ पाया। मुश्किल से नवमी कक्षा तक ही पढ़े हैं।

'रूंख' के प्रकाशन की देरी के फलस्वरूप एक ओर जहां स्वामी प्रेम ज़हीर की उपलब्धि हुई तो दूसरी ओर डॉक्टर छगन मोहता के सांयोगिक निधन से इतनी क्षति हुई, जिसका घाटा राजस्थान के हम सब बुद्धिजीवी मिल कर भी पूरा नहीं कर सकेंगे। मन की मन में रह गयी। उनके लिए तो मेरे समर्पण से कुछ फर्क नहीं पड़ता पर मेरे अंतस की साध धन्य हो जाती। वे भी तो शायद तीसरी या चौथी कक्षा तक ही पढ़े हुए थे। क्या बावरी सरस्वती शिक्षा से वंचित अपने अभागे पुत्रों को अधिक प्यार करती है? तुम विश्वास नहीं करोगे शिशिर, कि संगीत के अलावा सुनने का वैसा आनंद मुझे कभी नहीं आया। समझ नहीं पड़ता था कि छगन मोहता की बुद्धि को जिह्वा मिली थी या उनकी जिह्वा में ही बुद्धि समाहित थी? किसी भी विषय पर उनके मुंह से चर्चा बरस पड़ती तो कान तृप्त होना जानते ही नहीं थे। नितांत बौने के उनमान मैं उनके अदंत मुंह की ओर टुकुर-टुकुर देखता रहता। रोटी की बजाय शायद ज्ञान चबाने में ही एक-एक करके उनके दांत अकाल ही निःशेष हो गये। बहुत ज्यादा जोर पड़ता है न! वे जो कुछ भी जानते थे, उनके रोम-रोम में रचा-बसा था। और सहज इतने थे कि क्या बताऊं? मृत्यु की यही सबसे बड़ी विडम्बना है कि उन से अब तुम्हारी कभी मुलाकात नहीं करवा सकूंगा। यदि अपवाद के

रूप में मौत कुछ बरस तक उन्हें नही उठाती तो क्या क्षति होती? क्या उसे भी हमारी तरह उनके सत्संग का लोभ है ? केवल एक व्यक्ति इस बात का साक्षी है कि उनके निधन की पहली रात मुझे नीद में उनके सत्संग का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। केवल सपनों पर ही मौत का वश नही चलता। वह लाख कोशिश करे सपनों को नही मार सकती ! 'रूंख' के शीघ्र प्रकाशन का अनिल से पुरजोर वादा करके मैं एक दिन जयपुर दम्मूजी के यहां ठहरा था। सवेरे उठते ही मैंने दम्मूजी को छगन मोहता से मिलने की वह खुशखबरी सुनायी, जिसका अखबार वालों को स्वप्न में भी पता नही पड़ता ! थोड़ी देर बाद ही उनके निधन का दुखद-संवाद पत्रों में प्रकाशित हो गया ! मेरे लिए वह कैसा त्रासद संयोग था, अंदाज लगा सकते हो? और यह भी कैसी अजीब त्रासदी है कि मौत के बाद ही जीवन की सार्थकता समझ में आती है ? कोई ज्यादा नही, अंगुलियों पर गिनें जितने कुछ गिनती के व्यक्ति तो उनके जीवन-काल में भी उनके जीने की सार्थकता समझ गये थे। काश ! मैं उनके जिन्दा रहते महाभारत या उपनिषद् की एक भी कथा अपनी कलम से पुनःर्सजित करके उन्हें बता सकता ! जब भी बीकानेर जाकर उनसे मिलता तो वे बार-बार मुझे एक ही बात याद दिलाते, 'बिज्जी भाई, अब लोक-कथाओं का मोह छोड़ कर महाभारत व उपनिषद् की कथाओं को अपनी कलम से संवार लो तो आनंद आ जाये।' बाबासा गोवर्धनलालजी काबरा के आदेश की अनुपालना तो मैं सहज ही कर सका, पर छगन मोहता के आदेश की मर्यादा रखने का सामर्थ्य है मुझ में ? फिर भी डरते-डरते यथाशक्ति जरूर परीक्षा दूंगा। पर उनके अभाव में सफल-असफल का सही निर्णय कौन करेगा ? क्या मृत्यु ऐसी फरियाद भी सुनती है ? देखो तो शिशिर, 'डॉक्टर साहब' जैसी दिवंगत हस्ती के आवेग में उस दुर्योग की तारीख बताना भी भूल गया। कुछ समय और गुजर जाने दो, राजस्थान के उस सास्कृतिक निधन की वह तारीख किसे भी याद नही रहेगी, फिर उनकी पुण्य तिथि कौन मनायेगा ? वह दुर्योग घटित हुआ था—अट्ठारह सितम्बर की सांझ पौने आठ बजे, उन्नीस सौ छियासी के वर्ष। इन साहित्यिक, सांस्कृतिक व दार्शनिक ईतियों का किसी बही-खाते में कोई लेखा-जोखा नही है। मुद्रा व राजनीति का चिर बुभुक्षित उदर सब-कुछ डकार जायेगा—सब-कुछ !

मेरे कई शुभचिंतक व आत्मीयजनों को 'रूंख' की अविकल प्रतीक्षा है। बहुत ज्यादा प्रतीक्षा करनी पड़ी है उन्हें। अप्रत्याशित परिस्थितियों के चक्कर मे आखिर वही हुआ जो होना था। संयोग के अच्छर तो निर्धारित समय पर ही उघड़ते हैं। तुम्हें जरूर याद होगा कि मैंने गांव मे तुम से कुछेक अंतरंग मित्रों की चर्चा की थी, उन मे अनिल का भी एक नाम था। मुझ से कुछ अधिक ही उसको मेरे सृजन से वास्ता है। काफी बड़ी-बड़ी आशाएं पाल रखी है, मुझ से। आखिर एक दिन उसने मुझे आगाह करते हुए कहा, 'यार सुनो बिज्जी, हर काम का एक समय निश्चित होता है। खाना खाने में कैसा भी पेटू दो या तीन दिन नही लगाता—दस मिनट, बीस मिनट...ज्यादा ही हुआ तो घंटा डेढ़-घंटा। अब 'रूंख' मे बिल्कुल ढील नही होनी चाहिए। यदि अगली बार पूरा करके नही लाये तो तुम से बात नही करूंगा।'

वास्तव मे अक्षरशः उसने ये ही शब्द कहे हों, ठीक याद नही पड़ता, मगर उसका

आशय वहुत-कुछ यही था। एक ही सत्य के अनेक शाब्दिक बाने होते हैं। इस बात को भी आज लगभग चारेक महीने गुजर गये। पर उस दिन मैंने तहेदिल से अनिल को आश्वस्त किया था कि अब कतई देर नहीं होगी। इधर-उधर गांव में चहल-कदमी तो दूर, संस्थान के अहाते से भी बाहर नहीं निकलूंगा। मेरा तमाम अतीत, वर्त्तमान और भविष्य इसी 'रूंख' के द्वारा ही तो फलीभूत होगा। तीनों लड़के—कैलाश, सत्यदेव और महेन्द्र को भी अपने साथ कुम्हार के आंवें में झोंक रखा है। इसके लिए देरी यदि सर्वाधिक घातक होगी तो वह मेरे लिए ही। मेरे मित्रगण तो आखिर मेरी वजह से ही इसके लिए उद्विग्न हैं। सब काम छोड़ कर इसी में जुट पड़ूंगा। जी जान से। न रात को रात समझूंगा और न दिन को दिन। खाने और सोने की तो यों भी लिखते समय कोई खास परवाह नहीं करता।

फकत एक दिन जयपुर रुक कर सीधा गांव आ धमका। प्रबल इच्छा होते हुए भी बीच में अजमेर सी.पी. वना [चन्द्र प्रकाश देवल] के पास नहीं ठहरा। ज़ेन बोध-कथाओं की दार्शनिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए काफी पढ़ाई करनी थी। संतोष जो नहीं हो रहा था। इस दृष्टि से बहुत ही कुलालची हूं। 'ज़ेन-बुद्धिज़्म' पर डी.टी. सुजुकि की दूसरी सीरीज दो ही दिन में काफी पढ़ डाली। अगले दिन समाप्त करके तीसरी सीरीज शुरू कर दूंगा। आखिर लिखना-पढ़ना ही तो मेरा एकमात्र ध्येय...नहीं-नहीं, जीवन है! इतर कामों में बहुत-ज्यादा वक्त खराब किया, अब तो मुझे पूर्णतया संभल जाना चाहिए।

सो तीसरे दिन साढ़े पांच या छह बजे दत्तचित्त होकर पढ़ रहा था कि अचानक लाठी की खट्-खट् आवाज सुन कर चौंका। बाहर आया तो क्या देखता हूं कि ढगलाराम के साथ जोगी-बा दुहरे झुके हुए, धोती की तहमद लपेटे बरसाली में खड़े हैं। दोनों हाथों में लाठी थमी है। मुझे देखते ही उनकी आंखें भर आयीं। टसकते हुए बड़ी मुश्किल से बोलने की कोशिश की तो उन से बोला नहीं गया। लाठी के सहारे नीचे बैठ गये। मैं भी पास बैठ गया। फिर धीरे-से टूटती आवाज में कहने लगे, 'बाभा, देर, बहुत देर कर दी। दिल्ली जाकर जम ही गये। पूरे एक महीने से भगवान की तरह बाट देख रहा हूं।'

मैंने सहज भाव से पूछा, 'क्या बात हुई?'

'एक महीने तक पलक ही नहीं झपी। बूंद-बूंद पेशाब टपकता है। बस, प्राण ही नहीं निकले। शायद मौत भी मुझ से रूठ गयी!'

'मगर बाबा, इस में मेरी बाट देखने की क्या जरूरत थी? गांव के अस्पताल में तो डॉक्टर साहब को दिखा देते।'

बाबा ने गरदन हिलाते हुए जवाब दिया, 'मरना कबूल, पर मैं तो आपके बगैर अस्पताल की तरफ मुंह ही न करूं।'

बाबा की इस सनक के लिए मेरे पास कोई जवाब नहीं था। गांव में विश्वास करने वाले मुझ पर ऐसा ही विश्वास करते हैं। इस में बहुत-कुछ कसूर मेरा ही है। उनकी इस नासमझी का कैसा भी प्रतिवाद करूं, ये समझने को तैयार नहीं। तिस पर बाबा की वह दारुण परिस्थिति! उन्हें समझाने के लिए मेरे पास वैसी भाषा ही कहां है? कहीं से सीखने की अब गुंजाइश भी नहीं है। सुजुकि की बेजोड़ पुस्तक में उनकी दुविधा का मेरे पास कोई

निदान नहीं था। कितना ही क्यों न समझाऊं, ये मेरे लिखने-पढ़ने की महत्ता कभी नहीं समझेंगे। और समझाना भी क्यों जरूरी है? उनकी तात्कालिक यंत्रणा के सामने मेरे सृजन-अध्ययन का कुछ महत्त्व भी है क्या? उस प्रत्यक्ष वर्त्तमान का उल्लंघन करने के लिए मेरे पास रंचमात्र भी वैसी क्षमता नहीं थी। और क्षमता होनी भी क्यों चाहिए? अपने पाठकों के साथ ठीक इसी तरह का सम्वन्ध वना सकूं, यही मेरा सर्वोच्च सपना है। सपनों की सार्थकता उनके सफल होने में नहीं, निरंतर देखते रहने में ही है!

मगर अस्पताल तो नौ वजे खुलेगा। टसकते जोगी-वावा के लिए नौ कव वजता? इसी लिए सूर्योदय से कुछ पहले ही वे मेरे पास चले आये। न जाने इन्हें मुझ से कैसी क्या उम्मीद है? गांव के डॉक्टर या अन्य कर्मचारी का यही लाभ है कि उन से देर-सवेर कभी भी मिला जा सकता है। नहीं उठे होंगे, तो उठा दूंगा। मुझे पूरी उम्मीद थी। वे पढ़े-लिखे हैं। मेरे काम की अहमियत समझते हैं। उन्हें सारी स्थिति वता कर राय पूछी। जांच-पड़ताल के वाद पता चला कि गॉल-व्लेडर में काफी वड़ी पथरी है। यहां ऑपरेशन नहीं हो सकता। जितनी जल्दी हो सके, इन्हें जोधपुर पहुंच जाना चाहिए। जोगी-वा को खूव समझाने की चेष्टा की कि ऑपरेशन तो डाक्टर करेंगे, मैं तो करने से रहा। तुम्हारे अलावा किसी को अन्दर झांकने तक नहीं देंगे। खींच कर अपने मित्र-डॉक्टरों को चिट्ठी लिख देता हूं, पूरा खयाल रखेंगे।'

वावा की वजाय एक अवोध वच्चे को समझाना आसान था। उन्होंने मुंह विगाड़ते हुए कहा, 'नहीं, मैं तो आपके वगैर एक कदम भी उधर न रखूं। खाट में सड़-सड़ कर मरना कवूल है।' समझ रहे हो न शिशिर, कितना आसान है लिखना और कितना मुश्किल है लेखक वनना। विना लिखे भी लेखक वना जा सकता है और वीसियों कितावें घसीट मारने के वाद भी कोई लेखक नहीं वन सकता। लेखक वनना क्या इतना सहज है? इसी-लिए अरुणा के पत्र में मुझे लिखने को विवश होना पड़ा कि लिखते-लिखते ही लेखक वना हूं, और अव लेखक वन कर लिखना चाहता हूं। सो सुजुकि की तीसरी सीरीज अपनी ठौर रैक में जमा कर जोगी-वावा के साथ जोधपुर गांधी अस्पताल की तात्कालिक मंजिल तक पहुंचने के लिए रवाना होना पड़ा। अनिल को समझाने में देर नहीं लगेगी। वह तो शायद विना कहे ही समझ जायेगा। उस समय चेखोव की 'दुश्मन' कहानी पढ़ने की उत्कट इच्छा हुई। ऐसी प्रतिरोधी स्थितियों पर उसने वेजोड़ कहानियां लिखी हैं। 'रूंख' के द्वितीय संभार में 'डार्लिंग' के साथ यह कहानी भी देना चाहूंगा। मेरे खयाल मे चेखोव आज-कल हर देश के लिए ज्यादा प्रासंगिक हो रहा है। उसने वाहर के दृश्य-जगत को चित्रित न करके भीतर के अंतर्जगत का उत्खनन किया है। उसके पात्र तव की वजाय अव ज्यादा जीवंत और सक्रिय हैं। मेरी 'फरमाइश' पर तुम जरूर कहीं से खोज-खाज कर इस कहानी को दस-वारह वार पढ़ना। अधिक प्यास जगेगी। न हो तो मैं भिजवा दूंगा। वड़ी शानदार कहानी है।

इस तरह की दुविधा-मूलक परिस्थितियों में जव भी काम पड़ा, गांधी अस्पताल, जोधपुर के डॉक्टरों ने मेरा वहुत उपकार किया है। निरंतर छह-छह महीने, तीन-तीन महीने तो कई वार मैंने अस्पताल की चहारदीवारी में विताये हैं। कभी-कभार तो डॉक्टर

भी प्रसंगवश चर्चा करने लग जाते हैं कि इस बार काफी अरसा हो गया—बिज्जी नहीं आये ? पुस्तकों के समान ही मुझे इन जीवंत प्रसंगों से ज्ञान व शिक्षा मिली है। मेरी रचनाओं का जो क्षीर तुम्हारे हाथ लगा है, उसे मैंने कहां-कहां, किन-किन मैदानों से घास चर कर संचित किया है, उसका इतना जिक्र भी क्या अवांछित है ? औपचारिक मुलाकातों की वजाय जीवन की सक्रिय कार्य-पद्धति के वीच ही मनुष्य की खरी पहचान होती है। जीवन का वास्तविक वोध कराने वाले यही तो विन्दु हैं। तुम्हें यह जान कर खुशी होगी शिशिर, कि भांवी [चमार] जाति के जोगीराम सोलंकी अव आराम की नींद सोते हैं। करीव डेढ़-सौ ग्राम की दो छोटी-वड़ी पथरियां निकली थीं। मजे से चल कर मुझ से मिलने संस्थान में आते हैं। नित्य वासी मुंह डॉक्टरों के साथ-साथ मेरे लिए भी शुभ-कामनाएं करते हैं।

फिर मुक्त होकर मैं 'रूंख' की शेप सामग्री के लिए जुट गया। महेन्द्र द्वारा किये चेखोव के संस्मरण का अनुवाद फिर से लिखना जरूरी था। अनुवाद की प्रक्रिया में वहुत-कुछ सीखने का मौका मिला। सत्य की व्यंजना के लिए शव्दों का आवरण अनिवार्य है, पर सीधे शव्दों से सत्य को नहीं पकड़ा जा सकता। यदि मूल लेखक अपनी मातृभापा के वदले अनुवाद की भापा में लिखता तो क्या लिखता, कैसे लिखता ? या यों समझ लिया जाय कि अनुवाद की भापा ही उस लेखक की मातृभापा होती तो उसका स्वरूप क्या होता ? उसके शैलीगत सौष्ठव की पूरमपूर सुरक्षा होनी चाहिए। इसके लिए कुछ स्वतंत्रता लेनी पड़े तो पड़े। यदि अनुवादक में मूल लेखक जितनी सृजनात्मक प्रतिभा नहीं है तो मात्र शव्दों की हेराफेरी से विल्कुल काम नहीं चलेगा। प्राण निकलने पर लाश में जो कमी रह जाती है, वह अनुवाद में भी रह जायेगी। गोर्की ने चेखोव का ऐसा अद्वितीय संस्मरण लिखा, जिसे पढ़ने पर चेखोव के व्यक्तित्व और उसकी कथाओं के नये मर्म खिलने लगते हैं। ऐसा लग रहा था कि रूस की वजाय इस में आधुनिक भारत का चित्रण ही प्रतिध्वनित हो रहा है। एक-एक पंक्ति में चेखोव की नयी छवि उघड़ती जा रही थी।

हठात् क्या देखता हूं कि अशोक हांफता-हांफता-सा मेरे सामने खड़ा है। मैंने उत्सुक जिज्ञासावश सर उठा कर देखा तो उसने अत्यधिक व्यग्रता के साथ वताया कि वह वस को फाटक के पास रुकवा कर आया है। कल उसका इंटरव्यू है। रोडवेज ज्यादा नहीं रुकेगी, मुझे तत्काल उसके साथ चलना है। जोगी-वा ने कुछ सोचने का मौका तो दिया था, पर उसने तो कुछ गुंजाइश ही नहीं रखी। इच्छा न होते हुए भी अधूरा वाक्य छोड़ कर उठ जाना पड़ा। उसके पीछे-पीछे दौड़ कर वस में चढ़ा।

ऐसी परिस्थितियों में किसी भी आकांक्षी को कुछ नहीं समझा सकता कि मेरा समय अमूल्य है। मेरे सृजन का राष्ट्रीय महत्त्व है। मुझे इस तरह के कामों में फंसाना राष्ट्र की क्षति है। समझाने पर दूसरे समझें न समझें, किन्तु मैं स्वयं इस वात को समझना नहीं चाहता। हाड़-मांस के जिन्दा व्यक्ति की आशा-आकांक्षाओं को नजरअंदाज करना मुझे वहुत ही फूहड़ व घिनौना लगता है। गांव में हर किसी से संपर्क है। पारिवारिक सदस्यों के अतिरिक्त भी मेरे घर से उनका नाता है। उन्हें वक्त-जरूरत दरवाजा खटखटाने में

तनिक भी हिचक नहीं होती। लोगों को मेरे स्वभाव की पहचान है, मेरी निष्ठा पर विश्वास है। न जाने कितनों को नौकरियां दिलवायी हैं, कितनों की बदलियां करवायी हैं। कितनों को बिजली का कनेक्शन दिलवाया, किश्तें करवायी हैं। किसी के लिए कुआं खुदवाने की मशीन का पीछा करना पड़ा है, तो किसी को बैंक-ऋण दिलवाने के लिए जयपुर की दौड़-भाग करनी पड़ी है। तो कई बार तपेदिक, टिटेनस व सर्पदंश के गंभीर मरीजो की तीमारदारी की है। वैसी मानवीय-स्थिति से घिरने पर शरत् बाबू के पात्र मेरे अंतस में फुसफुसाते हैं—जब वक्त-जरूरत तुम्हारे मित्रों ने आर्थिक सहायता देकर संकट-दर-संकट तुम्हें उबारा है तो क्या इन आकांक्षियों की अपने शरीर से मदद नही कर सकोगे? इतना समय भी नही दे सकोगे? यदि तुम्हारे मित्र समय पर सहयोग न करके हाथ खीच लेते तो तुम्हारी क्या दुर्दशा होती? यह जबान मना करने के लिए नही बनी! खाने के समान ही पारस्परिक सहयोग का अपना वैसा ही अपूर्व स्वाद होता है और मैं वह फुसफुसाहट अन-सुनी नहीं कर सकता।

तुम्हारी जानकारी के लिए, इस पत्र का यह दूसरा मसविदा है। पहला मसविदा बहुत ही लम्बा खिंच गया—इक्यानवे पन्नों तक, फिर भी अधूरा। उस में कुछेक मित्रो के आर्थिक सहयोग का वांछित हवाला भी मैंने हिम्मत करके उगल दिया था। 'मेरौ दरद न जानैं कोय' के लिखित भाषण में जो कसक दरसा नही सका, उसका प्रायश्चित्त इस मुखड़े में करने की खातिर दृढ़ निश्चय कर लिया था और मैंने हहराते आवेग की रौ में काफी-कुछ लिख मारा था। कुछ इसी तरह समझो कि पूरी आंच मिलने पर काफी रिक्त बासन का दूध भी उफन जाता है; ठीक इसी तरह मैं भी उफन कर तुम्हारे पत्र में ठौर-ठौर बिखर गया था। पर दुबारा टीपते समय मेरी रूह कांप उठी। मन में शंका-दर-शंका और सवाल-दर-सवाल के स्फुलिंग दहकने लगे—ये कुछेक टूटे हुए पत्ते क्या समूचे पेड़ का हवाला बताने में समर्थ हैं? पत्तों के बदले टहनियां या भारी तने को काट कर भी क्या उसे सम्पूर्ण पेड़ के एवज में प्रस्तुत किया जा सकता है? और तो और, धरती से पूरा-का-पूरा उखाड़ने पर वह पेड़ ही नही रहेगा—ईंधन की लकड़ी बन जायेगा? वह केवल अपने में ही तो समाया हुआ नही है। जमीन से जुड़ा है। हवा, धूप और आकाश से आबद्ध है। उखाड़ कर अन्यत्र प्रदर्शित करने पर उसके प्राण ही निःशेष हो जायेंगे। सारी आभा, सारी महक और सारी हरियाली ही मिट जायेगी। क्या महासमुद्र के अनन्त विस्तार व उसकी अतल गहराइयों से विभिन्न कालावधि के पानी को वापस अलग करके दिखाया जा सकता है कि यह पिछले वर्ष की नदियों का जल है और यह लाख वर्ष पुराना जल है? युगयुगान्तर और कल की जलराशि सम्पूर्ण रूप से घुल कर एक हो गयी है—कोई विभेद नही। क्या मैं अपने रक्त, वीर्य और मांस से मां के दूध और कल के भोजन को अलग करके बता सकता हूं? अतीत, काल और इतिहास का समूचा खाद्य और पेय अपनी विभिन्नता खोकर सब एकमेक हो गया है। उन्हें अपने मूल-स्वरूप में पुनः प्रेषित नही किया जा सकता। तब बड़े दुःख व आनन्द के साथ पहली बार यह बोध हुआ कि इतिहास, जीवनी और आत्म-कथा कितनी जबरदस्त छलना है; आत्म-प्रवंचना है। अतीत को उसकी समग्रता से विच्छिन्न करके टुकड़ों-टुकड़ों में पेश करना कितना फूहड़ और घिनौना है। जब तक आंख,

नाक, होंठ या शरीर का कोई हिस्सा, यहां तक कि नाखून या बाल भी देह के साथ जुड़े हैं, तब तक ही रूप है, सौन्दर्य है, कांति है ! अलग से निकाली हुई आंख की तरफ तो आंख उठा कर भी नहीं देखा जा सकता ! और वही आंख मृगनयनी की सूरत में कितना आकर्षण उत्पन्न करती है ! आवेग के प्रवाह में वह सब-कुछ लिख कर एक बड़ी नैतिक जिम्मेवारी से फारिग हुआ तो भीतर-ही-भीतर शर्म से गड़ गया। पिघल कर अकिंचन हो गया ! मेरे जीवन में घटित होने के बावजूद यह पूर्णतया मिथ्या है ! छलना है ! चमड़ी के भीतर ही जब तक प्राणों का रहस्य छिपा है, तब तक ही जीवन है, जिन्दगी है। किसी भी रूप में चमड़ी क्षत-विक्षत होने पर जब भीतर का रहस्य बाहर प्रकट होने लगता है, तब कितना भोंडा, विकृत हो जाता है वह सौन्दर्यमय रहस्य !

हां अलबत्ता, फूल या फल के रूप में सम्पूर्ण गाछ को प्रस्तुत किया जा सकता है। पर लगता है अभी उतना सक्षम नहीं हूं। मात्र एक उदाहरण देकर अपने मन की यह गुत्थी स्पष्ट करना चाहूंगा कि अट्ठाइस सितंबर उन्नीस सौ छियासी का वह अपूर्व क्षण मेरे जीवन के सर्वोच्च सुख व आनंद का क्षण था, जब लोठार-लुत्से ने मुझे चेखोव का सेट उपहार में दिया। 'स्त्रीर पत्र' के प्रथम पारायण की तो मैंने केवल तारीख ही नोट की थी। पर उस अप्रतिम उपहार का तो समय तक डायरी में लिखा था—तीन बज कर तीस मिनट। भारतीय समय तुम पता कर लेना। फ्रैंकफर्ट बुक-फेयर के समग्र माहौल से विच्छिन्न करके उस अपूर्व सिद्धि को अलग से दिखाना मुझे शोभनीय नहीं लगता। वह क्षण तो अपने समय व सम्पूर्ण परिवेश से जुड़ा है, उसे कलम से काट कर क्यों कर जुदा करूं ? मुझे यह कुत्सित और फूहड़ लगता है। केवल इसी खातिर मुखड़े को मुल्तवी रखा कि जब इतनी अप्रत्याशित देरी हो गयी तो कुछ दिन और सही। मुखड़े में फ्रैंकफर्ट बुक-फेयर का मुद्दा अवश्य जुड़ना चाहिए जो काफी महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक है। पर मैं तो स्वयं को इसके लिए सर्वथा अक्षम पाता हूं। सारे परिवेश या सम्पूर्ण माहौल की किसी भी एक घटना या अनुभव को तराश करके, रपट के रूप में ही सही, क्योंकर दरसाया जा सकता है ? अपनी वैयक्तिक सनक या क्षुद्र अहंकार की तुष्टि में किसी विशिष्ट अनुभव को दुहराना कोई मुश्किल नहीं। मैं भी बखूबी दुहरा सकता हूं, पर इच्छा नहीं होती। यह सब अखबार-नवीसी के चोंचले हैं ; जो रंडीबाजी से भी कहीं ज्यादा जघन्य हैं—सस्ती नामवरी और आत्मरति के परिचायक। मुद्रण की इसी यांत्रिक प्रगति ने शब्दों को सर्वथा प्राणहीन और खोखला कर दिया है। घुन लग जाने पर जैसे बीज अपने अंकुरण की सम्पूर्ण ऊर्जा खो देता है, उसी प्रकार मुद्रण के तकनीकी उत्कर्ष ने अपनी काली जिह्वा से चाट कर शब्द को पूर्णतया रसहीन कर दिया है। मेरी कमजोर आंखों पर जो चश्मा चढ़ा है, उस से तो मुझे फ्रैंकफर्ट का समूचा शहर सूना-सूना नजर आया। आदमी का एक चेहरा तक दिखायी नहीं पड़ा। सर्वत्र दुकानें सजी हुई थीं। सड़कें साफ-सुथरी थीं। अनगिनत मकान बने थे, पर बिल्कुल खाली। अपनी यांत्रिक गति से कारें सरपट उड़ रही थीं। ट्राम और बसें इधर-उधर धूम मचा रही थीं, पर उस मायावी नगरी में, सम्पूर्ण वैभव के बीच कहीं कोई आदमी नहीं था। न जाने किस अजाने, अचीन्हे राजकुंवर के चरणों का परस पाकर यह सोयी नगरी जाग उठेगी ; तमाम मृत आबादी आलस मरोड़

कर उठ खड़ी होगी। पता नही वह राजकुंवर कभी आयेगा या नही ? फिर यह मृत राजकुंवरी किसे वरण करेगी ? अव तुम्ही वताओ शिशिर, अपने चश्मे का करूं तो क्या करूं ? केवल नीद के समय उतार सकता हूं, जव आंखें वंद रहती हैं। हर दर्शक की अपनी-अपनी आंखें और अपना-अपना चश्मा होता है। कोई भी अपना चश्मा उतार नही सकता। फ्रैंकफर्ट की वेइन्तहा वहवूदी देख कर मुझे तो यही लगा कि पश्चिम जर्मनी ने दो-दो महायुद्धो की विभीषिका से कोई सवक नही सीखा। वह उसी आणविक गर्त्त में गिरने को आमादा है, जिसे उन्नीस सौ पैंतालीस में हिटलर अधूरा छोड़ गया था।

महाभारत के मंत्रद्रष्टा ऋषियो का कहना है कि हमें दंडित करने वाला कोई वाहरी न्यायाधीश नही, हमारी अंतरात्मा ही है। लेकिन इस न्यायाधीश के नष्ट होने पर कोई भी इंसान शैतान को मात करने में कसर वाकी नही छोड़ता। चुनाव की ऐसी विकट स्थितियों में ही स्वतंत्रता की सही पहचान होती है। सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने कितना मार्मिक तथ्य निर्देशित किया है कि 'स्वतंत्रता के उपयोग द्वारा मनुष्य अपने को दैवी-स्तर तक ऊंचा उठा सकता है या फिर पाशविक जीवन तक नीचे गिरा सकता है।...जव हमें गलती करने की स्वतंत्रता हो, फिर भी हम गलती न करें, ठीक तरह कार्य करें, तव हमारे लिए प्रशंसा की वात है।' और देश की आजादी के पश्चात् चुनाव के ऐसे ही निर्णायक क्षणो मे हमने हर कदम पर शिकस्त खायी है। चाहे और किसी नाम से संबोधित किया जाय, यह आजादी तो हरगिज नही है।

जव किसी डॉक्टर के पास ऐसे ही चुनाव का मौका आता है, तभी उसके स्वतंत्र चित्त की सही पहचान होती है। यदि वह रोगी या रोग के उपचार की वजाय फीस, दवाइयो के कमीशन या अपने निजी मुनाफे का चुनाव करता है तो वह स्वतंत्रता के नाम पर अपराध की छूट है। चुनाव के ऐसे ही दुर्दान्त क्षणो के दौरान मुझे यह वोध होता रहा कि स्वतंत्रता का मायना क्या है ? वाकई यह स्वतंत्रता तो भारी वंधन है, नियंत्रण है, अंकुश है—चाहे व्यक्ति की अपनी सदिच्छा से हो, चाहे सामाजिक नियम-कायदों से हो, डण्डे के जोर पर हो। जव कोई वकील भारी-भरकम मेहनताने के लोभ में कातिल को वचाने का निर्द्वन्द्व निर्णय लेता है, एक क्षण भर के लिए भी उसकी आत्मा नही फुसफुसाती कि वह क्या भयंकर अपराध करने जा रहा है, कातिल से भी कही वड़ा अपराध—तव यह चुनाव की स्वतंत्रता कितनी वेमानी हो जाती है। तिस पर भी हम मादक शव्दो के नशे मे ठाट से जीने के अभ्यस्त है। स्वतंत्रता, जनतंत्र, धर्मनिरपेक्षता, निजी संपत्ति, निजी जिंदगी, जन्मसिद्ध अधिकार—इत्यादि ये ऐसे ही मादक शव्द है। भयंकर जहरीले ! और मजे की वात यह कि हमे मरते दम तक इस नशे का पता नही चलता। और नशे-नशे मे हम हंसते-मुस्कराते, तालिया वजाते जिन्दगी जीते रहते है !

तो यह ज्वलंत सच्चाई सूर्य से भी ज्यादा साफ है शिशिर, कि हर भारतीय परिवार के सर्वेसर्वा ने, कुटुम्व के पालनहार ने, हर पेशे व हर सीगे के जिम्मेवार व्यक्ति ने स्वतंत्रता के वाद ऐसी ही अनियंत्रित छूट का चुनाव किया है। यहां रवि वावू की सूक्ति को फिर दुहराना चाहूंगा कि देश मिट्टी से नही मनुष्यो से वनता है। यदि हर व्यक्ति का चरित्र

भ्रष्ट है तो देश का चरित्र कैसे बेदाग होगा ? पेड़ों के चरित्र से ? पशु-पक्षियों के संयम से ? मधुमक्खियों के अनुशासन से ? पारिवारिक हित की चरम सिद्धि के लिए हम मीठे लुभावने शब्दों की ओट में, हवाई सिद्धान्त की यवनिका के पीछे दुबक कर जस-तस मसान की आखिरी मंजिल तक पहुंच जाते हैं। अपने पिताश्री के मरने पर हमने रोने की रस्म अदा की थी और कल खुद मरने पर अपनी संतान को बिलखने के लिए पीछे छोड़ जायेंगे। बस...यही अनादि और अनंत क्रम सदैव चलता रहेगा।

फिर भी इस अंधियारे माहौल में 'रूंख' का यह बीज मैंने फेंक दिया है। मां-धरती जरूर इसे अपनी कोख में धारण करेगी। बिजली की रोशनी जला कर बादल भी इसे हेरेंगे। पालर पानी की बौछार करेंगे। सूरज भी किरणें फैला कर इसकी तलाश करेगा। इसे सहलायेगा। धूप की दमकती छांह करेगा। तब बीज खुशियों से तड़क कर अंकुर बनेगा। चांदनी उसे पालने में झुलायेगी। आकाश उसे गोद में खिलाने की उमंग लिये ऊपर... और ऊपर उठायेगा। पत्ते-पत्ते में मुस्कान थिरक उठेगी। फूल खिलखिला कर हंसेंगे। तब उस खिलखिलाहट के साथ लाखों बीज झरेंगे। और मां-धरती फिर उन्हें अपनी कोख में धारण करेगी ! और...और...और...का यह अनंत क्रम कभी नहीं टूटेगा।

थोड़ी-सी पलक झपी तो बीच में सपना टपक पड़ा रे शिशिर ! आंखें ही तो हैं ! बूढ़ी हुई तो क्या ? अब भी बच्चों की तरह सपने देखती हैं। बस आंख लगी नहीं कि सपना तैयार ! खुली आंखों से भी सपने की कुटेब मिटी नहीं है। आंखें या तो खुली रहती हैं या बंद। हर सूरत में सपने टिमटिमाते रहते हैं। सोना-चांदी, हीरे-पन्नों की तरह सपने जमीन में गड़े हुए नहीं मिलते। इन्हें तो देखने वाली आंखें ही देख सकती हैं। सभी पुतलियों में सपने देखने की क्षमता नहीं होती। और स्वतंत्रता के बाद हम अपनी आंखों से उस ज्योति को निरंतर खोते जा रहे हैं— जिस में स्वप्न देखने की क्षमता है। यह कोई मामूली नहीं, बहुत बड़ी क्षति है। विकास और प्रगति का यह चतुर्दिक् परिवेश हमें क्षण-प्रति-क्षण अंधा बनाता जा रहा है। फिर भी दम्मूजी के नाम 'अधूरी चिट्ठी' में 'वाणीपुरम्' का सपना देखा है मैंने। इस पत्र को यहीं बीच में छोड़ कर पहले उसे पढ़ लो। इरपिंदर के नाम 'संयोग की लीला' का पारायण भी जरूरी है। फिर सबसे बाद में लिखे गये अपने पत्र को अन्त में ही पढ़ो तो सारे संदर्भ सहज ही साफ हो जायेंगे। रख सकोगे इतना धीरज ? नहीं...तब जैसी तुम्हारी इच्छा। पर मेरा विनम्र सुझाव तो यही है कि इस सम्यक् रचनावली के इन 'ढाई अच्छरों' का आद्योपांत पारायण कर लो—ज्यादा नहीं तो कुछेक सही मर्मज्ञों के साथ-साथ तुम्हारा भी कायाकल्प होगा। और यही मेरे श्रम का पर्याप्त पारिश्रमिक है। चाहे सारी-की-सारी काली घटा फूट पड़े --मिट्टी गलती है, पत्थर नहीं गलता शिशिर ! पर एक निपट स्वार्थ की बात तुम से हरगिज नहीं छिपाऊंगा कि 'वाणीपुरम' के सपन की खातिर भिखारी के सामने भी हाथ पसारने से नहीं हिचकिचाऊंगा, हालांकि भिखारियों की करुणा को जगाना असंभव है। चूंकि उनके गुजर-बसर की 'पूंजी' लोगों की करुणा व अनुकंपा ही तो है, इसलिए वे स्वयं करुणा के उद्रेक से सर्वथा वंचित रह जाते हैं। तुम्हें तो शायद ही मुझ पर संदेह हो, पर 'संपूरण' की खानापूर्ति इस स्वार्थ-सिद्धि की मंशा से भी की है कि 'वाणीपुरम्' के सपने को खुली आंखों देख सकूं। थोड़ी-बहुत सामाजिक

छवि उभर आने से शायद आसानी रहेगी, ऐसा मेरा मुगालता है। शांति निकेतन या बसु विज्ञान-मंदिर जैसे प्रतिष्ठानों की स्थापना कर सकूं, इस कोटि का मेरा खांटी व्यक्तित्व बिल्कुल नहीं है और सामाजिक परिवेश भी अनुकूल कहां है? 'समय' अनुकूल न हो तो गांडीवधारी अर्जुन के बाण भी तिनकों से गये-गुजरे हो जाते हैं। वह टुकुर-टुकुर देखता रह जाता है और गोपिकाएं लुट जाती हैं!

अतीत की हजारों-हजार स्मृतियों का बोझ और भविष्य की आशा! फिलहाल इतना ही कह सकता हूं कि अतीत की स्मृतियां 'रूंख' और 'वाणीपुरम्' की कलियों को खिलने में यत्किंचित भी व्यवधान नही पहुंचा रही हैं। सन् उन्नीस सौ पचास के आसपास कोमल के साथ 'प्रेरणा' मासिक पत्र निकालने के दौरान जो हौसला, जो दमखम और जो उन्मुक्त मुस्तैदी थी, आज उस से कहीं ज्यादा है। जिस क्षण यह हौसला पस्त हो जायेगा, उसी क्षण समझ लूंगा कि मैं बूढ़ा हो गया हूं। स्मृतियों की जुगाली के अतिरिक्त भविष्य का कोई सपना शेष नहीं है। मेरे चिरंजीव शिशिर, मैं किसी भी कीमत पर, जिंदा रहते ऐसी मौत नहीं मरना चाहता। और सपना भी पारिवारिक बहबूदी से इतर—अक्षरों का सपना, शब्दों का सपना, सृजन का सपना। शरत् बाबू, रवि बाबू और चेखोव का सपना! उपनिषद् और महाभारत जैसे सपनों की क्षमता नहीं है। इस दृष्टि से वाकई श्लथ हो गया हूं।

गृहलक्ष्मी सायर जब भी मौका मिलता है, टोकती है। आजकल उसकी खीज ज्यादा बढ़ने लगी है। बार-बार कोंचती है कि मैंने न जाने कितनों की नौकरियां लगा दीं, पर घर के चार लड़कों व एक दामाद की नौकरी नही लगा सका। चौक के गड्ढों को दुरुस्त नहीं करवा सका। मकान को संवारना तो दूर रहा, उसकी मामूली मरम्मत भी नही करा सका। ठौर-ठौर दरारें पड़ गयी हैं। प्लास्तर झड़ रहा है। छत चू रही है। अच्छा हुआ कि चार साल से बारिश रूठ गयी, अन्यथा बाहर जैसा ही भीतर था। दूसरों की बीमारियों में अस्पताल के चक्कर लगाता रहा हूं, जब मैं बीमार पड़ूंगा तो कोई पास तक नहीं फटकेगा। ऐसा स्वभाव था तो मुझे शादी करनी नहीं चाहिए थी। बात गलत भी नहीं है, सही भी नहीं है।

और उधर अपनी फुलवाड़ी में निखालिस सोने के बारह और बारह, चौबीस मकान चुटकियों में बना लेता हूं। पलक झपकने के साथ ही संगमरमर के महल खड़े कर देता हूं। माणिक-मोतियों से चौक जड़ देता हूं। जब जी चाहे कठियारे की शादी शाहजादी से कर देता हूं—धूमधाम से। कुछ भी जोर नही पड़ता। पर अपना घर संभालना वाकई मुश्किल है। दिमाग काम ही नहीं करता। फिर भी जैसा-तैसा संभल ही रहा है। तुम स्वयं अपनी आंखों से देख चुके हो। ज्यादा खस्ता हालत तो नहीं है। देश के अधिकांश नागरिकों से ठीक हूं। कैसी भी महंगी-से-महंगी पुस्तक खरीदने में हाथ नहीं रुका। अच्छे-से-अच्छे पेन खरीदे हैं। दूध, दही, घी और गांव की स्वच्छ हवा उपलब्ध है। अब कुछ-कुछ प्रदूषित होने लगी है। कोई भी अतिथि आये, उसके सत्कार में रंचमात्र भी कमी नहीं रहती। कुओं का पानी भी अटूट है। पर बस्ती के बाशिंदों का पानी बड़ी तेजी से मर रहा है। कोई

भी समाधान नजर नहीं आता। सारा परिवेश ही...!

झिझक कर ऊपर देखा। पालर हंसी छलकाते हुए ज़हीर भाई बगल में इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका और रवि बाबू की 'चिठि-पत्र' लिये खड़े हैं। कुछ जिज्ञासा करूं उसके पहले ही बेताब होकर कहने लगे, 'आखिर मामला बैठ गया, नहीं तो जबरदस्त गलती रह जाती और आगे-से-आगे बदस्तूर कायम रहती। जैसे बांग्ला की 'चिठि-पत्र' से 'रूंख' में चल पड़ी।'

बात यों हुई शिशिर, कि भगिनी निवेदिता का रवि बाबू के नाम पत्र है—जगदीशचंद्र बसु के प्रसंग में। 'चिठि-पत्र' में मूल अंग्रेजी का ही सम्पूर्ण उद्धरण है। 'रूंख' के पृष्ठ २६८ पर नीचे से दूसरी पंक्ति में मार्कोनी, टेसला व मैसनी का प्रसंग है। मशहूर वैज्ञानिक मार्कोनी व टेसला की बाबत तो इनसाइक्लोपीडिया में जानकारी मिल गयी पर मैसनी का कहीं अता-पता नहीं मिला। मिलता भी कैसे, जब मूल अंग्रेजी पत्र में नाम ही गलत छपा है। ज़हीर भाई ने उपलब्ध सारे संदर्भ-ग्रन्थ छान मारे। संयोग से अचानक 'चिठि-पत्र' के अंत में शुद्धि-पत्र पर नजर पड़ने से मामला सुधर गया। 'मैसनी' की जगह सही नाम होना चाहिए था 'मैस्कार्ट'। और 'मैस्कार्ट' का इनसाइक्लोपीडिया में हवाला है। काफी मशहूर वैज्ञानिक था। फिलहाल ज़हीर भाई की माथाफोड़ी से 'रूंख' में होने वाली भारी गलती सुधर गयी। और ज़हीर भाई यह खुशखबरी सुना कर अगले ही क्षण जैसे आये, वैसे ही लौट पड़े। व्यर्थ बातचीत में एक मिनट भी बेकार खर्च नहीं करते। आखिर हमारी सबसे अमूल्य निधि समय ही तो है। क्यों शिशिर? लाखों रुपयों का घाटा पूरा किया जा सकता है, पर बीता हुआ एक पल भी वापस नहीं लौटाया जा सकता! वह गया सो गया! भिखारी के हाथ से भी गया, राजा के हाथ से भी गया!

किसके निमित्त, किस रूप में समय का उपयोग होता है, यही तो सही कसौटी है, मनुष्य को परखने की। अपनी पृथ्वी चौबीस घण्टों में सूर्य की परिक्रमा सम्पूर्ण करती है। फलस्वरूप हम दिन-रात के पलड़ों में...नहीं-नहीं, चांद-सूरज के पलड़ों में झूलते रहते हैं। इन चौबीस घण्टों में पृथ्वी की तरह हम किसके चारों ओर घूमते हैं। इसी दैनिक परिक्रमा पर निर्भर करता है कि हमारा घूमना सार्थक है या निरर्थक। यदि हमारी परिक्रमा परिवार के भरण-पोषण व कमाई के निमित्त है तो वह सर्वथा निरर्थक है। चाहे वह परिक्रमा भिखारी की हो, रिक्शेवाले की हो या मैला साफ करने वाले हरिजन की हो, चाहे अतुल्य उद्योगपति की हो, मुख्य सचिव या मंत्री की हो। हर व्यक्ति की परिक्रमा से दिन-रात का निर्माण होना चाहिए, सूर्य, चांद व तारे चमकने चाहिएं, अनंत आलोक व अथाह अंधकार का रहस्य उद्घाटित होना चाहिए। जरूरतों से ज्यादा निजी संपत्ति का संचय ही तो सही माने में भयंकर अपराध है। महर्षि कार्ल मार्क्स के इस अमर कथन को क्रियान्वित किये बिना हमारे संसार का कहीं कोई निस्तार नहीं। 'निजी संपत्ति के उन्मूलन में ही समस्त मानवीय संवेदनों और सर्वोच्च गुणों की पूर्ण मुक्ति है।...क्योंकि निजी संपत्ति ने हमें इस कदर वज्र मूर्ख और निपट एकांगी बना दिया है कि जब तक कोई भी वस्तु वैयक्तिक अधिकार में न हो तो वह 'अपनी' नहीं हो सकती।' 'पूंजी' के अमर आखर आंखों से दिखने की बजाय अब मुझे पांव और नाखूनों से दिखने लगे हैं।

पर आज मनुष्य-समाज में सर्वोपरि प्रतिष्ठा माया की है, भौतिक वहबूदी की है। निर्धन पंडित की अपेक्षा करोड़पति डकैत ही वंदनीय है। कितनी छोटी बात, कितनी विराट बन कर रह गयी शिशिर, कि पैसा मनुष्य के लिए है, मनुष्य पैसे के लिए नहीं है। 'मैसनी' की भूल तो ज़हीर भाई की मेहनत से दुरुस्त हो गयी, किन्तु मनुष्य की सबसे बड़ी भूल का सुधार किस मसीहा के हाथों होगा? होगा भी या नहीं? किसी भी सूर्य से आशा की कोई किरण नजर नहीं आती! हर देश का हर नागरिक आज इसी भूल से त्रस्त है, फिर इन छोटी-मोटी अशुद्धियों का संशोधन क्या माने रखता है, जबकि मनुष्य का समूचा जीवन —जन्म से लेकर मृत्यु तक पूर्णतया अशुद्ध और गलत है? तभी तो चेखोव ने अपने दिल की असह्य कराह व्यक्त की—ऐसी जिन्दगी बसर करते समय हमें कुत्तों से डाह होनी चाहिए। सुन रहे हो शिशिर! मैं लिखने की बजाय आज कलम से बोल रहा हूं!

ज़हीर भाई का भूल-सुधार कहां-से-कहां उड़ा ले गया? पंछी तो पांखों से उड़ते हैं। पर मनुष्य बिना पांखों के भी उड़ सकता है। अभी-अभी उड़ा ही हूं। उतरने में थोड़ी देर लगेगी। तब तक के लिए अलविदा! फिर भी शीला को अखण्ड सौभाग्य का आशीर्वाद और उदिता व उमंग को बेइन्तहा प्यार तो भेज ही सकता हूं। आत्मिक खुशियों से छल-छलाती सौ वर्ष की जिन्दगी जीओ और प्रतिक्षण सपने-दर-सपने देखते रहो। स्वप्न-विहीन जिंदगी मौत से बदतर है! इतने लंबे पत्र के उत्तर की शीघ्र आशा रखना उचित नहीं। जब सुविधा और इच्छा हो, जवाब देना। पर विस्तार से। पत्र समाप्त करते-करते सहसा एक बेहूदा खयाल भभका कि ये ढेर-सारे अनगिनत काले अक्षर न छितरा कर अनामिका अंगुलि के रक्त की एक बूंद ही टपका देता तो वह अधिक संप्रेषणीय व मार्मिक रहता। पर दूसरे ही क्षण यह सोचकर लज्जा से लिथड़ गया कि जब डामर की सड़कों पर खुले-आम बहता खून भी हमें नजर नहीं आता, तब मेरे पतले लहू की एक बूंद क्या माने रक्खेगी? फिर कैसी संप्रेषणीयता और कैसा मर्म?...उफ्फ, जिस काले जहर की इतनी भर्त्सना कर रहा था, आखिर मुझे भी उसी का सहारा लेना पड़ा! माफ कर सकोगे?

तुम्हारा
बिज्जी
५-१-१९८७

श्री चरणकमलेषु !

आज पंद्रह वर्ष हो गये अपने विवाह को, मगर अब तक तुम्हें चिट्ठी नहीं लिखी। हमेशा तुम्हारे पास ही पड़ी रही। मुख-जबानी अनेक बातें तुम से सुनीं, तुम्हें भी सुनाईं। चिट्ठी-पाती लिखने की दूरी भी तो कहां हुई ?

आज मैं आई हूं श्रीक्षेत्र का तीर्थ करने और तुम अपने ऑफिस के काम में जुटे हो। घोंघे के साथ जो संबंध शंख का है, कलकत्ता के साथ तुम्हारा वही नाता है। वह तुम्हारी देह से, तुम्हारे प्राण से जकड़ गया है। इस कारण तुमने छुट्टी की खातिर ऑफिस में दरखास्त नहीं दी। विधाता की यही मंशा थी, उन्होंने मेरी छुट्टी की दरखास्त मंजूर कर ली।

मैं तुम्हारे घर की मझली बहू हूं। आज पंद्रह वर्ष उपरांत इस समुद्र-तट पर खड़ी होकर मैं जान पायी हूं कि जगत और जगदीश्वर के साथ मेरा एक रिश्ता और भी है। इसलिए आज साहस करके यह चिट्ठी लिख रही हूं। इसे फकत मझली बहू की चिट्ठी मत समझना।

तुम्हारे संग, रिश्ते का लेख जिन्होंने मेरे भाग्य में लिखा था, उन्हें छोड़ कर जब इस संभावना का और किसे भी आभास नहीं था, उसी ठेठ बचपन में मेरा भाई और मैं एक साथ ही सन्निपात के ज्वर से पीड़ित हुए थे। भाई तो चल बसा, मगर मैं बच गयी। पड़ोस की सब औरतें कहने लगीं, 'मृणाल लड़की है ना, इसलिए बच गयी, लड़का होती तो बच सकती थी भला ?' चोरी की विद्या में यमराज बड़े निपुण हैं, कीमती चीज पर ही उनकी आंख लगी रहती है !

मैं मरने के लिए पैदा नहीं हुई, यही खुलासा करने के लिए चिट्ठी लिखने बैठी हूं।

जिस दिन तुम्हारे दूर के मामा तुम्हारे मित्र नीरद को लेकर लड़की देखने आये, तब मेरी उम्र थी—बारह बरस। उज्जड़ दुर्गम देहात में मेरा घर था, जहां दिन में भी सियार

स्त्रीर पत्र

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

बोलते हैं। स्टेशन से सात कोस बैलगाड़ी में चलने के बाद, डेढ़ कोस का कच्चा रास्ता पालकी से पार करने पर ही हमारे गांव पहुंचा जा सकता था। उस दिन तुम सबको कितनी परेशानी हुई थी! तिस पर हमारे पूर्वी बंगाल का भोजन; जिसका मखौल उड़ाना नाना आज भी नहीं भूलते।

तुम्हारी मां की बस एक ही जिद थी कि बड़ी बहू के रूप का अभाव मझली बहू के द्वारा पूरा करना। नहीं तो भला इतना कष्ट उठा कर तुम लोग हमारे गांव क्यों आते? बंगाल में —तिल्ली, यकृत, अम्लशूल और लड़की के लिए खोज नहीं करनी पड़ती। वे स्वयं आ कर दबोच लेते हैं; छुड़ाये नहीं छूटते।

बाबा का हृदय धक-धक करने लगा। मां दुर्गा का नाम जपने लगी। शहर के देवता को गांव का पुजारी कैसे तुष्ट करे? बेटी के रूप का भरोसा था। किन्तु, बेटी के रूप का गुमान कुछ भी माने नहीं रखता। देखने वाला पारखी जो दाम निर्धारित करे, वही उसका मूल्य होता है। अतएव हजार रूप-गुण होने पर भी लड़कियों का संकोच नहीं टूटता।

सारे घर का, नहीं-नहीं, समूचे मोहल्ले का वह आतंक मेरी छाती पर पत्थर के समान जम कर बैठ गया। उस दिन आकाश का समस्त आलोक व संसार का संपूर्ण सामर्थ्य, मानो दो परीक्षकों की दो जोड़ी आंखों के सामने, उस बारह-वर्षीय अबोध बालिका को पेश करने की खातिर प्यादागिरी कर रहे हों। मुझे कहीं भी छिपने की ठौर नहीं मिली।

संपूर्ण आकाश को रुलाती हुई शहनाई बज उठी। मैं तुम्हारे घर आ पहुंची। मेरे तमाम गुण-दोषों का ब्योरेवार हिसाब लगा कर सभी गृहिणियों को यह मानना पड़ा कि भले कुछ भी हो, मैं सुंदर जरूर हूं। यह बात सुनते ही मेरी बड़ी जेठानी का मुंह चढ़ गया। मगर मेरे रूप की जरूरत ही क्या थी, बस, यही सोचती हूं? रूप नामक वस्तु को यदि किसी पुरातन पंडित ने गंगामाटी से गढ़ा हो तो उसका आदर-मान भी हो, किन्तु उसे तो विधाता ने केवल अपनी मौज-मस्ती की रौ में निर्मित किया है। इसलिए तुम्हारे धर्म के संसार में उसका कोई दाम नहीं है।

मैं अनिंद्य रूपवती हूं, इस सच्चाई को भूलने में तुम्हें ज्यादा वक्त नहीं लगा। मगर मुझ में बुद्धि भी है, यह बात तुम सबको कदम-कदम पर याद रखनी पड़ी। मेरी यह बुद्धि कितनी सहज-स्वाभाविक है कि तुम्हारे घर-परिवार में इतना समय बिताने पर भी वह आज दिन तक टिकी हुई है। मेरी इस बुद्धि के मारे मां बड़ी उद्विग्न रहती थी। नारी के लिए यह तो एक बला है, बला! बाधा-वर्जनाओं को मान कर भी जिसे चलना है, यदि वह बुद्धि को मान कर चले तो ठोकर दर ठोकर उसका सर फूटेगा ही। लेकिन, मैं क्या करूं, बताओ? तुम्हारे घर की बहू के लिए जितनी बुद्धि अपेक्षित है, उससे बहुत ज्यादा बुद्धि विधाता ने भूल से दे डाली। अब उसे लौटाऊं भी तो किसको? तुम लोग मुझे पुरखिन कह कर दिन-रात कोसते रहे। कड़ी बातों से ही अक्षम को सांत्वना मिलती है, अतएव वह सब मैंने माफ किया।

मेरी एक बात तुम्हारे घर-परिवार से बाहर थी, जिसे कोई नहीं जानता। मैं छिप कर कविता करती थी। वह कूड़ा-करकट ही क्यों न हो, उस पर तुम्हारे अन्तःपुर की दीवार नहीं उठ सकी। वहीं मुझे मुक्ति मिलती थी। वहीं पर मैं, मैं हो पाती थी। मेरे भीतर

मझली बहू के अलावा जो कुछ भी है, उसे तुम लोगों ने कभी पसंद नहीं किया; पहचान भी नहीं सके। मैं कवि हूं, पंद्रह बरस तक यह भेद तुम्हारी पकड़ में नहीं आया।

तुम्हारे घर की प्रारंभिक स्मृतियों के बीच मेरे मन में जो स्मृति सबसे ज्यादा कौंध रही है—वह है तुम लोगों की गौशाला। अन्तःपुर के जीने की बगल वाले कोठे में तुम्हारी गायें रहती हैं। सामने के आंगन को छोड़ कर उनके हिलने-डुलने के लिए और कोई जगह नहीं है। उसी आंगन के कोने में उन्हें भूसा डालने के लिए लकड़ी का एक नांद है। अल्ल-सवेरे तरह-तरह के कामों में चाकर उलझे रहते, भूखी गायें तत्क्षण नांद के किनारों को चाट-चाट कर, चबा-चबा कर गड्ढे डाल देती थीं। मेरे प्राण सिहर उठते। मैं थी देहात की लड़की—जिस घड़ी तुम्हारे घर में पहली बार आई, सारे शहर के बीच उस दिन वे ही दो गायें और तीन बछड़े मुझे चिर परिचित आत्मीय-से जान पड़े। जितने दिन नई बहू बन कर रही, खुद न खा कर, लुक-छिपा कर उन्हें खिलाती रही। जब सयानी हुई तो गायों के प्रति मेरी सहज ममता को लक्ष्य करके मेरे साथ हंसी-ठिठौली का रिश्ता रखने वाले, मेरे गोत्र के बारे में संदेह व्यक्त करने लगे !

मेरी बिटिया जन्म के साथ ही चल बसी। जाते समय उसने साथ चलने के लिए मुझे भी पुकारा था। यदि वह जिन्दा रहती तो मेरे जीवन में जो कुछ महान है, जो कुछ सत्य है, वह सब मुझे ला देती, तब मैं मझली बहू से एकदम मां बन जाती। एक घर-परिवार के बीच रह कर भी वह पूरे संसार की मां होती है। मुझे मां होने की पीड़ा ही मिली, मातृत्व का मुक्ति-वरदान प्राप्त नहीं हुआ।

मुझे याद है, अंग्रेज डॉक्टर को अंतःपुर का दृश्य देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ था और जच्चाघर पर तो नजर पड़ते ही उसने झुंझला कर काफी बुरा-भला कहा था। बाहर सदर में तुम लोगों का छोटा-सा बगीचा है। बैठक में साज-शृंगार व असबाब की कोई कमी नहीं, मगर भीतर का भाग मानो ऊन-कढ़ाई की उलटी परत हो। वहां न कोई लज्जा, न कोई श्री और न कोई सजावट। वहां मद्धिम-सी रोशनी जला करती है। हवा चोर की तरह प्रवेश करती है। आंगन का कूड़ा-कचरा हटने का नाम नहीं लेता। फर्श व दीवारों पर समस्त कालिमा अक्षय रूप से विराजमान है। मगर डॉक्टर से एक गलती हो गयी थी। उसने सोचा था कि शायद इससे हमें आठों पहर दुख होता होगा। पर सच्चाई एकदम उलटी है। अनादर नाम की चीज राख के समान होती है। शायद भीतर ही भीतर वह आग को छिपाये रहती है, बाहर से ताप को प्रकट नहीं होने देती। जब आत्म-सम्मान कम हो जाता है, तब अनादर भी अन्याय नहीं लगता। उससे वेदना महसूस नहीं होती। तभी तो नारी दुख का अनुभव करने में शर्माती है। इसीलिए मैं कहती हूं, स्त्री-जाति का दुखी होना अवश्यम्भावी है, अगर यही तुम्हारी व्यवस्था है, तो फिर जहां तक संभव हो, उसे अनादर में रखना ही उचित है। आदर से दुःख की व्यथा और बढ़ जाती है।

चाहे जिस तरह रखो, उसमें दुख ही है, इसे याद करने की बात कभी मेरे मन में ही नहीं आयी। जच्चाघर में जब मौत सिरहाने आकर खड़ी हो गयी थी, तब भी मुझे डर नहीं लगा। हमारा जीवन ही क्या है, जो मौत से डरना पड़े। आदर और यत्न से जिनके प्राण कसकर बंधे रहते हैं, उन्हें ही मरने में झिझक होती है। यदि उस दिन यमराज मुझे

खींचते तो मैं उसी तरह उखड़ जाती, जिस तरह पोली जमीन से गुच्छों सहित घास सहज ही उखड़ आती है। बंगाल की वेटी तो वात-वात में मरने को आमादा रहती है। किन्तु, इस तरह मरने में क्या वहादुरी है? हमारे लिए मरना इतना आसान है कि मरते लज्जा आती है।

मेरी विटिया तो सांध्य-तारे की नाईं क्षण भर के लिए उदित होकर अस्त हो गई। मैं फिर से अपने नित्य-कर्म और गाय-बछड़ों में खो गयी। और इसी ढर्रे में मेरा जीवन जैसे-तैसे निःशेप हो जाता; आज तुम्हें यह चिट्ठी लिखने की दरकार ही नहीं होती। किन्तु, कभी-कभार हवा एक सामान्य-सा बीज उड़ा कर ले आती है और पक्के दालान में पीपल का अंकुर फूट उठता है; और अंत में उसी से काठ-पत्थर की छाती विदीर्ण हो जाती है। मेरे घर-संसार के माकूल वंदोवस्त में भी जीवन का एक छोटा-सा कण न जाने कहां से उड़ कर आन पड़ा कि तभी से दरार पड़नी शुरू हो गयी।

विधवा मां की मृत्यु के वाद मेरी वड़ी जेठानी की वहन विन्दु ने जिस दिन अपने चचेरे भाइयों के अत्याचार से तंग आकर हमारे घर में अपनी दीदी का आश्रय लिया, तव तुम लोगों ने सोचा कि यह कहां की आफत आ पड़ी। आग लगे मेरे स्वभाव को, क्या करती वोलो—जव देखा तुम सभी मन ही मन विरक्त हो उठे, तव उस निराश्रिता लड़की के लिए मेरा समूचा मन कमर वांध कर उद्यत हो उठा। पराये घर में, पराये लोगों की अनिच्छा के वावजूद आश्रय लेना—यह कितना वड़ा अपमान है! जिसे विवश होकर यह अपमान भी मंजूर करना पड़े, क्या एक कोने में ठेलकर उसकी उपेक्षा की जा सकती है?

तत्पश्चात् मैंने अपनी वड़ी जेठानी की दशा देखी। उन्होंने नितांत द्रवित होकर असहाय वहन को अपने पास वुलाया था। किन्तु, जव स्वामी की अनिच्छा का आभास हुआ, तव वे ऐसा दिखावा करने लगीं जैसे कोई अचीती वला आ पड़ी हो। जस-तस दूर हो जाय तो जान वचे। अपनी अनाथ वहन के प्रति खुले मन से स्नेह प्रदर्शित कर सकें, उनमें इतना साहस नहीं था। वे पतिव्रता जो थीं!

उनका यह संकेत देख कर मेरा मन और भी व्यथित हो उठा। मैंने देखा, वड़ी जेठानी ने विशेष तौर से सवको दिखा-दिखा कर विन्दु के खाने-पहनने की ऐसी भौंडी व्यवस्था की और उसे घर में सर्वत्र दासी-वृत्ति के काम इस तरह सौंप दिये कि मुझे केवल दुख ही नहीं, घोर लज्जा भी हुई। वे सवके सामने यह प्रमाणित करने में लगी रहती थीं कि हमारे घरवालों को विन्दु झांसे में आकर वहुत ही सस्ते दामों में हाथ लग गयी है। न जाने कितना काम करती है और खर्च के हिसाव से विल्कुल सस्ती।

वड़ी जेठानी के पितृ-वंश में कुल के अलावा कुछ भी वड़ी वात नहीं थी। रूप भी नहीं था। धन भी नहीं था। मेरे श्वसुर के पांव पड़ने पर, किस तरह तुम लोगों के घर में उनका व्याह हुआ था, यह सव तो जानते ही हो। उनके विवाह से इस वंश में भारी अपराध हुआ है, वे हमेशा यही सोचा करती थीं। इसलिए यथासंभव अपने-आपको सव वातों से अलग रख कर वे तुम्हारे घर में निहायत अकिंचन होकर रहने लगी थीं।

किन्तु, उनके इस साधु-दृष्टांत से मैं वड़ी मुश्किल में पड़ जाती थी। मैं किसी भी तरह अपने-आपको इतना छोटा नहीं वना पाती थी। मैं जिस वात को अच्छा समझती हूं, उसे

किसी और की खातिर बुरा मानना, मुझे उचित नही जान पड़ता, जिसके बहुतेरे प्रमाण तुम्हें मिल चुके है।

बिन्दु को मै अपने कमरे में खीच लायी। दीदी कहने लगी, 'मझली बहू गरीब घर की बेटी का माथा खराब करने लगी है।' वे सबके पास जाकर हरदम इस ढंग से मेरी शिकायत करती रहती, जैसे मैने कोई विषम कहर ढा दिया। किन्तु, मैं अच्छी तरह जानती हूं कि अपने बचाव से वे मन ही मन संतुष्ट थी। अब सारा दोष मेरे मत्थे आ पड़ा। अपनी बहन के प्रति वे स्वयं जो स्नेह प्रकट नही कर सकती थी, मेरे द्वारा वह स्नेह चरितार्थ होने पर उनका मन हलका होने लगा। मेरी बड़ी जेठानी बिन्दु की आयु से दो-एक बरस बाद देने की चेष्टा किया करती थी। किन्तु, उसकी उम्र चौदह साल से कम नही थी, यदि एकांत में उनसे कहा जाता तो यह कोई असंगत बात नही होती। तुम तो जानते ही हो, वह देखने मे इतनी भद्दी है कि फर्श पर गिरने से उसका सर फूट जाय तो लोगो को फर्श की ही चिन्ता होगी। यही कारण है कि माता-पिता के अभाव मे कोई ऐसा न था, जिसे उसके ब्याह की फिक्र हो और ऐसे लोग भी कितने है, जिनके सीने मे यह दम हो कि उससे ब्याह रचाएं।

बिन्दु बहुत डरती-सहमती मेरे पास आयी। जैसे मेरी देह उससे छू जाय तो मै सहन नही कर पाऊंगी। विश्व-संसार में जन्म लेने के निमित्त मानो उसकी कोई शर्त ही न हो। इसीलिए वह हमेशा आंख बचाकर दूर-दूर रहती थी। उसके पिता के घर मे चचेरे भाई उसके लिए ऐसा एक भी कोना नही छोड़ना चाहते थे, जिसमे वह अनावश्यक जिन्स की तरह पड़ी रह सके। अनावश्यक कूड़े-कचरे को घर के आस-पास अनायास ही स्थान मिल जाता है, क्योंकि मनुष्य उसे अनदेखा कर जाता है, किन्तु अनावश्यक लड़की एक तो अनावश्यक होती है और उसे भूल पाना भी कठिन होता है। इसी कारण उसे घूरे पर भी स्थान नही मिलता। फिर भी यह कहने की रंचमात्र भी गुजाइश नही है कि उसके चचेरे भाई ही संसार मे परमावश्यक पदार्थ है। किन्तु वे लोग है बड़े मजे मे।

इसीलिए, जब मै बिन्दु को अपने कमरे में लायी तो उसकी छाती धक-धक करने लगी। उसे भयभीत देख कर मुझे बड़ा दुख हुआ। मेरे कमरे मे उसके लिए थोड़ी-सी जगह है, यह बात मैने उसे बड़े लाड़-प्यार से समझायी।

किन्तु, मेरा कमरा फकत मेरा ही तो कमरा नही था। इसलिए मेरा काम सरल नही हुआ। दो-चार दिन मेरे साथ रहने पर ही उसके शरीर मे लाल-लाल न जाने क्या उभर आया? शायद अम्हौरी या ऐसी ही कुछ बीमारी होगी। तुमने कहा बसंत। क्यो न हो, वह बिन्दु थी न? तुम्हारे मोहल्ले के एक अनाड़ी डॉक्टर ने कहा कि दो-एक दिन और पड़ताल किये बिना ठीक से कुछ नही कहा जा सकता। किन्तु, दो-एक दिन का सब्र किसे होता? बिन्दु तो अपनी बीमारी की लज्जा से ही मरी जा रही थी। मैने कहा, बसत है तो है, मै उसके साथ अपने जच्चाघर मे रहूंगी; किसी को कुछ भी करने की जरूरत नही। इस बात पर तुम सभी भड़क कर मेरे लिए संहार की प्रतिमूर्ति बन गये, यही नही, जब बिन्दु की दीदी भी छद्म विरक्त भाव से उस हतभागी लड़की को अस्पताल भेजने का प्रस्ताव करने लगी, तभी उसके शरीर पर से तमाम लाल-लाल दाग विलुप्त हो गये। पर

मैंने देखा !—तुम सब तो और अधिक व्यग्र हो उठे। कहने लगे अब तो निश्चित रूप से वसंत बैठ गयी है। क्यों न हो, वह बिन्दु थी न ?

अनादृत पालन-पोषण का एक बड़ा गुण है कि वह शरीर को एकदम अजर-अमर कर देता है। बीमारी आस-पास फटक ही नहीं पाती। मरने के सदर रास्ते बिल्कुल बन्द हो जाते हैं। रोग उसके साथ मखौल कर गया, उसे कुछ भी नहीं हुआ। लेकिन यह बात अच्छी तरह समझ में आ गयी कि संसार में असहाय व्यक्ति को आश्रय देना ही सबसे कठिन है। जिसे आश्रय की दरकार जितनी अधिक होती है, आश्रय की बाधाएं भी उसके लिए उतनी ही विषम बन जाती हैं।

बिन्दु के मन से जब मेरा भय मिट गया तब उसे एक और दुष्ट-ग्रह ने दबोच लिया। वह मुझे इस कदर बेइन्तहा प्यार करने लगी कि मैं डर के मारे विचलित हो उठी। प्यार की ऐसी मूर्ति तो इस मायावी-संसार में कभी नजर नहीं आयी। पुस्तकों में पढ़ा अवश्य था, वह भी स्त्री-पुरुष के बीच ही। बहुत दिनों से ऐसी कोई घटना नहीं हुई कि मुझे अपने रूप का खयाल आता। अब इतने दिन बाद यह कुरूप लड़की मेरे उसी रूप पर बौरा गयी। आठों पहर मेरा मुंह निहारने पर भी उसके नयनों की प्यास कभी बुझ ही नहीं पाती थी। कहती, 'दीदी, तुम्हारी यह सलौनी सूरत मेरे अलावा किसी भी नजर नहीं आयी।' जिस दिन मैं स्वयं अपना जूड़ा बांध लेती, उस दिन वह बहुत रूठ जाती। मेरी केश-राशि को अपने दोनों हाथों में झुलाने मात्र से उसके आनन्द की सीमा नहीं रहती। किसी दावत में जाने के अलावा मुझे साज-शृंगार की जरूरत ही नहीं पड़ती थी। लेकिन बिन्दु मुझे तंग कर-करके हमेशा थोड़ा-बहुत सजाती रहती। सचमुच, वह लड़की मेरे पीछे पागल हो गयी थी।

तुम्हारे घर के भीतरी हिस्से में कहीं खाली जमीन नहीं थी। उत्तर दिशा की दीवार में नाली के किनारे न जाने कैसे एक गाब का पौधा उग आया ? जिस दिन देखती कि उस गाब के पौधे में नयी लाल-लाल कोंपलें निकल आयी हैं, उसी दिन जान पड़ता कि धरती पर वास्तव में वसंत आ गया है। और जिस दिन मेरी घर-गृहस्थी में इस अनादृत लड़की के चित्त का ओर-छोर इस तरह रंगीन हो उठा, उस दिन मैंने जाना कि हृदय के जगत में भी वसंत की बयार बहती है—वह किसी स्वर्ग-लोक से आती है, गली के मोड़ से नहीं।

बिन्दु की प्रीत के दुःसह वेग ने मुझे अस्थिर कर डाला था। मानती हूं कि मुझे कभी-कभार उस पर गुस्सा आ जाता। किन्तु, उस प्रीत की भव्य अनुभूति में मुझे अपने स्वरूप की ऐसी छवि दिखलायी पड़ी जो पहले कभी नजर नहीं आयी। वह मेरा मुक्त स्वरूप है। मुक्त छवि है।

इधर मैं बिन्दु जैसी लड़की को इतना लाड़-दुलार कर रही हूं, यह तुम लोगों को बड़ी ज्यादती लगी। उस नुक्ताचीनी व खटपट का कोई अंत नहीं था। जिस दिन मेरे कमरे से बाजूबंद की चोरी हुई, उस दिन इस बात का आभास देते हुए तुम लोगों को तनिक भी लज्जा नहीं आयी कि उस चोरी में किसी न किसी तरह बिन्दु का हाथ है। जब स्वदेशी आन्दोलन में लोगों के घर की तलाशियां होने लगीं, तब तुम लोग अनायास ही यह संदेह कर बैठे कि बिन्दु पुलिस द्वारा रखी गयी स्त्री-गुप्तचर है। उसका और तो कोई प्रमाण

नही था, प्रमाण केवल यही था कि वह बिन्दु थी !

तुम्हारे घर की दासिया उसका कोई भी काम करने से मना कर देती थी। उनमे से किसी भी दासी को मै उसके काम की फरमाइश करती, तव भी वह लडकी सकोच के मारे एकदम जडवत् हो जाती थी। इन्ही सव कारणो से उस पर मेरा खर्च दिन-व-दिन वढता गया। मैने खासतौर से एक अलग दासी रख ली। यह भी तुम लोगो को गवारा नही हुआ। विन्दु को पहनने के लिए जो कपड़े देती थी, उन्हे देख कर तुम इतने नाराज हुए कि मेरा हाथ-खर्च ही वद कर दिया। दूसरे ही दिन से मैने सवा रुपये जोडे की मिल की गाढी व कोरी धोती पहननी शुरू कर दी। और जब मोती की मा मेरी झूठी थाली उठाने के लिए आयी तो मैने उसे मना कर दिया। मैने खुद जूठा भात वछड़े को खिलाया और आगन के नल पर बासन माजे। एक दिन अकस्मात् इस दृश्य को देख कर तुम खुश नही हुए। मेरी खुशी के विना तो चल सकता है, पर तुम्हारी खुशी के विना नही चल सकता, यह सुवुद्धि आज दिन तक मेरे भेजे मे नही आयी।

इधर ज्यो-ज्यो तुम लोगो का रोष वढता जा रहा था, त्यो-त्यो बिन्दु की उम्र भी वढती जा रही थी। इस स्वाभाविक वात पर तुम लोग अस्वाभाविक रूप से विभ्रत हो उठे थे। एक वात याद करके मुझे आश्चर्य होता रहा है कि तुम लोगो ने बिन्दु को जवर-दस्ती अपने घर से खदेड क्यो नही दिया ? मै खूब जानती हू कि तुम लोग मन ही मन मुझसे डरते थे। विधाता ने मुझे बुद्धि दी है, भीतर ही भीतर इस वात की तवज्जुह दिये विना तुम लोगो से रहा नही जाता था।

अंत मे अपनी शक्ति से विन्दु को विदा करने मे असमर्थ होकर तुम लोगो ने प्रजापति देवता की शरण ली। विन्दु का वर ठीक हुआ। वडी जेठानी बोली, 'जान बची, मा काली ने अपने वश की लाज रख ली।'

वर कैसा था, मै नही जानती। तुम लोगो से ही सुना कि सव तरह से अच्छा हे। विन्दु मेरे पावो से लिपट कर रोने लगी। 'दीदी, मेरा ब्याह क्यो कर रही हो भला ?'

मैंने उसे समझाते-वुझाते कहा, 'विन्दु, डर मत, सुना कि तेरा वर अच्छा है।'

विन्दु वोली, 'अगर वर अच्छा है तो मुझ मे भला ऐसा क्या है, जो उसे पसद आ सके।'

वर-पक्ष वालो ने तो विन्दु को देखने तक की इच्छा जाहिर नही की। वड़ी दीदी इससे वडी आश्वस्त हुई।

लेकिन विन्दु रात-दिन रोती रहती। चुप होने का नाम ही नही लेती। उसे क्या कष्ट है, मै जानती थी। बिन्दु के लिए मैने घर मे वहुत वार झगडा किया था, लेकिन उसका ब्याह रुक जाय, यह वात कहने का साहस नही होता था। कहती भी किस वूते पर ? यदि मै मर जाऊ तो इसकी क्या गति होगी ?

एक तो लडकी, तिस पर काली-कुरूप लडकी—किसके घर जा रही है ? वहा उसकी क्या दशा होगी ? इन वातो की चिन्ता न करना ही उचित हे। सोचती तो प्राण सिहर-सिहर उठते।

विन्दु ने कहा, 'दीदी, ब्याह के अभी पाच दिन और हैं। इस वीच क्या मुझे मौत नही आयेगी ?'

मैंने उसे खूब धमकाया। किन्तु अन्तर्यामी जानते हैं, यदि स्वाभाविक ढंग से बिन्दु की मृत्यु हो जाती तो मैं राहत की सांस लेती।

विवाह के एक दिन पहले बिन्दु ने अपनी दीदी के पास जाकर कहा, 'दीदी, मैं गौशाला में पड़ी रहूंगी, जो कहोगे वही करूंगी। तुम्हारे पांव पड़ती हूं, मुझे इस तरह मत धकेलो।'

कुछ दिनों से दीदी की आंखों में चोरी-चोरी आंसू झर रहे थे, उस दिन भी झरने लगे। किन्तु, सिर्फ हृदय ही तो नहीं होता, शास्त्र भी तो हैं। उन्होंने कहा, 'बिंदी, तू क्या जानती नहीं कि पति ही सब-कुछ है—स्त्री की गति, स्त्री की मुक्ति। भाग्य में यदि दुख बदा है तो उसे कोई मिटा नहीं सकता।'

असली बात तो यह है कि कहीं कोई रास्ता नहीं था। बिन्दु को ब्याह तो करना ही पड़ेगा। फिर जो हो, सो हो।

मैं चाहती थी कि विवाह हमारे घर से हो। किन्तु, तुम लोग कह बैठ, वर के ही घर में हो, उनके कुल की यही प्रथा है।

मैं समझ गयी, बिन्दु के विवाह में यदि तुम लोगों को खर्च करना पड़े तो तुम्हारे गृह-देवता उसे किसी भांति सह नहीं सकेंगे। इसीलिए चुप रह जाना पड़ा। किन्तु, एक बात तुम में से कोई नहीं जानता। दीदी को बताने की इच्छा थी, मगर बतायी नहीं। वरना वे डर के मारे मर जातीं। मैंने अपने थोड़े-बहुत गहने लेकर चुपचाप बिन्दु का साज-सिंगार कर दिया। सोचा, शायद दीदी की नजर में पड़ा होगा। किन्तु, उन्होंने जैसे देख कर भी नहीं देखा। दुहाई है धर्म की, इसके लिए तुम उन्हें क्षमा कर देना।

जाने से पहले बिन्दु मुझसे लिपट कर बोली, 'दीदी, तो क्या तुम लोगों ने मुझे एक दम ही त्याग दिया।'

मैंने कहा, 'ना बिन्दु, तुम चाहे जैसी स्थिति में रहो, मैं तुम्हें प्राण रहते नहीं त्याग सकती।'

तीन दिन बीते। तुम्हारे ताल्लुके की प्रजा ने, खाने के लिए तुम्हें जो भेड़ा दिया था, उसे तुम्हारी जठराग्नि से बचाकर मैंने कोयले की, नीचे वाली कोठरी के एक कोने में बांध दिया था। अल्ल-सवेरे ही मैं खुद जाकर उसे दाना-पानी दे आती। तुम्हारे चाकरों पर दो-एक दिन तो एतबार किया, मगर उसे खिलाने की बजाय, उसीको खा जाने की ललक उनमें ज्यादा थी।

उस दिन सवेरे कोठरी में गयी तो देखा, बिन्दु एक कोने में दुहरी होकर बैठी है। मुझे देखते ही मेरे पांवों में गिर कर चुपचाप रोने लगी।

बिन्दु का पति पागल था!

'सच कह रही है, बिन्दी?'

'इतना बड़ा झूठ तुम्हारे सामने बोल सकती हूं, दीदी? वे पागल हैं। ससुर की राय नहीं थी, इस विवाह के लिए—किन्तु, वे मेरी सास से यमराज की तरह डरते हैं। ब्याह के पहले ही वे काशी चले गये। सास ने हठपूर्वक अपने लड़के का ब्याह कर दिया।'

मैं वहीं कोयले की ढेरी पर बैठ गयी। औरत को औरत पर दया नहीं आती। सास

कहती है, 'यह लड़की थोड़े ही है। लड़का पागल है तो क्या हुआ? है तो पुरुष ही।'

बिन्दु का पति पहली नजर में ठीक पागल जैसा नहीं लगता। किन्तु, कभी-कभार उस पर ऐसा उन्माद सवार हो जाता कि ताला लगा कर उसे कमरे में रखना पड़ता। विवाह की रात वह ठीक था, किन्तु रात भर जगने व अन्य झंझटों के फलस्वरूप दूसरे ही दिन से उसका माथा बिल्कुल खराब हो गया। बिन्दु दोपहर को पीतल की थाली मे भात खाने बैठी थी। सहसा उसके पति ने भात-सहित थाली उठा कर फेंक दी। हठात् न जाने क्यों उसे महसूस हुआ कि बिन्दु स्वयं रानी रासमणि है। नौकर ने निश्चय ही सोने का थाल चुरा कर रानी को अपने ही थाल में भात परोसा है। यही उसके क्रोध का कारण था। बिन्दु तो डर के मारे मरी जा रही थी। तीसरी रात जब सास ने उसे पति के कमरे में सोने के लिए कहा तो बिन्दु के प्राण सूख गये। सास को क्रोध आने पर कुछ भी होश नही रहता था। वह भी पागल थी, किन्तु पूरी तरह से नही, इसलिए वह ज्यादा घातक थी। बिन्दु को कमरे में जाना ही पड़ा। उस रात स्वामी काफी शांत रहा। किन्तु प्रच्छन्न आतंक से बिन्दु का शरीर काठ-सा हो गया। स्वामी जब बहुत रात ढलने पर सो गया तो वह किस कौशल से भाग कर चली आयी, इसका विस्तृत विवरण लिखने की जरूरत नहीं है।

घृणा व क्रोध के मारे मेरा समूचा शरीर जलने लगा। मैंने कहा, 'ऐसे धोखे का ब्याह, ब्याह ही नहीं है। बिन्दु, तू जैसे रहती थी, वैसे ही मेरे पास रह। देखूं, तुझे कौन ले जाता है?'

तुम लोगों ने उज्र किया, 'बिन्दु झूठ बोलती है।'

मैंने कहा, 'उसने कुछ भी झूठ नही बताया।'

तुम लोगों ने पूछा, 'तुम्हें क्योंकर पता चला?'

मैंने कहा, 'मैं अच्छी तरह जानती हूं।'

तुम लोगों ने भय दिखाया, 'बिन्दु के ससुराल वालों ने पुलिस को रपट कर दी तो मुश्किल में पड़ जायेंगे।'

मेरा जवाब था, 'क्या अदालत इस पर गौर नही करेगी कि धोखे से पागल व्यक्ति के साथ उसका ब्याह किया है।'

तुमने कहा, 'तो क्या इसके लिए कोर्ट-कचहरी जायेंगे? क्यों, हमे क्या पड़ी है?'

मैंने कहा, 'अपने गहने बेचकर, जो बन पड़ेगा, करूंगी।'

तुमने कहा, 'वकील के घर चक्कर काटोगी?'

भला इसका क्या जवाब देती? सर पीटने के अलावा दूसरा चारा ही क्या था?

उधर बिन्दु की ससुराल से आकर उसके जेठ ने बाहर बड़ा हंगामा कर दिया। थाने मे रपट करने की बार-बार धमकी देने लगा।

मुझ में क्या शक्ति थी, नहीं जानती—किन्तु, कसाई के हाथ से जो गाय प्राण छुड़ा कर मेरे आश्रय में आयी है, उसे पुलिस के डर से फिर कसाई के हवाले कर दूं, मेरा मन किसी भी तरह यह बात मानने के लिए तैयार नही था। मैंने चुनौती स्वीकार करते कहा, 'करने दो थाने में खबर।'

इतना कह कर मैंने सोचा कि इसी वक्त विन्दु को अपने सोने के कमरे में ले जाकर भीतर से ताला जड़ दूं। मैंने सब जगह तलाश की, विन्दु का कहीं पता नहीं चला। तुम लोगों के साथ जब मेरी बहस चल रही थी, तब विन्दु ने स्वयं वाहर जाकर जेठ के आगे आत्म-समर्पण कर दिया था। वह समझ गयी, यदि उसने घर नहीं छोड़ा तो मैं संकट में पड़ जाऊंगी।

वीच में भाग आने से विन्दु ने अपना दुख और वढ़ा लिया। उसकी सास का तर्क यह था कि उसका लड़का उसे खाये तो नहीं जा रहा था। अयोग्य पति के दृष्टांत दुनिया में दुर्लभ नहीं हैं। उसकी तुलना में तो उसका वेटा सोने का चांद है।

वड़ी जेठानी ने कहा, 'जिसकी किस्मत ही खराव हो, उसके लिए दुख करना व्यर्थ है। पागल-वागल कुछ भी हो, है तो स्वामी ही न !'

एक स्त्री अपने कोढ़ी-पति को कंधों पर बिठाकर वेश्या के घर ले गयी थी, सती-साध्वी का वह दृष्टांत तुम सवके मन में मचल रहा था। दुनिया के इतिहास में कायरता के उस शर्मनाक आख्यान का प्रचार करते हुए तुम लोगों के पौरुष को रंगमात्र भी संकोच नहीं हुआ। इसलिए मानव-जन्म पाकर भी विन्दु के व्यवहार पर तुम लोग क्रोध कर सके, तुम्हारा सर नहीं झुका। विन्दु के लिए मेरी छाती फटी जा रही थी, किन्तु तुम लोगों के लिए भी मेरी लज्जा का अंत नहीं था। मैं तो गांव की लड़की हूं, तिस पर तुम लोगों के घर आ पड़ी; फिर भगवान ने न मालूम किस तरह मुझे ऐसी वुद्धि दे डाली। तुम लोगों की ये सब नीति-कथाएं मेरे लिए नितांत असह्य थीं।

मैं निश्चय-पूर्वक जानती थी कि विन्दु मर भले ही जाय, अव हमारे घर नहीं आयेगी। किन्तु, मैं तो उसे ब्याह के एक दिन पहले दिलासा दे चुकी थी कि प्राण रहते उसे छोड़ूंगी नहीं। मेरा छोटा भाई शरत् कलकत्ता के एक कॉलेज में पढ़ रहा था। तुम तो जानते ही हो कि तरह-तरह की वालंटियरी करना, प्लेग वाले मोहल्लों में चूहे मारना, दामोदर में वाढ़ आने की खवर सुनकर दौड़ पड़ना—इन सब वातों में उसका इतना उत्साह था कि एफ. ए. की परीक्षा में लगातार दो मर्तवा फेल होने पर भी उसके जोश में कोई कमी नहीं आयी। मैंने उसे वुला कर कहा, 'जैसे भी हो, विन्दु की खवर पाने का वन्दोवस्त तुझे करना ही पड़ेगा, शरत ! मुझे चिट्ठी लिखने का विन्दु साहस नहीं जुटा पायेगी। लिखने पर भी मुझे मिल नहीं सकेगी।'

इस काम की वजाय यदि मैं उसे डाका डाल कर विन्दु को लाने की वात कहती या उसके पागल पति का सर फोड़ने का आदेश करती तो उसे ज्यादा खुशी होती।

शरत् के साथ वात चीत कर रही थी कि तुमने कमरे में आते ही पूछा, 'फिर यह क्या हंगामा कर रही हो ?'

मैंने कहा, 'वही जो शुरू से करती आयी हूं। यह हंगामा तो तभी से चालू है जव से तुम्हारे घर आयी हूं—किन्तु इसका श्रेय तो तुम्हीं लोगों को है।'

तुमने जिज्ञासा की, 'विन्दु को लाकर फिर कहीं छिपा रखा है क्या ?'

मैंने कहा, 'विन्दु आती तो उसे जरूर छिपा कर रख लेती। किन्तु, वह अव आयेगी नहीं, तुम निश्चित रहो।'

शरत् को मेरे पास देख कर तुम्हारा संदेह और भी बढ़ गया। मैं जानती थी कि हमारे घर में शरत् का आना-जाना तुम लोगों को पसन्द नहीं है। तुम्हें आशंका थी कि उस पर पुलिस की नजर है। किसी दिन राजनैतिक मामले में फंस गया तो तुम सबको भी ले डूबेगा। इसीलिए मैं भैया-दूज का तिलक भी किसी के साथ भिजवा देती थी, उसे घर नहीं बुलाती थी।

तुम्ही से सुना कि बिन्दु फिर भाग गयी है। उसका जेठ तुम्हारे घर उसे खोजने आया है। सुनते ही मेरी छाती शूलों से बिंध गयी। हतभागिन का असह्य कष्ट तो समझ गयी, मगर कुछ भी करने का उपाय नहीं था।

शरत् इसकी खोज-खबर लेने दौड़ा। सांझ की वेला लौटकर मुझ से बोला, 'बिन्दु अपने चचेरे भाइयों के घर गयी थी, किन्तु उन्होंने अत्यंत क्रुद्ध होकर उसी समय फिर उसे ससुराल पहुंचा दिया। इसके लिए उन्हें गाड़ी-किराया और हरजाने का जो दण्ड भोगना पड़ा, उसकी चुभन अब भी मिटी नही है।'

तुम्हारी चाची तीर्थयात्रा के लिए श्रीक्षेत्र जाते समय तुम्हारे यहां आकर ठहरीं। मैंने तुमसे आग्रह किया, 'मैं भी जाऊंगी।'

सहसा मेरे मन में धर्म के प्रति यह श्रद्धा देखकर तुम इतने खुश हुए कि तनिक भी आपत्ति नही की। तुम्हें इस बात का भी ध्यान था कि यदि मैं कलकत्ता रही तो फिर किसी दिन बिन्दु को लेकर फसाद कर बैठूगी। मेरी वजह से तुम्हें काफी परेशानी थी।

मुझे बुधवार को जाना था; रविवार को ही सब ठीक-ठाक हो गया। मैंने शरत् को बुलाकर कहा, 'जैसे भी हो, बुधवार को पुरी जाने वाली गाड़ी में तुझे बिन्दु को बिठा देना होगा।'

शरत् का चेहरा खिल उठा। वह बोला, 'तुम निश्चित रहो दीदी, मैं उसे गाड़ी में बिठाकर, पुरी तक चला चलूंगा। इसी बहाने जगन्नाथ के दर्शन भी हो जायेंगे।'

उसी दिन शाम को शरत् फिर आया। उसका मुंह देखते ही मेरा दिल बैठ गया। मैंने पूछा, 'क्या बात है, शरत्? शायद कोई उपाय नहीं हुआ।'

वह बोला, 'नहीं।'

मैंने पूछा, 'क्या उसे राजी नहीं कर पाये?'

उसने कहा, 'अब जरूरत भी नहीं है। कल रात अपने कपड़ों में आग लगा कर उसने आत्महत्या कर ली। उस घर के जिस भतीजे के साथ मैंने मेलजोल बढ़ाया था, उसी से खबर मिली। हां, तुम्हारे नाम वह एक चिट्ठी रख गयी थी, किन्तु वह चिट्ठी उन्होंने नष्ट कर दी।'

चलो शांति हुई!

गांव भर के लोग भन्ना उठे। कहने लगे, 'कपड़ों में आग लगा कर मर जाना तो अब लड़कियों के लिए एक फैशन हो गया है।'

तुम लोगों ने कहा, 'अच्छा नाटक है।' हुआ करे। किन्तु नाटक का तमाशा केवल बंगाली लड़कियों की साड़ी पर ही क्यों होता है, बंगाली वीर-पुरुषों की धोतियों पर क्यों नहीं होता? इस पर भी तो विचार करना चाहिए।

ऐसा ही था विन्दी का दुर्भाग्य । जितने दिन जिन्दा रही, न रूप का यश मिला और न गुण का । मरते समय भी जरा सोच-समझ कर कुछ ऐसे ढंग से मरती कि दुनिया-भर के पुरुप खुशी से ताली वजा उठते । यह भी नहीं सूझा उसे । मर कर भी उसने लोगों को नाराज ही किया ।

दीदी कमरे में छिप कर रोईं । किन्तु उस रोने में एक सान्त्वना थी । कुछ भी हुआ, जान तो वची । मर गयी, यही क्या कम है ? जिन्दा रहती तो न जाने क्या होता ?

मैं श्रीक्षेत्र में आ पहुंची हूं । विन्दु के आने की अव कोई जरूरत नहीं रही । किन्तु, मुझे जरूरत थी ।

लोग जिसे दुख मानते हैं, वह तुम्हारी गृहस्थी में मुझे कभी नहीं मिला । तुम्हारे घर में खाने-पहनने की कोई कमी नहीं थी । तुम्हारे वड़े भाई का चरित्र चाहे जैसा हो, तुम्हारे चरित्र में ऐसा कोई दोप नहीं, जिसके लिए विधाता को वुरा कह सकूं । यदि तुम्हारा स्वभाव वड़े भाई की तरह होता तो भी शायद मेरे दिन इसी तरह कट जाते और मैं अपनी सती-साध्वी वड़ी जेठानी की तरह पति-परमेश्वर को दोप न देकर विश्व-देवता को ही दोप देने की चेप्टा करती । अतएव, मैं तुमसे कोई शिकवा-शिकायत नहीं करना चाहती । मेरी चिट्ठी का कारण दूसरा है ।

किन्तु, मैं अव माखन-वड़ाल की गली के उस सत्ताईस नम्वर वाले घर में लौट कर नहीं आऊंगी । मैं विन्दु को देख चुकी हूं । इस संसार में नारी का सच्चा परिचय क्या है, वह मैं पा चुकी हूं । और कुछ भी जानने की जरूरत नहीं ।

मैंने यह भी देखा है कि हां, वह लड़की ही थी, फिर भी भगवान ने उसका परित्याग नहीं किया । उस पर तुम लोगों का चाहे कितना ही जोर क्यों न रहा हो, उस जोर की सीमा है । वह अपने हतभागे मानव-जीवन से वड़ी थी । तुम मनमाने ढंग से, अपने दस्तूर से, उसके जीवन को चिरकाल के लिए अपने पांवों तले दवा कर रख सकते, तुम्हारे पांव इतने लंवे नहीं हैं । मृत्यु तुम लोगों से वड़ी है ! अपनी मृत्यु के वीच वह महान है । वहां विन्दु केवल वंगाली घर की लड़की नहीं है, केवल चचेरे भाइयों की वहन नहीं है, केवल अपरिचित पागल पति की प्रवंचिता पत्नी नहीं है । वहां वह अनंत है !

मृत्यु की वह वांसुरी उस वालिका के भग्न-हृदय से निकल कर जव मेरी जीवन-यमुना के तीर वजने लगी तो पहले-पहल मानो मेरी छाती में कोई वाण विंध गया हो । मैंने विधाता से प्रश्न किया—संसार में जो कुछ सवसे अधिक तुच्छ है, वही सवसे अधिक कठिन क्यों है ? इस गली में चहार-दीवारी से घिरे इस निरानंद स्थान में यह जो तुच्छतम वुदवुदा है, वह इतनी भयंकर वाधा कैसे वन गया । तुम्हारा विश्व-जगत अपनी पट ऋतुओं का सुधा-पात्र हाथ में लेकर कितना ही क्यों न पुकारे, एक क्षण-भर के लिए भी मैं उस अंत:पुर की जरा-सी चौखट को पार क्यों न कर सकी ? तुम्हारे ऐसे भुवन में अपना ऐसा जीवन लेकर मुझे इस अन्यंत तुच्छ काठ-पत्थर की आड़ में ही तिल-तिलकर क्यों मरना होगा ? कितनी तुच्छ है, प्रतिदिन की यह मेरी जीवन-यात्रा ? कितने तुच्छ हैं—इसके वंधे नियम, वंधे अभ्यास, वंधी हुई वोली और इन सवकी वंधी हुई मार ! फिर भी क्या अन्त में दीनता के उस नागपाशी वंधन की ही जीत होगी और तुम्हारी अपनी सृष्टि

के इस आनंदलोक की हार ?

किन्तु, मृत्यु की वांसुरी वजने लगी ! कहां गयी राजमिस्त्रियों की वनायी हुई वह दीवार, कहां गया तुम्हारे घोर नियमों से वंधा वह कांटों का घेरा ? कौन-सा है वह दुख और कौन-सा है वह अपमान जो मनुष्य को बंदी बना कर रख सकता है ? यह लो, मृत्यु के हाथ में जीवन की जयपताका उड़ रही है ! अरी मझली वहू, तुझे अव डरने की कोई जरूरत नहीं। मझली बहू के इस तेरे खोल को छिन्न होते एक क्षण भी नहीं लगा।

तुम्हारी गली का अव मुझे कोई डर नहीं है। मेरे सामने है आज नीला समुद्र और सर पर हैं आषाढ़ के वादल !

तुम लोगों की रीति-नीति के अंधकार ने मुझे ढंक रखा था। क्षण भर के लिए बिन्दु ने आकर उस आवरण के छिद्र से मुझे देख लिया। वही लड़की अपनी मृत्यु के जरिये मेरे समूचे आवरण को चिंदी-चिंदी कर गयी। आज बाहर आकर देखती हूं, अपना गौरव रखने के लिए कहीं ठौर ही नहीं है। मेरा यह अनादृत रूप जिनकी आंखों को भाया है, वे चिर-सुंदर सम्पूर्ण आकाश से मुझे निहार रहे हैं। अव मझली बहू मर चुकी है !

तुम सोच रहे होगे कि मैं मरने जा रही हूं—डरो नहीं, तुम लोगों के साथ मैं ऐसा वासी ठट्ठा नहीं करूंगी। मीरावाई भी तो मुझ जैसी ही नारी थी—उनकी शृंखलाएं भी तो कम भारी नहीं थीं, मुक्ति के लिए उन्हें तो मरना नहीं पड़ा ! मीराबाई ने अपनी वाणी में कहा है, 'भले ही वाप छोड़े, मां छोड़े, चाहें तो सव छोड़ दें, मगर मीरा की लगन वही रहेगी प्रभु, अव जो होना है सो हो।' यह लगन ही तो मुक्ति है।

मैं भी जीवित रहूंगी। मैं सदा-सर्वदा मुक्त हो गयी। ००

तुम्हारी शरण से विमुक्त
मृणाल

एक था पंछी। वह बड़ा मूर्ख था। गाता तो था, पर शास्त्र नहीं पढ़ता था। फुदकता और उड़ता था, मगर यह नहीं जानता था कि कायदा-कानून किसे कहते हैं?

राजा ने कहा, 'ऐसा पंछी किस काम का? जंगल के फल खाकर राज-हाट के फल-बाजार में नुकसान पहुंचाता है।'

मंत्री को बुलाकर आदेश दिया, 'इस पंछी को शिक्षा दो।'

२

और उस पंछी को शिक्षा देने का जिम्मा सौंपा गया—राजा के भानजों को।

पंडितों की सभा जुड़ी। जम कर विचार-विमर्श हुआ। ज्वलंत समस्या थी, 'उक्त जीव की अविद्या का कारण क्या है?'

अकाट्य मंथन के पश्चात् सिद्धांत स्थापित हुआ, 'सामान्य घास-फूस के तिनकों से यह पंछी जो घोंसला बनाता है, उसमें बेशी विद्या रखने की ठौर ही कहां है? इसलिए सबसे पहली जरूरत है— इस पंछी के लिए एक शानदार पिंजरे का निर्माण किया जाय।'

राजपंडितों का सुझाव अपूर्व था। उन्हें अप्रत्याशित दक्षिणा मिली और वे बेइन्तहा खुश होकर अपने-अपने घर लौट गये।

३

सुनार बैठा पिंजरा बनाने। पिंजरा ऐसा अद्भुत बना कि देश-विदेश के लोग उसे देखने के लिए टूट पड़े। सौंदर्य के पारखी जो थे! किसी ने कहा, 'शिक्षा की तो हद हो गयी!' किसी ने कहा, 'शिक्षा न भी हो तो क्या, पिंजरा तो बन ही गया। पंछी के भाग्य का चमत्कार है!'

सुनार को थैलियां भर-भरकर बख्शिश मिली। वह खुश होकर अपने घर की ओर उड़ा।

तोता कहानी

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

पंडितगण बैठे पंछी को विद्या सिखाने। नसवार लेकर कहने लगे, 'थोड़ी पोथियों से काम नहीं चलेगा। पंछी को पढ़ाना क्या कोई मामूली बात है ?'

आज्ञाकारी भानजे तो बस आज्ञा का ही इंतजार कर रहे थे। तत्काल पोथी लिखने वालों को तलब किया। वे भी आज्ञाकारी कम नहीं थे। अविलम्ब पोथियों की नकल होने लगी। फिर नकलों की भी नकल। नकल दर नकल। देखते-देखते पोथियों का अंबार लग गया। जिसने भी देखा उसने गला फुला कर प्रशंसा की, 'शाबाश ! शाबाश ! विद्या धरने की अब ठौर ही कहां है ?'

नकल-नवीसों को पारितोषिक मिला—बैलगाड़ियां भर-भर कर। बैलों ने घर की ओर मुंह किया और दौड़ पड़े। किसी के घर में कोई कमी नहीं रही।

बेशकीमती पिंजरे की चौकसी के लिए भानजों की चिंता का पार नहीं था। जहां चिंता वहां बेशुमार व्यस्तता। सफाई का काम। मरम्मत का काम। काम-ही-काम। लाजवाब सलीके से, बेहद करीने से। पिंजरे की झाड़-पौंछ, व चमचमाती पॉलिश देखने के बाद लोगों ने कहा, 'उन्नति हो रही है।'

बड़ा काम ज्यादा आदमियों से ही संपन्न होता है, सो उस बड़े काम के लिए दिन-ब-दिन आदमियों की संख्या बढ़ती रही। फिर आदमियों के काम की देख-रेख के लिए और ज्यादा आदमी बढ़ाये गये। वे हर महीने मोटी-मोटी तनख्वाह लेकर भारी-भरकम मजूस भरने लगे, सो भरते ही रहे।

सभी लोगों के ममेरे, चचेरे व मौसेरे भाई हवेली और कोठियों में गद्दे बिछाकर आराम से बैठ गये।

४

संसार में और तो कई अभाव हैं, लेकिन निंदक हैं बेशुमार। जरूरत से ज्यादा। उन्होंने ही बताया, 'पिंजरे की तो उन्नति हो रही है, मगर पंछी की देख-भाल करने वाला कोई नहीं।'

राजा के कानों में भनक पड़ी। उन्होंने सबसे अधिक जिम्मेवार भानजे को बुला कर कहा, 'मेरे राज-दुलारे, यह क्या बात सुन रहा हूं ?'

भानजे ने सहज भाव से निवेदन किया, 'आप तो ईश्वर की तरह सर्वज्ञ हैं, फिर भी सच बात का पता लगाना चाहें तो बुलवाइए सुनारों को, पंडितों को, नकलनवीसों को, बुलवाइए मरम्मत करने वालों को; बुलवाइए चौकसी रखने वाले मोतबरों को। निठल्ले निंदकों के पास और काम ही क्या है ? उन्हें खाने को नहीं मिलता, इसलिए निंदा करते हैं।'

जवाब सुनकर राजा ने स्थिति का जायजा लिया, गहराई से समझा और अंत में भानजे के गले में सोने का बहुमूल्य हार पहना दिया।

५

शिक्षा कितनी तेजी से चल रही है, उसकी असलियत जानने के लिए राजा की इच्छा

हुई कि स्वयं अपनी नजरों से छान-बीन करे। सो एक दिन अपने विश्वस्त मुसाहिब, दीवान और मित्रों के साथ विद्यालय में पदार्पण किया।

दर्शन होते ही ड्योढ़ी के पास बज उठे—शंख, घड़ियाल, ढाक, ढोल, ताशे, तुरही, नगाड़े, कांसे, वंशी, भेरी, मृदंग, दमामे, खोल, करताल और जगझम्प। पंडितगण गला फाड़-फाड़ कर, चुटिया हिला कर मंत्र पाठ करने लगे। मिस्त्री, मजूर, सुनार, नकल-नवीस, पहरेदार और उन सबके बीच ममेरे, चचेरे व मौसेरे भाई बुलंद स्वर में जय-जय-कार करने लगे।

बड़ा भानजा बोला, 'महाराज गौर फरमाइये, सारा तामझाम आंखों के सामने है। कुछ भी छिपा नहीं रह सकता, फिर आपकी आंखें तो पर्वत को भेद कर साफ देख सकती हैं।'

महाराजा ने कहा, 'आश्चर्य! यह शब्द भी कुछ नहीं!'

'केवल शब्द ही क्यों, इसका अर्थ भी!' भानजे ने तुरंत जवाब दिया।

महाराजा बेहद खुश होकर लौट पड़े। ड्योढ़ी को पार करने के बाद हाथी पर सवार होने वाले ही थे कि झुरमुट की ओट में दुबका निंदक बोल उठा, 'हुजूर, आपने पंछी को देखा कि नहीं?'

पहले तो महाराजा कुछ चौंके, फिर प्रकृतिस्थ होकर बोले, 'ओह! भूल ही गया था। पंछी को देखने का तो ध्यान ही नहीं रहा।'

लौट कर पंडितों से पूछा, 'पंछी को तुम लोग कैसे सिखाते हो, क्या सिखाते हो? जरा उसे देखने की इच्छा हो रही है।'

राजा की इच्छानुसार उन्हें सब दिखाया गया और वे देख कर बेइन्तहा खुश हुए। किन्तु पंछी को सिखाने का तामझाम इतना बड़ा था कि वह स्वयं कहीं नजर ही नहीं आया। राजा ने भी सोचा कि अब उसे देखने की जरूरत ही क्या है? बुद्धिमान राजा तुरंत ताड़ गया कि बन्दोबस्त में किसी तरह की कोई कमी नहीं है। पिंजरे में दाना नहीं था, पानी नहीं था। थी केवल विद्या की भरमार। ढेर-सारी पोथियों के ढेर-के-ढेर पन्ने फाड़-फाड़ कर कलम की नोक से पंछी के मुंह में ठूंसे जा रहे थे। गाना तो बन्द ही था। चीखने-चिल्लाने की भी कोई गुंजाइश नहीं थी। देखने-मात्र से ही रोम-रोम सिहर उठता।

इस बार राजा ने हाथी पर चढ़ते समय 'कन-उमेठी' सरदार को आदेश दिया कि वह निंदक के दोनों कान खूब अच्छी तरह मल दे।

६

पंछी दिन-ब-दिन 'भद्र-दस्तूरी' के परिणामस्वरूप अधमरी स्थिति में पहुंच गया। अभिभावक-गण समझ गये कि प्रगति काफी आशाजनक है। फिर भी स्वाभाविक-दोष से ग्रसित पंछी पूर्व दिशा में सूर्य के उजाले की ओर टुकुर-टुकुर देखता और ढीठ की तरह जंगली तरीके से पांखें फड़फड़ाता। इतना ही नहीं कभी-कभार यह भी देखने में आया कि वह अपनी शीर्ण-चोंच से अमूल्य पिंजरे की छड़ें काटने की चेष्टा करता है।

कोतवाल जरा भृकुटी तान कर बोला, 'कैसी गुस्ताखी है?'

तब विद्याशाला में छैनी, हथौड़ा व आग लेकर लुहार हाजिर हुआ। क्या ही उम्दा ठकाठक और धमाधम का संगीत शुरू हुआ! और देखते-देखते लोहे की जंजीर तैयार हो गयी। फिर देखते-देखते पंछी की पांखें भी काट दी गयीं।

राजा के तुनक-मिजाजी संबंधियों ने हंडिया-सा मुंह बनाकर, सर हिलाते कहा, 'इस राज्य के पंछियों में बुद्धि की बात तो दर-किनार, कृतज्ञता भी नहीं है।'

तब पंडितों ने एक हाथ में कलम और दूसरे हाथ में चाबुक लेकर जो अतुलनीय कांड किया, उसका शुभ-नाम है—शिक्षा।

लुहार की आमदनी दिन-ब-दिन बढ़ने लगी और लुहारिन की देह पर सोने के जेवर जगमगाने लगे। कोतवाल की लाजवाब होशियारी देख कर राजा ने उसे सिरोपाव इनायत किया।

७

पंछी मर गया। कब मरा, किसी भी इतिहासकार को उसकी सही तिथि का पता नहीं चला। नासपिटे निंदक प्रचार करने लगे, 'पंछी तो मर गया!'

राजा ने सबसे बड़े भानजे को बुला कर पूछा, 'राजा बेटे, यह क्या सुन रहा हूं?'

भानजे ने हाथ जोड़ कर विनती की, 'महाराज, पंछी की शिक्षा संपूर्ण हुई।'

राजा ने पूछा, 'अब भी फुदकता है?'

भानजे ने खीसें निपोर कर कहा, 'अजी, राम भजो।'

'उड़ता है?'

'ना!'

'गाता है?'

'ना!'

'दाना ना मिलने पर चिल्लाता है?'

'ना!'

राजा ने कहा, 'एक बार पंछी को लाकर दिखाओ।'

पंछी आया। साथ में कोतवाल, प्यादे और घुड़सवार। पूर्णतया राज्य के योग्य लवाजमा था।

राजा ने अंगुली से पंछी को दबाया। न उसके मुंह से हां-हुं हुई, न हलकी-सी सिसकारी ही निकली और न उसकी पंख-विहीन देह से दूसरी भी कोई हरकत हुई, केवल उसके पेट में पोथियों के सूखे पन्ने खसखसाहट-सी करने लगे।

बाहर नूतन बसंत की दक्खिनी बयार में समूचे किसलय, समूचे पल्लव, अपने दीर्घ निःश्वास से मुकुलित वन के आकाश को आकुल करने लगे। ००

गांव का नाम है काशीपुर। गांव छोटा है, जमींदार और भी छोटा; किन्तु दबदबा ऐसा कि प्रजा चूं तक नहीं कर सकती। ऐसा ही था उसका पराक्रम !

छोटे लड़के की बरस-गांठ थी। पूजा संपन्न करके तर्करत्न महाराज दोपहर की बेला घर लौट रहे थे। बैसाख उतरने को है, किन्तु बादल की छाया तक कहीं नजर नहीं आती। अनावृष्टि के सूखे आकाश से मानो आग बरस रही हो।

सामने का दिगंतव्यापी मैदान कड़ी धूप से जल-जला कर फटने लगा है, और उन असंख्य दरारों से धरती का लहू निरंतर धुआं बनकर उड़ता जा रहा है। अग्निशिखा-सी उसकी सर्पिल ऊर्ध्वगति की ओर एकटक ताकते रहने पर माथा झिम-झिम कर उठता है, मानो नशा चढ़ गया हो।

इसी मैदान के किनारे एक रास्ते पर गफूर जुलाहे का घर है। जिसकी दीवार ढह जाने पर आंगन, रास्ते से मिल गया है; मानो अंतःपुर की लज्जा एवं मर्यादा पथिकों की करुणा के आगे आत्म-समर्पण करके निश्चिंत हो गई हो।

राह से सटे पिटालि गाछ की छाया में खड़े होकर तर्करत्न महाराज ने जोर से हांक लगाई, 'ओ रे, ओ गफूरा, घर में है क्या ?'

उसकी दसेक बरस की लड़की ने दरवाजे तक आकर कहा, 'बाबा को पूछ रहे हैं ? उन्हें तो बुखार है।'

'बुखार ! बुला हरामजादे को ! पाखंडी ! मलेच्छ !'

शोरगुल सुनकर गफूर मियां बुखार में कांपता-कांपता बाहर आ खड़ा हुआ। टूटी-फूटी दीवार से लगा बबूल का एक पुराना पेड़ था; जिसकी डाल से बंधा था एक बैल। उसकी तरफ इशारा करके तर्करत्न ने बलबलाते कहा, 'यह क्या हो रहा है, सुनूं तो सही ? यह हिन्दुओं का गांव है, जमींदार ब्राह्मण हैं, इसका कुछ खयाल भी है ?'

उनका चेहरा क्रोध व धूप से तमतमा रहा था, लिहाजा उस मुंह से तीखी व गर्म बात

महेश

शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय

ही निकलेगी, मगर कारण न समझ सकने से गफूर आंखें फाड़े देखता रहा।

तर्करत्न ने कहा, 'सवेरे जाते समय देख गया था—बंधा है; दोपहर को लौटते समय देख रहा हूं, जस का तस बंधा है। गोहत्या होने पर मालिक तुझे जिन्दा गाड़ देंगे। वे ऐसे-वैसे ब्राह्मण नहीं हैं!'

'क्या करूं महाराज, बड़ी लाचारी में फंस गया हूं। कई दिन से बुखार में पड़ा हूं। पगहा पकड़ कर थोड़ा बहुत चरा लाता, सो होता नहीं; चक्कर खाकर गिर पड़ता हूं।'

'तो खोल दे, आप ही चर आयेगा।'

'कैसे खोल दूं महाराज, लोगों के धान झड़े नहीं हैं, खलिहान में पड़े हैं। खड़ भी ज्यों का त्यों पड़ा है। नदी के किनारे सूखकर सफाचट हो रहे हैं, कहीं भी मुट्ठी-भर घास नहीं। किसी के धान में मुंह मार दे, किसी का पुआल तहस-नहस कर डाले, फिर छोड़ूं तो कैसे छोड़ूं महाराज?'

तर्करत्न ने थोड़ा नरम होकर कहा, 'नहीं छोड़ता तो कहीं छांह तले बांध कर दो-आंटी पुआल ही डाल दे, चबाया करेगा तब तक। तेरी लड़की ने भात नहीं रांधा? दे न थोड़ा-सा मांड़-पानी, पी लेगा।'

गफूर ने कुछ जवाब नहीं दिया। निरुपाय की सदृश उनके मुंह की तरफ देखता रहा। उसके मुंह से एक दीर्घ निःश्वास निकल पड़ा।

'सो भी नहीं है क्या?' महाराज ने अचरज से कहा, 'आखिर खड़-पुआल का क्या हुआ? जो कुछ हिस्से में आया, सब बेच-बाचकर पेटाय नमः? बेचारे बैल के लिए एक पूला भी नहीं रक्खा! कसाई कहीं का!'

इस निष्ठुर अभियोग से गफूर की जबान बंद हो गई। कुछ देर ठहर कर उसने धीमे-से कहा, 'जो कुछ भी खड़ हिस्से में मिला, मालिक ने पिछले बकाया में रखवा लिया। रो-धोकर हाथ-पांव जोड़े, गिड़गिड़ाया, बाबू साहब, आप बड़े मानुष हैं, हाकिम हैं, आपका राज्य छोड़ कर कहां जाऊंगा? थोड़ा-सा पुआल दे दीजिए। छप्पर छाना है। एक कोठरी में बाप-बेटी दोनों को बसर करना है। खैर—न सही, ताल-पत्ते खोंस कर यह बरखा काट लूंगा। लेकिन कुछ भी न खाने से मेरा महेश, भूखों मर जायेगा।'

तर्करत्न ने हंस कर कहा, 'ओफ्फ हो! बड़े चाव से नाम रक्खा है—महेश! हंसी आती है!'

किन्तु यह विद्रूप गफूर के कानों तक नहीं पहुंचा। कहने लगा, 'लेकिन हाकिम की मेहर नहीं हुई। दो महीने की खुराक लायक धान हमें दे दिया, मगर सारा खड़ हिसाब में ले लिया, इस बेचारे को तिनका तक नहीं मिला...।' यह कहते-कहते उसका गला भर आया। किन्तु तर्करत्न को उस पर रंच-मात्र भी दया नहीं आयी। बोले, 'बड़ा अजीब आदमी है रे तू तो। जो ले रक्खा है, वापस देगा नहीं। जमींदार क्या तुझे अपने घर से खिलायेगा? अरे, तुम तो राम-राज्य में बसते हो, राम-राज्य में! आखिर नीच जात के हो ना? बुराई के सिवाय क्या उगलोगे?'

गफूर लज्जित होकर कहने लगा, 'बुराई क्यों करूंगा महाराज, मैं किसी की बुराई नहीं करता। मगर दूं कहां से, बताइए? चारेक बीघा खेत हिस्से में बोता हूं। मगर ऊपर-

'तो वापस रख दूं। सांझ को खा लेना।'

गफूर ने सर हिला कर कहा, 'मगर वासी भात खाने से तबीयत और विगड़ न जायेगी अमीना ?'

अमीना ने भोलेपन से शंका की, 'तो फिर ?'

गफूर ने न जाने क्या सोचकर हठात् इस गंभीर समस्या की मीमांसा कर डाली, 'एक काम करो ना विटिया। न हो तो महेश को खिला दो। रात को फिर मेरे लिए एक मुट्ठी भर भात नहीं वना सकेगी अमीना ?' प्रत्युत्तर में अमीना मुंह उठा कर क्षण-भर चुपचाप पिता के मुंह की ओर देखती रही। फिर सर नीचा करके धीरे-धीरे गरदन हिलाते वोली, 'हां, वना दूंगी वावा।'

गफूर का चेहरा उद्दीप्त हो उठा। वाप और वेटी के वीच यह जो प्रच्छन्न अभिनय हो गया, उसे इन दो प्राणियों के अलावा शायद एक और अगोचर सत्ता ने अंतरिक्ष से परिलक्षित किया होगा।

२

पांच-सात दिन वाद वुखार से पीड़ित गफूर चिन्तित मुद्रा में आंगन के वीच खोया-खोया वैठा था। उसका महेश कल से लौटा ही नहीं। वह खुद कमजोर है, इसलिए अमीना सवेरे से सर्वत्र उसकी तलाश कर रही है। दिन ढलने के पहले वह खाली हाथ वापस लौट आई। वोली, 'सुना है वावा, माणिक घोष ने महेश को फाटक में भिजवा दिया है।'

गफूर ने कहा, 'चल पगली !'

'हां वावा, सच्ची। उनके चाकर ने मुझसे कहा कि अपने वाप से जाकर कह दे, दरियापुर के मवेशीखाने में तलाश करे।'

'क्या किया था उसने ?'

'उनकी वगिया में घुस कर काफी पेड़-पौधे नष्ट कर डाले थे।'

गफूर सकते में आ गया। महेश के संबंध में उसने अनेक दुर्घटनाओं की कल्पना की थी, किन्तु ऐसी आशंका नहीं थी। वह जैसा निरीह है, वैसा ही गरीब है। लिहाजा कोई पड़ोसी उसे इतनी वड़ी सजा दे सकता है, इसका भय उसे नहीं था। खास कर माणिक घोष से तो उसे तनिक भी ऐसी दुराशा नहीं थी। गऊ-ब्राह्मण के प्रति उनकी अगाध भक्ति सारे अंचल में सुविख्यात थी।

वेटी ने कहा, 'वावा, दिन तो ढल रहा है, महेश को लाने नहीं जाओगे ?'

गफूर बोला, 'नहीं।'

'मगर उसने तो कहा था कि तीन दिन के वाद पुलिस वाले उसे गोहाट में वेच डालेंगे।'

'वेचें, खुशी से वेचें।' गफूर आवेश में आकर बोला।

गोहट्टी ठीक क्या वला है, अमीना जानती नहीं थी। किन्तु महेश के संदर्भ में उसका उल्लेख होते ही उसका वाप किस तरह विचलित हो उठता है, इसे कई मर्तवा उसने लक्षित किया है, मगर आज कुछ भी दरसाये विना वह चुपचाप आहिस्ता-आहिस्ता वहां से रवाना हो गया।

रात के अंधकार मे छिपकर गफूर वंशी की हाट पर जाकर बोला, 'चाचा, आज एक रुपया देना होगा।' इस याचना के साथ ही उसने अपनी पीतल की थाली खाट के नीचे सरका दी, जिसके तोल-जोख से वंशी अच्छी तरह परिचित था। पिछले दो साल के दौरान इसे पांच-छः वार गिरवी रख कर एक-एक रुपया दिया है। इसलिए आज भी उसने कोई आपत्ति नही की।

दूसरे दिन फिर महेश अपने स्थान पर वंधा दिखाई दिया। वही ववूल की छांव, वही रस्सी, वही खूटा, वही रीती नांद, वही क्षुधातुर काली आंखों की सजल उत्सुक दृष्टि। एक वूढा-खूसट मुसलमान उसे अत्यधिक पैनी निगाह से परख रहा था। पास ही एक तरफ दोनो घुटने सटाये गफूर मियां मूर्तिवत् बैठा था। अच्छी तरह जांच-पड़ताल करने के वाद उस वुड्ढे ने चद्दर के पल्लू से दस रुपये का नोट निकाला, फिर उसकी तह खोल कर वार-वार सीधा करते हुए गफूर के पास जाकर बोला, 'अव मोल-भाव करके इसे भुनाऊंगा नही, यह लो, पूरा दस का नोट, दस का!'

गफूर ने हाथ वढ़ा कर नोट ले लिया और उसी तरह गुमसुम वैठा रहा। पर जो व्यक्ति वुड्ढे के साथ आये थे उन्होंने ज्यो ही खोलने के लिए महेश की रस्सी पर हाथ धरा कि गफूर हठात् सीधा-सतर खड़ा हो गया। उद्धत स्वर मे चीख पड़ा, 'खवरदार, पगहा को हाथ मत लगाना। पहले आगाह किये देता हू; वुरा अंजाम होगा, वहुत वुरा।'

वे चौंक पड़े। वुड्ढे ने आश्चर्य के साथ पूछा, 'क्यो?'

गफूर ने उसी तरह क्रोध मे जवाव दिया, 'क्यो क्या, मेरी चीज है, नही वेचता, मेरी खुशी।' इतना कह कर उसने नोट को दूर फेंक दिया।

उन्होंने कहा, ''कल रास्ते मे पेशगी जो ले आये थे!'

'यह लो, अपनी पेशगी वापस ले लो।' अपनी अंटी से अविलंव दो रुपये निकाल कर उसने झन्न-से पटक दिये। वेकार झगड़ा वढ़ेगा, इस खयाल से वुड्ढे ने हंसते हुए संयत स्वर मे कहा, 'दवाव डाल कर दो रुपये वेशी लेना चाहते हो, यही तो? दे दो, जल-पान के लिए लड़की के हाथ मे दो रुपये दे दो। वस, यही ना?'

'नही, नही।'

'मगर इससे बेशी एक धेला भी कोई नही देगा, जानते हो।'

गफूर ने जोर से सर हिला कर इन्कार किया, 'नही, नही।'

वुड्ढा तैश मे आकर वोला, 'नही क्यो? चमड़े की ही तो कीमत मिलेगी! वाकी इसमे माल ही क्या है?'

'तोवा! तोवा!' गफूर के मुह से हठात् एक भद्दी व कडवी गाली निकल गई और दूसरे ही क्षण अपनी कोठरी मे जाकर जोर-जोर से धमकी देने लगा कि वे तुरंत गाव से वाहर चले जाये, नही तो जमीदार के कारिन्दे मार-मार कर उनका भुरता वना देंगे।

हंगामा सुन कर लोग इकट्ठे हो गये। कुछ ही देर वाद जमीदार की कचहरी से उसका वुलावा आ गया। गफूर ने सोचा कि हो न हो वात मालिक के कानो तक पहुच गई है।

कचहरी मे उस समय भद्र-अभद्र, ऊच-नीच सभी तरह के व्यक्ति वैठे थे। शिवचरण वावू ने आंखें तरेर कर कहा, 'गफूरा, तुझे क्या सजा दी जाय, समझ नही पडता।

किसके आश्रय में रहता है, जानता है?'

गफूर हाथ जोड़ कर बोला, 'जानता हूं मालिक। हम लोग बिना खाये मर रहे हैं, नहीं तो आप जो जुर्माना करते, वह सर-आंखों पर।'

सभी हतप्रभ हो गये। वे इसे फकत जिद्दी व बद्‌मिजाज ही समझ रहे थे। गफूर ने विगलित स्वर में कहा, 'ऐसा काम अब कभी नहीं करूंगा मालिक, कभी नहीं करूंगा।'

इतना कह कर उसने खुद ही दोनों हाथों से अपने कान पकड़े और आंगन में एक तरफ से दूसरी तरफ नाक रगड़ते-रगड़ते खड़ा हो गया।

शिवचरण बाबू ने सदय कंठ से कहा, 'अच्छा, जा जा, हो गया, जा। अब ऐसा कुविचार मन में ही मत लाना।'

विवरण सुनते ही सब के सब रोमांचित हो उठे। इस विषय में किसी के मन में किंचित् भी संशय नहीं रहा कि यह जो महापातक होते-होते बच गया, वह केवल मालिक के पुण्य-प्रताप और शासन के जोर से। तर्करत्न महाराज भी उपस्थित थे, उन्होंने गौ शब्द की शास्त्रीय व्याख्या की और सर्वथा धर्मज्ञान शून्य ऐसी म्लेच्छ जाति का गांव के आस-पास कहीं भी बसना क्यों निषिद्ध है, इसके विस्तृत स्पष्टीकरण से सबके ज्ञान-चक्षु खुल गये।

गफूर ने किसी भी बात का जवाब नहीं दिया। इस अपमान और तिरस्कार को यथार्थ प्राप्य समझ कर अंगीकार किया और खुशी-खुशी घर की ओर रवाना हो गया। पड़ोसी के घर से मांड मांग कर महेश को पिलाया। सींग, सर व उसके पंजर को बारम्बार सहलाते अस्फुट स्वर में वह न मालूम क्या-क्या फुसफुसाता रहा!

३

जेठ उतरने को है। रुद्र की जिस मूर्ति ने एक दिन बैसाख के अन्त में आत्म-प्रकाश किया था, वह कितनी भीषण, कितनी कठोर हो सकती है, इस तथ्य की अनुभूति आज के आकाश की ओर देखे बिना नहीं की जा सकती। कहीं किसी ओर भी करुणा का किंचित् आभास तक नहीं। कभी इस रूप में लेशमात्र भी परिवर्तन हो सकता है, और किसी दिन यह आकाश मेघमाला से घिर कर सजल दिखलाई दे सकेगा, आज इस बात की कल्पना करते भी मन सिहर उठता है। ऐसा लगता है कि समस्त नभस्थल में व्याप्त यह प्रज्वलित अग्नि जो अहर्निश झर रही है, इसका कोई अन्त नहीं, समाप्ति नहीं। सब कुछ जला कर निःशेष किये बिना यह हरगिज नहीं थमने की।

ऐसे ही एक दिन दोपहर की बेला गफूर घर लौटा। दूसरे के घर-द्वार मजूरी करने की उसे आदत नहीं। और अभी बुखार उतरे चार-पांच दिन ही हुए हैं। शरीर जैसा दुर्बल है, वैसा ही श्रांत। फिर भी आज वह काम की तलाश में निकला था। किन्तु प्रचण्ड धूप सर पर झेलने के सिवाय उसे कुछ भी हाथ नहीं लगा। भूख, प्यास और थकान के मारे उसकी आंखों के सामने अंधेरा छा गया। आंगन में खड़े होकर उसने आवाज दी, 'अमीना, भात हो गया री?'

अमीना दबे पांव आहिस्ता-आहिस्ता घर से बाहर निकल कर चुपचाप खूंटे के पास खड़ी हो गई।

जवाब नही पाकर गफूर उत्तेजना मे चिल्लाया, 'भात हुआ ? क्या कहा, नही हुआ ? क्यो, क्यो नही हुआ, बता ?'

'चावल नही है बाबा।'

'चावल नही है ? सवेरे क्यो नही कहा मुझसे ?'

'रात को ही बता दिया था।'

गफूर ने मुह बना कर उसकी नकल करते हुए कहा, 'रात को ही बता दिया था। रात को बताने से याद रहता है भला ?' अपने ही कर्कश कठ को सुन कर उसका क्रोध दूना भडक उठा। चेहरे को और अधिक विकृत करके बोला, 'चावल रहेगा कहा से ? रोगी बाप खाये न खाये, धीगडी लडकी को चार-चार पाच-पाच बार गटकने को चाहिए ! आज से चावल ताले मे बन्द करके रखूगा। ला, एक लोटा पानी तो दे, प्यास के मारे छाती फटी जा रही है। कह दे, पानी भी नही है।'

अमीना उसी तरह सर झुकाए खडी रही। कुछ देर अपेक्षा करने के बाद गफूर समझ गया कि घर मे पीने का पानी भी नही है, तब वह अपने को सभाल नही सका। लपक कर उसके पास गया और तड़ाक से उसके गाल पर तमाचा जड दिया। 'कलमुही, हरामजादी, तू दिन भर क्या मटरगश्ती करती फिरती है। इतने लोग मरते है, तू नही मरती ?'

बेटी ने कुछ जवाब नही दिया। मिट्टी का रीता कलश उठा कर, ऐसी कडाके की धूप मे ही, आखे पोछती-पोछती चुपचाप बाहर चल दी। आखो से ओझल होते ही गफूर की छाती मे तीर-सा बिंधने लगा। मा के अभाव मे इस लड़की को उसने किस तरह पाल-पोस कर इंसान बनाया, सो वही जानता है। वह मन-ही-मन सोचने लगा उसकी स्नेहशीला, कर्मठ, शात लडकी का कोई दोष नही है। खेत का जो यत्किंचित धान था, उसके समाप्त होने पर इसे दो छाक भरपेट खाना भी नही मिलता। किसी दिन एक जून खाकर ही सतोष कर लेती है और किसी दिन वह भी नसीब नही होता। दिन मे पाच-छः बार खाने की लाछना जितनी असभव है, उतनी ही मिथ्या। और घर मे पानी के अभाव का कारण भी उससे छिपा न था। गाव मे जो दो-तीन पोखर है, वे बिल्कुल सूख गये है। शिवचरण बाबू के पिछवाड़े के पोखर मे जो थोडा-बहुत पानी है भी, वह सबको मिलता नही। दूसरे जलाशयो मे एक-आध गड्ढा खोद कर जो कुछ पानी उपलब्ध होता है, उसके लिए छीना-झपटी मच जाती है और वहा भीड भी कम नही रहती। विशेषतया मुसलमान होने से वह उनके पास तक नही फटक सकती। दूर खडी रह कर घण्टो तरसने के बाद, बहुत आरजू-मिन्नत करने पर कोई दया करके उसके रीते बासन मे थोडा पानी डाल दे तो वह घर लाये। यह सब कुछ वह जानता है। हो सकता है कि आज पानी न रहा हो या छीना-झपटी के बीच किसी को उस पर कृपा करने का अवसर ही न मिला हो। ऐसी ही कोई बात निश्चित रूप से घटित हुई होगी, यह सोच कर उसकी आखो मे पानी भर आया। इतने मे जमीदार का पियादा जमदूत की तरह आगन मे आ खड़ा हुआ। जोर से चिल्लाकर बोला, "गफूर घर मे है क्या ?'

गफूर ने तिक्त स्वर मे उत्तर दिया, 'हां, घर मे ही हूं। काम क्या है ?'

'बाबू साहब बुला रहे हैं, चल !'

गफूर ने कहा, 'अभी मैंने खाया-पीया नहीं है, ठहर कर आऊंगा।'

इतनी बड़ी स्पर्धा पियादे से सहन नहीं हुई। उसने एक कुत्सित संबोधन करके कहा, 'बाबू का हुक्म है, जूता मारते-मारते घसीट ले आने का।'

गफूर दूसरी बार अजाने ही आत्म-विस्मृत हो गया। उसने भी एक दुर्वाक्य उच्चारित करते हुए कहा, 'महारानी के राज्य में कोई किसी का गुलाम नहीं है। लगान देकर रहता हूं। नहीं चलता।'

किन्तु संसार में इतने क्षुद्र के लिए इतनी बड़ी दुहाई देना केवल व्यर्थ ही नहीं, विपत्ति का भी कारण है। यह तो खैर हुई कि इतना क्षीण कण्ठ उतने बड़े कानों तक पहुंचा नहीं है, अन्यथा उनके मुंह की रोटी और आंखों की नींद दोनों ही छिन जातीं। उसके बाद क्या घटित हुआ, विस्तार से कहने की दरकार नहीं, किन्तु घण्टे भर बाद जब वह जमींदार की कचहरी से लौट कर चुपचाप अपने घर में पड़ रहा, तब उसका मुंह और आंखें सब फूल रही थीं। उसकी सजा का प्रधान कारण था महेश। ज्यों ही गफूर घर से बाहर निकला, महेश पगहा तुड़ा कर भाग छूटा। जमींदार की बगीची में जा कर उसने फूलों के सारे पौधे तहस-नहस कर डाले। पके हुए धान को रौंद कर काफी नष्ट कर दिया। अन्त में पकड़ने की चेष्टा की गई तो बाबू साहब की छोटी लड़की को पटक कर फरार हो गया। ऐसी घटना पहली बार ही हुई हो, सो बात नहीं, इसके पहले भी हुई है, पर गरीब होने से उसे माफ कर दिया जाता था। पहले की तरह इस बार भी वह उनके पांव पड़ता तो शायद क्षमा मिल जाती। किन्तु प्रजा होकर यह अधिकार जताना कि वह लगान देकर रहता है, किसी का गुलाम नहीं है, जमींदार होने के नाते शिवचरण बाबू से किसी तरह सहा नहीं गया। और न गफूर ने ही वहां मार खाने व जलील होने का प्रतिवाद किया। दांत भींच कर सब-कुछ बर्दाश्त कर लिया और घर आकर भी उसी तरह निश्चेष्ट व निःशब्द पड़ा रहा। भूख-प्यास की बात उसे याद ही नहीं रही। लेकिन उसकी छाती के भीतर, बाहर के तप्त आकाश की तरह वैसी ही आग धधकती रही। इस तरह कितना समय फिसल गया, उसे कुछ होश नहीं था। किन्तु अकस्मात् आंगन से अपनी लड़की का आर्त्तनाद कान में पड़ते ही वह अदेर उठ कर खड़ा हो गया। लपक कर बाहर आया तो देखा—अमीना जमीन पर पड़ी है, उसकी फूटी गागर से पानी झर रहा है और महेश धूल में मुंह लगाये, मानो मरुभूमि की तरह पानी सोख-सोख कर पी रहा है। आंखों के पलक नहीं गिरे, संज्ञा-विहीन गफूर को कुछ भी होश-हवास नहीं रहा। मरम्मत के लिए उसने अपने हल का सिरा खोल रखा था, उसी को दोनों हाथों से उठा कर, महेश के झुके हुए माथे पर जोर से दे मारा।

एक बार, सिर्फ एक बार महेश ने मुंह उठाने की चेष्टा की। उसके बाद उसका भूखा-प्यासा शक्तिहीन पंजर जमीन पर लुढ़क पड़ा। आंखों से आंसुओं की कुछ बूंदें ढरक पड़ीं और कान से थोड़ा-सा लहू बह निकला। दो-तीन बार समूचा शरीर थर-थर कांप उठा। फिर आगे व पीछे के पांव जहां तक तन सकते थे, महेश ने तान कर अंतिम सांस छोड़ दी।

अमीना सुबक कर बोली, 'यह क्या किया बाबा? अपना महेश तो मर गया!' गफूर

न तो टस से मस हुआ और न कुछ जवाब ही दिया। केवल निर्निमेष दृष्टि से, एक अन्य जोड़ा पथराई मुगंनीर काली आंखों को तकता हुआ पत्थर की तरह निश्चल खड़ा रहा।

दो-एक घड़ी के भीतर खबर मिलते ही दूसरे गांव के मोची आ जुटे और महेश को बांसों से जकड़ कर मरघट की ओर ले चले। उनके हाथों में पनी धार वाले चमचमाते छुरे देख कर गफूर सिहर उठा। तुरन्त आंखें बंद कर ली, किन्तु मुह से एक सिसकारी तक बाहर नहीं निकली।

मुहल्ले के लोग चक-चक करने लगे, 'तर्करत्न महाराज को बुलाने के लिए जमीदार साहब ने हरकारा भेजा है। प्रायश्चित का भारी खर्च जुटाने मे कही तेरा घर-द्वार ही न बिक जाय!'

गफूर ने इन सब निरर्थक बातो का कोई जवाब नही दिया। दोनो घुटनों पर मुह रख कर अविचल बैठा रहा।

काफी रात ढलने पर गफूर ने लड़की को जगा कर कहा, 'अमीना, चल, अपन चलें यहां से...।'

वह खुले मे सो रही थी। आंखें मसलती हुई उठ बैठी। विस्मय से पूछा, 'कहां बाबा?'

गफूर ने कहा, 'फुलबाड़ी की जूट-मिल मे काम करने।'

लड़की पर जैसे वज्रपात हो गया हो। फटी-फटी आंखो से बाप का मुह तकती रही। इसके पहले बड़े-से-बड़े दुख मे भी गफूर जूट-मिल मे काम करने के लिए राजी नही हुआ, सो नहीं हुआ। खीज कर कहता कि वहां धर्म नही बचता, लड़कियो की इज्जत-आबरू नहीं रहती।

उसने फिर तकाजा किया, 'देर मत कर बिटिया, बहुत दूर पैदल चलना है।'

अमीना पानी पीने का लोटा और पिता के खाने की थाली साथ मे ले रही थी, गफूर ने मना कर दिया, 'यह सब रहने दे बेटी, इनसे अपने महेश का पिरासचित हो जायेगा!'

अंधकारमय सघन निशीथ मे गफूर लड़की का हाथ पकड़ कर घर से निकल पड़ा। गांव में उसका कोई आत्मीय नहीं था। किसी से कुछ कहने की बात ही नहीं थी। आंगन के पार रास्ते के किनारे उस बबूल के नीचे पहुंचते ही वह सहम कर खड़ा हो गया। सहसा फफक-फफक कर रो उठा। अगणित नक्षत्रों से जड़े काले आकाश की ओर मुंह उठाकर बोला, 'अल्लाह! मुझे जितनी चाहो सजा देना, मगर मेरा महेश, प्यासा मर गया! उसे चरने-खाने तक की किसी ने कोई जमीन नही छोडी! जिसने भी तुम्हारी जमीन पर उगा घास और तुम्हारा दिया हुआ पानी उससे छीना है, उसका कसूर तुम कभी माफ मत करना।' ००

लेख्य-प्रमाणक लुव्यान्तझेव की पच्चीस वर्षीय सुन्दर पत्नी सोफ्या पेत्रोवना, वकील इल्यिन के साथ, हाल ही, जंगल को काट कर बनायी गयी, एक कच्ची सड़क पर धीरे-धीरे टहल रही थी। इल्यिन उसके पास ही एक 'समर कॉटेज' में रहता था। अपरान्ह के चार बज रहे थे। ऊपर धुनी हुई रूई के समान, सफेद बादल छाए हुए थे। उनके बीच कहीं-कहीं निरभ्र फीरोजी आकाश की झलक मिल जाती थी। अचंचल स्तब्ध बादल ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो बूढ़े देवदार की गगन-भेदी फुनगियों में अटक कर रह गये हों। सर्वत्र शांत और उनींदा वातावरण था।

दूर सड़क को काटती रेल की पटरी बिछी हुई थी, जिस पर एक संतरी हाथ में बंदूक थामे कभी आगे, कभी पीछे किसी विशेष मकसद से चल रहा था। पटरी के ठीक उस पार छः गुम्बद का जीर्ण-शीर्ण छत वाला एक विशाल सफेद गिरजाघर था।

'मुझे कतई उम्मीद नहीं थी कि तुम यहां मिल जाओगे,' जमीन पर नजर गड़ाये, सोफ्या पेत्रोवना छाते की नोक से पिछले साल की पत्तियों को हिलाते कहने लगी, 'लेकिन अब मुझे इस बात की खुशी है कि अपन एक जगह मिल गिये। आज अंतिम रूप से तुम्हारे साथ एक जरूरी बात करनी है। तुमसे मेरा विनम्र निवेदन है, इवान मिहेलोविच, यदि तुम सचमुच मुझे प्यार करते हो, मेरी इज्जत करते हो तो मेहरबानी करके मेरा पीछा छोड़ दो। तुम तो छाया की तरह मेरे पीछे लगे रहते हो, हरदम तीखी निगाहों से घूरते रहते हो—क्या यह अच्छी बात है? मौका मिलते ही अपने मन का इजहार करते हो, अजीबोगरीब चिट्ठियां लिखते हो, और...और मैं नहीं जानती कि यह सब कब खत्म होगा? राम जाने, इस लफड़ेबाजी से तुम्हें क्या आनंद मिलता है?'

इल्यिन ने कुछ भी जवाब नहीं दिया। सोफ्या पेत्रोवना पांच-सात कदम आगे बढ़ कर कहने लगी, 'और तुम में यह आकस्मिक परिवर्तन पिछले दो-तीन हफ्तों के दौरान ही हुआ है, जबकि पांच साल से अपनी जान-पहचान है। माफ कीजिए, इवान मिहेलो-

आपद्

अन्तोन चेखोव

विच, तुम्हारा यह झमेला मेरे कुछ भी पल्ले नहीं पड़ता।'

सोफ्या पेत्रोवना ने कनखियों से उसकी ओर झांका—वह अपनी मिचमिची आंखों से पंगु बादलों की ओर एकटक निहार रहा था। वह रूखा, अस्थिर एवं अन्यमनस्क-सा लग रहा था, उस व्यक्ति की तरह जिसे मर्मान्तिक पीड़ा के बावजूद किसी की नीरस बकवास सुनने को मजबूर होना पड़ रहा हो।

'बड़े ताज्जुब की बात है कि तुम खुद समझ ही नहीं रहे हो,' वह कंधों को उचकाते हुए कहने लगी, 'तुम्हें सोचना चाहिए कि यह कोई अच्छा खेल नहीं है, जो तुमने शुरू किया है। मैं शादीशुदा हूं। अपने पति को प्यार करती हूं, उनकी इज्जत करती हूं।... मेरे...मेरे एक लड़की है...क्या यह सब तुम्हारे लिए कोई माने नहीं रखते? इसके अलावा, एक पुराने दोस्त के नाते तुम अच्छी तरह जानते हो कि शादी के बारे में मेरे क्या विचार हैं और परिवार जैसी पवित्र संस्था का मेरी नजर में कितना महत्व है?'

इल्यिन ने एक गहरी आह भरी और घृणा के साथ घुरघुराया, 'परिवार जैसी पवित्र संस्था...हे भगवान!'

'हां, हां...मैं अपने पति से प्यार करती हूं, उनकी इज्जत करती हूं और किसी भी सूरत में अपने घर की शांति कायम रखना चाहती हूं। मर जाऊंगी, मगर आन्द्रेय और अपनी लड़की को दुख नहीं पहुंचाऊंगी। और मैं तुम से प्रार्थना करती हूं, इवान मिहेलोविच कि भगवान के लिए मुझे अपने हाल पर छोड़ दो। पहले की तरह हम अच्छे और वेहतर दोस्त ही बन रहें। छोड़ो यह सब गरम उसांसें, यह चिड़चिड़ापन और ये शिकवा-शिकायतें! ना, यह तुम्हें बिल्कुल शोभा नहीं देता। चलो, यह सब तमाशा खत्म हुआ। इस बाबत एक शब्द भी और नहीं। बस, सब कुछ बढ़िया तरीके से सलट गया। कोई दूसरी बात करें, अच्छी बात करें।'

सोफ्या पेत्रोवना ने एक बार फिर इल्यिन की ओर आंखें घुमा कर देखा। पीला और बुझा-बुझा-सा चेहरा। गुस्से में थरथराते होंठ को काटता-सा ऊपर की तरफ देख रहा था। वह ठीक तरह समझ नहीं पा रही थी कि उसकी बौखलाहट व खीज की वजह क्या है? मगर उसकी बुझी-बुझी-सी पीली सूरत उसे भीतर तक छू गयी।

'अरे, यह गुस्सा-वुस्सा छोड़ो, फिर से अच्छे दोस्त बन जायें तो क्या कहना है?' उसने स्नेह दरसाते हुए कहा, 'क्यूं, है न मंजूर? लो, मिलाओ हाथ!' और उसने सहज भाव से अपना हाथ उसकी ओर बढ़ाया।

इल्यिन ने उसका गुदगुदा हाथ अपने दोनों हाथों में थामा, थोड़ा दबाया और धीरे-धीरे उठा कर होंठों तक ले गया।

'मैं कोई स्कूल में पढ़ने वाला बच्चा नहीं हूं।' वह बुदबुदाते लहजे में बोला, 'जिस औरत से मैं प्यार करता हूं, उससे निरी दोस्ती की बात मुझे बिल्कुल नहीं सुहाती।'

''वस...वस, सब-कुछ तो सलट गया, खुलासा हो गया। लो, बातों-बातों में हम वैंच तक आ गये। आओ, बैठो, थोड़ा सुस्ता लें!'

सोफ्या पेत्रोवना राहत की मधुर अनुभूति से ओतप्रोत थी—एक अत्यंत कठिन, पेचीदी व दबी हुई बात खुल कर सामने आ गयी थी, एक अरुचिकर व कष्टदायक सवाल

सुलझ गया था, हमेशा के लिए उसका समाधान हो गया था। अब वह पूर्णतया मुक्त होकर सांस ले सकती थी, उससे आंखें मिला सकती थी। और उसने उसी दृष्टि से इल्यिन की ओर देखा भी। प्यार करने वाले पुरुष पर नारी की स्वार्थमयी दांभिक श्रेष्ठता की आसन्न अनुभूति ने उसे काफी आश्वस्त किया। उसे यह जान कर एक आदिम संतुष्टि हुई कि एक सुदृढ़, बलिष्ठ, कद्दावर, शिक्षित, बुद्धिमान व लोगों की राय मुताबिक प्रतिभाशाली, सुसंस्कृत व्यक्ति, जो अंतरंग मित्रों के बीच अपनी घनी काली दाढ़ी एवं विषण्ण पुरुषोचित चेहरे के कारण मशहूर था, आज उसकी बगल में मुंह लटकाए चुपचाप बैठा था। करीब दो या तीन मिनट के लिए दोनों उसी तरह खामोश बैठे रहे।

'कुछ भी खुलासा नहीं हुआ,' इल्यिन कहने लगा, 'तुम तो मेरे सामने रटी-रटायी सूक्तियां दुहराती हो—मैं अपने पति से प्यार करती हूं—उनकी इज्जत करती हूं, परिवार जैसी पवित्र संस्था इत्यादि इत्यादि। तुम्हारे बगैर बताये भी मैं यह सब जानता हूं, चाहूं तो इस बाबत तुम्हें और अधिक बता सकता हूं। मैं ईमानदारी के साथ साफ-साफ कबूल करता हूं कि मेरा व्यवहार जघन्य और अनैतिक है। इससे अधिक कोई और क्या कह सकता है! लेकिन, जो बात हर कोई जानता है, उसे उजागर करना बेकार है। बुलबुल को हृदय-विदारक बातें सिखाने से बेहतर है कि मुझे साफ-साफ जवाब दो कि अब मैं क्या करूं?'

'मैं तुम्हें पहले ही बता चुकी हूं कि मुझ से दूर चले जाओ।'

'और तुम अच्छी तरह जानती हो कि मैं तुमसे पांच बार दूर भागा हूं, और हर बार मुझे आधे रास्ते से लौट आना पड़ा। कहो तो सारे टिकट तुम्हें दिखा सकता हूं, खूब सहेज कर रखे हैं। तुम से दूर भागने की मुझ में आत्म-शक्ति ही नहीं है। मैं एक भयंकर कशमकश में जी रहा हूं, छटपटा रहा हूं। लेकिन यह सब आत्म-यंत्रणा क्या माने रखती है, जब मेरे चरित्र में दृढ़ता ही नहीं है, मैं स्वयं कमजोर हूं, अक्षम हूं और आत्म-बल से वंचित हूं। कुछ तो समझ रही हो? नहीं, मैं प्रकृति से नहीं लड़ सकता, नहीं जीत सकता। मैं यहां से भागता हूं, और वह मेरा कान पकड़ कर वापस यहीं खींच लाती है। कैसी अभद्र व घिनौनी कमजोरी है!'

इल्यिन का चेहरा लाल सुर्ख हो गया। वह आवेश में उठ खड़ा हुआ और बैंच के सामने चहलकदमी करने लगा। 'मैं आहत रीछ की तरह अपमानित महसूस कर रहा हूं,' उसने गुस्से में मुट्ठी भींचकर गुर्राते हुए कहा, 'मुझे अपने आप-आप से घृणा है, मैं तिरस्कार का पात्र हूं! हे ईश्वर, एक आवारा स्कूली छोकरे के समान दूसरे की पत्नी का पीछा करता हूं, बेहूदे पत्र लिखता हूं और अपने-आपको जलील करता हूं—उफ्फ!'

अपना सर पकड़ कर इल्यिन कुछ बड़बड़ाया और नीचे बैठ गया।

'और तिस पर तुम्हारी यह बेवफाई!' वह कड़ुवाहट भरे तिक्त स्वर में बोला, 'यदि सचमुच तुम्हें मेरे भद्दे खेल से कुछ भी एतराज है तो तुम यहां क्यों आई हो? किस बात से तुम आकर्षित हुई हो? मैंने अपने पत्रों में हमेशा तुमसे सीधा और साफ जवाब मांगा है—हां या ना? लेकिन तुमने सीधा जवाब देने की बजाय मुझ से सीधी मुलाकातें की हैं और रटी-रटायी उक्तियों से मुझे बहलाने की चेष्टा की है।'

वह भयभीत होने के साथ क्रोध से तिलमिला उठी। अकस्मात् दारुण लज्जा से आच्छन्न हो गई; उस भद्र महिला की तरह जो निर्वसन दिख जाने पर हतशून्य हो जाती है !

'तुम्हें संदेह है कि मैं तुम्हारे साथ खिलवाड़ कर रही हूं,' वह बड़बड़ायी, 'मैं तो हमेशा तुम्हें सीधा जवाब देती रही हूं और अभी—अभी तुमसे विनम्र प्रार्थना की है...'

'हां, ऐसे मसलों में इसी तरह की विनम्र प्रार्थना की जाती है, क्यूं ? यदि तुम शुरुआत में दो टूक जवाब दे देती—चले जाओ, तो मैं कब का चल दिया होता; मगर तुमने ऐसा कभी नहीं कहा। तुमने एक बार भी मुझे सीधा जबाब नहीं दिया। यह झिझक भी कमाल है ! केवल ईश्वर ही जानता है—या तो तुम मेरे साथ खिलवाड़ कर रही हो या फिर...'

इल्यिन का तांता बीच ही में टूट गया और अपना सर हथेलियों पर टेक कर वह न जाने क्या सोचने लगा ! सोफ्या पेत्रोवना शुरू से लेकर आज दिन तक के अपने समूचे आचरण पर गौर करने लगी। उसे खूब अच्छी तरह मालूम है कि प्रत्यक्ष व्यवहार की बात तो दूर उसने खयालों में भी इल्यिन को प्रोत्साहित नहीं किया। लेकिन साथ-ही-साथ उसने यह भी महसूस किया कि वकील की बातों में कुछ सच्चाई जरूर है। लेकिन सच्चाई की मात्रा कितनी है, यह सही-सही जाने बिना, काफी मगजमारी करने के बावजूद भी वह इल्यिन की शिकायत के जवाब में कुछ नहीं कह सकी। दिमाग तो जैसे निस्पंदित ही हो गया हो। फिर भी चुप रहना और भी दूभर व असहनीय था। आखिर कन्धों को उचकाते हुए बोली, 'तो...तो...मैं ही दोषी हूं।'

'नहीं तो, तुम्हारी बेवफाई के लिए मैं तुम्हें बिल्कुल दोषी नहीं मानता,' इल्यिन ने एक गहरा निःश्वास भरते कहा, 'शब्दों का अर्थ जाने बिना ही अपने मुंह से उन्हें अनजाने उगल दिया। तुम्हारी बेवफाई स्वाभाविक है, संगत भी है। यदि सारे मनुष्य वफादार होने के लिए आतुर हो उठें तो हर चीज का सत्यानाश हो जायेगा, सब-कुछ ध्वंस हो जायेगा।'

सोफ्या पेत्रोवना की ऐसी मनःस्थिति ही नहीं थी कि वह इन बातों की दार्शनिक गहराई में उतरे, फिर भी विषय बदलने का मौका हाथ लगा तो उसने बखुशी पूछा, 'मगर क्यूं ?'

'इसलिए कि सिर्फ असभ्य मनुष्य और जानवर ही वफादार होते हैं। जब से सभ्यता को सुख-सुविधाओं के ऐश्वर्य की ललक होने लगी है—मसलन, स्त्रैण-गुणों की ललक—तब से वफादारी निरर्थक हो गयी है।'

इल्यिन ने क्रुद्ध भाव से अपनी छड़ी मिट्टी में खसोल दी। श्रीमती लुब्यान्तझेव ने उसे ध्यानपूर्वक सुना, मगर अधिकांश बातें उसके पल्ले ही कहां पड़ी ? फिर भी उसकी बातों में उसे अनजाने ही एक तृप्ति मिल रही थी, शायद यह सोच कर कि एक मेधावी व्यक्ति उस जैसी सामान्य औरत से एक 'बौद्धिक' विषय पर वार्तालाप कर रहा है। इल्यिन की सक्रिय भाव-भंगिमा, सफेद युवा सूरत, जो अब भी खीज की सान पर चढ़ी हुई थी, जिस पर नजर पड़ते ही उसे मन-ही-मन खुशी महसूस हो रही थी। बहुत-सारी

वातें समझ में नहीं आने पर भी उसके आकर्षण में इसलिए उत्साह वना रहा कि उसकी वातें नितांत विवेकसम्मत थीं, जिनके सहारे आधुनिक मनुष्य सव तरह की आशंकाओं व झिझक को तिलांजलि देकर अहम-से-अहम सवालों को कितनी सरलता से हल कर लेता है और अंतिम नतीजों तक पहुंच जाता है।

अचानक उसे यह आभास हुआ कि वह मन-ही-मन उसकी वातों से प्रभावित हो रही है, तो वह उसी क्षण सर से पांव तक सिहर उठी।

'माफ कीजिए, मैं आपकी वात का मतलव नहीं समझी,' वह अत्यधिक व्यग्रता के साथ वोली, 'क्यूं, तुमने इसे वेवफाई क्यूं कहा? यह वेवफाई है? मैं फिर आपसे मिन्नत करती हूं कि मेरे अजीज दोस्त वन जाओ— अच्छे और उदार दोस्त। मुझे अपने हाल पर छोड़ दो, तुमसे यही मेरा पुरजोर आग्रह है।'

'अच्छी वात है, मैं एक वार और कोशिश करूंगा', इल्यिन ने आह भरते हुए कहा, 'मैं तुम्हारी खातिर कुछ भी करने को तैयार हूं। लेकिन मुझे संदेह है कि इसका कोई खास नतीजा निकल सकेगा। या तो मैं अपने सर में गोली मार लूंगा या एक धुत् शरावी वन जाऊंगा। अपनी चमड़ी नोच लूंगा। हर चीज की एक हद होती है, यहां तक कि प्रकृति से लड़ने-भिड़ने की भी! वताओ, अपने पागलपन से कोई कैसे लड़ सकता है? यदि कोई शराव पीता है तो वह नशे से क्योंकर नजात पा सकता है? अगर तुम्हारी छवि मेरे दिल में गहरी रच-वस गयी है तो मैं क्या करूं? ठीक इसी तरह, इन देवदार के पेड़ों की तरह तुम्हारी सूरत निरंतर मेरी आंखों के सामने तैनात रहती है! तुम्हीं वताओ, आखिर किस चमत्कार के जरिये मैं इस गलीज, घिनौनी जिन्दगी से छुटकारा पाने का उपाय करूं? मेरी तो यह हालत हो गयी है कि मेरे विचार, मेरी इच्छाएं, मेरे सपने तक पराये होकर उस दानव की गिरफ्त में जकड़े हुए हैं, जिसने मुझे आक्रांत कर रखा है। सुनो, मैं तुमसे प्यार करता हूं, इतना प्यार करता हूं कि मुझे अपनी कोई सुध-बुध ही नहीं है। सारा काम-धन्धा छिटका कर अपनों से पीठ फिरा ली है, विश्वास करोगी कि मैं अपने ईश्वर या भगवान तक को विसर गया हूं। ऐसा प्यार मुझे अपनी जिन्दगी में किसी से नहीं हुआ।'

सोफ्या पेत्रोवना को रंचमात्र भी ऐसी आशा नहीं थी कि उनकी वातचीत हठात् ऐसे घुमावदार मोड़ की तरफ वढ़ जायेगी। वह इल्यिन से कुछ दूर खिसक गयी और सहमी-सहमी निगाहों से उसकी ओर देखने लगी—उसकी आंखें आंसुओं से सरावोर थीं, होंठ कांप रहे थे और उसकी दयनीय सूरत से क्षुधित-याचना झलक रही थी।

'मैं तुमसे प्यार करता हूं, वेइन्तहा प्यार करता हूं,' उसके भयभीत विस्फारित नयनों से अपनी आंखें मिला कर वह फुसफुसाने लगा, 'सच, तुम इतनी सुंदर हो! मैं भीतर ही भीतर तड़प रहा हूं, फिर भी मरने के आखिरी पल तक मैं इसी तरह तड़पने के लिए तैयार हूं, यदि मैं इतने करीव से तुम्हारी आंखों में झांकता रहूं। ना...इस समय तुम कुछ भी नहीं वोलोगी, मेरी यही पुरजोर इल्तजा है।'

जैसे अचानक रंगे हाथों पकड़ ली गयी हो, सोफ्या पेत्रोवना ने तुरताफुरत कुछ सोचने की चेष्टा की, कुछ ऐसा सोचने की कि वह सुनते ही चुप हो जाय! पर उसे कुछ भी वैसी

आपद्

बात नहीं सूझी, तब उसने निश्चय किया कि उसे अविलम्ब यहां से चल देना चाहिए। यह सोच कर वह उठने को तैयार हुई ही थी कि इल्यिन उसके सामने घुटनों के बल बैठ गया; कस कर उसके पांव पकड़ लिये। उसके चेहरे की ओर याचना-भरी दृष्टि से देखते हुए, वह आवेश के साथ, उद्दीप्त व उत्कट स्वर में धाराप्रवाह बोलने लगा। किन्तु वह इतनी भयभीत व भौंचक्की हो गयी कि उसे कुछ भी सुनायी नहीं पड़ा। इन दुर्दान्त क्षणों में जब उसके घुटने हल्के-हल्के दबाये जा रहे थे, उसे न मालूम क्यों ऐसा लगा कि मानो वह गुनगुने पानी में नहा रही हो। दूसरी तरफ खीज भरी दुर्भावना के साथ यह जानने के लिए भी वह पूरी चेष्टा कर रही थी उसकी अपनी उत्तेजना का कारण क्या है, अर्थ क्या है? वह भीतर-ही-भीतर झुंझला रही थी कि सतीत्व से उत्प्रेरित कड़ा प्रतिरोध करने की बजाय वह स्वयं को कमजोर, निष्क्रिय और खाली-खाली महसूस कर रही है, जैसे आधी बाजी हार चुकी हो। फिर भी कहीं ठेठ भीतर के निगूढ़ अंतस्तल में दुबकी आंशिक चेतना का विद्रूप परिहास उसे कुरेद रहा था, 'तो फिर तुम चली क्यों नहीं जाती? शायद तुम जाना ही नहीं चाहती; है ना?'

अपने-आपको समझने की चेष्टा करते हुए भी वह समझ नहीं पा रही थी कि आखिर क्यों उसने अपने हाथों को छुड़ाने का प्रयत्न नहीं किया, जिन्हें इल्यिन ने जोंक की तरह जोर से जकड़ रखा था, और क्यों उसने इल्यिन की तरह आशंकित होकर इधर-उधर देखा कि उन्हें कोई देख तो नहीं रहा है? बादल और देवदार के पेड़ निश्चल और मूक दर्शक बने उपेक्षित भाव से इस तरह घूर रहे थे मानो इस अपकृत्य की सूचना अधिकारियों को न देने के लिए उन्हें भी घूस दे दी गयी हो। सामने ही पटरी पर संतरी खम्भे की नाईं खड़ा था; उसकी छद्म निगाहें बार-बार बैंच की तरफ फिसल पड़ती थीं।

'भले ही देखे, उंह।' सोफ्या पेत्रोवना ने मन-ही-मन सोचा।

'किन्तु...किन्तु, सुनो तो,' हताश होकर आखिर उसे कहना ही पड़ा, 'इसका नतीजा क्या होगा? यह रास्ता हमें कहां ले जायेगा?'

'मैं नहीं जानता, कुछ भी नहीं जानता।' उसने हाथ हिलाते हुए, मानो अरुचिकर सवालों को दूर झटक कर धीरे-से कहा।

सहसा रेल की कर्कश, तीखी सीटी सुनायी पड़ी। उस सर्द, मनहूस व निर्मम चीख ने सोफ्या पेत्रोवना को सतर्क कर दिया।

'नहीं, मैं और नहीं रुक सकती। मेरे जाने का समय हो गया है।' वह हड़बड़ा कर जल्दी से खड़ी हो गयी। कांपते स्वर में बोली, 'गाड़ी आ रही है, आंद्रेय भी इसी में है! उसे ब्यालू करना है।'

तनाव के कारण सोफ्या पेत्रोवना का चेहरा तमतमा उठा। वह पटरी की तरफ मुड़ी। सबसे पहले इंजन धरधरा कर निकला, उसके बाद डिब्बों की कतार। सोफ्या का अनुमान था कि वह आम सवारी गाड़ी होगी, नहीं, वह तो माल गाड़ी थी। सफेद गिरजाघर की पृष्ठभूमि में रेल के डिब्बे डोर के सदृश एक के बाद एक इस तरह गुजर रहे थे, मानो आदमी की जिंदगी के दिन गुजर रहे हों। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि जैसे उनका कोई अन्त ही न हो।

किन्तु, आखिर रेल गुजर ही गयी और उसके पीछे कंदील से रौशन रसोईघर व गार्ड का डिब्बा भी पेड़ों के झुरमुट में ओझल हो गया। सोफ्या पेत्रोवना, इल्यिन की ओर देखे बिना ही, एक-दम पीछे मुड़ी और बड़ी तेजी से अपने घर की ओर चल दी। उसने फिर से अपने-आपको पा लिया था। शर्म के मारे उसका मुंह सुर्ख हो रहा था। नहीं, उसके अपमानित होने का कारण इल्यिन नहीं था, स्वयं उसकी कमजोरी थी, उसकी मानसिक दुर्वलता थी। तभी तो, कितनी वेशर्मी से उसने अपने पैरों को एक अजनबी के वाहुपाश में बंधने की स्वीकृति दे दी थी। उसके दिमाग में अव केवल एक ही वात कौंध रही थी : जितनी जल्दी हो सके, वापस अपने घर पहुंच जाये, अपने परिवार के वीच चली जाये। वह इतनी तेज चल रही थी कि वकील काफी पीछे रह गया। रास्ते से तंग गली में मुड़ते ही, उसने एक नजर इल्यिन पर फेंकी। घुटनों पर लगी मिट्टी के अलावा उसे कुछ भी दिखाई नहीं पड़ा। फिर उसने हाथ हिला कर जतला दिया कि वह अव और उसका पीछा न करे।

घर लौटी तो वह कोई पांच मिनट तक अपने कमरे के वीचोवीच निस्तब्ध-सी खड़ी रह कर कभी खिड़की और कभी मेज की तरफ देखती रही।

'पाजी, मक्कार !' उसने मन-ही-मन स्वयं को फटकारा, 'छिनाल कहीं की।'

अपने-आपको और जलील करने की मंशा से उसने विना किसी दुराव के पुरानी वातों को व्योरेवार फिर से याद करने की हिमाकत की। हालांकि शुरू से ही इल्यिन की व्यग्र आतुरता के प्रति काफी उदासीन रही है, फिर भी कोई अदृश्य शक्ति उसे इल्यिन के साथ वातचीत करने के वहाने किसी निर्णय पर पहुंचने के लिए वरावर धकेल रही थी। केवल इतना ही नहीं, जव वह उसके पांवों का आलिंगन कर रहा था, तब सचमुच ही उसे प्रच्छन्न आनन्द की अनुभूति हुई थी। स्वयं को वचाने की चेष्टा किये विना ही वह सारी वातों को याद करने लगी तो वह आकण्ठ लज्जा से भर गयी। उसका दम घुटने लगा। इच्छा हुई कि मुंह पर तड़ातड़ तमाचे मारे और मारती ही चली जाये।

'वेचारा आन्द्रेय !' उसने मन में कहा और चेहरे पर यथासंभव सदाशयता का भाव लाने की कोशिश करते हुए वह अपने पति के वारे में सोचने लगी। 'वार्या, मेरी अभागी वच्ची वार्या भी नहीं जानती कि उसकी मां कैसी है ? मुझे माफ करो, मेरे प्यारे परिजनो, मैं तुम्हें वेइन्तहा प्यार करती हूं...वेइन्तहा।'

स्वयं की नजरों में यह सिद्ध करने के लिए कि वह अव भी एक भली पत्नी और अच्छी मां है और परिवार की जिस पवित्र संस्था का उसने इल्यिन के सामने महत्व प्रकट किया था, वह अव भी दुराचार से अछूती है, वैसी ही निष्कलंक है; इसी अचेतन उद्वेग से वाधित होकर वह रसोई की तरफ दौड़ी और जव यह देखा कि वावर्ची ने आन्द्रेय इल्यिच के लिए अभी तक मेज पर खाना नहीं लगाया तो वह उस पर उवल पड़ी। उसने कल्पना में अपने पति का भूख से निढाल, थकाहारा, क्लांत चेहरा देखा, उसके अथक परिश्रम की मन-ही-मन सराहना की, अपने हाथों से उसके लिए मेज पर खाना परोसा, जो काम उसने पहले कभी नहीं किया। तब उसने अपनी पुत्री वार्या की तलाश की, दिखते ही उसे गोद में उठाया, अत्यधिक उत्साह से गले लगाया। आज वह उसे कुछ भारी एवं उदासीन-सी

लगी, लेकिन वह इस सत्य को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी। वह उसे समझाने लगी कि उसके पापा कितने सज्जन, कितने उदार एवं सम्मानित व्यक्ति हैं !

लेकिन उसके तुरंत बाद जब आन्द्रेय इल्यिच घर आया तो खास स्वागत के लिए वह अपने-आपको तैयार नहीं कर सकी। आरोपित छद्म भावना का आवेग उतर चुका था। लज्जा की संकुचित भावनाएं अपने औचित्य के अभाव में उसे चिढ़ाती हुई; झिंझोड़ती हुई स्वत: शांत हो गयी थीं। वह खिड़की के पास उदास एवं उखड़ी-उखड़ी बैठी थी। जब मनुष्य पर आपद् व संकट की घड़ी आती है, तभी पता चलता है कि भावनाओं व विचारों पर काबू पाना कितना कठिन है। बाद में सोफ्या पेत्रोवना ने बताया कि उसके 'मन में जो उलझन थी, उसे सुलझाना उतना ही दूभर था जितना तेजी से उड़ते गौरय्या के झुंड की गिनती करना।' जब उसे यह खयाल आया कि अपने पति के आगमन पर उसे कोई खास खुशी नहीं हुई, और न खाने की मेज पर उसका व्यवहार ही उसे पसंद आया तो अचानक उसे यह महसूस हुआ कि वह उससे नफरत करने लगी है।

भूख एवं थकान से व्याकुल आन्द्रेय इल्यिच सूप परोसने के पहले ही सूअर के मांस पर टूट पड़ा और बचबच की आवाज करता हुआ, बड़े फूहड़ ढंग से खाने लगा। और इस तरह चबा-चबा कर खाने से उसकी कनपटियां हिलती हुई साफ दिखायी दे रही थीं।

'हे ईश्वर !' सोफ्या पेत्रोवना ने सोचा। 'सच है, मैं इसे प्यार करती हूं, इसका सम्मान करती हूं; मगर...इतने बेहूदे ढंग से खाना चबाने की क्या जरूरत है ?'

भावनाओं की तरह, उसके विचार भी कोई कम गडमड नहीं हो रहे थे। उन सभी अव्यावहारिक व्यक्तियों की तरह जिन्हें अरुचिकर विचारों को दूर रखने का अभ्यास नहीं होता, श्रीमती लुब्यांतझेव ने भी भरसक प्रयत्न किया कि वह अपनी नियति पर विचार न करे, पर उसने जितनी ज्यादा कोशिश की उतनी ही ज्यादा स्पष्टता से इल्यिन, धूल से भरे उसके घुटने, धुने हुए सफेद बादल और धरधराती रेल इत्यादि के वे आसन्न दृश्य उसकी आंखों के सामने उभरने लगे।

'और मैं आज वहां गयी ही क्यूं ? कितनी मूर्ख हूं मैं भी ?' उसने अपने-आपको कोसते हुए मन में सोचा। 'और क्या वास्तव में इतनी कमजोर हूं कि अपने-आप पर ही विश्वास नहीं कर सकती ?'

भय की आंखें हरदम खुली रहती हैं। सोफ्या पेत्रोवना को अपने-आप ही से डर लगने लगा। आन्द्रेय इल्यिच अपना भोजन समाप्त करे उसके पहले ही उसने मन-ही-मन दृढ़ निश्चय कर लिया कि अपने पति को सबकुछ बता कर भय से मुक्त हो जायेगी, आगामी खतरे से बच जायेगी।

खाने के पश्चात् जब आन्द्रेय कोट एवं जूते उतार कर सोने की तैयारी में उनींदा था, उसने बेताब होकर कहा, 'आन्द्रेय, तुम से एक जरूरी मसले पर बात करनी है।'

'कहो, क्या कहना है ?'

'कहीं बाहर चलें !'

'हुं !...बाहर ? वापस शहर जाने का तो अभी मौसम ही नहीं है।'

'मेरा मतलब था, कहीं बाहर यात्रा पर चलें या फिर...।'

'यात्रा !...' अंगड़ाई लेते हुए लेख्य-प्रमाणक ने विस्मय-भरी आवाज में धीरे से कहा, "मैं भी यही सपना देख रहा हूं, लेकिन पैसे कहां से आयेंगे ? और फिर पीछे दफ्तर की देखभाल कौन करेगा ?'

कुछ सोच-विचार करने के वाद वह वोला, 'ठीक है, तुम्हारा मन उचट गया होगा; चाहो तो अकेली जा सकती हो ।'

सोफ्या पेत्रोवना सहमत हो गयी । फिर अचानक उसे खयाल आया कि इल्यिन इस स्वर्ण अवसर का स्वागत करेगा और उसी रेल में, उसी डिव्वे में उसके साथ यात्रा करेगा ! इस तरह की कल्पना में खोयी-खोयी दृष्टि से उसने अपने पति की ओर देखा--पेट भरा होने पर भी वह अतृप्त और वुझा-वुझा-सा नजर आ रहा था । न जाने क्या सोच कर उसके पांवों की तरफ नजर फेंकी—एकदम छोटे-छोटे जनाने पांव, डोरों से वंधे हुए धारीदार मोजे ।

उधर लटकती हुई झिलमिली के पीछे, एक भिनभिनाता भौंरा वार-वार खिड़की के शीशे से टकरा रहा था । सोफ्या पेत्रोवना की आंखें मोजों के धागों पर टिकी हुई थीं, कानों में भौंरे की गुंजन झंकृत हो रही थी । वह अगले ही पल यात्रा की कल्पना में खो गयी : इल्यिन उसके सामने वैठा अपलक दृष्टि से उसकी ओर देख रहा है । अपनी कमजोरी पर उसे काफी रोष है । मानसिक यंत्रणा से उसका चेहरा पीला हो गया है । अपने-आपको एक आवारा स्कूल छोकरा मानता है । उसे वेवाक गालियां सुनाता है । अपने वाल नोंचता है । लेकिन रात का अंधेरा घिर जाने पर जव दूसरे यात्री सो जाते हैं, या वाहर स्टेशन पर उतर जाते हैं, तव वह मौके का फायदा उठा कर उसके घुटनों से उसी तरह लिपट जाता है, जैसा कि उस वेंच के नीचे लिपटा था ।

दिवास्वप्न का खयाल आते ही, कल्पना का वेग एकदम अवरुद्ध हो गया ।

'सुनो, मैं अकेली नहीं जाऊंगी ।' उसने पति को आगाह किया, 'तुम्हें भी मेरे साथ चलना होगा ।'

'कैसी वाहियात वात कर रही हो, सोफोच्का ।' लुव्यांतझेव ने झुंझलाते हुए कहा, 'थोड़ा समझने की कोशिश करो और जो संभव हो उसी की कामना करो ।'

'जव पता लगेगा तो पीछे दौड़े-दौड़े आओगे ।' सोफ्या पेत्रोवना ने मन-ही-मन सोचा ।

जव किसी भी कीमत पर जाने की ठान ली तो उसने महसूस किया कि वह खतरे से वाहर है । धीरे-धीरे उसके विचार निथरने लगे और फिर से प्रसन्नचित्त होकर सव वातों पर मनन करने लगी । वह कुछ भी क्यों न सोचे, सपने देखे न देखे, उसे यात्रा पर तो जाना ही है ।

पति सो रहा था । शाम धीरे-धीरे गहराने लगी थी । वह वैठक में गयी और पियानो वजाने में मगन हो गयी । गोधूलि वेला की वाह्य हलचल ने, मधुर संगीत ने और सवसे वढ़ कर इस खयाल ने कि उसने अपने दिमाग का सदुपयोग किया है, अपनी विकट समस्या खुद ही सुलझा ली है, उसकी अंतरात्मा का उल्लास उसे वापस लौटा दिया । उसके शांत अंत:करण ने गुपचुप वताया कि उसकी जगह कोई भी दूसरी औरत होती तो वह फिसल जाती, वहकावे में आकर अपना संतुलन खो वैठती, और एक वह है जो शर्म के

मारे अधमरी हो गयी थी, कितनी दुखी हुई थी और अब खतरे से भाग रही है, जिसका कोई अस्तित्व ही न था। अपने दृढ़ चारित्रिक सौम्य व्यवहार से वह इतनी प्रभावित हुई कि उसने दो-तीन बार गर्दन उठा कर सामने के दर्पण में अपनी पवित्र छबि निहारी।

रात का अंधेरा होते ही, मित्र-मंडली आ जुटी। पुरुषों ने भोजन के कमरे में बैठ कर ताश की बाजी जमा ली। औरतों ने बैठक व ड्योढ़ी पर अपना कब्जा कर लिया। इल्यिन सबके बाद आया। वह काफी उदास, विषण्ण व बीमार-सा लग रहा था। आते ही सोफे के कोने में एक बार जो बैठा, अन्त तक बिना हिले-डुले वैसा ही बैठा रहा। आमतौर पर उल्लसित एवं वाचाल रहने वाला व्यक्ति आज निर्वाक, त्यौरियां चढ़ाये बार-बार अपनी आंखें मल रहा था। जब किसी ने उस से एकाध सवाल पूछा तो वह बरबस केवल ऊपरी होंठ से थोड़ा मुस्कराया, खीज भरी कटुता से रूखा उत्तर दिया। उसने बेमन से कुछ लतीफे भी सुनाये, मगर उसके असंगत लहजे में कड़ुवाहट व क्रूरता का पुट था। सोफ्या पेत्रोवना को लगा कि वह उन्माद की कगार पर है। पियानो बजाते हुए आज उसने पहली बार महसूस किया कि यह संतप्त व्यक्ति मजाक की मनःस्थिति में कतई नहीं है, उसकी आत्मा रोग-ग्रस्त है और वह दुर्दान्त पीड़ा से छटपटा रहा है। केवल उसी की वजह से वह अपने यौवन की बेहतरीन घड़ियां बर्बाद कर रहा है, अपने सफल जीवन का सत्यानाश कर रहा है और अपनी जमा-पूंजी की अंतिम बची-खुची राशि समर-कॉटेज पर खर्च कर रहा है। केवल उसी के कारण उसने अपनी बुढ़िया मां व बहनों को उनके भाग्य-भरोसे छोड़ दिया है और सबसे बुरी बात यह है कि अपने-आप से आत्मघाती संघर्ष करता हुआ, कुर्बानी की ओर बढ़ रहा है। सामान्य मानवीयता की दृष्टि से भी उसे गंभीरतापूर्वक समझने की चेष्टा करनी चाहिए।

वह इन सारी बातों से भली-भांति अवगत थी, इस कारण उसके दिल में भी टीस उठने लगी। यदि अभी, इसी वक्त वह उसके पास जाकर सीधा 'नहीं' कह देती तो उसकी आवाज में ऐसा वजन होता कि वह मना करने की बजाय चुपचाप उसका कहा मान लेता। लेकिन वह उसके पास नहीं गयी, उसे कुछ भी आगाह नहीं किया। जवानी के क्षुद्र स्वार्थ का ऐसा सटीक प्रदर्शन उसने आज शाम से पहले कभी नहीं किया था। वह जानती थी कि इल्यिन उसकी यंत्रणा में तड़प रहा है। सोफे की बजाय मानो अंगारों पर बैठा है। उसे काफी दुख हुआ, सहानुभूति भी उमड़ी, मगर साथ-ही-साथ अगाध प्रीत करने वाले प्रेमी की उपस्थिति ने उसके मन में विजयोल्लास की अनुभूति भी जगायी, अपनी शक्ति का सही अहसास करवाया। उसे अपनी जवानी का, अपनी खूबसूरती का और अपनी अगम्य पवित्रता का पूरा गुमान था। और चूंकि उसने बाहर जाने का दृढ़ निर्णय कर लिया था, इस कारण उस रात उसने खुल कर अपनी स्वच्छंदता का उपयोग किया। चुलबुलेपन का उन्मुक्त प्रदर्शन किया। लगातार खिलखिलाती रही और भाव-विभोर होकर तबीयत से गाती रही। हर बात से उसका मनोरंजन हुआ, आनंद मिला। जंगल की बैंच पर जो कुछ भी घटित हुआ, उसकी स्मृति ने भी उसे प्रफुल्लित किया। संतरी की ताक-झांक को याद करके भी वह पुलकित हुई। मेहमानों की उपस्थिति से भी उसे आनंद मिला। इल्यिन के अप्रासंगिक लतीफों से भी उसका मन बहला। यहां तक

कि उसकी टाई में लगी पिन देख कर भी उसे काफी खुशी हुई, जिस पर पहले कभी ध्यान ही नहीं गया था। पिन की बनावट लाल सांप की-सी थी, जिसकी आंखों में हीरे दमक रहे थे। उस सांप की छवि देख कर तो वह इतनी आनन्दित हुई कि उसे चुंवनों की बौछार से आप्लावित कर दे।

सोफ्या पेत्रोवना ने उदास, मादक मगरूरी के अंदाज में गीत गाये; मानो किसी और के दुख का मखौल उड़ाने के लिए ही उसने जान कर उन विषाद पूर्ण गीतों का चुनाव किया हो, जिन में टूटे अरमानों का वर्णन था, अतीत की व्यथा और वृद्धावस्था का जिक्र था। 'पल-पल बुढ़ापा पास आ रहा है।' यह गीत भी उसने दर्दीले स्वर में गाया। लेकिन उसे बुढ़ापे से अभी सरोकार ही क्या था?

'मैं वेहूदा वर्ताव कर रही हूं।' सहसा यह विचार उसके मस्तिष्क में विजली की तरह कौंधा, जब वह अलमस्ती में खिलखिला रही थी, आवेगपूर्ण स्वर में गा रही थी।

आधी रात के आसपास महफिल समाप्त हुई। इल्यिन सवसे वाद में उठा। सोफ्या पेत्रोवना उसे वरामदे की सीढ़ियों तक छोड़ने आयी तो नशे की मदहोशी में उसका सर घूम रहा था। फिर भी उसे यह वताना जरूरी था कि वह अपने पति के साथ वाहर घूमने जा रही है और देखना चाहती थी कि इस समाचार का उस पर क्या प्रभाव पड़ता है?

चांद वादलों के आगोश में छिपा था, फिर भी सोफ्या पेत्रोवना को हवा में लहराता इल्यिन का ओवरकोट तथा ड्योढ़ी के हिलते पर्दे उस मद्धिम चांदनी में भी साफ नजर आ रहे थे। उसने यह भी देखा कि इल्यिन का चेहरा किस कदर पीला पड़ा हुआ है और जवरन मुस्कराने की कोशिश में उसका ऊपरी होंठ किस तरह कांप रहा है?

'मेरी प्यारी सोन्या, सोनिच्का।' उसे वोलने का मौका दिये विना ही वह आवेग के साथ फूट पड़ा, 'मेरी प्राणेश्वरी, मेरी प्रियतमा!'

उस पर प्रेम का ऐसा उन्माद छाया था कि आंसुओं में डूबी आवाज के साथ उसने सोफ्या पर प्रीत सने शब्दों की वौछार कर दी। प्रत्येक शब्द एक दूसरे से ज्यादा आत्मीय, घनिष्ठ एवं मधुर था। न जाने क्या सोच कर वह उसे मध्यम-पुरुष के एक वचन से 'तू' कह कर संवोधित करने लगा, जैसे वह उसकी पत्नी या पासवान हो। फिर अकस्मात् एक वांह उसकी कमर में डाल कर और दूसरी से उसकी कोहनी थाम कर उसे हैरत में डाल दिया।

'मेरी वेजोड़ परी, मेरी अनिंद्य रूपसी।' उसकी सुकोमल ग्रीवा को चूमते हुए वह वुदवुदाया, 'अव अपने को और मत छलो, मेरे एकदम करीव आओ, एकदम करीब।'

उसके आलिंगन से मुक्त होकर उसने सर को इस अंदाज से ऊंचा किया मानो झल्लाहट और गुस्से को प्रकट होने का रास्ता दे रही हो। मगर, झल्लाहट थी कि किसी भी रूप में वाहर छिटकना ही नहीं चाहती। और जिस पवित्र शालीनता और जिस सर्वोच्च सतीत्व का उसे गुमान था—उसके मुंह से वही पुरानी घिसी-पिटी सूक्ति निकलवाने में सक्षम हो सका, जो सभी महिलाएं ऐसे मौकों पर दुहराती हैं:

'पागल तो नहीं हो गये?'

'हां सचमुच, मैं पागल ही हूं। किन्तु हमें यहां से शीघ्र चल देना चाहिए।' इल्यिन

बोलता चला गया, 'बैंच वाले उस सर्ग के बाद मुझे आज फिर दूसरी बार यह अहसास हुआ सोन्या कि तुम भी मेरी तरह उतनी ही लाचार हो। एक दिन तुम भी अपने कवच से जरूर मुक्त हो जाओगी ! तुम मुझ से प्यार करती हो। फिर, समझ नहीं पड़ता कि तुम अपनी अंतरात्मा के साथ क्यूं बेकार सौदेबाजी करने पर तुली हो ?'

जब उसने देखा कि वह मुड़कर जाने को उद्यत है तो तुरंत उसकी आस्तीन पकड़ कर, जो कहना था वह झटपट कह डाला।

'आज नहीं तो कल, तुम्हें यह बात माननी ही पड़ेगी, फिर देरी क्यूं ? मेरी प्रियतमा, मेरी प्राणेश्वरी सोन्या, फैसला तो हो ही चुका, फिर उसके अमल में ढील क्यूं ? हम अपने-आपको धोखा किसलिए दें ?'

स्वयं को झटके से छुड़ा कर सोफ्या दरवाजे के भीतर घुस गयी। बैठक में लौट कर उसने यांत्रिक ढंग से पियानो वन्द कर दिया। काफी समय तक सूनी-सूनी आंखों से स्वर-लिपि के कागज पर चित्रित एक आकृति को देखती हुई बैठ गयी। वह न तो खड़ी हो सकती थी और न कुछ सोच ही सकती थी। उसकी शेखी और उसका उत्साह पूर्णतया नि:शेष हो गया था—बची थी केवल थकान, उदासी और खिन्नता ! उसके अंतर्मन ने फुसफुसा कर फिर उसे जगाने का प्रयास किया कि उसने उस सांझ की वेला जो व्यवहार किया वह अशोभनीय था, अभद्र था। नशे में झूमती एक चंचल किशोरी की तरह उसने अभी-अभी बरामदे में खड़ी रह कर कैसा घृणित प्रदर्शन किया, जिसकी झनझनाहट अब भी कोहनी और कमर पर शेष है ! उसे अपनी कोहनी व कमर के प्रति एक अजीब-सी कोफ्त हुई !

बैठक में कोई नहीं था, सिर्फ एक मोमबत्ती जल रही थी। मादाम लुब्यांतझेव पियानो के सामने गोल स्टूल पर निस्पंद बैठी रही, मानो किसी का इंतजार हो। अंधेरे का लाभ उठा कर, निष्क्रिय थकान की ओट में उसकी दमित कामना के अदम्य आकर्षण और प्रबल उत्पीड़न ने उसे अपनी गिरफ्त में कसना शुरू कर दिया। अजगर के पाश की तरह उसने उसकी देह और उसकी आत्मा को जकड़ लिया और वह जकड़ प्रतिपल, प्रतिक्षण और भी मजबूत होती चली गयी, पर इस बार उसे पहले की तरह वह भयभीत नहीं कर सकी, हालांकि वह उसी रूप में अपनी सम्पूर्ण नग्नता के साथ स्पष्टतया उसके सामने खड़ी थी !

वह कोई आध घण्टे तक बिना हिले-डुले उसी तरह बैठी रही। अपने-आप को इल्यिन के बारे में सोचने की उसने पूरी छूट दे रखी थी। सहसा वह विक्षिप्त अवस्था में हारी-थकी-सी उठी और पांव घसीटती हुई अपने सोने के कमरे में पहुंची। आन्द्रेय इल्यिच पहले से ही निद्रामग्न था। वह खुली खिड़की के पास जाकर बैठ गयी और अपने-आपको कामना के हवाले कर दिया। अब उसके मन में किसी तरह की कोई दुविधा नहीं थी। उसके समस्त विचार और उसकी समस्त भावनाएं परस्पर समन्वित होकर एक ही बिन्दु पर केंद्रित हो गये थे। उसके विरुद्ध लड़ने की खातिर वह पूर्णतया उद्यत थी, फिर न जाने क्या सोच कर उसने हथियार डाल दिये। वह अच्छी तरह जानती थी कि वह एक विलक्षण तथा अजेय शत्रु का सामना कर रही है, जिससे लड़ने की खातिर अदम्य शक्ति व अखूट साहस की जरूरत है, जबकि उसके पारिवारिक संस्कार, उसकी शिक्षा और उसके प्रचलित अनुभवों में ऐसा कुछ नहीं था, जिसका वह तनिक भी सहारा पा सकती !

'वेहया छिनाल ! भ्रष्ट ! चरित्रहीन !' उसने अपनी कमजोरी के लिए अपने-आपको खूब फटकारा। 'आखिर, तुम हो ही इसी माजने की !'

अपनी कमजोरी के फलस्वरूप उसकी मर्यादा पर लगी ठेस के वहाने वह इस सीमा तक क्रुद्ध हो गयी कि उसने अपनी जानकारी में भद्दी से भद्दी हरसंभव गाली के द्वारा स्वयं को लांछित किया और अपने-आपको वहुतेरी कटु व अपमानजनक सच्चाइयों से अवगत कराया। उदाहरण के तौर पर, उसने मन-ही-मन कवूल किया कि वह कभी सच्चरित्र नहीं रही। अब तक पतित न होने का स्पष्ट कारण यही था कि उसे कोई वैसा मौका ही नहीं मिला। हां, उस रोज भी उसका आंतरिक द्वंद्व महज एक परिहास और वहकावा मात्र ही था।

'और यदि मैंने थोड़ा-वहुत विरोध भी किया तो वह किस तरह का विरोध था ?' उसने सोचा, 'जो औरतें अपनी देह का व्यापार करती हैं, वे भी ऐसा करने से पहले कुछ ऐसा ही विरोध दरसाती हैं और अंत में अपने-आपको वेचने के लिए तैयार हो जाती हैं। वाह, मैंने भी कैसा शानदार विरोध किया ? दूध की तरह मैं एक ही दिन में पूरी तरह वदल गयी ! वस, एक ही दिन में !'

अव कहीं जाकर उसे इल्म हुआ कि वह पहले जिस आकर्षण के वशीभूत घर से वाहर निकल कर बैंच तक गयी, वह न तो कोई भावना थी और न इल्यिन का व्यक्तित्व था, वल्कि एक विशुद्ध वासना थी जो उसे आमंत्रित कर रही थी—वह भी तो एक औरत ही थी, असंख्य औरतों में से एक औरत जो अनुकूल मौसम के रहते भरपूर फायदा उठा लेना चाहती है !

'जव चूजों की मां कत्ल कर दी गयी।' खिड़की के वाहर भारी मर्दानी आवाज में किसी के गाने की आवाज सुनायी दी।

'यदि मुझे जाना ही है तो यही समय है।' सोफ्या पेत्रोवना ने मन-ही-मन निर्णय किया। उसके हृदय की धड़कन सहसा वहुत तेज हो गयी।

'आन्द्रेय !' वह लगभग चीख पड़ी। 'सुनो, सुनो—हम वाहर जा रहे हैं कि नहीं ?'

'हां, हां—पहले ही कह चुका हूं न, तुम अकेली ही जाओ।'

'मगर, सुनो तो सही।' वह सहमते स्वर में कहने लगी, 'यदि...यदि, तुम मेरे साथ नहीं चलोगे तो मुझ से हाथ धो वैठोगे। मेरा खयाल है...शायद...मैं किसी से प्यार करने लगी हूं।'

'किससे...किससे प्यार करने लगी हो ?' आन्द्रेय ने हड़वड़ाते पूछा।

'कोई भी हो, तुम्हें इस से क्या फर्क पड़ता है ?' सोफ्या पेत्रोवना ने झल्ला कर कहा।

आन्द्रेय इल्यिच झिझक कर उठ वैठा। पलंग के नीचे पांव लटका कर अपनी पत्नी के सांवले चेहरे की ओर आश्चर्य से देखने लगा।

'क्या वाहियात वात कर रही हो ?' उसने फिर वही अल्फ़ाज दुहराये और एक भरपूर उवासी ली।

उसकी वात पर विश्वास नहीं होने पर भी उसे काफी घवराहट महसूस हुई। थोड़ी देर सोच-विचारने के वाद उसने अपनी पत्नी से छोटे-मोटे कई सवाल पूछे। फिर कुछ आश्वस्त

होने पर उसने परिवार के बारे में, बेवफाई के बारे में, शील-सतीत्व के बारे में अपने विचार प्रकट किये—करीब दस मिनट के बाद उसने अपना नीरस व्याख्यान समाप्त किया और वापस लेट गया। उसके साधिकार प्रवचन का कोई असर नहीं हुआ। दुनिया में कई मत-मतांतर हैं, उन में अधिकांश उन लोगों के द्वारा उद्घोषित होते हैं, जिन्हें कभी आपद् का सामना नहीं करना पड़ा।

रात काफी ढलने के बावजूद भी ग्रीष्म ऋतु का आनन्द लेने वाले लोग बाहर चहल-कदमी कर रहे थे। सोफ्या पेत्रोवना ने एक हलका लबादा पहना। थोड़ी देर खड़ी रही। कुछ सोच-विचार किया—अपने सोते हुए पति को सावधान करने के लिए उसके पास कई दृढ़ निश्चयात्मक बातें थीं :

'क्या तुम फिर सो गये? मैं घूमने जा रही हूं। तुम साथ चलना चाहोगे?'

यह उसकी एकमात्र अंतिम आशा थी। कुछ भी उत्तर नहीं मिलने पर वह बाहर निकल गयी—बाहर ताजी और तेज बयार चल रही थी। उसे न हवा का अहसास था और न अंधेरे का। वह तो बस, चली जा रही थी, चली जा रही थी। एक अदम्य शक्ति उसे निरंतर आगे धकेल रही थी। उसे कुछ ऐसा महसूस हुआ कि यदि वह बीच राह में कहीं रुक भी गयी तो वह शक्ति उसे पीछे से धक्का देगी।

'कितनी शर्मनाक बात है!' वह यंत्रवत् बुदबुदाती रही। 'कुलटा! दुश्चरित्र!'

उसका दम घुट रहा था, शर्म के मारे भीतर-ही-भीतर सुलग रही थी। उसे लगा कि जैसे उसकी धड़ के नीचे दोनों पांव ही गायब हो गये हों, फिर भी जो शक्ति उसे आगे धकेल रही थी वह लज्जा, विवेक और भय से कहीं अधिक शक्तिशाली थी! ००

अल्योशा छोटा भाई था। एक रोज उसकी मां ने एक हंडिया में दूध भर कर उसे पादरी की वीमार पत्नी को देने के लिए भेजा। रास्ते में ठोकर खाकर वह गिर पड़ा और हंडिया फूट गयी। इस पर मां ने उसकी खूव पिटाई की। तभी से मुहल्ले के छोकरों ने उसका नाम 'हंडिया' रख दिया।

अल्योशा वहुत दुवला-पतला था। वड़े-वड़े कान, जैसे पंख लगे हों। नाक, गेंद की तरह गोल एवं वड़ी थी। उसकी नाक की वावत कई वार लड़के कह उठते—'अल्योशा की *नाक कैसी, टेहरी पर पिल्ले जैसी !'*

गांव में एक स्कूल भी था, मगर अल्योशा अनपढ़ ही रहा। निरा भोट था उसका दिमाग। फिर, पढ़ने की फुर्सत भी तो कहां थी उसे? चूंकि, वड़ा भाई शहर में किसी सेठ के पास नौकरी करता था, इसलिए घर का सारा काम उसे ही संभालना पड़ता था। वहुत छोटी उम्र में ही वह पिता के काम में हाथ वंटाने लग गया था। जव वह मात्र छः वर्ष का था, अपनी वहन के साथ, गायों एवं भेड़ों को उसने चरागाह ले जाना प्रारंभ कर दिया था। थोड़ा वड़ा होने पर वह घोड़ों की देखभाल भी करने लग गया था; दिन के साथ-साथ रात के समय भी। करीव-करीव आठों पहर वह घोड़ों की चौकसी करता, जव वे मैदान में चर रहे होते। वारह साल की उम्र में तो उसने गाड़ी हांकना एवं खेत जोतना भी सीख लिया था। हृष्ट-पुष्ट न होते हुए भी, वह काम में वड़ा निपुण था। वह हमेशा प्रसन्नचित्त रहता था। जव लड़के उसका मखौल उड़ाते तो कभी चुप बना रहता या कभी थोड़ा-सा मुस्करा देता। और जव कभी पिताजी उसे डांटते-डपटते, वह चुपचाप सुनता रहता। डांट खतम होने पर वह मुस्करा उठता और अपने काम में मशगूल हो जाता।

जव वड़े भाई को काम से निकाल दिया गया, तव वह उन्नीस वर्ष का हो चुका था। अतः उसके पिता वड़े भाई के स्थान पर नौकरी दिलवाने के लिए उसे भी उसी सेठ के पास ले गये। भाई के पुराने वूट, पिता की टोपी एवं ढीला-ढाला कोट पहन कर वह शहर

अल्योशा

लेव तोलस्तोय

पहुंचा। अल्योशा अपने लिबास से काफी खुश था, पर सेठ को उसका यह स्वांग पसंद नहीं आया।

'मैंने तो सोचा था कि सेम्योन की एवज में तुम मुझे कोई आदमी लाकर दोगे।' सेठ ने अल्योशा की ओर देखते हुए कहा, 'और तुम इस बौने को पकड़ लाये। यह मेरे किस काम का?'

'यह कुछ भी काम कर सकता है, हुजूर। घोड़ों को बांधने से लेकर, गाड़ी हांकने तक सब कामों में माहिर है—एकदम उस्ताद और खांटी। दिखने में भले ही लमछड़ लगे, मगर है बड़ा मजबूत, दमखम वाला।'

'होगा, पर मुझे तो ऐसा नहीं लगता।'

'एक खूबी और भी है इस में, कभी सामने नहीं बोलता, सिर्फ काम से काम रखता है।'

'अच्छा, तो ठीक है, मैं अभी कुछ भी तय नहीं कर सकता। छोड़ जाओ, देख लूंगा।'

और अल्योशा सेठ के पास रह गया।

सेठ का परिवार भी कोई खास लम्बा-चौड़ा नहीं था। एक पत्नी, एक बूढ़ी मां, एक शादीशुदा लड़का, जो थोड़ा-बहुत पढ़ा-लिखा भी था, अब पिता के व्यवसाय में हाथ बंटा रहा था, छोटा लड़का स्कूल की पढ़ाई पूरी करके कॉलेज में दाखिल हुआ, मगर किसी कारण से निष्कासित कर दिया गया, फिलहाल घर बैठा था, और एक लड़की, जो अभी स्कूल में पढ़ रही थी।

पहले अल्योशा किसी को भी अच्छा नहीं लगा—बिल्कुल उजड्ड व गंवार। न कपड़े-लत्ते पहनने का सलीका, न बोलने का शऊर और न तमीज से सरोकार। किन्तु बाद में धीरे-धीरे सब उसके आदी हो गये। अपने भाई से भी बेहतर व सुथरा काम था उसका। और न कभी किसी को पलट कर उसने जवाब ही दिया। उसे जिस किसी काम का आदेश मिलता, बड़ी लगन एवं फुर्ती से निबटा देता। एक के बाद एक काम का तांता पकड़ता रहता, पर विश्राम का नाम तक नहीं। और यहां भी घर की तरह सारे काम का बोझा उसी के कन्धों पर आ पड़ा। जितना अधिक वह दौड़-दौड़ कर काम करता, हर कोई उसके लिए अगला काम तैयार रखता। मालकिन, मालिक की अम्मा, उसकी लड़की, लड़का, दुकान का गुमाश्ता और खाना बनाने वाली बावर्चिन तक उसे इधर-उधर भेजती रहती। मतलब कि हर कोई उस पर निर्भर था। मगर मजाल कि उसके मुंह से चूं तक निकल जाये! जिस किसी के मुंह से एक ही नाम की रट सुनायी देती, 'अल्योशा, मेरा एक काम करना।' 'अल्योशा यह करना, अल्योशा वह करना।' 'अरे, तू भूल गया अल्योशा' 'देख, अल्योशा, भूलना मत।' 'अल्योशा, याद रखना।' सर्वत्र अल्योशा, अल्योशा और अल्योशा! और वह दौड़-दौड़ कर सब का काम करता, कुछ नहीं भूलता, सबको खुश रखता और खुद हंसता रहता।

दिन-रात काम करते-करते भाई वाले बूट जल्द ही फट गये। फटे जूतों से उसके पांवों की अंगुलियां बाहर झांकने लगी थीं, फिर भी बिना संकोच के वह अपने काम में खोया रहता। एक दिन मालिक ने उसे इस हालत में देख लिया और कस कर डांट पिलायी।

फिर, बाजार से उसके लिए बूटों की एक नयी जोड़ी मंगवायी। नये बूट पहन कर अल्योशा बहुत खुश हुआ, मगर उसके पांव तो वैसे ही थे—टेढ़े-मेढ़े। शाम तक रगड़ते-रगड़ते वे दर्द करने लगे और वह परेशान हो गया। इस से भी बड़ी परेशानी एक और थी कि पिता के आने पर जब पैसे काट कर उसकी पगार देगा तो उन्हें जूतों की खरीद का पता लग जायेगा। तब वे भी डांट-फटकार कम नहीं करेंगे।

जाड़े के दिनों में अल्योशा मुंह-अंधेरे उठता, लकड़ियां काटता, अहाते की सफाई करता, गाय एवं घोड़े को नीरता, पानी पिलाता, चूल्हा सुलगाता, बूटों की पॉलिश करता, मालिक के कपड़ों को ब्रुश से झाड़ता, और समोवर को हरदम जगाये रखता। इसके बाद गुमाश्ते की आज्ञा से सामान ढोकर दुकान ले जाता था। बावर्चिन के आग्रह पर आटा गूंधता, बर्तन मांजता। फिर अन्य कामों के लिए बाहर जाता, जैसे: रुक्के पहुंचाना, मालिक की लड़की को स्कूल से लेकर आना और बुढ़िया के लिए बालों का तेल लाकर देना। 'कहां रगड़ता फिरता है, अहमक कहीं का।' कोई-न-कोई उसे डांट कर पूछता। तो कोई कहता, 'अरे! तुम क्यों बेकार तकलीफ करते हो? अल्योशा जो है—चला जायेगा।' 'अल्योशा, ऐ अल्योशा।' और अल्योशा हाजिर।

वह दौड़ते-भागते ही नाश्ता करता और ब्यालू के समय भी बहुत कम मौजूद रहता। इसके लिए बावर्चिन उसे टोकती रहती कि वह सबके साथ वक्त पर खाना क्यों नहीं खाता? फिर भी, पूरे घर में सिर्फ एक बावर्चिन ही ऐसी थी जो उसका खयाल रखती, उसकी हालत पर मन-ही-मन दुखी होती और अक्सर सबकी नजरों से बचा कर उसके लिए गरम-गरम खाना सहेज कर रखती। छुट्टियों के पहले एवं उनके दौरान तो अल्योशा के लिए काम का अंबार लगा रहता; फिर भी, उसे छुट्टियां पसंद थीं, इसलिए कि उसे यदा-कदा बख्शिश मिल जाती। ज्यादा तो नहीं, फिर भी कुल मिला कर साठेक कोपेक तो बन ही जाते; लेकिन यह उसकी अपनी पूंजी होती, जैसी इच्छा होती खर्च करता। अपनी पगार पर वह कभी नजर नहीं रखता। एक दिन उसके पिता आते और सेठ के पास जमा राशि लेकर चले जाते और जल्दी-जल्दी बूट फाड़ डालने की लापरवाही पर खरी-खोटी सुनाना कभी नहीं भूलते। बेटे के साथ पिता का बस एक यही सिलसिला था।

होते-होते जब बख्शिश की जमा-जथा दो रूबल हो गयी, तो एक दिन बावर्चिन की सलाह मान कर वह अपने लिए लाल रंग की बुनी हुई एक जैकेट खरीद लाया, जिसे पहन कर वह इतना खुश हुआ कि मारे खुशी के उसका मुंह फटा-का-फटा रह गया।

अल्योशा बहुत कम बोलता था। बोलने के लिए कुछ था भी नहीं! मगर जब भी बोलता तो एकदम अकस्मात् और आधा-अधूरा। पर किसी भी समय उस से काम करने को कहा जाता या पूछा जाता कि क्या वह अमुक काम कर सकता है तो वह अदेर, बिना किसी हिचकिचाहट के हामी भर लेता, 'हां बेशक, आराम से।' और वह काम शीघ्र ही संपन्न हो जाता।

वह कोई प्रार्थना नहीं जानता था। मां ने ठेठ बचपन में जो प्रार्थनाएं सिखायी थीं, वह उन्हें भूल चुका था। फिर भी, हर रोज दोनों वक्त, हाथों का क्रॉस बना कर जितना भी समय मिल पाता, वह मन-ही-मन भगवान का सुमिरन जरूर करता।

इस तरह, अल्योशा को सेठ के यहां रहते डेढ़ वरस वीत गया। और दूसरा वरस गुजरते-गुजरते उसके जीवन में एक अपूर्व असाधारण घटना घटित हुई। और वह घटना उसके लिए मनुष्य के आम प्रचलित संबंधों के अलावा एक अप्रत्याशित आश्चर्यजनक संबंध की खोज थी, जो आदमी को केवल अपने फायदे के लिए इस्तेमाल नहीं करता। वह संवंध न तो आप से अपने बूट चमकाना चाहता है, न बोझा लदवाना चाहता है, न अपने गाय-घोड़ों की रखवाली करवाना चाहता है, बल्कि इसके विपरीत वह तो आपको हरदम अपने पास देखना चाहता है—आप जिस रूप में हैं, उसी रूप में, ताकि वह आपकी देख-भाल कर सके, आपको दुलार सके। और जो अल्योशा नाम का अदना प्राणी था, ठीक इसी रूप में उसकी जरूरत समझी जा रही थी।

उसे इस बात का पता चला—उस्तिन्या से, जो सेठ के यहां बावर्चिन थी। एक जवान व अनाथ लड़की, जो अल्योशा की तरह ही मेहनती थी। अल्योशा की दुर्दशा देख कर उसे सहानुभूति होने लगी थी। उसके दुख से वह भी दुखी रहने लगी। और अल्योशा को अपने जीवन में पहली बार यह अहसास हुआ कि इस पृथ्वी पर एक ऐसा इन्सान भी है जिसे 'खुद अल्योशा' की चाह है, उसकी सेवाओं की नहीं। इस से पहले, जब उसकी मां उसके लिए दुखी होती तो उधर उसका कभी खयाल ही नहीं गया। यह तो होना ही है, जिस तरह वह स्वयं अपने लिए दुखी होता है। पर उस्तिन्या का मामला दूसरा है। उसे अचानक इस बात का बोध हुआ कि नितांत अजनबी होते हुए भी उस्तिन्या उसके लिए दुखी होती है; उसके लिए दलिये में मक्खन डालकर रखती है और आस्तीन चढ़ी बांह पर अपनी ठुड्डी टेक कर उसे खाते हुए टुकुर-टुकुर देखती रहती है। जब वह मुंह उठा कर उसकी ओर देखता तो वह अनायास हंस पड़ती, वह भी हंस पड़ता।

यह बात इतनी अपूर्व एवं अनूठी थी कि शुरुआत में तो अल्योशा भीतर-ही-भीतर सहम गया। उसे आशंका थी कि वह पहले की तरह शायद ही अपना काम सलीके से कर सके। लेकिन साथ-ही-साथ वह खुश भी था। एक बार जब वह उसकी फटी हुई पतलून पर पैबन्द लगा कर लायी, उसने अपना सर हिलाया और हंस दिया। जब वह काम कर रहा होता या काम के लिए कहीं जा रहा होता, अक्सर उस्तिन्या के बारे में सोचता, उसका नाम गुनगुनाता; 'उस्तिन्या...वाह...उस्तिन्या!' जब भी बन पड़ता, उस्तिन्या उसकी मदद करती और वह उस्तिन्या के काम में हाथ बंटाता। उसने अपने जीवन की दास्तान उसे सुनायी कि वह कैसे अनाथ हुई, कैसे उसकी चाची ने उसे सहारा दिया, किन मुसीवतों में वह शहर आयी, किस तरह मालिक के लड़के ने उसे वहकाने की कोशिश की और किस तरह उसने समझा-बुझा कर उसे व्यापार पर जाने के लिए राजी किया। उस्तिन्या को यह सब सुनाना बहुत अच्छा लगता और अल्योशा को उसे सुनना। उसे इस बात का पता चल गया था कि जो भी किसान गांव से शहर में आकर काम करने लगते हैं, वे किसी बावर्चिन से शादी कर लेते हैं। एक दिन उस्तिन्या ने उससे पूछा—क्या उसका जल्द ही व्याह होने वाला है? उसने बताया कि इस बावत वह कुछ नहीं जानता, पर किसी गांव की लड़की से वह शादी नहीं करेगा, यह निश्चित है।

'अच्छा, तो क्या तुमने अपनी पसंद की लड़की देख रखी है?'

'मैं तो तुम से शादी करूंगा, क्या तुम राजी हो?'

'देखा, लोग तो इसे 'हंडिया' कहते हैं; मगर इसने तो कमाल कर दिखाया। अपने ब्याह की बात खुद अपने मुंह से कह दी।' उसकी पीठ पर गमछा फटकारते हुए उसने कहा, 'भला, मुझे क्या एतराज हो सकता है?'

एक त्योहार के मौके पर अल्योशा के पिता उसकी पगार लेने शहर आये। सेठ की पत्नी को किसी तरह भनक पड़ गयी कि अल्योशा, उस्तिन्या से शादी करना चाहता है, मगर यह बात उसे कतई गवारा नहीं थी। 'शादी होने के बाद तो वह मां बन जायेगी, भला, छोटे बच्चे की मां क्या काम कर सकेगी?' अपने पति के सामने उसने अपने मन की आशंका प्रकट की।

सेठ ने अल्योशा के पिता को उसकी पगार सौंप दी।

'लड़का काम तो ठीक कर रहा है ना हुजूर?' उसने जानना चाहा। 'क्यूं, मैंने ठीक ही कहा था कि वह कभी सामने नहीं बोलता, किसी काम के लिए आनाकानी नहीं करता?'

'हां, तुमने कुछ भी गलत नहीं कहा, मगर उसके दिमाग में आजकल एक फितूर मचल रहा है। वह हमारी बावर्चिन से शादी करना चाहता है और मैं शादीशुदा नौकरों को नहीं रखता; मुझे रास नहीं आता।'

'कमाल है, कोई सोच भी नहीं सकता कि इसके ठस दिमाग में ऐसी सनक भी पैदा हो सकती है?' बूढ़ा तैश में आकर कहने लगा, 'आप चिन्ता न करें, मैं उसे समझा दूंगा कि इस बेहूदी बात को अपने मन से निकाल दे। बड़ा सीधा लड़का है, हुजूर, कहते ही मान जायेगा।'

वह रसोई में गया और मेज पर बैठ कर अपने पुत्र की राह देखने लगा। वह किसी काम से बाहर गया हुआ था। जब आया तो वह हांफ रहा था।

'मैं तो समझता था कि तुम एक सुशील लड़के हो, मगर यह क्या खब्त सवार हो गयी?' पिता ने बेटे से जवाब तलब किया।

'कैसी खब्त? कुछ भी तो नहीं!'

'मुझ से ही चालाकी? तुम शादी के बारे में सोच रहे हो? मुझे खुद इसका पूरा खयाल है। समय आने पर मैं अपने-आप अच्छी-सी लड़की ढूंढ़ कर तुम्हारी शादी कर दूंगा; मगर शहर की कुतिया से नहीं।'

पिता ने कस कर उसे आड़े हाथों लिया। अल्योशा चुपचाप सुनता रहा। बूढ़े ने जब अपनी बात समाप्त की तो अल्योशा मुस्कराया।

'अच्छा, मैं यह विचार छोड़ दूंगा।'

'इसी में तुम्हारी भलाई है!'

जब उसके पिता चले गये तो वह उस्तिन्या के साथ अकेला रह गया। पिता ने जो कुछ भी कहा उसने उस्तिन्या को साफ-साफ बता दिया। [वैसे इसकी कोई जरूरत नहीं थी, क्योंकि उस्तिन्या ने दरवाजे की आड़ में सब-कुछ सुन लिया था।]

'सब कुछ खत्म हो गया। सुन रही हो? वे बहुत गुस्से में थे। रह-रह कर अपने पांव

पटक रहे थे।'

उस्तिन्या अपने पटवन्द में मुंह छिपा कर सिसकियां भरने लगी।

अल्योशा अपनी जीभ चटकाता रहा।

'उनका कहा नहीं टाल सकता। हमें यह खयाल छोड़ ही देना चाहिए।'

शाम पड़ने पर मालकिन ने उसे जाफरी वन्द करने के लिए वुलाया, तव पूछा, 'क्यों, पिता की वात पर कुछ गौर किया? इस वेहूदे फितूर को अपने दिमाग से निकाल रहे हो कि नहीं?'

'निकालना ही पड़ेगा!' अल्योशा ने हंस कर जवाव दिया, फिर झार-झार रोने लगा।

उस दिन के वाद अल्योशा ने फिर कभी उस्तिन्या से शादी के वारे में चर्चा नहीं की और उसकी जिन्दगी उसी लीक पर चलती रही।

एक दिन 'लेन्ट' के दौरान गुमाश्ते ने अल्योशा से छत पर जमे वर्फ की सफाई करने के लिए कहा। अल्योशा छत पर चढ़ा और सारा वर्फ झाड़-वुहार कर इकट्ठा कर लिया। फिर वह उस ढेर को फावड़े से नाली में फेंकने लगा तो अचानक उसका पांव रपट गया और वह फावड़े सहित नीचे आ गिरा। वदकिस्मती से, वह वर्फ पर नही गिर कर दरवाजे की चौखट पर लगी लोहे की चद्दर पर गिरा। उस्तिन्या और मालिक की लड़की दोनों झटपट दौड़ कर उसके पास आयीं।

'कहीं चोट तो नही आयी, अल्योशा?'

'चोट तो आयी है, पर कोई खास नहीं।'

उसने उठने की कोशिश की, मगर उठ नहीं सका। फिर अपने-आप अकारण ही मुस्करा उठा।

उसे उठा कर अन्दर लिया। डॉक्टर का सहयोगी आया। देखा और पूछा कि उसे कहां चोट लगी है?

'सारा वदन दुख रहा है, मगर कोई खास वात नहीं। मालिक वड़े गुस्सा होंगे, डर केवल इसी वात का है। हो सके तो पिताजी को इसकी खवर पहुंचा दीजिए।'

इसी हालत मे अल्योशा दो दिन तक विस्तर में पडा रहा। तीसरे दिन पादरी को वुलाने भेजा।

'क्या, तुम मर जाओगे?' उस्तिन्या ने रुंधे गले से पूछा।

'तुम क्या सोचती हो कि हम हमेशा के लिए जिन्दा रह सकते हैं? आखिर एक दिन तो मौत आनी ही है।' अल्योशा ने अपनी आदत के अनुसार संक्षेप में जवाव दिया। 'मेरा आखिरी शुक्रिया कवूल करो उस्तिन्या। मैं तुम्हारा वहुत आभारी हूं। तुमने मेरे लिए कितनी उदारता वरती! अच्छा ही हुआ कि उन लोगों ने अपनी शादी नही होने दी, नही तो अनर्थ हो जाता? लेकिन...अव...अव सव ठीक है।'

पादरी के आने पर अल्योशा ने अपने हाथों से, अपने हृदय से निःशव्द प्रार्थना की, जिसका आशय था—जव इस संसार में—आज्ञाकारी होने से, किसी को नुकसान नहीं पहुंचाने से, हर मनुष्य का भला होता है, तो परलोक में भी उसका भला होगा।

वह बहुत ही कम बोला। सिर्फ बार-बार पानी की मांग करता रहा। हां, उसकी आंखों में परेशानी की व्यंजना अवश्य झलक रही थी।

एक बार उसने विस्मय-भरी आंखों से इधर-उधर देखा, किसी असह्य पीड़ा से दुहरा हुआ और हमेशा के लिए आंखें बन्द कर लीं। ००

सिस्टर फिलोमना ने आत्म-स्वीकृति की मर्यादा का पालन करते हुए विनम्रतापूर्वक कहना प्रारंभ किया, 'फादर, मैं पुख्ता-तौर पर नहीं कह सकती कि मैंने पाप किया है। कभी मेरी अंतरात्मा कहती है—किया। और कभी कहती है—नहीं किया। और जब यह कहती है कि पाप नहीं किया, तो मुझे बहुत ज्यादा पीड़ा होती है, बनिस्बत इसके, जब वह कहती है कि पाप किया।'

फादर ठीक तरह समझ नहीं पाये। 'साफ-साफ बताओ, मेरी बच्ची। मुझे निस्संकोच सब-कुछ बता दो। तुम अभी बहुत छोटी हो! अट्ठारह वर्ष की उम्र में किसी की अंतरात्मा पर विश्वास नहीं किया जा सकता। मुझे निष्कर्ष निकालने दो। ईश्वर मुझे राह दिखाये। बोलो—बोलो।'

'सुनिए फादर, आपसे कोई दुराव नहीं रखूंगी। सोमवार के दिन, मैं आधी रात के समय पांचवें वार्ड में सिस्टर मारिया की एवज में काम कर रही थी। जब मैं अस्पताल पहुंची तो सात नम्बर मरीज के पास धार्मिक सान्त्वनाओं की गुनगुनाहट चल रही थी। प्रभारी डॉक्टर ने बताया कि उसके बचने की कोई उम्मीद नहीं है। अब उसे तकलीफ सहने की ज्यादा जरूरत नहीं पड़ेगी, सवेरे के पहले-पहले मौत उसे चिर-शांति पहुंचा देगी।

' 'अब कोई खास दौरा नहीं पड़ेगा', डॉक्टर ने कहा, 'फिर भी मेरी जरूरत समझो तो वेझिझक मुझे बुला लेना। दूसरे मरीजों को संभालने की जरूरत नहीं पड़ेगी। वे न तुम्हें तकलीफ देंगे और न मुझे।' और वे सोने के लिए चल दिये।

'सिर्फ आध-आध घण्टे बाद एक चम्मच दवाई देने के अलावा मेरे पास कोई दूसरा काम नहीं था। मैं सात नम्बर मरीज के पास स्टूल पर बैठ कर सोचने लगी और मन-ही-मन उसकी आत्मा के लिए प्रार्थना करने लगी, जो अब विदा होने वाली थी।'

'किसकी आत्मा के लिए?'

'उस दुखी मनुष्य की आत्मा के लिए जो मौत से जूझ रहा था।'

आत्मा की मुक्ति के लिए

रावर्टो ब्राको

'तो...वह मनुष्य था ?'

'क्या आपको पहले नहीं वताया ?'

'तुमने फकत सात नंवर की चर्चा की थी, यदि मैं गलती पर नहीं हूं, और मेरी वच्ची, सात नंवर किसी लिंग-विशेष का आभास नहीं देता। खैर, कोई वात नहीं; आगे वताओ।'

'करीव तीन वजे के आस-पास एक मरियल-सी झीनी आवाज सुनायी दी, जैसे स्वयं मौत की ही घरघराहट हो।

'वह अस्फुट स्वर में वुदवुदाया, 'सिस्टर फिलोमना, वह तो आ गयी !' आधी रात तक तो वह विल्कुल मूर्छित-सा पड़ा था।

' 'हिम्मत से काम लो, मेरे भाई', मैंने उसके कान में फुसफुसाते हुए कहा, 'हिम्मत से।'

'फिर धीरे-धीरे एक-एक शब्द साफ उच्चारित करने के लिए वह अपने साथ पूरी जवरदस्ती करने लगा, कुछ ऐसा ही समझिए। उसकी आवाज मुझे-साफ सुनायी पड़ने लगी। 'मैं विल्कुल तैयार हूं। हालांकि, पच्चीस वर्ष की उम्र में मरना वहुत दुख की वात है, लेकिन मैं हताश हो चुका हूं। और यही वेहतर है। मैं विल्कुल अकेला था, एकदम गरीव था। मैंने सोचा कि मैं कवि हूं; पर वह मेरी भूल थी, मैं कुछ भी नहीं था। मैंने सोचा, जरूर मुझे किसी का प्यार मिलेगा, मगर मुझे किसी ने प्यार नहीं किया। यदि इस वक्त तुम मेरे पास नहीं होती तो मुझे ऐसा लगता जैसे किसी सूने, वियावान रेगिस्तान में अंतिम सांस लेने के लिए छोड़ दिया गया हूं।'

'इतना कह कर वह चुप हो गया और मैं उसे ढाढ़स वंधाती रही, 'जरा हिम्मत रखो मेरे भाई, ईश्वर तुम्हारे साथ है।'

'कुछ ही देर वाद मैंने देखा कि उसकी गहरी नीली आंखें आंसुओं से भर गयी हैं।

' 'मुझ पर एक मेहरवानी करोगी, सिस्टर फिलोमना ?' उसने अत्यधिक विनम्रता से पूछा।

' 'कर सकी, तो जरूर करूंगी, मेरे भाई !'

'और वह कहने लगा, 'क्या तुम चाहती हो कि शांति के साथ मेरा सांस निकले ? क्या तुम चाहती हो कि जिस परम-पिता ने मुझे संसार में भेजा, उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए, इस दुनिया से विदा लूं।'

' 'हर सच्चे ईसाई को ऐसा ही करना चाहिए।' मैंने जवाव दिया।'

'तुमने ठीक जवाव दिया, मेरी वच्ची।'

'तव मरणासन्न व्यक्ति ने धीरे से कहा, 'इसके लिए मेरी मदद करनी पड़ेगी।'

' 'मुझे वताओ, मेरे भाई, मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकती हूं।' मैंने पूछा।

' 'मैं अपने जीवन की देहरी को विना किसी कड़ुवाहट के पार सकूं, इस में तुम्हारी मदद चाहिए, ताकि अगले जीवन के लिए कुछ मधुर स्मृति अपने साथ ले जा सकूं। सिस्टर फिलोमना, एक मरते हुए आदमी पर थोड़ी दया करो—मुझे एक चुम्वन से परितृप्त कर दो।' '

'चुंबन ?' पादरी ने आश्चर्य से चौंक कर पूछा।

'मैंने फिर दुहराया, 'हिम्मत रखो मेरे भाई, जरा हिम्मत रखो। अब तो परम-पिता का चुंबन पाने की तैयारी करो।''

'तुमने बिल्कुल ठीक कहा, मेरी बच्ची।'

'लेकिन बुझते सांस के साथ उसने फिर याचना की, 'बस, मुझ पर इतनी-सी मेहरबानी करो ! क्या तुम मेरे मोक्ष की निमित्त नहीं बनना चाहती, सिस्टर फिलोमना ? क्या सारी उम्र तुम पश्चात्ताप के बोझ तले दबी रहना चाहती हो ? क्या तुम नहीं चाहती कि मेरी आत्मा मुक्त हो ? क्या तुम मेरे नरकवास का कारण बनना चाहती हो ?''

'और तुमने—मेरी बच्ची, तुमने क्या कहा ?'

'फादर, उन शब्दों से मैं भयभीत हो गयी। मुझे लगा कि यदि मरने से पहले उसकी अंतिम इच्छा पूरी न हुई, तो वह सीधा नरक में जाएगा। और चूंकि, इसका कारण मैं बनती, इसलिए मेरा भी यही हश्र होता। मुझे कुछ ऐसा आभास हुआ कि हर व्यतीत होने वाले क्षण के साथ मौत के कदम रफ्ता-रफ्ता उसके करीब आ रहे हैं और मानो सुबह होने से पहले ही उसे दबोच लेगी। सुनसान कमरे में सिर्फ उसकी तेज सांसें सुनायी दे रही थीं। वार्ड में बहुत ही कम मरीज थे और वे भी चुपचाप सो रहे थे। बत्तियां कम कर दी गई थीं। मद्धिम रोशनी में सफेद बिस्तर मकबरों की तरह दिख रहे थे। मुझ पर उदासी का आलम छा गया। मैंने सांस रोक कर उसे चूम लिया। मेरे कानों में धीरे-से भनक पड़ी, 'शुक्रिया, बहुत-बहुत शुक्रिया' और मैं फिर प्रार्थना करने बैठ गयी।'

'और तुमने किस जगह चूमा ?' पादरी ने दबी आवाज में अपनी उत्सुकता को छिपाने की कोशिश करते हुए पूछा, जो उसके फैसले को डगमगा रही थी।

'फादर, उस वक्त काफी अंधेरा था।' सिस्टर फिलोमना ने शांत स्वर में जवाब दिया, 'लेकिन, जहां तक मेरा खयाल है, मैंने उसके होंठ ही चूमे थे।'

'तुमने जबरदस्त नासमझी का काम किया, मेरी बच्ची, जबरदस्त नासमझी का, फिलहाल यही कह सकता हूं। मैं जानता हूं कि तुमने बड़ी उदार मंशा का इजहार किया, मेरी बच्ची ! तुम ईसाई-धर्म की उदात्त भावना में बह गयीं, उसकी नैतिक मान्यताओं के प्रभाव में आ गयीं। फिर भी मैं कहूंगा कि तुमने अच्छा काम नहीं किया, सच पूछो तो भयानक गलती की है तुमने ? बेहतर होता, होंठों की बजाय उसके माथे को चूमती। उसकी आत्मा की मुक्ति के लिए यह पर्याप्त होता ! फिर भी गनीमत है कि तुमने एक मरते आदमी को चूमा।'

'मैंने भी तो यही कहा था ?'

'खैर, अब तक तो वह मर ही गया होगा, संभव है दफन भी कर दिया होगा। इसलिए उसके बारे में हमें और सोचना ही नहीं चाहिए।'

'लेकिन फादर, आप जैसा कह रहे हैं, वैसा हुआ नहीं ! वह जिन्दा है !'

'जिन्दा है ?'

'हां। भोर के पहले तक तो वह मृतप्राय अवस्था में ही था। लेकिन, सूर्य की पहली किरण के साथ ही मानो उसे नयी जिन्दगी मिली हो। डॉक्टर खुद जब सुबह वार्ड में आये,

उसके होंठों पर खिली मुस्कान देख कर उनके आश्चर्य की सीमा न रही। फिर उन्होंने बड़ी बारीकी से उसका परीक्षण किया, एक हाइपोडरमिक इन्जेक्शन दिया और बड़े दबे स्वर में बोले, 'कमाल हो गया, यह तो वाकई कमाल हो गया। इस बीमारी से सलटने का एक नया रास्ता खुला।''

'मगर, तब तो अनर्थ हो जायेगा।' पादरी ने हताशा के टूटे स्वर में कहा।

'फादर, आप यह क्या कह रहे हैं ?'

'यह बहुत गंभीर मसला है, मेरी बच्ची। तुमने एक जिन्दा आदमी के होंठ चूमे हैं, और वह अब भी जिन्दा है। मेरी समझ में नहीं आता, क्या किया जाए ? मर जाता तो बात और थी। भगवान के दरीखाने में सब ठीक हो जाता। मगर, उसके जिंदा रहने पर तो स्वयं परमेश्वर के लिए भी चिंता की बात है। अब हमें हर बात खुल कर साफ कर लेनी चाहिए, वरना हम किसी को भी मुंह दिखाने काबिल नहीं रहेंगे।'

कुछ समय तक सोच-विचारने के बाद उन्होंने दरियाफ्त किया, 'एक बात बताओ, बिटिया, यह डॉक्टर किस कैंडे का व्यक्ति है ?'

'ओह, एक दम नफीस !'

'मगर, डॉक्टर की हैसियत से ?'

'कोई मुकाबला ही नहीं, सबसे बढ़ कर ?'

'और तुम्हारा मरीज अब कैसा है ?'

'काफी बेहतर है।'

'फिर तो तुम्हारा कोई निस्तार नहीं !'

'हे भगवान !'

'तुम्हारी ऐसी हिमाकत ? अब भी अपने मुंह से उसका नाम ले रही हो ?'

'मैं एक भ्रष्ट पापिन हूं, फादर ?'

'इस घिनौने अपराध के लिए क्षमा नहीं मिल सकती।' यह सुनते ही सिस्टर फिलोमना का धीरज टूट गया, वह फफक कर रो पड़ी। तब फादर ने कुछ कम कठोर स्वर में कहा, 'कुछ समझ नहीं पड़ता कि क्या किया जाए ? अभी तुमने कहा कि तुम्हारी अन्तरात्मा जब तुमसे यह कहती है कि तुमने पाप नहीं किया, तो तुम्हें अधिक कष्ट होता है, बनिस्बत इसके कि जब वह तुमसे कहती है कि तुमने पाप किया। ऐसा विरोधाभास कैसे संभव हो सकता है ? समझना चाहूं तो भी समझ नहीं सकता !'

'मैं भी नहीं जानती, फादर। मुझे तो अब भी यही महसूस हो रहा है। मैंने जैसा महसूस किया, वही आपको निस्संकोच बता दिया, कुछ भी नहीं छिपाया।'

'और तुम्हें अपने किये पर पश्चात्ताप है ?'

'यदि यह अपराध है तो मुझे जरूर प्रायश्चित करना चाहिए।'

'लेकिन तुम यह मत समझना कि तुम्हारा गुनाह माफ कर दिया जायेगा। हम कुछ दिन और इंतजार करेंगे। भविष्य को कोई नहीं जान सकता। देखें, इस नौजवान की बीमारी क्या मोड़ लेती है ? तब उसके आधार पर ही फ़ैसला लिया जायेगा। अब तुम जा सकती हो। और कुछ नहीं सुनना चाहता। सुनो, रात में सोने से पहले थोड़ी लज्जा

महसूस किया करो, समझी ?'

'मैं तो रोज ही ऐसा करती हूं, फादर।'

'फिर ठीक है।'

कुछ दिनों बाद सिस्टर फिलोमना पादरी के सामने दुबारा उपस्थित हुई।

'तो अब सात नम्बर की हालत कैसी है ?'

'मेरे खयाल से, अब तो काफी ठीक है।'

'डॉक्टर लोग क्या सोचते हैं ? उनका खयाल जानना चाहता हूं।'

'उनका भी यही कहना है कि वह बिल्कुल ठीक हो जायेगा।'

'मेरी बच्ची, तब तो तुम्हारे लिए कोई उम्मीद नहीं है।'

'मैंने भी उससे यही कहा था।'

'क्या कहा था तुमने उससे ?'

'कि उसकी वजह से ही मेरा सत्यानाश होगा। मैं कहीं की न रहूंगी। यदि मुझे पहले पता होता कि वह जिन्दा रहेगा तो हर्गिज उसे चुंबन नहीं देती !'

'तब कवि महोदय ने क्या जवाब दिया ?'

'उसने कहा कि वह किसी भी कीमत पर मेरा सर्वनाश बर्दाश्त नहीं कर सकता। अब उसकी बारी है कि वह मेरी आत्मा को हर सूरत में बचाये।'

'और ऐसा तो वह मर कर ही कर सकता है। इसके सिवाय दूसरा कोई विकल्प नहीं।'

'हां फादर, उसने मुझ से यही वादा किया है कि जिस दिन भी डॉक्टर यह घोषणा करेंगे कि वह पूर्णतया स्वस्थ हो गया तो वह उसी क्षण मेरे लिए आत्महत्या कर लेगा।'

'इस से तो और ज्यादा मुसीबत हो जायेगी।' पादरी कुछ समय बड़ी गम्भीरता से सोचते रहे, फिर दृढ़ निश्चयात्मक स्वर में बोले, 'कुल मिला कर, अब तुम्हें माफ करना ही बेहतर होगा। उस जैसा पगला कवि यदि फिर से मरने की बात करता है, मुझे डर है कि हमें एकदम नये सिरे से नयी शुरुआत करनी पड़ेगी !' ००

हिसाबी लोगों को अपने हिसाब की प्रामाणिकता का कितना जोम होता है ! उनके दंभ की कोई सीमा है भला ? सूरज गलत हो सकता है, पर उनका हिसाब गलत नहीं हो सकता। विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरने के बाद, और क्या परख शेष रह जाती है ? प्रारंभ में ही तुम्हारे नाम के पहले प्रिय का संबोधन बांचते ही उनकी भृकुटियां तन जायेंगी। वे नाक-भौंह सिकोड़ने लगेंगे। अपने से दूनी नहीं तो कम-से-कम पौन-दूनी उम्र वाली वृद्ध महिला को मुझे आदरणीय या पूजनीय लिख कर संबोधित करना चाहिए था। हिसाब एकदम साफ है कि व्याह के समय तुम्हारी उम्र थी बारह साल। व्याह के बाद पंद्रह साल अपने ससुराल में तुमने जैसे-तैसे बिताये ही हैं। और श्रीक्षेत्र की तीर्थ-यात्रा पर निकले तुम्हें सत्तर वर्ष हो गये। मामूली हिसाब-किताब जानने वाला भी आसानी से जोड़ कर बता देगा कि पूरी शताब्दी के लगभग तुम्हारी उम्र हो चुकी है। तब मैंने तुम्हें प्रिय शब्द के द्वारा संबोधित करने की हिमाकत या नासमझी क्यों की ? लेकिन तुम स्वयं तो खूब अच्छी तरह जानती हो कि यह हिसाब कितना गलत है ! जिस स्वर्ग-लोक—नहीं नहीं, जिस साहित्य-लोक में तुम्हारा शाश्वत निवास है—वहां काल, स्थान व दूरी का कोई व्यवधान नहीं है। तुम मानवीय अनुभव तथा अभिज्ञान से नितांत परे हो। समस्त ब्रह्माण्ड तुम्हारी मुट्ठी में है, जहां काल व दूरी का कोई अस्तित्व नहीं है।

तुम सर्वत्र हो और तुम कहीं भी नहीं हो !

अक्षरों से निर्मित, उस साहित्य-लोक में तुम्हारा निवास है—जहां सूरज के बिना भी उजियारा है। चांद के बगैर भी जहां चांदनी है। रात के बिना भी जहां अंधियारा है। फूलों के बिना भी जहां सौरभ है। पानी के बिना भी जहां नदियां बहती हैं। हवा के अभाव में भी जहां बयार सनसनाती है। जीवन के बिना भी जहां अक्षय जिंदगी है। जन्म के बिना भी जहां अस्तित्व संभव है। और जहां मौत स्वयं जननी है ! मृत्यु की अजर-कोख से जन्मी बिन्दु को अब तुम से कोई जुदा नहीं कर सकता ! तुम जीवित अवस्था में

जहां पहुंची, वह जल कर, मर कर पहले से ही तुम्हारे स्वागत में तैयार खड़ी थी। बादल-महल में बिजली की चौखट पर पांव धरते ही, उसके भीतर-बाहर की सब जलन मिट गयी होगी। उस बेढब अभिसारिका को अपने बाहु-पाश में जकड़ने की खातिर तुमने चाहे-अनचाहे कोई संकोच नहीं किया होगा। उस चिर-अपेक्षित आलिंगन के लिए मेरा अभिनंदन स्वीकार करना ही होगा; मानवीय मर्यादाओं को तिलांजलि देनी ही होगी। उस आलिंगन के अनहद सुख से जब भी सांस मिले, बिन्दु को भी मेरे अभिनंदन की चर्चा करना। क्योंकि तुम्हारे सिवाय उसे कुछ देने का अधिकार स्वयं ईश्वर को भी नहीं है। और वह ग्रहण भी क्यों करेगी भला ? लेने की भी अपनी मर्यादा होती है।

इस मनुष्य नाम के प्राणी का तो आचार-व्यवहार ही अजीब है! दूसरों की चिट्ठी पढ़ना यहां अशिष्ट कर्म समझा जाता है। क्यों, है न बेहूदी बात ? अपने पति को लिखी तुम्हारी चिट्ठी यदि मैं नहीं पढ़ता तो कितने बड़े सुख तथा वैभव से वंचित रह जाता! कितने अभागे और दिवालिये हैं वे लोग जिन्होंने तुम्हारी चिट्ठी नहीं बांची। मेरे खयाल से उनका जीवन ही व्यर्थ हुआ। यह मर्म स्वयं समझने का है। समझाने से कभी किसी की समझ में न आया और न आयेगा। तुम्हारी भी यही धारणा है न ? क्यों, तुम्हारे लाख समझाने पर भी आखिर समझा कौन ? न तुम्हारा पति, न तुम्हारी जेठानी और न बिन्दु की सास। यदि वे समझ जाते तो न बिन्दु की अकल्पनीय दुर्गति होती और न तुम्हें यह चिट्ठी लिखनी पड़ती।

जिस किसी का जन्म होता है, उसे मरना पड़ता है। मौत को तो फकत बहाना भर चाहिए। बिन्दु थी तो क्या हुआ ? सच मृणाल, जन्म का तो बस एक ही सलीका है, लेकिन मौत के असंख्य स्वरूप हैं। हां, जीवन में तो मौत के बाद मनुष्य सचमुच मर जाता है, किन्तु साहित्य में मौत जिस-किसी को अमर कर जाती है! अपने हाथों मार कर फिर से अनंत काल तक जिलाये रखती है—फिर न कोई व्याधि, न कोई दुर्घटना।

विश्वास करोगी मृणाल कि जितनी बार मैंने तुम्हारी चिट्ठी पढ़ी, मेरी यह धारणा बराबर पुष्ट होती रही कि पति के बहाने तुमने यह चिट्ठी केवल मेरी खातिर ही लिखी है। अक्षरों की श्यामल घटा मुझे भीतर से नहलाती रही, निर्मल करती रही। बाहर का स्नान तो एक ढर्रा है। संस्कारवश अंगीकार किया हुआ अभ्यास मात्र है। लेकिन भीतर का स्नान, निस्संदेह एक अमूल्य वरदान है। किस्मत के धनी को ही यह वरदान फलता है। बहुत संभव है तुम्हारे हतभागे पति ने तो गृहस्थी के प्रपंच में तुम्हारी चिट्ठी खोली ही न हो। उसे ऐसी निरर्थक बातों के लिए वक्त ही कहां है ? लेकिन मेरे जीवन में तो वह रात सदा अविस्मरणीय रूप धर कर जगमगाती रहेगी; जिस क्षण चंद्रप्रकाश देवल को तुम्हारा पत्र सुना कर समाप्त किया ही था कि कुछ बादल गर्जन-तर्जन के साथ तड़ातड़ बरसने लगे। मानो अब तक बड़ी मुश्किल से मौन साधे एक-एक अक्षर बड़े ध्यान से सुन रहे हों। पत्र सम्पूर्ण होते ही तुम्हारे वियोग में उनकी छाती फट पड़ी। हृदय में बिन्दु की दाह झपाझप सुलगने लगी। उनकी हजार-हजार आंखों से झार-झार आंसू बरस पड़े। सचमुच, समस्त अंधियारे का जी भर आया था। बिन्दु की आत्महत्या से विगलित होकर वह सिसकियां भरने लगा था। यदि मैं कहूं कि उस रात बादल नहीं बरसे थे, तुम्हारा

पत्र पढ़ कर मैं वरसा था; विश्वास करोगी ? कैसी अनहोनी और वेढव खबर है, अखवारों की पहुंच से दूर—वहुत दूर। जिसे जयपुर में चन्द मित्रों को सुनाये वगैर एक पल भर के लिए भी मैं चैन नहीं पा सकूंगा—न जागते हुए और न सोते हुए। उसी उमंग में तो गांव छोड़ा था। सच, तुम्हारा अनिंद्य रूप निहारने के लिए उस भीगे अंधियारे में कैसी प्रवल उत्कंठा मचल उठी थी, मेरे भीतर। लेकिन तुम्हारा रूप कलुषित आंखों से दिखलायी पड़ने वाली चीज नहीं है ! विन्दु के अलावा तुम्हारा पति भी उसे ठीक तरह कहां देख पाया ? निस्संदेह तुम वेजोड़ सुन्दरी हो, मैं भी सौंदर्य का जवरदस्त उपासक हूं। तुम्हारा रूप निहारने की वेहद इच्छा है मेरी, किन्तु जिन्दा रहते अपने वल-वूते पर तुम्हारे पास पहुंच नहीं सकूंगा। मर कर भी तुम्हारी छवि देख पाऊं, यह जरूरी नहीं। तुम विश्वास दिलाओ तो जीवन का मूल्य चुका कर, केवल तुम्हारी छाया का परस पाकर संतुष्ट हो जाऊंगा। कजरारी मेघमाला के समान तुम्हारे केशों का जूड़ा वांधने का एकाधिपत्य तो विन्दु का ही है; उसकी ईर्ष्या का पात्र वनने की धृष्टता नहीं करूंगा। किन्तु सपने की पकड़ से अपने-आपको क्योंकर वचा पाओगी ?

तुम्हारे अनुपम सौंदर्य की कल्पना करते-करते कव आंख लग गयी, पता ही नहीं चला। मगर तुम्हारे वादल-महल की हदवंदी में सपनों का प्रवेश भी वर्जित है। आखिर नींद भी हार कर उचट गयी। चिड़ियों का अनहद कलरव सुन कर मैं वाहर आया। सद्यःस्नात ऊषा का रूप कितना विस्मयकारी था !

तुम्हारी तरह हम दूरी से मुक्त नहीं हैं मृणाल, इसलिए अजमेर से जयपुर का फासला पार करने के लिए मुझे वस में वैठना पड़ा। उफ्फ—दूरी का वह असह्य व्यवधान ? न जाने कव जयपुर आयेगा और कव अनिल, दम्मूजी व शारदाजी को तुम्हारा पत्र पढ़ कर सुना सकूंगा ? इसी जरूरी काम से तो गांव में जो भी पहली वस मिली, मैं अविलंव रवाना हो गया था। मन-ही-मन हंसना चाहे वह मन-ही-मन हंसे, जो खुल कर हंसना चाहे वह खुल कर हंसे। आजादी के वाद हर किसी को रोने की नहीं तो कम-से-कम हंसने की स्वतंत्रता तो है ही। मगर विडंवना तो एकमात्र यही है कि हम न हंसने का मतलव ही जानते हैं और न स्वतंत्रता का। पर सुस्मिता ने यह पत्र पढ़ कर रुंधे स्वर में क्या कहा था—वताऊं ? तुम्हें खुशी होगी कि अव भी भवभूति का भारत पूर्णतया दरिद्र नहीं हुआ है !

'आठ-दस वरस से पुस्तक पढ़कर रोना ही भूल गई थी।' मैं तो सुन कर मुग्ध हो गया, समृद्ध हो गया, उपकृत हो गया ! वेचारे करोड़पतियों के लिए तो इस समृद्धि की कल्पना भी आज संभव नहीं है। सच मृणाल, कभी-कभार तो वड़ी कोफ्त होती है—वड़ी घुटन होती है। निरंतर विकास के इस आधुनिक पर्यावरण में सांस तक लेने की इच्छा नहीं होती। लेकिन—लेकिन—मृत्यु के पहले मरना भी तो नहीं चाहता ! कैसी दारुण लाचारी है ?

संयोग की वात कि फूलों से सजी-संवरी नयी-अटंग वस दुलहिन की तरह प्रतीक्षारत खड़ी थी—आर. एन. वी. ८४६। फाटक के पास ही खिड़की से सटा नवर मिल गया था मुझे। रात की कालिख काफी-कुछ धुल चुकी थी। आकाश को वेदखल करके वादलों का

दल ठीक रात जैसा ही काबिज था। अब बरसे, तब बरसे आषाढ़ के पहले बादल! कालिदास के दुलारे बादल! क्या तुमने भूल-चूक से भी आषाढ़ के इस विश्वसनीय मेघदूत द्वारा कभी किसी को कोई संदेश नहीं भेजा?

तुम्हारे पत्र में फिर से डुबकी लगाऊं, उससे पहले मैंने बस के भीतर उड़ती नजर फेंकी। भीतर भी बाहर जैसी चमक-दमक थी। गद्देदार साफ-सुथरी सीटें। पीठ के सहारे की तरफ सफेद-बुर्राक खोलियां। कांच की पारदर्शी बड़ी-बड़ी खिड़कियां। फर्श पर रंग-बिरंगा गलीचा-सा बिछा हुआ। दोनों तरफ सुनहरे पंखों की कतारें। ऊंचा किराया और आभिजात्य बस! नयी दिल्ली की तड़क-भड़क आधुनिकता जिस तरह पुरानी दिल्ली का मखौल उड़ाती है, उसी तरह यह नवेली बस पुरानी बसों का मौन तिरस्कार कर रही थी। थोड़ी देर के लिए ऐसा महसूस हुआ, जैसे मैं बस की निस्बत आजाद भारत में पूर्णतया सुरक्षित व आराम से बैठा हूं। न मालूम क्यों मुझे वह बस समूचे राष्ट्र का प्रतीक लगी।

सहसा फिर तुमने मेरा मन अपनी ओर खींच लिया। कोई और तुम्हें याद करे न करे, मैं तुम्हें भूल नही पाता। मृणाल, तुम गति के साथ चलने वाली नही हो। तुम स्वयं गति हो—गति को भी वेग प्रदान करने वाली अदम्य शक्ति। और इधर मैं—तुम्हारे पत्र का मर्मज्ञ पाठक अपनी ठौर बैठा हुआ, बस की गति के सहारे दूरी पार कर रहा हूं या दूरी बढ़ा रहा हूं। मेरी समझ के परे की बात है यह।

ठप-ठप की ठपकार के साथ किसी का क्रुद्ध स्वर सुनायी पड़ा, 'यह सूटकेस तुम्हारा है? कब से चिल्ला रहा हूं, बहरे हो क्या?'

इस बार साफ सुनायी पड़ा। मानो स्वच्छन्द उड़ान भरते कबूतर की पांखें अकस्मात् टूट गई हों।

कान नही सुनते, मन सुनता है। और मेरा मन था तुम्हारे इर्द-गिर्द चक्कर काटता हुआ—भौरे की तरह। पत्र से आंखें हटा कर ऊपर देखा—कण्डक्टर मेरी तरफ भृकुटी ताने घूर रहा था। कौन हुज्जत करे? मैंने यों ही बहाना बनाते कहा, 'हां, कुछ ऊंचा सुनाई देता है।'

'तो माकूल इलाज करवा कर बस मे बैठना चाहिए।'

कण्डक्टर की झुंझलाहट कुछ समझ में नही आयी। मुझे कुछ ऐसा आभास हुआ कि गाड़ी तो सर्र-सर्र गुड़कती आगे बढ़ रही है और मैं पीछे की ओर लुढ़क रहा हूं। अभी तक तुम्हारी गिरफ्त से मुक्त नही हुआ था। धीरे-से बोला, 'क्यू, मेरे बहरेपन से आपको क्या तकलीफ हुई? टिकट तो आते ही चैक कर लिया था।'

सूटकेस को दुबारा पीटते हुए उसने फिर तैश मे आकर पूछा, 'यह सूटकेस किसका है?'

'मेरा।'

'मेहरबानी करके दूर हटाइए इसे।'

'क्यू?'

'मैं कह रहा हूं, दूर हटाइए इसे। अब तो सुनाई दे रहा है?' कण्डक्टर ने जोर से

कहा। मैं तब भी पूरी तरह होश में नहीं आया था। सहज भाव से बोला, 'सुनाई तो दे रहा है, पर समझ नहीं पड़ता कि इसे हटाने की जरूरत क्या है ?'

'जनाब आली, जरूरत आपको नहीं, मुझे है। इन्हें क्या अपने सर पर रखूं ?' कण्डक्टर ने मेरी आंखों के ऐन सामने टिकटों की चोपड़ी व तख्ती दो-तीन मर्तबा हिला कर पूछा। एकबारगी इच्छा तो हुई, कह दूं—सर तुम्हारा है, जो इच्छा हो सो रख लो। पर उसके अखाड़े में उतर कर दंगल करने की मेरी कतई इच्छा नहीं थी। आकाश में उड़ जो रहा था। सूटकेस के पास खाली जगह की ओर संकेत करते कहा, 'खूब जगह पड़ी है, यहां रख दीजिए।'

'नहीं, यहीं रखूंगा। मेरा सामान रखने की यही जगह है। हटाइए अपना सूटकेस। खामखा हुज्जत कर रहे हैं।'

कौन हुज्जत कर रहा है, अब तक बस के अधिकांश यात्री अच्छी तरह समझ गये होंगे। सभी एक-एक से बढ़ कर समझदार हैं। मैंने तौलती निगाह से कण्डक्टर का पूरा हुलिया परखा। जैसे कोई यमदूत या बिन्दु का पागल पति मुझ से विवाद करने की खातिर अवतरित हो गया हो। राख से मिलता-जुलता सांवला रंग। जरूरत से ज्यादा घने और घुंघराले बाल। मोटी गर्दन। कसरती सीना। बलिष्ठ भुजाएं। सिनेमा के नायक-खलनायक-सा मिला-जुला व्यक्तित्व। गले में चांदी का तावीज। किरमची पैंट। अतिरिक्त लम्बी मोहरी। ऊंची एड़ी के कत्थई बूट। उसके मिजाज में भी 'अतिरिक्त' का खमीर था। किन्तु तुम्हारे 'अतिरिक्त' से बिल्कुल उल्टा। क्षण भर के लिए मुझे ऐसा लगा, मानो वह किसी फिल्म की शूटिंग के दिवास्वप्न में आत्म-विस्मृत होकर कण्डक्टर का अभिनय कर रहा है। अनायास एक हलकी-सी मुस्कान मेरे होंठों पर थिरक उठी। वह हथगोले की तरह फट पड़ा। जैसे मेरी मुस्कान उसका कलेजा चीर गयी हो। पांव पटक कर गले की पूरी ताकत से चिल्लाया, 'हटाते हैं या नहीं ?'

'नहीं !' मैं बहुत धीरे-से बोला और विशेष ध्यानपूर्वक तुम्हारा पत्र पढ़ने के लिए गर्दन झुका ली। इस तरह का उपेक्षित व्यवहार करते हुए कि बांके कण्डक्टर के बदले जैसे कोई मच्छर भिनभिना रहा हो। उसकी तरह तैश में आकर जोर से इन्कार करता तो शायद उसका गुस्सा इस कदर नहीं भड़कता।

पांवों के पास कर्कश पटाखे-सा विस्फोट सुन कर मैं चौंका। बौखलाये कण्डक्टर ने मेरा सूटकेस नीचे पटक दिया और उसकी जगह खटाक से टिकटों की चोपड़ी व तख्ती फेंक दी। ये दोनों महत्वपूर्ण काम उसने गुस्से की इस फुर्ती से किये कि मैं यह निर्णय नहीं कर सका कि उसने पहले मेरा सूटकेस पटका या अपना सामान पहले फेंका। और अगले ही क्षण उसके गुस्से की छूत मुझे भी लग गई। लेकिन उसे पटकी देने का दांव मैं अच्छी तरह समझ गया था। मुस्कराने का नाटक तो नहीं कर सका, मगर उसकी ओर हिकारत की निगाह से एक बार देखा और तुम्हारे पत्र में आंखें गड़ा दीं। मेरी उस क्षणिक चौंध का आशय स्पष्ट था कि वह मुझ से तगड़ी कद-काठी का पट्ठा न होकर जैसे कोई गन्दी नाली का क्षुद्र कीड़ा हो, जिस पर गुस्सा करना मुझे शोभा नहीं देता। सच कहूं मृणाल, गुस्से को मैं पी जरूर गया था, किन्तु उसे मिटा नहीं पाया। अक्षरों में आंखें गड़ाने मात्र

से उन्हें पढ़ा थोड़े ही जाता है। सभी शव्द आपस में गुत्थम-गुत्था होकर गडमड हो गये। या मैं पढ़ना ही विसर गया हूं। आंखों की पैनी नजर मानो पोथी को ही वेध डालेगी। आग के विना ही जैसे भीतर धुआं-ही-धुआं घुट रहा हो। भाषा तो निश्चित रूप से हिन्दी ही थी, पर एक शव्द भी पल्ले नही पड़ रहा था। लेकिन मेरी वह बेवसी भी उसे एक ऐसी चुनौती लगी कि वह अपना आपा बुरी तरह खो बैठा। उसके उवलते गुस्से की आंच मेरे कानों को भी गरमा गयी, 'आप उठिए यहां से।'

इंजन की घरघराहट को दवा कर उसकी वौखलाहट पूरी वस में गूज उठी। पर मैंने जैसे सुना ही न हो। उसी तरह आंखें झुकाये क्षत-विक्षित शव्दों को सहलाता रहा। अपना-अपना निशाना है ! मुझे भी यह इल्म नही था कि मेरा शव्दवेधी निशाना ऐसा अचूक होगा। मेरे उदासीन व्यवहार से उसकी प्रतिक्रिया और भभक उठी। मुझे खिड़की से वाहर फेंकने की प्रवल इच्छा को दवा कर वह चालक की तरफ देख कर चीखा, 'गाड़ी रोको।'

यात्रियों की ओर पीठ किये चालक को सव पता था कि गाड़ी में कहां, कव से नोंक-झोंक हो रही है। वह इन तमाशों का आदी है। कोई नयी बात होती तो अपने-आप गाड़ी रोक लेता। आदेश मिलने पर उसने कोई गफलत नही की। अकस्मात् जोर से ब्रेक लगने पर गाड़ी रुक तो गयी, मगर सभी मुसाफिरों को हलका-भारी झटका दे गयी। ऐसे रुचिकर नजारे के कारण ऊंघ तो शायद ही किसी को आयी हो। चालक पीठ फिरा कर तमाशवीन की तरह आंखें फाड़े और मेरी ओर टुकुर-टुकुर देखने लगा, जैसे मैं किसी अनजाने प्रदेश का अचीन्हा जन्तु होऊं। अपने आश्चर्य को दवा रख सकने का संयम शायद उसमे नही था। खीसे निपोरते पूछा, 'आप कोई परीक्षा दे रहे है ?'

हर किसी प्रश्न का जवाब देना जरूरी नही है। किन्तु हर किसी की जरूरत भी तो एक-सी नही होती। मुझ से पूछे गये प्रश्न का उत्तर कण्डक्टर ने तत्काल दिया, 'मरघट के इम्तिहान की तैयारी तो अभी बाकी है ! अव्वल नम्बर स पास होना चाहें तो पीछे वैठिए और किरपा करके मेरी सीट छोड़िए।'

'किरपा' शव्द का व्यंग्यात्मक उच्चारण उसने मेरा पंडिताऊ लिबास देख कर किया होगा। चौड़ी किनार की वंगाली धोती और लम्बा चोला। अपनी हाजिर-जवावी की दक्षता के प्रमोद में उसका उफान थोड़ा वैठ गया था। रवि वावू की पुस्तक के बदले मेरे हाथ में पिस्तौल होती तो दावे के साथ अपनी प्रतिक्रिया के वारे में कुछ नही कह सकूगा। कलम के अलावा कोई दूसरा हथियार चलाना भी तो नही आता। भौकने के जवाव में मुझ से भौंका नही गया। लेकिन जो शख्स भौकने के सिवाय दूसरी कोई भाषा नही समझता, उसे मेरी चुप्पी नितांत अप्रासंगिक लगी। इतना कुछ जलील होने पर कैसे भी कायर को गुस्सा आ जाना चाहिए। मैंने फिर वही पेच अपनाया। आंखें गड़ाये पन्ने पर फैली काली-काली चीटियों को कुतरने का दिखावा करने लगा। लेकिन उसे मेरी ठण्डी उपेक्षा वेहद अखरी। अपनी रगों के उफनते खून की उसे भी तो इज्जत रखनी थी। लहू मे रसी-वसी मास-मीडिया की शान बचानी थी। सिनेमा, रेडियो, टेलिविजन, अखवार, सत्यकथा व युगधर्म की शान। और भी न जाने किस-किस छपे-अनछपे कचरे की शान ! उस वेचारे

का तो कोई कसूर ही नहीं था।

लड़ाई का मुद्दा हो तो लड़ना भी शोभा देता है। इस तरह भड़कने के लिए मैं तैयार नहीं था। हाथ में गुरुदेव की पुस्तक जो थी। बारी की तरफ थोड़ा खिसक कर मैंने कहा, 'आप यहां मजे से बैठिए. मुझे कोई छूत की बीमारी नहीं है।'

'आप जैसे बुजदिल बुड्ढों को भला क्या छूत की बीमारी होगी?' उसने उछलती मुस्कान को दबाने की चेष्टा करते हुए ताना मारा, 'मगर मेरी बीमारी का कुछ अंदाज है? खामखा छूत लग जायेगी। तशरीफ का टोकरा पीछे ले जाइए। यह स्टाफ की सीट है।'

ड्राइवर के साथ कई यात्री ठहाका मार कर हंसे। तुम्हीं बताओ मृणाल, यह हंसने की बात थी? किसी भी विशेषण से—न क्रूर, न हिंसक, न नृशंस और न घिनौनी—इस हंसी को परिभाषित नहीं किया जा सकता। केवल मनुष्य ही ऐसी हंसी हंस सकता है; सांप या शैतान भी नहीं। तलवार तो बाहर से काटती है और ऐसी हंसी अन्दर से हलाल करती है। जिसके उपचार की खातिर कोई वैद्य-हकीम न पैदा हुआ और न होगा। सान्त्वना के लिए तुम्हें सूचित करना जरूरी समझता हूं। तुम्हारे ही चरित्र से एक नयी बात सीखने को मिली—कि जिस बात पर हमें गुस्सा करना चाहिए, उबल पड़ना चाहिए—अतिशयोक्ति का सहारा लूं तो कहना चाहूंगा कि जिस बात पर हमें मर-मिटना चाहिए वहां ठहाका मार कर अपनी निर्लज्जता को सरेआम विज्ञापित करने में रंच-मात्र भी संकोच नहीं होता। और जहां उन्मुक्त होकर हंसना चाहिए वहां धीर-गंभीर बनने का दिखावा करने लग जाते हैं। हमारे जीवन की यह कैसी भयंकर त्रासदी है कि हम हंसने का अर्थ ही भूलते जा रहे हैं। कहीं ऐसा न हो कि हम रोने की बात पर खिलखिला उठें और हंसी की बात पर रोने लग जायें।

मेरा कोई कसूर न होते हुए भी मैं शर्म से गड़ गया। और जिसका कसूर था वह उदात्तनायक की तरह अपनी शान बघार रहा था। सभी यात्रियों का हार्दिक समर्थन भी मिल रहा था उसे और मैं अलग-थलग निराश्रित अकेला कछुए की तरह अपनी समस्त चेतना को भीतर ही भीतर समेटने की अकारथ चेष्टा कर रहा था। मानो किसी के अदृष्ट हाथ मेरे सर को पूरे जोर से दबा रहे हों। जानते हुए भी मुझे उन पवित्र हाथों का जिक्र करने में न मालूम क्यों झिझक हो रही है? शायद उन्हें नागवार महसूस हो। फिर किसी पत्र में बता दूंगा, मगर आज नहीं। कुछ अन्यथा समझोगी, ऐसी समझ तुम्हारी नहीं है। मुझे भी तो अपनी समझ पर काफी नाज था। लेकिन वक्त पर बिना अता-पता दिये न जाने कहां फिसल गयी?

एक बात बताना मृणाल कि स्थिति से प्रभावित होने पर भी मैं निष्क्रिय क्यों बैठा रहा? यदि मेरे साथ चार-पांच मुस्तंड पट्ठे होते तो क्या मैं इसी तरह चुपचाप दबा रहता? क्या बाहरी कर्म ही सब-कुछ है, भीतर का प्रभाव कुछ भी नहीं। क्या ऐसी स्थिति में निर्लिप्त, निस्संग या अप्रभावित बने रहना ही अनुकरणीय है? जरा विस्तार से इन कचोटती शंकाओं का समाधान करना।

उसने सीट छोड़ने का फिर पुरजोर तकाजा किया जो मैंने जेब से टिकट के बदले मानो

कलेजा निकाल कर बताया कि मैं अपनी सही जगह पर बैठा हूं। यह न कण्डक्टर की सीट है और न स्टाफ की।

सच्चाई बताने और सच्चाई मानने में जमीन-आसमान का फर्क है, मृणाल। बताने से सच्चाई किसे नजर आती है? वे तुम्हारी आंखें ही थी, जो बिन्दु की सच्चाई को समझ सकी। हमारी मानवीय दुनिया में इसका मर्म समझने वाला कोई नही है। तभी तो मेरे लिए तुम्हारा सुमिरन अनिवार्य हो गया। हम तो अपने चतुर्दिक पाखण्ड को अनदेखा करके सत्य की पहचान खातिर नितांत अंधे हो गये है। स्वस्थ खुली आंखों का अंधापन ज्यादा खतरनाक होता है; जिसकी नृशंस सच्चाई को तुमसे अधिक अब तक कौन जान पाया है?

कण्डक्टर के लिए एक-एक क्षण बिताना भारी पड़ रहा था। झुझलाकर बोला, 'हुं, यह तो गलती से नम्बर दे दिया, वरना यह सीट कभी किसी को नही मिली।'

जो व्यक्ति समझना ही न चाहे उसे क्योकर समझाया जाय? फिर भी मुझे निर्लज्ज की तरह कहना पडा, 'किसी और की गलती के लिए मैं जिम्मेवार नही हूं। जिसने गलती की है, उसे जाकर उलाहना दीजिए!'

ड्राइवर उसी तरह पीठ फिराये, मूछें सहलाता हुआ, हमारा शास्त्रार्थ सुन रहा था। गाडी चलाने की बजाय उसे हमारी दिलचस्प बातों मे अधिक मजा आ रहा था। मैं थोडी देर के लिए भूल गया कि गाडी खड़ी है। पर जिन्हें नही भूलना था, भला वे क्योंकर भूलते? अपना जरूरी काम दूसरे क्या जानें? पीछे की सीट पर एक वकील साहब बैठे थे। अचरज भरी कड़ुवाहट के साथ बोले, 'कैसी अजीब बात कर रहे है! गाड़ी क्या वापस अजमेर जायेगी? कुछ पता भी है आपको कि गाड़ी कितनी दूर आ गयी? सैंतीस किलोमीटर!'

'गाडी चली है तो जरूर दूर आयी होगी।' मैंने पीछे मुड़ कर देखा, काले कोट की खीज नितांत स्वाभाविक थी। फिर भी मुझ से खामोश नही रहा गया। सहज भाव से बोला, 'अच्छा हुआ कि गाड़ी खड़ी है, नही तो दूरी और बढ़ जाती।'

वकील साहब को इस तरह के जवाब की आशा नही थी। वह भी ऐसे व्यक्ति के मुह से जिसने पैंट की बजाय धोती पहन रखी हो। मनिहारी सेठ या चवन्नी किस्म के नेता की तरह चोला टांक रखा हो। पल-दो पल के लिए उनका मुह फटा-का-फटा रह गया। हकलाते हुए बोले, 'वाह, यह भी खूब रही। गाडी खडी है और आपको अच्छा लग रहा है! नेता जो ठहरे! समय की पाबन्दी से आपको क्या मतलब?'

'आपकी गाली का मै कतई बुरा नही मानूगा, क्योकि मै नेता नही हू।'

'नही तो क्या हैं आप? पीर है, पैगम्बर है?'

'आपका जी न भरा हो तो एक और गाली दे दीजिए। मगर यह न पूछिए कि मै क्या हूं?' तुमसे क्या दुराव रखू मृणाल कि हमारी तथाकथित वीर-भूमि राजस्थान मे नव्वे फी-सदी बहादुरों को मुह खोल कर यह नही बताया जा सकता कि मै लेखक हूं। लेखन तो निठल्ले से भी गया-गुजरा पेशा है। इस कारण अपना धंधा बताने के लिए मै एकदम गूंगा हो जाता हूं। पर वकील साहव तो पेशे से ही वाचाल थे। तत्काल सफाई देते बोले,

'झूठ, सरासर झूठ ! मैंने आपको गाली दी ? अभी तो इतने सारे गवाह मौजूद हैं। विना वात आपको गाली क्यूं दूंगा ?'

'माफ कीजिए वकील साहव, अपने देश में नेता से वड़ी गाली और क्या हो सकती है ?'

न चाहने पर भी वकील साहव को वरवस हंसी आ गयी। पूरी वत्तीसी का प्रदर्शन करते वोले, 'सॉरी ! मैं अपने शब्द वापस लेता हूं।'

फिर उन्होंने ड्राइवर की ओर देखते हुए वखुशी आदेश दिया, 'गाड़ी चलाइए, वात और वात का नाम ! वेकार दस मिनट की देरी हो गई।'

ड्राइवर ने कण्डक्टर की ओर देखा। वह अव भी अपनी जिद पर अड़ा था। वेझिझक उसी लहजे में कहा, 'जव तक यह सीट खाली नहीं होगी, गाड़ी नहीं चल सकती।'

कानों में पचास किस्म की आवाजें सुनायी पड़ती हैं, किस-किस पर ध्यान दिया जाए। मैंने ढीठ की तरह फिर तुम्हारे पत्र में आंखें गड़ा लीं। शिकारी की नजर से वचने के लिए जिस तरह खरगोश अपनी आंखें वंद कर लेता है, ठीक उसी तरह मैंने तुम्हारे पत्र की शरण ली।

वताओ मृणाल, तुम मेरी जगह होती तो क्या करती ? रगों के भीतर मेरा खून झनझनाने लगा। मनुष्य होकर यह घिनौनी लड़ाई कैसे लड़ी जाए ? गलियों के कुत्तों-सी लड़ाई ! जंगल के भेड़ियों-सी लड़ाई ! तुम्हें जान कर वड़ा अचरज होगा कि मैंने उस चारण जाति में जन्म लिया है, जिसके पूर्वज रण-वांकुरों को युद्ध के लिए उकसाते थे। जिनकी जोशीली कविताएं सुन कर कायर भी उछाह से मैदान में कूद पड़ते थे। कटे हुए सरों की मूंछें फड़कने लगती थीं। और मैं हूं उस जाति का निकम्मा वंशज, जिसकी कमजोर आंखों को उस वेमिसाल वीरता में, सिवाय कायरता के और कुछ भी नजर नहीं आता। न खामोश रहते वन पा रहा था और न गुर्राते। न तुम्हारे पत्र की ओट मेरे दुवकने के लिए पर्याप्त थी। सर्वथा निर्दोष होते हुए भी मैं शर्म के मारे भीतर-ही-भीतर पिघला जा रहा था। क्या मुझे विना किसी प्रतिरोध के अपनी जगह छोड़ देनी चाहिए थी ? या न्यायसंगत वात के लिए किसी भी जोखम पर मुझे डटे रहना चाहिए था। वात वहुत छोटी है। वात वहुत वड़ी है।

मेरी चेतना के अनजाने ही मैं दो हिस्सों में वंट गया था। न अपने भीतर के आदिम वर्वर को फुसलाना मेरे वश की वात थी और न सुसंस्कृत सभ्य शिष्टाचारी को समझाना। दो ही क्यों, न जाने कितने प्रतिरूप मनुष्य के भीतर छिपे रहते हैं। कव, किस वक्त कौन-सा रूप प्रकट हो जाय, भनक तक नहीं पड़ती। पहली वार ठीक तरह समझ में आया कि अच्छे-वुरे का निर्णय इतना आसान नहीं है।

'मैं कह रहा हूं, यह सीट तुम्हें छोड़नी होगी।' कण्डक्टर ने दांत पीसते हुए वही वात दुहरायी।

इच्छा न होते हुए भी मेरे मुंह से निकल पड़ा, 'जरूर छोड़ दूंगा, मगर जयपुर के वाद, उसके पहले नहीं।'

'क्या कहा ?'

'जो कहना था, कह चुका। ऊंचा सुनते हो?'

वैसा उद्दंड और ताकतवर कण्डक्टर चाहता तो मेरी पिटाई कर सकता था। खिड़की से बाहर फेंक सकता था। परिणाम जो हो। परन्तु उसने ऐसा क्यों नहीं किया? रह-रह कर वह अपनी बर्बर उत्तेजना को क्यों दबा रहा था? उसकी कशमकश मेरी समझ में नहीं आयी। शायद यह सोच कर कि रोडवेज के उच्च अधिकारियों से मेरा कुछ-न-कुछ परिचय हो। बड़े नेताओं से जान-पहचान हो। धोती-चोले का पहनावा होते हुए भी मैं सामान्य ग्रामीण नहीं लगता। मेरे जवाब भी सीधे नहीं थे। बेहूदे भी नहीं थे। फिर भी मार गहरी थी। हाथों में वजनदार पोथी थी। लाल मखमली जिल्द से आवृत। कहीं लेने के देने पड़ गये तो! फिर उसने ऐसा दुर्व्यवहार क्यों किया? शायद एक बार सबके सामने बतायी हेकड़ी से पीछे हटना अपनी तौहीन समझता हो। चढ़ती जवानी, अधपकी शिक्षा और बलिष्ठ देह का विवेक ऐसा ही होता है न मृणाल!

सुपर डीलक्स गाड़ी के आभिजात्य मुसाफिर थे। अपने-अपने दड़बे के मालिक। जब तक अपनी चमड़ी पर खरोंच न लगे, वे दूसरों की कलह में खामखा शरीक नही होते। उनका समय मजदूर की तरह सस्ता थोड़े ही है!

'भाई साहब, आप तो काफी पढ़े-लिखे जान पड़ते हैं। मुझे हॉस्पिटल समय पर पहुंचना है। आप मेरी सीट पर आ जाइए, मैं पीछे चला जाता हूं।'

कानों के जरिए अहसान का यह बोझ भी मुझ पर लदना था।

'अड़ियल के साथ अड़ियल होने से क्या फायदा? अपनी इज्जत अपनी मुट्ठी में है। मेरी जगह हाजिर है। जयपुर पहुंच कर मुझे केस की तैयारी करनी है। कमर में काफी दर्द है, फिर भी आपकी खातिर बर्दाश्त कर लूंगा। आइये मेरी सीट पर बैठ जाइये। पढ़ने में सुविधा होगी।' एक दूसरा नेक वकील सचमुच अपनी जगह से उठ गया था।

आकण्ठ गटर के गंदले पानी में डूब गया होऊं! मन की उस प्रतिक्रिया को व्यक्त करने की बात तो दूर, मेरे लिए उसे समझना भी दुश्वार था, मृणाल! उस शुभ्र विनम्रता की शालीन ओट में कितना कीचड़ व गंदगी दबी हुई थी, अनुमानित वजन से उसका तौल-जोख नहीं हो सकता। काश! किसी मंत्र के चमत्कार से उसी क्षण सांप, गीदड़ या भेड़िया कुछ भी हो जाता तो मनुष्य की गलीज जिंदगी से छुटकारा पा जाता।

'दो पीढ़ियों का मोर्चा है। नयी पीढ़ी को जगह देनी ही होगी। अब तो मसान में अपनी सीट आरक्षित करवाइये।' नयी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करने वाली ललकार मुझे साफ सुनाई पड़ी। मगर चेहरा नहीं देख सका। देखने की हिम्मत नही हुई। निस्संदेह धड़ पर चेहरा तो होगा ही। शिक्षित आंखें भी होंगी। बुद्धि का प्रमाद भी होगा, जरूर होगा।

'छोड़िए सब झंझट।' ड्राइवर ने मूछ के बालों को मुंह से दूर हटाते कहा, 'मोटर चलानी आती हो तो मेरी सीट पर आ जाइये। सबसे आगे। मैं जोखम उठाने को तैयार हूं।'

बस में एक और जोर का ठहाका गूंजा। पहले वाले ठहाके से काफी भरकम। लगभग सभी यात्री मुक्तकंठ मे हंसे थे। लेकिन मैं उस सामूहिक योगदान में अपना सहयोग नहीं दे सका। हंसी के बहाने प्रत्येक मुसाफिर के होंठों पर मानो अग्नि-शिखा मचल रही

हो। कभी-कभार वर्तमान की आग में भविष्य यों भस्मसात हो जाता है—और अतीत भी। इस से तो अच्छा था कि हमारी नवेली बस किसी भयंकर दुर्घटना में चूर-चूर हो जाती। सारी दुनिया से तो नहीं; पर कम-से-कम आर. एन. वी. ८४६ में आरक्षित सभ्यता का खातमा हो जाता।

अब मेरे लिए अपनी सीट पर जमे रहना असंभव हो गया था। बिना किसी की ओर देखे चुपचाप अपने सूटकेस पर बैठ गया। कण्डक्टर को मेरे अचीते दांव की रंचमात्र भी आशा नहीं थी कि उसकी जीत इस तरह हार में बदल जाएगी। लेकिन उसने हार को भी जीत के रूप में ही स्वीकार किया। हार को हार मानने का उस में नैतिक साहस नहीं था। मैं तो पहले ही परास्त हो चुका था। सच मृणाल, वह एक ऐसा अजीबोगरीब महाभारत था, जिसमें दोनों योद्धाओं की पराजय हुई थी।

सांवली चमड़ी और घुंघराले बालों के अतिरिक्त कण्डक्टर की बलिष्ठ देह में हेकड़ी नाम की कोई चीज शेष नहीं रही। फिर भी उसका दिखावा करना जरूरी था। सभी यात्रियों की दो-दो आंखें उसे देख जो रही थीं। वह उन्हें अनदेखा नहीं कर सका। धप्प से पसर कर मेरी आरक्षित सीट पर जम गया, जैसे कोई सिंहासन हाथ लगा हो। पास की सीट शुरू से ही खाली थी, शायद किसी विशिष्ट जन के लिए। अपने पसरने का प्रदर्शन करते हुए वह सीट पर ऊंची एड़ी के बूट टिका कर रुआब से बैठ गया। शायद सिकन्दर को भी अपनी जीत का ऐसा अहसास नहीं हुआ होगा! जेब से सिगरेट निकाल कर उसने मुंह में डाली ही थी कि ड्राइवर ने पूछा, 'अब तो चलाऊं गाड़ी?'

'हां, शौक से चलाइये, मगर तेज। बाबा, पहले ही मान जाते तो इतनी हुज्जत क्यूं होती? दूदू तक देर पूरी कर देनी है।'

'देखते जाओ। यह तो मेरे बायें हाथ का खेल है।'

'बुड्ढे भी बच्चों की तरह जिद्दी होते हैं।' कान में हलकी-सी भनक पड़ी। मैंने पीछे मुड़ कर देखने की कतई चेष्टा नहीं की। ऐसे पालतू मनुष्यों की अपनी सूरत होती ही कहां है, सो देखूं।

चलती हुई गाड़ी अच्छी लगती है, पर मुझे तो उस समय चलती और रुकी गाड़ी में कोई अंतर नजर नहीं आया। मेरा मानस मेरे बावजूद बदलता जा रहा था। भीतर घुमड़ते तूफान को हंडिया में कैसे बंद करूं? लोग मेरे बारे में क्या सोच रहे होंगे, इसकी मुझे कोई खास परवाह नहीं थी। पर स्वयं अपने बारे में क्या सोच रहा हूं, इसका भी तो मुझे ठीक पता नहीं चल पा रहा था। यहां थोड़ा झूठ लिख डाला, मृणाल, माफ करोगी? यों झूठ न बोलने जैसी मेरी कोई आदर्शवादी धारणा नहीं है। पर न मालूम क्यों तुम्हें किंचित् भी गलत लिखने की इच्छा नहीं होती। कोई मुझे बाबा कहे तो यह असंगत नहीं है। वैसी भरपूर उम्र हो चुकी है मेरी। सर पर जो भी बाल बचे हैं, वे एकदम सफेद हैं। दाढ़ी में खोजने पर शायद ही कोई काला बाल मिले। नीचे के दो दांत भी साथ छोड़ चुके हैं, फिर भी किसी के मुंह से 'बाबा' का संबोधन सुनते ही आग-आग लग जाती है। वाकई उस समय हिटलर की खौफनाक नृशंसता का मनोवैज्ञानिक कारण स्पष्ट होने लगता है। पर वैसा कर नहीं पाता। परिणाम के भय की मजबूरी कायर बना देती है।

स्वयं की कैसी भी जानकारी से बुढ़ापे का इतना अहसास नहीं होता, जितना किसी के याद दिलाने पर। न जाने क्यूं बुढ़ापा मेरी नजर में मौत से भी अधिक घृणित है। कण्डक्टर की तमाम बदतमीजी से इतना नहीं तिलमिलाया, जितना उसके मुंह से यह सम्मानसूचक 'बाबा' शब्द सुन कर।

उतनी लम्बी-चौड़ी बस की तेज गति ड्राइवर के नियंत्रण में थी, मगर मैं अपने वश में नहीं था। मुझे क्या करना चाहिए था, सो मैं नहीं कर सका। जो नहीं करना चाहिए था, कुछ वैसा तो नहीं कर डाला, मृणाल! नहीं, यंत्र की तरह मनुष्य के मन को नियंत्रित नहीं किया जा सकता। किन्तु मनुष्य होकर जो यंत्र बन जाते हैं, उनकी विडम्बना जैसी तुमने समझी, वैसी मैं नहीं समझ पाया। फिर भी इतना तो जरूर जानता हूं कि मनुष्य का मन जोड़-बाकी और गुणा-भाग की तरह सरल नहीं है। उसके रहस्य को समझ पाना कभी संभव नहीं होगा, चाहे विज्ञान कितना ही छटपटा कर रह जाय।

कण्डक्टर के शब्दों में अपनी सीट के लिए 'हुज्जत' करते समय मुझे बार-बार किसकी याद आती रही, बताऊं—माया सान्याल की। वही 'कान्ता' की संपादक। तुम से कुछ छिपा थोड़े ही है! क्यों, उसकी छोटी-सी गुलाबी देह के भीतर विधाता ने जैसे बारूद ही बारूद ठूंस कर भर दिया है न? थोड़ी-बहुत आत्मीयता बढ़ने लगी तो मैंने एक दिन 'कान्ता' के कार्यालय में उस से निःसंकोच कहा, 'एक बात पूछूं, बताओगी?'

'बताने लायक हुई तो जरूर बताऊंगी।'

'यदि बताने लायक न हो तो...।'

'नहीं बताऊंगी। और तुम ऐसी बात पूछना ही क्यूं चाहोगे? खैर, जो पूछना है, झटपट पूछो। करौलबाग भागना है। मैं पहुंचूंगी तभी उस लड़की का पोस्ट-मार्टम होगा। ढेर सारी फोटुएं खींचनी हैं।'

माया के लिए तो औरतों का पोस्ट-मार्टम देखना रोज-मर्रा का रुटीन हो गया है। धीरे-धीरे मेरी जानकारी भी बढ़ने लगी है कि युग-युगान्तर से प्रताड़ित, शोषित नारी जब तक जागृत नहीं होगी, माया की दौड़-भाग का अन्त नहीं है। सहज भाव से पूछा, 'फिर किसी लड़की ने ससुराल वालों से तंग आकर आत्महत्या कर ली?'

'अपने देश में लड़कियों के लिए दूसरा विकल्प ही क्या है?'

'तुम भी इसी देश की बाला हो, मुक्ति के इस मार्ग को अपनाने की तुमने कभी कोशिश की?'

'मैं ऐसी बेवकूफ नहीं हूं। क्या बेकार बातें पूछ रहे हो? मेरे पास वक्त नहीं है।'

'तुम्हें कभी वक्त होगा भी?'

'ना, इस जिन्दगी में तो मुश्किल है।'

'कल ही किसी से एक बात सुनी। कनाट प्लेस पर कुछ समय पहले किसी ट्रैफिक के सिपाही को तुमने चांटा मारा था?'

'हां मारा था।' उसने बेझिझक कबूल किया। 'रामकृष्ण के यहां किताबें लेने जा रही थी कि पास ही सड़क पर किसी ठोस चीज के लुढ़कने की आवाज सुन कर मैं चौंकी। देखा तो मेरा खून खौल उठा। फिर मैं अपने पर काबू नहीं रख सकी। चलते स्कूटर वाले

की पीछे से कमीज पकड़ कर सिपाही ने उसे गिरा दिया था। मैं वेतहाशा भाग कर वहां पहुंची। आव देखा न ताव। तड़ाक से उसके गाल पर चांटा दे मारा। वह होश में आये तब तक दूसरा चांटा। फिर अंग्रेजी में दनादन उसे डांटने लगी। ऐसे मौकों पर अंग्रेजी बड़ी मुफीद रहती है। सिपाही को ऐसा कोई हक नहीं कि वह स्कूटर वाले की कमीज पकड़ कर उसे गिरा दे...।'

'और तुम्हें चांटा मारने का हक था, मैडम ?' मैंने बीच ही में उसे टोकते पूछा।

'हां था। मैं अन्याय वर्दाश्त नहीं कर सकती। मैंने तो अपने जीवन में बस एक ही गुरुमंत्र सीखा है कि अन्याय को चुपचाप सहते रहना ज्यादा जघन्य अपराध है। बस, इस से अधिक जानने की मुझे फुर्सत नहीं है। जो बके, बकता रहे। मैं परवाह नहीं करती।'

'और तुम्हारी तरह यदि कोई और भी परवाह न करे तो...।'

'मेरी भी पिटाई हो सकती है.. हो जाय।'

'फिर अन्याय के इस प्रतिरोध का अंत कहां है ?'

'माफ करो वावा, अंत के प्रति मेरी कोई जिज्ञासा नहीं है। मैं तो फकत शुरुआत करना चाहती हूं। यह तुम बुद्धिजीवियों का काम है—सोचते रहो। मुझे यह सब सोचने का वक्त नहीं। यही कहना चाहते हो कि मैंने गलती की। हां की—मैं गलतियों से बचना नहीं चाहती। इस छोटी-सी जिन्दगी में जब करने को बहुतेरे काम हैं, तब सोचने का वक्त कैसे निकाला जाय, मेरी समझ में तो नहीं आता। तुम्हारी तरह ज्यादा सोचने वाले कभी कुछ नहीं कर पायेंगे।'

'पर बगैर सोचे-समझे कुछ भी करना क्यूं जरूरी है ?'

'तो तुम आंखें मूंद कर सोचते रहो; क्या करूं मेरे हाथ-पांव तो दिमाग का कहना ही नहीं मानते ?'

'या तुम्हारे हाथ-पांवों में ही दिमाग उतर आया है !'

'बस, बस—अब एक भी बेकार जिज्ञासा नहीं।'

मैंने पीछे चलते-चलते ही एक शंका की, 'स्कूटर वाले को तुम जानती थी ?'

'नहीं, वह एक आदमी था, क्या यह जानना काफी नहीं है ? समझ नहीं पड़ता, तुम ऐसी अच्छी-अच्छी कहानियां कैसे लिख लेते हो ? खैर, अब मैं भागूंगी।'

मृणाल, आध्यात्मिक रूप से तुम्हारा संबल या प्रभाव मेरे अनजाने ही काफी-कुछ हवा हो गया। असमंजस की विकट मनःस्थिति—कुछ भी निर्णय कर सकने में सर्वथा असमर्थ—माया सान्याल को मन-ही-मन याद करने के अलावा कोई भी मन्त्र या जड़ी-बूटी मेरे पास नहीं थी, जिससे स्वयं को आश्वस्त कर सकता। वह बस में दूर या पास कहीं भी होती तो मुझे उबार लेती। कण्डक्टर को भी जिन्दगी भर के लिए अच्छा-खासा सबक सिखा जाती। मेरा खयाल है कि दो से अधिक ही चांटे मारती। तड़ातड़ — पांच-दस। फिर तो उसके पक्ष में अधिकांश यात्री जुड़ जाते। शूरवीरों के दिल में जवान और खूबसूरत औरत के प्रति चुंबकीय आकर्षण होता है। उस समय सभी जवान या बूढ़े एक-एक-से बढ़ कर वीरता के प्रतीक बन जाते। शौर्य के प्रदर्शन का वैसा मौका भी तो चाहिए !

अन्याय के खिलाफ माया सान्याल के प्रतिकार को अपने प्रसंग में निहायत मुनासिब ही समझता। किन्तु मैं स्वयं वैसा साहस नहीं कर सका। मुझे तो इन शरत् व रवि-बाबुओं ने किसी काबिल ही नहीं रखा। शरत् बाबू तो आत्मरक्षा के बहाने भी मनुष्य की पवित्र देह पर हाथ नहीं उठा सकते थे। और रवि बाबू उन घिनौने हथियारों को सपने में भी छू नहीं सकते थे, जिनके जोश पर अन्य लोग जब-तब एक-दूसरे पर प्रहार करते रहते हैं। अपना माद्दा खूब समझता हूं। शरत् बाबू व गुरुदेव की होड़ नहीं करूंगा। मैं—मैं ही रहना चाहता हूं, मगर उनकी जादुई सूक्तियों से अछूता रहने की क्षमता भी मुझ में कहां है? सो आखिर दुम दबा कर अपने सूटकेस पर बैठने को बाध्य होना पड़ा। पीछे की खाली सीट पर पहुंचने की शक्ति ही मुझ में कहां थी? तुम्हारी चिट्ठी ने मेरे लिए जिरह-बख्तर का काम किया। उस से आंखें हटा कर किधर भी झांकने का मुझ में नैतिक साहस नहीं रहा। पर एक बात साफ है मृणाल कि वक्त गुजरने के बाद कण्डक्टर को भीगे मन से माफ कर दूंगा, मगर बस के यात्रियों को माफ नहीं कर सकूंगा। उनका अपराध ईसा मसीह के लिए भी अक्षम्य है।

आश्चर्य के साथ तुम गुस्सा भी कम नहीं करोगी कि मैं तो आजकल एक ऐसे अवतारी हिटलर की कल्पना में खोया रहता हूं जो एक ही चुटकी में दुनिया के सभी मनुष्यों को एक साथ समाप्त कर दे, ताकि उन्हें यह अहसास ही न हो कि वे गहरी नीद में सोये हैं कि मर गये। कोई किसी के लिए न दुख कर सके और न आंसू बहा सके। मनुष्य के अलावा सब कुछ बच जाय—सारी की सारी प्रकृति—फूल, तितलियां, पेड़-पौधे, हरियाली, नदियां, झरने, पहाड़, समन्दर, कोयल, कबूतर व शकुन्तला के हिरण बचें सो बचें ही, लेकिन सिंह, बाघ, भेड़िये, कुत्ते, सांप, कौए और गधे भी बचें तो कोई हर्ज नहीं। सच मृणाल, पांच-सात वर्ष से मेरी यह धारणा, चाहे-अनचाहे निरंतर पुष्ट होती जा रही है कि नैसर्गिक प्रकृति के बीच मनुष्य और केवल मनुष्य का सब कार्य-व्यापार, उसका समस्त ज्ञान-विज्ञान, धर्म, दर्शन व ईश्वर इत्यादि सब-कुछ—हां सब कुछ घिनौना है। नितांत जघन्य है। सूरज के अनन्त प्रकाश पर केवल मनुष्य ही एकमात्र अमिट कलंक है। मानवता के उज्ज्वल भविष्य के प्रति अमिट आशा में खोये नौसिखियों की बात छोड़ो। उनका अधर आशावाद तो अफीम से कहीं तेज मादक द्रव्य है—सहज विवेक का अपराजेय बैरी। क्या तुम मेरी बात का समर्थन नही करोगी कि हर देश के समाज व मानवता की लाश आज बुरी तरह सड़ चुकी है और हम तथाकथित मनुष्य उस सड़ी लाश के किलबिलाते कीड़े हैं। केवल हमारा अस्तित्व— मात्र अस्तित्व ही सदैव महत्वपूर्ण नहीं है। क्या पता आने वाले भविष्य में सांप, सिंह और कांटों का अस्तित्व ज्यादा उपयोगी व सार्थक हो।

तुम तो अब वापस लौटकर नहीं आओगी। मगर हिन्दुस्तान का हर मकान आज माखन-बढ़ाल की गली के, उस सत्ताईस नम्बर वाले घर से बदतर हो गया है। हर कोठरी में विन्दु तड़प रही है। बिना आत्महत्या किये अपने पागल पति व रूढ़िग्रस्त समाज से छुटकारा नहीं पा सकती। विन्दु की सास का सर्वत्र बोलबाला है। कहूं कि उसी का राज्य है। इनी-गिनी मृणालों ने या तो हार स्वीकार कर ली है या सासुओं के दल

में शामिल हो गयी हैं। फिर भी मृणाल, तुम्हारा रज पूर्णतया निःशेष नहीं हुआ। शपथ दिलाओगी तो यह वात मन मार कर मुझे कबूल करनी होगी कि ज्यादा तो नहीं, मगर दस-वीस महिलाओं को जानता हूं जो तुम्हारे कैंडे की हैं। उत्सुकतावश कभी जानना चाहोगी तो निस्संकोच सव के नाम वता दूंगा तुम्हें, अलग-अलग चारित्रिक पहचान भी वता दूंगा। किन्तु तुम्हारे सृष्टि-कर्ता के समान मेरी कलम में वह सामर्थ्य नहीं कि उन्हें शव्दों की पांखों पर सवार करके तुम्हारे पास भेज सकूं।

तुम्हारे पत्र में दुवका-सिमटा, ऐसे ही अनर्गल विचारों में खोया था कि 'में-में' की निरन्तर आवाज मेरे कानों से टकराती रही। यह मनुष्यों की वाणी तो हरगिज नहीं है! साहस करके चोरी-छुपे वाहर झांका। भेड़ों का काफी वड़ा झुण्ड पेट भरने की फिराक में इधर-उधर मुंह मार रहा था। और अपनी उदर-पूर्ति की चिन्ता में गड़रिया उनकी रखवाली कर रहा था, ताकि समय आने पर ऊन कतर सके। ऊन के साथ चमड़ी भी कट जाय तो कोई हर्ज नहीं। अच्छी तरह चरा-चरू कर हड्डियां और गोश्त वढ़ जाय तो बम्वई के वूचड़खाने में कटने के लिए भर सके। तुमने तो एक भेड़े के प्राण वचाने की खातिर हत्यारों के भय से कोयले की कोठरी में छिपा कर उसे वांध दिया था। और आज हजारों-लाखों निरीह घेटे-वकरे सुवह-शाम कट रहे हैं, गायें कट रही हैं। पांखें फड़फड़ाते अनगिनत आजाद पंछी धांय-धांय की प्राणघाती आवाज के साथ कठोर धरती पर गिर रहे हैं—निर्जीव और निश्चल। असीम नील गगन की अनंत उड़ानें थम गई हैं, उनकी गति हमेशा के लिए अवरुद्ध हो गई है और नष्ट हो गया है—टिव-टिव का मधुर संगीत। और तुम हो जो श्रीक्षेत्र से लौटना ही नहीं चाहती। घर-घर में सताई जाने वाली बिन्दु के आंसुओं को कव तक अनदेखा करती रहोगी? वोलो मृणाल, तुमने तो अपनी जिम्मेवारी से कतराने की स्वप्न में भी चेष्टा नहीं की थी? फिर कव तक चुपचाप वैठी रहोगी? हर वस के कण्डक्टरों का यही हाल है। चारों तरफ से हताश होकर मैंने तुम्हें चितारा है। तुम्हारी सख्त जरूरत है हमें—सूरज, ईश्वर, क्रांति और स्वतन्त्रता से भी ज्यादा।

सहसा मेरे कसमसाते मन में एक वेवकूफी की वात उपजी कि बस से उतर कर इन भेड़ों को तुम्हारा पत्र पढ़ कर सुनाऊं तो कैसा रहे? पढ़े-लिखे शिक्षित लोगों को तो अपनी गुजर-वसर से ही फुर्सत नहीं है। तभी तो इन सब के वीच मेरी यह मिट्टी पलीद हुई। फिर भेड़ों के समझने न समझने की चिंता क्यों करूं? क्या पता अच्छे-अच्छे मर्मज्ञों से अधिक समझने की क्षमता हो इन में? मनुष्य की समझ ही तो आखिरी समझ नहीं है, यह तथ्य अव समझ लेना जरूरी है। क्यों, है न पागलपन की बात। किन्तु मृणाल, अव तो मनुष्य के पागलपन ही का एकमात्र भरोसा रह गया है। उसकी समझदारी से तो सवकुछ स्वाहा होता जा रहा है। पागलपन भी तुम्हारे सृष्टिकर्ता जैसा, जिसकी सिरफिरी सनक ने तुम जैसे व्यक्तित्व का निर्माण किया। कितनी भाग्यशालिनी हो तुम, सत्ताईस नम्बर का मकान छोड़कर तुमने हजारों-हजार मन में अपना घर वसा लिया।

वस अप्रतिहत गति से भाग रही थी। जयपुर का फासला निरंतर कम होता जा रहा था और ठीक उसी अनुपात में अजमेर का फासला वढ़ रहा था। ड्राइवर को अपनी ऐसी

दक्षता पर नाज क्यो न हो, जरूर होना चाहिए ।

दोनों तरफ पानी-ही-पानी लहरा रहा था । पानी बरसाने वाले हवाई बादलों को आखिर धरती पर फैले पानी मे ही शरण लेनी पड़ी । जी भर कर स्नान करेंगे । पर पानी मे डुबके आकाशी बादलो की इन परछाइयो से कभी बरसात होगी कि नही ? पानी में प्रतिबिंबित मकानो मे कभी निवास होगा कि नही ? मनुष्य का वश चले तो परछाई के पेड़ों की लकड़ियों पर भी वह कुल्हाडी चलाये बगैर न माने ।

विशिष्ट द्रुतगामी बस आर. एन. बी. ८४६ को जयपुर से पहले कही नही रुकना चाहिए था, लेकिन गाडी न अपनी इच्छा से रुकती है और न चलती है । कण्डक्टर ने इशारा किया तो ड्राइवर ने दूदू स्टेड पर गाड़ी रोकी । धुएं के छल्ले उड़ाता कण्डक्टर रुआब से नीचे उतरा । खुद के घर मे उसका हुक्म चले न चले पर बस मे तो उसका ही हुक्म चलता है ।

सीट छोड़ कर मेरे अपने ही सूटकेस पर बैठने से उसका सारा जोश किरकिरा हो गया था, जिसकी क्षति-पूर्ति के लिए वह एक ही सास मे लिम्का की सारी बोतल उड़ेल गया ।

मनुष्य का मन कितना पेचीदा होता है मृणाल कि किसे भी उसकी सही जानकारी नही हो पाती । मेरा मन मेरे साथ ही ऐसा विश्वासघात करेगा, किसी के लाख समझाने पर भी मै इसे मानने को तैयार नही होता, जिसका मुझे प्रत्यक्ष अनुभव करना पड़ा । दूदू स्टेड से, कीमती सूट पहने, अच्छी-खासी हैसियत का एक नया मुसाफिर, फाटक के पास मेरी वाली सीट पर बैठा तो मै मन-ही-मन इस बात से खुश हुआ कि इसे भी मेरी तरह जलील होकर सीट छोड़नी पड़ेगी । किसके मन मे कहा छिपा चोर कब सेंध लगा-कर सब सम्पदा हड़प ले जाता है, भनक तक नही पड़ती । मेरे भीतर ऐसा निर्मम डकैत छिपा है और मुझे संदेह भी नही हुआ ? पता लगने पर भी मै भयभीत या शर्मिन्दा कहां हुआ ? उल्टा किसी अजानी हिंसक तुष्टि से अपने मन को दिलासा देने की चेष्टा करता रहा । लेकिन उस नृशस खुशी पर वज्रपात होते कुछ देर नही लगी । कण्डक्टर ने अतिरिक्त शालीनता से उसका टिकट बनाया । नये मुसाफिर ने दो-तीन बार पेनल्टी देने की इच्छा जाहिर की तो भी उसने पेनल्टी लेने से इन्कार कर दिया । और सब से मजेदार बात यह है कि खाली जगह होने पर भी वह उसके पास न बैठ कर, ड्राइवर से बातचीत करने इंजन पर बैठ गया । जैसे उस सावली चमडी के भीतर एक नये ही शालीन मनुष्य का अभ्युदय हुआ हो । मेरा सर भन्ना गया । ऐसा महसूस हुआ कि गाड़ी किसी अतल अंधियारे पाताललोक मे प्रवेश कर रही है । मेरे लिए बस के भीतर या बाहर कोई जाना-पह-चाना अवशेष बाकी नही रहा । या तो मैं चारो तरफ अभेद्य कोहरे से घिर गया या आखों पर अकस्मात् जाला छा गया । मन ठिकाने न हो तो सारी इन्द्रिया निष्क्रिय हो जाती है । तुम्हारा पत्र पढ़ने के आनन्द की यथायोग्य कीमत तो चुकानी ही होगी ! असली नगीने कौड़ियो के भाव नही मिलते । जहा खोया है, वही खोजूगा । पत्र को फिर शुरू से पढ़ूगा । एक-एक शब्द कुरेदूगा । किन्तु पढ़ने के लिए आखे गड़ाई तो कही कुछ भी दिखलाई नही पडा, जैसे अक्षरो पर काई की परत जम गई हो ।

'भाई सा'ब, सीट खाली पड़ी है, आराम से बैठ जाइए । इस उम्र मे इतना गुस्सा

ठीक नहीं।' ड्राइवर ने गाड़ी चलाते-चलाते ही मेरी तरफ देख कर कहा।

चाबुक की मार पड़ते ही मुझे सब-कुछ पहले की भांति साफ-साफ दिखाई पड़ने लगा: आर. एन. बी. ८४६। 'शीकायत की कीताब कण्डक्टर के पास है। धुम्रपान करना वर्जीत है। अपने सामान की जीमेवारी यात्री स्वयं रखे। क्रुपया टिकट लेकर बैठें। यह राष्ट्र की संपती है, इसे गंदा न करें।' चौकोनी जाली के भीतर ड्राइवर की पीठ टुकड़ों-टुकड़ों में बंट गयी थी। बादल भी टुकड़ों में खंडित हो गये थे। सफेदपोश मुसाफिर अपनी-अपनी अंतड़ियों में उलझे हुए थे।

उतावले ड्राइवर ने फिर वही बात दुहरायी। जवाब न देना मुझे और भी लज्जा-जनक महसूस हुआ। कुछ भी न सुनने का ढोंग करते हुए बाहर नजर फेंकी। नजर के साथ मैं भी बाहर उछल पड़ता तो अच्छा था। जीवन के चरम लक्ष्य लिखने-पढ़ने की बात भी निरर्थक लगी।

बगुलों की पांत न जाने किस पानी की तलाश में उड़ती जा रही थी। दोनों बाजू सर्वत्र पानी-ही-पानी बिछा था। क्या इस पानी से इनकी प्यास नहीं बुझेगी? या इन्हें भी किसी कण्डक्टर ने अपने स्थान से बेदखल कर दिया है?

'इसकी ओर से मैं माफी चाहता हूं। बच्चों की बातों पर बुजुर्गों को ज्यादा ध्यान नहीं देना चाहिए।'

पहली बार महसूस हुआ कि बहरे होने में दुख की अपेक्षा सुख ज्यादा है। और आज-कल चतुर्दिक वातावरण में सुनने के लिए है ही क्या—कर्कश व बेहूदी आवाजें। विधाता को दो बार पूछ करके ही मुझे इंद्रियों की नियामत सौंपनी चाहिए थी। इस बार जैसा-तैसा जवाब उगल ही दिया, 'आप मेरी चिन्ता न करें, मैं आराम से हूं।'

'आप तो आराम से हैं, मगर सूटकेस की तकलीफ का कुछ तो...।' आगे की बात उसने जोर से हंस कर पूरी कर दी। मस्ती की रौ में गाड़ी की गति भी तेज हो गयी। ऐसा लगा कि ड्राइवर अपने कौशल से गाड़ी चलाने के बजाय अपनी अदम्य शक्ति से उसे खींच रहा है।

फिर तो सूटकेस पर बैठना मेरे लिए असंभव-सा हो गया। उफ्फ—इतने एक्सीडेण्ट होते हैं, फिर यही बस इस तरह निर्बाध गति से सुरक्षित क्यों चली जा रही है? आतंक-वादियों का एक भी बम इस नवेली बस के हिस्से में नहीं आयेगा? जिन्दगी में ढेरों कसूर किये, मगर बिना कसूर की अंतर्वेदना का पहली बार दुर्दान्त अनुभव हुआ। कोई और शरीफ यात्री मनुहार करे, उसके पहले ही मैं चुपचाप ट्टू वाले मुसाफिर के पास बैठ गया। ड्राइवर ने पूरे एहसान के साथ शुक्रिया अदा किया।

मौत के पहले भी कई बार मरण होता है। आज दो मर्तबा और सही। एक बार सूटकेस पर बैठते समय और दूसरी बार सूटकेस से उठते समय। पहले का पूरा हिसाब रख सकूंगा कि नहीं, किन्तु इस कण्डक्टर का हिसाब तो आज ही चुकता करना है। मैंने आंखें चुरा कर उसके तावीज और चेहरे को गौर से देखा। निःसंदेह यह कट्टर, धर्मान्ध मुसलमान है। लाल कपड़े पर नजर पड़ते ही जिस प्रकार कोई बैल भड़कता है, उसी प्रकार मेरा पंडिताऊ वेश देख कर उसका मन कसैला हो गया होगा। किन्तु शुरुआत में

तो उसने ऐसा कुछ नहीं जतलाया ? सारी गाड़ी चैक करने के बाद उसकी ऐसी प्रतिक्रिया क्यों हुई ? रवि बाबू की पोथी को गीता समझ कर वह भीतर-ही-भीतर फुफकार रहा होगा। चलते रास्ते खामखा कैसी दुविधाजनक स्थिति में फंस गया—अचीते दु:स्वप्न की तरह ! तुम्हारे पत्र की बेइन्तहा खुशी को बिना कीमत चुकाये मुफ्त में हथियाने का खमियाजा तो मुझे भुगतना ही पड़ेगा। मगर वह कीमत मुझे बहुत महंगी पड़ी मृणाल ! शरीर का घाव भर जाता है, मन का घाव नहीं भरता। तुम्हें भी तो मन की भीतरी चोट ने माखन-बढ़ाल का घर छोड़ने को मजबूर किया था। केवल तुम्हीं मेरे अन्तर्द्वन्द्व की पीड़ा सही माने में समझ सकती हो।

मैं बस के भीतर बैठा हूं या बस मेरे भीतर कलेजा रौंदती हुई चारों तरफ घूम रही है ? जाने-अनजाने, चाहे-अनचाहे कब किस क्षण सारा गणमान्य अस्तित्व किस नगण्य बात से एकदम व्यर्थ हो जाता है, बड़े-से-बड़ा मनोवैज्ञानिक या ज्योतिषी भी इसका अनुमान नहीं लगा सकता। आकाश के घुमड़ते बादलों ने तो अपनी आंतरिक घुटन बरस कर शांत कर ली, मगर मैं क्या उपाय करूं ? बार-बार तुम्हारी चिट्ठी के द्वारा मन को बरगलाने की चेष्टा की और हर बार मन उचट गया। रात को सोते समय जिस ऊंचाई पर उड़ चला था, अब तो उससे भी गहरी खदान में धंस गया। नयी दुलहिन-सी सजी-संवरी बस—आर. एन. बी. ८४६ मुझे चिर अभिशप्त विधवा से ज्यादा प्रताड़ित लगी। बस में शारीरिक रूप से मौजूद रहना ही यात्रा का आनंद नहीं है। सब यात्री एक-दूसरे से बेगाने, अलग-थलग कटे हुए, अपने ही स्वार्थों में खोये, अपनी ही जरूरतों के इर्द-गिर्द डूबते-उतराते-से जान पड़ते हैं। उन्हें न पलकों से परे दिखता है और न बिना मतलब की आवाज उन्हें सुनायी पड़ती है। अपनी-अपनी आंखें, अपनी-अपनी नींद, अपने-अपने सपने और अपना-अपना संगीत—बस ! माखन-बढ़ाल का घर आबाद रहना चाहिए। विन्दु जल कर मरे तो मरे, फांसी का फंदा लगा कर छत से झूले तो झूले। धर्मराज के प्रशासन में अड़ंगा लगाना उचित नहीं।

तुम्हारे पत्र के अवगुंठन में आच्छादित अव्यक्त की व्याख्या करने में तो काफी-कुछ पारंगत हो गया हूं, लेकिन कण्डक्टर के प्रकट व्यवहार में छिपे अप्रकट को बार-बार सोच कर भी अपने बूते पर कहां उघाड़ पाया ? उसके ललाट पर फिर शिकन उभर आयी है। दाहिनी भृकुटी थोड़ी खिंचने लगी है। शायद अपनी किसी अज्ञात विवशता के लिए मन-ही-मन पश्चात्ताप कर रहा हो कि अभी थोड़ी देर बाद जयपुर आ जाएगा और मैं उसकी आंखों से ओझल, उसकी पहुंच से दूर हो जाऊंगा। यदि उसने भूल-चूक से या जान-बूझ कर दुबारा वही हरकत दुहराई तो मुझे कड़ा रुख अख्तियार करना पड़ेगा। फिर भी माया सान्याल-सा साहस शायद ही जुटा पाऊं। एक स्पष्टीकरण की आशा तुम से जरूर करूंगा कि मुझे अपनी इस कमजोरी पर क्षोभ होना चाहिए कि नहीं। गर्व तो क्या करूं ? और यह कमजोरी है भी कि नहीं ? जवाब का अविकल इंतजार रहेगा।

अपराध-बोध की भावना से ग्रसित कभी-कभार चोरी-छिपे किलोमीटर के निशानों को देखने की धृष्टता कर रहा था, जैसे मेरी हर क्रिया अवांछनीय हो। गाड़ी तेजी से चल रही थी, फासले की पट्टियां भी एक के बाद एक बढ़ रही थीं, किन्तु मुझे ऐसी आशंका

महसूस हो रही थी कि आज जयपुर आयेगा ही नहीं। समय और दूरी का अविच्छिन्न तालमेल मेरी जानकारी में शायद पहली बार ध्वस्त हुआ हो। दूरी तो गाड़ी की रफ्तार के साथ कट रही थी, पर समय मानो एक ही ठौर गहरा दफन हो गया हो। सच मृणाल, घड़ी की प्रामाणिकता के बावजूद समय स्थिर हो गया था। लेकिन समय की गति से मुझे वास्ता ही क्या था? केवल दूरी और दूरी ही नितांत अनिवार्य हो गयी थी।

आकाश में काले-मटमैले बादलों का कचरा-ही-कचरा सर्वत्र फैला हुआ था। उसे बुहार कर साफ करने की क्षमता किस में है? जिसने एकत्रित किया वही साफ करेगा! किन्तु मेरे मन के भीतर अनजाने ही जो गंदगी घुल गयी थी, वह शायद ही साफ हो। सूरज के अनंत प्रकाश को घटाओं की घुटन ने अपनी ओट छिपा लिया और सूरज का कुछ वश नहीं चला। ठीक वही मेरे मन की दशा हो रही थी। अब तक का सब-कुछ पढ़ा हुआ, सोचा हुआ, लिखा हुआ, समझा हुआ उस अकिंचन घटना की ओट में ओझल हो गया। वर्तमान का विषैला कुत्सित अजगर मेरे समूचे व्यक्तित्व को एक ही सांस में डकार गया। बस के भीतर कण्डक्टर ने मनमानी की तो बाहर मैं मनमानी करूंगा। कुचले हुए सांप की तरह मेरा मन बार-बार मुझे ही डस रहा था। तुम्हीं बताओ, यदि संयोग से भवानीमलजी माथुर—वही, जो पुलिस विभाग के महा-निरीक्षक रह चुके हैं: राजस्थान परिवहन निगम के अध्यक्ष नहीं होते तो मैं अपने फुफकारते मन को क्योंकर आश्वस्त कर पाता! ज्वालामुखी पर्वत के मुहाने पर चिपका हुआ अतीत, वर्तमान और भविष्य एक ही धमाके में छिन्न-विच्छिन्न हो गया।

आखिर तुम्हारा नाम जपते-जपते अजगर की विषाक्त ओझरी से मुझे मुक्ति मिल गयी। झटपट अपना सूटकेस लेकर राजकीय आवास के स्टॉप पर उतर गया। सही-सलामत बचने के लिए अपने भाग्य की सराहना करूं या कोसूं, ठीक-ठीक तय नहीं कर पाया।

दूसरे हाथ में गुरुदेव की पुस्तक थी। उसकी ओर कामना-भरी निगाह से देखा। फौज का सिपाही जिस तरह अपनी विश्वस्त बंदूक से आश्वस्त रहता है, उस समय ठीक मेरी भी वही मनःस्थिति थी—मैं उस पोथी से वैसा ही आश्वस्त था। यदि दुर्भाग्य से वह मेरे हाथ में नहीं होती तो मेरी दुर्दशा का कोई वारापार ही कहां था? जिसकी दुर्दान्त कल्पना-मात्र से मैं एकबारगी कांप-कांप उठा।

सर्र-सर्र भागते स्कूटर में रास्ता कटने की बजाय निरंतर बढ़ रहा था। इच्छा के साथ यदि दूरी का व्यवधान न हो तो अब तक दुनिया की दो बार परिक्रमा हो गई होती।

बंगले के बरामदे में पांव रखते ही मुझे एक ऐसी नादान अनुभूति हुई कि मैं एक ओझरी से निकल कर दूसरी ओझरी में प्रवेश कर रहा हूं। यदि इस कल्पतरु की छांह तले भी मेरी कामना पूरी नहीं हुई तो...। मुंह पर बैठी मक्खी की तरह मैंने उस दुर्भावना को तुरंत झटक दिया। पुलिस विभाग का सुदीर्घ अनुभव भूले थोड़े ही होंगे! जरूरत से ज्यादा सीधे होने पर भी कुछ तो कारगर साबित होंगे। पहली बार पुलिस और उसके प्रभाव की अहमियत समझ में आई कि दुष्ट को सीधा करने के लिए दुष्टता भी जरूरी है। हतप्रभ भारी मन से घण्टी बजायी तो उसके बाद एक-एक क्षण की प्रतीक्षा

मेरे लिए दूभर होने लगी। नृशंस निर्मोही समय आज मुझ पर इतना क्रूर क्यों हो गया? काश! एक क्षण भर के लिए — केवल एक क्षण भर के लिए अलादीन का चिराग मेरे हाथ लग जाता!

'भई वाह—वड़ी लम्बी उम्र है तुम्हारी।'

मुझे एक लम्हे भर के लिए ऐसा भ्रम हुआ, जैसे मैं ही बोल रहा हूं और मैं ही सुन रहा हूं। किन्तु वास्तव में भवानीमलजी बोल रहे थे और मैं सुन रहा था। न कानों पर विश्वास हुआ, न आंखों पर। जैसे यह कोई दूसरा ही स्वप्न हो। चारों ओर का अस्तित्व केवल कान और वाणी में सिमट कर निःशेष हो गया था। 'कैसे पता चला तुम्हें कि मैं तुम्हारी पुस्तक पढ़ रहा हूं और तुम्हें बार-बार याद कर रहा हूं। क्या गजब कहानियां लिखी हैं! सारे प्रान्त को नाज है तुम पर...।'

घाव पर नमक छिड़कने से भी वैसी पीड़ा तो क्या होती होगी, जो अपनी प्रशस्ति सुन कर मुझे उस क्षण हुई। सम्पूर्ण चेतना ही जैसे एक असह्य टीस में बदल गई हो। नमक की झील में चाहे मिश्री गिरे चाहे फूल—सब-कुछ नमक में ही तब्दील हो जाता है। अपनी प्रतिकूल मनःस्थिति के फलस्वरूप मुझे उनकी प्रशंसा भी कण्डक्टर के दुर्व्यवहार-सी ही कड़ुवी लगी। भरसक संयम रखने के बावजूद मेरे मुंह से निकल ही पड़ा, 'भाड़ में गया प्रान्त और प्रान्त का नाज! आपकी रोडवेज के एक अदने कण्डक्टर ने आज मुझे पुरस्कृत कर ही दिया होता। गनीमत है कि हाथ-पांव सलामत बच गये।'

मेरे प्रति अत्यधिक सहृदयता व श्रद्धा के कारण उनकी आंखें और चेहरा, नहीं-नहीं सारा शरीर ही जैसे एकदम बुझ गया हो। किन्तु पूरी बात सुनने के उपरांत अत्यधिक क्रोध से उनकी आंखें अंगारों-सी दहक उठीं। बार-बार मेरे सामने शर्मिदगी जाहिर करते हुए उन्होंने अपने ड्राइवर से ताकीद की कि वह आर. एन. बी. ८४६ के कण्डक्टर को फौरन सिंधी कैंप से यहीं घर पर ले आये। तत्पश्चात् मुझ से कोई बातचीत किये बिना ही दहकती आंखें मूंद कर वे किसी गहरी चिंता में डूबते-से नजर आये, जैसे मेरी उपस्थिति कुछ समय के लिए भूल गये हों।

कमरे की अन्य आकर्षक कला-वस्तुओं को अनदेखा करके मेज पर धरी अपनी ही पुस्तक पर मेरा ध्यान अटक गया। अब तक भूल ही गया कि मैं लेखक हूं। अहमक कण्डक्टर ने कैसे भ्रमजाल में फंसा दिया? कुछ देर के लिए प्रतिशोध को भुला कर अपनी ही कृति के मोह में उलझा एकटक देखता रहा—काली-स्याह पृष्ठ-भूमि पर गहरे लाल स्वस्तिक से खून की टपकती हुई बूंदें—हिटलर की नृशंसता का प्रतीक! जन-जन के मानस में अवस्थित हिटलर के असंख्य-अनेकों स्वरूप—मुझ में, कण्डक्टर में, भवानी-मलजी में और हम सब में। फकत उभरने भर का अनुकूल अवसर मिल जाय—बस। मैं खुद भी तो उसी मौके की तलाश में आया हूं। अपने तई असमर्थ होने के कारण किसी के सहयोग की आशा में। पहल और प्रतिक्रिया के विश्लेषण से इसका औचित्य सिद्ध नहीं हो सकता। अपने ही हाथों प्रस्थापित मान्यता से इस तरह असम्पृक्त क्योंकर रह गया? हिटलर के चरित्र की सर्वज्ञ धारणा के बावजूद मेरा क्रोध शांत नही हुआ। यही तो एक मात्र सच्चाई है। जन-मन में हिटलर के अस्तित्व का प्रमाण है। अपनी हर लिखी बात

की अनुपालना करने लगूं तो पागल न हो जाऊं? अपने द्वारा निर्मित किस-किस चरित्र का अनुकरण करूं? मेरा अपना भी तो स्वतंत्र व्यक्तित्व है। मेरे शरीर में भी अपना खून है, अपना वीर्य, अपनी मज्जा व अपना मल-मूत्र है। कण्डक्टर ने अकारण मुझे जलील किया है तो मैं उसे सकारण दण्डित करूं तो इस में अनुचित क्या है?

थोड़ी देर वाद उन्होंने डरते-डरते आंखें खोलीं, मानो उस समाधिस्थ अवस्था को छोड़ना ही नहीं चाहते हों। मुझे देख कर भी अनदेखा-सा करते धीमी आवाज में बोले, 'मैं खुद हैरान हूं। पिछले एक महीने में तीन-चार शिकायतें आ गयीं, इसकी। बुलाने पर शायद शर्म के मारे कोई-न-कोई वहाना वना लेता है। इस वार भी आये, न आये। आखिर रफीक के वच्चे को यह क्या भूत सवार हो गया?'

'तो मेरा अंदाज गलत नहीं था। मुसलमान है तभी...।'

'अरे नहीं...।' उन्होंने चौंक कर इस तरह मेरी ओर देखा, जैसे विच्छू ने डंक मार दिया हो। वीच में टोकते हुए कहा, 'विल्कुल कट्टर या धर्मांध नहीं है। दो-तीन साल से तो नमाज तक नहीं पढ़ता। अभी कुछ महीने पहले मुझ से उपनिषद् और महाभारत मांग कर ले गया। गीता तो सारी कंठस्थ है। खैर छोड़ो, आता ही होगा।' एक टूटता हुआ विदग्ध निःश्वास। मानो कण्डक्टर के साथ वे स्वयं भी अपराधी हों या रफीक का वच्चा मातहत न होकर उनका अफसर हो। फिर मेरे वहाने शायद अपने को वहलाने की मंशा से कहने लगे, 'मगर आज संयोग हुआ गजव ही! तुमने घण्टी वजायी, उससे पांच मिनट पहले अन्ना करेनिना वाली 'अदीठ' कहानी समाप्त की। भई वाह, क्या नर्स की छवि अंकित की है! विश्वास नहीं करोगे कि सवेरे पांच वजे से पढ़ रहा हूं। इम्तिहानों के दौरान भी इतना नहीं पढ़ा। नहाने जा रहा था कि तुम आ गये। वहुत अच्छा रहा। क्या लोगे, ठण्डा या शिकंजी। चाय तो तुम पीते ही नहीं हो।'

ठण्डे का वोल सुनते ही मुझे और गर्मी चढ़ गयी। 'कुछ भी पिलाइये, मेरे लिए जहर ही होगा। जव तक इस हरामी को माकूल सजा न मिले, आपके यहां सांस तक नहीं लेना चाहता।'

'मगर मैं तो उल्टा एहसानमंद हूं कि उसने तुमसे मुलाकात करवा दी और वह भी किस वढ़िया मौके पर। भई, हमें भी कुछ रास्ता सुझाओ, वेकार ही जिंदगी वर्वाद की। उम्र भर पुलिस की चाकरी और अंत में रोडवेज की चपरासगिरी।'

वाकई मेरे मन में पहली वार वड़ी नौकरी के प्रति महत्वाकांक्षा जगी। रश्क प्रकट करते वोला, 'काश! ऐसी चपरासगिरी मुझे मिल जाती...।'

'तो सत्यानाश हो जाता, सवा सत्यानाश! तुम तो जानते ही हो कि नौकरी लगते ही मेरी कविताएं कैसी छूटीं, जैसे नेतागिरी के साथ ईमानदारी छूट जाती है। अव तो कविताओं का सपना तक नहीं आता। कॉलेज में तुम्हारी और मेरी टक्कर रहती थी। पर अव रिटायरमेंट के वाद हमें तो कोई चूहा तक नहीं पूछेगा और तुम्हें आने वाली पीढ़ियां याद करेंगी।'

'जिसका एक नमूना तो अभी आपने सुना ही है। जिन्दा रहते यह हाल है, तव मरने के वाद न जाने क्या होगा?'

वे जिस दुखती रग से बचना चाहते थे, मैंने फिर वहीं ठेस पहुंचाई। 'यही पहेली तो मेरी समझ में नहीं आती।' मेरी ओर देख कर वे हतप्रभावित लहजे में कहने लगे, जैसे मेरी शिकायत के बाद मन-ही-मन इसी पहेली को सुलझा रहे हों। 'किसी भी जात-बिरादरी, संप्रदाय तथा धर्म-मजहब से उसे बेहद घृणा है। उसने कई बार मेरे सामने अपनी लाचारी पर अफसोस जाहिर किया कि वह मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर व गुरुद्वारों को नेस्तोनाबूत नहीं कर सकता? सच कहूं, उसके प्रति मेरे मन में केवल स्नेह ही नहीं, काफी श्रद्धा थी...'

'आप अपनी श्रद्धा कायम रखिए, मैं चलता हूं। बेकार ही...'

'नहीं नहीं, कतई बेकार नहीं, आज हरगिज नहीं छोड़ूंगा, तुम्हें जलील करके उसने सारे प्रान्त को नीचा दिखाया है। कतई मुंह-देखी बात नहीं करता, विश्वास रखो, आज उसे वो सबक सिखाऊंगा जो उम्र भर याद रहे। मेरे लिए परेशानी की बात यही है कि तुम्हारी तरह रोटी-कपड़ों से कहीं ज्यादा वह पुस्तकों को प्यार करता था। तुमने जो वाकिआ और हुलिया बताया, उसके मिजाज से बिल्कुल मेल नहीं खाता। पर गिरगिट की तरह आदमी को बदलते क्या देर लगती है? पिछले साल से तो अपनी पसंद की बजाय मैं उसकी पसंद की पुस्तकें खरीदने लगा हूं। कोई महीने भर से मेरे घर की ओर मुंह ही नहीं किया, वरना पहले अक्सर निस्संकोच आता था। आदमी की असलियत ज्यादा दिन ढकी नहीं रह सकती! मैं भी कैसा भावुक हो गया था? इस मोहभंग के सदमे को आसानी से...।'

आहट सुन कर उन्होंने दरवाजे की तरफ देखा। ड्राइवर के साथ कण्डक्टर भी अन्दर घुस आया। घबराहट के कारण उन्होंने बात अधूरी ही छोड़ दी। लेकिन कंडक्टर के चेहरे पर घबराहट या भय का लेश-मात्र भी आसार नहीं था। मेरी उपस्थिति से विस्मय भरी दहशत के बदले उसके ललाट पर ठीक वैसी ही शिकन उभर आयी। वह कोई और बदतमीजी न करे इस आशंका से भवानीमलजी ने घुमा-फिरा कर बात न करके सीधा ही पूछा, 'तुमने कितना बड़ा गुनाह किया, जानते हो?'

'मैंने कोई गुनाह नहीं किया, साहब...।'

'क्या कहा—कोई गुनाह नहीं किया?' इस प्रश्न के साथ ही उनका सम्पूर्ण अस्तित्व ही मानो नदारद हो गया। कहीं मेरी आंखों की दृष्टि तो लुप्त नहीं हो गयी? तमाम कमरा जैसे कण्डक्टर की सांवली देह के लिए कम पड़ रहा हो।

शायद भवानीमलजी को ऐसे जवाब की स्वप्न में भी उम्मीद नहीं थी। पर स्वप्न की उम्मीदों से मनुष्य की जिंदगी संचालित नही होती। मेरा तो रहा-सहा विवेक भी तिरोहित हो गया। अपने साथ भवानीमलजी का पानी उतारना था—सो उतर ही जायेगा, इस में कोई संदेह नहीं। जिस व्यक्ति को परिणाम की चिन्ता न हो, वह कुछ भी कर सकता है! मेरा भी आधा-अधूरा खयाल था कि वह शायद ही आये। यदि दुर्भाग्य से आ भी गया तो भवानीमलजी के साथ मुझे देखते ही उसकी सिट्टी-पिट्टी गुम हो जायेगी। हाथ जोड़ कर माफी मांगेगा, गिड़गिड़ायेगा। और मैं उसे माफ कर दूंगा। उसकी सजा से कहीं ज्यादा मुझे तुम्हारी मर्यादा का खयाल था, मृणाल। माफी मांगने से बढ़ कर और

क्या सजा हो सकती है ? यथोचित खुराक मिलने पर मेरे अहंकार का पलीत भी तृप्त हो जायेगा। पर उसका जवाब तो एकदम अप्रत्याशित था, अकल्पनीय था। चारों ओर से वंद सीमित दायरा, चाहे वस का हो, चाहे कमरे का हो, मेरे लिए कतई अनुकूल नहीं है। खुला दिगंत आवद्ध हो गया था, असीम गगन सीमित छत में सिकुड़ गया था, अछोर हवा का प्रवेश नियंत्रित हो गया था—शायद इसीलिए, हां इसीलिए...।

अचिंत्य झटके से उवर कर भवानीमलजी की सामान्य स्थिति होते ही, उन्हें अपने पद व अपनी मर्यादा का वोध हुआ। तिक्त स्वर में पूछा, 'जानते हो, ये कौन हैं ?'

'वस के हर मुसाफिर को जानना मेरे लिए जरूरी नहीं है।'

झटके पर झटका। वहुत संभव है रफीक अपना होश ही खो चुका हो। पर भवानीमल जी पूर्णतया अपने होश में थे। लगभग गर्जना-सी करते चीखे, 'रफीक! तुम्हारी यह मजाल ?'

'आज मेरा दिमाग विल्कुल दुरुस्त नहीं है साहव, माफ करें। कल किसी वक्त हाजिर हो जाऊंगा।'

यह कह कर वह तुरंत वाहर जाने को उद्यत हो गया। साहव का आदेश तक सुनने का उस में धैर्य नहीं था। उसके मुड़ते ही भवानीमलजी हुक्मराना आवाज में कठोरता के साथ वोले, 'ठहरो, वहुत गुस्ताखी हो चुकी।'

'नौकरी से ही तो निकालेंगे।' वह पीठ फिराये ही रूखे स्वर में वोला, 'मैं तैयार हूं।' शायद आगे भी कुछ कहने जा रहा था कि लपक कर मेज की ओर वढ़ा। वाज की फुरती से मेरी किताव झपट कर एक दूसरे ही परिर्वातित लहजे में वड़वड़ाया, 'यह किताव ...यह किताव...?'

वहुत-कुछ वोलना चाहने पर भी वह आगे कुछ नहीं वोल पाया, जैसे जवान वहीं ऐंठ गई हो। लाल स्वस्तिक पर आंखें गड़ाये हैरानी से कुछ क्षण तक देखता रहा। फिर यंत्रचालित पुतले की तरह मेरे पास आकर फुसफुसाया, 'यह किताव आपकी है ?'

मैं 'हां' कहूं उसके पहले ही मानो उसने मेरी हामी सुन ली हो। और दूसरे ही क्षण उसका सारा वजूद ही वदल गया। मुझे भ्रम हुआ कि उसका सांवला रंग दूध-सा सफेद होता जा रहा है; जैसे अपना ही गुमशुदा व्यक्तित्व मेरी हामी के साथ ही उसे अचानक मिल गया हो। आंखों की तमाम रंगत वदल गयी। उस पाशविक देह में यह व्यक्ति अव तक कहां दुवका हुआ था ? मेरे और करीव आकर रुंधे स्वर में वोला, 'खुदा के लिए आप ऐसी धोती न पहनें, कोई मुझ जैसे सिरफिरे ने आपका खून कर दिया तो...?'

मानो सचमुच मेरा खून हो गया हो। उस प्राणघाती कल्पना की वास्तविकता से उसका रोम-रोम सिहर उठा। जिन्दा लाश का अर्थ पहली वार ठीक तरह समझ में आया। वह आमूल-चूल परिवर्तन एक ही क्षण में क्योंकर संभव हुआ ?

सहसा भूले-विसरे साहव का ध्यान आते ही वह उनकी तरफ घूम कर कहने लगा, 'वाकई, वहुत वड़ा गुनाह किया है मैंने, हरगिज माफ न करें।...मगर पहले ठण्डा पानी मंगवाइये, मेरा गला फट रहा है। फट जाये तो आफत मिटे।'

कभी-कभार जिन्दगी सपनों को भी मात कर जाती है, मृणाल ! यदि मैं इस आख्यान

के अंत का चश्मदीद गवाह न होता तो किसी भी कीमत पर ऐसी फूहड़ कल्पना करके, तुम्हें यह पत्र लिखने का दुष्कर्म नहीं करता। तुम्हें लिखते हुए अब भी झिझक हो रही है। और तो और मुझे स्वयं सब-कुछ अविश्वसनीय-सा लग रहा है। यदि किसी दूसरे लेखक की रचना का ऐसा भौंडा अंत पढ़ता तो फाड़ डालता उसे। मगर सच्चाई कागज या कपड़े की तरह फाड़ फेंकने की चीज नहीं है। कहानी लिखता तो उसके कलात्मक अंत की चिंता भी करता।

ठण्डे पानी के एक गिलास से उसकी जलन शांत नहीं हुई तो वह एक के बाद एक तीनों गिलास पानी पी गया। फिर धीरे-से बोला, 'थोड़ा और...।' दुबारा एक गिलास और पानी उंड़ेल कर उसने मेरी ओर देखा। बलिष्ठ देह की सारी ताकत लगा कर भी वह बड़ी मुश्किल से मुस्करा सका। और मुझे उस अकिंचन फीकी मुस्कान से उसके भीतर जलती आग की पूरी जानकारी मिल गई। जो आग बीसियों फायर-ब्रिगेड से भी बुझनी संभव नहीं थी, वह भला चार गिलास ठण्डे पानी से क्योंकर शांत होती? वैसी धधकती मुस्कान मुझे अब तक किसी के होंठों पर नजर नहीं आई।

साहब की ओर उसने आंखें उठा कर देखने की कोशिश की, पर देख नहीं सका। शर्म से आंखें झुका कर कहने लगा, 'अब आपसे क्या छिपाऊं? मैंने जान कर ही यह गुनाह किया। मगर मुझे गलत न समझें। मैं ऐसा जालिम कभी नहीं था। आपसे ज्यादा मुझे और कोई नहीं समझता...कोई नहीं समझता...।'

उसका गला भर आया। आंखें भर आईं। दोनों हाथों से मुंह ढांप कर बोला, 'बुरा न मानें तो जी हलका कर लूं—मेरा अपना घर है...!'

भीतर से उमड़ती रुलाई को रोकने की उसने भरसक कोशिश की, पर रोक नहीं सका। सुबकियों की बढ़ती आवाज से सारा कमरा आर्द्र हो उठा। निस्संदेह रफीक का सर फिर गया है। न तब का गुस्सा ठीक तरह समझ में आया और न इन सुबकियों का प्रसंग ही हम अच्छी तरह समझ सके। मैंने चोर-निगाह से भवानीमलजी की ओर देखा और उन्होंने मेरी तरफ! क्या मेरी आंखों में भी उन्हें वैसी ही लाचारी नजर आयी? एक के बाद एक असहनीय स्थिति बनती जा रही है और कोई समाधान नजर नहीं आता। दुनिया में जो कोई भी अनहोनी घटित होने वाली है, वह मेरे ही प्रसंग में होगी क्या? बाकी दुनिया भी तो बहुत लम्बी-चौड़ी है।

धीरे-धीरे कम होने की बजाय उसकी सुबकियां और तेज होने लगीं। मानो अब बची हुई जिंदगी में रोने के अलावा वह दूसरा कोई काम नहीं करेगा और हम दोनों इसी तरह चुपचाप सारी उम्र उसका रोना अविराम सुनते रहेंगे। सांत्वना का कोई एक शब्द भी हमारी जबान को खोजे नहीं मिल रहा था। इस से तो अच्छा था कि मैं यहां आता ही नहीं। चुपचाप सारा अपमान बर्दाश्त करके सीधा मित्रों के पास तुम्हारा पत्र सुनाने चल पड़ता। मौत की विभीषिका, लोग बारह दिन में काफी-कुछ भूल जाते हैं, फिर मैं अपनी प्रताड़ना कैसे नहीं भूल पाता? समय सब-कुछ भुला देता है—कैसा भी आशातीत सुख और कैसा भी अकल्पनीय दुख।

जब वह रोकर जी हलका करना चाहता है फिर उसे रोकने या समझाने का दुस्साहस

हम कहां से पाते ? सच मृणाल, मैं आशावादी भी वेजोड़ हूं और निराशावादी भी । खाम-खयाली की निराधार कल्पनाएं मौका मिलने पर मेरा पीछा ही नहीं छोड़तीं । मुझे आशंका होने लगी कि कुछ देर तक उसका रोना वंद नहीं हुआ तो कमरे की छत से, दीवारों और गलीचे से सर्वत्र आंसू ही आंसू टपकने लगेंगे और देखते-देखते कमरा आंसुओं से भर जायेगा । कहीं कुछ भी सूखा नहीं बचेगा ।

अब और अधिक चुप रहने की यातना भी उसके लिए नितांत असह्य हो रही थी । भीतर धधकती आग को बाहर उगले बगैर वह पागल हो जाएगा । हथेलियों को और जोर से दवाते हुए कहने लगा, 'क्या कहूं, कैसे कहूं—धोती वाले पुजारियों ने भिवंडी के दंगों में मेरी वीवी और बच्ची का कत्ल कर दिया । अपने अव्वा से मिलने गयी थी वेचारी, और भले आदमियों ने उसे अल्लाह के पास भेज दिया । वताइए, अव किसलिए जिन्दा रहूं...किसलिए...?'

जिस प्रश्न के साथ उसका उत्तर शामिल हो, वह प्रश्न वेइन्तहा मुश्किल होता है, मृणाल । समझ नहीं पड़ा कि रफीक ने प्रश्न किया था या उत्तर दिया था ! फिर भी उसने अपनी चेतना के अनजाने ही उत्तर की आशा में हथेलियां हटा कर हमारी ओर देखा । उसकी आंखें लाल सुर्ख हो गयी थीं । शायद उसने खून के ही आंसू वहाये होंगे ! कितना असह्य था वह प्राणघाती मौन ? पर हम दोनों के लिए तो कुछ भी वोलना संभव नहीं था । तत्पश्चात् जो भी शब्द उसके मुंह से निकले, ज्वालामुखी पर्वत का लावा भी उतना उत्तप्त तो क्या होगा ? 'रवि वावू और शरत् वावू के मुल्क में मेरी वेगुनाह वीवी और वच्ची हलाल हो गयीं, यह कोई यकीन करे जैसी वात है ?'

सच मृणाल, किसी भी खौफनाक सपने पर यकीन किया जा सकता है, पर ऐसी दर्द-नाक सच्चाई पर यकीन नहीं किया जा सकता । प्रकट रूप में वाहर जो दिखता है, सच्चाई उस से कितनी भिन्न होती है, कई बार विपरीत भी । रफीक को समझाने का जिम्मा भी अव तुम्हारा ही है । हमारे वस का यह रोग नहीं । वह नहीं समझेगा तव तक दुनिया की सारी समझी हुई वातें व्यर्थ हैं । तुम्हारे समझाने पर तुरंत समझ जायेगा । तुम्हारे पति, तुम्हारी जेठानी व विन्दु की सास जैसा वह ठूंठ नहीं है । वेइन्तहा सहृदय व संवेदनशील है । केवल तुम्हारा इशारा पाते ही वह बीवी व वच्ची के सदमे को आसानी से भूल सकेगा । हम क्या मुंह लेकर उसे समझाएं ?

मुंह की वजाय, उसकी समूची सांवली देह मानो वाणी में ढल गयी हो । गोद में पड़ी मेरी पुस्तक दोनों हाथों से सहलाते हुए वोला, 'हमारे मौलवी और इमाम भी किसी सूरत में कम नहीं हैं, कुछ ज्यादा ही जहरीले हैं, मगर जहर से जहर कब मिटा है ? गाज गिरे इन मजहवी सरगनों पर, धर्म के शैतानों पर । जव तक इनकी कारस्तानी चलती रहेगी, मां की गोद में कोई भी भाई सुख-चैन से नहीं रह सकेगा !'

सर्वथा निर्दोष होते हुए भी उसे कितनी बड़ी सजा मिल गई मृणाल ? सजा तो मुझे भी कम नहीं मिली। और दोषी मैं भी कहां था ? तुम्हारी दृष्टि में नादान जरूर हूं कि मैं आंच के बिना भी पकना चाहता था। किन्तु जलने और पकने में वड़ा फर्क है मृणाल—वड़ा फर्क है। पकने के निमित्त तो मुझे भी कोई एतराज नहीं। मगर पकने के नाम पर बार-बार

जलने से मैं पूरा उकता गया हूं। अब और जलने की आत्म-यंत्रणा बर्दाश्त नही कर सकता।

रफीक को गले लगाये जैसी बात थी, मगर सत्य की प्रतिष्ठा को तुच्छ करने का अपने भीतर वह साहस नही जुटा पाया। किन्तु रफीक की कशमकश मुझ से बिल्कुल भिन्न थी। नीद के सपने की तरह मुझ से गले लिपट कर हकलाते कहने लगा, 'मुझे...मुझे कोई छूत की बीमारी नहीं है। आपका लिबास देख कर मेरी अक्ल मारी गयी थी। सच, मेरे दिल में रह-रह कर ख्वाहिश जगी थी कि आप से कहूं—मूल बंगला के अलावा रवि बाबू को पढ़ने में वह मजा ही नहीं है। मैंने खुद इसीलिए बंगला सीखी। शरत् बाबू की 'महेश' कहानी पढ़ कर इतना रोया हूं—इतना रोया हूं जितना बीवी के मरने पर भी नही रोया। शुक्र है रवि बाबू की कलम का, वाकई मुझ से बहुत बड़ा गुनाह होते-होते बच गया। वरना मुझ पर तो भूत सवार हो ही गया था! खैर छोड़िए— गाड़ी मे क्या कम जलील किया है, अब रोकर और हैरान नहीं करूंगा।' फिर अकस्मात् न जाने क्या सोच कर एक अबोध बच्चे की तरह आग्रह करने लगा, 'बैंड मास्टर इब्राहिम और रिक्शेवाले नजीर की तरह मुझ पर भी एक कहानी लिखिए—कण्डक्टर रफीक! क्यू लिखेंगे न? बीवी और बच्ची के हादसे का गम कुछ तो कम हो। और वही मेरे लिए माकूल सजा होगी!'

'सजा?' एक ही शब्द में भवानीमलजी के मुंह से बड़ा भारी प्रश्न कौंधा।

'हां सजा!' रफीक के मुंह से उस भारी प्रश्न का निहायत ही छोटा उत्तर था।

मैं बहुत-कुछ बोलना चाहता था, इसी कारण कुछ बोल नही सका। कभी-कभार चुप रहना, बोलने से अधिक सार्थक होता है।

'अरे! अपने ही रोने-धोने में मशगूल, आपसे पूछना ही भूल गया कि उस वक्त आप रवि बाबू की कौन-सी किताब पढ़ रहे थे?'

मैंने उसकी ओर पोथी बढ़ाते कहा, 'चुनी हुई कहानियों का संकलन। उस समय 'पत्नी का पत्र' पढ़ रहा था।'

'ओह! स्त्रीर पत्र।' उसके सांवले होंठों पर विद्युत रेखा चमक उठी। 'रवीन्द्र रचनावलि के तेईसवें खण्ड में है। मेरे लिए तो अब यही कुरान और गीता है। कोई और मेरी नादानी पर यकीन करे न करे, आप जरूर करेंगे कि इस कहानी के बाद मुझ से मांस खाया ही नहीं गया। मुझे तो करीब-करीब मुख-जबानी याद है—श्री चरणकमलेषु, आज पनेरो बछर आमादेर विवाह हयेछे, आज पर्जन्त तोमाके चिठि लिखि नि...।'

आगे की सारी कहानी उसके होंठों की स्मित मुस्कान से व्यक्त हो गयी। केवल मनुष्य ही ऐसी हंसी हंस सकता है! पर उसके होंठों से यह काव्यमयी मुस्कान निरंतर छिनती जा रही है! कौन—कौन है यह हत्यारा??

नहीं, सिवाय तुम्हारे मुझे और कहीं से इस प्रश्न का उत्तर मिलने की आशा नही है। पर केवल पत्र से यह धधकती हुई जिज्ञासा शांत नहीं होगी।

प्रतिक्षण तुमसे मिलने का इच्छुक
केवल तुम्हारा ही
विज्जी

००

किसी को अहसास हो, चाहे न हो; आंख और कान के परे सच्चाई तो अपना खेल खेलती ही है। जानते हुए भी किस मुश्किल से विश्वास होता है कि सूरज के तपतेज की ओट में रात दुबकी रहती है और रात की काली यवनिका के पीछे सूरज।

प्रीत के प्रत्यक्ष आख्यान तो बहुतेरे लिखे गये—न कोई सीमा, न कोई अंत, मगर अजाने अदीठ प्रेम की वार्ता तो संयोग से मेरे ही हाथ लगी। बातपोशी के सिरमौर सुदर्शन ने मोद-उछाह से दूसरी बातें तो मुझे काफी लिखायीं, पर बार-बार उकसाने के बावजूद भी उसने कभी जाने-अनजाने यह अपना गोपनीय संस्मरण नहीं सुनाया। टालम-टोल के बहाने टरका देता। आसानी से पकड़ में आने वाला वह बंदा नहीं। पुख्तातौर पर जानता हूं कि यह किस्सा बांचने पर वह मुझ से काफी नाराज होगा, पर लेखक की कलम किसी का भी लिहाज-संकोच नहीं रखती, इस मर्म को भी वह मुझ से ज्यादा जानता है। कुछ दिन तक रूठा रहे, तो रहे।

तो क्या तिल वाली नर्स के द्वारा मुझे इस भेद का पता लगा?

बेर खाने से मतलब है या बोरटी से?

बोरटी की पड़ताल छोड़िए; कांटे चुभेंगे। उजले निर्मल चित्त से यह कथा बांचिए। मुझे लिखने से जितना आनन्द नहीं मिला, उतना आपको बांचने से मिलेगा। इस में कोई खामी हो तो मैं उलहना मंजूर करने के लिए तैयार हूं, निःशंक उलहना दीजिए। अक्ल तो सुदर्शन में यों ही जरूरत से ज्यादा है, फिर भी अक्ल-दाढ़ की कसक से राम जाने अक्ल बढ़ी या नहीं, मगर दर्द या पीड़ा में कोई कसर नहीं थी। अंतस की तमाम सुध-बुध दाढ़ के इर्दगिर्द इकट्ठी हो गयी। कभी सोता, कभी उठता और कभी विभिन्न पोथियों के पन्ने टटोलता, पर छटपटाते मन के लिए कोई भी उपाय कारगर साबित नहीं हुआ। जस-तस दांत भींच कर सारी रात बहादुरी का इजहार करता रहा, मगर ढलते अंधेरे तक एकदम पस्त हो गया। यदि दांत के बदले दूसरा कैसा भी दर्द होता

तो कुछ भी परवाह नहीं करता, लेकिन दाढ़ की यह कसक तो कैसा भी शूरवीर बर्दाश्त नहीं कर सकता। फिर उसकी तो बिसात ही क्या, वह तो केवल बुद्धिजीवी है, अपने जमाने के चलन का बुद्धिजीवी। फिर भी आइंस्टीन की सापेक्षता इस पीड़ा के माध्यम से इस बार जैसी समझ में आयी, वैसी बार-बार पढ़ने पर भी पल्ले नहीं पड़ी। ऐसा महसूस हुआ कि मानो आइंस्टीन के रूप में उसने स्वयं इस सिद्धान्त की खोज की हो।

अगाढ़ ऊंघ के सहारे चुटकियों में ढलने वाली रात लम्बी-ही-लम्बी पसर गयी, जैसे ढलना बिसर गयी हो। रात के झिलमिल उजास में कई युग के युग उथल गये, पर कल-मुंही रात का अंत नहीं आया। वक्त के सीने में ऐसा सुदृढ़ खूंटा गाड़ने वाला यह गुरु कौन है? प्रतिक्षण चुपचाप उड़ने वाला समय इस तरह पंगु कैसे हो गया? चांद की जगमग चांदनी ऐसी म्लान, कुरूप व घिनौनी होती है क्या? तारे-तारे में मवाद की चमकती कसक झबझब कर रही थी। आज ही अच्छी तरह पता चला कि चिड़ियों की चक-चक, कौवे की कांव-कांव से कम कर्कश नहीं होती। और यह उच्छृंखल सूरज जो बड़ी मुश्किल से एक रात मुंह छिपाये रहता था, सो आज हजार-हजार जुड़वां रातों तक कहां भटक गया? नित्य-कर्मी सूरज की ऐसी अविश्वसनीय प्रतिष्ठा तो नहीं जानी थी! कहीं दक्षिणी ध्रुव वाली लम्बी-लरक छः माही रात इधर तो नहीं फिसल गयी? अक्ल की उधेड़बुन भी उसके सुख से कम नहीं होती। अक्ल दाढ़ के सतर्क करने पर सुदर्शन को कैसी-कैसी अनहोनी बातें उपजने लगीं! समझ नहीं पड़ता कि यह नयी अक्ल का दर्द है या नयी दाढ़ का? दाढ़ के अकिंचन अंकुर से जब ऐसी कसक तिलमिलाती है तब प्रसव की वेदना का तो पार ही क्या? यह औरत ही है जो यह वेदना बर्दाश्त कर लेती है! धन्य है उसकी वज्र-छाती को! फिर भी लिजलिजा मर्द उसे अबला मानता है। यदि औरत के बदले मुछंदर मर्द को प्रसव का सामना करना पड़ता तो नौ महीने की बात तो दर-किनार, नौ बरस ही उसका पीछा नहीं छूटता। यह तो औरत का ही चमत्कार है कि वह नये इंसान को अपनी सुकोमल पंखुड़ियों से जन्म देती है!

काफी देर तक पोथी बांचे बिना सुदर्शन को नींद ही नहीं आती थी। अक्षरों की अन-गिनत सीढ़ी-दर-सीढ़ी उतर कर रिमझिम नींद उसकी आंखों में ऐसा पड़ाव डालती, जैसे साथ छोड़ना ही नहीं चाहती हो। लेकिन आज जिस-किसी पोथी का आसरा झेलता वह अनघड़ पत्थर की तरह लगती। अक्ल दाढ़ की छटपटाहट के मारे न लाओत्से से मन बहला, न कन्फ्यूशस, न वेद, न उपनिषद्, न ज़ेन, न सांख्य, न पंचतंत्र, न कालिदास, न भवभूति, न शेक्सपियर, न गेटे, न होमर, न शिलर, न नीत्शे, न चेखोव, न कबीर, न रवी बाबू, न शरत् बाबू, न ज्वाइग और न कजान-जाकिस से। न दॉस्तोयेव्यस्की से कुछ सहारा मिला, न विक्टर ह्यूगो, न बालजक और न गोर्की से ही कुछ गरज सरी। आस लगा कर एक-एक पोथी से शरण मांगता और परेशान होकर वापस वहीं छिटका देता। नयी दाढ़ की कसक चटकाती अक्ल ने किसी की तिनके जितनी भी परवाह नहीं की। वह तो केवल अपनी ही पीड़ा में खोयी हुई थी। अक्ल के दरियाव सुदर्शन ने खूब मगजमारी की, पर पीड़ा के मारे उसकी कुछ भी दाल नहीं गली। कि सहसा उसकी हारी-थकी नजर फिर अलमारी की पोथियां टटोलती एक कत्थई पोथी पर अटकी। सुनहरी

चित्रकारी के आकर्षण ने उसकी आंखों में उन्माद पैदा किया या अन्ना करेनिना की विशुद्ध प्रीत ने। जैसी अन्ना की अपूर्व छवि वैसा ही इस पोथी का विलक्षण प्रभाव। दो-दो रूप का सम्मिश्रण शायद कुछ करिश्मा कर दिखाए! पितामह तोलस्तोय की विचक्षण दाढ़ी अन्ना के वहाने तुष्ठमान हो जाये तो हो जाये। अन्ना के जादुई प्रभाव की तो वानगी ही न्यारी है! यदि शुरुआत में ही यह उपाय सूझ पड़ता तो सारी रात तकलीफ क्यों उठानी पड़ती? अचानक दाढ़ की पीड़ा को क्षण भर के लिए भुला कर सुदर्शन की आंखों के सामने किट्टी के प्रसव का दृश्य चित्रित हो उठा। कसकती टीस पर मानो किसी अमोघ वूटी ने अचित्य प्रभाव उत्पन्न किया हो। पोथी का पन्ना-पन्ना सुपरिचित था। दूसरे ही प्रयास में प्रसव से पीड़ित किट्टी उसकी चेतना में टसकती महसूस हुई। लेविन की परेशानी का पार नहीं था। कभी किट्टी के करीव आता तो कभी दूर खिसक जाता। दूर रहने पर छटपटाती अर्द्धांगिनी के पास जाने को मन तड़पता। और प्रत्यक्ष सामना होते ही उसका हौसला लड़खड़ा कर दूर खिसक जाता। किट्टी, पति को सान्त्वना देने की खातिर जवरदस्ती मुस्कराती, मगर मुस्कराहट का पहले जैसा तेज ही कहां रहा? चसमस चीस के मारे उसकी चेतना ऐंठने लग जाती। विक्षिप्त लेविन कभी दूर, कभी पास। कभी पास तो कभी दूर। कभी कोई वहाना, कभी कोई मुगालता!

हे ईश्वर! रति के आनन्द का आखिर यह अंजाम हुआ! ऐसा पता होता तो किट्टी की छाया के पास तक नहीं फटकता। आनन्द की उस सर्वोपरि समाधि में यह पीड़ा कहां दवी हुई थी? आनन्द में गलवहियां और विपदा के समय दूर? अपने-आपको ऐसा कृतघ्न तो नहीं समझा था! पर पीड़ा की जकड़ में छटपटाती किट्टी की पुतलियों में दुत्कार के वदले गाढ़ी प्रीत नजर आयी—तुम पुरुष इस पीड़ा के आनन्द को क्या जानो?

डॉक्टर को वुलाने की जल्दवाजी में लेविन मानो पांखों के सहारे दरवाजे तक उड़ता गया हो। पर डॉक्टर तो अभी तक सो रहा था! ऐसी आपद् की वड़ी में हरामी को नींद आयी तो क्योंकर आयी? ऐसी खुदगर्ज दुनिया पर वज्रपात भी तो नहीं होता! आलसी डॉक्टर पर लेविन का गुस्सा भीतर-ही-भीतर उवल रहा था। उसकी ढील का एक-एक पल उसे वरस जितना लम्वा लगा। किट्टी की प्रसव-पीड़ा के अलावा उसके लिए दुनिया में किसी चीज का कोई अस्तित्व नहीं था। वेहद अचरज की वात कि लेविन की परेशानी के फलस्वरूप स्वयं सुदर्शन की खातिर दाढ़ की कसक विस्मृत हो गयी। किट्टी के प्रसव की पीड़ा में अक्ल दाढ़ की टीस गहरी-ही-गहरी उतर गयी। समझ नहीं पड़ता कि वह प्रसव किट्टी को हुआ या तोलस्तोय को या लेविन को। कहीं खुद-व-खुद सुदर्शन ही उस टसकती सेज पर तो नहीं सो गया? लेविन की आंखों के सामने सारी दुनिया धू-धू सुलग रही थी कि अकस्मात् उसके कानों में जच्चा रानी का प्रसव खिलने की भनक सुनायी पड़ी। आखिर चूहे की नाई लाल-लाल वच्चे पर नजर पड़ते ही लेविन के दिल में गुस्सा भड़क उठा—कें-कें करने वाली इस वालिश्त भर की लोथ को उनके आनन्द में खलल डालने का क्या अधिकार था? आखिर क्यों, क्यों उस अनहद आनन्द को इस पीड़ा में तब्दील होना पड़ा। पिता को जवरदस्त झुंझलाहट हुई। पर किट्टी के समझाने से, मुस्कराने से उसकी खीज निथर गयी। किन्तु किट्टी को आराम मिलते ही सुदर्शन के सूजे

हुए मसूड़े में फिर वैसी ही टीस उठने लगी। वह फिर शुरुआत से किट्टी के प्रसव की उपचारी पंक्तियां पढ़ने लगा। किट्टी के प्रसव का जादुई चमत्कार कि वह फिर अपनी पीड़ा को नितांत बिसर गया। लेविन से तो बहुत दिनों बाद उसका ब्याह हुआ था। पहले वह व्रोन्स्की से प्रेम करती थी। वियोग में बड़ी खतरताक बीमारी का भी सामना करना पड़ा। हां, व्रोन्स्की को भी एक बार दांतों की ऐसी ही पीड़ा जगी थी। सुदर्शन ने झटपट पन्ने टटोल कर उन पंक्तियों को पढ़ना शुरू किया। मगर व्रोन्स्की के दांतों की कसक का वह करिश्मा ही कहां था जो वह अपनी पीड़ा को बिसर पाता। वह फिर किट्टी की चसमस चीसों में खो गया। केवल औरत की पीड़ा में ही तमाम दुनिया का दर्द समाहित है। अन्यथा अब तक सब सत्यानाश हो जाता। स्वयं चसमस पीड़ा में दुहरी होकर वह सारे संसार को आनन्द बांटती है। केवल औरत में ही मनुष्य की मां बनने की सामर्थ्य है। बेचारे अक्षम पिता की क्या बिसात? न कुत्ते को जोर पड़ता है और न गधे को। कोरे-मोरे बाप बनने में क्या तकलीफ है? एकदम सीधा और सरल काम! तो ब्याह होने पर सुदर्शन को भी बाप बनना पड़ेगा! अंतस में घिन उपजी। उसे ऐसी नामवरी नहीं करनी। न ब्याह करेगा और न बाप बनेगा। बाप का तो सपना भी बुरा है। हां, अन्ना करेनिना भी तो सेर्योझा की मां बनी थी। औरत थी, इसीलिए मां बन सकी।

उफ्फ! अब कहीं इस अहदी सूरज को उगने का मौका मिला! आखिर चिरसौभाग्यवती रजनी को भी प्रसव हुआ। किट्टी की तरह वह भी अब तक छटपटा रही थी। सांवली रात को सूरज जैसा बेटा नसीब हुआ। गोल-मटोल। तपतेज का पुंज। उजाले का सुनहरा थाल। आया, सूरज भी रजनी की सुकोमल पंखुड़ियों से बाहर आया। सारे संसार में जगमग उजास-ही-उजास। कैसे विचित्र तपतेज का सिरमौर है, यह बालगोपाल। प्रसव की पीड़ा के बिना यह प्रकाश कहां?

हे राम, जब मसूड़े की सूजन में नयी दाढ़ के अकिंचन अंकुर से ऐसी असह्य टीस उठती है तो प्रसव की पीड़ा का कितना क्या दर्द होता होगा? सुदर्शन बार-बार इस अपूर्व बात पर विचार करने लगा।

दर्द सुदर्शन को है, कोई डॉक्टर को तो नहीं। तब वह अस्पताल आने की क्यों जल्दबाजी करेगा? जिसे दर्द हो, वही सहे। चीरा लगने पर शायद दाढ़ के साथ-साथ अक्ल को भी बाहर आने का बहाना मिल जाय। चाहे कितना ही बुरा-भला हो, अस्पताल के आसरे बगैर नहीं चल सकता। मौत आने पर मरना अवश्यंभावी है, उसी प्रकार बीमार होने पर शिक्षित व जागरूक व्यक्तियों के लिए अस्पताल पहुंचना जरूरी है।

तोलस्तोय की पोथी के जोश-जोश में गाल पर चौलड़ा रूमाल दबा कर वह अस्पताल पहुंचा—अन्ना करेनिना को सहलाता हुआ, टटोलता हुआ। बार-बार तोलस्तोय की विलक्षण छवि निहारता हुआ। शायद उसकी चमत्कारी दाढ़ी में पैठने से कसकती पीड़ा को कुछ शांति मिल जाय, कोई अमोलक मोती हाथ लग जाय। प्रसव की पीड़ा को ध्यान में रख कर ही शायद जनाने अस्पताल में इसी मंशा से दांतों की पीड़ा के निमित्त भी एक अलहदा कमरे की गुंजाइश निकालनी पड़ी। एक बार फिर आर-पार नजर गड़ा

कर सुदर्शन तोलस्तोय की दाढ़ी व आधे-अधूरे बालों को निहारने में डूब गया। मनुष्यों की दुनिया पर दाढ़ी वालों का ही समूचा आलम है—डार्विन का, मार्क्स का, फ्रायड, लेनिन, तोलस्तोय और रवी बाबू का। होचीमिन का—छोटी हुई तो क्या, थी तो दाढ़ी ही। फिर जोर से टीस उठी। यदि कई दिन तक यह दर्द नहीं मिटा तो? डॉक्टरों के प्रपंच से भी कोई उपचार नहीं हुआ तो? इस बार यह दर्द मिटने पर वह भी जरूर दाढ़ी रखेगा। आलम का डंका बजे, न बजे, दाढ़ी वाले दिव्य पुरुषों की नकल करने में क्या बुराई है? पर एक बार वह नाग-डसी पीड़ा मिटे तो सही! इस तकलीफदेह पीड़ा को इसी नाजुक जगह पर अपनी हैवानियत का प्रदर्शन करना था! किसी दूसरी जगह कैसा भी दर्द होने से न तो उसकी कुछ परवाह करता और न अस्पताल की ओर मुंह करता। दांत का दर्द बेहद असह्य होता है। इसके सामने सारे दर्द नगण्य हैं। सचमुच, स्वस्थ काया से श्रेष्ठ, अन्य कोई सुख नहीं। सुख का भोग करने वाली काया ही जब छटपटाने लगे, तब सुख का स्वाद क्योंकर चखा जा सकता है? केवल काया निरोगी रहनी चाहिए। दूसरे सुख बरसें तो अच्छी बात, न बरसें तो अच्छी बात। अक्ल दाढ़ की टीस उठते ही स्वस्थ-सानंद काया का महात्म्य कैसा जल्दी समझ में आया! वास्तव में अक्ल को कुछ धार लगी तो है! मगर अक्ल के परिष्कार की खातिर दर्द क्यों जरूरी है? बगैर दर्द अक्ल बढ़ती तो क्या कसर रह जाती? तोलस्तोय तो शायद ही अस्वस्थ हुआ हो। बड़ा जतन रखता था काया का। काया है, तो सब कुछ है। मुर्दा या तो गहरी कब्र में दफन होता है, या चिता में जलता है। पर एक बात निश्चित है कि मुर्दे को किसी तरह की पीड़ा नहीं होती। न अक्ल दाढ़ की और न सर दर्द की। कहीं से भी काटो, छूनो, कैसे ही जलाओ। योग साधने पर शायद पीड़ा का अहसास ही न हो। जीवित काया को यदि पीड़ा का अहसास न हो तो और क्या चाहिए! इस बार इस अक्ल दाढ़ से सलटने पर अवश्य योग सीखेगा।

कमरे के सामने थटाथट भीड़ की आस थी, मगर कहां—एक बच्चा तक नजर नहीं आता। केवल एक अधूबढ़ फरासिन खादी के मैले-कुचैले मसौते से पोचा लगा रही थी। तो क्या सुदर्शन के अलावा किसी के भी दांतों या मसूड़ों में दर्द नहीं हुआ? अच्छा ही है, जल्द ही फारिग हो जायेगा। समय की इफरात के कारण डॉक्टर ध्यान से देखेगा। जल्दी आने का तो कोई मुकाबला ही नहीं। भला, गर्जवान को धीरज कैसे हो सकता है? हां, व्रोन्स्की का प्यार कोख में पूरा पसरते ही अन्ना को प्रसव के समय यह अंदेशा हो गया था कि वह शायद ही बचे। पर दाढ़ की कसक से प्राणों की जोखिम तो क्या होगी? प्रसव की तो पीड़ा ही अनूठी है! बच्चा फंसने पर मौत की मनमानी टलना मुश्किल है। अन्ना करेनिना को भी कैसा भयंकर डर लगा था? प्यार के उन्माद की अपेक्षा मौत का डर बड़ा होता है।

'बाबूजी, पांव थोड़े ऊपर लीजिए।'

सुदर्शन कुछ चौंका। अन्ना की प्रीत वाला प्रसव दूर हटा कर सामने देखा। फरासिन बाल्टी में मसौता निचोड़ते बोली, 'बहुत जल्दी आ गये? दांत का दर्द ऐसा ही होता है! चैन ही नहीं पड़ता।'

सुदर्शन ने पांव ऊंचे लिये तो वह अदेर काम मे मगन हो गयी। मानो पोचा लगाने से बेहतर दूसरा कोई काम नही है। चिपचिपी मैली ठौर पोचा लगने से ही तो चमकती है! किरमची पोथी की सुनहरी चित्रकारी से नजर मिलते ही सुदर्शन को ध्यान बंधा कि गीले मसौते से फर्श पर पोचा लगता है तो ज्ञान की पोथियो से अक्ल पर पोचा लगता है। क्या अन्ना की तरह इस फरासिन ने पति के अलावा किसी और से प्रेम नही किया? जरूर किया होगा। दुनिया की तमाम औरतो के पवित्र अतस मे अन्ना छिपी रहती है। पति तो केवल घर का संरक्षक है। संतान का अधिकारी है। वंश का परिचालक है। मगर घर-परिवार से स्वतंत्र अन्य प्रीत के अलावा औरत के रूप-यौवन का वर्चस्व ही क्या है? उफ्फ—दाढ़ की टीस के मारे सोचने का सारा क्रम ही टूट जाता है। दांत भीच कर फरासिन से पूछा, 'डॉक्टर साहब कब आयेगे?'

'डॉक्टर साहब?' वह मुस्करा कर कहने लगी, 'इतनी जल्दी डॉक्टर साहब कहा? वे तो समय पर ही आयेगे—आठ बजे। तब तक पोथी से मन बहलाइए। अभी तो सात हा नही बजे।'

सुदर्शन ने चाबी के खिलौने की तरह हाथ उठा कर घड़ी देखी—सात बजने मे चार मिनट बाकी थे।

'क्यों, बिलकुल ठीक बताया मैने?'

'हां, वाकई अभी तो सात ही नही बजे।' सुदर्शन के बोलने का लहजा कुछ ऐसा था मानो उसे घडी की अपेक्षा फरासिन की बात पर ज्यादा एतबार हो।

'बाबूजी, घडियो के भरोसे समय का पता नही चलता।' बाल्टी के गाढ़े पानी मे मसौता डाल कर दोनो हाथ सामने करती कहने लगी, 'मेरे तो हाथ ही घड़ी की सुइयां है। काम करने के साथ-साथ ही एक-एक पल का पता चलता है। ये घडियों के पिजरे तो निठल्ले लोगो का मन-बहलाव है! हम मजूर तो समय के साथ कदम मिला कर चलते है। क्या समझे? मेरी सीख मानो तो पोथियो के कचरे मे ज्ञान टटोलना बेकार है। जितना ही गदा काम करोगे, उतना ही ज्ञान फलेगा। काम से छूत रखने पर कपडे तो जरूर सफेद झक्क रहते है, मगर अक्ल दिन-ब-दिन मैली होने लगती है। क्या समझे?'

सुदर्शन को पहली मर्तबा सफेद पैंट की खातिर शर्म महसूस हुई, जैसे उसके द्वारा जाने-अनजाने बड़ा दुष्कर्म हो गया हो। झेंप मिटाने के लिए धीरे-से बोला, 'इतनी जल्दी नही आता तो ऐसी अमोलक सीख कब मिलती?'

'अमोलक सीख!' फरासिन खिल-खिल हसते बोली, 'ऐसी बाते तो मेरे भडार मे भरपूर भरी है। आप सुनते-सुनते थक जायेगे। भगवान ने मुह मे जीभ दी है तो लिक-लिक करने के लिए थोड़े ही दी? क्या समझे?'

पोचे के सर्वोत्तम काम की तुलना मे उसे अपनी बकवास भद्दी लगी तो वह तुरत होठ सीकर पोचा लगाने मे रुंध गयी। न हसी, न मुस्करायी और न सुदर्शन की तरफ वापस मुह फिरा कर देखा। सुदर्शन उसकी पीठ बांचता रहा और वह अत्यधिक उत्साह से अपना काम सलटा कर पास के कमरे मे घुस गयी।

सूजे हुए मसूड़े पर जीभ का परस भी नही सुहाया। सर मे सन्नाटा कोंध गया।

जोधपुर जैसे बड़े शहर में अब तक दांतों का अस्पताल भी अलग से नहीं बना ! कैसी विकट जरूरत है ? आंख, कान और गले से भी ज्यादा ! दांतों के प्रताप से ही तो काया में उजाला है। जिस दिन किसी बड़े नेता के दांतों में टीस उठेगी, उसी दिन अलग अस्पताल की नींव लग जायेगी। ईश्वर करे बड़े-बड़े नेताओं के रोज एक्सीडेन्ट हों, रोज नयी-नयी बीमारियां हों—अपने-आप चौड़ी सड़कें बन जायेंगी। उम्दा अस्पताल खुल जायेंगे। चार लाख आदमियों के मुंह में कम-से-कम साढ़े-तीन लाख बत्तीसी है। कोई-न-कोई दांत तो दुखता ही होगा। पर फिलहाल तो इस जनाने अस्पताल में केवल एक कमरे से ही काम चल रहा है। डॉक्टर हीरानन्द अडवानी दोनों अस्पताल संभालते हैं। ग्यारह बजे तक उम्मेद अस्पताल और एक बजे तक गांधी अस्पताल। केवल अस्पताल का नाम बदलने मात्र से जनता का दुख-दर्द नहीं मिटेगा। ये नेतागण अपने दांतों से खाना चबाते हैं या अक्ल चबाते हैं ? वास्तव में अक्ल की कमी तो इन लोगों में है। प्रति वर्ष नयी अक्ल दाढ़ आनी चाहिए। केवल एक सूने कोने में काली तख्ती पर लिखने से किसकी क्या गर्ज पूरी होगी ? कितने प्रतिशत लोग पढ़ना जानते हैं ? फिर कैसे पता चले कि किस अस्पताल कितने बजे पहुंचना है ?...चक्कर लगाने से कुछ-न-कुछ कसरत तो होगी ही। जूतों की बिक्री बढ़ेगी ! अनुभव की पूंजी जुड़ेगी ! इस देश में समय की तिनके जितनी भी कद्र नहीं है। जब खुलेआम मनुष्य की हत्या कुत्ते से भी बदतर समझी जाती हो, तब ये तुच्छ दांत हैं किस गिनती में ? बत्तीस की जगह इकतीस, तीस या पच्चीस ही सही। नाक, आंख और कान की तरह एक-दो होते तो कुछ कद्र भी होती। दांत निकालने पर या दांत भींचने से किसी को कुछ खतरा महसूस नहीं होगा और खतरे बगैर कौन किसकी परवाह करता है ?

शायद अन्ना की आत्म-हत्या की त्रासदी से अक्ल दाढ़ का दर्द कुछ विस्मृत हो जाय ! जब तोलस्तोय जैसे दिव्य महापुरुष के अंतस में भी अन्ना की हत्या करते समय दया-माया उत्पन्न नहीं हुई, तब इन म्लेच्छ नेताओं से आस रखना ही बेकार है ! पर अन्ना करेनिना की मृत्यु को कोई हत्यारा ही हत्या माने तो माने। अन्यथा वह हत्या तो लाख-लाख जन्म और युगानुयुग जीवन से कहीं ज्यादा श्रेष्ठ है। अन्ना करेनिना की सृष्टि के दौरान उस विश्वपितामह के विशाल अंतस में असह्य वेदना की ज्वाल उठी होगी, और उस ज्वाल को शांत करने का उपाय था—अन्ना करेनिना की अपूर्व सृष्टि। अन्ना के बहाने तोलस्तोय के हाथों उस समय समूची दुनिया के दुख, संताप और क्लेश का सफाया हो गया होगा। पति से विमुख होकर व्रोन्स्की से प्रेम करने वाली महामाया अन्ना तो जैसे तोलस्तोय की काया से ही अवतरी हो ! विश्वपितामह की कोख से जन्म लेते ही वह जोध-जवान और चिर-सुंदर हो गयी। समय की अनुकंपा के भरोसे अन्ना का रूप-यौवन नहीं था। न वह काल की गोद में जन्मी और न काल के फंदे से उसकी देह छूटी। अन्ना तो ब्रह्मा के समान तोलस्तोय की देह से फूटी थी। और धर्मराज की तरह रेल की पटरी पर अपने ही हाथों अपना गला चिगद डाला—मानो मौत, जीवन से ज्यादा जरूरी हो ! सुदर्शन को ऐसा महसूस हुआ कि अन्ना के अंतकाल की वेला दुनिया की समस्त करुणा, ममता और स्नेह तोलस्तोय के अंतर्मन में घूमर ले रहे होंगे। समूचे

संसार से हिंसा, क्रूरता और हैवानियत का नामोनिशान उठ गया होगा। हिंसा पर अहिंसा की वह पहली और अंतिम जीत थी। रेल की पटरी पर अन्ना के रूप-यौवन और उसकी प्रीत का गला रौंदने वाले हाथों में तीन लोक के वात्सल्य का सन्निवेश हो गया होगा। रोम-रोम में करुणा का संचार हो गया होगा। प्रत्यक्ष जन्म लिये बिना ही अन्ना तोलस्तोय के अक्षरों में अमर हो गयी। मनुष्यों की दुनिया में क्षण-क्षण छटपटाती आत्मा उस हत्या के बहाने सदा के लिए मुक्त हो गयी। तोलस्तोय की लाडेसर बेटी अन्ना तमाम हतभागी औरतों की चिरसंतप्त आत्मा थी। आत्महत्या के बहाने इस गलीज दुनिया का परित्याग करने के अलावा उसकी मुक्ति का कोई दूसरा उपाय नहीं था।

'यह औरतों की बैंच है...।'

सुदर्शन ने गर्दन उठा कर ऊपर देखा—सफेद-बुर्राक वेश में ठसी हुई एक नर्स सामने खड़ी है। गोरी-निछोर। बाएं गाल पर काला तिल। काफी बड़ा। गुलाबी रंग की छवि दूनी निखर आई। हड़बड़ा कर उठ बैठा। नर्स से चार अंगुल लम्बा। पहली मर्तबा उसे अपने कद का इतना मोद हुआ! नर्स की चंचल दृष्टि, कत्थई पोथी की स्वर्णिम चित्रकारी में गड़ी हुई। खुशी के स्वर में होंठ मुलमुलाते बोली, 'अन्ना करेनिना! वाह, कैसा बढ़िया संस्करण है? अन्ना की अनिंद्य छवि के अनुरूप।'

छवि तो नर्स की भी कम सुन्दर नहीं थी। जैसा निर्मल वेश, वैसा ही सुहाना स्वर। सुदर्शन की विचित्र आंखों में नर्स का स्वर भी उजला प्रतीत हुआ। मंझला कद। समूची देह मानो गुलाब की आभा के सांचे में ढली हो। भौंरों को तो सचमुच ही नर्स के बालों का रंग फला है। भौंहें भी घनी व काली भमंक। हिरणी-सी लम्बी सांवली आंखें, ज्योति की खातिर नहीं, बल्कि दूसरों के लिए देखने के निमित्त बनी हों। पतले होंठ। चमकती सुघड़ बत्तीसी। गुलाबी, नहीं नही तर-गुलाबी मसूड़े। इन दांतों में तो शायद ही किसी तरह की पीड़ा हुई हो! गर्दन पतली और काफी लम्बी। घुंघराले बालों पर कलफ लगा सफेद मुकुट। मानो अलंघ्य उड़ान भरती बगुली, अन्ना करेनिना की छवि निहारने की उमंग में अवतरित हुई हो।

तोलस्तोय की पोथी के बहाने, पोथी बांचने वाले का हुलिया परखना भी जरूरी था। पतली छरहरी काठी, पोथियों के अक्षरों से काफी सुंती हुई। रंग न गोरा और न सांवला। बाल अत्यधिक गहर-घुमेर और घने। काफी घुंघराले। सर बड़ा व गोल-मटोल। तीखी नाक, जैसे बुद्धि ने सर की बजाय नाक का आवास कबूल किया हो। हलके फीरोजी रंग का कुरता। बांहें चढ़ी हुईं। सफेद पैंट। कुरता पैंट से बाहर। पांवों में गोरक्षक नीले जूते।

'अन्ना के बिछोह की खातिर माफी चाहती हूं। औरतों की बैंच छोड़ कर किसी दूसरी बैंच पर बैठिए और उससे चाहे जितनी प्रीत करिए, मेरी मनाही नही है।'

सुदर्शन को वाकई पुख्ता तौर पर पता नही चला कि उस समय नर्स दांतों के सहारे हंसी थी या तिल के सहारे।

'अनजाने भूल हो गयी, माफ कीजिएगा।'

'अनजानी भूल के लिए माफी मांगने की जरूरत नही, पर जान कर भूल की है तो

माफी मुश्किल से ही मिलेगी।'

नर्स का स्वभाव ही ऐसा था कि सुदर्शन के लिए खास रिआयत वरती, वात ठीक तरह समझ में नहीं आयी। वह तो इस तरह निःशंक वातें करने लगी, जैसे वरसों पुरानी पहचान हो।

'एक वात पूछूं—अपने-आपको अलेक्सेई करेनिन की एवजी में समझ रहे हो या काउंट व्रोन्स्की की जगह।' और विना पूछे ही उसके हाथ से पोथी लेकर इधर-उधर पन्ने टटोलने लगी।

शायद तोलस्तोय की पोथी के उछाह में ऐसी अद्भुत आत्मीयता दरसा रही है। ऐसी नर्सों के महात्म्य से ही अस्पताल की मर्यादा है। आधी वीमारी तो उनकी सुहानी वोली सुन कर ही ठीक हो जाती है। नर्स के निःशंक सवाल का वापस वैसा ही निःशंक जवाव दिया। 'अभी तो शादी ही कहां हुई, इसलिए व्रोन्स्की वनने के अलावा दूसरा कोई चारा नहीं।'

'मगर अन्ना की प्रीत के उन्माद में, रेलगाड़ी के चक्कर मारे तो कट-मरने की जोखम काफी है। पूरी सावचेती रखना।'

'सावचेती रखने पर, अन्ना की प्रीत कहां? जोखम तो उठानी ही पड़ेगी।'

'वाप रे...!' अचरज और झुंझलाहट के स्वर में वोली, 'सारी पोथी का सत्यानाश कर डाला। मार लकीरें-ही-लकीरें। निशान-ही-निशान। लाल, पीले, हरे और न जाने क्या-क्या? तोलस्तोय के छूटे हुए मर्म को पूरा करने की मंशा है क्या?'

नर्स ने पोथी वापस सामने की तो उसे लेनी ही पड़ी। 'यह मुगालता मुझे सपने में भी नहीं है। अपनी औकात अच्छी तरह पहचानता हूं। वुड्ढे के तो नाखून की भी होड़ नहीं कर सकता। मुझे ऐसा पागल समझा है क्या?'

'पागलपन की क्या वात? सर तो तोलस्तोय से भी वड़ा है।'

'कोरी-मोरी खोपड़ी से क्या होता है, अन्दर वैसी अक्ल भी तो चाहिए।'

'हां, अक्ल की वात दुरुस्त है। न मोल मिलती है, न उधार।' मुस्कराहट के साथ यह सुन्दर मंत्र सुना कर नर्स कमरे में घुस गयी। सुदर्शन को एक क्षण भर के लिए ऐसा लगा कि जैसे वह स्वयं अपने-आप ही से अदीठ हो गया हो। मगर नर्स के अदीठ होने पर भी उसकी मुस्कराहट लोप कहां हुई? क्या देह से सर्वथा अलग थी वह मुस्कराहट?

खड़े रहने की शक्ति थोड़ी डगमगाने लगी तो वह दूसरी वेंच पर वैठ गया। अभी तक कोई नया मरीज नहीं आया था। या तो दांतों में अक्सर दर्द होता ही नहीं या लोग-वाग उनकी खास परवाह नहीं करते। तव सुदर्शन के लिए ही यह कैसा दुर्योग घटित हुआ? दुर्योग? दुर्योग क्योंकर? यदि अक्ल दाढ़ की यह कसक नहीं उठती तो इस सुहानी नर्स से सपने में भी मुलाकात कव होती? इस अस्पताल में वह पहला मरीज तो है नहीं? कई आते हैं—अनगिनत। ज्यादा खूवसूरत। अच्छी हैसियत वाले। फिर उस में ऐसी क्या खासियत है? अलवत्ता अन्ना करेनिना वाली खासियत निराली है। या तो यहां सत्य-कथा, माया, सारिका, धर्मयुग या गुलशन नंदा—ज्यादा ही हुआ तो भगवान रजनीश की तलछट! और यों नर्सों के स्वभाव ही इस सांचे में ढले होते हैं। मरीजों के साथ सद्-

व्यवहार करती हैं। हंसती-मुस्कराती हैं। निःशंक बातचीत करती हैं। मगर यह नर्स झुंड से एकदम अलग है। श्रेष्ठतम लेखकों की पोथियां पढ़ने का इसे अत्यधिक उछाह है। अन्ना करेनिना तो जैसे मुख-जबानी याद हो। अन्ना के समय क्या नर्सों का ऐसा ही सफेद वेश था? अन्ना को भी शायद तिल वाली ऐसी दो-तीन नर्सों से काम पड़ा होगा! प्रसव काल की आपद् घड़ी के दौरान! व्रोन्स्की ने अपने हाथ से अपनी देह पर पिस्तौल चलाई तब। नर्स के गुलाबी गाल पर यह तिल नहीं होता तो यह कैसी लगती? इस पीड़ा के वरदानस्वरूप चार-पांच दफा यहां आना पड़ा तो अच्छा-खासा सम्पर्क हो जायेगा। नित्य नयी चुनिंदा पोथी लायेगा। ना ना, यह नर्स अत्यंत बुद्धिमान है। अंदरूनी नीयत का उसे अविलम्ब पता चल जायेगा। फिर ऐसे दुराव की जरूरत ही क्या है? भला इससे अधिक मांगलिक पोथी और क्या हो सकती है? इसके प्रताप से ही इतनी देर तक बातचीत हुई। अन्ना तो अन्ना ही है। तोलस्तोय के हाथों सृष्टि हो गयी सो हो गयी!

नर्स के औचित्य सुझाव की मर्यादा रखने की खातिर वह फिर पोथी बांचने में तल्लीन हो गया। रेल में व्रोन्स्की की मां के साथ अन्ना मास्को आयी। मां की मुलाकात के शुभ-संयोग, प्लेट-फार्म पर ही अन्ना और व्रोन्स्की का प्रथम मिलन हुआ। चार आंखों की बिजली कौंधते ही एक-दूसरे की छवि अंतस में उतर गयी। तोलस्तोय के धैर्य व संयम का कोई पार था भला? छासठ पन्नों तक अन्ना के नाम की भनक तक नहीं पड़ने दी। शायद स्वयं तोलस्तोय को इस बात का कोई अहसास ही नही था कि नशे में धुत चौकीदार का रेल से एक्सीडेण्ट, अन्ना की आत्महत्या का निमित्त बनेगा। सुदर्शन पन्ने टटोलने लगा। सात सौ नन्नानवें पृष्ठ तक पहुंचते-पहुंचते रेल के चक्के को उसने अपना जीवन अर्पित कर दिया। तोलस्तोय की चेतना के परे ही यह काण्ड घटित हुआ और लेखक ने अपनी नजरों से जो देखा उसे चित्रित कर डाला, जैसे संपूर्ण दृश्य का वह मौन साक्षी हो। तत्कालीन समय का समूचा रूस अन्ना करेनिना के अक्षरों में मीनाकशी की तरह हमेशा के लिए जड़ गया। मुश्किल से चिट्टू अंगुली का पौर टिके जितनी नयी दाढ़ की पीड़ा है, पर सारे शरीर में बेचैनी फैल गयी; उसी तरह अन्ना की प्रीत के आलोड़न में सारे रूस की घुटन साकार हो उठी। मानो अन्ना करेनिना रूस की विराट काया का मात्र एक मसूड़ा हो। अलग होते हुए भी अविच्छिन्न और अविच्छिन्न होते हुए भी अलग। सचमुच, यह नयी दाढ़ तो निःसंदेह अक्ल की ही है। अन्यथा सुदर्शन को पहले ऐसी सूक्ष्म बातें सूझती ही कब थी? जन्म की पीड़ा तो होती ही है, चाहे प्रसव की हो, चाहे अक्ल दाढ़ की। पीड़ा सहे बग़ैर सन्तान के जन्म का आनन्द नही लिया जा सकता।

पहली मुलाकात में प्रीत का योग तो सधे उसी से सधता है। व्रोन्स्की के पहले अन्ना कितने महानुभावों से मिली होगी और व्रोन्स्की ने भी न जाने कितनी सुन्दर महिलाओं से भेंट की होगी। किट्टी के साथ स्केटिंग करते समय स्वच्छंद क्रीड़ाएं तो काफी हुईं, किन्तु प्रेम तो अन्ना के साथ ही हुआ। देखें समय की बगिया से नर्स की मुलाकात कैसे फूल खिलाती है? कैसी, क्या युक्ति करने पर अगले समय की लीला पहले दिख जाय? धीरे-धीरे खिसकता समय बमचकरी की तरह तीव्र गति से घूमे तो सब-कुछ पता चल जाय। मगर समय के आरपार देखने के लिए मनुष्य, आंखें होते हुए भी निपट अंधा है। समय

की बेड़ी के साथ मनुष्य की दृष्टि आवद्ध है। दाढ़ की यह असह्य पीड़ा जरूर निःशेष होगी, पर आज उसकी सान्त्वना से आश्वस्त नहीं हुआ जा सकता। यह तो समय के अधीन, शान्ति मिलेगी तभी मिलेगी। इसी तरह नर्स की यह विचित्र मुलाकात, कल, परसों या तरसों, समय के साथ किस ढलान उतरेगी, जिसका आज सुराग नहीं लग सकता। लेकिन एक बात असंदिग्ध रूप से सही है कि इस से अधिक सुन्दर लड़कियों से मिलने पर भी उसके अंतस में ऐसी हलचल कभी नहीं हुई। नर्स का भेद नर्स जाने। दाढ़ की पीड़ा का यह परिणाम तो नहीं जाना था। अन्ना की प्रीत के जादुई प्रभाव से वह भी क्योंकर अछूती रह सकती है? काला तिल, दांतों की मुस्कान और यह सुन्दर छवि जिस तरह स्पष्ट दिखती है, उसी तरह उसके अंतस की निविड़ छवि क्यों नहीं दिखती? ऐसी अद्भुत दीठ के लिए मनुष्य पूर्णतया वंचित है। राम जाने इस अभाव की कब पूर्ति होगी? सुदर्शन या नर्स की मृत्यु के बाद पूर्ति हो तो वह किस काम की? पर अन्ना करे-निना के पाठ का ऐसा महात्म्य तो नहीं सोचा था? जितना अधिक पाठ करेगा, उतना ही ज्यादा कल्याण होगा। वह ठेठ प्रारम्भ से इस पवित्र पोथी को बांचने लगा—हेप्पी फेमिलीज आर ऑल एलाइक; एवरी अनहेप्पी फेमिली इज अनहेप्पी इन इट्स ऑन वे।

इतनी देर बाद बरामदे में काफी भीड़ इकट्ठी हो गयी थी। उसके पास भी उसी बैंच पर आजू-बाजू दो-दो आदमी जम गये थे। औरतों वाली बैंच भी आधी भर गयी थी। पोथी से नजर हटा कर उसने सब के चेहरों का सरसरी तौर पर निरीक्षण किया। नाक की शिकन और दांतों के कसाव से साफ-साफ पता चल रहा था कि टीस की असह्य पीड़ा सब के प्राण सोख रही है। इस शिक्षाप्रद नजारे से सुदर्शन के मन में दाढ़ के अलावा एक-दूसरी अचित्य पीड़ा कसक उठी कि यह नर्स केवल दांत-दाढ़ का दर्द ही पहचानती है या इसे अंतस की दूसरी पीड़ाओं का भी कुछ ज्ञान है?

आज तो बिल्कुल आठ बजे ही आड बजेंगे। अभी तो पांच मिनट की देर है। यदि पांच मिनट पहले आठ बज जायें तो कौन-सा प्रलय मच जायेगा? मनुष्य की जरूरत के अनुसार ही समय को उद्दाम वेग से दौड़ना चाहिए। सर पर वज्रपात हो तब भी आलसी समय की वही धीमी चाल और ब्याह की अपूर्व रात भी वही आदिम और अंतिम चाल। समय के आगे मनुष्य के प्रपंच की कोई गति नहीं है।

सुदर्शन ने फिर अन्ना करेनिना के अक्षरों में दृष्टि गड़ा दी। अन्ना की भावज डौली ने नौ बरस के सुदृढ़ व घनिष्ठ गृहस्थ-जीवन के बावजूद अपने पति को बच्चों की फ्रांसीसी अभिभाविका के साथ रंगरेलियां करते देखा तो उसकी समूची देह, समूचा मन कसैला हो गया। गृहस्थ के किस अदीठ सुख की खातिर उसने अपने रूप-यौवन की बलि दी? किस-लिए अपनी कंचन-काया को धूल में मिलाया? छली स्वभाव के इस गृह स्वामी का मुंह देखना भी पाप है। फिर क्या उपाय करे? क्या निस्तार खोजे? इस घर के आंगन में तो अब सांस लेना भी कठिन है।

'सुनिए, अपना नंबर तो ले लीजिए।'

अन्ना की भावज डौली को उसकी छटपटाहट के बीच छोड़ कर सुदर्शन ने लोह की जाली के बीच खड़ी नर्स की तरफ देखा और जिज्ञासा भरे स्वर में पूछा, 'हें—नंबर?'

'हां-हां, नंबर !' इस बार काले तिल की बजाय वह दांतों के सहारे ही मुस्कराई थी।

'मगर किसलिए ?'

'ओह ! यह भी पता नही ?' अत्यधिक आश्चर्य के साथ नंबर देने के लिए उसने हाथ सामने किया, तभी अविलम्ब तीन उतावले हाथ नर्स के सामने फैल गये। सुदर्शन उसी तरह अन्ना करेनिना को थामे गुमसुम बैठा रहा। धवल उफान मे आप्लावित नर्स की छाती की ओर हाथ पसारते उसे कुछ संकोच हुआ। उसके मुह की ओर देख कर एक बार तो नर्स उन याचक हाथों मे नंबर थमाने के लिए दुविधा मे पड़ गयी। फिर भी दो नंबर तो उन उतावले हाथो मे देने के लिए उसे बाध्य होना ही पड़ा। फिर तीसरा नबर सुदर्शन के सामने करती मानो काले तिल की अलौकिक वाणी मे बोली हो, 'अन्ना की प्रीत से यहा काम नही चलेगा, यह नंबर लीजिए।'

सुदर्शन के संकोची दुविधाजनक हाथ ने तब भी अन्ना करेनिना नही छोड़ी तो अंगुलिया नचाता एक और हाथ फिर उसके सामने आ गया। नर्स चिढते हुए बोली, 'ठहरो, भिखारी की तरह हाथ फैलाते शर्म नही आती ? ये सबसे पहले आये है। मुझ से भी पहले, सात बजे !'

उतावले हाथ वाले बन्दे की जीभ भी उतावली थी। बोला, 'ये तो रात से ही यहां डेरा-डण्डा जमाये पड़े है, इस से क्या होता है ? सामने फैले हाथ मे नबर देने पड़ेगे। नर्सों को पक्षपात करना शोभा नही देता।'

नर्स दुत्कार भरी दृष्टि से उसकी ओर देख कर आगे बढ़ी और अन्ना करेनिना की पोथी पर नंबर वाला टिकला धर दिया। तत्पश्चात् पांच-सात नबर तुरत-फुरत इस तरह बांटे जैसे भीख बांट रही हो।

टिकले पर अंक बांचते ही सुदर्शन को पता चल गया कि उसका तीसरा नबर है। मगर समझाने वाले मौका मिलते ही अपने स्वभाव को दरसाये बिना नही मानते। समझाने का स्वाद पिण्ड-खजूर से कम मीठा नही होता। तब पास बैठा सिंधी यह मुफ्त का स्वर्ण अवसर कब चूकने वाला था ! पहुचे हुए ज्ञानी के गभीर स्वर मे समझाने लगा, 'अपनी बारी के अनुसार ही अंदर जाने के लिए नबर का कायदा है। बाकी कही नही, इसी दांतों वाले कमरे का यह ढर्रा है। दो साल पहले एक उजड्ड मरीज ने बेहद तकरार की तो डॉक्टर अडवानी को परेशान होकर यह कायदा चलाना पड़ा। नबर मिलने के बाद सुख-शांति ! जो देर से आये उसका देर मे इलाज, जो जल्दी आये उसका जल्द इलाज। यही तो होना चाहिए। नही तो नंबर के बिना कितना झंझट होता है ? मनुष्य के लिए गुर्राना क्या अच्छी बात है ?'

अन्दर बैठी नर्स ने नये मरीजो का तकाजा सुना तो उसने बाहर आकर फिर नबर बांट दिये। ध्यानमग्न होकर सिंधी की बात सुनने वाले युवक की ओर देख कर तनिक व्यंग से कहा, 'व्रोन्स्की की तरह, अन्ना से मन फट गया लगता है ?'

सुदर्शन झेंप मिटाने की नीयत से सफाई देते बोला, 'नहीं-नहीं, नयी दाढ़ की पीड़ा के मारे अभी तो किट्टी की स्केटिंग मे खोया था।'

'ओह, व्रोन्स्की की जगह लेविन वनने के लिए मन ललचा रहा है? गुलाव का फूल तो जो चाहे वही तोड़ लेता है। मगर आकाश का चांद किसी के भी हाथ नहीं लगता।'

यह चुनौती उछाल कर नर्स मुंह मस्कोरती हुई लोह की जाली के पीछे अदृश्य हो गयी, जैसे धरती का चांद काले पर्दे की ओट में छिप गया हो।

नम्वर हाथ लगते ही तीन-चार सिंधी औरतें आश्वस्त होकर औरतों की वैंच पर वैठ गयीं। नर्स के आने से पहले सुदर्शन जिस जगह वैठा था, उसी जगह दस वर्ष की एक वाला दांतों की पीड़ा के मारे छटपटा रही थी। रोने से वच्चे की सुन्दरता वढ़ती है, जवान की घटती है—चाहे औरत हो, चाहे पुरुष। उसकी मां आंसू पोंछ कर गाल सहलाती, सान्त्वना देने की खूव कोशिश करती मगर वेटी के हठीले आंसू विल्कुल नहीं थमे। मां की ममता से दांतों की पीड़ा कहीं ज्यादा थी। वच्चे के उन्मुक्त आंसू किसी का अंकुश नहीं मानते। मां से वेटी की शक्ल कितनी मिलती थी? दोनों का स्वभाव भी मिलता-जुलता होगा? यदि मां के दांतों में पीड़ा होती तो क्या वह भी इस कदर रोती? आंसू वहाती? आंखों के अमोलक मोती या तो वेटी की कसूमल फ्रॉक में अटक जाते या नीचे फर्श पर विखर जाते। सामने देखने की हिम्मत नहीं होती। केवल छः-सात वरस की देर है, रोने वाली यही वच्ची किसी से प्रेम करेगी। मुस्करायेगी। हंसेगी। शादी होने पर प्रसव की पीड़ा से कराहेगी। इसी तरह छटपटायेगी।

'डॉक्टर सा'व आ गये। डॉक्टर सा'व आ गये।' पूरे वरामदे में फुसफुसाहट व्याप्त हो गयी। सुदर्शन ने घड़ी देखी—डॉक्टर साहव के आये वगैर आठ क्योंकर वजते? घड़ी की सुइयां तो जैसे उन्हीं की प्रतीक्षा कर रही हों? पर डॉक्टर साहव तो नीची गर्दन किये अपनी तेज चाल में आते दिखे तव तक कमरे में ओझल हो गये। प्रतीक्षा का उफान नीचे वैठ गया। किन्तु रोती वच्ची के आंसू नहीं थमे। वह और अधिक छटपटाने लगी। डॉक्टर का डर भी पीड़ा से कम नहीं होता।

डॉक्टर साहव का भीतर घुसना हुआ और दूसरे ही क्षण नर्स आधा किवाड़ उघाड़ कर वोली, 'नम्वर एक और नंवर दो।'

दो आदमी हड़वड़ा कर तुरंत खड़े हुए, मानो विजली का झटका लगा हो। नर्स के सामने खड़े होकर अन्दर जाने के लिए इस तरह आतुरता प्रकट करने लगे, जैसे अपने ही हाथों स्वयं अपना इलाज करेंगे। नर्स ने आधी पलकें उठा कर तीन नंवर की तरफ देखा, मानो पश्चात्ताप की निगाह से स्वीकार करती हो—जानती हूं, तुम सवसे पहले आये। मगर उतावले हाथों ने मेरा कुछ भी वश कहां चलने दिया? वेमन से दो नंवर थमाने पड़े। पर अब देर ही क्या है? तीसरा नंवर तुम्हारा। वस, आवाज देने के लिए अभी वापस आयी।

वेचारे कान तो वोलने पर सुनते हैं, मगर मन तो वाणी के परे सुनता है, वोलता है!

सामने खड़े मरीजों की झुंझलाहट वुरी लगी तो उस से दरवाजे पर खड़ा नहीं रहा गया। पीछे-के-पीछे दोनों मरीज झटपट अन्दर घुस गये।

सिंधी लड़की का रोना और छटपटाना उसी तरह जारी था।

सुदर्शन के हाथ में अन्ना करेनिना थमी हुई थी। दोनों की मर्यादा निबाहने के लिए

दुहरी जिम्मेवारी। पोथियों के ज्ञान की थोड़ी-बहुत प्रतिष्ठा तो होती ही है। गीता, बाइबिल और कुरान की दुहाई देने वालों की अपनी अंतर्प्रकृति वे ही जानें, पर सुदर्शन के अपने मानस की तो पहचान ही अलग थी। अन्ना के पवित्र प्रेम और तोलस्तोय की कलम के साथ-साथ उसे अपने-आपकी मर्यादा भी तो बचानी थी। उपाय सूझने के साथ ही पुचकारती मां के पास जाकर पूछा, 'आपका नंबर क्या है ?'

'तेरह।' टिकले की ओर देखे बिना ही मां ने जवाब दिया। नम्बरों का काम पुख्ता है।

'बच्ची को काफी तकलीफ है।' सुदर्शन अटकता-अटकता कहने लगा, 'देर से बारी आयेगी। मेरा नंबर ले लीजिए, जल्द इलाज हो जायेगा।'

'ना-ना, ऐसी कोई खास तकलीफ नहीं है।' मां ऊपरी मन से कमजोर स्वर में इंकार करती बोली, 'आपको भी तो जल्दी होगी ?'

'नहीं, मुझे कोई जल्दी नहीं है। बच्ची का रोना नहीं सहा जाता।'

सच्ची मनुहार से उसने हाथ बढ़ाया तो मां ने अपना टिकला उसे सौंप दिया। मुस्कराहट की मौन वाणी में उसका यथायोग्य आभार माना।

नंबरों की अदला-बदली समझने योग्य अभी बच्ची की उम्र नहीं हुई थी। उम्र होने पर कई विचित्र बातें अपने-आप ही सीख जायेगी। फिर भी इस नये लेन-देन की वजह से उसका रोना बन्द हो गया। फ्रॉक से आंसू पोंछ कर युवक के हाथ में थमी पोथी की ओर टुकुर-टुकुर देख कर पूछा, 'पोथी में तस्वीरें हैं क्या ?'

हामी का मीठा उत्तर सुनते ही वह मां की गोद छोड़ कर उसके पास खड़ी हो गयी। सुदर्शन ने सब से पहले उसे तोलस्तोय की तस्वीर बतायी।

'आ...हा, यह तो दाढ़ी वाला बाबा है !' फदाफद नाचती, मां के सामने मुंह करके बोली, 'कितनी लम्बी दाढ़ी है, मां देख तो ?'

बेटी के इस नये मन-बहलाव से मां को सचमुच बड़ी खुशी हुई। आधी ढलने पर रोने लगी थी, सो अब कहीं जाकर चुप हुई। तो क्या अब तक झूठा बहाना कर रही थी ?

'इस बाबा ने ही यह मोटी पोथी लिखी है।' सुदर्शन ने तोलस्तोय की दाढ़ी पर अंगुली फिराते कहा।

'इस बाबा ने ?' अचरज से आंखें फाड़ कर बोली, 'यह पोथी तो अंग्रेजी में है ! दाढ़ी वाले बाबा में इतनी समझ होती है क्या ? मेरे भाई के तो अभी मूंछें ही नहीं आयीं, दनादन अंग्रेजी बोलता है, पढ़ता है।'

दरवाजे के पास पांच-सात मरीजों की उतावली देख नर्स ने आधा दरवाजा खोल कर अंदर से ही नंबर बांट दिये। नम्रतापूर्वक बोली, 'यहां खड़े मत रहिए, बैठ जाइए।'

'यह बाबा मामूली हस्ती नहीं है...।'

'सांईं बाबा जैसी ?' मां ने बीच ही में शंका प्रकट की।

सुदर्शन के सर पर जैसे लट्ठ लगा हो। मुंह बिदका कर बोला, 'अरे नहीं, बेचारा सांईं बाबा इसके सामने मरे कि जीए। इसने तो बीसियों मोटी-मोटी पोथियां लिखी हैं, एक-एक से बढ़ कर।' मां की ओर से मुंह फिरा कर उसने बच्ची से कहा, 'यह बाबा की बहू...।'

'हें—ऐसे बूढ़े बाबा की ऐसी जवान बहू ? यह तो बेटी लगती है ?'

सुदर्शन को बरबस हंसी आ गयी। कसकती दाढ़ में और अधिक टीस उठी। तुरंत हंसी रोक कर कहने लगा, 'ठेठ से ऐसा थोड़ा ही था बाबा ! जवानी के दौरान बहू से ज्यादा खूबसूरत और जवान था। दाढ़ी-मूंछ तो बहुत बाद में आयीं।' तत्काल ही सुदर्शन को महसूस हुआ कि वह काफी अतिरंजना कर रहा है। पर बच्चों का सत्य बड़ों से मेल नहीं खाता।

दांतों का दर्द भूल कर कई मरीज जबरन हंसे। बेटी को हंसती देख कर मां भी हंसी। जैसे डॉक्टर का इलाज होने के पूर्व ही उसका उपचार हो गया हो।

'नंबर तीन और चार।' तीन पर कुछ अधिक जोर था।

मां का एक कान तो कब से उधर ही लगा हुआ था। झटपट खड़ी हुई। बेटी की बांह पकड़ उसे खींचने लगी। चार नंबर वाला युवक ठुड्डी दबाता हुआ दरवाजे पर खड़ा हो गया।

'मां, मैं तो तस्वीरें देखूंगी।' बेटी ने बिसुरते स्वर में हठ किया, 'तू भीतर चली जा, मैं सारी तस्वीरें देख कर आऊंगी।'

'दांत तेरा दुख रहा है कि मेरा ?' आधी मुस्कराहट और आधी खीज के भाव से मुंह बिदका कर मां बेटी को कमरे की तरफ तगतगाने लगी। और बेटी पोथी वाले युवक की ओर देख कर जोर से चिल्लायी, 'बा...बा...!'

नर्स का ध्यान कहीं और अटका हुआ था। उत्खनित निगाह से पोथी वाले युवक की ओर देख कर तीखे स्वर में बोली, 'नंबर तीन, सुना नहीं ?'

लेकिन वह तो फिर भी सुनी-अनसुनी करके उसी तरह बैंच पर बैठा रहा। नर्स की आंखों के सामने टिकले पर अंकित तीन की संख्या बता कर मां तो निश्चित हो गयी, मगर नर्स के कलेजे पर जैसे टिकले का डाम लगा हो। अचरज और खीज दरसाते पूछा, 'हें... यह नंबर तुम्हें कैसे मिला ? मैंने तो...।'

नंबर का जोर नर्स के जोर से भारी था। नर्स देखती रही और वह चार नंबर के साथ बेटी का हाथ पकड़ कर कमरे में घुस गयी। नर्स किसी से भी क्या पूछताछ करती ? होंठों पर उछलते कई सवाल वापस गले के भीतर फिसल गये।

मां ने नर्स का ललाट तना हुआ देखा तो उसे खुश करने के लिए, जो बात घटित हुई, उसे अधूरे मन से पूरी बता दी। नर्स ने आधी बात सुनी और आधी बिना सुने ही समझ ली। मां चुप हुई तब नर्स ने धीरे-से पूछा, 'तुम्हें क्या नंबर मिला था ?'

'तेरह।' नर्स की रंगत पहचान कर मां फिर सफाई देते कहने लगी, 'मैंने तो खूब मना किया। पर वह माना ही नहीं। बेटी के आंसू देख कर उसने जबरन अपना टिकला मुझे थमा दिया।'

'तो इस में अफसोस की बात क्या है ? जल्दी ही इलाज हो जायेगा। नहीं माना तो न सही। अपनी करनी आप भुगतेगा।'

मां को जवाब तो बढ़िया ही सूझा था, पर राम जाने क्या सोच कर बोलते-बोलते रुक गयी।

जोर-जोर से चिल्लाती वेटी का रोना वाहर साफ सुनायी दे रहा था। साथ-ही-साथ मां का चिढ़ना और डॉक्टर का पुचकारना भी। वाहर वरामदे मे नंबरों का लगातार तकाजा भीतर सुनायी पड़ा तो नर्स के कहने पर मटिया वर्दी के फर्राश ने पूरी मुट्ठी भर कर दनादन नंवर बांट दिये। चाहे धूल ही बांटो, मगर बांटने का गुमान अपनी अहमियत प्रकट किये बिना नही रहता। फर्राश के चेहरे पर ऐसा हर्ष छलक रहा था कि जैसे टिकलों के वहाने मोहरों की वख्शिश कर रहा हो। और याचक हाथों ने दूने उत्साह से टिकले क्या कवूल किये, मानो अमूल्य हीरे-मोती हाथ लगे हों।

सुदर्शन के कानों मे वच्ची का जोर से चीत्कार सुनायी पड़ा। डॉक्टर का इलाज शुरू हो गया लगता है! वह आंखे तरेर कर बंद कमरे की तरफ देखने लगा। नादान वच्चे तो दवा और इलाज के नाम से ही विदकते है। इनके लिए तो अस्पताल ही अलग होना चाहिए। तरह-तरह के झूले। पंछी-जानवरों की फुलवाड़ी। तरह-तरह के खिलौने। संत-स्वभाव वाले नामी डॉक्टर। निर्लोभी। निर्मल...।

मां का हाथ पकड़ कर रोती वच्ची वाहर आयी तो सुदर्शन की कल्पना का गुवार ही जकड़ गया। लेकिन वच्ची की नजर पोथी पर पडी तो वह सुबकियां भरती जोर से वोली, 'मां, वा...वा!'

होंठ खुलते ही इकट्ठा हुआ थूक फ्रॉक पर ढलकने लगा। मां ने रूमाल से उसका मुंह पोंछा। फ्रॉक की वहती लार पोंछी। वच्ची तो मौका मिलते ही हठ करती वोली, 'मा वावा की वहू...।'

वच्ची मां का हाथ खीचती हुई उसे सुदर्शन के पास लायी। तस्वीरें देखने के उछाह मे दांत का दर्द विस्मृत हो गया।

कमरे के वाहर इस वार नर्स के वदले फर्राश की भारी आवाज सुनायी दी, 'नंवर पांच और नंबर छः।' कोयल और कौए की वोली मे इतना भेद होता है क्या? सुदर्शन को काफी आश्चर्य हुआ।

तत्पश्चात् हर वार फर्राश आवाज देता रहा और अतिरेक उतावली में मचलते दो-दो नंवर कमरे में दाखिल होते रहे। मरीज दांत भीचते हुए भीतर जाते और होंठ भीचते हुए वाहर आते। किसी के गाल पर हाथ दिया हुआ तो किसी के मुह पर रूमाल धरा हुआ। नाक पर सलवटे। ललाट पर सलवटे। सारी दुनिया के लिए उनकी झुझलाहट का कोई पार नही था। दांतों की वत्तीसी मे किसी भी तरह का कोई दर्द न हो, तभी मनुष्य जीवन की सार्थकता है।

वरामदे में प्रतीक्षारत मरीजो की केवल एक ही आकाक्षा थी—कव लोह की जाली का पट खुले और कव फर्राश की आवाज सुनायी दे।

इस वार कोयल की वोली का अमृत वरसा, 'नंवर तेरह और चौदह।' नर्स ने जान कर ही पीठ फिराये आवाज दी। दो दूसरे ही उतावले मरीज सामने आये। एक वार फिर कुछ जोर से आवाज दी तो तेरह नंवर वाले अधवूढ़ मनुष्य ने नर्स की आखो के सामने टिकले का प्रमाण वताते कहा, 'पोथी वाले एक भले आदमी ने वेटी को रोते देखा तो अपना नंवर मुझे सौप दिया। दुनिया में नेक इंसानों की कमी थोड़े ही है!'

अब कहीं बाप के कंधे का सहारा लिये बेटी नर्स को दिखलायी पड़ी। इतनी बड़ी होकर भी बुरी तरह सुबकियां भर रही थी। कोई नेक इंसान भलाई करे तो वह मना करने वाली कौन होती है ? मगर भले आदमी को लड़कियों के अलावा दूसरे मरीजों की भलाई क्यों नहीं सूझती ? अपनी-अपनी समझ और अपनी-अपनी सूझ ! लेकिन अस्पताल के अनुशासन में बंधी नर्स की समझ और सूझ कुछ भी काम नहीं आयी. उसे तो अपना फर्ज निवाहना था। रजिस्टर में दोनों मरीजों का ब्योरा लिखा। लड़की का नाम था—मोहिनी। उम्र अट्ठारह साल। दूसरे मरीज का नाम था—खेमचंद। उम्र बयालीस।

मोहिनी, केवल नाम-मात्र की ही मोहिनी थी। चेहरे में कोई खास दम नहीं था। सुबकियां भरती और भी भद्दी लग रही थी। रोने से दर्द तो कम होने से रहा ! उलटा जवानी का खम बिखरने लगता है। खाली पर्ची पर आड़ी-टेढ़ी लकीरों का जाल बुनती नर्स होंठों-ही-होंठों में बड़बड़ायी, 'अपनी मर्जी से नंबर बदले तो मैं क्या करूं ?'

'क्या कहा ?' मोहिनी के बाप ने तिल में आंखें गड़ा कर अचरज से पूछा।

'ओह...मैं पूछ रही थी कि तुम्हें...तुम्हें क्या नंबर मिला ?'

'बाईस।'

'बाईस।'

'हां, बाईस। मना करते-करते भी जबरन थमा दिया। आदमी तो भला ही दिखता है। मगर आज-कल के पढ़े-लिखे छैलों की मंशा तो भगवान भी नहीं जानते। बहनजी, जमाना ऐसा बुरा है कि अपनी छाया तक का भरोसा नहीं करना चाहिए। सब समझता हूं, मगर बेटी की सुबकियों के आगे झुकना पड़ा। मुझे तो सफेद-सफेद सब दूध ही नजर आता है, फिर उसका करम-धरम वो जाने।'

फर्राश को किसी दूसरे काम में रुंधा देख, डॉक्टर लडवानी ने नर्स से कहा, 'माचिस।'

अच्छी तरह सुनने के बावजूद भी न जाने क्यों नर्स को कुछ खयाल नहीं रहा ? माचिस के बदले रुई सामने करती धीरे-से बोली, 'लीजिए।'

डॉक्टर ने बाएं पैर से मशीन का खटका दबाया। खर्र-खर्र की आवाज करती मशीन चालू हुई। काम करते-करते ही उन्होंने सर हिला कर कहा, 'रुई नहीं, माचिस !'

नर्स भीतर-ही-भीतर इस कदर फड़फड़ायी मानो चोरी करते रंगे हाथों पकड़ी गयी हो। घबराहट को नियंत्रित करके तुरंत डॉक्टर के सधे हाथ में माचिस थमाई। नर्स को अपने-आप से ऐसा डर कभी नहीं लगा, जैसे पहली बार नया परिचय हुआ हो। बड़ी मुश्किल से पहचान सकी।

कुछ देर बाद वह अपनी चेतना के परे ही नव-साक्षर की भांति मन-ही-मन जोड़-बाकी करने लगी। तेरह में नौ जुड़ें तो बाईस। बाईस में से तेरह गये—पीछे बचे—नौ, नौ। तो नौ मरीज और बाकी हैं। आज राम जाने क्यों डॉक्टर साहब इतना वक्त लगा रहे हैं ? डेढ़ा। दूना। भला, मोहिनी की खातिर तीन दफा मशीन चलाने की क्या जरूरत थी ? बेचारे खेमचंद की रोनी सूरत पर देरी की झुंझलाहट साफ नजर आ रही है। अपने-आप से परेशान होकर घड़ी देखी—पौने-नौ बजने वाले हैं। पैंतालीस मिनट

में तेरह मरीज सलटे तो नौ जनों में पच्चीस मिनट या आधा घण्टा लगेगा। शायद कुछ अधिक समय ही लगे। ऐसा सीधा-सरल हिसाब उसने कभी नहीं किया। आज बच्चे की तरह जोड़-बाकी के झंझट में कैसी फंसी ? ज्यों-ज्यों इस हिसाब से बचने की कोशिश करती, त्यों-त्यों उसके जाल में अधिक फंसती गयी। समय की बचत के लिए सहसा एक उपाय सूझा। डॉक्टर के पास जाकर विनम्रता से बोली, 'इनका ट्रीटमेंट मैं शुरू कर दूं ?'

काफी समय से उनके पास काम करती नर्स पर उन्हें पूरा भरोसा था, मगर आज स्वयं आगे बढ़ कर इतनी दिलचस्पी क्यों दिखायी ? डॉक्टर की स्वीकृति के साथ ही वह मुस्कराती बोली, 'खेमचंदजी, आप इस कुर्सी पर आइये।'

मरीज के दिल में कुछ आशंका नजर आयी तो डॉक्टर ने कहा, 'आप कतई चिंता न करें, मुझ से ज्यादा होशियार है। केवल डॉक्टरी का ठप्पा ही नहीं लगा।'

मरीज का मन बड़ी मुश्किल से आश्वस्त होता है। तुरंत दूसरा बहाना नहीं सूझा तो उसे विवश होकर कुरसी पर बैठना पड़ा।

डरिए नहीं, दांत नहीं उखाड़ूंगी। नया दांत पैदा करना हाथ मे नहीं है तो आसानी से निकालना क्यों...?' खेमचंद के कानों में मिश्री के मिठास जैसा स्वाद उतरा। घड़ी-दो घड़ी यह बोली सुनने मात्र से ही दांत का दर्द ठीक हो जाता। कर्कशा घरवाली ऐसी गले पड़ी कि आठों पहर बात-बेबात गुर्राती रहती है। इस कारण शरीर के रोम-रोम में बीमारी फैल गयी।

अंगुलियां—कैसी नरम-नरम और गुलाबी। मखमल की तरह। नर्स की तेज-तर्रार दृष्टि पुरुषों का अंतस बांचने के लिए काफी पारंगत थी। जवान हो चाहे बूढ़ा, अमीर या गरीब, शिक्षित या गंवार, बदसूरत या खूबसूरत, परिचित या अपरिचित—सभी एक ही थैली के चट्टे-बट्टे है। ओजरी सहित समूचा शरीर ही जैसे गंदगी से आविष्टित हो। बदबू तो आयेगी ही ! मगर यह तो रोजमर्रा की रामायण है। कब तक कोई परेशान हो। जान कर अनजान बनना ही इसका एक-मात्र उपचार है।

तो—मोहिनी और खेमचंद का नाम याद हुआ, उसी तरह रजिस्टर में ब्योरा टीपने से उसका नाम भी याद हो जायेगा। उम्र तो बराबर ही मालूम पड़ती है; एक बरस बेशी या एक बरस कम। पूछने पर सही पता लग जायेगा। किसी की उम्र पूछने की जिज्ञासा के निमित्त नर्स के मन में पहली मर्त्तबा संकोच का बुदबुदा उठा। ज्यादा संकोच भी किस काम का ? जैसे अपने ही सामने अपने मन को पक्का कर लेना चाहती हो...हां-हां, उसका इलाज वह स्वयं अपने हाथों से करेगी। डॉक्टर साहब से कई बार गफलत हुई है। मगर नर्स को डॉक्टर की गलती पकड़ने का अधिकार नहीं है।

डॉक्टर का इशारा मिलते ही उतावले फर्राश ने जाली का पट उघाड़ कर हांक लगायी, 'नम्बर पंद्रह और सोलह।'

दूसरे ही क्षण दो मरीज फाटक से अन्दर आये। कितनी जल्दबाजी है ? धीरज तो इन भले आदमियों के पास होकर ही नहीं फटका। और एक वो हजरत—अन्ना की प्रीत में बौराया हुआ ! नम्बर पर नम्बर बदल रहा है। शायद अब तो सुध-बुध ठिकाने आयी

होगी। पीड़ा से परेशान होकर कितना जल्दी आया? फरासिन से भी पहले—सूरज की अगवानी करता हुआ। रात भर करवटें वदली होंगी। तव दातारी का यह गुमान क्या भाव पड़ेगा? अपने साथ भी किसी को इस तरह अन्याय करने का क्या अधिकार है? परोपकार की भावना में सच्चाई का पुट अधिक होता है या नामवरी का उछाह? लेकिन उसने तो अपनी जैसी-तैसी समझ के दौरान भलाई की ऐसी वानगी नहीं देखी। ऐसी अकिंचन व नगण्य वात किसे नजर आती है? अपनी जलन के आगे दूसरों के दावानल की किसें आंच लगती है?

'नम्वर दीजिए, नम्बर।' वरामदे में अधीर मरीजों का तकाजा भिनभिना रहा था। नर्स के कानों में जैसे वर्रों का छत्ता छिड़ गया हो। नाक व ललाट में खीज की सलवटें तान कर उसने क्षण भर के लिए जाली के कपाट की ओर देखा और फर्राश को मुस्करा कर संकेत किया। उसने लपक कर पूरी मुट्ठी भरी और वीड़ी का आखिरी कश खींचता हुआ कमरे से वाहर निकल गया। उसके लिए कुछ भी नयी या अनहोनी वात नहीं थी। सांस लेती मशीन के लिए न तो कुछ पुराना होता है और न कुछ नया ही। हर वार भीतर के दो मरीजों का उपचार होते ही वह वेझिझक वाहर जाकर अगले दो नम्वरों की हांक लगा देता। जैसे सर्कस का प्रशिक्षित बंदर अपने करतव दिखा रहा हो। खटका दवाते ही मशीन चालू हो जाती। और मशीन के साथ ही डॉक्टर के हाथ, पांव और आंखें काम में मुस्तैद! मनुष्य के प्रपंच की यह कैसी विडम्वना कि वह मशीनों को मनुष्य की गद्दी सौंपना चाहता है और मनुष्य को यन्त्र के सांचे में ढालना चाहता है। मशीन के सांचे में ढलने वाली नर्स के पुरजों में आज पहली वार झनझनाहट मची। वरस वीत गये, अपने-आपकी सार-संभाल किये! और आज पड़ताल की तो अंतस की अप्रत्याशित वर्बादी देख कर उसका दिल दहल उठा। यंत्र के समान काम करने वाले मनुष्य-जीवन की रंचमात्र भी सार्थकता नहीं है।

एक-एक मरीज के फारिग होने पर नर्स के दिल से मानो कोई असह्य वोझ उतर रहा हो। हर वार वह डॉक्टर से पहले अपने मरीज को सलटा देती। उन्नीस नम्बर के फारिग होते ही उसे अपना स्वप्न साकार होता नजर आया। अपनी आंखों से प्रत्यक्ष देखेगी, नाम पूछेगी, उपचार करेगी। मगर इस वार वाहर जाकर हांक लगाने में उसे संकोच हुआ तो उसने फर्राश को सहमते स्वर में आदेश कर दिया।

'नम्वर इक्कीस और वाईस।'

दो के वदले मानो हजार-हजार आंखों से वह दरवाजे की तरफ देखने लगी। पर ये तो दोनों ही मरीज दूसरे हैं। आंखें न होतीं तो अच्छा था। पूरा-का-पूरा कमरा किसी विस्फोट के धमाके से उछल गया हो। ट्यूब-लाइटें विखर कर चकनाचूर हो जायेंगी। मशीनों के टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे। सब-कुछ उछल गया। ध्वस्त हो गया। डॉक्टर की ओर से मुंह फिरा कर उसने जोर से आंखें वंद कर लीं। कुछ देर वाद डरते-डरते आंखें खोलीं तो कमरा ऊपर-नीचे, दाएं-वाएं चारों तरफ घूम रहा था। वड़ी मुश्किल से सामान्य मनःस्थिति हुई। अपने-आप से लड़ना वहुत मुश्किल है।

'सिस्टर?'

नर्स ने मुड़ कर देखा। अमोलक सिंघवी के होंठों पर मुस्कान छलकती नजर आयी तो उसे भी जबरदस्ती मुस्कराना पड़ा। बेइन्तहा सुन्दर। छः फुट लम्बा। मोतिया रंग। फीरोजी आंखें। नर्स हड़बड़ी में उठ कर पास आयी तो वह और ज्यादा लम्बा महसूस हुआ। अमोलक सिंघवी ने विनम्रतापूर्वक पूछा, 'तो फिर शाम को कायलाने चलना या यहीं हॉस्टल में गोठ रखनी। मेरे खयाल से तो कायलाना ही ठीक रहेगा।'

'आप जानें। मगर अमोलक बाबू, मुझे इस जिम्मेवारी से छुटकारा दीजिए। मैं अपनी ही जिम्मेवारी ओढ़ लूं तो काफी है। सब से पूछ-ताछ करके हैरानी हो गयी। कोई कुछ कहती है, कोई कुछ अड़ंगा लगाती है। दो बजे हॉस्टल में आकर आप खुद रूबरू दरियाफ्त कर लें। अच्छा हुआ कि आप ऐन वक्त पर आ गये, वरना मैं फोन करने वाली थी।'

'आप वहीं मिलेंगी ?'

'और कहां ? दूसरी ठौर ही कौन-सी है ? कबूतर को कुआं और नर्स को हॉस्टल !'

चार वर्ष पहले नगर-सेठ हीराचंद सिंघवी ने नर्सों के लिए एक शानदार हॉस्टल बनवाया। दिल का दौरा तो भयंकर ही था, मगर नर्सों की लाजवाब तीमारदारी के फलस्वरूप वे देवलोक जाते-जाते बच गये। बच्चों के प्रबल भाग्य से उन्हें फिर मृत्युलोक का निवास कबूल करना पड़ा; अन्यथा उन्होंने तो अंतिम रूप से कूच करने की तैयारी कर ली थी। सानन्द और पूर्ण रूप से स्वस्थ होकर हवेली पहुंचे तो सब से पहले प्रिंसिपल को फोन किया कि नर्सों की सेवा-बंदगी के प्रतिदान-स्वरूप वे यथाशक्ति हॉस्टल बनवाना चाहते हैं। यथाशक्ति भरपूर थी, इसलिए कुछ ही महीनों में हॉस्टल धड़ल्ले से संपूर्ण हो गया। छठे महीने तो गाजे-बाजे के साथ प्रतिष्ठा भी हो गई। चार साल से अधिक समय गुजर चुका, लेकिन उस रात के खाने का स्वाद लोग आज भी भूले नहीं हैं। तब से सेठजी का सर भी वापस नहीं दुखा। जैसा दातार बाप, वैसा ही सपूत बेटा। हर साल पिताश्री की वर्ष-गांठ के मांगलिक अवसर पर सभी नर्सों को गोठ देता है। इस बार कायलाने गोठ देने की इच्छा हुई। लेकिन नर्सों के जितने माथे, उतने ही मत। अभी सिस्टर के पास अंतिम निर्णय की जानकारी प्राप्त करने के लिए आया। कहने के लिए पिता के पुनर्जीवन का माकूल बहाना तो है ही, मगर नर्सों की संगति से बेटे को अनहद खुशी भी प्राप्त हो जाय तो नुकसान क्या है ? इस सिस्टर को तो ब्याह के लिए भी तीन बार पूछा, मगर वह किसी भी तरह राजी नहीं हुई। फिर भी अमोलक सिंघवी के दिल में कोई दरार नहीं पड़ी। दूरी का आकर्षण भी कुछ कम नहीं होता। दो-एक डॉक्टरों ने भी सांवले तिल से प्रेरित होकर अपने मन का अगम भेद उजागर किया पर उसके रूखे मरुथल में किसी के लिए कोई भेद नहीं था, तब क्या उजागर करती ? उसकी अस्वीकृति में भी वैसी ही मुस्कान घुली रहती। उसी पाषाण-हृदय में आज यह कैसा सुकोमल अंकुर प्रस्फुटित हुआ ? अब तक वह सहेलियों की समझ पर हंसती थी। उनका मखौल उड़ाती थी। अब वे तानाकशी करेंगी। इतने बरस अपने ही भीतर का सर्वांग उससे क्योंकर अगोचर रहा ? बाहर की छाया तो स्पष्ट दिखलायी पड़ती है, पर भीतर की छाया तो आज पहली बार दृष्टिगोचर हुई, जिसने अंतस का सब-कुछ आच्छादित कर रक्खा है। पता नहीं अपने-आप से हारी

या जीती ? कहीं सात-समंदर पार अन्ना की आत्मा तो उसकी रग-रग में नहीं बस गयी ? कुछ ही देर पहले फीरोजी कुरते वाले युवक से किस तरह निःशंक बातचीत की थी, पर अब तो जाली के बाहर झांकने की शक्ति ही पस्त हो गयी। पुरुषों से मिलने में कैसी झिझक ? कैसा संकोच ? वह सब से अधिक निडर थी, उन्मुक्त थी। जिस मर्म से अब तक कोई वास्ता नहीं पड़ा, उसी ने उसके रोम-रोम को जकड़ लिया। कहां तो वह अब तक एक चिड़िया की तरह निर्विकार चहकती थी और कहां एक अपरिचित मरीज की झांकी के लिए जाली के पट की ओर देखना भी दूभर हो गया ? मानो रक्त के बदले रग-रग में स्वयं लज्जा ही प्रवाहित होने लगी हो।

बाईस नम्बर के प्रमाण-स्वरूप, प्रीतम की उस छवि के बदले, एक बूढ़े बिश्नोई का उपचार करते समय मानो नर्स के मन में साही दुबक गयी हो—'सफेद पैंट, फीरोजी कुरता, आधी बांहें चढ़ी हुईं, अत्यधिक काले और घुंघराले केस, हाथ में तोलस्तोय की अन्ना करेनिना। कत्थई रंग पर स्वर्णिम चित्रकारी।' न उसका नाम जानती है और न ग्राम ! उसकी ठौर—सालूराम बिश्नोई। उम्र चौपन बरस। सफेद धोती, सफेद चोला। सफेद बाल और सफेद ही दाढ़ी। हाथ में तारों के बंद लगी लाठी। नीचे के बायें जबड़े की अंतिम दाढ़ तीन दिन से कसक रही है। न दिन को चैन और न रात को। क्षण भर के लिए भी आंख नहीं लगी। राम जाने उसके किस दांत में दर्द है ? कब से ? हां—हां, नयी दाढ़ के दर्द की बात बतायी तो थी ! तो हजरत के अक्ल दाढ़ आ रही है ! अक्ल का नमूना तो सामने ही है ! पर साथ-ही-साथ मेरी अक्ल क्यूं मारी गयी ? पोथी की चर्चा नहीं करके नयी दाढ़ के दर्द का हाल पूछती तो अच्छा रहता। फिर भी—फिर भी ऐसे घनघोर संघर्ष के बावजूद नर्स ने सालूराम बिश्नोई का सधे हाथ से इलाज किया। बूढ़े को रंचमात्र भी तकलीफ नहीं होने दी।

अकस्मात् निविड़ अंतस की गहराई से एक प्रश्न कौंधा—बाईस नम्बर का टिकला उसके—उसके हाथ ने कबूल किया इसलिए ? मरीज दूसरा हुआ तो क्या, नम्बर तो वही है ! ऊं—हूं—कोरे-मोरे नम्बर का लिहाज नहीं रखा जाता। महत्व तो केवल नाम और सूरत का ही है। सूरत...? जागृत मन अबेर फुफकार उठा—नर्स को मरीज की सूरत से क्या सरोकार ? उसे तो केवल बीमारी से ही वास्ता रखना चाहिए। ना ना, अकिंचन टिकले की क्या बिसात कि जिसके लिए उसने पक्षपात किया। वह तो सभी मरीजों के साथ ऐसा ही अकृत्रिम बर्ताव करती है। नर्सों के लिए कौन करीब और कौन दूर ? पिछले पखवाड़े में कदाचित तीसरी बार या चौथी बार अन्ना करेनिना को उछाह से बांची। जितनी बार बांची उतनी ही बार नयी लगी। कई अगम भेद उजागर हुए और होते रहेंगे। जिसकी सीमा कभी नहीं आयेगी। हॉस्टल में जाते ही फिर से बांचेगी। यदि किसी तरह यह सर्वोत्तम संस्करण उसके हाथ लग जाय तो और क्या चाहिए ? केवल तोलस्तोय की पोथी से उत्प्रेरित होकर उस से आत्मीयता प्रकट की, अन्यथा प्रेम या प्रीत का तो वह रास्ता ही नहीं जानती। बात और बात का नाम ! कैसे निराधार जंजाल में फंस गयी ? कभी-कभार दांतों की टीस के समान, विशेषतया औरतों के अंतस में अजाने ही यह दारुण दर्द उठता है, उसका अधिक खयाल नहीं रखना चाहिए।

वावा कुर्सी छोड़ कर उठने लगा तो नर्स ने अबोध बच्ची की तरह अपने होंठों पर पवित्र मुस्कान छितरा कर पूछा, 'क्यूं वावा, तकलीफ तो नहीं हुई ?'

'बेटी, तेरा राम भला करे।' सर पर साफा धर कर वावा कहने लगा, 'तेरे हाथ का ऐसा हुनर कि एक वार तो झपकी आ गयी ! तीन दिन का जागरण था, दर्द के मारे पलक ही नहीं झपी। तेरी सूरत पर नजर पड़ते ही मुझे विश्वास हो गया। आसिस दूं, जितनी थोड़ी है।'

'वुजुर्गों की तो आसिस ही चाहिए।'

वावा लाठी संभाल कर वाहर जाने लगा तो नर्स की सनूची देह में झनझनाहट फैल गयी—एड़ी से चोटी तक या चोटी से एड़ी तक, ठीक पता नहीं चला। हड़वड़ाहट में उसका पीछा करती धीरे-से वोली, 'वावा, तुम्हें क्या नम्बर मिला था ?'

अनपढ़ वावा गजव का वहमी था। तीन या चार मरीजों को टिकला वता कर नम्बर पूछा। ताजिंदगी नहीं भूल सकता। और यों याद रखने के लिए और मसाला ही क्या है ? मुड़ कर देखा तो नर्स का सांवला तिल चमकता नजर आया। उस में आंखें गड़ा कर वोला, 'उनचालीस।'

नर्स के दिल में टीस उठी या दाढ़ में...? एक गहरा निःश्वास छोड़ते फिर पूछा, 'उनचालीस ?'

'हां, विटिया हां—उनचालीस ! अनपढ़ तो जरूर हूं, मगर गाफिल नहीं। तीन-चार मोतविरों को पूछा।'

वावा जमाने की ठोकरें खाया हुआ था। नर्स को कुछ दुविधाजनक स्थिति में देखा तो धीर-गंभीर स्वर में कहने लगा, 'वेटी, एक वात के लिए सावधान किये देता हूं, याद रखना। यह सफेदी हाट-वाजार में मोल नहीं मिलती। वहुत तपने पर जवानी की कालिख पर सफेद रंग चढ़ा है ! नंगे सर वाले दोगलों का कोई भरोसा नहीं, कव किसके साथ छल कर वैठें ? ये तो वहन के भी सगे नहीं होते। फिर परायी का क्या लिहाज रखेंगे ? इन्हें दांतों का इलाज थोड़े ही करवाना है। कोई-न-कोई वहाना चाहिए। आंखें सेंकने की नीयत नहीं होती तो अपना नम्बर थोड़े ही वदलता ! मैं तो जमाने की रग-रग जानता हूं, पर तू इन लफंगों की नाड़ी नहीं पहचानती। इन्हें जवानी का वुखार है, तेज वुखार ! जव किसी अस्पताल में इसकी दवा ही नहीं है तो यहां क्यों चक्कर लगाते हैं ? तू क्या जानती नहीं ? काले नाग का भरोसा कर लेना, लेकिन काले सर का नहीं। मेरा यह मंत्र याद रखेगी तो कभी गड्ढे में नहीं गिरेगी।'

पर इस तरह गड्ढे में गिरना ही तो उवरना है ! और हां, नर्स की खातिर यह तथ्य समझना शेष है कि काला नाग ज्यादा घातक होता है या सफेद नाग ? अवोध नर्स तो अनुभवी वावा की वातें सुन कर सतर्क होने की वजाय सकते में आ गयी। यदि शुरुआत में ऐसे काले मन का पता होता तो—ना ना, नर्स का यह धर्म नहीं है। उसे तो दुश्मन का भी माकूल इलाज करना चाहिए। अपना कर्म, सर्वोपरि धर्म। मगर वावा का काला मुंह होने पर ही उसका मन शांत हुआ। खौलते गुस्से पर क्योंकर नियंत्रण रखा, वही जाने।

'तीन, तेरह, बाईस और उनचालीस !' इस चढ़ती उम्र के कगार पर यह कैसी अप्रत्याशित और अनहोनी घटना घट पड़ी ? ज्यों-ज्यों नर्स इन्हें भूलने की चेष्टा करती, त्यों-त्यों ये हठीले अंक उसके गले में अल्लाट मचाने लगे।

बिना काशी-करवत लिये ही उसे ऐसा महसूस हुआ कि उसकी देह, उसके मन और उसकी आत्मा के दो टूक हो गये हैं। एक टुकड़ा उसे दुत्कारता—छि-छि, इन अकिंचन टिकलों की खातिर इतनी परेशानी, इतना मंथन, इतना द्वन्द्व ! समझ का लवलेश ही नहीं ? दूसरा टुकड़ा उसे प्रोत्साहित करता कि संसार में छोटा-बड़ा कुछ नहीं होता। छोटा सो ही बड़ा, बड़ा सो ही छोटा ! जिस ईश्वर के नाम का इतना आतंक है, उसका तो कोई रूप ही नहीं है। बीज कितना छोटा होता है और पहाड़ कितना बड़ा ! किन्तु पहाड़ नहीं बढ़ता, बीज बढ़ता है। कैसी भी अपूर्व दानवीरता की पर्तें छीलने पर अंत में सड़ी गंदगी ही शेष रह जाती है। धर्मार्थ की दृष्टि से संस्थापित ये मंदिर, ये धर्मशालाएं, ये अस्पताल और ये विद्यालय इत्यादि सब-कुछ काले धन की उज्ज्वल नामवरी है। कहां —ये पवित्र अमूल्य टिकले—तीन, तेरह, बाईस और उनचालीस—और कहां—ये तुच्छ बिड़ला-मंदिर !

द्वैत टुकड़ों के बीच परस्पर अचीता महाभारत छिड़ गया। फिर भी एक मर्तबा, केवल एक मर्तबा लोह की जाली का पट उघाड़ कर प्रीतम को देखने की हिम्मत नहीं हुई। और उधर उसे न जाने अन्ना करेनिना के किस मर्म की तलाश है ? उसके किस अनुराग की आकांक्षा है ? यह कैसी विडम्बना है ? यह कैसी तांत्रिक मूर्च्छा ? प्रत्यक्ष झांकी की बात तो दूर, यदि सपने में भी झलक मिल गयी तो वह थरथर कांपने लगेगी। पर कुछ ही देर बाद कमरे में अवतीर्ण होने पर, आंखें बंद करके उसकी मोहिनी मूरत क्योंकर ओझल की जा सकेगी ? डॉक्टर या नर्स के प्रति आस्था रखने पर मरीज का इलाज भी बखूबी करना पड़ता है। यह तो नर्स का धर्म है। पावन कर्तव्य है। पर वह बावरा यथा-गत अन्दर तो आये !

तटस्थ फर्राश कभी धीरे तो कभी जोर से हांक लगाता और अपनी बारी पर दो-दो मरीज भीतर जाने के लिए व्याकुल हो उठते।

'तैंतीस और चौंतीस।'

मगर आज तो डॉक्टर अड़वानी न जाने किस सनक या किस खुशी में जरूरत से ज्यादा समय लगा रहे हैं ? खैर, अब तो केवल पांच नम्बर ही बाकी हैं। उसे अन्दर आना ही पड़ेगा। बरामदे व कमरे के बीच लोह की जाली का पट खुलते ही उसकी झांकी मिलेगी—पीताम्बर। बांसुरी। मोर-मुकुट। ना ना—सफेद पैंट। फीरोजी कुरता। कत्थई पोथी। स्वर्णिम चित्रकारी। टॉलस्टॉय की अमर विभा—लाडेसर अन्ना करेनिना, न जन्म के बहाने पैदा हुई और न मृत्यु के बहाने मरेगी—!

अकस्मात् नर्स के कानों में कड़कती गाज उतरी, 'सिस्टर, ग्यारह बजने वाले हैं। बचे हुए नम्बर इकट्ठे कर लो। जल्दी।'

मौत की कूच-पुकार ऐसी ही होती होगी ! कौन जाने ?

अचीती मुस्कान की ओट में धधकते अंतस की आग छिपा कर नर्स ने कहा, 'डॉक्टर

साहब, अब तो केवल—केवल पांच-सात नम्बर ही बाकी हैं।'

हाथों के साथ-साथ डॉक्टर मानो मुस्कराहट को भी स्वच्छ करने का प्रयास कर रहा हो। उसी लहजे में बोला, 'पहले घड़ी में समय तो देखो! इतनी देरी तो कभी नहीं हुई!'

मरी घड़ियों के कल-पुरजों की टिक-टिक से भला समय कब नियंत्रित हो सकता है? मगर नासमझ मनुष्य तो समय की बजाय घड़ियों का ही अधिक भरोसा करता है!

डॉक्टर का अनुभव गहरा था। हाथ पोंछते-पोंछते ही कहने लगा, 'जिन्हें ज्यादा दर्द होता है, वे सात बजे से पहले आ धमकते हैं। इतनी देर से आने वाले, शाम को फिर आ जायें तो क्या तकलीफ है? इलाज के साथ-साथ घूमना भी हो जायेगा।'

नर्स तो नारी थी। उसकी देह में औरत का कलेजा था। दरवाजे की तरफ बढ़ने की बिल्कुल ही शक्ति नहीं रही। मगर फर्राश की मर्दानी देह में मर्द का कलेजा था। मरीजों ने काफी आरजू-मिन्नत की, तेवर भी दिखाये, पर उसने तो जस-तस बचे हुए नम्बर इकट्ठे कर लिये। मेज के पास खड़े होकर इस कदर जोर से पटके, मानो शेष मरीजों का यही माकूल इलाज हो। मानवीय शरीर की समूची शक्ति एवं चेतना कानों में केंद्रित करने पर भी नर्स को अन्ना करेनिना वाले युवक की वाणी सुनायी नहीं पड़ी। आंखों की तरह अभागे कान भी प्यासे रह गये। पीड़ा या दर्द के लिए केवल अक्ल दाढ़ की ही इजारेदारी नहीं है। बिना टीस की पीड़ा और ज्यादा घनीभूत होती है—एकदम असहनीय!

किसी अदीठ—अदीठ स्वप्न से नियंत्रित होकर नर्स मेज के करीब पहुंची। उनचालीस नंबर का मैला टिकला हाथ में लेकर सूनी-सूनी निगाहों से न जाने क्या निहारने लगी? मगर एक बात निश्चित है कि उस समय सूरज को भी टिकले के भाग्य से ईर्ष्या हुई होगी। देवों के देव, सूर्य-भगवान में अक्ल का इतना प्रकाश हुए बगैर अनंत निबिड़ अन्धकार क्योंकर नष्ट हो पाता?

जाने क्या सोच कर जाली का पट उघाड़ते समय डॉक्टर ने पीछे मुड़ कर नर्स की तरफ रहस्यभरी निगाह से देखा। 'अरे! इन टिकलों में क्या खोज रही हो? तुम्हें भी तो समय पर पहुंचना है। तबीयत कुछ खराब है क्या?'

'नहीं तो...।' फिर थोड़ा मुस्करा कर बोली, 'मेरी तबीयत हमेशा दुरुस्त रहती है। आप चलिए, अभी हाथ-मुंह धोकर आयी।'

सचमुच, नर्स के होंठों पर धुली हुई स्वच्छ मुस्कान चमक रही थी। मगर कभी-कभार औरतें आंसू नहीं बहा कर होंठों से मुस्कराती हैं। एक जानकारी और भी—कि वैसी मुस्कान की लौ भीषण आग से भी अधिक उत्तप्त होती है। लेकिन उसे देखने के लिए वैसी ही दृष्टि चाहिए। आंखों की अपनी पुतलियों के जोर पर यह लौ नजर नहीं आती।

टप-टप की टापों के सहारे तांगा गुड़क रहा था। नर्स को कुछ ऐसा विवेक-शून्य आभास हुआ, जैसे घोड़े की बजाय वह स्वयं तांगे में जुती हुई हो। अपने-आपको कुरेद कर न जाने क्या तलब कर रही थी, वही जाने?

सहसा फीरोजी कुरते वाले युवक से उसकी नजर विंध गयी। आंखों के सामने चित-

कवरी अंधियारी पुत गयी। सफेद व काले चकत्तों में सर्वत्र एक ही छवि झलकने लगी : सफेद पैंट। काले-स्याह घुंघराले बाल। एक हाथ में अन्ना करेनिना थमी हुई। दूसरा हाथ गाल पर। सड़क की बायीं तरफ धीरे-धीरे चल रहा है। निपट अंधी होने पर भी यह नजारा तो उसे स्पष्ट दिखायी दे जाता। यह तो उसकी देह का ही दूसरा टुकड़ा है !

सबसे पहले आया और बिना इलाज चुपचाप अपनी राह चल पड़ा। किसकी गलती है ? न उसकी, न नर्स की। नर्स को तो उसकी टीस का पूरा-पूरा इल्म है, मगर उसे नर्स की अंतर्वेदना का कुछ आभास है कि नहीं ? पूछे बगैर कैसे पता चले ? कौन पूछे ? क्यों पूछे ? न वह नर्स का नाम जानता है और न नर्स उसका नाम जानती है। खुद-ब-खुद तो अपना नाम जानते ही होंगे ! अपने-आपसे तो अपना परिचय होगा ही ! कहीं दिशाभ्रमित होकर स्वयं अपने-आप से दूर तो नहीं चले गये ? फिर भी अपना नाम जानने की भूल तो क्या पड़ेगी ? नर्स को ऐसा महसूस हुआ कि इतने बरस की उम्र तो केवल एक भ्रांति थी। सचमुच, उसका जन्म तो आज ही हुआ—और वह जन्म के साथ ही पूर्ण रूप से जवान हो गयी !

शाम को वापस आयेगा कि नहीं ?

सुदर्शन ने पलकें उठा कर देखा—तांगे में वही नर्स बैठी है। सफेद-बुर्राक वेश। मोहिनी मूरत। तिल की झांकी लेने के लिए मन तो खूब ही व्यग्र हुआ, पर नितांत हताशा ही हाथ लगी। हां, था तो बायें गाल पर ही, निश्चित बायें गाल पर ही !

टप-टप की आक्रामक टापों से प्रतिपल दूरी बढ़ रही थी। वह पैदल था और नर्स तांगे में थी। ना, ना, नर्स पैदल थी और वह तांगे में था !

'तीन, तेरह, बाइस और उनचालीस !'

'क्या कहा बहन जी ?' तांगे वाले ने पीछे मुड़ कर पूछा।

नर्स की गुलाबी सूरत पर लज्जा की एक और झांई पुत गयी। झिझक के साथ ही अविलम्ब बात संवारी, 'मैं...मैं पूछ रही थी कि तुम्हारा नाम क्या है ?'

'इस्माइल।'

किसका नाम जानना था और किसका जान लिया ?

'इस्माइल, तांगा और तेज नहीं चल सकता क्या ?'

'क्यूं नहीं चल सकता ? अभी लीजिए।' चाबुक के दो-एक सटीड़ उड़ने पर तांगा काफी तेजी से गुड़कने लगा। उस तेजी का चश्मदीद गवाह था सुदर्शन। उसके कानों में टापों की टपाटप भी बढ़ने लगी। मगर वह तो अपनी चाल से, उसी तरह एक-एक कदम आगे चल रहा था।

नर्स के होंठ फिर खुले—'तीन, तेरह, बाइस और उनचालीस। अन्ना करेनिना। लेव तोलस्तोय।' मानो कोई अमोघ-मंत्र सार रही हो। मगर इस बार घोड़ों की तेज टापों और तांगे की खड़खड़ाहट के बीच उस मंत्र की भनक तांगे वाले को सुनायी नहीं दी।

दूरी काफी बढ़ गयी। और प्रतिपल बढ़ती ही जा रही थी। फिर भी काली सड़क की बाईं तरफ चलता फीरोजी कुरते वाला युवक नर्स को साफ नजर आ रहा था। अन्ना

करेनिना की पोथी के लिए मन में जबरदस्त हूक जगी, मगर एकटक आंखें गड़ाने पर भी झांकी नहीं मिली। अन्ना करेनिना की स्वर्णिम छबि कुछ देर पहले ही उसकी आंखों के सामने अवतरित हुई और देखते-देखते वापस ओझल हो गयी।

चलते-चलते वह सहसा नीम की छाया तले क्यों रुक गया? हाथ गाल के नीचे उसी तरह टिका हुआ था। कदाचित टीस का दर्द बढ़ गया लगता है? और जोर से फुस-फुसायी—'तीन, तेरह, बाईस और उनचालीस।' ऐसा बेतुका अंट-शंट पहाड़ा आज दिन तक किसी औरत ने कंठस्थ नहीं किया होगा? न जाने क्या सोच कर उसने मुंह फिरा लिया। तत्पश्चात् घोड़े की तनी हुई कनौती के बीच एकटक देखती रही। अनंत विस्तृत आकाश का उसके अतिरिक्त कहीं कोई अस्तित्व नहीं था! घोड़े से जुता तांगा टपाटप की क्रम-बद्ध आवाज करता हुआ प्रतिपल गुड़क रहा था। और टप-टप की उद्घोषणा करती हुई दूरी बढ़ रही थी—निरंतर बढ़ रही थी! किन्तु बेहद आश्चर्य की बात कि हठात् एक दूसरे से ओझल होते ही दोनों को एक साथ ऐसी भ्रांति हुई कि वे अविच्छिन्न आत्मीयता में लीन हो गये हैं। इस तरह की अनहद दूरी के अलावा अद्वैत आत्मीयता और क्या हो सकती है? ००

अंधियारी रात मानो पृथ्वी के लहराते बाल हों, जो पीठ को सरावोर करके पांव की एड़ी तक छितरे हुए हैं। किन्तु सौर-जगत की लक्ष्मी के शुभ्र ललाट पर वह एक सांवले तिल के बराबर भी नहीं है। इन तारिकाओं में से कोई उत्फुल्ल तारिका यदि अपनी साड़ी के पल्लू से पूरी कालिमा को पोंछ दे तो उसके आंचल पर जो किंचित् दाग लगेगा, उसे बड़े-से-बड़े निंदक की सूक्ष्म दृष्टि भी पकड़ नहीं सकेगी।

यह रात मानो प्रकाश-जननी का सद्यःजात कृष्ण-कन्हाई हो। लाख-लाख सितारे धरती के इस अपूर्व हिंडोले के सिरहाने अपलक अचंचल स्थिर भाव से खड़े हैं—कहीं श्याम-शिशु की नींद न उचट जाये।

मेरे वैज्ञानिक बन्धु वेशी सहन नहीं कर सके। कहने लगे, 'तुम बाबा-आदम के किस वेटिंग-रूम की आराम कुर्सी पर ऊंघ रहे हो ? उधर, बीसवीं सदी के विज्ञान की रेलगाड़ी सीटी बजाती हुई तेजी से भाग रही है। और तुम्हारे तारागण स्थिर गतिहीन हैं ! कैसी अजीब बात है—सरासर कवित्व !'

मेरी इच्छा हुई कि कहूं—'तारे गतिशील होते हैं, तुम्हारी यह बात भी विज्ञान की सरासर जड़ता है।' मगर जमाना इतना बुरा है कि मेरी यह बात भी जय-जयकार-सी ही लगेगी।

मेरे कवित्व का कलंक ज्यों-का-त्यों कायम रह गया। कवित्व की यह कालिमा भी पृथ्वी की रात के समान ही किंचित् है। इसके सिरहाने विज्ञान का विश्व-विजयी दीप अवस्थित है, किन्तु वह उसके शरीर को क्षति नहीं पहुंचता। स्नेह से कहता है—ओह ! सपना देख रहा है !

मैं तो फिर वही बात दोहराऊंगा कि तारे स्थिर हैं, गतिहीन हैं, यह मैं स्पष्ट देख रहा हूं, इस में तर्क करने की कोई गुंजाइश नहीं।

विज्ञान कहता है, 'तुम बहुत दूर से देख रहे हो, इसीलिए कहते हो कि तारागण स्थिर

आमार जगत

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

हैं। किन्तु यह बात सही नहीं है।'

मैं कहता हूं, 'तुम अत्यंत पास से झांकते हो और कहते हो वे गतिशील है। किन्तु यह बात भी सही नहीं है।'

विज्ञान आंखें तरेर कर कहता है, 'इसका मतलब ?'

मैं भी आंख दिखा कर जवाब देता हूं, 'यदि नजदीक का पक्ष लेकर तुम दूर को गाली दे सकते हो तो मैं दूर का पक्ष लेकर नजदीक को गाली क्यों नही दे सकता ?'

विज्ञान कहता है, 'जब दो पक्ष एक-दूसरे से एकदम उलटी बात करते हों तो एक पक्ष की ही बात मान्य होगी।'

मैं कहता हूं, 'तुम्हारी तो ऐसी मान्यता नही है। पृथ्वी को गोलाकार बताते समय तुम दूरी की दुहाई देते हो कि पृथ्वी एकदम पास है, इसीलिए उसके समतल होने का भ्रम होता है। तब तुम्हारा तर्क यह रहता है कि पास रह कर केवल अंश को ही देखा जा सकता है, दूर खड़े हुए बिना समग्र को देखना संभव नही। तुम्हारी यह बात मै मानने को तैयार हूं। इसीलिए तो मनुष्य को अपने संबंध में मिथ्या अहकार है। क्योंकि वह स्वय अपने-आप से बहुत निकट है। तभी शास्त्रों मे कहा गया है कि जो व्यक्ति स्वयं को दूसरों के बीच देखता है, उसे ही सत्य नजर आता है—अर्थात् अपने से दूर हुए बिना अपने गोलाकार-विश्वरूप से साक्षात्कार नही हो सकता।

जब दूरी के लिए तुम्हारा इतना आग्रह है तो किस मुंह से कहते हो कि तारागण गतिशील है, दौड़ते-दौड़ते उनका दम फूल रहा है। दोपहर के सूर्य से आंख मिलाते समय काले शीशे का सहारा लेना पड़ता है। विश्वलोक के ज्योतिर्मय दुर्धर्ष रूप को हम समग्रता से देख सकें, इसीलिए पृथ्वी ने रात का काला पर्दा हमारी आंखों पर डाला है। उसके सहारे हमें क्या दिखता है ? सब-कुछ शांत है, नीरव है ! इतना शात और इतना नीरव कि हमारी आतिशबाजी की फुलझड़ियां, बाण और अनार-कोठे निस्संकोच नक्षत्र-लोक का रूबरू उपहास करने में भयभीत नही होते।

जब हम तमाम नक्षत्रों को परस्पर एक-दूसरे से संबंधित और संयुक्त देखते हैं तब पता चलता है कि वे स्थिर अविचल हैं—सात लड़ियों वाले अपूर्व गजमुक्ता हार की तरह ! जब ज्योतिर्विद्या इस संबंध-सूत्र को विच्छिन्न करके किसी नक्षत्र विशेष पर दृष्टि डालती है तब उसे समझ पड़ता है कि नक्षत्र गतिशील हैं और हार से छिटका हुआ मोती टलमल दमकता हुआ इधर-उधर लुढ़क रहा है !

मुश्किल यह है कि किस पर विश्वास करे ? विश्व-तारा अंधकार के साक्ष्य-मंच पर खड़ा होकर साक्षी दे रहा है कि उसकी भाषा नितांत सरल है—उसकी ओर बस एक बार आंख उठा कर देखना भर ही काफी है, और कुछ करने की जरूरत नही। और जब दो-एक तारे अपने विश्वासन से नीचे उतर कर गणित-शास्त्र की गुफा से ताक-झांक करते हुए कान-ही-कान मे क्या फुसफुसाते है, तब मालूम पड़ता है कि वह कुछ और ही बात है। जो लोग अपने दल से संबंध तोड़ कर पुलिस मजिस्ट्रेट के प्राइवेट कमरे मे जाकर समस्त दल की एकजुट साक्षी के विरुद्ध गोपनीय सूचना देने का दिखावा करते है और इन्ही सारे मुखबिरों को ही परम सत्यवादी मानना पड़ेगा, यह जरूरी नही है।

किन्तु ये सारे-के-सारे मुखबिर विस्तारपूर्वक खवर देते हैं और ये विस्तृत खवरें वड़ी जोरदार होती हैं। समूची पृथ्वी कह रही है कि मैं गोलाकार हूं, किन्तु मेरे पांवों तले की जमीन कह रही है कि मैं समतल हूं। पांव तले की जमीन का जोर वेशी होता है क्योंकि वह जो भी कहती है, तोल-तोल कर कहती है। पांव तले की जमीन से मिलता है तथ्य, केवल प्रत्यक्ष खवर, विश्व-पृथ्वी से प्राप्त होता है सत्य, समष्टि का समाचार।

मेरा कहना वस यही है कि इन में से किसी वात को उड़ाया नहीं जा सकता। हमें तो इन दोनों की ही दरकार है। तथ्य न हो तो हमारे सभी काम-काज ही ठप्प हो जायेंगे, सत्य न हो तो हमारा परित्राण ही कहां है? निकट एवं दूर, इन दोनों के सहारे ही हमारा सव कारोवार चलता है। ऐसी स्थिति में हम किसी के प्रति मिथ्या कलंक का आरोप लगायें तो वह हमारे शरीर पर ही लगेगा।

इसलिए यदि यह कहा जाय कि दूर की सीमा में तारे स्थिर हैं और निकट के दायरे में गतिशील हैं, तो इस में दोष ही क्या है? निकट से अलग होकर दूर और दूर से अलग होकर निकट, सर कटे धड़ की तरह भयंकर है। दूर एवं निकट ये दोनों ही दो विभिन्न तथ्यों के स्वामी हैं, किन्तु क्या दोनों ही एक सत्य के आधीन नहीं हैं? इसलिए उपनिषद में कहा:

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके

वह चलता है, वह नहीं चलता है, वह दूर है, वह निकट है—ये दोनों वातें एक साथ सत्य हैं। अंश भी मान्य है, समस्त भी मान्य है; किन्तु समग्र विहीन अंश घोर अंधकार है और अंश विहीन समग्र उस से भी दारुण अंधकार है।

आजकल के पंडित कहते हैं कि चलना ही सव-कुछ है—ध्रुवत्व तो हमारी विद्या द्वारा सृष्ट माया है। अर्थात् जगत गतिशील है, किन्तु हमारे ज्ञान में हम उसे स्थिरता के ढांचे में खड़ा करके देखने के आदी हैं, वरना पदार्थ का देखना, जानना व समझना होता ही नहीं—अतएव चलना ही सत्य है और स्थिरता विद्या की माया है। किसी समय के पंडित कहते थे, ध्रुव के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, चंचलता तो अविद्या की सृष्टि है। जव तक पंडित अपने-अपने पक्ष की वकालात करते रहेंगे, तव तक उनके झगड़े का भी अन्त नहीं आयेगा। किन्तु सरल वुद्धि जानती है कि चलना भी सत्य है, रुकना भी सत्य है। अंश, जो निकटवर्ती है, वह चल रहा है; समग्र जो दूरवर्ती है, वह स्थिर है।

इस सम्वन्ध में एक उपमा का मैं पहले भी प्रयोग कर चुका हूं, अव भी करूंगा। गायक जव गाता है, तव उसका गायन प्रति मुहूर्त चलता रहता है। किन्तु समग्र गान समस्त क्षणों का अतिक्रमण करके स्थिर रहता है। यदि किसी गाने में सचल प्रक्रिया नहीं है तो वह गाना ही नहीं है, और जो प्रक्रिया किसी गाने के वीच स्थिर-प्रतिष्ठ नहीं हो सकती वह भी गाना नहीं है। गायन और गाने के मिलन में जो सत्य है वही—'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।' वह चलता भी है; नहीं भी चलता, वह दूर भी है, निकट भी है।

यदि किसी एक पत्ते को मैं अणुवीक्षण यंत्र से देखूं तो वह विस्तृत आकाश में फैला हुआ नजर आयेगा। उस आकाश को जितना ही व्याप्त करते जायेंगे, उतना ही वह

पत्ता आकार-आयतन में बढ़ते-बढ़ते क्रमशः सूक्ष्म होकर, धूमिल होकर विलीन हो जायेगा। घने आकाश में जो हमारे लिए पत्ता है, व्याप्त आकाश में वह हमारे लिए नहीं के बराबर ही है।

देश और काल ! अब काल की बात करूंगा। यदि यह संभव हो पाता कि मैं जिस काल में हूं, वह जैसा है वैसा ही रहता, यदि गाछ के उस पत्ते से संबंधित एक महीने को एक मिनट में ठूंस देने में समर्थ हो पाता तो पत्ते के होने की पूर्ववर्ती अवस्था से लेकर उसके होने की परवर्ती अवस्था तक, इस तरह सर्रर करके दौड़ पड़ता कि मैं उसे प्रायः देख ही नहीं पाता। जगत के जो सब पदार्थ हमारे काल से नितांत भिन्न काल में चल रहे हैं, वे हम लोगों के चारों ओर रहते हुए भी उन्हें देख नहीं पा रहे हैं, ऐसा होना असंभव नहीं।

एक दृष्टांत देने से यह बात कुछ और स्पष्ट हो जायेगी। गणित के सम्बन्ध में ऐसे असामान्य शक्तिशाली व्यक्तियों के बारे में सुना है जो असाध्य, दुरूह व दीर्घ हिसाब को एक मुहूर्त में हल कर सकते हैं। गणना करते समय उनका चित्त जिस काल का आश्रय लिये हुए है, वह हमारे काल से अत्यधिक द्रुत है—इसी कारण जिस पद्धति से गुजर कर वे अंकफल में उत्तीर्ण होते हैं, उसे हम देख नहीं पाते, यहां तक कि वे स्वयं भी न देख पाते हों।

मुझे याद है एक बार दिन के समय मैं कुछ देर के लिए सो गया था। उस दौरान मैंने एक लम्बा सपना देखा। मुझे भ्रम हुआ कि मैं काफी देर तक सोया हूं। पूछताछ करने पर पता चला कि मैं पांच मिनट से ज्यादा नही सोया। स्वप्न के अंतराल और जागृत अवस्था के बाह्य में बेशुमार अन्तर था। यदि मैं एक ही समय इन दो कालों के बारे में सचेत रहता तो शायद स्वप्न इतनी द्रुतगति से मन के भीतर प्रविष्ट हो जाता कि उसे पहचानना दूभर हो जाता। वरना उस स्वप्नवर्ती काल की रेलगाड़ी में बैठ कर चले जाने के कारण बाह्य जगत की रेलगाड़ी का बाहरी दृश्य, जिस द्रुत गति से पीछे की ओर छूटता जाता, उसकी किसी एक वस्तु पर भी नजर टिक नहीं पाती। अर्थात् स्वभावतः जिस में गति नहीं है, वह भी गति प्राप्त करके गतिशील हो जाता।

जो घोड़ा दौड़ रहा है, उस से संबंधित एक मिनट को यदि दस घण्टे में परिवर्तित कर सकूं तो फिर देखता कि उसके पैर उठ ही नहीं रहे हैं। घास प्रति मुहूर्त बढ़ रहा है, यद्यपि हम उसे देख नहीं पाते। व्यापक काल के बीच घास के बारे में हिसाब लगाने पर ही हम जान पाते हैं कि घास बढ़ रहा है। वह व्यापक काल यदि हमारे आयत से वेशी होता तो घास हमारे लिए पर्वत की नाईं अचल हो जाती।

अतएव हमारा मन जिस काल की ताल के क्रम में चल रहा है, उसी वेग के परिप्रेक्ष्य में हम उसे देख रहे हैं कि वट-वृक्ष खड़ा है, नदी चल रही है। काल के परिवर्तित होने पर शायद देखते कि वट-वृक्ष चल रहा है और नदी निस्तब्ध खड़ी है।

तो फिर स्पष्ट हो गया कि जिसे हम जगत कह रहे हैं, वह हमारे ज्ञान के योग पर ही पूर्णतया निर्भर है। जब हम पहाड़, पर्वत, सूर्य, चंद्र देखते हैं, तब हमें सहज ही मालूम पड़ता है कि जो कुछ भी है, हम वही देख रहे हैं। मानो मेरा मन एक आईनामात्र हो।

किन्तु मेरा मन आईना नहीं है, वह सृष्टि का प्रधान उपकरण है। मैं जिस क्षण में देख रहा हूं, उसी क्षण में उसे देखने के योग की सृष्टि हो रही है। जितने मन हैं, उतनी ही सृष्टियां हैं। अन्य किसी अवस्था में, मन की प्रकृति यदि अन्य तरह की हो तो सृष्टि भी भिन्न प्रकार की होगी।

हमारा मन इन्द्रिय योग से सघन देश की वस्तु को एक तरह से देखता है, व्यापक देश की वस्तु को दूसरी तरह से, काल की द्रुत गति में एक तरह से देखता है और मंद गति में दूसरी तरह से—इसी प्रभेद के अनुसार सृष्टि में वैविध्य है। आकाश की लाख कोस दूरी पर स्थित देश को जब वह एक हाथ या आधे हाथ के सामीप्य में देखता है तब तारे परस्पर सटे हुए और स्थिर दिखलायी पड़ते हैं। मेरा मन केवल आकाश के तारों को ही नहीं, लोहे के परमाणुओं को भी निविड़ और स्थिर रूप में देखता है—यदि लोहे को वह व्याप्त आकाश में देखता है तो परमाणु स्वच्छंदतापूर्वक इधर-उधर दौड़ते दिखलायी पड़ते हैं। इस विचित्र देश-काल के भीतर देखना ही सृष्टि की लीला को देखना है। इसी कारण लोहा है लोहा, जल है जल, मेघ है मेघ।

किंतु विज्ञान प्रत्येक वस्तु को घड़ी की सुइयों से निर्धारित काल में और गज में निश्चित दूरी के हिसाब देखना चाहता है। देश-काल के एक ही आदर्श से समूची सृष्टि के बारे में विचार करता है। किन्तु यह आदर्श ही सृष्टि का आदर्श नहीं है। सुतराम् विज्ञान सृष्टि को विश्लिष्ट विशिष्ट कर देता है। अंत में अणु-परमाणु से गुजरता हुआ एक ऐसी जगह जा पहुंचता है जहां सृष्टि ही नहीं है। कारण सृष्टि तो अणु-परमाणु नहीं है—देश-काल के वैचित्र्य से हमारा मन जो देखता है, वही सृष्टि है। 'ईथर' का स्पन्दन सृष्टि नहीं, आलोक की अनुभूति ही सृष्टि है। अपने बोध को हटा कर युक्ति द्वारा जो देख रहा हूं, वही प्रलय है और बोध के द्वारा जो देख रहा हूं, वही सृष्टि है।

वैज्ञानिक बन्धु हमला करने के लिए आ ही रहे होंगे। वे कहेंगे—हम बड़ी मुश्किल से बोध को खदेड़ कर विज्ञान से दूर कर पाये हैं। इसलिए कि मेरा बोध एक बात कहता है, तुम्हारा बोध एक दूसरी ही बात कहता है। और मेरा बोध अभी एक बात कहता है, फिर बाद में दूसरी बात कहता है।

मैं कहता हूं—यही तो सृष्टि-तत्व है। सृष्टि तो किसी यंत्र की सृष्टि नहीं है, वह तो मन की सृष्टि है। मन से अलग करके सृष्टि-तत्व की आलोचना और राम को हटा कर रामायण का पाठ करना एक ही बात है।

वैज्ञानिक कहेंगे—यदि एक-एक मन अपनी अलग-अलग सृष्टि करने लगे तो अनासृष्टि न हो जायेगी?

मैं कहता हूं—अब तक ऐसा हुआ तो नहीं! लाखों-लाख मन से लाख-लाख सृष्टि होती है, फिर भी देखता हूं कि बेइन्तहा वैचित्र्य के बावजूद उनका योग विच्छिन्न नहीं हुआ। इसीलिए तो तुम्हारी बात मैं समझता हूं और मेरी बात तुम समझते हो। उसका कारण यह है कि यदि आंशिक रूप से भी मेरा मन केवल मेरा ही होता तो उसका दूसरों के मन से कोई योग ही नहीं रहता। किन्तु मन जगतव्यापी पदार्थ है। मुझ में बन्द होकर भी वह खंडित नहीं है। इसीलिए प्रत्येक मन के बीच एक समग्रता है। वरना मनुष्य-

समाज की रचना ही संभव नहीं थी, मनुष्य के इतिहास का कोई अर्थ ही नहीं रहता।

वैज्ञानिक पूछ रहे हैं—यह मन क्या वला है, सुनूं तो जरा?

मैं जवाव देता हूं—तुम्हारे ईथर की वला से यह कम आश्चर्यजनक और कम अनिर्वचनीय नहीं है। असीम ने जहां सीमा को ग्रहण किया है, वहीं है मन की दिशा। उस दिशा की ओर ही है देश काल, उस दिशा की ओर ही है रूप रस गंध, उस दिशा की ओर ही है वहुत्व, उस दिशा की ओर ही है उनका असीम प्रकाश!

वैज्ञानिक कहते हैं—असीम की सीमा? जव कवि इन सव वातों पर वहस करने लगें तव क्या वैद्य को वुलाना जरूरी नहीं हो जायेगा?

मेरा उत्तर है कि यह वहस कोई नयी वात नहीं है, इसका सिलसिला वहुत प्राचीन है। पागलों का वंश सनातन काल से चला आ रहा है। तभी तो पुरातन ऋषि ने कहा है:

अंधं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥

'जो अनन्त को छोड़ कर अन्त की उपासना करता है, वह अंधकार में डूवता है। और जो अन्त को छोड़ कर अनंत की उपासना करता है, वह उससे भी अधिक घने अंधकार में डूवता है।'

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

'अन्त और अनन्त को जो एकत्र के रूप में जानता है, वही अन्त के वीच मृत्यु से उत्तीर्ण होकर अनन्त के भीतर अमृत को प्राप्त होता है।'

फिर भी सीमित और असीम के भेद को पूर्णतया मिटा कर देखना भी संगत नहीं। ऋषियों ने कहा कि अन्त और अनन्त के वीच पार्थक्य भी है—यदि पार्थक्य न होता तो सृष्टि क्योंकर होती? और यदि विरोध भी रहे तो सृष्टि संभव नहीं थी। इसीलिए असीम जहां अपने को सीमा में परिसीमित करता है, वहीं उसकी सृष्टि है, वहीं उसका वहुत्व है—किन्तु इस से वह अपनी असीमता का परित्याग भी नहीं करता।

अपने अस्तित्व के संदर्भ में सोचने से यह वात सहज ही स्पष्ट हो जायेगी। मैं अपने चलने-फिरने, अपने समस्त कार्यकलाप व अपनी वातचीत में प्रतिक्षण अपने-आपको व्यक्त करता हूं—यह अभिव्यक्ति ही मेरी अपनी सृष्टि है। इस व्यंजना की प्रक्रिया में जो मेरा स्वरूप है उसे कई तरह से अतिक्रम करके भी 'मैं' हूं। मैं एक तरह से 'अन्त' हूं और दूसरी तरह से 'अनंत' भी। मेरा 'अव्यक्त-मैं' मेरे 'व्यक्त-मैं' के योग से सत्य है। मेरा 'व्यक्त-मैं' मेरे 'अव्यक्त-मैं' के योग से सत्य है।

अव जिज्ञासा होती है कि 'मैं' आया कहां से? उसका अस्तित्व क्या है? यह 'मैं' भी मेरा सम्पूर्ण अपना नहीं है। असीम जहां अपने को सीमावद्ध करता है, वहीं अहंकार है। सोऽहमस्मि। वहीं पर वह है, मैं हूं। असीम की वाणी, अर्थात् सीमा के वीच असीम की अभिव्यक्ति ही है—अहमस्मि। मैं हूं। जहां पर होने का वर्चस्व है, वहीं पर 'मैं' का

वर्चस्व है। समस्त सीमा के बीच असीम कहता है—अहमस्मि। 'मैं हूं'—यही है सृष्टि की भाषा।

यह एक 'मैं हूं' 'लाख-लाख मैं' तक परिव्याप्त—फिर भी उसकी कोई सीमा नहीं है। यद्यपि मेरा—'मैं हूं'—उस महान्—'मैं हूं' का ही आविर्भाव है, किन्तु मुझ में ही उस आविर्भाव की समाधि नहीं हो जाती। वह मेरे—'मैं हूं' में समाहित है और मेरे—'मैं हूं'—का अतिक्रमण भी करता है। इसलिए अगणित—'मैं हूं'—के बीच ही योग का पथ विद्यमान है। तभी उपनिषद ने कहा है—जो सर्व भूतों में आत्मा को और आत्मा में सर्व-भूतों को अंतर्हित पाते हैं, वे छिपे नहीं रहते। वह व्यक्ति अपने-आप से सर्वथा अपरिचित है जो केवल अपने को ही अपना मानता है, दूसरे को अपना नहीं मानता।

तत्व-ज्ञान पर मेरा कोई अधिकार नहीं है—उस दृष्टि से मुझे कहना भी नहीं है। मैं वैसा ही एक निर्मूढ़ व्यक्ति हूं जिसका वैचित्र्य पर विश्वास है, जो विश्व को संदेह की आशंका से नहीं देखता। मेरा प्रकृति का अभिज्ञान मुझे बताता है कि दूर भी सत्य है, निकट भी सत्य है, स्थिति भी सत्य है, गति भी सत्य है। अणु-परमाणु युक्ति द्वारा विश्लिष्ट होकर, इन्द्रिय एवं मन के आश्रय से सर्वथा भ्रष्ट होते-होते क्रमशः आकार के आयतन से मुक्त होकर प्रलय-सागर के किनारे पहुंच जाते हैं—यह मेरे लिए न विस्मय-कारी है, न मनोहारी। रूप ही मेरे लिए विस्मयकारी है, रस ही मेरे लिए मनोहारी है। सब से बड़ा आश्चर्य तो यह है कि आकार का फव्वारा, निराकार के हृदय से हरदम उत्सरित होकर किसी तरह निःशेष होना ही नहीं चाहता। मैं यह जानता हूं कि जिस दिन मेरा हृदय प्रेम से परिपूर्ण होता है, उस दिन सूर्य के प्रकाश की उज्ज्वलता बढ़ जाती है, चन्द्रलोक का माधुर्य घनीभूत हो उठता है—उस दिन समूचे जगत का सुर व ताल नयी लय में, नयी तान में झंकृत होने लगता है—उसी से मैं जान पाता हूं कि जगत मेरे मन में, मेरे हृदय में ओतप्रोत है। जिन दो सत्ताओं के योग से सृष्टि होती है, उन में से एक है मेरा हृदय, मेरा मन। जब भी मैंने वर्षा के गीत गाये हैं, उस मेघ-मल्हार में जगत की सारी वर्षा का अश्रुपात-स्वर नयी भाषा और अपूर्व वेदना से पूर्ण हुआ है। चित्रकार की कलाकृति एवं कवि के काव्य में विश्व-रहस्य का नया रूप और नया वेश दिखायी पड़ता है—उसी से मैंने जाना कि इस जगत का जल-स्थल-आकाश मेरे हृदय-तंतुओं से बुना गया है; वरना मेरी भाषा के साथ, उसकी भाषा का कोई योग ही न रहता; गान मिथ्या होता, कवित्व मिथ्या होता, विश्व स्वयं मूक हो रहता और मेरे हृदय को भी निर्वाक् बना जाता। कवि और मर्मज्ञों का काम ही यह है—आत्म-विस्मृत लोगों को याद दिलाते रहना कि जगत मैं हूं—जगत मेरा है, वह मात्र रेडियो-चांचल्य नहीं है। तत्व ज्ञान एक बात कहता है और विज्ञान दूसरी। किन्तु कवि कह रहा है मेरी हृदय-वीणा के तारों पर उस्ताद जो बजा रहे हैं, वह विश्व-संगीत ही है। वीणा में कोई एक ही तार नहीं लाखों तार हैं, लाखों सुर हैं—किन्तु एक सुर और दूसरे सुर में कोई विरोध नहीं है। हृदय-मन की यह वीणा जड़-यंत्र नहीं है, प्राणवंत है, इसीलिए वह एक ही बंधा हुआ सुर नहीं बजाती। उसका सुर आगे चलता है, उसका सप्तक बदल जाता है, उसके तार बढ़ते जाते हैं। उसे लेकर जिस जगत की सृष्टि होती है, वह कहीं स्थिर नहीं है, कहीं थमने वाला नहीं है,

महारसिक अपने रस के माध्यम से चिरकाल तक इसके पास से नया-नया रस ग्रहण करके इसका समूचा सुख, उसका सम्पूर्ण दुख सार्थक कर देगा। मैं धन्य हूं—न किसी धर्मशाला में मेरा निवास है और न किसी राजप्रासाद के एक कक्ष में मेरा स्थान निर्दिष्ट है। उस जगत में मेरा स्थान है, जिसकी सृष्टि मैंने अपने-आपको लुटा कर की है; इसीलिए यह पंचभूत अथवा चौंसठ भूतों का अड्डा नहीं, मेरे हृदय का नीड़ है, मेरे प्राणों का लीला-भवन है, मेरे प्रेम का मिलन तीर्थ है। ००

कुछ दिन पहले एक गांव में किसी विशेष सम्प्रदाय के दो वाउलों से मेरी मुलाकात हुई। मैंने उनसे जिज्ञासा की, 'कृपया मुझे वता सकेंगे, तुम्हारे धर्म की विशेष वात क्या है?' एक वाउल ने कहा, 'वताना मुश्किल है, समझ नहीं पड़ता कैसे वताऊं?' दूसरे वाउल ने कहा, 'क्यों नहीं वताया जा सकता—एकदम सीधी वात है। साफ-साफ कह सकते हैं कि गुरु की सीख के पहले स्वयं को जानना होगा। तव अपने-आपकी जानकारी के उपरांत अपने भीतर 'उसे' प्राप्त किया जा सकता है।' मैंने फिर पूछा, 'अपने धर्म की यह विशेष वात दुनिया के सव लोगों को क्यों नहीं सुनाते?' वह वोला, 'जिसे प्यास होगी, वह गंगा के पास स्वयं चला आयेगा।' मैंने फिर जानना चाहा, 'तुम्हारा क्या खयाल है—सचमुच कोई आता है?' उसने अत्यंत प्रशांत भाव से हंसते हुए कहा, 'सव आयेंगे। सवको ही आना होगा।'

मैंने मन-ही-मन सोचा, 'वंगाल के ठेठ देहात में शास्त्र-शिक्षा विहीन उस वाउल ने कुछ भी गलत नहीं कहा। आ रहे हैं, सभी मनुष्य आ रहे हैं। कोई भी तो स्थिर नहीं है। अपनी परिपूर्णता की टोह में ही तो सवको चलना पड़ता है, और जायेंगे कहां? हम वड़े मजे से हंस कर कह सकते हैं—सारी पृथ्वी पर सभी यात्रा कर रहे हैं। क्या हर व्यक्ति केवल अपनी उदर-पूर्ति के लिए ही अन्न की तलाश में भटक रहा है? दैनन्दिन प्रयोजन की चतुर्दिक् प्रदक्षिणा करने में ही अपना जीवन व्यतीत कर रहा है? ना, ऐसी वात नहीं है। इसी मुहूर्त में पृथ्वी के सभी मनुष्य अन्न के लिए, वस्त्र के लिए, अपनी छोटी-वड़ी सैकड़ों आवश्यकताओं के लिए दौड़ रहे हैं—किन्तु इस आह्निक गति से वे केवल अपनी प्रदक्षिणा ही नहीं करते—वल्कि जाने-अनजाने एक प्रकाण्ड कक्ष एवं महाकाश में एक और केन्द्र के चारों तरफ यात्रा किये जा रहे हैं—इस केन्द्र के साथ वे ज्योतिर्मय स्पदन से विघृत हैं, जहां से उन्हें प्रकाश मिलता है, प्राण मिलता है, जिसके साथ एक अदृश्य एवं अविच्छेद्य सूत्र से उनका चिरंतन महायोग है।

आत्मबोध

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

मनुष्य अन्न-वस्त्र की अपेक्षा गंभीर प्रयोजन के निमित्त सुदीर्घ पथ पर निकल पड़ा है। वह कौन-सा प्रयोजन है? तपोवन की नैसर्गिक शांति में भारत के ऋषियों ने इसका उत्तर दिया है और बंगाल के गांवों में बाउल भी इसका उत्तर दे रहे हैं। मनुष्य अपने-आपको पाने की खातिर बाहर निकला है—स्वयं को पाये बिना वह 'उसे' प्राप्त नहीं कर सकता, जो अपने से भी बढ़ कर अपना है। इसलिए अपने-आपको विशुद्ध करके, प्रबल करके, परिपूर्ण करके स्वयं को पाने के लिए मनुष्य कैसी-कैसी तपस्या करता है। शिशु-काल से ही वह अपनी प्रवृत्तियों को शिक्षित एवं संयत करता है; एक-एक से बढ़ कर महत् आदर्शों से अनुप्रेरित वह अपनी छोटी-छोटी समस्त वासनाओं को नियमित करने की चेष्टा करता है; इस तरह के सकल आचार-अनुष्ठान की सृष्टि करता है, जो उसे निरंतर सतर्क करते रहें कि रोज-मर्रा की जीवन-यात्रा में ही उसकी समाप्ति नहीं है, सामाजिक-व्यवहार में ही उसका अवसान नहीं है। वह एक ऐसे वृहत् 'स्वयं' को चाहता है, जो उसके वर्तमान को, उसके चतुर्दिक् परिवेश को, उसकी प्रवृत्ति एवं वासना को अतिक्रमित करके बहुत दूर चला गया है।

बंगाल की किसी छोटी नदी के पास एक सामान्य कुटिया में बैठ कर हमारे वैरागी स्वयं अपनी खोज करते हैं और निश्चिंत परिहास के साथ कहते हैं—सबको ही आना होगा, अपने द्वारा अपनी ही तलाश में। नहीं, यह किसी मत या संप्रदाय विशेष का बुलावा नहीं है, मानव-मात्र के बीच जो चिरंतन सत्य है, यह उसी का बुलावा है। कोला-हल का तो कहीं अन्त नहीं है—कितने कल-कारखाने, कितना युद्ध-विग्रह और कितना वाणिज्य-व्यवसाय का शोरगुल, आकाश को निरंतर आलोड़ित कर रहा है। फिर भी मानव के आंतरिक सत्य की पुकार किंचित् भी आच्छन्न नहीं होती। मनुष्य की समस्त क्षुधा-तृष्णा, तमाम अर्जन-वर्जन के बीच वह अक्षुण्ण है। कितनी भाषाओं में वह मुखरित हुई है, कितने युग, कितने देश, कितने रूप और कितने भावों में वह आसन्न प्रयोजन से ऊपर उठ कर जागृत हो रही है। कितने तर्क-वितर्क ने उस पर आघात किया है, न जाने कितने संशयों ने उसे अस्वीकार किया है, कितनी विकृतियों ने उस पर आक्रमण किया है, फिर भी वह जीवित है। उसकी तो बस केवल यही टेर है—अपने-आपको प्राप्त करो, आत्मानं विद्धि।

जब मनुष्य अपने-आपको सहज भाव से अपना नहीं बना पाता तब सूत्रच्छिन्न माला की तरह बिखर कर वह धूल में मिल जाता है। किन्तु जिस विश्व-जगत में निश्चिंत होकर वह निवास करता है, वह संसार तो उस तरह बिखरता नहीं, छिटक कर गिरता नहीं। फिर भी यह संसार कोई सामान्य वस्तु नहीं है। उस में जो विराट शक्ति सक्रिय है, उसे नितांत निरीह नहीं कहा जा सकता। हमारी इतनी छोटी-सी रासायनिक प्रयोग-शाला में जब एक मामूली-सी मेज पर गैस के दो-चार कणों को किंचित् बन्धन-मुक्त करने मात्र से जो लीला प्रकट होती है, उसे देख कर हतप्रभ रह जाना पड़ता है। परस्पर टक-राना, आलिंगन, धक्कम-धक्का और मारा-मारी—कैसा विचित्र और प्रचण्ड होता है यह नजारा। एकदम विस्मयकारी! समस्त विश्व-जगत में इसी तरह आविष्कृत और अनाविष्कृत न जाने कितने-कितने वाष्प-पदार्थ अपनी-अपनी विचित्र प्रकृति के द्वारा

क्या-क्या लीला रचा रहे हैं, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त जगत की जो मूल शक्तियाँ हैं, वे भी परस्पर विरोधी हैं—आकर्षण और विकर्षण, केन्द्रानुगता और केन्द्रातिगता। इस विरोध और वैचित्र्य की प्रकाण्ड लीला-भूमि यह विश्व-जगत ही तो है, जिसके प्रज्वलित आलोक में हम अनायास ही साँस लेते हैं, पद-पद में सहज ही विचरण करते हैं। उदाहरण के तौर पर हमारे शरीर के भीतर न जाने कितनी क्रियाओं का संचालन हो रहा है, फिर भी उन सबके बावजूद हम एक अखंडित स्वास्थ्य का अनुभव करते हैं—अपने शरीर को हृत्पिंड, मस्तिष्क, पाकाशय, प्रभृति अलग यन्त्रों का यह असंलग्न व्यापार नहीं समझते।

जगत के रहस्यागार में शक्तियों का घात-प्रतिघात चाहे जितना जटिल और भयंकर क्यों न हो, हमें तो वह नितांत सहज ही प्रतीत होता है। अथच, यह विश्व-जगत वास्तव में क्या बला है? जब इस तथ्य की हम छानबीन करते हैं तो इसकी कहीं कोई थाह नहीं मिलती। सभी जानते हैं कि वस्तु-तत्त्व के संबंध में किसी समय विज्ञान की यह उपयुक्त धारणा थी कि परमाणुओं के बारे में और अधिक खोज करने की गुंजाइश नहीं है: इन सूक्ष्मतम मूल-वस्तुओं के योग-वियोग से ही जगत का निर्माण हो रहा है। किन्तु विज्ञान का मूल वस्तु-रूपी वह दुर्ग भी अब ढहने लगा है। आदि कारण के महा-समुद्र की ओर विज्ञान एक-एक कदम बढ़ाता हुआ जितना ही अग्रसर हो रहा है, वस्तु-तत्त्व का कूल-किनारा उतना ही दिगंतराल में विलुप्त होता जा रहा है—समस्त वैचित्र्य, समस्त आकार-आयतन, एक विराट शक्ति में विलीन होकर हमारे लिए धारणातीत हो उठे हैं।

किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि जो एक ओर धारणातीत है, वही दूसरी ओर हमारे लिए नितांत धारणगम्य है, सर्वथा प्रत्यक्ष है। यही है हमारा जगत। इस जगत में शक्ति को शक्तिरूप में जानने के लिए विज्ञान की कोई दरकार नहीं—हम उसे स्पष्ट देख सकते हैं—जल-थल, तरु-लता और पशु-पक्षी के सांद्र रूप में। जल की परिभाषा वाष्प-विशेष का योग-वियोग या शक्ति-विशेष की क्रिया-मात्र ही नहीं है। हमारे जल का मायना है—हमारी एकदम अपनी सामग्री, वह हमारे नयनों की थाती है, स्पर्श की वसीयत है, नहाने की नियामत है और पीने का अमृत है—विविध प्रकार से हमारी अपनी धरोहर! कहना चाहें तो विश्व-जगत की भी यही हकीकत है। स्वरूप की दृष्टि से एक अकिंचन बालू-कण भी क्या है, उसके बारे में हमारी कोई धारणा अंतिम नहीं हो सकती, किन्तु संबंध की दृष्टि में वह विचित्र और विशेष रूप से हमारा अपना है।

जो पकड़ा नहीं जा सकता वह स्वतः चल कर हमारी पकड़ में आ जाता है—ऐसी आत्मीय पकड़ में कि नंग-धड़ंग दुर्बल शिशु भी उसकी अचिंत्य शक्ति को, घरौंदे के खेल की नाईं निर्बाध निश्चिन्त होकर परोट सकता है, किसी को कोई उज्र नहीं।

जड़-जगत का जो सत्य है वह मनुष्य का भी सत्य है। यह प्राणशक्ति क्या है, उसे क्योंकर समझाऊँ? चाहे जितना परदा-दर-परदा उठाते रहें, वह हमारे लिए उतनी ही अचिंत्य, अनंत और अनिर्वचनीय होती रहेगी। वही प्राण, एक ओर चाहे जितना बड़ा प्रकाण्ड रहस्य ही क्यों न हो, दूसरी ओर हम उसे कितनी आसानी से धारण किये हुए

हैं—वह हमारा अपना प्राण है। पृथ्वी के समस्त लोकालय को व्याप्त करके प्राण-धारा प्रतिक्षण अगण्य जन्म-मृत्यु के बीच प्रवाहित हो रही है; नित्य नवीन शाखा-प्रशाखाओं में दुर्भेद्य निर्जनता को क्रमागत आबाद कर रही है—इसी प्राण के प्रवाह पर लाख-लाख मनुष्यों के शरीर की तरंगें युग-युगान्तर से अहर्निश, अंधकार से सूर्य के आलोक में उद्भूत हो रही हैं और सूर्य के आलोक से अंधकार में विलीन हो रही हैं। यह कैसा तेज है, कैसा वेग है, कैसा विश्वास है जो मनुष्य के भीतर अपने-आपको उच्छ्वसित व आंदोलित करके नित्य नये वैचित्र्य में विस्तारित कर रहा है। जहां अतल-स्पर्शी गहराइयों की तह में उसका रहस्य चिरकाल से प्रच्छन्न रूप में सुरक्षित है, वहां हमारा प्रवेश संभव नहीं: और जहां देश-काल के बीच उसका प्रकाश निरंतर गर्जित व उन्मथित हो रहा है, वहां भी हमारी दृष्टि लेश-मात्र ही पहुंच पाती है; समस्त को हम एक साथ नही देख पाते। फिर भी वह है, वहीं है, अभी है, हमारा अपना है। अपने सम्पूर्ण अतीत को आकर्षित करता हुआ, अपने समूचे भविष्य को वहन करता हुआ, वह है; अदृश्य होकर भी दृश्यमान, एक होकर भी अनेक, वंदी होकर भी मुक्त! वह विराट मानव-प्राण समस्त पृथ्वी भर में अपनी क्षुधा-तृष्णा, अपना श्वास-प्रश्वास, शीत-ग्रीष्म, अपने हृत्पिंड का उत्थान-पतन, अपनी शिरा-उपशिराओं के उक्त स्रोत का ज्वार-भाटा लेकर देश-देशांतर में, वंश-वंशातर में विराजमान है। यह अनिर्वचनीय प्राण-शक्ति अपने अपरिसीम रहस्य के वावजूद सद्यःजात शिशु में अकुंठित भाव से समाहित होकर उसकी परम आत्मीय वन जाती है।

इसीलिए कह रहा था कि असंख्य विरोध और वैचित्र्य के वीच इस महाशक्ति की जो अनिर्वचनीय क्रियाएं चल रही हैं, वे हमारे लिए जगत-रूप में, प्राण रूप में नितांत सहज होकर अपनी हैं, तभी तो हम उन्हें केवल व्यवहृत ही नहीं करते, उनसे प्रेम करते हैं, उन्हें किसी भी तरह छोड़ना नही चाहते। वे हमारे लिए इतनी अपनी हैं कि उनका परित्याग करने पर हमारा वर्चस्व केवल शून्य-मात्र रह जाता है।

जगत के संबंध में तो इस प्रकार सब-कुछ सहज है, किन्तु जहां मनुष्य का अपना संबंध है, वहां इतनी सहजता से वह सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता। मनुष्य अपने-आपको इस तरह अखंडित भाव से, सम्यक् रूप से अपना बना कर प्राप्त नही कर रहा है। जिसकी मध्यस्थता से सब-कोई मनुष्य का अपना हो गया है, उसी को अपना बनाना मनुष्य के लिए कितना कठिन हो उठा है!

भीतर और बाहर की विभिन्न बातों से मनुष्य सर्वथा उद्भ्रांत है। उनके बीच वह अपने-आपको संतुलित नही कर पा रहा है। वह टुकड़े-टुकड़े होकर चारों तरफ छिटक रहा है। किन्तु उसे अपने-आपकी ही सबसे अधिक दरकार है—उसे जो कुछ भी दुख है, वह मूल-रूप में अपने-आपको न पाने के कारण ही है। जव तक वह स्वयं को परिपूर्ण रूप से नही पा लेता, तब तक बार-बार यह सोचता है—यह नही मिला, वह नही मिला: किसी भी प्राप्ति से उसकी तृप्ति नही होती। जब तक हम अपने-आपको नही पाते, तब तक शाश्वत रूप से हम किसी वस्तु को नही पाते; हमारे पास ऐसा कोई आधार नही, जिस पर किसी चीज को हम स्थिर भाव से धर सकें। तब हम पुकारते हैं, यह सब-कुछ

माया है—छाया की मानिंद सब-कुछ तिरोहित हो रहा है। किन्तु जिस घड़ी हम आत्मा को प्राप्त कर लेते हैं, जिस क्षण अपने भीतर हम ध्रुव 'एक' को सुनिश्चित रूप से थाम लेते हैं, तब उस केन्द्र पर अवलम्बित सब-कुछ चारों ओर से विधृत होकर आनंदमय हो उठता है। जब अपने-आपको नहीं पाया था, तब जो कुछ असत्य था, वह अपने-आपको पाते ही सत्य हो उठता है। हमारी वासनाओं को, प्रवृत्तियों को जो मरीचिका की तरह वरगला रहा था, नहीं भी वरगला रहा था, जो वार-वार सामने आकर खिसक जाता था, वह हमारी आत्मा को सत्य-रूप में वेष्ठित करके हमारा अपना वन जाता है। इसलिए जो आत्मा को प्राप्त कर चुका है, उसे जल-थल व आकाश में आनंद उमड़ता नजर आता है, सभी अवस्थाओं में उसके लिए सर्वत्र आनंद-ही-आनंद है; क्योंकि वह अपने अक्षय सत्य के बीच 'समस्त' को ही अमर सत्य के रूप में अंगीकार करता है। वह किसी को भी छाया नहीं समझता, माया नहीं कहता; क्योंकि जगत के तमाम पदार्थों के सत्य से उसका साक्षात्कार हो गया है। वह स्वयं सत्य बन गया है, उसके लिए कोई भी सत्य विश्लिष्ट, विच्छिन्न या स्खलित नहीं है। इस तरह अपने-आपको पाने में समस्त को पाना, अपने सत्य के द्वारा सकल सत्य के साथ संयुक्त होना, स्वयं को केवल कुछेक वासनाओं और सीमित अनुभूतियों का स्तूप न समझना और चंद विच्छिन्न विषयों के पीछे स्वयं को दर-दर न भटकने देना—यही है आत्मबोध का लक्षण और आत्मोपलब्धि का साधन !

यह पृथ्वी किसी समय वाष्प रूप में अवस्थित थी, तब उसके परमाणु अपने ही ताप के वेग से विश्लिष्ट होकर घूमते रहे हैं। तब पृथ्वी ने अपना आकार नहीं पाया था, उसे अपना प्राण नहीं मिला था। तब पृथ्वी किसी को भी जन्म नहीं दे सकती थी, कुछ भी धारण नहीं कर सकती थी—न उसका कोई सौंदर्य था और न उसकी कुछ सार्थकता थी—केवल ताप और वेग था। जब वह संहत होकर एक हुई, तभी विश्व-जगत के ग्रह-नक्षत्र-मण्डल में उसे एक विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ, विश्व की मणिमाला में एक नवीन मरकत माणिक्य गुंथ गया। हमारा चित्त भी उसी तरह प्रवृत्ति के ताप और वेग से चारों तरफ जब वार-वार छिटक जाता है, तब यथार्थ रूप से हम न कुछ पाते हैं, न कुछ देते हैं; जब भी हम समस्त को संहत करके, संयत करके, एक करके आत्मा को पा लेते हैं, चरम सत्य क्या है, जब हम उसे जान लेते हैं, तब हमारा समस्त विच्छिन्न ज्ञान एक ही प्रज्ञा में घनीभूत हो उठता है, समस्त विच्छिन्न वासनाएं ही प्रेम में डूब कर परिपूर्ण हो उठती हैं; और जीवन का छोटा-बड़ा सब-कुछ निविड़ आनंद से सुंदर होकर प्रकाशित हो उठता है। तब हमारे सकल चिंतन में, समस्त कार्य में आत्मा के आनंद का एक अविच्छिन्न योग घटित हो जाता है। तभी हम आध्यात्मिक ध्रुवलोक में अपनी सत्य-प्रतिष्ठा की उपलब्धि करके पूर्णतया निर्भय हो जाते हैं। तब हमारा यह भ्रम मिट जाता है कि हम संसार की अनिश्चयता के बीच मृत्यु के आवर्त में भटक रहे हैं। तब आत्मा नितांत सहज भाव से यह जान लेती है कि वह परमात्मा में चिर-सत्य से विधृत है।

इस सबसे बड़े सत्य को, अर्थात् अपने-आपको स्वयं की इच्छा-शक्ति से प्राप्त करना होगा—अनगिनत भीड़-भाड़ से दूर हट कर, खींचातानी से बच कर, इस सर्वाधिक सहज

समग्रता को हमें सहज भाव से ग्रहण करना होगा। हमारे भीतर इस अखण्ड सामंजस्य को सांसारिक नियम से नहीं, अपरंच हमारी इच्छा के बूते पर प्रतिष्ठापित करना होगा।

इसलिए मनुष्य का सामंजस्य, विश्व-जगत के सामंजस्य की तरह सहज नहीं है। मनुष्य की चेतना है, वेदना है तभी अपने भीतर के समस्त विरोध को वह ठेठ प्रारंभ से ही अनुभव करने लगता है—वेदना की पीड़ा से यह विरोध ही उसके लिए अत्यंत महत्वपूर्ण बन जाता है—अपने आंतरिक तमाम विरोधों का यह दुख उसके लिए इतना प्रगाढ़ होता है कि उसका चित्त उससे प्रतिहत होता रहता है—किसी एक वृहत् सत्य में उसके समस्त विरोधों का वृहत् समाधान भी है, समस्त दुख-वेदना का एक आनंदमय परिणाम भी है, इस तथ्य को वह आसानी से समझ नहीं पाता। हम ठेठ शुरुआत से ही यह बात महसूस करते आये हैं कि जिस में हमारा सुख है, उस में ही हमारा मंगल नहीं है, जिसे हम मंगल-मय समझते हैं, वही चारों ओर से वाधा-युक्त होकर हमें प्राप्त हो रहा है। हमारे शरीर की मांग के साथ हर वक्त मन की मांग का तालमेल नहीं बैठता, हमारे व्यक्तिगत अधि-कार और सामाजिक अधिकारों में परस्पर विरोध रहता है, हमारी तात्कालिक आकांक्षा भविष्य की आकांक्षा को अस्वीकार करती है। भीतर-बाहर की इन समस्त दुःसह बाधाओं, दुर्गम विरोधों और छिन्न-विच्छिन्नताओं के बीच मनुष्य को अपनी राह चलना होता है। भीतर-वाहर के इस घोर असामंजस्य से आक्रांत होकर मनुष्य अपनी अंतरतम ऐक्य-शक्ति के लिए प्राणपण से प्रार्थना कर रहा है। जो शक्ति उसके विक्षिप्त बिखराव को मिला कर एक कर दे, उसे सहज कर दे, उसी के प्रति अपने विश्वास और लक्ष्य को स्थिर रखने की अविरल चेष्टा मनुष्य करता रहता है। अपने भीतर-बाहर की इस प्रभूत विक्षिप्तता के बीच वृहत् ऐक्य-साधन का वह प्रतिदिन प्रयास करता रहता है। इस चेष्टा के फलस्वरूप ही उसका समस्त ज्ञान-विज्ञान है, समाज, साहित्य और राष्ट्र नीति है; उसका समस्त धर्म-कर्म व पूजा-अर्चना है। यही चेष्टा ही मनुष्य को हर बार उसके अपने स्वभाव और सत्य का बोध कराती है। यह चेष्टा कभी सफल होती है तो कभी असफल, बारंबार टूट कर पुनः निर्मित होती है। किन्तु बारंवार इसी संहार-सृजन के बीच मनुष्य अपनी स्वाभाविक ऐक्य-चेष्टा के द्वारा ही अपने आंतरिक उसी 'एक' को क्रमशः स्पष्ट रूप से देख पाता है—और उसके साथ विश्व-व्यापार में वही महत् 'एक' उसके लिए प्रत्यक्ष होकर स्पष्टतर हो उठता है। वह 'एक' जितना अधिक स्पष्ट होता है, मनुष्य उतना ही अपने स्वाभाविक ज्ञान में, प्रेम और कर्म में क्षुद्र विच्छिन्नता का परिहार करके भूमा का आश्रय ग्रहण करता है।

तभी मैं कह रहा था कि घूम-फिर कर मनुष्य जो कुछ भी करता है—कभी भूल करके, कभी भूल सुधार कर—इन सबके मूल में आत्मबोध की यही साधना है। वह चाहे जिसकी कामना करे, वह सत्य रूप से जाने-अनजाने स्वयं अपने को ही चाहता है। विश्व-ब्रह्मांड के समस्त वैविध्य को विराट रूप से एक ठौर गुंफित करके मनुष्य आत्मा को अखण्ड भाव से उपलब्ध करना चाहता है। वह एक तरह से समझ लेता है कि कहीं पर भी विरोध सत्य नहीं, विच्छिन्नता सत्य नहीं, निरंतर अविरोध में मिल कर एक विश्व-संगीत को मुखरित करना ही विरोध की सार्थकता है—उस संगीत में ही परिपूर्ण आनंद है। अपने

इतिहास में मनुष्य उसी संगीत की तान को निरंतर साधता है, स्वर से चाहे जितना स्खलन हो, वह किसी भी तरह निरस्त नहीं होता। उपनिषद् की वाणी में वारंवार दुहरा रहा है : तमेवैकं जानीथ आत्मानं—उसी एक को जानो, उसी आत्मा को। अमृतस्यैष सेतुः—यही अमृत का सेतु है।

अपने-आप में इस 'एक' को पाकर मनुष्य जव धीर हो जाता है, जव उसकी प्रवृत्तियां शांत हो जाती हैं, संयत हो जाती हैं, तव उसे यह समझना शेष नहीं रहता कि उसका वह 'एक' किसे खोज रहा है? उसकी प्रवृत्ति विविध विषयों की खोज में वेहाल है—क्योंकि नाना विषयों को लेकर ही वह जीवित है, नाना विषयों के साथ संयुक्त होने में ही उसकी सार्थकता है। किन्तु मनुष्य का जो 'एक' है, उसका जो 'अपना' है—वह स्वभावतः असीम 'एक' को, असीम 'अपने' को ही खोज रहा है—अपने ऐक्य में असीम ऐक्य का अनुभव करके ही उसके सुख की अभिलाषा शांत होती है। तभी उपनिषद् में कहा गया है : एकं रूपं वहुधा यः करोति—जो एक रूप को विश्व-जगत में वहुत्व के द्वारा प्रकाशित करता है—तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः—जो धीर उसे आत्मस्थ करके देखते हैं, अर्थात् जो लोग अपने 'एक' में 'एक' करके देखते हैं—तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्—उन्हीं का सुख नित्य है, किसी और का नहीं।

आत्मा के साथ उस परमात्मा को देखना, यह एक अत्यंत सहज दृष्टि है, यह मुक्ति-तर्क की दृष्टि विल्कुल नही है। यह है 'दिवीव चक्षुराततम्'—जिस तरह आकाश में विस्तीर्ण पदार्थ को आंखें नितांत सहज ही देख लेती हैं, यह वैसी ही दृष्टि है। हमारी आंखों का स्वभाव ही ऐसा है कि वे किसी चीज को टुकड़ों-टुकड़ों में नहीं देखतीं, सर्वथा समग्र रूप में देखती हैं। वे स्पेक्ट्रास्कोप यंत्र की तरह नहीं देखतीं—वे अपने वीच समस्त को वांध कर, उसे अपना वना कर देखना जानती हैं। हमारे आत्मवोध की दृष्टि जव खुल जाती है, तव वह भी इसी तरह नितांत सहज भाव से अपने को 'एक' करके और परम 'एक' के साथ आनंद में सम्मिलित करके देखती है। इस तरह समग्र रूप से देखना, उसका सहज धर्म है। यह जो परम आत्मा है, हमारा परम अपना है। उस परम अपने को यदि अपना समझ कर नहीं जाना तो फिर अन्य किसी भी तरह से जानें, उसे जानना नहीं होगा। ज्ञान के द्वारा जानना, अपना समझ कर जानना नहीं है, वल्कि ठीक उलटा है—ज्ञान का सहज स्वभाव है—विभेद करके जानना—अपना समझ कर जानने की उस में शक्ति नहीं है।

उपनिषद् कहता है : एष देवो विश्वकर्मा—यह देवता विश्वकर्मी है, विश्व के असंख्य कर्मों में अपने को असंख्य रूपों में व्यक्त करता है—किन्तु वही—'महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः'—अपने महान रूप में, परम एक-रूप में मानव-हृदय के भीतर सन्निविष्ट है। 'हृदय मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतत्'—वह ज्ञान जो सर्वथा संशय रहित है, अव्यवहित है, उसी ज्ञान के द्वारा जो उसे प्राप्त करते हैं, वे ही अमर हैं—'अमृतास्ते भवन्ति।'

हमारी आंखें जिस तरह सव-कुछ देख लेती हैं, उसी तरह हमारा हृदय भी स्वभावतः सव-कुछ अनुभव कर लेता है—जो मधुर है, वह उसे मीठा लगता है, जो रुद्र है, उसे

भीषण लगता है, इस बोध के लिए उसे कुछ सोचना नहीं पड़ता। हमारा वही हृदय जब अपनी स्वाभाविक संशयरहित बोधशक्ति के द्वारा ही परम 'एक' को विश्व में और अपने-आप में प्रत्यक्ष अनुभव करता है, तब मनुष्य चिरकाल के लिए मुक्त हो जाता है। जोड़-तोड़ करके हम अनंत काल तक 'एक' को नहीं पा सकते, हृदय के सहज बोध से निमिष-मात्र में उसे पूर्णतया अपना बना सकते हैं। तभी उपनिषद् कहते हैं, 'वे हमारे हृदय में सन्निविष्ट हैं, उन्हें रस-रूप में, आनंद-रूप में स्पष्ट देख सकते हैं, उन्हें पाने का और कोई दूसरा विकल्प नहीं है।'

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनंद ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन॥

वाक्-मन [वाणी और मन] जिसे नहीं पाकर वापस लौट आते हैं, उस ब्रह्म के आनंद का जब हृदय को बोध होता है तब और किसी बात का भय नहीं रहता।

यह सहज-बोध ही प्रकाश है—यह ज्ञान नहीं है, संग्रह नहीं है, जोड़-तोड़ नहीं है। जिस तरह आलोक एक साथ उदय होता है, उसी तरह यह प्रकाश भी प्रकट होता है। सवेरा होने पर उजाले की तलाश में किसी को हाट-बाजार दौड़ना नहीं पड़ता, किसी ज्ञानी का दरवाजा खटखटाना नहीं पड़ता—जो कुछ भी व्यवधान है, उसे दूर करना होगा, खिड़की-दरवाजे खोलने होंगे, तब उसी क्षण उजाला अखंड रूप में पूर्णतया जगमगा उठेगा।

इसलिए मनुष्य की गंभीरतम प्रार्थना यही है—'आविरावीर्म एधि।' हे आविः, हे प्रकाश, तुम हमारे अंतस में आविर्भूत हो जाओ! मनुष्य का जो दुख है, वह अप्रकाश का दुख है—जो प्रकाश-स्वरूप है, वह अब तक उसके लिए व्यक्त नहीं हुआ, उसके हृदय पर असंख्य आवरण अभी शेष हैं, बाधा-विरोध का कोई पार नहीं है, वह अब तक अपनी प्रकृति के विभिन्न अंशों में पूर्ण सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाया है, उसका एक भाग दूसरे भागों के साथ विद्रोह कर रहा है, उसके स्वार्थ के साथ परमार्थ का मेल नहीं हो पाता, इस उच्छृंखलता के बीच जो आविः है उसका आविर्भाव प्रस्फुटित नहीं होता, भय, दुख, शोक, अवसाद और अकृतार्थता का कोई अन्त नहीं है, जो चला गया है, उसके लिए संताप और आने वाले के प्रति उद्वेग उसके चित्त को उन्मथित कर रहे हैं, अपने भीतर-बाहर को पूर्णतया साथ लेकर उसका जीवन प्रफुल्लित नहीं होता, इसीलिए मनुष्य की प्रार्थना है—'रुद्र यत्ते दक्षिणामुख तेन मा पाहि नित्यम्।' हे रुद्र, अपनी आनंदमयी मुद्रा में हमारी सदैव रक्षा करो। जहां उस आविः का आविर्भाव परिपूर्ण नहीं, वहां प्रसन्नता नहीं, जिस देश में आविः का आविर्भाव अवरुद्ध है, उस देश से खुशहाली विमुख हो चुकी है, जिस घर में उसका आविर्भाव प्रतिहत है, वहां धन-धान्य की प्रचुरता होते हुए भी श्री नहीं है, जिस चित्त में उसका प्रकाश समाच्छन्न है, वह चित्त दीप्तिहीन है, प्रतिष्ठाहीन है, वह नदी के शैवाल की मानिंद तैर रहा है। इसलिए मनुष्य की और चाहे जो प्रार्थना हो, उसकी असली प्रार्थना यही है—'आविरावीर्म एधि।' हे प्रकाश मुझ में तेरा तेज सम्पूर्ण हो। इसलिए मनुष्य का कोई सबसे बड़ा रोना है तो वह पाप का रोना है। वह, जो अपने समस्त को लिये हुए है, उस परम 'एक' के सुर में अपना

बेमेल सुर खपा नहीं सकता, यही बेसुरापन ही वह पाप है जो उस पर आघात कर रहा है। जब मनुष्य के विभिन्न अंश चारों ओर विक्षिप्त हो जाते हैं, जब उसका एक अंश दूसरे अंशों को छोड़ कर उत्पात करने लगता है, तब वह अपने-आपको उस परम 'एक' के शासन में धारण किया हुआ नहीं पाता, तब वह विच्छिन्नता की वेदना से चीत्कार कर उठता है और कहता है—मा मा हिंसीः। मुझ पर और अधिक आघात न करो, न करो। 'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव'—मेरे समस्त पाप दूर करो, तुम्हारे साथ मेरे समग्र को समाहित करो, तभी अपने-आप से मेरा मिलन होगा, सकल चराचर से मेरा मिलन होगा, मेरे अंतस में तुम्हारा प्रकाश परिपूर्ण होगा, मेरे जीवन की समूची रुद्रता प्रसन्नता से दीप्तिमान हो उठेगी।

संसार की विभिन्न मानव-जातियां आज अलग-अलग अवस्थाओं से गुजर रही हैं, उनकी ज्ञान-बुद्धि का विकास एक जैसा नहीं है। उनका इतिहास विचित्र है, उनकी सभ्यता भिन्न है। किन्तु जिस जाति की जो भी परिणति हो, वह किसी-न-किसी रूप में अपनी अपेक्षा किसी अन्य बड़े 'अपने' को चाहती है—एक ऐसे बड़े प्रभुत्व को जो उसके सर्वस्व को अपने में सराबोर करके संयुक्त कर ले, उसके जीवन को सार्थक बना दे। जो उसने पाया है, जो उसकी दैनिक अनिवार्यता है, जिसे लेकर उसका घर-बार चलता है, जो उसके खरीद-फरोख्त की सामग्री है, उस सबके बीच तो उसे बसर करना ही है। किन्तु साथ-ही-साथ, जो उसके समूचे संसार से परे है, देखने-सुनने और खाने-पीने की अपेक्षा बेशी है, जो उसे अपने-आपका अतिक्रमण करने के लिए अनुप्रेरित करता है, दुःसाध्य की साधना के लिए उसका आह्वान करता है, उसे त्याग करने की सीख देता है, जो उसकी पूजा-अर्चना ग्रहण करता है, मनुष्य उसी को प्राप्त करने के लिए सतत् प्रयत्नशील है। उसे ही अपने समस्त सुख-दुख से बड़ा समझ कर स्वीकार करता है; क्योंकि वह जानता है, मनुष्यत्व का प्रकाश उसी दिशा में है, दैनन्दिन खान-पान, सुख-सुविधा और आराम-विराम की दिशा में नहीं है। और उसी दिशा में हाथ जोड़ कर मनुष्य कहता है: 'आविरावीर्म एधिः।' हे प्रकाश! मुझ में तुम्हारा आविर्भाव हो। उस दिशा की ओर देख कर ही उसे बोध होता है कि उसका मनुष्यत्व दैनन्दिन तुच्छता से आच्छन्न है, प्रवृत्तियों के आकर्षण से विच्छिन्न है, जिसे मुक्त करना होगा, युक्त करना होगा। उस दिशा के निमित्त ही मनुष्य एक तरफ अपनी दीनता और दूसरी तरफ अपने महत् अधिकार को भी प्रत्यक्ष देखता है। उसी दिशा की ओर ताकते हुए उसकी वाणी चिर-दिन विविध भाषाओं में ध्वनित होती है—'आविरावीर्म एधिः।' हे प्रकाश! मुझ में तुम्हारा आविर्भाव हो। प्रकाश और प्रकाश, मनुष्य प्रकाश चाहता है! भूमा को चाहता है—अपने परम को अपने अंतस में प्राप्त करता है। यह प्रकाश उसके आहार-विहार से बेशी है, उसके प्राण से बेशी है। यह प्रकाश उसके प्राणों का प्राण है, उसके मन का मन है। और इसी प्रकाश में उसके अस्तित्व का चरम परमार्थ है।

मानव-जीवन में भूमा की यह उपलब्धि पूर्णतर करने के लिए ही पृथ्वी पर महापुरुषों का आविर्भाव होता है, वे यही दिखाने के लिए आते हैं कि मनुष्य में भूमा का प्रकाश कैसे हो? यह प्रकाश किस भक्त में सर्वांगीण रूप से व्यक्त हुआ है, यह नहीं कहा जा सकता।

किन्तु मनुष्य में भूमा के इस प्रकाश को उत्तरोत्तर परिपूर्ण करना ही उनका काम है। असीम के बीच सभी प्रकार से मनुष्य की आत्मोपलब्धि को अखण्ड बनाने का पथ वे बार-बार सुगम करते हैं—समस्त गायन को ताल और लय में निबद्ध न कर सकें, फिर भी मूलस्वर को निरंतर विशुद्ध करके संभला देते हैं।

जो भक्त हैं, वे असीम को मनुष्य के बीच प्रतिष्ठित करके उसे मनुष्य की अपनी सामग्री बना देते हैं। हम आकाश में, समुद्र में, पर्वत में, ज्योतिष्लोक में, विश्वव्यापी अमोघ नियम-तंत्र में, असीम को देखते अवश्य हैं किन्तु वहां हम असीम को सम्यक्-भाव से देख नहीं पाते। जब हम मनुष्य में असीम के प्रकाश को देखते हैं, तभी हमारा देखना सर्वांगीण होता है, नितांत आंतरिक होता है—इच्छा के भीतर इच्छा को देख पाना। विश्व-जगत के नियम में हम शक्ति को देखते हैं—किन्तु इच्छा-शक्ति को हम देखना चाहें तो इच्छा के अलावा और कहां देख सकेंगे? भक्त की इच्छा जब भगवान की इच्छा को ज्ञान में, प्रेम में, कर्म में प्रकाशित करती रहती है, तब जगत में जो अपरूप पदार्थ देखता हूं, वह और कहां देख पाऊंगा? अग्नि, जल, वायु, सूर्य, नक्षत्र इत्यादि चाहे कितने ही उज्ज्वल, कितने ही प्रबल और कितने ही वृहत् क्यों न हों वे असीम के प्रकाश को नहीं दिखा सकते। वे शक्ति का प्रदर्शन करते हैं, किन्तु शक्ति के प्रदर्शन में एक बंधन है, एक पराभव है। वे लेश-मात्र भी नियम का उल्लंघन नहीं कर सकते। वे जो हैं, वही हो सकते हैं, दूसरा कोई उपाय नहीं; क्योंकि उनके पास यत्किंचित् भी इच्छा-शक्ति नहीं है। इस तरह के जड़-यंत्रों में इच्छा के आनंद का पूर्ण-रूप से आविर्भाव नहीं हो सकता।

मनुष्य की इच्छा-शक्ति के दायरे में ईश्वर ने अपनी सर्वशक्तिमत्ता का संहरण किया है—इस सीगे में उसने मनुष्य को कुछ सीमा तक स्वतंत्र छोड़ रखा है और इस स्वातंत्र्य की परिधि में ईश्वर अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं करता। क्योंकि इस स्वाधीनता के क्षेत्र में परस्पर दास व प्रभु का संबंध नहीं, बल्कि प्रियतम के साथ प्रियतम का मिलन है। और इसी स्थल पर ईश्वर का सर्वोपरि प्रकाश है—इच्छा का प्रकाश, प्रेम का प्रकाश! यहां हम ईश्वर को मान सकते हैं और नहीं भी मान सकते, यहां हम उसे आघात भी पहुंचा सकते हैं। यहां हम अपनी इच्छा से उसकी इच्छा को ग्रहण करें, प्रीत के माध्यम से उसके प्रेम को स्वीकार करें, ऐसी ही है उसकी वृहत् अपेक्षा, एक वृहत् दरार। विश्व-ब्रह्मांड में यही एक ऐसी दरार है जहां सर्वशक्तिमान का सिंहासन नहीं है, क्योंकि यहां केवल प्रेम का आसन बिछाया जायेगा।

जहां कहीं भी यह दरार रह गई है, वहीं असत्य, अन्याय, पाप और मलिनता की गुंजाइश है—क्योंकि इसी दरार से ईश्वर जान-बूझ कर थोड़ा-सा हट गया है। यहां मनुष्य इस सीमा तक वीभत्स हो सकता है कि वह संशय से उत्पीड़ित होकर बोल उठे: यदि ईश्वर होता तो इस तरह की बात घटित नहीं हो सकती थी। वास्तव में ईश्वर वहां पर आच्छन्न ही है और यह दायरा मनुष्य के लिए खुला छोड़ दिया है। वहां से उसके नियम सर्वथा हट गये हों, ऐसी बात नहीं है। जिस तरह मां अपने बच्चे को स्वाधीनता-पूर्वक चलना सिखाते समय पास रह कर भी उसका हाथ नहीं थामती, उसे एकाध बार

गिरने देती है, चोट लगने का मौका देती है, यह भी ठीक वैसा ही मसला है। मनुष्य की इच्छा के क्षेत्र में ईश्वर होते हुए भी नहीं है। तभी यहां इस दायरे में हम आघात करते हैं, आघात सहते हैं, धूल से हमारा सर्वांग मलिन हो उठता है, तभी हमारी द्विधा का, हमारे द्वन्द्व का कोई अन्त नहीं है, वहीं है हमारे समस्त पापों का मूल ! वहीं से मनुष्य की यह प्रार्थना ध्वनित हो उठती है—आविरावीर्म एधिः। हे प्रकाश, हमारे बीच तुम्हारी कांति परिपूर्ण हो। वैदिक ऋषियों की वाणी में उच्चरित यह प्रार्थना हम बंगाल की डगर-डगर में सुन सकते हैं, ऐसे गीतों की धुन में जिन्हें साहित्य का स्तर प्राप्त नहीं है, ऐसे लोगों के कण्ठ से जिन्हें अक्षर-ज्ञान तक नहीं है। इसी बंगाल की भूमि पर हम नितांत सरल चित्त व सरल सुर में मल्लाहों के गीत सुनते हैं—'माझि, तोर बइठा नेरे आमि आर बाइते पारलाम ना !' तुम्हारी पतवार तुम्हीं संभालो, यह तुम्हारा ही आसन है, चले आओ, मैं अपनी इच्छा से अब और न खे सकूंगा। हमारे बीच जहां विच्छेद है, उस ठौर मुझे अकेला बिठा कर न रखना। हे प्रकाश, वहां तुम्हारा ही आलोक सर्वत्र जगमगा उठे।

इतने विघ्न-विरोध, इतना असत्य, इतनी जड़ता और इतना पाप काटने के उपरांत भक्त के बीच भगवान का प्रकाश सम्पूर्ण होता है। ऐसी बात नहीं है कि जड़-जगत में उसका प्रकाश सर्वथा बाधाहीन है—बाधा के अभाव में तो आलोक संभव ही नहीं है। जड़-जगत में उसका नियम ही उसकी शक्ति में व्यवधान उपस्थित करके उसके आलोक को स्पष्ट करता है—इस नियम को स्वयं भगवान ने स्वीकार किया है। हमारे चित्त-जगत में जिस ठौर ईश्वर अपने प्रेम-मिलन का प्रकाश करेगा, वहां उस प्रकाश की बाधा को उसने स्वीकार किया है और वह है हमारी अपनी स्वाधीन इच्छा ! इसी बाधा के माध्यम से जब प्रकाश सम्पूर्ण होता है, जब इच्छा के साथ इच्छा, प्रेम के साथ प्रेम, आनन्द के साथ आनन्द परस्पर घुल जाते हैं, तब भक्त के अंतस में भगवान का एक ऐसा आविर्भाव होता है, जो और कहीं संभव नहीं।

इसीलिए हमारे देश में भक्तों के गौरव का इस प्रकार कीर्तन किया गया है, जिसे अन्य देश के लोग उच्चरित करने में संकोच महसूस करते हैं। जो आनंदमय है, जो प्रकाशमय है, और उस प्रकाश में ही जिसका सर्वोपरि आनन्द है—अपने उस आनन्द को व्यक्त करके वह भक्त का जीवन चरितार्थ करता है। इस प्रकाश के लिए उसे अपने भक्तों की इच्छा पर निर्भर रहना पड़ता है—यहां जोर-जबरदस्ती नहीं चलती। राजा का प्यादा प्रेम के राज्य में पांव नहीं धर सकता। प्रेम के अलावा प्रेम का कोई विकल्प नहीं, कोई गति नहीं। इसलिए भक्त जिस घड़ी अपने अहंकार का विसर्जन कर देता है, स्वेच्छा से अपनी इच्छा को उसकी इच्छा में विलीन कर देता है, उस घड़ी मनुष्य के भीतर ईश्वर के आनन्द की आभा पूर्ण रूप से आविर्भूत होती है। और यही आभा ईश्वर को अत्यन्त प्रिय है। इसलिए मनुष्य के हृदय-द्वार पर उसके सौंदर्य का संदेश प्रतिदिन पहुंचता है, उसके रस का परस न जाने कितनी तरह से हमारे चित्त को उद्वेलित करता है; हमारी समस्त प्रकृति को नींद से जगाने की खातिर क्षण-क्षण विपद, मृत्यु, दुख एवं शोक हमें सतर्क कर जाते हैं। हां, यही प्रकाश ईश्वर को अत्यन्त प्रिय है, इसलिए हमारा

चित्त भी सकल विस्मृति एवं सकल जड़ता के बावजूद गंभीरतापूर्वक इसी प्रकाश की कामना करता है—'आविरावीर्म एधिः।'

अनन्त की इच्छा हमारी इच्छा के द्वार पर खड़ी है; हमारे देश के भक्ति-शास्त्र के लिए यह स्पर्धा की बात है। आजकल दूसरे देशों का साहित्य भी इस बात का आभास दे रहा है। एक बार एक अंग्रेज कवि की पंक्तियों में मुझे यह बात देखने को मिली। वह भगवान से अरदास करता है :

दाउ हेस्ट नीड ऑफ दाइ मीनेस्ट क्रीचर
दाउ हेस्ट नीड ऑफ व्हाट वन्स वाज दाइन :
द थर्स्ट देट कन्ज्यूम्स माई स्प्रिट
इज द थर्स्ट ऑफ दाइ हार्ट फॉर माइन।

वह कहता है, 'तुम्हारे हीनतम प्राणी का भी तुम्हारे लिए प्रयोजन है, एक दिन वह तुम्हारे भीतर ही अवस्थित था, और तुम उसे फिर एक बार अपना बना लेना चाहते हो। मेरा चित्त जिस तृष्णा से विदग्ध हो रहा है, वह तुम्हारी ही तृष्णा है, मेरे लिए तुम्हारे हृदय की तृष्णा।

पश्चिमी भारत के प्राचीन सिद्ध कवि ज्ञानदास बघैली ने यही भावना व्यक्त की है। मेरे एक मित्र ने जिसका बंगला अनुवाद किया है :

असीम क्षुधाय असीम तृषाय	असीम भूख में, असीम प्यास में
बह प्रभु असीम भाषाय,	तुम निरंतर गतिशील, असीम भाषा में
[ताइ दीननाथ] आमि क्षुधित् आमि तृषित्	हे प्रभु, मैं चिर भूखा, चिर प्यासा हूं,
ताइ तो आमि दीन।	हे दीनबन्धु ! मैं दीन हूं !

मेरे लिए उसकी जो तृष्णा है, वही उसके लिए मेरी तृष्णा में प्रकट होती है। अपनी असीम तृष्णा को वह अपनी असीम भाषा में प्रकट करता है। वही भाषा तो विद्यमान है—ऊषा के आलोक में, निशीथ के नक्षत्रों में, बासन्ती सौरभ में, शारदीय स्वर्ण-किरणों में। इस भाषा का पृथ्वी पर कोई दूसरा प्रयोजन नहीं, वह तो केवल हृदय के प्रति हृदय के महा-समुद्र की पुकार है। पश्चिम भारत के इस बघैले कवि और बलराम-दास की वाणी एक ही है—'तोमार हियार भितर हैते के कैल बाहिर।' तुम्हारे हृदय से मुझे किसने बाहर निकाला ? तुम मेरे अंतस में बसे थे, मगर विच्छेद हो गया, उसे मिटा कर वापस लौट आओ, समूचे दुख के पथ को पार करते हुए फिर से मुझ में समाहित हो जाओ, जिस से हृदय के साथ हृदय का मिलन सम्पूर्ण हो। यही विरह-वेदना अनन्त के हृदय में है, इसी कारण मेरे अंतस में भी है।

आइ हैव कम फ्रॉम दी,—व्हाइ आइ नो नॉट,
बट दाउ आर्ट, ओ गॉड ! व्हाट दाउ आर्ट,
एण्ड द राउण्ड ऑफ इटरनल बींग इज द
पल्स ऑफ दाइ बीटिंग हार्ट

मैं तुम्हारे भीतर से बाहर आया हूं, नहीं जानता, क्यों ? किन्तु हे ईश्वर, तुम तो वही

हो, जो हो; तुम से विछुड़ कर दूर होना और युगयुगान्तर तक तुम्हारे ही पास फिर लौटते रहना, यही है तुम्हारे असीम हृदय की एक-एक धड़कन।

अनन्त की यह विरह-वेदना ही समस्त विश्व-काव्य की रचना कर रही है—कवि ज्ञानदास अपने भगवान से अरदास करते हैं—यह वेदना हम परस्पर बांट कर सहन कर लेंगे। यह वेदना जितनी तुम्हारी है, उतनी ही मेरी है। इसलिए मेरी प्रार्थना है, हे प्रभु, मेरे दुख-दैन्य से तुम रंचमात्र भी लज्जित न होना।

प्रेमेर पत्नी तोमार आमि,	मैं प्रेम-पत्नी हूं तुम्हारी,
आमार काछे लाज की स्वामी !	फिर मुझसे कैसी लज्जा, हे नाथ
तोमार सकल व्यथाय व्यथी आमाय	अपनी सकल व्यथा से मुझे व्यथित करो
करो निशि दिन।	दिन रात।
निद्रा नाहि चक्षे तव,	जब तुम्हारे नयनों में नींद नहीं
आमिइ केन घूमिये रव !	तो मैं क्योंकर सोती रहूं
विश्व तोमार विराट गेह	यह विश्व तुम्हारा विराट भवन
आमिओ विश्वे लीन	और मैं उस में ही लीन स्वयं।

भोग का सुख मैं नहीं चाहती—जो दासी है, उसे ही सुख का वेतन दो। मैं तो तुम्हारी पत्नी हूं, मुझे तुम्हारे विश्व के दुख का समस्त भार, तुम्हारे संग-साथ ही वहन करना है। उस दुख से गुजर कर ही मुझे दुख से उत्तीर्ण होना है। मुझ में तुम्हारा प्रकाश, अखण्ड मिलन से ही सम्पूर्ण होगा। इसलिए मैं नहीं कहती कि मुझे सुख दो—मैं तो कहती हूं, आविरावीर्म एधि:। हे प्रकाश, मुझ में तुम्हारी आभा प्रदीप्त हो।

आमि तोमार धर्मपत्नी	मैं हूं तुम्हारी धर्म-पत्नी
भोगेर दासी नहि।	भोग की दासी नहीं।
आमार काछे लाज कि स्वामी	मुझसे लज्जा कैसी हे नाथ
निष्कपटे कहि।	निष्कपट भाव से कहती हूं
आमाय प्रभु देखाइयो ना	न दिखाओ मुझे, हे प्रभु
सुखेर प्रलोभन,	सुख का प्रलोभन
तोमार साथे दुःख वहि	तुम्हारे संग दुख का वहन
सेइ तो परम धन।	यही तो है मेरा परम धन
भोगेर दासी तोमार नहि	भोग की दासी नहीं हूं तुम्हारी
ताइ तो भुलाओ नाको,	इसे भूलना नहीं,
मिथ्या सुखे मिथ्या माने	मिथ्या सुख, मिथ्या गुमान में
दूरे फेलाओ नाको।	मुझे छिटकाना नहीं
पतिव्रता सती आमि	पतिव्रता सती हूं मैं तुम्हारी
ताइ तो तोमार घरे	तभी तो तुम्हारे घर-द्वार
हे भिखारि, सब दारिद्र्य	हे भिखारी, सब दारिद्र्य
आमार सेवा करे।	मेरी सेवा में हाजिर

सुखेर भृत्य नई तव, ताइ	सुख की चाकर नहीं हूं तुम्हारी
पाइ ना सुखेर दान,—	इसीलिए मेरा प्राप्य नहीं सुख का दान
आमि तोमार प्रेमेर पत्नी	मैं हूं तुम्हारी प्रेम-पत्नी
एइ तो आमार मान	यही तो है मेरा मान, मेरा गुमान !

जब मनुष्य प्रकाश की कामना के लिए पूर्णतया उद्यत हो उठता है, सतर्क भाव से जागृत हो उठता है, तब वह सामान्य सुख को सुख नहीं मानता। निःसंशय भाव से कहता है—जो वै भूमा तत् सुखम्। जो भूमा है, वही सुख है। जब वह अपने लिए भूमा की आकांक्षा करता है, तब उसे आराम से संतोष नहीं मिलता, स्वार्थ से परितोष नहीं मिलता, तब एक कोने में दुबक कर बैठना उसके लिए संभव नहीं होता, तब केवल अपने ही हृदयोच्छ्वास के पीछे आंगन में पड़ा-पड़ा रोता-बिसुरता नहीं, उसे अपनी आंखों के आंसू पोंछ कर, समस्त विश्व के दुःख का बोझ अपने कंधों पर उठाने की खातिर मुस्तैद होना पड़ता है। तब उसके काम का कोई अंत नहीं होता, उसके त्याग की कोई सीमा नही होती। तब भक्त विश्व-बोध में, विश्व-प्रेम में, विश्व-सेवा में, भूमा के प्रकाश में अपने-आप को व्यक्त करता रहता है।

जब किसी भक्त के जीवन में हम उस प्रकाश की झलक देखते हैं तो हमें वास्तव में क्या दिखलायी पड़ता है ? हमें साफ-साफ नजर आता है कि वहां तर्क-वितर्क नहीं है, तत्व ज्ञान की टीका नहीं है, भाष्य नहीं है, वाद-प्रतिवाद नहीं है, विज्ञान नहीं है, मीमांसा नहीं है, वहां तो है केवल एक की सम्पूर्णता, अखंडता की परिव्यक्ति। जगत का प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिए वैज्ञानिक प्रयोगशाला में जाने की कोई दरकार नहीं है, यह भी वैसी ही बात है। भक्त के समस्त जीवन को एक करके, संयुक्त करके नितांत सहज रूप में असीम वहां आविर्भूत होता है। तब भक्त के जीवन की समस्त विचित्रताओं में कोई विरोध नजर नहीं आता। तब उसका सर्वांग 'एक' के बीच सुन्दर हो उठता है, महत् और शक्तिशाली हो उठता है। उसमें ज्ञान, भक्ति व कर्म का समन्वय हो जाता है। भीतर और बाहर का सम्मिलन हो जाता है। सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु एवं मित्र-वैरी का प्रभेद मिट जाता है। सब-कुछ आनंद में सराबोर हो जाता है, मधुर रागिनी में घुल जाता है। तब जीवन का सम्पूर्ण सुख-दुःख, समस्त विपद-संपद की परिपूर्ण सार्थकता सुडौल होकर, नितान्त परिपुष्ट और अविच्छिन्न होकर प्रकाशमान हो उठती है। उस प्रकाश का अनिर्वचनीय स्वरूप है, प्रेम ! जिसकी दृष्टि में सुख व दुःख दोनों ही सुन्दर हैं, त्याग व भोग दोनों ही पवित्र हैं, हानि और लाभ दोनों ही सार्थक हैं—इस प्रेम में समस्त विरोध का आघात, वीणा के तारों पर अंगुलि के आघात की तरह मधुर सुर में झंकृत हो उठता है। इस प्रेम की मृदुता जितनी सुकुमार है, उतनी ही उसकी वीरता कठोर है। यह प्रेम दूर एवं निकट को, अपने और पराये को, जीवन महासागर के इस पार व उस पार को अपने प्रबल माधुर्य से एक कर देता है। दिग-दिगन्तर के व्यवधान को अपने विपुल, सुन्दर हास्य की अनुपम छटा से पराहत करके ऊषा की तरह उदित होता है। तब असीम, मनुष्य की नितांत अपनी सामग्री के रूप में प्रतीत होता है—पिता होकर, बन्धु होकर, स्वामी होकर, उसके सुख-दुःख में साझेदार होकर, उसके मन का

मीत होकर। तब असीम और ससीम का प्रभेद अमृत से छलछला उठता है, और उस दरार से मिलन-पारिजात की पंखुड़ियां एक के बाद एक विकसित होती रहती हैं। तब विश्व-जगत का समूचा प्रकाश, समस्त आकाश के सकल नक्षत्र, सभी ऋतुओं के सकल फूल, उस प्रकाश के महोत्सव में अपनी-अपनी बांसुरी बजाने को बेताब हो उठते हैं। तब उस अपूर्व वेला में हे रुद्र, हे चिरदिन के चरम दुखः, हे चिर-जीवन की विच्छेद-वेदना तुम्हारी यह कैसी मूर्ति है? यह कैसा 'दक्षिणम् मुखम्' है? उस समय तुम सबका नित्य परित्राण करते हो। ससीमता के दैनन्दिन दुःख से, उसके नित्य विच्छेद से तुम हमेशा बचाते रहे हो, यह गूढ़ रहस्य अब छिपा नहीं रह सकता। तब भक्त के उद्‌घाटित हृदय में समस्त मानव-लोक की खातिर तुम्हारा सिंहद्वार खुल जाता है। सब दौड़ते हुए आते हैं—क्या बालक, क्या वृद्ध—जो मूढ़ हैं, उनके लिए भी कोई बाधा-वर्जना नहीं। जो पतित हैं, उन्हें भी निमंत्रण है। लोकाचार की कृत्रिम शास्त्र विधि डगमगाने लगती है। श्रेणीभेद निष्ठुर पाषाण-प्राचीर करुणा से विगलित हो जाती है। तुम्हारा विश्व-जगत, आकाश में यह उद्‌घोषणा करता हुआ घूम रहा है—मैं तुम्हारा हूं, तुम्हारा हूं। यह कह कर वह नतशिर होकर तुम्हारे नियम की ही अनुपालना करता जा रहा है। किन्तु मनुष्य उसकी अपेक्षा कुछ बड़ी बात कहने के लिए अनंत आकाश में सिर उठाये खड़ा है। वह कहना चाहता है—'तुम मेरे हो, तुम मेरे हो।' केवल तुम्हारे भीतर ही मेरा स्थान है, सो बात नहीं, मेरे भीतर भी तुम्हारा स्थान है। तुम मेरे प्रियतम हो, मैं तुम्हारा प्रियतम हूं। मेरी इच्छा से मैं तुम्हारी इच्छा का वरण करूंगा, अपने आनंद से मैं तुम्हारे आनंद को अंगीकार करूंगा, इसीलिए मेरा इतना दुःख है, इतनी वेदना है और इतना आयोजन है। तुम्हारे जगत में मेरे अतिरिक्त ऐसा दुख और किसी का नहीं है। अपने भीतर-बाहर अहर्निश लड़ाई करते-करते और कोई यह बात नहीं कहता: आविरावीर्म एधिः। तुम्हारी विरह-वेदना सहते हुए जगत में और कोई यह चीत्कार नहीं करता—मा मा हिंसीः। तुम्हारे पशु-पक्षी कहते हैं, हमारी क्षुधा दूर करो, सर्दी-गर्मी से हमारी रक्षा करो। केवल मेरा ही यह निवेदन है—विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। मेरे समस्त पाप दूर करो। मैं ऐसा क्यों कहता हूं? अन्यथा, हे प्रकाश! मुझ में तुम्हारा प्रकाश आविर्भूत नहीं होगा। जिसके अभाव में यह दुःख केवल मेरा ही नहीं, समूचे अनंत में परिव्याप्त है। इसलिए मनुष्य जिधर भी देखे, जो कुछ भी करे, उसकी समस्त चेष्टाओं के बीच वह चिर-काल से अपनी साधना के इस मंत्र को ढोये जा रहा है—आविरावीर्म एधिः। इस मंत्र को वह एक क्षण भर के लिए भी नहीं भूलता। आराम ऐश्वर्य की पुष्प-शैया पर सोते हुए भी इसे नहीं बिसरता। और दुःख-यंत्रणा के अग्निकुण्ड में जलते हुए भी इसे विस्मृत नहीं कर पाता। हे प्रकाश! तुम मेरे भीतर जगमगा उठो, तुम मेरे अपने हो जाओ। मेरे समूचे वर्चस्व पर अपना अधिकार जमा कर तुम मेरे बन जाओ, मेरे सम्पूर्ण सुख-दुख पर खड़े होकर तुम मेरे अभिन्न हो जाओ, मेरे समस्त पाप को अपने पांवों से कुचल कर मुझ से एकाकार हो जाओ। असंख्य लोक-लोकांतर, युग-युगांतर पर निस्तब्ध रूप से अवस्थित, जो तुम 'परम-एक' हो, 'महान-एक' हो, वह मुझ में समा कर मेरे हो जाओ। वही एक तुम 'पिता नोहसि,' मेरे जन्मदाता हो

जाओ। वही एक तुम 'पिता नो बोधि'—मेरे बोध में अंतर्भूत होकर मेरे पिता हो जाओ, मेरी प्रवृत्ति के बीच प्रभु हो जाओ, मेरे प्रेम के बीच मेरे प्रियतम बन जाओ।—यह प्रार्थना दोहराने का गौरव मनुष्य चिर-काल से अपनी अंतरात्मा में संजोये हुए है, इस प्रार्थना को सफल करने का गौरव अपनी भक्त-परंपरा के द्वारा वह कितने समय से अक्षुण्ण बनाये हुए है—मनुष्य के इसी श्रेष्ठतम, गंभीरतम, चिरंतन गौरव का उत्सव आज इस सांध्य-वेला में, इस लोकालय प्रांतर में, आज की पृथ्वी के नाना जन्म-मरण, हंसने-रोने, काज-कर्म, विश्वास-अविश्वास के बीच इस क्षुद्र प्रांगण में आयोजित है। मनुष्य के इसी गौरव को आनंद-ध्वनि से, आलोक से, संगीत से, पुष्प-मालाओं से, स्तव-गान से उद्घोषित करने की खातिर ही यह उत्सव है। समस्त विश्व के बीच तुम 'एकमेवाद्वितीयम्' हो। मनुष्य के इतिहास में तुम 'एकमेवाद्वितीयम्' हो। मेरे हृदय के सत्यतम प्रेम में तुम 'एकमेवाद्वितीयम्' हो—यह बात जानने और समझाने के लिए हम यहां आये हैं—तर्क द्वारा नहीं, युक्ति द्वारा नहीं—आनन्द के द्वारा—जिस तरह शिशु सहज-भाव से परिपूर्ण प्रत्यय के बीच अपने मां-बाप को जानता है। हे उत्सव के अधिदेवता, हम सबके लिए इस उत्सव को सफल बनाओ, हे आविः, इस उत्सव के बीच तुम्हारा आविर्भाव हो। हम सबके सम्मिलित चित्ताकाश में तुम्हारा दक्षिणमुख प्रतिभासित हो। प्रतिदिन अपने को क्षुद्र मान कर हमने जो दुख उठाया है, उस बोध से, उस दुख से अविलम्ब हमारा परित्राण करो। समस्त लोभ-क्षोभ से ऊपर उठ कर, भूमा के बीच आत्मा को उपलब्ध करके, विश्व-मानव के विराट साधना-मंदिर में आज इसी क्षण हम नतशिर होकर तुझे नमस्कार करते हैं। नमस्तेस्तु—तुझ में हमारा नमस्कार सत्य हो, नमस्कार सत्य हो !

००

मेरी रोग-शैया पर नये साल का आगमन हुआ है। नये साल की ऐसी नयी मूर्ति बहुत दिनों से नहीं देखी।

जरा फासले पर खड़े हुए बिना किसी बड़ी चीज को ठीक उस के अनुरूप बड़े रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। किसी चीज से जुड़ने पर हम अपने हिसाब से उसे छोटा समझने लगते हैं। ऐसा न हो तो रोजमर्रा का काम नहीं चल सकता। मनुष्य के इतिहास में चाहे कितनी ही बड़ी घटना क्यों न हो, अपने पेट की भूख के लिए यदि तत्काल ही ध्यान नहीं दिया जाय तो जिन्दा रहना मुश्किल है। जो मजूर कुदाल से मिट्टी खोद रहा है, वह मन में सोचता तक नहीं कि ठीक इसी समय राज-दरबार में राज्य की व्यवस्था-बाबत कैसा जबरदस्त हंगामा हो रहा है? अनादि, अतीत और अनन्त भविष्य चाहे जितने बड़े हों, फिर भी मनुष्य के लिए एक क्षण का वर्तमान भी उनसे छोटा नहीं होता। इस-लिए इन समस्त छोटे-छोटे क्षणों का बोझ जितना भारी होता है, उतना युग-युगान्तर का बोझ भारी नहीं होता—इसी कारण उसकी आंखों के सामने हर क्षण का पर्दा ही सर्वाधिक मोटा होता है—युग-युगान्तर के प्रसार में इस पर्दे की स्थूलता स्वतः क्षय होती रहती है। विज्ञान से पता चलता है कि पृथ्वी के निकट वायु का आच्छादन जितना सघन होता है, उतना दूर का नहीं—नीचे के खिंचाव तथा ऊपरी दबाव के कारण ही पृथ्वी का आवरण इतना निविड़ हो जाता है। ठीक यही स्थिति हमारी भी है। जो जितना निकट है—आंतरिक खिंचाव से और दूसरों के दबाव से उसके प्रति मन का पर्दा उतना ही ज्यादा ठोस हो जाता है।

इसीलिए शास्त्र की उक्ति है कि हमारे समस्त आवरण—आसक्ति अर्थात् आकर्षण की रचना है। हम अपनी ओर जितने ही आकर्षित होंगे, ऊपर का आवरण उतना ही गाढ़ा होता जायेगा। आसक्ति कम होने पर पर्दा ओझल हो जाता है।

ऐसा प्रतीत हो रहा है कि रुग्ण शरीर की दुर्बलता ने इस आकर्षण की गांठ कुछ ढीली

रोगीर नव वर्ष

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

कर दी है। सब तरफ उन्मुक्त खुलेपन का आभास हो रहा है। कुछ-न-कुछ करना ही होगा, जिस से फल की प्राप्ति हो सके। मेरे हाथ में कुछ काम है, मेरे न रहने पर वे संपन्न नहीं होंगे। इस चिंता के कारण हम अपने-आपको जरा भी फुरसत दे नहीं पाते। मानो फुरसत होना कोई अपराध हो। कर्त्तव्य का तो कहीं कोई अंत नहीं है और न जगत-संसार के अधिकारों का कोई विराम है; इसलिए जब तक शक्ति है, काम करने के लिए मन हरदम छटपटाता रहता है। यह खींचतान जितनी प्रबल होती है, उतना ही अपने भीतर-बाहर का स्वच्छ आकाश निःशेष होता रहता है—जिसके न रहने पर समस्त वस्तुओं को उनके सही परिमाण तथा सत्य आकार में नहीं पहचाना जा सकता। विश्व-जगत अनंत आकाश में ऊपर विद्यमान है, अर्थात् वह आंशिक रूप से प्रत्यक्ष है और अधिकांश रूप से अप्रत्यक्ष—इसीलिए छोटी-बड़ी नाना आकृति आयतन धारण किये हुए उस विराट रूप को हम इसी तरह विचित्र ढंग से देख रहे हैं। यदि विश्व-जगत आकाश में नहीं रह कर हमारी आंखों से ही सटा रहता—तो हमारे लिए जैसा छोटा, वैसा ही बड़ा, जैसा सीधा, वैसा ही तिरछा!

उसी प्रकार जब शरीर सबल था, तब अवकाश को एकबारगी निःशेष कर देने का प्रपंच किया था। सिर्फ काम और काम के बारे में ही चिंता; केवल अछोर दायित्व की निबिड़ व्यस्तता के बीच पिस कर, स्वयं को व जगत को स्पष्टतया अपने यथार्थ रूप में देखने का सुयोग ही जैसे पूर्णतया गवां बैठा था। कर्त्तव्यबोध चाहे जितना महत् आदर्श क्यों न हो, वह जब अत्याचारी बन जाता है, तब स्वयं विराट बन कर मनुष्य को बौना बना देता है। यह असंगत झमेला है। मनुष्य की आत्मा मनुष्य के कर्म से बड़ी है!

इसी दरमियान शरीर अड़ कर बैठ गया, बोला, 'मैं किसी भी सूरत में काम नहीं करूंगा।' तब दायित्व का बंधन कट गया। खींचतान में ढील पड़ते ही काम की निबिड़ता भी शिथिल हो गयी—मन के चारों ओर आवृत आकाश में हवा और रोशनी झूमने लगी। तब महसूस हुआ कि मैं क्रियाशील व्यक्ति हूं, यह बात जितनी सत्य है उस से भी अत्यधिक बड़ा सत्य है कि मैं एक मनुष्य हूं। उस बड़े सत्य के माध्यम से ही जगत पूर्णतया उद्भासित होता है। विश्व-वीणा बहुत ही सुन्दर बजती है। समस्त रूप-रस गंध मेरे सामने स्वीकार करते हैं कि, 'तुम्हारे मन को प्राप्त करने के लिए हम आज विश्व-प्रांगण में गर्व से सर उठाये खड़े हैं।'

मैं अपने कर्मक्षेत्र को क्षुद्र बता कर, उसकी निंदा नहीं करना चाहता, किन्तु मेरी रोगशैया आज दिगंत-प्रसारित आकाश की नीलिमा को हथिया कर विस्तृत हो गयी है। आज मैं ऑफिस के तख्त पर आसीन नहीं हूं, विराट की गोद में लेटा हुआ हूं। वहीं पर उसी अपरिसीम आकाश के दौरान मेरे नववर्ष का अभ्युदय हुआ। मृत्यु की परिपूर्णता न जाने कितनी निगूढ़ है, जैसे आज ही मुझे उस आस्वाद की अनुभूति हुई हो। आज नववर्ष ने अतल-स्पर्शी मृत्यु की सुनील, शीतल, सुविपुल अवकाशपूर्ण व्स्तधता के दरमियान जीवन के पद्म को प्रस्फुटित करके मानो प्रत्यक्ष चरितार्थ कर डाला हो।

इसीलिए तो आज निःशेष बसंत के समस्त फूलों की सौरभ एकबारगी मेरे मन पर

हुलस-हुलस कर निछावर हो रही है। इसीलिए तो मेरी खुली खिड़की को लांघ कर विश्व-आकाश के अतिथिगण इस प्रकार निःसंकोच मेरे कक्ष में पदार्पण कर रहे हैं। उस अंतरिक्ष में झिलमिल आलोक कैसी सुन्दर मुद्रा में खड़ा है? और पृथ्वी उसके पांव तले आंचल बिछा कर निविड़ हर्ष से कितनी पुलकित होकर बिछी हुई है? इस से पहले मानो इतने समय तक उसे देखा ही नहीं। यह जो आज मैं देख रहा हूं, यह तो मृत्यु के पट पर चित्रित जीवन की छवि है, जहां है वृहत्, जहां है विराम और जहां है निस्तब्ध पूर्णता! उसी के ऊपर देख रहा हूं रूपसि चंचलता के बहुरंगी आंचल की घूर्णमान उच्छ्वसित गति और सुन रहा हूं अविराम नूपुर की क्वणण ध्वनि—रुनझुन-रुनझुन।

मैं देख रहा हूं बाहर के दरवाजे पर लाख-लाख चन्द्र-सूर्य और अगणित सितारे हाथ में झिलमिल आलोक लिये घूम-घूम कर घूमर ले रहे हैं। मैं देख रहा हूं, मनुष्य के इतिहास में जन्म-मृत्यु, उत्थान-पतन, घात-प्रतिघात उच्च कलरव करते हुए उतावली में ठुमक रहे हैं—किन्तु वह भी तो उस बाहर के प्रांगण में ही है। मैं देख रहा हूं, वह जो राजा का निवास है जहां महल-दर-महल उठे हुए हैं, जिनके शिखर पर अंकित राज-चिन्ह बादलों को भेद कर न जाने कहां पहुंचा है, आंखों से दिखलायी नहीं पड़ता। किन्तु चाबी लगते ही द्वार खुल गये—राज-महल के भीतर यह क्या दिखलायी पड़ रहा है? वहां रोशनी में आंखें चुंधिया तो नहीं रही हैं, वहां सैन्य-सामंतों के दल-बल से दरबार भरा हुआ तो नहीं है! वहां न मणि है, न माणक्य है और न चंद्रातप से मोतियों की झालर ही झूल रही है। वहां तो बच्चे धूल-मिट्टी उछाल कर निर्भय खेल रहे हैं, वहां एक भी सेज और बिछौना ऐसा नहीं है, जिस पर दाग लगने की आशंका हो। वहां युवक-युवती एक-दूसरे के गले में माला डाल रहे हैं, इसीलिए आंचल भर-भर फूल संभाल कर लायी है, किन्तु राजोद्यान का माली देख कर भी डांट-डपट नहीं कर रहा है। वहां वृद्ध-बुजुर्ग कर्मशाला के मैले-कुचैले, पुराने सड़े-गले वस्त्र उतार कर बेश-कीमती पटवसन धारण कर रहा है, कहीं कुछ भी वर्जित नहीं है। आश्चर्य की बात यही है कि इतने ऐश्वर्य और इतने वैभव के बीच भी सब-कुछ इतना सहज और इतना आत्मीय है! यही आश्चर्य है कि कहीं भी पांव उठाने का भय नहीं, हाथ उठाने पर हाथ कांपता नहीं। यही आश्चर्य है कि ऐसे अभेद्य, रहस्यमय, ज्योतिर्मय लोक-लोकांतर के बीच, अति क्षुद्र मनुष्य का जन्म-मरण, सुख-दुःख, खेल-कूद कुछ भी छोटा नहीं, सामान्य नहीं, असंगत नहीं—इसलिए कोई उसे तनिक भी लज्जित नहीं कर रहा है। सभी कह रहे हैं तुम्हारे लिए बस इतना ही खेल है, इतने से हास्य-रुदन के लिए इतना बड़ा आयोजन किया है—तुम जितना ग्रहण कर सको, वह तुम्हारा है। जितनी दूर तुम देख रहे हो, वही तुम्हारे दो नयनों की निधि है—जितनी दूर तुम्हारा मन विचरण कर सके, वही उसकी संपत्ति है। इसीलिए इतने विशाल जगत-ब्रह्माण्ड के बीच मेरा गौरव अक्षुण्ण बना रहा—उसके अंतहीन बोझ से मेरा सर झुका नहीं!

किन्तु यह सब-कुछ बाहर घटित हो रहा है। और अन्दर जाओ—वहां भी सर्वत्र ऐसा ही विस्मयकारी है। गांठ यहीं खुलती है, डिबिया के भीतर डिबिया, उस में जो रत्न है, वही तो प्रेम है। डिबिया का बोझ नहीं उठा सकता, मगर वह प्रेम ऐसा है, जिसे

कंठहार मे पिरो कर सीने पर सहज ही झुला रख सकता हूं। इस विराट जगत-ब्रह्माण्ड के अत्यधिक निभृत कोने मे यह प्रेम अवस्थित है—चारो ओर सूर्य-नक्षत्र धमाल मचा रहे है, इन सब के बीच विकीर्ण स्तब्धता मे सन्निहित है वही प्रेम, चारों ओर सप्तलोक का सृजन और भंजन चल रहा है, उन्ही के बीच पूर्णता मे समाहित है वही प्रेम। उसी प्रेम की दृष्टि मे जो छोटा है, वह बड़ा है; उस प्रेम के आकर्षण से जो बड़ा है, वह छोटा है। उस प्रेम ही ने तो छोटो की समूची लज्जा को अपने मे सलिप्त कर लिया है, बड़ो के समस्त प्रताप को अपने मे आच्छन्न कर लिया है। उस प्रेम-निकेतन मे पहुंच कर देखता हूं कि विश्व-जगत के तमाम सुर मेरी ही भाषा मे गा रहे है—यह क्या लीला है? वहां निर्जन रात्रि के अधकार मे रजनीगंधा के उन्मुख गुच्छो से जो सौरभ आ रही है, वह क्या सचमुच निःशब्द चरणो से चल कर मेरे ही पास दूत बन कर आयी है? इस पर क्या विश्वास कर सकता हूं? हा, जरूर कर सकता हूं। किंचित् भी विश्वास नही कर पाता, यदि इनके बीच अखूट प्रेम नही होता। उसी ने तो असंभव को सभव बनाया है। उसी ने तो इतने वड़े जगत के बीच, इतने छोटे को महान बना दिया। बाहर का कोई भी उपकरण उसके लिए आवश्यक नही है। वह तो अपने ही आनंद के द्वारा छोटे को गौरव प्रदान करता है।

इसीलिए तो उसे छोटों की इतनी दरकार होती है। वरना वह अपने आनंद की परिणति पायेगा क्योकर? छोटे के हाथ उसका अपना असीम वृहत्व बिक चुका है, इसी मे उसका आत्मपरिचय है, इसी मे उसके आनद का परिमाण है। इसी कारण स्पर्धा के साथ कह रहा हू, इस नक्षत्र-जड़ित आकाश के नीचे, इस पुष्प-विकसित बासती बन मे, इस तरंग-मुखरित समुद्र-वेला मे छोटे के पास बड़े आ रहे है। जगत मे समस्त शक्ति के आन्दोलन, समस्त नियमो के बधन, समस्त कार्यो के बीच, आनद की यह लीला ही सबसे अधिक निगूढ़ और चरम सत्य है। यह अत्यंत छोटी होते हुए भी छोटी नही है, इसे किसी भी तरह आच्छन्न नही किया जा सकता। देश-काल के बीच उसका विचरण है; प्रत्येक तिल-परिमाण मे देश को और प्रत्येक पल-परिमाण मे काल को असीमत्व मे उद्भासित करना उसका स्वभाव रहा है—और मेरे इस क्षुद्र 'मै' को विभिन्न आड़ के भीतर निबिड़ सुख-दुख मे अपना बना लेना ही उसकी परिपूर्णता है।

जगत के निगूढ़ अंतराल मे जहा सब-कुछ नितात सहज है, जहा विश्व के विपुल बोझ ने अपना समस्त भार उतार दिया है, जहा सत्य ही एक मात्र सुदर है, शक्ति ही जहा सर्वोपरि प्रेम है, वहा निपट सहज होकर विश्राम करने के लिए आज नव वर्ष के दिन बुलावा आया है। जिधर प्रपंच हो रहा है, जिधर युद्ध हो रहा है, वह ससार तो है ही—किन्तु वहा भी क्या अथक दैनिक-मजूरी पर निर्वाह करना होगा? वही क्या चरम देना-पावना है? इस विपुल हाट के बाहर निखिल-भुवन के निभृत कक्ष मे एक जगह है, जहा कोई हिसाब-किताब नही होता, जहा स्वयं को अनायास सम्पूर्ण समर्पण करने पर ही अत्यधिक लाभ है, जहा फलाफल का तर्क नही है, वेतन नही है, केवल आनंद-ही-आनद हे; कर्म ही जहा सर्वाधिक प्रवल नही है, प्रभु ही जहा प्रिय है—वहा एक बार जाना होगा: उसी घरेलू वेश मे, हसमुख भाव से। अन्यथा जी-तोड़ परिश्रम से अपने-आपको जीर्ण

करके और कितने दिन इस तरह चल सकेगा ? अपने भीतर अन्न का अभाव पाता हूं, प्राणवंत अन्न का। अव तो अमृत-कर से ही उसकी पूर्ति करनी होगी। किन्तु वह अन्न उपार्जित अन्न नहीं, प्रेम का अन्न है—रिक्त हाथों से अंजलि फैलने भर की देर है। सहज होकर वहीं पर चलो—आज नववर्ष का पंछी वही संदेश सुना रहा है, मोगरे के फूल की सौरभ उसी सहज वात को हवा में अयाचित फैला रही है। नववर्ष तो यही सहज वात वताने के लिए हर वार अपनी झलक दिखा जाता है; रोग-शैया पर कोई काम-काज नहीं था, इसीलिए उस वात को आज दत्तचित्त होकर सुनने का समय मिला—आज प्रभात की इस उज्ज्वल कुंकुम-पत्रिका को प्रणत होकर स्वीकार करता हूं। ००

एक ने कहा, अनेक बनूंगा। इस प्रकार सृष्टि हुई, हमारे सृष्टि-तत्व यही बात बताते हैं।

एक के बीच भेद घटित होने पर रूप की उद्भावना हुई। अतएव रूप में दो परिचय संभव हुए— अनेक का परिचय, जहां भेद है; और एक का परिचय, जहां मेल है।

जगत के रूप में हम केवल सीमा ही नहीं, संयम भी देखते हैं। अन्य सबसे पृथक् होने का तात्पर्य है—सीमा। अन्य सब के साथ तोड़ने का अर्थ है—संयम। रूप एक ओर अपने-आपको मान रहा है, दूसरी ओर अन्य-सब को भी स्वीकार कर रहा है, तभी तो वह टिका हुआ है।

इसलिए उपनिषद् कहते हैं—सूर्य और चंद्र, द्युलोक और भूलोक एक ही शासन से विधृत हैं। सूर्य-चंद्र, द्युलोक-भूलोक अपनी-अपनी सीमा में खंडित भी हैं, अनेक भी हैं, फिर भी उनके बीच कहीं एक को देख रहा हूं। जहां प्रत्येक अपना-अपना वजन संभाल कर चल रहा है, जहां प्रत्येक संयम के शासन से नियंत्रित है।

भेद के द्वारा 'अनेक' का जन्म होता है, किन्तु मिलन के द्वारा 'अनेक' की रक्षा होती है। जहां अनेक को टिकना होगा, वहीं प्रत्येक को अपने परिमाण सहित अपना वजन बचा कर चलना होगा। इस जगत-सृष्टि के बीच समस्त रूपों में अर्थात् सीमा में परिमाण का जो संयम है, वह संयम ही मंगल है, वह संयम ही सुंदर है। शिव तो यति हैं।

जब हम सैन्यदल को चलते हुए देखते हैं, तब एक ओर जहां प्रत्येक अपनी सीमा में स्वतंत्र है तथा दूसरी ओर प्रत्येक एक निर्दिष्ट माप के अनुसार वजन लेकर चल रहा है। वहीं पर ही उसी परिमाण की सुषमा के माध्यम से जानता हूं कि इनके भेद के तहत भी 'एक' का प्रकाश उद्भासित हो रहा है: वह 'एक' जितना परिस्फुट होता है, यह सैन्यदल उतना ही सत्य प्रमाणित होता है। 'अनेक' जब गडमड होकर, भीड़ करके परस्पर ठेलठाल

छबिर अंग

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

कर अंत में एक-दूसरे को पांव तले रौंदते हुए चलते हैं, तब 'अनेक' ही दिखता है, 'एक' नहीं दिखता, सीमा ही दिखती है, भूमा नहीं दिखती—यद्यपि भूमा का रूप कल्याण-स्वरूप है, आनंद-स्वरूप है।

विशुद्ध अनेक -- क्या ज्ञान में, क्या प्रेम में, क्या कर्म में—मनुष्य को क्लेश पहुंचाता है, क्लांत करता है। इसीलिए मनुष्य अपने समस्त जानने में, चाहने में, पाने में, करने में—अनेक के भीतर एक की तलाश कर रहा है—वरना न तो उसका मन मानता, न उसका सुख रहता और न उसका प्राण बचता। मनुष्य अपने विज्ञान की अनेकता में जब एक को पाता है, तब नियम प्राप्त करता है, दर्शन की अनेकता में जब एक को पाता है, तब तत्व प्राप्त करता है, साहित्य-शिल्प की अनेकता में जब एक को पाता है, तब सौंदर्य प्राप्त करता है, समाज की अनेकता में जब एक को पाता है, तब कल्याण प्राप्त करता है। इस प्रकार मनुष्य 'अनेक' के साथ तपस्या कर रहा है, एक को पाने के लिए।

यह हुई भूमिका। अब चित्रकला के संबंध में हमारा शिल्प-शास्त्र क्या कहता है, उसे समझने की चेष्टा करें।

शास्त्र कहता है, छवि के छः अंग होते हैं—रूप भेद, प्रमाण, भाव, लावण्य, सादृश्य और वर्णिका भंग।

'रूपभेदा:'—भेद को लेकर आरम्भ होता है। पहले ही कह चुका हूं, भेद में ही रूप की सृष्टि हुई है। सबसे पहले रूप अपना बहु-वैचित्र्य लेकर हमें दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए छवि की शुरुआत हुई रूप के भेद से, एक की सीमा से और एक सीमा के पार्थक्य से।

किन्तु निरे भेद से केवल वैषम्य ही प्रकट होता है। उसके साथ यदि सुषमा को न दिखाया जाय, तब चित्रकला तो भूतों का कीर्तन हो जायेगी। जगत के सृष्टि कार्य में वैषम्य तथा सौषम्य प्रत्येक रूप एवं प्रत्येक अंग के भीतर सन्निहित हैं। हमारे सृष्टि कार्य में यदि उसके अन्यथा घटित हो जाय तो वह सृष्टि नहीं, अनासृष्टि होगी।

वातास जब स्तब्ध है, वह पूर्ण रूप से एक है। उस एक की वीणा के तार से आघात करो, वह टूट कर अनेक हो जायेगी। इस अनेक के भीतर ही ध्वनियां परस्पर वजन को मान कर चलती हैं, तभी वह संगीत है, तभी एक के साथ दूसरे का सुनियत योग है, तभी समस्त 'अनेक' उसके वैचित्र्य के भीतर से एक ही संगीत प्रकाशित करता है। ध्वनि यहां पर 'रूप' है और ध्वनि की सुषमा जो कि सुर है, वही 'प्रमाण' है। ध्वनि के भीतर है भेद, और सुर के भीतर है—एक।

इसलिए शास्त्र में छवि के छः अंग के प्रारंभ में जहां 'रूपभेद' है, वहीं पर उसके साथ-साथ 'प्रमाणानि' अर्थात् परिमाण-वस्तु को हूबहू यमक के रूप में सजाया है। इसी से समझ रहा हूं, भेद के बिना मेल नहीं होता, इसीलिए ही भेद है, भेद के लिए भेद नहीं है। सीमा के बिना सुन्दर का अस्तित्व नहीं होता, इसीलिए सीमा अनिवार्य है, वरना अपने-आप में सीमा की कोई सार्थकता नहीं होती—छवि में यही तथ्य उद्भासित करना होगा। रूप को उसके परिमाण में ही रखना होगा। क्योंकि अपने सत्य-नाप में जो चला, अर्थात् चतुर्दिक् नाप के साथ जो खप गया वही सुन्दर है। प्रमाण नहीं मानता,

जो रूप है, वही कुरूप है; वह समग्र का विरोधी है ।

जैसा रूप के राज्य मे वैसा ही ज्ञान के राज्य मे। प्रमाण नही मानता, जो युक्ति है, वही तो कुयुक्ति है । अर्थात् समस्त के मापदण्ड से जो खरा नही उतरे, समस्त की तुला पर जिसका वजन मेल नही खाये, वही तो मिथ्या के आधार पर पकड़ा जाता है। अपने-आप मे तो कोई सच्चा नही हो सकता । इसीलिए युक्ति-शास्त्र मे प्रमाणित करने का तात्पर्य यही है— अन्य के द्वारा एक को नापना । इसी से स्पष्ट हो जाता है कि सत्य एवं सुन्दर का एक ही धर्म है । एक ओर रूप की विशिष्टता के कारण वह चतुर्दिक् पृथक् होता है और अपने मे विचित्र तथा दूसरी ओर वह प्रमाण की सुषमा से चतुर्दिक् के साथ होता है और अपने भीतर सामजस्य से संयुक्त है। इसलिए जिन्होने इसे गहन रूप मे समझा है, उन्होने कहा है—सत्य ही सुन्दर है और सुन्दर ही सत्य हे ।

छबि के छः अगो के प्रारभिक अग की बात हुई 'रूपभेदाः प्रमाणानि ।' किन्तु यह तो हुआ बहिरग; एक अतरग तो है ही ।

क्योकि, मनुष्य तो केवल आंख से ही नही देखता, आख के पीछे उसका मन होता है । आख जैसा देख रही है, मन भी उसी का प्रतिबिम्ब ही देख रहा है, सो बात नही है। आंखो के उच्छिष्ट से ही मन परिपुष्ट होता है, यह मानने से बात नही बनेगी; आखो की छबि मे मन अपनी छबि जोड़ देता है, तभी वह छबि मनुष्य के लिए सम्पूर्ण हो उठती है ।

इसलिए शास्त्र 'रूपभेदाः प्रमाणानि' के द्वारा षड़ अग के बहिरंग का स्पष्टीकरण करके अंतरंग के बारे मे कह रहे है 'भाव लावण्ययोजनम्', चेहरे के संग भाव और लावण्य को जोडना होगा, आंखो के कार्य पर मन के कार्य को फलीभूत करना होगा। केवल काम-काज तो सामान्य बात है, चित्र अंकित करना होगा—चित्र का प्रधान कार्य संपन्न होता है—चित्त को देकर ।

भाव कहने पर क्या समझा जाता है, सहज रूप से हमें इसकी जानकारी है । इसलिए उसे समझाने के लिए जो कहा जायेगा, उसे समझना और भी दूभर हो जायेगा। जिस तरह स्फटिक अनेक कोणो की वजह से प्रभावशाली है, उसी तरह भाव अनेक अर्थो के कारण शक्तिसपन्न है। मुश्किल यह है कि इसके सब अर्थो को हम हर ,वक्त उनके सम्पूर्ण सदर्भ मे अच्छी तरह प्रयुक्त नही करते, आवश्यकतानुसार इनकी अर्थच्छटा को भिन्न सदर्भ मे जोड-तोड कर, काट-छाट कर उनके विभिन्न प्रयोग करते रहते है। भाव कहने से—फीलिंग, आइडिया, करेक्टेस्टिक, सजेशन इत्यादि कई विकल्प है ।

यहा भाव का तात्पर्य है—अन्तर का रूप । मेरा एक भाव है और तुम्हारा दूसरा । उस भाव के फलस्वरूप मै अपनी तरह का हूं और तुम अपनी तरह के हो। रूप का भेद जिस प्रकार बाहर का भेद है, उसी प्रकार भाव का भेद अंतर का भेद है ।

रूप के भेद की बाबत जो बात कही गयी है, भाव के भेद की बाबत भी वही बात है । यदि वह एकपक्षीय होकर भेद को ही प्रकट करता रहे तो वह बीभत्स हो उठेगा। उस से फिर सृष्टि नही होती, प्रलय होता है । जब भाव अपना सही वजन मान कर चलता हे, अर्थात् अपने चारो ओर की दिशाओं को मानता है, विश्व को मानता है, तभी वह मधुर

है। जिस प्रकार रूप का वजन उसका प्रमाण है, उसी प्रकार भाव का वजन उसका लावण्य है।

कोई इसे बुरा न माने, भाव शब्द केवल मनुष्य पर ही लागू होता है। मनुष्य का मन अचेतन पदार्थ में एक आंतरिक पदार्थ ही देखता है। वही पदार्थ वस्तुतः इस अचेतन के भीतर है या हमारा मन उसे वहां आरोपित करता है, यह हुआ तत्वशास्त्र का तर्क, मुझे उस से कोई सरोकार नहीं। केवल इतना भर मानने से काम चल जायेगा कि स्वभावतः मनुष्य का मन सब वस्तुओं को अपनी बना लेना चाहता है।

इसलिए जब हम एक छवि देखते हैं, तब यही प्रश्न करते हैं—इस छवि का भाव क्या है? अर्थात् इस में हाथ की निपुणता भी दिखी, आंखों से देखने की विचित्रता भी नजर आयी, किन्तु इस में चित्त का कौन-सा रूप दिख रहा है—इसके द्वारा मन, मन के पास कौन-सी लिपि भेज रहा है? देखा एकटा गाछ—किन्तु गाछ तो बहुतेरे देखे हैं; इस गाछ की आंतरिक बात क्या है, अथवा जिसने गाछ का अंकन किया, उस के मन का आंतरिक भाव क्या है, यदि वह भी खोज नहीं पाया तो गाछ के अंकन का लाभ ही क्या? यदि उद्भिज तत्व की पुस्तक में गाछ का नमूना देना हो तो वह बात ही दूसरी है। क्योंकि वहां चित्र की बजाय एक दृष्टांत मात्र है।

निरा रूप, निरा भाव केवल गोचर ही होते हैं। 'मुझे देखो', 'मुझे जानो' इनकी मांग केवल यहीं तक सीमित है। किन्तु 'मुझे रखो' इस दावे की खातिर और भी कुछ चाहिए। मन के आम-दरबार में अपना-अपना रूप लेकर, भाव लेकर विभिन्न वस्तुएं हाजिर होती हैं, मन किसी से आग्रह करता है—आओ बैठो, किसी को कहता है—अच्छा जाओ।

जो व्यक्ति आर्टिस्ट हैं, उनका यह लक्ष्य होता है कि उन के द्वारा सृष्ट कृति मन के दरबार में हमेशा के लिए आसन जमाये। जिन सब गुणियों की सृष्टि में रूप अपने प्रमाण से, भाव अपने लावण्य से प्रतिष्ठित हुए हैं, केवल वे ही क्लासिक हुए हैं और वे ही सदैव बने रहेंगे।

अतएव चित्रकला में उस्ताद की उस्तादी, रूप और भाव में वैसी नहीं है, जैसी प्रमाण में है, लावण्य में है। इसके सही वजन का अंदाज पोथियों की विद्या में पाने की जरा भी गुंजाइश नहीं है। इसके लिए स्वाभाविक प्रतिभा की दरकार है। शारीरिक वजन का बोध स्वाभाविक होने पर ही चलना सहज होता है। फिर भी नित्य-नूतन बाधाओं में, पथ की बांकी-टेढ़ी भटकनों में, हम देह की गति को अनायास बाहर की अवस्था के साथ लय-ताल में मिला कर चल सकते हैं। यह वजन का बोध यदि बिल्कुल भीतरी वस्तु न हो तो रेलगाड़ी की तरह बंधे-बंधाये पथ पर यंत्र के द्वारा चलना पड़े, एक इंच भी बाएं-दाएं होने पर सर्वनाश निश्चित है। वैसे ही रूप व भाव के संबंध में जिसका वजन-बोध आंतरिक वस्तु है, वह 'नवनवोन्मेषशालिनीबुद्धि' के पथ पर कला-सृष्टि को चला सकता है। जिसके पास वह बोध नहीं है, वह डरता-डरता एक ही बंधी लीक पर एक ही कतार में चल कर साधारण मिस्त्री से मंजा-मंजाया कारीगर बन सकता है; वह सीमा के साथ सीमा का नया संबंध नहीं जमा सकता। इसीलिए नये संबंध-मात्र उसे बाघ की तरह भयावह दीखते हैं।

जो भी हो, फिलहाल हमने छवि के षड़-अंग में से दो अंग ही देखे हैं—वहिरंग और अंतरंग ! अव पंचम अंग में वाहर व भीतर एक होकर जिस क्षेत्र में मिले हैं, उसकी वावत चर्चा करें। उसका नाम है—सादृश्यम्। नकल करके जो सादृश्य मेल खाता है, इतनी देर उपरांत यह वात उठी, यदि कोई इस रूप में सोचे तो शास्त्र-वाक्य उसके लिए निरर्थक हो जाते हैं। गाय-घोड़े को अपने यथार्थ रूप में अंकन करने की खातिर रेखा-प्रमाण भाव लावण्य के लिए इतने वड़े उद्योग-पर्व की जरूरत ही क्यों पड़ी ? तो फिर ऐसी वात भी कोई सोच सकता है कि उत्तर-गोगृह में गायें चोरी करने के लिए ही उद्योग-पर्व अनिवार्य हो गया, कुरुक्षेत्र युद्ध की खातिर नहीं।

सादृश्य के दो पक्ष हैं। एक, रूप के साथ रूप का सादृश्य; दूसरा, भाव के साथ रूप का सादृश्य। एक वाहर का और एक भीतर का। दोनों ही आवश्यक हैं। किंतु सादृश्य को मुख्य रूप से वाहरी मानने से वात नहीं वनेगी।

जव भी रेखा व प्रमाण की वात छोड़ कर भाव-लावण्य की चर्चा हुई है, तभी अहसास हुआ कि गुणी के मन में जो छवि है, वह प्रधानत: रेखा की छवि नहीं, रस की छवि है। उस में एक ऐसी अनिर्वचनीयता है, जो प्रकृति में नहीं है। अंतस में उस अमृतरस की भावच्छवि को जव वाहर दृश्यमान कर पाये, तभी रस के साथ रूप का सादृश्य पाया जा सकता है, तभी आंतरिक व वाह्य का मेल संभव हो पाता है। और तभी अदृश्य अपना प्रतिरूप दृश्य के वीच देखता है। नाना प्रकार का चित्र-विचित्र रचा गया, नैपुण्य का भी अंत नहीं रहा, किन्तु आंतरिक रस की छवि के साथ, वाह्य-रूप की छवि का सादृश्य नहीं हुआ; रेखा-भेद और प्रमाण के साथ भाव और लावण्य का जोड़ नहीं मिला; शायद रेखा की त्रुटि रही या भाव की; परस्पर एक-दूसरे के समान नहीं हो सके। दूल्हा भी आया, दुल्हन भी आई, किन्तु अशुभ-लग्न के कारण मिलन का मंत्र व्यर्थ हो गया। 'मिष्टान्नमितरे जना:' वाहर के लोग पेट ठूंस कर संदेश खा गए, जय-जयकार कर गये, किन्तु अन्तर की खवर जानने वाला समझ गया कि सब मिट्टी में मिल गया। नेत्र-मोहित चतुराई पर ही ज्यादातर लोग रीझते हैं, किन्तु जिस में रूप के साथ रस का सादृश्य-वोध है, उन आंखों की आड़ से देखने पर ही जो व्यक्ति समझ पाता है कि रस ने रूप के भीतर ठीक अपना चेहरा पाया है कि नहीं, वही तो रसिक है। जिस प्रकार वातास सूर्य की किरणों को चारों ओर फैलाने का काम करती है, उसी प्रकार गुणी द्वारा सृष्ट कला-सौंदर्य को लोकालयों में सर्वत्र फैलाने का भार रसिक पर ही होता है। क्योंकि, जिसने भरपूर पाया है, वह स्वभावत: दिये विना रह नहीं सकता, वह जानता है, तन्नष्टम् यन्न दीयते। सर्वत्र व सर्व काल में मनुष्य इस 'मध्यस्थ' को मानता रहा है। भावलोक की वैंकों के यही अधिकारी होते हैं, नाना क्षेत्रों से नाना डिपोजिट के रुपये ये लोग ही पाते हैं; वे रुपये एक जगह अटका कर रखने के लिए नहीं होते। संसार के नाना कारोवारों में, नाना लोग रुपये लगाना चाहते हैं, उनके पास स्वयं अपना मूलधन यथेष्ट नहीं है—इन वैंकों के अभाव में उनका काम ठप्प हो जाएगा।

इस प्रकार रूप का भेद; प्रमाण से वंध गया, भाव के वेग से लावण्य संयत हुआ, भाव के साथ रूप का सादृश्य, पट पर सुसंपूर्ण होकर भीतर-वाहर का पूरमपूर मेल हो गया :

ये सब तो चुक गए; इसके बाद और क्या बाकी रह गया ?

किन्तु शिल्प-शास्त्र के मेरे वचन अब तक पूरे कहां हुए ? स्वयं द्रौपदी को भी पीछे छोड़ दिया। पांच को पार करके जो छठा आकर भिड़ा, वह है वर्णिका भंग। रंग की महिमा।

यहीं पर विषम खटका हुआ। मेरे पास एक गुणी बैठे हैं, उन्हीं से ही एक श्लोक मिला है। उन्हें पूछा, 'रूप अर्थात् रेखा का जो कारोबार षड़-अंग की शुरुआत में ही है और रंग की भंगिमा को जो सबसे अंतिम स्थान प्राप्त हुआ, चित्रकला में तुलना करने पर किसका प्राधान्य कितना स्थापित होता है ?'

उन्होंने कहा, 'कहना बहुत ही मुश्किल है।'

सच, उनके लिए वाकई कहना कठिन है। दोनों के प्रति उनका आंतरिक रुझान है। ऐसी स्थिति में निरासक्त मन से विचार करना, उनके वश की बात नहीं। मैं अव्यवसायी हूं, अतएव बाहर से आभास प्राप्त करना, मेरे लिए सहज है।

रंग और रेखा, इन दोनों से ही पृथ्वी का समस्त रूप हमें दृष्टिगोचर होता है। इस में रेखा ही रूप की सीमा निर्धारित कर देती है। यह सीमा-निर्देश ही छवि की प्रधान वस्तु है। अनिर्दिष्टता गाने में है, गंध में है, किन्तु छवि में रह ही नहीं सकती।

इसीलिए केवल रेखापात के द्वारा ही छवि बन सकती है। किन्तु केवल वर्णपात के द्वारा छवि नहीं बन सकती। वर्ण रेखा का आनुषंगिक है।

सफेद पर काले का दाग—यह है छवि का मूल। सृष्टि में जो कुछ भी हम आंखों से देख रहे हैं, वह असीम आलोक की सफेदी पर ससीम दाग है। ये दाग आलोक के विरुद्ध हैं, इसीलिए आलोक पर खिल उठते हैं। आलोक का उलटा है काला, आलोक के वक्ष पर ही उसका विहार है।

काला अपने आपको स्वयं प्रकट नहीं कर सकता। अपने आप में वह केवल अंधकार है, दवात की स्याही जैसा। सफेद पर ज्योंही यह दाग अंकित होता है तभी उस सम्मिलन में उसके दर्शन होते हैं। आलोक का सफेद पट वैचित्र्यहीन व स्थिर है, उस पर काली रेखा विचित्र-नृत्य के छन्द-छन्द में छवि बन कर प्रतिभासित हो रही है। शुभ्र व निस्तब्ध असीम रजतगिरिनिभ के सीने पर काली का पदक्षेप चंचल होकर सीमा-सीमा व रेखा-रेखा में छवि-दर-छवि की छाप लगा रही है। काली रेखा के उसी नृत्य का छन्द लेकर चित्र-कला का 'रूपभेदा: प्रमाणानि है।' नृत्य का विचित्र विक्षेप रूप का 'भेद' है और छंद की ताल ही उसका 'प्रमाण' है।

'प्रकाश' और 'छाया', अर्थात् 'प्रकाश' 'अ-प्रकाश' का द्वन्द्व खूब ही विलक्षण है। ये रंग उसी की मध्यस्थता करते हैं। ये मानो वीणा के आलाप की मीड़ हों—इस मीड़ के द्वारा सुर मानो सुर के अतीत को स्तर-स्तर पर इशारों में प्रकट कर देता है, हर भंगिमा में सुर अपने-आप को अतिक्रमित करके चलता है। उसी तरह रंगों की भंगिमा के द्वारा रेखा अपने-आपका अतिक्रमण करती है; रेखा मानो अ-रेखा की ओर अपना इंगित करती है। रेखा अपने-आप में सुनिर्दिष्ट है और रंग निर्दिष्ट व अनिर्दिष्ट के बीच सेतु का काम करता है, वह सफेद-काले के बीच विभिन्न खिचाव की मीड़ है। सीमा के बंधन में बंधी काली रेखा के तार को मानो सफेद खूब तीव्र करके अपनी ओर खींच रहा है;

इसीलिए काला, वाद्य के तार की कौड़ी से अति कोमल के भीतर होता हुआ प्रत्येक रंग में असीम का स्पर्श करता चला जा रहा है। इसीलिए कह रहा हूं कि रंग—रेखा और अ-रेखा के बीच की समस्त भंगिमा है। रेखा और अ-रेखा के मिलन से जो छबि की सृष्टि हुई, उस छबि में इस मध्यस्थता का प्रयोजन है। अ-रेख-सफेद के सीने पर जहां रेखा-काली का नृत्य हो रहा है, वहां ये रंग ही सब योगिनियां हैं। शास्त्र में इनका नाम सबसे पीछे रहने पर भी इनका काम किसी से कम नहीं है।

पहले ही कह चुका हूं कि सफेद पर केवल रेखा-मात्र से छबि बन सकती है, किंतु सफेद पर केवल रंग-मात्र से छबि नहीं बन सकती। कारण, रंग मध्यस्थता का काम करता है, दो पक्षों के बीच होने के अलावा किसी स्वतंत्र स्थल पर उसका कोई अर्थ ही नहीं है।

इति वर्णिका भंग।

छबि के इन छः अंगों से कविता का क्या नाता है, उसे समझने पर सारी बात शायद सरल हो जाएगी।

जिस तरह छबि का स्थूल उपादान है—रेखा; उसी तरह कविता का स्थूल उपादान है—वाणी। सैन्यदल की चाल के समान, वाणी की चाल में भी एकटा वजन है, एकटा प्रमाण है और वही छंद है। यह वाणी और वाणी के प्रमाण बाहर के अंग है, भीतर के अंग हैं—भाव और माधुर्य।

बाहर को भीतर के साथ मिलाना होगा। बाहर की बातें आंतरिक भावों के सदृश्य होनी चाहिए, वैसा होने पर ही समस्त में मिल कर कवि का काव्य, उसकी कल्पना के सदृश्य हो जाएगा।

वहिः सादृश्य : रूप के साथ रूप का सादृश्य, अर्थात् जिसे देखा जाता है, उसे ही ठीक-ठाक करके वर्णित करना, कविता के लिए मुख्य बात नहीं है। वह कविता का लक्ष्य नहीं, उपलक्ष्य मात्र है। इसीलिए वर्णना-मात्र ही यदि कविता का परिणाम हो तो रसिक-गण उसे उच्च स्तर की कविता के रूप में स्वीकार नही करेंगे। बाहर को भीतर का बना कर देखना और भीतर को बाहर के रूप में व्यक्त करना—यही कविता व समस्त आर्ट का लक्ष्य होता है।

सृष्टि कर्त्ता नितांत अपनी परिपूर्णता के माध्यम से ही सृष्टि कर रहे हैं, उनका और कोई उपसर्ग नहीं है। किन्तु बाहर की सृष्टि मनुष्य के आंतरिक तार पर आघात करके, जब एकटा मानुष-शिशु को जन्म देती है, जब एक रस का सुर बजता है, तभी वह रह नहीं पाता, बाहर सृष्ट होने की कामना करता है। यही मनुष्य के समस्त विश्व-जगत की सृष्टि का मूल तत्व है। इसी कारण मनुष्य की सृष्टि में भीतर-बाहर के घात-प्रतिघात हैं। इसी कारण मनुष्य की सृष्टि में बाहरी जगत का आधिपत्य है। यदि एकाधिपत्य रहे, यदि प्रकृति का चाटुकार होना ही किसी आर्टिस्ट का काम हो, तब उसके द्वारा सृष्टि ही नहीं होती। शरीर बाहर का खाना, खाता अवश्य है, किन्तु उसका अविकृत वमन करेगा, इसलिए नहीं; अपने में उसका विकार पैदा करके, उसे अपना बना लेगा, इसलिए। तब वही खाद्य एक ओर रस-रक्त रूप में बाह्य आकार, और दूसरी

ओर शक्ति, स्वास्थ्य, सौंदर्य के रूप में आन्तर-आकार धारण करता है। यही शरीर का सृष्टि-कार्य है। मन का सृष्टि-कार्य भी इसी तरह का है। वह वाहर के विश्व को जव विकार के द्वारा अपना वना लेता है, तव वही मानस एक ओर वाक्य, रेखा, सुर प्रभृति वाह्य आकार—दूसरी ओर सौंदर्य, शक्ति प्रभृति आन्तर-आकार धारण करता है, यही मन की सृष्टि है—जिस पर नजर पड़ी, उसे हूवहू दिखाना सृष्टि नहीं है।

तत्पश्चात्, जिस प्रकार छवि में वर्णिका-भंग है, उसी प्रकार कविता में व्यंजना; सजेस्टिवनेस है। व्यंजना के द्वारा वात अपने अर्थ को पार कर जाती है। जो कहती है, उससे ज्यादा व्यक्त करती है। यह व्यंजना भी व्यक्त और अव्यक्त के वीच की मीड़ है। कवि के काव्य में, यह व्यंजना वाणी के निर्दिष्ट अर्थ के द्वारा नहीं, वाणी की अनिर्दिष्ट भंगिमा द्वारा; अर्थात् वाणी की रेखा से नहीं, उसके रंग से सृष्ट होती है।

असली वात यह है कि सव प्रकृत अार्ट में—एक वाहर का उपकरण और एक चित्त का उपकरण दोनों अनिवार्य हैं—अर्थात्, एक रूप और दूसरा भाव। उस उपकरण को संयम से वांध कर गढ़ना होता है; वाहर का वंधन 'प्रमाण' है, भीतर का वंधन 'लावण्य' है। तत्पश्चात्, उस भीतर-वाहर के उपकरण को मिलाना होगा—किसलिए? सादृश्य के लिए। किस के साथ सादृश्य? ध्यान-रूप के साथ या कल्प-रूप के साथ? वाह्य रूप के संग सादृश्य यदि मुख्य लक्ष्य हो, तव भाव और लावण्य आवश्यक न होते हों, सो वात नहीं, वे विरुद्ध भी हो जाते हैं। इस सादृश्य को व्यंजना के रंग में रंगने से सोने में सुहागा हो जायेगा; इसलिए कि जव वह सादृश्य से वड़ा हो जाता है, तव वह कितना वोलेगा, स्वयं रचयिता भी नहीं जानता, तव सृष्टि-कर्ता की सृष्टि उसके संकल्प को भी पार करके आगे निकल जाती है।

अतएव, मुद्दे की वात यह है कि छवि के जो छः अंग हैं, वे समस्त आर्ट के लिए हैं: इसीलिए कि वे आनंद-स्वरूप हैं। ००

गाछ-बिरछ कुछ बोलते हैं क्या ? बहुत-से कहेंगे, यह फिर कैसा प्रश्न है ? बिरछ क्या कभी बात करता है ? मनुष्य भी क्या सब बातें ख़ोल कर कहता है ? और जो खोल कर नहीं कहते, वह क्या बात नहीं है ? हमारे एक बच्चा है, वह सारी बातें खोल कर नहीं कह सकता । फिर वह जो भी दो-चार बातें कहने की चेष्टा करता है, वह भी ऐसी आधी-अधूरी व टूटी-फूटी कि दूसरों के लिए उसका अर्थ समझना आसान नहीं है । किन्तु हम अपने बच्चे की तमाम बातों का अर्थ समझते हैं । केवल इतना ही नहीं, हमारा बच्चा कई बातें खोल कर नहीं बोल सकता, आंख, मुंह, हाथ व सर इत्यादि हिला कर अनेक भाव-भंगिमा व मुद्राएं बना कर न जाने कितनी बातें व्यक्त करता है, हम वे भी समझ सकते हैं, दूसरे नहीं समझ सकते । एक दिन पास के घर से एक कबूतर उड़ कर हमारे मकान पर बैठ गया । तत्पश्चात् गला फुला कर ऊंचे स्वर में गुटरगूं करने लगा । कबूतर के साथ बच्चे का नया ही परिचय था, बच्चे ने उसकी नकल करते हुए उसी तरह कूंजना शुरू किया । 'कबूतर किस तरह बोलता है ?' यह पूछते ही वह बोलने लगता है । इसके अलावा सुख में, दुख में, चलते-बैठते जब इच्छा होती है, उस गुटरगूं का अनुकरण करता है । नयी विद्या सीख कर उसके आनन्द की सीमा नहीं है ।

एक दिन घर लौटा तो क्या देखता हूं कि बच्चे को तेज बुखार है । असह्य सर-दर्द के मारे आंखें बन्द किये बिछौने पर पड़ा है । जो नटखट कन्हैया सारे दिन अपने शोर-गुल से मकान को नचा उठता था, वह आज एक बार आंखें तक नहीं खोलना चाहता । उसके पास बैठ कर मैं दुलार से उसका माथा सहलाने लगा । मेरे हाथ के स्पर्श से बच्चे ने मुझे पहचान लिया और बड़ी मुश्किल से आंखें खोल कर क्षण भर के लिए मेरी ओर देखा । उसके बाद कबूतर की तरह बोला । उस आवाज के भीतर मैंने ढेर-सारी बातें सुनीं । मैं समझ गया । बच्चा कह रहा था, 'मुझे देखने आये हो, मैं तुम्हें कितना प्यार करता हूं ?' और भी अनेक बातें समझीं, जिन्हें मैं किसी भी प्रकार समझा नहीं सकता ।

बिरछ की बात

जगदीशचन्द्र बसु

जरूर जानना चाहोगे कि उस गुटरगूं के भीतर मैंने इतनी वातें क्योंकर सुनीं ? एक ही उत्तर है—बच्चे को प्यार करता हूं, इसलिए । तुमने गौर किया होगा कि बच्चे का मुंह देख कर ही मां तुरन्त भांप लेती है कि वह क्या चाहता है ? कई वार तो कुछ भी संकेत जरूरी नहीं होता । प्यार भरी निगाह से देखते ही सव-कुछ दिख जाता है, सव-कुछ सुनायी पड़ जाता है ।

पहले जब किसी मैदान या पहाड़ पर घूमने जाता तो सव सूना-सूना-सा लगता । उसके बाद जब से गाछ-विरछ, पंछी, कीट-पतंगों को प्यार करना सीखा है, तव से उनकी अनेक वातें समझने लगा हूं, जो पहले नहीं समझ सकता था । ये जो गाछ-विरछ कुछ भी बात नहीं करते, इनका भी अपना एक जीवन है, हमारी तरह भोजन करते हैं, दिन-प्रतिदिन बढ़ते हैं, पहले यह कुछ भी नहीं जानता था, अव समझने लगा हूं । अव इन में हमारे सदृश ही अभाव, कष्ट-पीड़ा दिखलायी पड़ती है । जिन्दा रहने के लिए इन्हें भी सदैव व्यस्त रहना पड़ता है । आफत-विपदा पड़ने पर इन में से कुछ तो चोरी-डकैती भी करते हैं । मनुष्य की तरह इन में भी सद्‌गुण होते हैं । परस्पर एक-दूसरे की सहायता भी करते हैं । आपस में मित्रता भी रखते हैं । और तो और, मनुष्य का जो सर्वश्रेष्ठ गुण है—नि:स्वार्थ भावना—वह भी पेड़ों में देखी जा सकती है । मां अपना जीवन देकर, जिस तरह संतान की रक्षा करती है, उसी तरह उद्‌भिज भी अपनी सन्तान के लिए सामान्यतया जीवन निछावर करते हैं। गाछ-बिरछ का जीवन मनुष्य के जीवन की छाया-मात्र है । ये सब वातें क्रमशः तुमको बताऊंगा ।

तुम सबने सूखे पेड़ की डाली तो अवश्य देखी होगी । मान लो, तुम किसी पेड़ के नीचे बैठे हो । हरे पत्तों से लदे-फदे सघन पेड़ की छाया में । पेड़ के नीचे एक ओर सूखी डाल पड़ी है । किसी समय इस डाल पर कितने पत्ते थे ? एकदम हरे और मुस्कराते हुए । अव सारे सूख गये हैं, डाल की मृतदेह से चिपके हुए । कुछ दिन बाद इनका चिन्ह तक वाकी नहीं रहेगा । अच्छा, बताओ तो, इस पेड़ और इस सूखी डाल में क्या अन्तर है ? गाछ तो निरंतर बढ़ रहा है और सूखी डाल नष्ट होती जा रही है । एक में जीवन है और दूसरा जीवन से शून्य है । जो जीवित है, वह निरंतर बढ़ता रहता है । जीवन का एक और लक्षण है कि वह सतत् गतिशील है, सक्रिय है, हिलता-डुलता है । गाछ-बिरछ की गति सहसा नजर नहीं आती । बेल-लताएं किस तरह पेड़ से लिपटती हुई ऊपर चढ़ती हैं, देखा ही होगा ।

जीवित वस्तु में गति रहती है, वह निरंतर संवृद्ध होती है । केवल अंडे में जीवन का कोई लक्षण नहीं होता । उस में जीवन सोया रहता है । गर्मी पाकर अंडे से बच्चे उत्पन्न होते हैं । इसी तरह बीज भी बिरछ के अंडे ही हैं । बीज के भीतर ही गाछ की संतान सोयी रहती है । माटी, गर्मी और पानी मिलने पर ही बीज से गाछ-शिशु का जन्म होता है ।

बीज के ऊपर एक सख्त आवरण होता है, जिसके बीच गाछ-शिशु निरापद सोया रहता है । बीज के विभिन्न स्वरूप होते हैं—कोई अत्यन्त छोटा तो कोई बड़ा । बीज देख कर बिरछ के आकार का अनुमान नहीं लगाया जा सकता । गहर-घुमेर विशाल बरगद

का पेड़, सरसों की निस्बत छोटे बीज से उत्पन्न होता है। कौन सोच सकता है कि इतना बड़ा पेड़, इतने छोटे बीज में छिपा पड़ा है ! तुमने शायद किसानों को धान के बीज खेतों में बिखेरते देखा होगा। किन्तु जितने अनगिनत गाछ-बिरछ वन-अरण्य में आबाद हैं, उनमें से बहुतों के बीज मनुष्य ने नहीं बिखेरे। नाना उपायों से पेड़ के बीज स्वतः बिखर जाते हैं। पंछी फलों के माध्यम से दूर-दिगंत तक बीज ले जाते हैं। इस प्रकार जन-मानव शून्य द्वीप में गाछ-बिरछ का जन्म होता है। बहुत-सारे बीज हवा में उड़ते हुए दूर-दूर तक बिखर जाते हैं। सेमुल का पेड़ बहुत-सों ने देखा होगा। सेमुल का फल जब धूप से फट जाता है, तब उसकी रूई के साथ बीज भी उड़ने लगते हैं। ठेठ बचपन में उन उड़ते बीजों का पीछा करते हुए हम दौड़ते थे। हाथ बढ़ा-बढ़ा कर उन्हें पकड़ने का उपक्रम करते तो हवा तुरंत उसे ऊपर-ही-ऊपर उड़ा ले जाती। इस प्रकार दिन-रात देश-देशांतर बीज बिखर रहे हैं।

प्रत्येक बीज से बिरछ उत्पन्न होता है कि नहीं, किसे भी पुख्ता जानकारी नहीं है। शायद कठोर पत्थर के ऊपर बीज गिर पड़ा हो, जहां उसका अंकुर फूट नहीं सकता। और अंकुर फूटने के लिए उपयुक्त गर्मी, पानी व माटी भी तो चाहिए।

जहां-कहीं भी बीज गिरा हो, गाछ-शिशु कई दिनों तक उसके भीतर निर्द्वंद्व सोया रहता है। बढ़ने की उपयुक्त ठौर जब तक न मिले, तब तक बाहर का सख्त आवरण गाछ-शिशु को नाना विपदाओं से बचाता है।

विभिन्न समय में विभिन्न प्रकार के बीज पकते हैं। आम व लीची के बीज बैसाख महीने में पकते हैं, धान, जौ इत्यादि आश्विन व कार्तिक मास में पकते हैं। मान लो, एक पेड़ का बीज आश्विन मास में पका हो, जब बड़े अंधड़ चलते हैं, जिसके आघात से पत्ते व छोटी-बड़ी डालियां टूट-टूट कर चारों ओर फैल जाती हैं। इस तरह बीज सब तरफ बिखर जाते हैं। प्रबल हवा के वेग से कहां उड़ कर पहुंच जाते हैं, कौन जान सकता है ? मान लो, एक बीज ने दिन-रात माटी में गिरते-पड़ते एक टूटी-बिखरी ईंट या मिट्टी के ढेले का आश्रय लिया हो। कहां था और कहां आन पड़ा ? धीरे-धीरे धूल-मिट्टी से बीज ढंक गया। मनुष्य की दृष्टि से ओझल हो गया। हमारी नजर से भले ही लुप्त हो गया हो, पर विधाता की निगाह से बच नहीं सकता। मां की तरह धरती उसे गोद में बिठा लेती है। माटी की स्नेहिल पर्त में दबा गाछ-शिशु सर्दी व अंधड़ से पूर्णतया बच गया। इस तरह गाछ का नन्हा-मुन्ना निर्विघ्न सोता रहा—सोता रहा। ००

मिट्टी के नीचे बहुत दिनों तक बीज पड़े रहे। महीना-दर-महीना इसी तरह बीतता गया। सर्दियों के बाद बसंत आया। उसके बाद वर्षा की शुरुआत में दो-एक दिन पानी बरसा। अब और छिपे रहने की जरूरत नहीं थी! मानो बाहर से कोई शिशु को पुकार रहा हो, 'और सोये मत रहो, ऊपर उठ जाओ, सूरज की रोशनी देखो।' आहिस्ता-आहिस्ता बीज का ढक्कन दरक गया, दो सुकोमल पत्तियों के बीच अंकुर बाहर निकला। अंकुर का एक अंश नीचे माटी में मजबूती से गड़ गया और दूसरा अंश माटी भेद कर ऊपर की ओर उठा। क्या तुमने अंकुर को उठते देखा है? जैसे कोई शिशु अपना नन्हा-सा सर उठा कर आश्चर्य से नयी दुनिया को देख रहा हो!

गाछ का अंकुर बाहर निकलने पर जो अंश माटी के भीतर प्रवेश करता है, उसका नाम जड़ है। और जो अंश ऊपर की ओर बढ़ता है, उसे तना कहते हैं। सभी गाछ-बिरछ में 'जड़' व 'तना'—ये दो भाग मिलेंगे। यह एक आश्चर्य की बात है कि गाछ-बिरछ को जिस तरह ही रखो, जड़ नीचे की ओर जायेगी व तना ऊपर की ओर उठेगा। एक गमले में पौधा था। परीक्षण करने के लिए कुछ दिन गमले को औंधा लटकाये रखा। पौधे का सर नीचे की तरफ लटका रहा और जड़ ऊपर की ओर रही। दो-एक दिन बाद क्या देखता हूं कि जैसे पौधे को भी सब भेद मालूम हो गया हो। उसकी सब पत्तियां और डालियां टेढ़ी होकर ऊपर की तरफ उठ आयीं तथा जड़ घूम कर नीचे की ओर लटक गयी। तुमने कई बार सर्दियों में मूली काट कर बोयी होगी। देखा होगा, पहले पत्ते व फूल नीचे की ओर रहे। कुछ दिन बाद देखोगे कि पत्ते और फूल ऊपर की ओर उठ आये हैं।

हम जिस तरह भोजन करते हैं, गाछ-बिरछ भी उसी तरह भोजन करते हैं। हमारे दांत हैं, हम कठोर चीज खा सकते हैं। नन्हे बच्चों के दांत नहीं होते, वे केवल दूध पी सकते हैं। गाछ-बिरछ के भी दांत नहीं होते, इसलिए वे केवल तरल द्रव्य या वायु से भोजन ग्रहण करते हैं। गाछ-बिरछ जड़ के द्वारा माटी से रस-पान करते हैं। चीनी में

उद्भिज का जन्म और मृत्यु

जगदीशचन्द्र वसु

पानी डालने पर चीनी गल जाती है। माटी में पानी डालने पर उसके भीतर बहुत-से द्रव्य गल जाते हैं। गाछ-बिरछ वे ही तमाम द्रव्य सोखते हैं। जड़ों को पानी न मिलने पर पेड़ का भोजन बंद हो जाता है और पेड़ मर जाता है।

खुर्दबीन से अत्यंत सूक्ष्म पदार्थ स्पष्टतया देखे जा सकते हैं। पेड़ की डाल अथवा जड़ का इस यंत्र द्वारा परीक्षण करके देखा जा सकता है कि पेड़ में हजारों-हजार नल हैं। इन्हीं सब नलों के द्वारा माटी से पेड़ के शरीर में रस का संचार होता है।

इसके अलावा गाछ के पत्ते हवा से आहार ग्रहण करते हैं। पत्रों में अनगिनत छोटे-छोटे मुंह होते हैं। खुर्दबीन के जरिये अनगिनत मुंह पर अनगिनत होंठ देखे जा सकते हैं। जब आहार करने की जरूरत न हो तब दोनों होंठ बंद हो जाते हैं। जब हम श्वास-प्रश्वास ग्रहण करते हैं तब प्रश्वास के साथ एक प्रकार की विषाक्त वायु बाहर निकलती है, उसे 'अंगारक' वायु कहते हैं। अगर यह जहरीली हवा पृथ्वी पर इकट्ठी होती रहे तो तमाम जीव-जन्तु कुछ ही दिनों में उसका सेवन करके नष्ट हो सकते हैं। जरा विधात्री की करुणा का चमत्कार तो देखो—जो जीव-जन्तुओं के लिए जहर है, गाछ-बिरछ उसी का सेवन करके उसे पूर्णतया शुद्ध कर देते हैं। पेड़ के पत्तों पर जब सूर्य का प्रकाश पड़ता है, तब पत्ते सूर्य-ऊर्जा के सहारे 'अंगारक' वायु से अंगार निःशेष कर डालते हैं। और यही अंगार बिरछ के शरीर में प्रवेश करके उसका संवर्द्धन करते हैं। पेड़-पौधे प्रकाश चाहते हैं। प्रकाश न मिलने पर ये बच नहीं सकते। गाछ-बिरछ की सर्वाधिक कोशिश यही रहती है कि किसी तरह उन्हें थोड़ा-सा प्रकाश मिल जाये। यदि खिड़की के पास गमले में पौधा रखो, तब देखोगे कि सारी पत्तियां व डालियां अंधकार से बच कर प्रकाश की ओर बढ़ रही हैं। वन-अरण्य में जाने पर पता लगेगा कि तमाम गाछ-बिरछ इस होड़ में सचेष्ट हैं कि कौन जल्दी से सर उठा कर पहले प्रकाश को झपट ले। वेल-लताएं छाया में पड़ी रहने से, प्रकाश के अभाव में मर जायेंगी। इसीलिए वे पेड़ों से लिपटती हुई, निरंतर ऊपर की ओर अग्रसर होती रहती हैं।

अब तो समझ गये होगे कि प्रकाश ही जीवन का मूलमंत्र है। सूर्य-किरण का परस पाकर ही पेड़ पल्लवित होता है। गाछ-बिरछ के रेशे-रेशे में सूरज की किरणें आबद्ध हैं। ईंधन को जलाने पर जो प्रकाश व ताप बाहर प्रकट होता है, वह सूर्य की ही ऊर्जा है। गाछ-बिरछ व समस्त हरियाली प्रकाश हथियाने के जाल हैं। पशु-डांगर, पेड़-पौधे या हरियाली खाकर अपने प्राणों का निर्वाह करते हैं। पेड़-पौधों में जो सूर्य का प्रकाश समाहित है वह इसी तरह जन्तुओं के शरीर में प्रवेश करता है। अनाज व सब्जी न खाने पर हम भी बच नहीं सकते। सोच कर देखा जाय तो हम भी प्रकाश की खुराक पाने पर ही जीवित हैं।

कोई पेड़ एक वर्ष के बाद ही मर जाता है। सब पेड़ मरने से पहले संतान छोड़ जाने के लिए व्यग्र हैं। बीज ही गाछ-बिरछ की सन्तान है। बीज की सुरक्षा व सार-संभाल के लिए पेड़ फूल की पंखुड़ियों से घिरा एक छोटा-सा घर तैयार करता है। फूलों से आच्छादित होने पर पेड़ कितना सुन्दर दिखलाई पड़ता है। जैसे फूल-फूल के बहाने वह हंस रहा हो। फूल की तरह सुन्दर चीज और क्या है? जरा सोचो तो, गाछ-बिरछ तो मटमैली

माटी से आहार व विषाक्त वायु से अंगार ग्रहण करते हैं, फिर इस अपरूप उपादान से किस तरह ऐसे सुन्दर फूल खिलते हैं। कथा सुनी होगी — स्पर्शमणि की, पारस पत्थर की, जिसके परस-मात्र से लोहा सोना हो जाता है। मेरे खयाल से मां की ममता ही वह मणि है। संतान पर स्नेह निछावर होते ही फूल खिलखिला उठते हैं। ममता का परस पाते ही मानो माटी व 'अंगार' फूल बन जाते हैं।

पेड़ों पर मुस्कराते फूल देख कर हमें कितनी खुशी होती है! शायद पेड़ भी कम प्रफुल्लित नहीं होते! खुशी के मौके पर हम अपने परिजनों को निमंत्रित करते हैं। उसी प्रकार फूलों की बहार छाने पर गाछ-विरछ भी अपने बन्धु-बान्धवों को बुलाते हैं। स्नेहसिक्त वाणी में पुकार कर सकते हैं, 'कहां हो मेरे बंधु, मेरे बांधव, आज मेरे घर आओ। यदि रास्ता भटक जाओ, कहीं घर पहचान नहीं सको, इसलिए रंग-बिरंगे फूलों के निशान लगा रखे हैं। ये रंगीन पंखुड़ियां दूर से देख सकोगे।' मधु-मक्खी व तितली के साथ विरछ की चिरकाल से घनिष्ठता है। वे दल-बल सहित फूल देखने आती हैं। कुछ पतंगे दिन के समय पक्षियों के डर से बाहर नहीं निकल सकते। पक्षी उन्हें देखते ही खा जाते हैं, इसलिए रात का अंधेरा घिरने तक वे छिपे रहते हैं। शाम होते ही उन्हें बुलाने की खातिर फूल चारों तरफ सुगंध-ही-सुगंध फैला देते हैं।

गाछ अपने फूलों में शहद का संचय करके रखते हैं। मधु-मक्खी व तितली बड़े चाव से मधु-पान करती हैं। मधु-मक्खी के आगमन से विरछ का भी उपकार होता है। तुम लोगों ने फूल में पराग-कण देखे होंगे। मधु-मक्खियां एक फूल के पराग-कण दूसरे फूल पर ले जाती हैं। पराग-कण के बिना बीज पक नहीं सकता।

इस प्रकार फूल में बीज फलता है। अपने शरीर का रस पिला कर विरछ बीजों का पोषण करता है। अब अपनी जिन्दगी के लिए उसे मोह-माया का लोभ नहीं है। तिल-तिल कर संतान की खातिर सब-कुछ लुटा देता है। जो शरीर कुछ दिन पहले हरा-भरा था, अब वह बिल्कुल सूख गया है। अपने ही शरीर का भार उठाने की शक्ति क्षीण हो चली है। पहले हवा बयार करती हुई आगे बढ़ जाती थी। पत्ते हवा के संग क्रीड़ा करते थे। छोटी-छोटी डालियां ताल-ताल पर नाच उठती थीं। अब सूखा पेड़ हवा का आघात सहन नहीं कर सकता। हवा का बस एक थपेड़ा लगते ही वह थर-थर कांपने लगता है। एक-एक करके सभी डालियां टूट पड़ती हैं। अंत में एक दिन अकस्मात् पेड़ जड़सहित जमीन पर गिर पड़ता है।

इस तरह संतान के लिए अपना जीवन न्योछावर करके विरछ समाप्त हो जाता है। ००

बत्तीस वर्ष पहले मैंने अदृश्य वैद्युतिक-रश्मि के बारे में गवेषणा प्रारंभ की। 'हार्ज' आविष्कृत वैद्युतिक-तरंग अति वृहताकार होने से सरल रेखा में न दौड़ कर वक्र हो जाती थी। दृश्य व अदृश्य प्रकाश की प्रकृति एक जैसी ही है, उसे प्रमाणित करने के लिए उर्मि को खर्व करना आवश्यक था। मैंने जिस यंत्र का निर्माण किया, उसके द्वारा प्रेरित आकाश-उर्मि की लम्बाई, एक इंच के छठे भाग का एक अंश-मात्र थी। यह रोशनी हम देख नहीं सकते, शायद कोई अन्य जीव देख सकता हो। परीक्षण करके देखा है कि इस रोशनी से उद्भिज उत्तेजित हुआ करता है। अदृश्य आलोक की उपलब्धि के लिए कोई विश्वसनीय यंत्र उस समय नहीं था। मेरे द्वारा निर्मित गयलिना-रिसीवर उद्भावित होने के फलस्वरूप बहुत दूर का संवाद प्राप्त करने की संभावना बन गयी। ईस्वी सन् १८९८ के दौरान मैं सबके सामने बिना तार के संवाद भेजने में सफल हुआ था। विद्युत-उर्मि ने गवर्नर की विशाल देह एवं दो कमरों को पार करके, तीसरे कमरे में तरह-तरह की हलचल मचा दी थी। उसने लोहे के एक गोले को फेंका था, पिस्तौल से धमाका करवाया था एवं बारूद की ढेरी को उड़ा दिया था।

जीव तथा अजीव

तारविहीन यंत्र के द्वारा परीक्षण करते-करते देखा कि अचानक यंत्र का 'साड़ा' किसी अज्ञात कारण से बन्द हो गया। मनुष्य की लिखावट से उसकी शारीरिक दुर्बलता व क्लांति का जिस प्रकार अनुमान किया जा सकता है, यंत्र की 'साड़ा' लिपि में भी उसी तरह का आभास लक्षित हुआ। और भी आश्चर्य की बात यह थी कि विश्राम करने के बाद यंत्र की क्लांति दूर हो गयी, उसने फिर 'साड़ा' देना शुरू कर दिया। उत्तेजित औषधि के प्रयोग से उसकी 'साड़ा' देने की क्षमता बढ़ गयी एवं विष के प्रयोग से 'साड़ा' देने की शक्ति एकदम अंतर्हित हो गयी। जो 'साड़ा' देने की शक्ति जीवन का

उद्भिज का हृद-स्पंदन

जगदीशचन्द्र बसु

प्रमुख आधार है, जड़ पदार्थ में भी उसका सक्रिय-रूप देख पाया। इस तरह अनेकता के बीच एकत्व का संधान उपलब्ध हुआ।

उद्भिज का साड़ा

तत्पश्चात् मैं उद्भिज की चेतना के संबंध में गवेषणा करने के लिए प्रवृत्त हुआ। तब सर्व-सम्मत रूप से यह सिद्धांत मान्य था कि उद्भिज व प्राणियों की जीवनधारा के बीच अत्यधिक अंतर है। आहत होने पर प्राणी अपने अंग-प्रत्यंगों का द्रुत गति से संचालन करता है; उसका हृद्-यंत्र हर समय स्पंदित होता रहता है। इसके अलावा प्राणी इन्द्रियों की सहायता से बाह्य-द्रव्य उपलब्ध कर सकता है। दूसरी ओर वृक्ष, संकोचन व प्रसारण करने के लिए अक्षम हैं, सर्वथा स्पंदन-रहित हैं, स्नायु-विहीन हैं—यही प्रचलित विश्वास था। दो जीवन-धाराएं पार्श्वस्थ प्रवाहित हो रही हैं। फिर भी उनके जीवन में कहीं ऐक्य का चिह्न परिलक्षित नहीं होता। इस भ्रान्त विश्वास ने बहुत समय से उद्भिज-जीवन का ज्ञान-पथ अवरुद्ध कर रखा था। जिस दिन ऐसा यंत्र आविष्कृत हुआ, जिसके प्रभाव से वृक्ष ने चेतना का 'साड़ा' दिया, उसी दिन से उसकी अज्ञात आभ्यंतरिक जीवन-प्रणाली को जानना संभव हुआ। धीरे-धीरे उस 'साड़ा' को लिपिबद्ध करने के लिए यंत्रों का आविष्कार करना पड़ा, उस लिपि को पढ़ने के कौशल की सृष्टि करनी पड़ी। इस नये ढंग की गवेषणा के फलस्वरूप यह सत्य प्रतिष्ठित हुआ कि प्राणी व उद्भिज का जीवन एक जैसा ही है। मनुष्य में जैसा हृद्-स्पंदन है, वृक्ष-लतादि में भी वैसी ही हृद्-स्पंदन है। जिस प्रकार प्राणी मौत के मुंह में जाने के पूर्व मृत्युजनित-आक्षेप का प्रदर्शन करता है, उसी प्रकार उद्भिज भी समान आक्षेप का ज्ञापन करता है। और भी आश्चर्य का विषय यह है कि उत्तेजक दवा या विष की प्रक्रिया दोनों पर एक जैसी होती है। इस से विज्ञ चिकित्सक सोचते हैं कि उद्भिज-जीवन से संबंधित इस नवीन गवेषणा के फल-स्वरूप औषधि-विज्ञान के क्षेत्र में बहुत उन्नति होगी। कृषि के क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिए, उद्भिज परिवर्धन की धारा से अवगत होना अवश्य प्रयोजनीय होगा। क्रेस्कोग्राफ यंत्र का आविष्कार होने से, इस धारा के अनेकों रहस्य भी अनावृत्त हुए हैं।

साधना

इन सभी सिद्धान्तों को उपनीत होने में बहुत गवेषणा करनी पड़ी है। एक दिन की चेष्टा से यह सम्भव नहीं हुआ। कई वर्षों की एकाग्र-साधना से यह उपलब्धि हासिल हुई है। आठ वर्ष पहले बसु-विज्ञान-मन्दिर की मैंने प्रतिष्ठा की थी। जो व्यक्ति गवेषणा कार्य में अपना समूचा जीवन अर्पित करेंगे, जो व्यक्ति अतिरिक्त चरित्र-बल एवं दृढ़-संकल्प लेकर कार्य-क्षेत्र में उतरेंगे और जो व्यक्ति प्रकृत सत्य उद्घाटित करने में समर्थ होंगे, केवल उन्हीं लोगों को ही शिष्य-रूप में ग्रहण किया था। भारतवासी किसी भी कार्य में अग्रणी होने में अक्षम हैं—इस कलंक ने हम सभी देशवासियों को आच्छन्न कर रखा है। हमेशा के लिए इस तथाकथित कलंक-कालिमा को पोंछने के लिए मैं कृत-संकल्प हुआ था।

अंतर्दृष्टि

महत्वपूर्ण आविष्कार करने के निमित्त प्रबल अंतर्दृष्टि, सूक्ष्म-यंत्र की परिकल्पना, उनके निर्माण की दक्षता और अनुसंधान की क्षमता अनिवार्य है। अंतर्दृष्टि के अभाव में उद्देश्यविहीन संधान की कोई सार्थकता नहीं है। भारतीय चिन्ता व उत्तराधिकार-सूत्र से प्राप्त वैशिष्ट्य के फलस्वरूप अपना देश ज्ञान के प्रसार में विशेष रूप से पारदर्शी है। आपात दृष्टि से वैषम्यपूर्ण घटनावलि के बीच भारतीय कल्पनाशक्ति एकता को खोज लेती है। एकाग्र-साधना से उस शक्ति को नियंत्रित किया जा सकता है। फिर यह क्षमता मन को धैर्यशाली बनाती है और सत्य के अनुसंधान की खातिर सक्षम बनाती है। मनोमन्दिर ही प्रकृत विज्ञान-मन्दिर है।

उद्भिज के आभ्यंतरिक प्राण, यंत्र के गूढ़ रहस्य से अवगत हों, इसके लिए अंतर्दृष्टि द्वारा उद्भिज के हृद्-स्पंदन का अनुभव करना होगा। इस अंतर्दृष्टि का बीच-बीच में परीक्षण करके देखना निहायत जरूरी है। अपरीक्षित-कल्पना चिन्तन-धारा को विपथगामी कर देती है। अणुवीक्षण यंत्र द्वारा जब कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता, उस समय भी हमें अदर्शनीय का अनुसरण करना पड़ता है। क्योंकि जो हमारे दृष्टि-पथ के परे रहता है, उसकी तुलना में हम जितना देख पाते हैं, वह एकदम नगण्य होता है। उस अदृश्य संसार की गहराई से छानबीन करने के लिए 'क्रेस्कोग्राफ' का आविष्कार करना पड़ा। इस यंत्र की सहायता से सभी वस्तुएं अपने असली नाप से दस करोड़ गुना बड़ी दिखती हैं। इससे दृष्टि के बहिर्भूत जीवन की मूल-गति को प्रत्यक्ष करना संभव हुआ। इस यंत्र को काम में लाने के लिए हाथ पूर्णतया मन के अधीन रहने चाहिए। अन्यथा यंत्र व्यवहार के योग्य नहीं रहता। देह पर मन के प्रभाव की कोई सीमा नहीं है। मन की शक्ति के द्वारा जो सफलता प्राप्त हुई है, उसने इन्द्रजाल को भी पराजित किया है। विशेष शिक्षण-प्रशिक्षण के द्वारा ही इन समस्त शक्तियों का उत्कर्ष सम्भव है। इसलिए विगत आठ वर्षों में इस विज्ञान-मन्दिर के द्वारा दो सौ विषयों पर सफलतापूर्वक परीक्षण हुआ है।

वृक्ष में रस-संचालन

अन्तर्दृष्टि एवं अविराम अनुसंधान करने की इच्छा द्वारा कठिन समस्याएं किस प्रकार हल होती हैं, मेरा आसन्न आविष्कार उसी का प्रमाण है। वृक्ष के अंग-प्रत्यंग में किस प्रकार रस संचालित होता है, इस जिज्ञासा को लेकर दो सौ वर्ष से भी अधिक समय तक अनुसंधान होता रहा है। किन्तु कोई भी संतोषप्रद मीमांसा नहीं हुई। मिट्टी से बहुत ऊंचे गाछ पर पानी चढ़ता है। किस प्रकार पानी की गति निरूपित होती है, बहुत दिनों तक यह एक गहरी समस्या बनी रही। यह रस-संचालन प्रक्रिया क्या जड़-शक्ति के प्रभाव से होती है या जीवन-शक्ति की उत्प्रेरणा से? इस प्रश्न के समाधान की खातिर 'स्ट्रासवर्गर' ने वृक्ष में विष का प्रयोग किया था, यह सोच कर कि उस से रस-संचालन में कोई व्यतिक्रम उपस्थित नहीं होगा। इसी कारण उन्होंने यह अभिमत जाहिर किया कि जीवन-शक्ति से इस प्रकार रस-संचालित नहीं हो सकता। जड़-विज्ञान में इसके

कारणों को लेकर खोज चलती रही—कल्पना के साथ सत्य का सामंजस्य बिठाने के लिए अद्भुत से अद्भुत युक्तियों की अवतारणा की गयी। किन्तु सब चेष्टा व्यर्थ हुई। ऐसा कोई निदर्शक निकालने का प्रयत्न नहीं किया गया, जिसकी सहायता से रस-संचालन का निर्देश प्राप्त हो सके।

इस संबंध में गवेषणा करके मैंने बताया कि उद्भिज के पत्ते रस-संचालन के निर्देशक हैं। रस के द्रुत संचालन के साथ-ही-साथ वृक्ष के पत्ते सतेज होकर ऊपर उठने लगते हैं। तथा संचालन में बाधा पड़ने से पत्ते नीचे झुक जाते हैं। पत्तों की गति-विधि इतनी सूक्ष्म है कि वह आसानी से पकड़ में नहीं आती। मैंने 'ऑप्टिकल लीवर' द्वारा इस असुविधा को दूर किया। इस यंत्र के एक डण्डे के किनारे, धागे से पत्ता बंधा रहता है। डण्डे के साथ एक दर्पण लगा रहता है। पत्ते की गतिविधि इस दर्पण में प्रतिफलित होती है। इस प्रकार पत्ते की सामान्य से सामान्य प्रक्रिया इस यंत्र की सहायता से सहज ही पांच हजार गुना परिवर्द्धित आकार में दिखाई देती है। इस गवेषणा के परिणामस्वरूप 'स्ट्रासबर्गर' का सिद्धांत पूर्णतया गलत साबित हो गया।

नाड़ी का स्पंदन, प्रतिफलित-आलोक-रश्मि की सहायता से संवर्द्धित-रूप में दिखाया जा सकता है। कलाई की निकटस्थ नाड़ी बाहर की ओर है, इसलिए नाड़ी का स्पंदन सहज ही अनुभव किया जा सकता है। मनुष्य का नाड़ी-स्पंदन एक मिनट में साधारणतया ७२ बार होता है। उत्तेजना के कारण हृद्-तंत्र तेज हो जाता है, उस से रक्त-चाप की वृद्धि होने लगती है। रेकार्डर की ऊर्ध्व-रेखा अधोरेखा से बड़ी होती है। दूसरी ओर अवसाद के समय अधोरेखा दीर्घतर होने लगती है और रक्त-चाप कम हो जाता है। किन्तु यह नाड़ी मांस-पेशी से निमज्जित रहने के कारण स्पंदन का अनुभव नहीं होता या रक्त-चाप का निर्णय नहीं हो पाता। अब प्रश्न यह उठता है कि प्राणी के रक्त-चाप की तरह वृक्ष के रक्तचाप में भी घटत-बढ़त होती है? यह अनुसंधान साधारणतया व्यर्थ की चेष्टा-सा प्रतीत होगा। प्रत्येक स्पंदन के कारण जो संकोचन एवं प्रसारण होता है, वह सर्वोत्कृष्ट अणुवीक्षण यंत्र की सहायता से भी परिलक्षित नहीं होता। इसके अतिरिक्त दूसरी पेशी के बीच वृक्ष का हृदय निमज्जित रहता है। सुतराम्, इस अदृश्य, अबोध्य को किस तरह दृष्टिगोचर करना संभव होगा?

उद्भिज का हृदय-संधान

तो वृक्ष का हृदय कहां है? यह तथ्य सबसे पहले मेरी, नवीन उद्भावित-विद्युत् शलाका द्वारा आविष्कृत हुआ। निस्पंदित पेशी के साथ वैद्युतिक संस्पर्श होने पर तड़ित-मान-यंत्र निस्पंद रहता है। और यदि इसके साथ स्पंदमान हृद्-यंत्र का संस्पर्श हो तो फिर स्पंदन के अनुरूप वैद्युतिक स्पंदन प्रतिफलित होगा। वृक्ष के हृदय का अधिष्ठान-स्थल निर्णीत करने के निमित्त मैंने वृक्ष के तने पर ठौर-ठौर वैद्युतिक-शलाका घुसेड़ कर देखा कि जिस मुहूर्त में वह स्पंदनमान-स्तर के संस्पर्श में आती है, उसी क्षण वैद्युतिक 'साड़ा' प्राप्त होता है। यह 'साड़ा' गालवानोग्राफ यंत्र के द्वारा लिखा जाता है। प्रत्येक जीव-कोष, प्रसारण के समय निम्न स्थान से जल चूस लेता है और संकोचन के समय वह

ऊपर की ओर फेंकता है। उद्भिज का हृद्-यंत्र, निम्न श्रेणी के हृद्-यंत्र के अनुरूप होता है।

हृदय-स्पंदन अनुभव करने का यंत्र

तत्पश्चात् अन्य समस्याएं सामने आयीं। विद्युत-शलाका प्रयुक्त न करने पर वृक्ष का हृदय-स्पंदन क्या बाहर से किसी दिन हमारे लिए अनुभूति-ग्राह्य होगा? जब स्पंदित रस-प्रवाह वृक्ष में संचारित होता है तब प्रत्येक लहर वृक्ष को क्षण भर के लिए प्रसारित करती है; लहर गुजरने के बाद वृक्ष फिर से पहले वाला आकार धारण कर लेता है। इस अदृष्ट व अस्पर्शनीय को मनुष्य द्वारा प्रत्यक्ष-गोचर करने के लिए मुझे कल्पनातीत अनुभव-यंत्र आविष्कृत करने पड़े। इस अनुभव-यंत्र में दो डण्डे रहते हैं—एक स्थिर और एक चपल। इन दो डण्डों के बीच वृक्ष को स्थापित करने पर, प्रसारण-तरंग चपल डण्डे को बाहर ठेल देती है। किन्तु यह आंखों से दिखायी नहीं देता। यह संकोचन-प्रसारण, एक इंच के दस-लाख अंश के एक भाग से भी कम होता है। इसलिए मेरे मेग्नेटिक एंप्लीफायर-यंत्र के द्वारा प्रसारण व संकोचन की इस प्रक्रिया को एक करोड़ गुना बढ़ानी पड़ी। इस यंत्र के चुंबक से संलग्न दर्पण मे प्रतिफलित आलोक-रश्मि दूर-स्थित पर्दे पर गिरती है। वृक्ष के हृद्-स्पंदन के साथ-साथ यह आलोक-रश्मि आलोड़ित हो रही है। उत्तेजक या क्लांति-जनक औषधि के प्रयोग की वजह से इस आलोड़न की शक्ति में संवर्द्धन या ह्रास प्रतिफलित हो रहा है। जीवन-शक्ति की अदृश्य गतिविधि एवं कल्पित आलोक-रेखा के माध्यम से जीवन का गूढ़ रहस्य संसार के समक्ष सर्वप्रथम इस रूप में प्रचारित किया।

अभाव और दैन्य

विज्ञान का उद्देश्य है, मनुष्य के बोझ को हल्का करना। दैन्य व अभाव जातीय-जीवन को मृत्यु की ओर घसीट रहे हैं। देश की आर्थिक उन्नति हासिल करने के लिए कृषि एवं शिल्प दोनों का विकास आवश्यक है, जिसके लिए विज्ञान पर निर्भर करना ही होगा। मैंने प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि अनुसंधान एवं आविष्कार के सहारे भारतवासी विज्ञान का प्रचुर संवर्द्धन कर सकते हैं। जिस प्रकार आर्थिक दुर्दशा ने यूरोप में दारुण अशांति फैलायी है, उसी प्रकार भारत की आर्थिक समस्या ही समस्त अशांति की जड़ है। देश की माटी में छिपे प्राकृतिक-ऐश्वर्य का उद्धार करने का एक-मात्र उपाय है—देश के अधिकांश युवकों को उत्कृष्ट प्रणाली की वैज्ञानिक शिक्षा से प्रदीक्षित करके उन्हें राष्ट्रीय-कार्य में खपाना। उद्योगी एवं शक्तिशाली व्यक्तित्व के लिए विस्तृत कर्म-क्षेत्र है; देशवासी जब पारस्परिक कलह में जुटे हुए हैं और इस सुयोग का भरपूर फायदा विदेशी लोग उठा रहे हैं। वे भारत की धरती से निर्विघ्न धन लूट रहे हैं, कंकरों की तरह अमूल्य रत्न बुहार रहे हैं।

हम क्या भूल ही गये हैं कि सीमाहीन अकूल समुद्र, व गर्वोन्नत हिमालय संसार भर की प्रतियोगिताओं से हमारी रक्षा नहीं कर सकेगा। जिस प्रकार मां-धरती पाप का बोझ सहने में असमर्थ है, उसी प्रकार मां-प्रकृति भी असमर्थ का भार वहन करने के लिए

विमुख है। देह की मृत्यु ही हमारे लिए सर्वाधिक भयावह नहीं है। क्षण-भंगुर शरीर मिट्टी में मिल जाने पर भी जातीय आशा व चिन्तन ध्वस्त नहीं होता। मानसिक-शक्ति का ध्वंस ही प्रकृत मृत्यु है—पूर्णतया आशा-रहित और चिरंतन !

वीरधर्म

अविराम चेष्टा एवं चिर-विरोधी शक्तियों के साथ जूझ कर, मन की शक्ति को निरंतर संवर्द्धित करके देश व जगत का कल्याण कर सकूंगा—निश्चेष्ट होकर नहीं। जो दुर्बल जीवन-संग्राम में पीठ दिखाता है, वह कापुरुष है, वह दान करने का रंचमात्र भी अधिकारी नहीं है। उसके पास दान करने को है ही क्या ? जो वीर की तरह कर्म-क्षेत्र में जूझ कर विजयी हुआ है, केवल वही अपनी जीत का अक्षय-धन लुटा सकता है, वही अपने अकलुषित दान से जगत को समृद्ध कर सकता है। भारत का गौरव और जगत का कल्याण, यही हमारी चिर-साधना हो, चिरंतन आराधना हो। ००

पश्चिम में कई वर्षों तक आकाश धुएं से निरंतर आच्छन्न रहता था। उस अंधेरे को भेद कर दृष्टि पहुंच नहीं पाती थी। अपरिस्फुट आर्तनाद तोपों की गर्जन से आक्रांत रहता था। किन्तु, जिस दिन से सिख, पठान, गुरखा व बंगाली उस महा-युद्ध में जीवन की आहुति देने गये, उस दिन से हमारी दृष्टि व श्रवण-शक्ति बढ़ गयी है।

शुभ्र-तुषार-प्रांतर जिनकी जीवनधारा से रक्तिम हुए, उनकी अंतिम वेदना हमारे हृदय पर आघात कर रही है। क्या है वह आकर्षण जो समस्त व्यवधान दूर कर देता है? जो निकट हैं उन्हें और निकटतर करता है, जिस से हम अपने-पराये का भेद भूल जाते हैं। संवेदना ही वह आकर्षण है, केवल सहानुभूति की शक्ति में ही हमारे जीवन का प्रकृत सत्य प्रतिभासित होता है। चिर-सहिष्णु यह उद्भिज-साम्राज्य निश्चल भाव से हमारे सम्मुख खड़ा है। उत्ताप व शैत्य, आलोक व अंधकार, मृदु समीरण व आंधी, जीवन और मृत्यु इसके साथ क्रीड़ा कर रहे हैं। विविध शक्तियों के द्वारा यह अनंत साम्राज्य आहत हो रहा है, किन्तु आहत की कोई क्रन्दन-ध्वनि बाहर प्रकट नहीं होती। इस बहु-संयत, मौन व अक्रंदित जीवन का भी एक मर्मभेदी इतिहास है, उसका वर्णन करूंगा।

आघात करने से मनुष्य चीत्कार करता है। इससे पता चलता है कि उसे वेदना हुई है। गूंगा चीत्कार नहीं कर सकता, फिर क्योंकर जान पायेंगे कि उसे वेदना पहुंची है? वह छटपटाता है, उसके हाथ-पैर सिकुड़ते हैं। देख कर मालूम होता है कि उसे भी पीड़ा हुई है। संवेदना के द्वारा हम उसके कष्ट का अनुभव करते हैं। आघात होने पर मेंढ़क चीत्कार नहीं करता, छटपटाता है। फिर मनुष्य व मेंढ़क में तो बहुत प्रभेद है। मेंढ़क को वेदना हुई या नहीं, यह बात केवल अंतर्यामी ही जानते हैं। संवेदना सतत ऊर्द्धमुखी होती है, कभी-कभार वह समतलगामी, तो कभी-कभार निम्नगामी होती है। इतर लोग-बाग हमारे समान ही सुख-दुख, मान-अपमान का बोध करते हैं, इस बात पर कई व्यक्तियों को संदेह है। इतर प्राणियों की बात तो दूर, मेंढक तक आघात पाकर कुछ-न-कुछ अनुभव

आहत उद्भिज

जगदीशचन्द्र बसु

करता है एवं 'साड़ा' देता है, यह वात माननी ही होगी। महसूस करने व जानने के अर्थ में ही अनुभव शब्द का व्यवहार करूंगा। मनुष्य को वेदना होती है, इतर प्राणी 'साड़ा' देते हैं, इस वात पर कोई किसी प्रकार की आपत्ति नहीं करेगा। मेंढ़क की छटपटाहट देख कर, शायद कभी अभ्यास-दोष के कारण कह सकता हूं कि उसे वेदना हुई है। इस वात को रूपक के अर्थ में ही ग्रहण करें। वात और व्यवहार के संदर्भ में सावधानी वरतना आवश्यक है। क्योंकि विलायत के प्रख्यात पंडित का कहना है कि खोल से मुक्त होने पर जब जीवित सीपी या 'ऑयस्टर' गले से नीचे उतरते हैं, तव सीपी कोई कष्ट अनुभव नहीं करती, वल्कि-पाक-स्थली की ऊष्णता अनुभव करके उल्लसित होती है। व्याघ्र के उदरस्थ होने पर कोई वापस लौट कर नहीं आया, सुतराम्, पाक-स्थली के अंतर्गत रहने का सुख चिर-काल तक अनिर्वचनीय रहेगा।

जीवन का पैमाना

अव देखा जाय कि जीवंत अवस्था का कोई मापदण्ड या कसौटी है कि नहीं? जीवित और मृत में क्या प्रभेद है? जो जीवित है, उसे हिलाने पर 'साड़ा' देता है। केवल इतना ही नहीं, जो अधिक जीवंत है वह एक ही झटके से भारी 'साड़ा' देता है। जो मृतप्राय है वह हिलाने पर क्षुद्र 'साड़ा' देता है और जो पूर्णतया मृत है वह एक वार भी कोई 'साड़ा' नहीं देता।

सुतराम्, आघात के द्वारा जीवित-अवस्था के परिमाण का पता लगाया जा सकता है। जो तेजस्वी है, वह मामूली आघात से ही पूरा 'साड़ा' देगा। जो दुर्वल है वह अत्यधिक ताड़ना झेल कर भी निरुत्तर रहेगा। मान लीजिए, किसी तरह मेरी अंगुली पर वार-वार आघात हो रहा है। आघात की वजह से अंगुली आकुंचित हो रही है, फलस्वरूप हिल रही है। अल्प आघात से कम और प्रचण्ड आघात से ज्यादा हिलना होता है। केवल आंखों से उसके परिमाण का प्रकृत-रूप दिखाई नहीं पड़ता है। आकुंचन की मात्रा जानने के लिए किसी प्रकार लिखने का वन्दोवस्त करना आवश्यक है। सामने जो परीक्षण दिखाया गया है, उस से यंत्र का आभास प्राप्त होगा। स्वल्प आघात से स्वल्प आकुंचन; कलम ऊपर की ओर किंचित् उठ जाती है। आकुंचन-रेखा भी स्वल्प आयतन में होती है। वड़े आघात से रेखा वड़ी हो जाती है।

केवल यही नहीं। आघात की चकित अवस्था से हम पुनः प्रकृतिस्थ होते हैं; संकुचित अंगुली फिर स्वाभाविक रूप से प्रसारित होने लगती है। आघात के कारण संकुचित अंगुली के खिचाव से, लिखित-रेखा हठात् ऊपर की ओर चली जाती है। प्रकृतिस्थ होने में थोड़ा समय लगता है। ऊर्ध्वोस्थित रेखा क्रमशः उतर कर अपने पूर्व स्थान पर आ जाती है। आघात की वेदना अल्प समय में ही पूर्ण मात्रा तक पहुंच जाती है। किन्तु यह वेदना अन्तर्हित होने में समय लगता है। इस प्रकार आकुंचन का 'साड़ा' अल्प समय में ही व्यक्त हो जाता है। उसके प्रभाव से प्रकृतिस्थ होने की प्रसारण-रेखा अधिक समय लेती है। गुरुतर आघात से वृहत्तर 'साड़ा' मिलता है; प्रकृतिस्थ होने में लम्वा समय लगता है। वेदना भी अधिक समय के लिए स्थायी हो जाती है। यदि जीवित पेशी एक ही अवस्था

में रहे और एक ही तरह का आघात उस पर निरंतर होता रहे तो उसका 'साड़ा' भी एक जैसा ही होगा। किन्तु, जीवित पेशी सदैव एक ही अवस्था में नहीं रहती। क्योंकि बाह्य जगत एवं विगत इतिहास हमें प्रति क्षण नये-नये रूप में गढ़ रहा है। और उसके साथ हमारी प्रकृति प्रति-मुहूर्त परिवर्तित हो रही है। कभी उत्फुल्ल, कभी विमर्ष तो कभी मुमूर्षु। ये सब आंतरिक परिवर्तन कई बार बाहर से जान नहीं पड़ते। जो मनुष्य दिखने में भले लगते हैं, शायद वे क्रोधी मिजाज के हों। मामूली बात पर उनके गुस्से का पारा सप्तम को छूने लगता है! दूसरे के द्वारा उन्हें किसी भी प्रकार सतर्क नहीं किया जा सकता। व्यक्तिगत पार्थक्य, अवस्थागत परिवर्तन के अतिरिक्त जीवन की अनेक स्मृतियां व अनेक इतिहास हैं, जिनकी छाप अदृश्य रूप में ही अंकित रहती है। यह सब लुप्त कहानी क्या किसी दिन व्यक्त हो सकेगी? शुरुआत में प्रतीत होता है कि यह चेष्टा बिल्कुल असंभव है। देखें, असंभव भी संभव हो सकता है कि नहीं? किस प्रकार लोगों के स्वभाव की परख कर सकूंगा? सांच और झूठ में क्या प्रभेद है? रुपये की खरी पहचान के लिए उसे बजा कर परखा जाता है पर आघात का 'साड़ा' शब्दों के माध्यम से सुनायी पड़ता है। सांच और झूठ का 'साड़ा' एकदम भिन्न होता है। एक सुरीला है और दूसरा एकदम बेसुरा। मनुष्य की प्रकृति भी बजा कर परखनी होती है। अदृष्ट दारुण आघात द्वारा मनुष्य की पहचान होती है। सांच और झूठ की परख तभी होती है।

शायद इस प्रकार जीव की प्रकृति व उसके इतिहास को खोजा जा सकता है—आघात करके और उसका 'साड़ा' लिपिबद्ध करके। 'साड़ा-लिपि' तो रेखा-मात्र है—कुछेक बड़ी और कुछेक छोटी। दो रेखाओं के सामान्य विभेद से ऐसा अव्यक्त, ऐसा अंतरंग, ऐसा रहस्यमय इतिहास किस प्रकार व्यक्त होगा? यह बात जितनी असंभव प्रतीत होती है, वास्तव में वैसी है नहीं। खोटी ग्रह-दशा के फलस्वरूप शायद हमें किसी दिन अपराधी के रूप में अदालत की शरण लेनी पड़े, जहां अभियुक्त को बकवास करने की इजाजत नहीं होती। वकील की जिरह का जवाब केवल हां या ना में देना होता है। अर्थात् केवल दो ही प्रकार का 'साड़ा' व्यक्त करना होगा—ऊपर की ओर या दाहिनी व बाईं ओर आंदोलन के द्वारा। यदि अभियुक्त की नाक पर काली स्याही लगा कर, सामने एक अति-शुभ्र स्टाम्प-पेपर रखा जाय तो कागज पर दो तरह का 'साड़ा' लिखा जायेगा। यही प्रकृत नाक रगड़ना एवं इन दो रेखायुक्त 'साड़ा' के द्वारा स्वयं धर्मावतार विचारपति हमारे समस्त जीवन की परीक्षा करेंगे। उस विचार के बाद ही हमारे भावी निवास का निर्णय होगा—कलकत्ता या अण्डमान, इस लोक में या परलोक में।

इतनी देर आदमी के बारे में चर्चा की। गाछ की बात व उसके गूढ़ इतिहास की कथा अब कहूंगा। गाछ की परीक्षा करते समय, विशिष्ट प्रकार का आघात पहुंचा कर उसे उत्तेजित करना होगा, उसके जवाब में वह जो संकेत करेगा, उसी के द्वारा लिपिबद्ध कराना होगा। उस लिखावट से ही उसके वर्तमान व अतीत का इतिहास विदित होगा। सुतराम्, इस दुरूह प्रयत्न को सफल बनाने के लिए, देखना होगा:

१. गाछ कैसे-कैसे आघातों के द्वारा उत्तेजित होता है एवं उस आघात की मात्रा किस प्रकार निरूपित होगी?

२. आघात पाकर गाछ प्रत्युत्तर में क्या संकेत करता है ?
३. किस तरह वह संकेत लिपि-रूप में अंकित हो सकता है ?
४. उस लिखावट से किस प्रकार गाछ के इतिहास को जाना जा सकता है ?
५. गाछ का हाथ, अर्थात् डाली काटने पर उसे क्या अनुभूति होती है ?

गाछ की उत्तेजना का वर्णन

पहले ही कह चुका हूं कि हमारे किसी अंग को आघात पहुंचाने पर वहां एक विकार का भाव उत्पन्न हो जाता है। उस से अंग संकुचित होता है। इसके अलावा आहत स्थान से वही विकारजनित एक धक्का, स्नायु-सूत्र के द्वारा मस्तिष्क में आघात करता है; जिसे हम आघात की मात्रा व प्रकृति-भेद से सुख या दुख मानते हैं। अंग-प्रत्यंग बांधने पर यद्यपि हिलने की शक्ति बंद हो जाती है, तथापि उस स्नायु-सूत्र के द्वारा जो संवाद जाता है, वह वन्द नहीं होता। वृक्ष को तार के द्वारा वैद्युतिक यंत्र के साथ संयुक्त करने पर पता चलता है कि गाछ पर आघात करते ही वह एक 'वैद्युतिक साड़ा' दे रहा है। गाछ की मृत्यु के बाद और कोई 'साड़ा' प्राप्त नहीं होता। इस तरह सब प्रकार के गाछ एवं उनके प्रत्येक अंग-प्रत्यंग आघात का अनुभव करके जो 'साड़ा' देते हैं, उसे प्रमाणित करने में समर्थ हुआ हूं।

कुछेक गाछ-विरछ ऐसे हैं, जो हिल कर 'साड़ा' देते हैं—जैसे कि छुई-मुई की बेल। प्रत्येक पत्र-मूल के नीचे उद्भिज पेशी अपेक्षाकृत स्थूल होती है। हमारी मांस-पेशियां आहत होने पर जिस तरह संकुचित होती हैं, उसी तरह पत्र-मूल के नीचे वाली उद्भिज पेशियां भी संकुचित होती हैं; फलस्वरूप पत्ता नीचे की ओर झुक जाता है। आघात-जनित आकस्मिक संकोच के बाद गाछ प्रकृतिस्थ होता है। पत्ता पूर्वावस्था प्राप्त करके फिर ऊपर उठता है। जिस प्रकार मनुष्य हाथ हिला कर 'साड़ा' देता है, उसी प्रकार छुई-मुई की बेल भी पत्ते हिला कर साड़ा देती है।

मनुष्य को जिस प्रकार उत्तेजित किया जा सकता है, छुई-मुई की बेल को भी उसी प्रकार—डण्डे से पीट कर, चिकोटी भर कर, गर्म लोहे से दाग कर या एसिड से जला कर उत्तेजित किया जा सकता है। ये सब झटके ग्रहण करके पत्ता 'साड़ा' देता है। मगर यह सब भीषण ताड़ना अधिक समय तक पत्ता सहन नहीं कर सकता और प्राण त्याग देता है। सुतराम्, दीर्घकालीन परीक्षण के लिए किसी मृदु-ताड़ना की व्यवस्था अनिवार्य है, जिससे पत्ते के प्राण नष्ट न हों और हिलने की मात्रा एक जैसी रहे।

गाछ को किसी सहज उपाय द्वारा निद्रित अथवा निश्चल अवस्था से जगाना होगा। राजकुमारी मायावश निद्रित थी, सोने की छड़ी या चांदी की छड़ी के स्पर्श से उसकी नींद टूटी। सामने के परीक्षण से यह स्पष्ट पता चलता है कि सोने या चांदी की छड़ी का स्पर्श करते ही छुई-मुई की बेल व निश्चल मेंढ़क ने क्रमशः पत्ता व अंग हिला कर 'साड़ा' दिया। इसका कारण यह है कि विभिन्न धातु का स्पर्श पाकर विद्युत-स्रोत बहने लगता है। उस विद्युत-बल से सभी प्रकार के जीव तथा उद्भिज एक ही तरह उत्तेजित होते हैं। विद्युत-शक्ति द्वारा उत्तेजित करने की सुविधा यह है कि यंत्र द्वारा उसकी शक्ति का ह्रास एवं

संवर्द्धन संभव है। इच्छाक्रम से विद्युत-आघात वज्र जैसा करके एक मुहूर्त में जीवन समाप्त किया जा सकता है, अथवा यंत्र की सूई फिरा कर आघात को मृदु से मृदुतर बनाया जा सकता है। इस तरह के मृदु आघात से वृक्ष का कोई अनिष्ट नहीं होता।

गाछ की यंत्र-लिपि

गाछ-बिरछ के द्वारा 'साड़ा' देने की बात कही है। अब कठिन समस्या यह है कि कैसे गाछ का 'साड़ा' लिपिबद्ध किया जाय? जन्तु का 'साड़ा' साधारणतया कलम के संयोग से लिपबद्ध किया जा सकता है। यदि गौरेया की पूंछ से सूप बांधा जाय तो उसे उड़ने में सुविधा रहती है, उसी प्रकार गाछ के पत्ते से कलम बांधी जाय तो लिखने में वैसी ही सुविधा होगी। यहां तक कि वन-चांडाल के क्षुद्र पत्ते धागे का भार भी सहन नहीं कर पाते; इसलिए वह कलम ठेल कर साड़ा लिखेगा, ऐसी कोई संभावना नहीं थी। इसलिए मैंने दूसरी तरकीब सोची। आलोक-रश्मि का कोई भार नहीं होता। पहले, प्रतिबिंबित आलोक-रेखा की सहायता से मैंने वृक्ष-पत्रों की विविध लिपि-भंगिमा स्वयं अपने हाथ से लिखी, जिसका सम्पादन करने में भी बहुत वर्ष लगे थे। जब ये सब नवीन बातें जीव-तत्व-विद्वज्जनों के सामने रखीं तो उन्हें अत्यधिक विस्मय हुआ। अन्त में मुझे जतलाया कि ये सब तत्व ऐसे हैं कि इन पर सोचा ही नहीं जा सकता। यदि किसी दिन वृक्ष अपने हाथों से लिख कर साक्षी दें, केवल तभी ये नयी बातें उन्हें स्वीकृत होंगी।

जिस दिन यह समाचार प्राप्त हुआ, समस्त प्रकाश मानो मेरी आंखों से तिरोहित हो गया। किन्तु मैं पहले से ही जानता था, सफलता—विफलता की उलटी पीठ होती है। उस बात को फिर नये सिरे से समझने का प्रयत्न किया। बारह वर्ष बाद अभिशाप ही वरदान सिद्ध हुआ। उन बारह वर्षों की चर्चा संक्षेप में बताऊंगा। यंत्र बिल्कुल नया बनाया। अत्यंत सूक्ष्म तार से नितांत हलके वजन की कलम ईजाद की। वह कलम मरकत से निर्मित मणि पर स्थापित हुई। मानो पत्ते की अकिंचन हरकत से लेखनी सहज ही संचालित हो सकेगी। इतने दिनों बाद वृक्ष-पत्र का स्पंदन होते ही लेखनी स्पंदित होने लगी। तत्पश्चात् कागज की घर्षणा के विरुद्ध कलम और उठ नहीं सकी। कागज को हटा कर चिकने कांच पर दीपक के काले काजल को पोता। कृष्ण पट पर शुभ्र लिखावट अंकित हुई। इस से घर्षण की बाधा भी काफी कम हो गयी, किन्तु इस सबके बावजूद गाछ का पत्ता घर्षण की बाधा को ठेल कर कलम चलाने में सफल नहीं हुआ। उसके बाद असंभव को संभव बनाने में पांच-छः वर्ष और बीत गये। वह मेरे समताल-यंत्र के द्वारा संभव हुआ। इन सब यंत्रों की गठन-प्रणाली का वर्णन करके आपके धैर्य की परीक्षा नहीं करूंगा। फिर भी यह बतलाना जरूरी है कि इन सब यंत्रों द्वारा वृक्षों के बहुविध साड़ा अंकित हुए हैं। वृक्ष की वृद्धि एक मुहूर्त में निर्णीत होती है और इस प्रकार उसका स्वतः स्पंदन लिपिबद्ध होता है। जीवन व मृत्यु-रेखा उसकी आयु का परिमाण निर्धारित करती है।

गाछ की लिखावट से उसके इतिहास का उद्धार

गाछ की लिपि-भंगिमा का ब्योरा सर्वथा समय-सापेक्ष है। उत्तेजित अवस्था में साड़ा लम्बा होता है, विमर्ष अवस्था में साड़ा छोटा होता है एवं मुमूर्षु अवस्था में साड़ा लुप्त-प्राय होता है। यह जो साड़ा-लिपि सामने देख रहे हैं, उसकी लिखावट के समय आकाश आलोक से दीप्त हो रहा था और वृक्ष उत्फुल्ल अवस्था में खिला हुआ था। इसलिए प्रत्येक साड़ा परिमाण में कितना बड़ा है! देखते-देखते साड़ा की मात्रा किसी अज्ञात कारण से हठात् छोटी हो गयी। उस बीच यदि कोई परिवर्तन हुआ हो तो वह मेरी अनुभूति के लिए भी अगोचर रहा। बाहर आकर देखा कि सूर्य के सामने एक बादल का टुकड़ा वातास में उड़ता जा रहा है। उसी के कारण सूर्य के प्रकाश का जो यत्किंचित ह्रास हुआ था, उसे घर के भीतर किसी तरह समझ नहीं पाया; किन्तु गाछ उसी क्षण ताड़ गया और छोटा-सा साड़ा देकर उसने अपने विमर्ष को ज्ञापित किया। और ज्यों ही मेघ खण्ड चला गया, तुरंत पहले की तरह उसने अपनी उत्फुल्लता का साड़ा प्रदान किया। पहले कह चुका हूं कि मैंने वैद्युतिक परीक्षण द्वारा यह प्रमाणित किया था कि प्रत्येक गाछ-बिरछ में अनुभव शक्ति होती है। यह बात पश्चिम के वैज्ञानिक बहुत समय तक समझ नहीं पाये। कुछ दिन हुए, फरीदपुर के खजूर ने मेरी बात प्रमाणित कर दी थी। वह पेड़ भोर के समय अपना सर ऊंचा उठाता था और सांझ की वेला सर नीचा करके माटी का परस करता था। ये परिवर्तन गाछ की बाह्य अनुभूति के परिणाम हैं, यह सिद्ध करने में समर्थ हुआ हूं। जितने भी उदाहरण दिये गये हैं, उनसे आप समझ सकेंगे कि वृक्ष द्वारा लिखित साड़ा की सहायता से उसके जीवन का गुप्त इतिहास जाना जा सकता है। गाछ-बिरछ के परीक्षण द्वारा जीवन से संबंधित बहुत-से नये तथ्यों का आविष्कार संभव हुआ। वैज्ञानिक सत्य के अलावा बहुत-से दार्शनिक प्रश्नों की भी मीमांसा होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

पात्राधार तेल

सुनने में आता है कि कुत्ते की पूंछ के आंदोलन को लेकर दो मतवादियों के बीच अभी तक इस तथ्य की मीमांसा नहीं हुई। एक पक्ष का यह दावा है कि कुत्ता पूंछ हिलाता है; दूसरे पक्ष का यह मत है कि पूंछ ही कुत्ते को हिलाती है। इसी प्रकार पत्ता हिलता है या पेड़ हिलता है? तेलाधार पात्र या पात्राधार तेल? कौन हिलाता है और कौन साड़ा देता है? विलायत में हमारे समाज को लेकर खूब समालोचना होती है। इस देश में नारी जाति अपनी इच्छा से कुछ नहीं कर सकती, केवल पुरुष के इशारे पर कठपुतली की तरह चलती-फिरती है। कौन किसके इशारे पर चलता है? रास किसके हाथ में है? पूंछ या कुत्ते को कौन हिलाता है? भुक्तभोगियों का स्वर कुछ दूसरा ही है। बाहर चाहे जितना पराक्रम, चाहे जितना दम्भ-गुमान हो, वह सब पुतलियों का नाच-मात्र है। चलाने की डोर तो शायद अन्तःपुर में है! ऐसा समय भी आता है, जब रमणी रास के उस बंधन को अपने हाथों से ही तोड़ फेंकती है। आंचल की ओट से जिसकी इतने बरस रक्षा का थी, उसे ही आदेश देती है—तुम जाओ, दूर-दिगंत—केवल आशीर्वाद लेकर! तुम्हें मृत्यु के हाथों से ही वरण किया है।

आघात करने से छुईमुई का पत्ता झुकता है। पत्ता हिलता है या गाछ, उसका परीक्षण करके निर्णय किया जा सकता है। प्रथम, गाछ को पकड़ कर रखने से गाछ हिल नहीं सकता, पत्ता ही हिलता है। यदि पत्तों को पकड़ कर माटी से जड़ को ही उखाड़ लिया जाय तो देखने में आता है कि आघात से गाछ ही हिलता है, पत्ता स्थिर रहता है। किसी भी अंग पर आघात होने से गाछ के समस्त अंग-प्रत्यंग में, प्रत्येक नस में उस वेदना की अनुभूति दौड़ती है, तथा एक की विपदा को दूसरा अपनी मान कर ग्रहण कर लेता है। यद्यपि वृक्ष शत-सहस्र शाखा-प्रशाखाओं से गठित हुआ है, फिर भी किसी एक ग्रन्थि ने इन सबको एक करके आबद्ध कर रखा है। केवल उसी एकता के बन्धन-स्वरूप, बाहर का तूफान व असह्य आघात तुच्छ समझ कर वृक्ष अपना मस्तक ऊंचा उठाये हुए है।

आहत का साड़ा

यहां देखा जाय कि किस-किस विभिन्न प्रक्रिया से आहत वृक्ष अपनी क्लिष्टता बाहर ज्ञापित करता है? इस संबंध में वृक्ष द्वारा अंकित दो किस्म का साड़ा विवृत करूंगा। प्रथमत, वर्धनशील गाछ को चाकू मारने पर वृद्धि की मात्रा बढ़ती है या घटती है, इसकी चर्चा करूंगा। द्वितीयतः, गाछ के पत्ते अस्त्राघात से जुदा होने पर क्या अनुभव करते हैं और स्वयं गाछ क्या अनुभव करता है, उसे दिखाऊंगा।

गाछ स्वभावतः कितना बढ़ता है, यह जानने के लिए बहुत समय लगता है। गाछ की संवर्द्धन गति घोंघे की अपेक्षा छह सहस्र गुना क्षीण होती है। इसलिए मुझे एक नया यंत्र आविष्कृत करना पड़ा, उसका नाम है क्रेस्कोग्राफ। इसके द्वारा वृद्धि की मात्रा करोड़ गुना संवर्द्धित होकर अंकित होती है। अणुवीक्षण यंत्र जहां परास्त हो जाता है, उसके बाद भी क्रेस्कोग्राफ का चमत्कार लाख गुना बेशी है। करोड़ गुना वृद्धि की खातिर आप मन में वैसी धारणा भी नहीं बना सकते। इसलिए गल्प के सहारे उदाहरण दे रहा हूं। एक बार बंगाल-नागपुर व ईस्ट इण्डिया रेलों में होड़ हुई थी—कौन आगे जा सकती है? यह मजेदार नजारा देख कर एक घोंघा अपनी छलकती हंसी को रोक नहीं सका। उसने अविलंब क्रिस्कोग्राफ पर सवारी गांठी। कुछ देर बाद उसने गर्दन घुमा कर देखा कि गाड़ी बहुत पीछे पड़ी हुई है। इच्छा यह थी यंत्र का नाम क्रिस्कोग्राफ न रख कर 'वृद्धिमान' रखूं, किन्तु यह संभव नहीं हुआ। पहले मैंने अपने यंत्रों का संस्कृत में नामकरण किया था, जैसे 'कुंचनमान' एवं 'शोषणमान'। स्वदेशी प्रचार करने के लिए अतिशय विपन्न होना पड़ा। प्रथमतः, ये नाम बड़े अटपटे लगे; विलायती पत्रों ने काफी खिल्ली उड़ायी। केवल बोस्टन की एक प्रमुख पत्रिका ने बहुत दिन तक मेरा समर्थन किया। सम्पादक ने पुरजोर शब्दों में लिखा था—'जो आविष्कार करता है, उसे ही नामकरण का सर्वोच्च अधिकार है। फिर हमारे नये यंत्रों के नाम पुरातन भाषा ग्रीक व लेटिन में ही हुआ करते हैं, तब अति पुरातन होते हुए भी जीवन्त संस्कृत भाषा में ऐसा क्यों नहीं हो सकता?' जैसे बलपूर्वक नाम चलाया हो, परिणाम कुछ उलटा ही हुआ। पिछली बार अमेरिका के एक विश्वविद्यालय में भाषण के समय, वहां के विख्यात अध्यापक ने मेरे 'कांचनमैन' की व्याख्या करने का अनुरोध किया। शुरुआत में कुछ समझ नहीं पाया, पर

बाद में स्पष्ट हो गया कि 'कुंचनमान' का 'कांचनमैन' में रूपान्तरण हो गया है। हण्टर साहब की प्रणाली के अनुसार कुंचन का हिज्जे किया तो हो गया कांचन। रोमन अक्षरमाला का विशेष गुण यह है कि इसके किसी भी एक स्वर को अ से औ तक इच्छानुसार उच्चारित किया जा सकता है। केवल नहीं होता है तो ऋ व लृ, वह भी ऊपर या नीचे दो एक बिन्दी लगाने से चल सकता है।

वह चाहे कुछ भी हो, समझ गया—हिरण्यकशिपु के द्वारा हरि का नाम उच्चारित करवाना संभव है, किन्तु अंग्रेजों के मुख से बंगला या संस्कृत का उच्चारण करवाना नितांत असंभव है। इसलिए हमारे हरि को हैरी होना पड़ता है। यह सब देख कर यंत्र का 'वृद्धिमान' नाम रखने की इच्छा बिल्कुल समाप्त हो गयी। वृद्धिमान से शायद बार्डोयान होता। उसकी तुलना में तो क्रेस्कोग्राफ ही अच्छा है।

बढ़ते हुए बिरछ में प्रति सेकिण्ड कितनी वृद्धि होती है, उसे यंत्र अंकित करता है। इससे पता चलता है कि यह वृक्ष एक मिनट में एक इंच के लक्षांश के ४२ भाग जितना बढ़ रहा था। तब गाछ पर एक बेंत से मामूली आघात किया। उस से गाछ की वृद्धि एकबारगी कम हो गयी। उस आघात को भूलने में आध घण्टे से बेशी समय लगा। तत्पश्चात् अत्यंत प्रकृत-भाव से उसकी वृद्धि प्रारंभ हो गयी। हे बेंत-धारी स्कूल मास्टर! तुम्हारे कान मलने से कई बच्चे हाई कोर्ट के जज तक बने हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। किन्तु वे तुम्हारी बेंत से पिटने पर लम्बे हो जायेंगे, इस बाबत मुझे बहुत संदेह है। हर प्रकार के आघात से वृद्धि रुकती ही है। सूई से गाछ को बींधा तो उसकी वृद्धि कम होती हुई एक-चौथाई रह गयी। एक घण्टे के बाद तक भी वह उस आघात से मुक्त नहीं हो पाया। तब भी उसके संवर्द्धन की गति आधे से अधिक नहीं हो पायी। छुरी द्वारा लम्बाई में चीरने से आघात ज्यादा घातक होता है। उससे बहुत समय तक वृद्धि अवरुद्ध हो जाती है। किन्तु लम्बे चीरे की निस्बत इधर-उधर काटना तो और अधिक निदारुण है। कांटेदार मछली काटते समय गृह-लक्ष्मियां इस बात का ध्यान रखेंगी।

आघात से अनुभव-शक्ति का लोप

उसके बाद छुई-मुई बेल का पत्ता काटा। जिस से कटा हुआ पत्ता व अन्य सब पत्ते मुरझा कर झुक गये। इसके बाद देखना होगा कि कटे पत्ते व आहत वृक्ष की हालत कैसी होती है? परीक्षण करके देखा, तीन-चार घण्टे तक दोनों ही मूर्छित रहे। उसके बाद का इतिहास बड़ा ही अद्भुत है। कटे हुए पत्ते को बचाने की खातिर उसे सुखाद्य-रस-पान कराया था। फिर चार घण्टे पश्चात् सर उठा कर वह ऊपर आया और बड़े विचित्र ढंग का साड़ा दिया। उसका आशय यह था—'क्या हुआ? अच्छा ही तो हुआ है। गाछ के साथ इतने दिन बंधा हुआ था, अब शरीर कैसा छोटा-सा लग रहा है!' इस प्रकार जिद के साथ वह बार-बार साड़ा देने लगा। यह भावना सारे दिन रही। उसके बाद दूसरे दिन न जाने क्या हुआ—साड़ा एकदम कम हो गया। पचास घण्टे बाद पत्ता मुंह के बल गिर पड़ा। उसके बाद ही मृत्यु!

जिसका पत्ता काटा था, उस गाछ का इतिहास दूसरी तरह का है। वह धीरे-धीरे

स्वस्थ हो गया। 'कोई परवाह नहीं' इस तरह का उपेक्षित भाव बिल्कुल नहीं था। जो है—उसे लेकर ही रहना होगा। धीरे-धीरे आहत-वृक्ष ने अपनी वेदना संभाल ली। जो सामयिक दुर्बलता आयी थी, उसे झाड़ फेंका और पहले जैसा साड़ा देने में सक्षम हो गया।

जन्म-भूमि

तब क्यों है यह विभिन्नता ? किस कारण से छिन्नशाखा-वृक्ष आहत व मुमूर्षु होकर भी कुछ दिन बाद जी उठता है ? और भांति-भांति के भोग से पोषित विच्युत-पात मृत्यु-मुख में गिर पड़ता है ? इसलिए कि वृक्ष का मूल एक निर्दिष्ट भूमि पर प्रतिष्ठित है। जिस स्थान का रस-पान करके उसका जीवन संघटित हो रहा है, वह भूमि ही उसकी परिपोषक है—उसका स्वदेश है !

वृक्ष के भीतर भी एक शक्ति निहित है, जिसके द्वारा युग-युगान्तर में विनाश से अपनी रक्षा की है। बाहर कितना परिवर्तन घटित हो रहा है, किन्तु अदृष्ट के वैगुण्य से वह परास्त नहीं हुआ। बाह्य-आघात के प्रतिकार में सम्पूर्ण जीवन के द्वारा वह चतुर्मुखी परिवर्तन से जूझा है। जो परिवर्तन आवश्यक था, उसे ग्रहण किया है और जो अनावश्यक था, उसका जीर्ण-पत्तों की तरह परित्याग किया है। इस प्रकार वह बाहर की विभीषिका से उत्तीर्ण हुआ है।

एक और शक्ति उसका चिर-अवलम्बन रही है। यह जो बरगद के बीज रूप में जन्म मिला है, उस चिर-स्मृति की छाप उसके अंग-प्रत्यंग में अंकित है। इसलिए उसकी जड़ अपनी धरती में दृढ़-प्रतिष्ठित है, उसका सर ऊर्ध्व-आलोक की खोज में उन्नत है और समस्त शाखा-प्रशाखाएं छाया-दान के निमित्त चारों ओर फैली हुई हैं। तब किस—किस शक्ति-बल से आहत होने पर भी वह जीवित है ? धैर्य व दृढ़तापूर्वक वह अपनी धरती के कण-कण से जुड़ा हुआ है, अपनी अनुभूति के बूते पर उसने भीतर व बाहर का पूर्ण सामंजस्य स्थापित कर लिया है, गहन-स्मृति से अविराम जीवन की संचित शक्ति को आत्मसात कर लिया है। और जो हतभाग्य स्वयं को अपनी धरती व अपने देश से विच्छिन्न कर लेता है, जो पराये अन्न से पोषित होता है, जो जातीय-स्मृति भुला देता है, वह चिर-अनाथ कौन-सी शक्ति जुटा कर जीवित रहेगा ? विनाश उसके सामने है, ध्वंस और केवल ध्वंस ही उसका परिणाम है। ००

घर से बाहर होते ही चारों ओर छाये हुए जीवन का उच्छ्वास देखता हूं। यह जीवन नितांत शब्द-विहीन है। सर्दी व गर्मी, मलय-समीर व झंझड़, वृष्टि व अनावृष्टि, आलोक व अंधकार, यह निर्वाक जीवन इन्हीं को लेकर क्रीड़ा कर रहा है। कितनी विचित्र घटनाओं का समावेश, कितने प्रकार के आघात-प्रतिघात, आभ्यंतरिक क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं इस स्थिर, निश्चल जीवन-प्रतिमा के भीतर संचरित हो रही हैं? किस प्रकार इस अप्रकाश्य को उजागर करूं?

गाछ-बिरछ के प्रकृत इतिहास का समुद्धार करने के लिए उन्हीं के पास जाना पड़ेगा। इतिहास अत्यंत जटिल और रहस्यपूर्ण है। उसे जानने के लिए वृक्ष तथा यंत्र की सहायता से मृत्यु-पर्यन्त प्रति-क्षण उनकी क्रियाओं को लिपिबद्ध करना होगा। और वह लिपि स्वयं वृक्ष के हाथों लिखी हुई, उसके दस्तखतों से प्रेषित होगी। जिस में मनुष्य की कतई दखलंदाजी नहीं होनी चाहिए, क्योंकि मनुष्य अपने ही प्रणोदित भावों के द्वारा कई मर्तबा प्रतारित हुआ है।

यह जो गाछ-बिरछ का शिशु, तिल-तिल संवर्द्धित हो रहा है, जिसकी वृद्धि आंखों से नजर नहीं आती, उसे निमिष भर में किस प्रकार परिमाण-सहित प्रस्तुत करूं? यह वृद्धि बाहरी आघात पाकर किस नियम से परिवर्तित होती है? खुराक देने या बन्द करने से क्या परिवर्तन होता है और उस परिवर्तन को प्रारंभ होने में कितना समय लगता है? औषधि या विष के प्रयोग से क्या परिवर्तन होता है। क्या एक विष के द्वारा दूसरे विष का प्रतिकार किया जा सकता है? विष की मात्रा, प्रयोग के परिणाम को किस प्रकार प्रभावित करती है, क्या वैपरीत्य घटित होता है?

उसके बाद बाहरी आघात पाकर यदि बिरछ कोई 'साड़ा' देता है तो उस आघात का अनुभव करने में उसे कितना समय लगता है? उस अनुभव काल की विभिन्न अवस्थाओं में क्या परिवर्तन होता है? उस समय को क्या वृक्ष के द्वारा अंकित किया जा सकता

निर्वाक जीवन

जगदीशचन्द्र वसु

है ? बाहरी आघात किस तरह भीतर पहुंचता है ? कोई स्नायु-सूत्र है क्या ? यदि है तो स्नायु की उत्तेजना किस गति से प्रवाहित होती है ? किस अनुकूल परिस्थिति में उस प्रवाह की गति बढ़ती है ? किस प्रतिकूल परिस्थिति में निवारित या निरस्त होती है ? हमारी स्नायविक क्रिया तथा वृक्षों की क्रिया के बीच क्या कोई सादृश्य है ? उस गति या उस गति के परिवर्तन को किस प्रकार स्वलिखित किया जा सकता है ? जीव के हृत्-पिण्ड की भांति क्या वैसी ही स्पन्दनशील मांसपेशी उद्भिज के भी होती है या नहीं ? स्वतः-स्पंदन किसे कहते हैं ? अंत में जब प्रबल आघात से वृक्ष का जीवन-दीप बुझ जाता है, उस निर्वाण मुहूर्त को क्या निबद्धित किया जा सकता है ? या उस मुहूर्त में एक प्रकाण्ड 'साड़ा' देकर वह सदा के लिए चिर-निद्रा में सो जाता है ? इन सब विविध अध्याय के इतिहास को विविध यन्त्रों के द्वारा अविच्छिन्न रूप से लिपिवद्ध करने पर ही गाछ के प्रकृत इतिहास का उद्धार होगा।

तरुलिपि

जीव, किस तरह का आघात पाकर चकित होता है ? वही संकोचन ही जीवन का 'साड़ा' है। जीवन की परिपूर्ण अवस्था में साड़ा वृहत् होता है, अवसाद के समय क्षीण हो जाता है। और मृत्यु के उपरांत 'साड़ा' का अवसान हो जाता है। वृक्ष भी आहत होने पर क्षण भर के लिए संकुचित होता है। किन्तु वह संकोचन अल्प-मात्रा में होने की वजह से प्रायः दिखलाई नहीं पड़ता। यन्त्र की सहायता से वह अल्प संकोचन वृहताकार रूप में लिपिबद्ध किया जा सकता है। बाधा केवल यही है कि वृक्ष की आकुंचन-शक्ति अत्यन्त क्षीण होती है, 'साड़ा' को लिपिबद्ध करते समय कलम की नोक घिसटने से रुक जाती है। इस बाधा को दूर करने के लिए 'समताल' यन्त्र का आविष्कार करने में समर्थ हुआ। यदि दो विभिन्न वायलिन के तारों को एक ही सुर में बांधा जाय तो एक को बजाने पर दूसरा तार समताल में झंकृत हो उठता है। तरुलिपि यन्त्र में कलम लोहे के तार से निर्मित होती है। और यह तार बाहर वाले दूसरे तार से एक ही सुर में बंधा होता है। मान लें, कि दोनों तार प्रति सैकिण्ड सौ बार कंपित होते हैं। बाहर वाले तार को बजाने से कलम भी सौ बार स्पंदित होगी और फलक पर सौ बिन्दु अंकित होंगे। इस प्रकार फलक सहित क्रमागत घर्षण की बाधा दूर हो जाती है। इसके अलावा 'साड़ा लिपि' के रूप में समय का सूक्ष्मांश तक निरूपित हो जाता है, क्योंकि एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु के बीच एक सैकिण्ड के सौवें भाग का व्यवधान है।

गाछ शर्मीला या अ-शर्मीला

परीक्षा के परिणाम का उल्लेख करने से पहले तरु जाति को, शर्मीला या अ-शर्मीला, ससाड़ या असाड़ इत्यादि दो भागों में विभक्त किया जाता है, इस कुसंस्कार को दूर करना आवश्यक है। समस्त पेड़ 'साड़ा' देते हैं, यह वैद्युतिक उपाय से प्रदर्शित किया जा सकता है। फिर केवल छुई-मुई बेल ही क्यों पत्ते हिला कर साड़ा देती है, साधारण पेड़ क्यों नहीं देते ? यह समझने के लिए ज़रा सोच कर देखिए भुजा की एक मांसपेशी

के संकोचन से पूरा हाथ 'साड़ा' देता है। दोनों ओर की मांस-पेशियां यदि आकुंचित होतीं तो हाथ नहीं हिल पाता। साधारण वृक्ष की चतुर्दिक् पेशियां आहत होकर सम-भाव से संकुचित होतीं। फलस्वरूप किसी ओर हिलना नहीं हो पाता। यदि एक ओर की पेशियों को क्लोरोफार्म देकर 'असाड़' कर दिया जाय तो फिर साधारण पेड़ों की साड़ा-शक्ति सहज ही प्रमाणित हो जाती है।

अननुभूति काल निरूपण

प्राणी जब आहत होता है, ठीक उसी समय 'साड़ा' नहीं देता। मेंढ़क के पांव में चुटकी काटने पर 'साड़ा' देने के लिए एक सैकिण्ड के सौवें हिस्से के बराबर न्यूनाधिक समय लगता है। अंग्रेजी भाषा में इस समय को 'लेटेण्ट पीरियड' कहते हैं। अननुभूति-समय इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

बाहरी अवस्था के अनुरूप इस अननुभूति-काल में घटत-बढ़त होती रहती है। हलके आघात का अनुभव करने में थोड़ा समय लगता है। किन्तु प्रचंड आघात का अनुभव करने में अधिक समय का अपव्यय नहीं होता। और जब सर्दियों में प्राणी ठिठुर जाते हैं, उनका अननुभूति काल लम्बा हो जाता है। जब हम थक जाते हैं, तब भी अनुभूति करने का पूर्व-काल ज्यादा लम्बा हो जाता है, यहां तक कि कभी-कभार अनुभव-शक्ति बिल्कुल ही लुप्त हो जाती है। पेड़ों की अनुभूति के संदर्भ में भी यही बात है। छुई-मुई की ताजी अवस्था में अननुभूति काल एक सैकिण्ड के सौवें अंश का छठा भाग होता है। उद्यमशील मेंढ़क की तुलना में केवल छः गुना बेशी। एक और आश्चर्य की बात यह है कि स्थूलकाय वृक्ष काफी ठहर कर साड़ा देते हैं। किन्तु कृशकाय पेड़ बड़ी फुर्ती से प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। मनुष्य भी इसके सदृश है कि नहीं, आप विवेचना करके देखियेगा।

सर्दियों में पेड़ों का अननुभूति काल प्रायः दुगुना लम्बा हो जाता है। आघात के बाद पेड़ों को प्रकृतिस्थ होने में प्रायः पंद्रह मिनट लगते हैं। इससे पहले आघात करने पर अन-नुभूति काल प्रायः डेढ़-गुना लम्बा होता है। अधिक थक जाने पर अननुभूति-शक्ति साम-यिक रूप से लोप हो जाती है, तब पेड़ बिल्कुल ही साड़ा नहीं देता। यह कैसी अवस्था है, मेरी दीर्घ वक्तृता के बाद आसानी से हृदयंगम कर सकेंगे।

साड़ा की मात्रा

समय-भेद के कारण समान आघात से साड़ा की प्रबलता में तारतम्य घटित होता है। प्रातःकाल रात्रि की निश्चेष्टा-स्वरूप पेड़ में कुछ जड़ता व्याप्त हो जाती है। आघात के बाद आघात लगने पर वह जड़ता चली जाती है और साड़ा की मात्रा क्रमशः संवर्द्धित हो जाती है। मानो वह जगे रहने की अवस्था हो। गरम पानी से नहलाने पर पेड़ की जड़ता शीघ्र ही दूर हो जाती है। शाम के समय यह सब उलटा हो जाता है। थकावट के फलस्वरूप साड़ा देने की शक्ति का क्रमिक ह्रास हो जाता है। किन्तु विश्राम का पर्याप्त समय देने पर थकावट दूर हो जाती है। आघात की मात्रा बढ़ाने पर साड़ा देने की मात्रा भी बढ़ जाती है। किन्तु उसकी एक सीमा है। इस दृष्टि से मनुष्य और पेड़ में कुछ अन्तर नहीं है। और

भी आश्चर्य की बात यह है कि सर्दियों में चोट लगने पर घाव देरी से ठीक होता है, उसी तरह सर्दियों में पेड़ों को भी आघात के बाद प्रकृतिस्थ होने में काफी समय लगता है। गर्मियों के दिनों में जहां ठीक होने के लिए पंद्रह मिनट लगते हैं, वहां सर्दियों में आधे घण्टे से अधिक समय लगता है।

पेड़ों में उत्तेजना का प्रवाह

जीव-जन्तु के शरीर पर कहीं आघात करने से उसका धक्का स्नायु द्वारा दूर पहुंचता है। स्नायवीय प्रवाह के कई विशेष लक्षण हैं। पहला, स्नायवीय वेग विभिन्न अवस्था में घटता-बढ़ता रहता है। उष्णता से वेग में वृद्धि होती है और शीत से वेग में ह्रास होता है। इसके अलावा विद्युत-प्रवाह से स्नायु में कई विशेष परिवर्तन होते हैं। जब तक स्नायु से विद्युत प्रवहमान होती रहती है, तब तक विशेष उल्लेखनीय कोई घटना घटित नहीं होती। किन्तु विद्युत-प्रवाह भेजने और बंद करने के समय किसी विशेष स्थल पर उत्तेजना व अन्य स्थान पर अवसाद परिलक्षित होता है। विद्युत-प्रवाह के दौरान जिस स्थान से विद्युत स्नायुसूत्र का परित्याग करती है, उसी स्थान पर स्नायु अचानक उत्तेजित हो जाते हैं। इसके विपरीत यदि स्नायु के किसी अंश में विद्युत-प्रवाह संचारित किया जाय तो उस अंश से और कोई संवाद प्रेषित नहीं किया जा सकता। किन्तु विद्युत-प्रवाह बन्द करने पर तुरंत अवरुद्ध पथ खुल जाता है, स्नायु-सूत्र पुनः संवाद-वाहक बन जाता है।

यंत्र की सहायता से गाछ के शरीर में जो स्नायवीय संवाद प्रेषित किया जाता है, उसे अत्यंत सूक्ष्म रूप से पकड़ा जा सकता है और एक ही यंत्र के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को संवाद पहुंचने में कितना समय लगता है, वह भी निर्णीत होता है। स्नायवीय वेग मेंढ़क की निस्बत गाछ के शरीर में धीमा है, लेकिन निम्न जातीय जन्तुओं की अपेक्षा द्रुत है। प्राणी और उद्भिज में नौ डिग्री उष्णता से स्नायुवेग प्रायः दुगुना बढ़ जाता है। विद्युत-प्रवाह की शुरुआत में वृक्ष-स्नायु का एक स्थान उत्तेजित और अन्य स्थान अवसादित हो जाता है। विद्युत-प्रवाह से पेड़ का स्नायवीय धक्का अचानक बंद हो जाता है। स्नायु से संबंधित जितनी प्रकार के परीक्षण हैं, सभी परीक्षणों द्वारा प्राणी व उद्भिज में इस दृष्टि से कोई भेद नहीं है, यह प्रमाणित करने में समर्थ हुआ हूं।

स्वतःस्पंदन

प्राणी-देह के अंश-विशेष में एक आश्चर्यजनक घटना दृष्टिगोचर होती है। मनुष्य एवं अन्य प्राणियों में ऐसी पेशियां हैं जो अपने-आप ही स्पंदित होती हैं। जब तक जीवन है, हृदय अहर्निश स्पंदित होता रहता है। कोई भी घटना अकारण घटित नहीं होती। किन्तु जीव-स्पंदन किस तरह स्वयं-सिद्ध प्रमाणित हुआ ? इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर आज दिन भी प्राप्त नहीं है।

फिर भी उद्भिज में ऐसा ही स्वतःस्पंदन दिखाई पड़ता है। उसके अनुसंधान-स्वरूप संभवतया जीव-स्पंदन के रहस्य का पता चले।

शरीर-विशेषज्ञ हृदय की जानकारी के लिए मेंढ़क व कछुए के हृदय से खिलवाड़ करते हैं। 'हृदय की जानकारी' शारीरिक अर्थ में प्रयुक्त कर रहा हूं, काव्य के अर्थ में नहीं। समूचे मेंढ़क को लेकर परीक्षण करना सुविधाजनक नहीं है, इसलिए उसके हृदय को वाहर निकाल कर परीक्षा करते हैं—किस-किस अवस्था में हृदय का संवर्द्धन या ह्रास होता है।

हृदय वाहर निकालने से उसका सहज-स्पंदन रुक जाने की संभावना रहती है। तव सूक्ष्म नल के जरिये रक्त-चाप संचारित करते ही स्पंदन-क्रिया काफी देर तक अक्षुण्ण गति से चलती रहती है। उस समय उत्तापित करने पर हृदय-स्पंदन अत्यंत द्रुत गति से संचालित होता है, किन्तु लहरें 'खर्वकार' [छोटी] हो जाती हैं। शीतलता का परिणाम इसके विपरीत होता है। नानाविध भेषज के द्वारा हृदय की स्वाभाविक ताल विभिन्न रूप से परिवर्तित होती है। ईथर के प्रयोग से क्षण-भर के लिए हृदय-स्पंदन थम जाता है। वयार करने से वह अचेतन अवस्था चली जाती है। क्लोरोफार्म का प्रयोग इनकी अपेक्षा ज्यादा प्राणघातक है। मात्रा वढ़ते ही हृदय की धड़कन सर्वथा वन्द हो जाती है। इसके अलावा विविध विष प्रयोग से हृदय-स्पंदन रुद्ध हो जाता है। किन्तु इस संवंध में एक अद्‌भुत रहस्य यह है कि किसी विष के द्वारा हृदय-स्पंदन संकुचित होता है, तथा किसी अन्य विष के प्रयोग से उत्फुल्ल अवस्था में निस्पंदित होता है। इस प्रकार परस्पर-विरोधी विष प्रयुक्त करने से जहर का प्रभाव नष्ट किया जा सकता है।

प्राणी के स्वतःस्पंदन से संवंधित कुछ घटनाओं का संक्षेप में वर्णन किया। गाछ के संदर्भ में भी क्या ये समस्त आश्चर्यजनक वातें घटित होती हैं? नानाविध परीक्षण करने के उपरांत मुझे इसके वहुविध प्रमाण मिले हैं कि कुछेक उद्‌भिज-पेशियां स्पंदनशील हैं।

वन-चांडाल का नृत्य

वन-चांडाल गाछ के द्वारा उद्‌भिज की स्पंदनशीलता अनायास ही देखी जा सकती है। इसके छोटे-छोटे पत्ते अपने-आप नृत्य करते हैं। लोगों का ऐसा विश्वास है कि हाथ से चुटकी वजाते ही नृत्य शुरू हो जाता है। गाछ को संगीत-वोध है या नहीं, कह नहीं सकता। किन्तु वन-चांडाल के नृत्य का हाथ की चुटकी से कोई सम्वन्ध नहीं है। तरु-स्पंदन की 'साड़ा-लिपि' का अध्ययन करने पर यह निश्चयपूर्वक कह सकता हूं कि जन्तु व उद्‌भिज का स्पंदन एक ही नियम से निष्पादित होता है।

पहले, परीक्षा की सुविधा के लिए वन-चांडाल के पत्तों का छेदन करने पर स्पंदन क्रिया वंद हो जाती है। किन्तु नल के द्वारा उद्‌भिज-रस संचारित करने पर स्पंदन-क्रिया फिर से प्रारंभ हो जाती है; अवाध, अनवरत गति से चलने लगती है। उसके वाद स्पष्ट पता चलता है कि उत्ताप से स्पंदन की मात्रा वढ़ जाती है और शीतलता से स्पंदन की गति मंथर हो जाती है। ईथर के प्रयोग से स्पंदन-क्रिया स्तंभित हो जाती है। किन्तु फिर वयार करने से अचैतन्य दूर हो जाता है। क्लोरोफार्म का प्रभाव सर्वथा प्राण-घातक है। सर्वाधिक आश्चर्य की वात यह है कि जहर के द्वारा जिस तरह से स्पंदनशील हृदय निस्पंदित होता है, उसी जहर से उसी तरह उद्‌भिज का स्पंदन भी निरस्त होता है। उद्‌भिज में भी एक जहर के प्रयोग से दूसरे जहर को नष्ट करने में सफल हुआ हूं।

इस समय देखना होगा कि स्वतःस्पंदन का मूल रहस्य क्या है? उद्भिज परीक्षण करने के बाद पता चला कि किसी-किसी उद्भिज-पेशी पर आघात करने से उसी क्षण उसका उत्तर प्राप्त नहीं होता। फिर भी जो बाह्य-शक्ति उद्भिज में प्रवेश करके एकदम से नष्टप्राय हो गयी हो, ऐसा नहीं है; उद्भिज ने उस आघात की शक्ति को संचित करके रख लिया है। इस प्रकार आहार-जनित संबल, बाह्य आलोक, उत्ताप व अन्य शक्ति उद्भिज सुरक्षित रखता है। जब सम्पूर्ण रूप से भर जाता है, तब संचित की हुई शक्ति बाहर छलकती है। बाहर छलकने की उस क्रिया को स्वतःस्पंदन समझते हैं। जिसे हम 'स्वतः' का स्वरूप मानते हैं, वह संचित-संबल का बाह्य-उच्छ्वास है। जब संचय समाप्त हो जाता है, तब स्वतःस्पंदन भी निःशेष हो जाता है। ठंडा पानी उंड़ेल कर वन-चांडाल के संचित तेज का हरण करते ही स्पंदन अवरुद्ध हो जाता है। थोड़ी देर बाद बाहर उत्ताप संचित होने पर फिर से स्पंदन प्रारंभ हो जाता है।

गाछ के स्वतःस्पंदन में अनेक वैचित्र्य हैं। कुछ-एक पेड़ों में अल्पतम संचय करते ही उनकी शक्ति उथल जाती है; किन्तु उनका स्पंदन दीर्घकाल के लिए स्थायी नहीं होता। स्पंदित अवस्था की रक्षा करने के लिए वे सब उत्तेजना प्राप्त करने की खातिर तरसते हैं। बाह्य उत्तेजना बंद होने पर तत्क्षण स्पंदन भी बन्द हो जाता है। 'काम-रांगा' [काम-रक्खा] गाछ इसी जाति का है।

और कुछ पेड़ ऐसे हैं जो बाहर के आघात से भी काफी देर तक 'साड़ा' नहीं देते। दीर्घ काल तक संचय करते रहते हैं। किन्तु जब उनकी परिपूर्णता बाहर प्रकट होती है, तब बहुत समय तक उनका उच्छ्वास स्थायी रहता है। 'वन-चांडाल' दूसरी किस्म का उदाहरण है।

मनुष्य की एक अवस्था-विशेष को उद्भावनशीलता अथवा उद्दीपना कहा जा सकता है। उस अवस्था के लिए संचय एवं परिपूर्णता आवश्यक है। कुछ-एक लक्षण देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि वह अवस्था, स्वतःस्पंदन का ही विशेष उदाहरण है। यदि यह सत्य है तो फिर अवस्था अभिलाषी सार्थक विचार करके देखें, कौन-सा पथ—'काम-रांगा' [काम-रक्खा] अथवा 'वन-चांडाल' का अनुसरण करना उनके लिए श्रेयस्कर है।

मृत्यु का साड़ा

उद्भिज के शेष जीवन में ऐसा समय आता है, जब किसी एक प्रचंड आघात से अचानक 'साड़ा' [प्रतिक्रिया] व्यक्त करने की समस्त शक्ति का अवसान हो जाता है। वही आघात मृत्यु का आघात है। किन्तु उस अन्तिम समय के दौरान भी बिरछ की स्थिर-स्निग्ध मूर्ति म्लान नहीं होती। एक ओर झुक जाना या सूख जाना बहुत बाद की अवस्था है। जब मृत्यु का रौद्र आह्वान आ पहुंचता है, तब पेड़ अपना अंतिम जवाब किस तरह देता है? जिस तरह मनुष्य की मृत्यु के समय एक दारुण आक्षेप समस्त शरीर से प्रवाहित होता है, उसी तरह देखता हूं कि अन्तिम समय गाछ-बिरछ की देह में अत्यधिक आकुंचन का आक्षेप प्रकट होता है। ऐसे समय एक विद्युत-प्रवाह क्षण-भर के लिए मुमूर्षु गाछ-काया में तीव्र वेग से प्रवहमान होता है। लिपियंत्र में इस समय अचानक जीवन को अंकित करने की गति में परिवर्तन हो जाता है—ऊर्ध्वगामी रेखा नीचे की ओर दौड़-

कर स्तब्ध हो जाती है। यह 'साड़ा' ही वृक्ष का अंतिम 'साड़ा' है।

ये जो हमारे मूक संगी-साथी हैं, हमारे दरवाजे के बाहर जिनकी जीवन-लीला निःशब्द रूप से चल रही है, अपने निगूढ़ आंतरिक रहस्य को उन्होंने भाषा-विहीन अक्षरों में निबद्धित कर दिया; उनके जीवन की चंचलता व मरण-आक्षेप आज हमारी आंखों के सामने उजागर हो गया। प्राणी व उद्भिज के बीच जो कृत्रिम व्यवधान रचा गया, वह ओझल हो गया। कल्पना से भी परे अगणित सूचनाएं स्पष्ट भाषा में उद्घोषित कर आज विज्ञान ने बहुविध अनेकता के बीच एकत्व को प्रमाणित किया है। ००

मनुष्य की अंगभंगिमा के द्वारा उसकी आंतरिक अवस्था को समझा जा सकता है। सुबह के समय उसका जो हुलिया रहता है, वह सांझ की वेला दिन-भर की क्लांति के कारण बदल जाता है। सुख से उत्फुल्ल, दुख से विवश। सब जीव-जन्तुओं का स्वरूप प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहा है; वह केवल आंतरिक परिवर्तन के कारण नहीं है। बाहर के आघात से ही उसकी अंगभंगिमा विभिन्न हो जाया करती है। छेड़ने पर, क्रुद्ध नागिन उसी क्षण संहार-रूपिणी बन जाती है।

इस प्रकार हर पल आंतरिक व बाह्य शक्ति के द्वारा प्रताड़ित होकर जीव बहुरूपी हो गया है। आंतरिक शक्ति के साथ बाह्य शक्ति का निरंतर संग्राम चल रहा है। आश्चर्य की बात यह है कि बाह्य आघात की वजह से आंतरिक शक्ति दिन-ब-दिन प्रस्फुटित हो रही है।

एक समय भीतर कुछ भी नहीं था, बाहर की शक्ति भीतर प्रवेश करके संस्थित हुई। जो बाहर असीम थी, वही भीतर ससीम हुई; वही क्षुद्र तब वृहत् से जूझने में समर्थ होती है। वही क्षुद्र कभी बाहर का वरण करती है, कभी प्रत्याख्यान करती है। जीवन की यह लीला वैचित्र्यमयी है।

जीव की तरह वृक्ष की भंगिमा भी सर्वदा परिवर्तित हो रही है। पत्ते कभी रोशनी के लिए उन्मुख होते हैं, कभी प्रचण्ड धूप से विमुख होते हैं। प्रातःकाल घूमते-घूमते देखा है कि सूर्य-मुखी का गाछ पूर्व गगन की ओर झुका हुआ है। पत्ते सब घूम कर इस प्रकार सन्निवेशित हुए हैं कि सूर्य-रश्मि प्रत्येक पत्ते पर मानो पूर्ण रूप से निछावर हो। इसके लिए कुछ पत्ते ऊपर उठे हैं और कुछ पत्ते दाहिनी ओर तो कोई बाईं ओर मुड़ कर सूर्य-किरण का सम्पूर्णतया आहरण करते हैं। सांझ के समय देखा कि पत्तों सहित गाछ पश्चिम की ओर उन्मुख हो गये हैं; समस्त डालियां व पत्ते घूम गये हैं। किस शक्ति के बल पर यह परिवर्तन घटित हुआ? बाहर के साथ भीतर का अद्भुत संबंध है। सूर्य तो

वृक्ष की अंगभंगिमा

जगदीशचन्द्र बसु

लगभग पांच करोड़ कोस दूर है, तब क्या रक्षा-बन्धन के उपलक्ष्य में गाछ, दिवाकर के साथ इस प्रकार सम्मिलित हुआ है?

उद्भिज विद्या से संबंधित पुस्तक में देखा जा सकता है कि सूर्य-मुखी का यह व्यवहार 'हीलिओ-ट्रोपिज्म' के कारण है। हीलिओ-ट्रोपिज्म का अर्थ है—सूर्य की ओर मुखातिब। सूर्य-मुखी क्यों सूरज की ओर आकृष्ट होता है? कारण कि उसकी ओर मुंह होना ही उसकी प्रवृत्ति है! जब मनुष्य किसी विषय का प्रकृत संधान न पाकर उत्कण्ठित होता है, तब कोई दुर्बोध मंत्र-तंत्र उसे आश्वस्त करता है। लेकिन यह मंत्र संस्कृत, लेटिन या ग्रीक भाषा में होना आवश्यक है। सीधा बंगला, हिन्दी या अन्य किसी भाषा में होने से वह मंत्र-शक्ति नहीं रहती। इसी कारण ग्रीक हीलिओ-ट्रोपिज्म मंत्र के द्वारा सूर्य-मुखी का व्यवहार विशद हुआ।

चाहे जो भी हो, इसके पीछे निश्चय ही कोई कारण है। यह सब अंग-भंगी, अदृश्य जीव-बिन्दु के किसी प्रकृतिगत परिवर्तन के द्वारा ही साधित होती है। जीव-बिन्दु का परिवर्तन अणुवीक्षण यंत्र के लिए भी अदृश्य होता है। तब किस प्रकार अप्रकाश्य को उजागर किया जा सकेगा? अत्यधिक प्रयास के बाद विद्युत-शक्ति के द्वारा उस अदृश्य जगत को दृष्टिगोचर करने में सफल हुआ हूं। इस विषय में दो-एक बातें बाद में कहूंगा।

केवल सूर्य-मुखी ही आलोक से आकृष्ट होता हो, ऐसी बात नहीं है। गमले में लगी एक बेल, अंधेरे कमरे में रख दी थी। बन्द खिड़की की दरार से एक क्षीण आलोक-रेखा प्रवेश कर रही थी। दूसरे दिन देखा कि सारे पत्ते घूम कर उस आलोक की ओर प्रसारित हो गये हैं।

छुई-मुई बेल को भी ऐसी हरकत करते हुए देखा जाता है। गमले की बेल यदि खिड़की के पास रखी जाये तो सब पत्ते बाहर के प्रकाश की ओर मुंह कर लेंगे। गमले को फिरा देने पर पुनः सारे पत्ते फिर से मुड़ जायेंगे। आश्चर्य की बात यह है कि पत्ते केवल ऊपर उठने या नीचे झुकने तक ही सीमित नहीं रहते, बल्कि दायें, बायें चक्कर लगा कर घूम जाते हैं। डंठल के आखिरी सिरे पर जो स्थूल पेशी है, उसी के द्वारा पत्ते मुंह फिरा लेते हैं—कभी ऊपर, कभी नीचे, कभी दायें तो कभी बायें। पहले ऐसा विश्वास था कि डंठल के पास एक पेशी है, जिसके द्वारा केवल ऊपर की ओर उठना ही संभव है। किन्तु हमें हाथ घुमाने के लिए बहुत सारी पेशियों का आकुंचन तथा प्रसारण आवश्यक है। अनु-संधान करने पर पता चला है कि छुई-मुई के पत्तों की तह में चार विभिन्न पेशियां होती हैं, जिनके अस्तित्व के बारे में अब तक विचार नहीं कर पाया था। एक पेशी के द्वारा ऊपर उठना, दूसरी के द्वारा नीचे झुकना, तीसरी के द्वारा दाईं ओर तथा चौथी के द्वारा बाईं ओर घूमना होता है।

इसका प्रमाण क्या है? प्रमाण यह है कि चिड़िया की पांख के द्वारा ऊपर की पेशी पर गिलगिली करने से पत्ता ऊपर उठता है और वह ऊर्द्धगति-यंत्र के द्वारा अंकित होता है। एक नम्बर व चार नम्बर की पेशियों को उत्तेजित करने से पत्ता बाईं व दाहिनी ओर घूमता है। दो व तीन नम्बर को छेड़ने पर पत्ता नीचे झुकता है, ऊपर उठता है। इसी प्रकार सूर्य के प्रकाश द्वारा पेशी के विभिन्न अंशों का परस करने पर उपरोक्त रूप से

'साड़ा' प्राप्त होता है। किन्तु सूर्य का प्रकाश तो हर समय पत्ते की ठेठ तह पर पड़ता नहीं है, क्योंकि पत्तों की छाया से मूल ढका रहता है। छुई-मुई बेल के बड़े डंठल सहित चार छोटे डंठल जुड़े रहते हैं और इन छोटे डंठलों पर अनेक छोटे-छोटे पत्ते होते हैं। रोशनी केवल इन्हीं छोटे पत्तों पर पड़ती है। रोशनी पड़ने के साथ ही पत्तों का हिलना प्रारंभ हो जाता है। मगर पत्तों का हिलना-डुलना तो मूल की स्थूल पेशी के आकुंचन व प्रसारण के बिना हो नहीं सकता। तब छोटे पत्ते, प्रकाश की अनुभव-जनित उत्तेजना, किस माध्यम से, किस प्रकार भेजते हैं? इस संदर्भ में अनुसंधान करने पर जान सका कि चार छोटे डंठलों से ठेठ मूल तक चार विभिन्न स्नायु-सूत्र फैले हुए हैं। इसी के द्वारा सूचना प्रसारित होती है। एक नम्बर की छोटी पत्तियों को किसी प्रकार उत्तेजित करने पर केवल एक सूत्र के द्वारा पत्र-मूल की एक नम्बर पेशी से उत्तेजना प्रेरित होती है और पत्तियां बाईं ओर घूम जाती हैं। चार नम्बर की पत्तियों को उत्तेजित करने पर पत्ते दाईं ओर घूम जाते हैं। दो नम्बर की पत्तियों को उत्तेजित करने पर बड़ा पत्ता नीचे की ओर झुकता है। तीन नम्बर की छोटी पत्तियों को उत्तेजित करने पर वह ऊपर की ओर उठता जाता है। सुतराम्, गौर करने की बात यह है कि पत्ते को बाहर से भीतर हुक्म भेजने के लिए चार लगाम हैं। कौन ये लगामें खींच कर संदेश भेजता है?

केवल यही नहीं। किसी निर्दिष्ट दिशा की ओर संचालित करने के लिए मात्र एक लगाम खींचना पर्याप्त नहीं है। एक दांड़ चलाने से नाव केवल घूमती रहेगी। दिशाहीन संचालन अधूरा ही होता है। कम-से-कम दुतरफा खींच से गन्तव्य-पथ निर्दिष्ट होता है। एक-साथ दो दांड़ों का संचालन आवश्यक है।

पतंगा प्रकाश की ओर भागता है। उसकी दोनों आंखों पर रोशनी पड़ती है। प्रत्येक आंख के साथ उसके एक-एक पंख का संयोग है। एक आंख नष्ट होने पर वह रोशनी की ओर नहीं बढ़ सकता। एक दांड़ वाली नाव की तरह केवल घूमता रहेगा। जब दोनों आंखों पर रोशनी पड़ती है, केवल तभी दोनों पंख एक साथ, एक ही शक्ति से आन्दोलित होते हैं; और वह सीधा रोशनी की ओर दौड़ता है। यदि रोशनी को एक तरफ फिरा कर रखा जाय तो वह केवल एक ही आंख पर पड़ेगी, एक ही पंख प्रबल वेग से स्पंदित होगा और पतंगा घूमने लगेगा। घूम कर जब वह सीधा रोशनी की ओर मुखातिब होगा, तब उसकी दोनों आंखों पर एक-सी रोशनी पड़ेगी, और दोनों पांखें समान रूप से एक ही शक्ति के द्वारा स्पंदित होंगी। पतंगा अपना अभीष्ट लाभ करेगा—जीवन अथवा मरण!

दो दांड़ों के सहारे नाव नदी के वक्ष पर गंतव्य की ओर दौड़ सकती है, किन्तु चतुर्दिक्-विहारी जीव कभी दाहिनी ओर, कभी बाईं ओर, कभी ऊपर तो कभी नीचे की ओर दौड़ना चाहता है। तब सर्वत्र विचरण करने के लिए सर्व-मुखी-गति के निमित्त चार रस्सियां आवश्यक हैं।

छुई-मुई बेल की पत्तियों के हर कोष में प्रकाश पकड़ने का फंदा है। उस प्रकाश की उत्तेजना, एक-एक स्नायु-सूत्र के द्वारा पत्र-मूल की पेशी में उपस्थित होती है। जब तक चारों डंठल के पत्ते समष्टि रूप से प्रकाश की ओर मुखातिब न हों, तब तक चारों लगामों

की खींच इतर-विशेष होकर रह जाती है। तब पत्र-रथ दाहिने, या बायें, ऊपर या नीचे की ओर चलता रहता है।

सविता का रथ

सारथी तब कौन है? सूरज अपने-आपको असंख्य अनगिनत अंशों में विभक्त करके धरती के आसन पर अधिष्ठित है। खिड़की के अकिंचन छिद्र से सूर्यदेव की शत-शत मूर्ति फर्श पर देख पाता हूं।

सूर्य-नारायण तब प्रत्येक पत्ते को अपने रथ के रूप में ग्रहण करते हैं। पत्तों की चारों लगाम उन्हीं के हाथ में है। अनंत आकाश में फैली हुई उसकी सीमाहीन गति! किन्तु यह असीम पथ-प्रदक्षिणा करते समय भी, धूलिकण के समान यह पृथ्वी तथा उस क्षुद्र पृथ्वी से उद्‌भूत क्षुद्र तरलता की अति क्षुद्रतम पत्ती के आह्वान की भी वे उपेक्षा नहीं करते। अपनी प्रचंड शक्ति के द्वारा प्रत्येक जीव-विन्दु को स्पंदित करते हैं और नगण्यतम पत्ते की गति का निरूपण करते रहते हैं। जीवन तथा जीवन की गति के मूल में वही शक्ति प्रच्छन्न है।

सर्वभूतों के संचालक तुम्हीं हो, तुम्हारी अजस्र कांतिमय राशि को कौन उद्दीप्त रख रहा है?

००

दृश्य-जगत का गठन क्षिति, अप्, तेज, मरुत्, व्योम से हुआ है। रूपक द्वारा इसे इस प्रकार कहा जा सकता है। इस जगत में असंख्य घटनावलियों के मूल में तीन कारण विद्यमान हैं—पदार्थ, शक्ति और व्योम अथवा आकाश।

पदार्थ त्रिविध आकार में दृष्टिगोचर होता है। क्षित्याकार—अर्थात् ठोस रूप में; द्रव्याकार—अर्थात् अप् रूप में, वायवाकार—अर्थात् मरुत् रूप में। जड़-पदार्थ हर समय शक्ति अथवा तेज द्वारा स्पंदित हो रहा है। यह महा जगत व्योम में झूल रहा है। महा-शक्ति अनंत चक्र में निरंतर घूम रही है। इसी के बल पर असीम आकाश में विश्व-जगत भ्रमण कर रहा है; उद्भूत हो रहा है और पुनः विलय हो रहा है।

सर्वप्रथम यह देखा जाय कि शक्ति किस प्रकार एक स्थान से दूसरी ठौर स्थानांतर होते समय संचालित होती है।

रेलवे स्टेशन पर संकेत-प्रेरक दण्ड सभी ने देखा है। एक बाजू रस्सी खींचने पर दूरस्थ काठ-खंड संचालित होता है।

इसके अलावा अन्य प्रकार से भी शक्ति संचालित होते हुए देखा जाता है। नदी पर जहाज चलते हैं; यंत्र के आघात से जल तरंगाकार विक्षिप्त होकर नदी के तट से बारम्बार टकराता है। इस जगह यंत्र का आघात तरंग-बल से दूर ले जाया गया है।

वादक की अंगुलियों के संचालन से तन्त्री भी इसी प्रकार स्पंदित होती है। इस स्पंदन से वायुराशि में तरंगें उत्पन्न होती हैं। शब्द-ज्ञान वायुतरंग के आघात से प्राप्त होता है।

वाद्ययंत्र के अलावा अक्सर अनेक सुर सुनायी देते हैं। वायु-कंपित वृक्षों के पत्तों से; पानी गिरने से। तरंगाहत समुद्र-तट पर कई सुर श्रुतिगोचर होते हैं।

सितार का तार जितना ही छोटा किया जाए, सुर उतना ही तेज होता जाता है। जब प्रति सेकिण्ड वायु ३०,००० बार कांपती रहती है, तब कान में बहुत तेज असह्य सुर सुनायी देता है। तार को इस से भी छोटा करने पर अचानक शब्द थम जायेगा। तब भी

आकाश स्पंदन व आकाश-संभव जगत

जगदीशचन्द्र बसु

कितना प्रभेद है !

घर में निश्चल वायु दिखती नहीं है। हम उसका अस्तित्व सहसा किसी भी इन्द्रिय द्वारा उपलब्ध नहीं कर सकते। किन्तु इस अदृश्य सूक्ष्म वायुराशि में आवर्त उठने पर यह विभिन्न गुण धारण कर लेती है। आवर्तमय अदृश्य वायु के भीषण थपेड़े से एक निमिष-भर में ग्राम-जनपद नष्ट होने की वात सभी जानते हैं।

जड़-पदार्थ आकाश के आवर्त मात्र हैं। किसी समय आकाश-सागर में अज्ञात महा-शक्ति वल से अगणित आवर्त उठने पर परमाणु की सृष्टि हुई। उनके सम्मिलन से ; विन्दु, असंख्य विन्दुओं की समष्टि से जगत, महा-जगत उत्पन्न हुआ।

आकाश का ही आवर्त यह जगत-स्वरूप, आकाश-सागर में तैर रहा है।

जर्मन कवि 'रियष्टार' की स्वप्न-राज्य में देवदूत से मुलाकात हुई थी। देवदूत ने कहा, 'हे मानव, तुमने विश्व-रचयिता की अनंत रचना को देखना चाहा है—आओ, मेरे साथ चलो—महाविश्व का दर्शन करने।' देव-स्पर्श के द्वारा पृथ्वी के आकर्षण से विमुक्त कवि ने देवदूत के साथ आकाश-यात्रा की। वह आकाश की उच्च से उच्चतर परतें भेद कर क्रमश: आगे वढ़ने लगा। देखते-देखते सप्तग्रह को पीछे छोड़ते हुए, अगले ही क्षण सौर-लोक में उपस्थित हुए। सूर्य के भीषण अग्निकुण्ड से ऊपर उठती हुई महा-पावक शिखा उन लोगों को विदग्ध नहीं कर सकी। वाद में सौर-राज्य का परित्याग करके दूरस्थ तारों के राज्य में प्रवेश किया। समुद्र-तट के वालूकणों की गिनती मनुष्य के लिए सम्भव है, किन्तु इस असीम में विक्षिप्त अगण्य जगत की गिनती कल्पनातीत है। दायें, वायें, सामने, पीछे, दृष्टि-सीमा का अतिक्रमण करती हुई अगण्य जगत की अगण्य श्रेणियां हैं। कोटि-कोटि महासूर्य की प्रदक्षिणा करते हुए, कोटि-कोटि ग्रह और कोटि-कोटि चन्द्र उनके चारों ओर भ्रमण कर रहे हैं—ऊर्द्धहीन, अधोहीन, दिक्‌हीन और अनंत ! तत्पश्चात् इस महाजगत को पार करते हुए सुदूर अचिन्त्य जगत के लिए वे चल पड़े। चारों ओर आच्छादित, कल्पनातीत नूतन महाविश्व उनकी दृष्टि को अवरुद्ध कर रहे हैं। धारणातीत महाब्रह्माण्ड का अगण्य समावेश देख कर मनुष्य ने एकदम अवसन्न होकर कहा, 'हे देव-दूत ! मेरी प्राणवायु वाहर निकाल दे ! यह शरीर अचेतन धूलिकणों में लय हो जाये। असहनीय है इस अनन्त का भार ! कहां है—इस जगत का शेष कहां है ?'

तव देवदूत वोला, 'तुम्हारे सामने अंत नहीं है; क्या इसीलिए तुम अवसन्न हुए हो ? पीछे मुड़कर देखो, इस जगत का आरम्भ भी नहीं है।'

मनुष्य का मन असीम का भार वहन नहीं कर सकता। धूलिकण के समान होकर फिर किस प्रकार असीम ब्रह्माण्ड की कल्पना मन में धारण करूंगा ?

अणुवीक्षण यंत्र के द्वारा क्षुद्र-विन्दु पर वृहत्-जगत देखा जाता है। विपर्यय करके देखने से जगत क्षुद्र-विन्दु में परिणत होता है। अणुवीक्षण विपर्यय करके देखो। ब्रह्माण्ड छोड़-कर क्षुद्र कणों में दृष्टि आवद्ध करो।

हमारी आंखों के सामने जड़-वस्तुएं, क्षण-प्रतिक्षण कितने विभिन्न रूप धारण कर रही हैं। अग्निदाह से महानगर शून्य में विलीन हो रहा है। फिर भी एक विन्दु भी नष्ट नहीं होता। एक ही अणु कभी मिट्टी के रूप में, कभी उद्‌भिज के रूप में, कभी मनुष्य

के रूप में तो कभी अदृश्य वायु के रूप में अवस्थित है। किसी भी वस्तु का विनाश नहीं होता।

शक्ति भी अविनश्वर है। एक महाशक्ति जगत को परिवेष्ठित किये हुए है, प्रत्येक कण इसके द्वारा अनुप्रविष्ट है। एक क्षण में जिसे देख रहे हैं, दूसरे क्षण ठीक उसी को नहीं देख सकेंगे। वेगवान नदीस्रोत जिस प्रकार पहाड़ के टुकड़ों को बारम्बार तोड़ कर उसे निरंतर नया आकार प्रदान करता है, यह महाशक्ति भी उसी प्रकार दृश्य जगत को पल-पल तोड़ रही है, गढ़ रही है। सृष्टि के प्रारम्भ से यह स्रोत अप्रतिहत गति से प्रवाहित हो रहा है। इसका विराम नहीं, ह्रास नहीं, वृद्धि नहीं। समुद्र में एक स्थान पर भाटा तो दूसरे स्थान पर ज्वार होता है। ज्वार व भाटा दोनों एक ही कारण से उत्पन्न होते हैं; समुद्र के जल की मात्रा समान ही रहती है। एक स्थान पर जितना ह्रास होता है, दूसरे स्थान पर उसी परिणाम में वृद्धि होती है। इस प्रकार ज्वार-भाटा—क्षय-वृद्धि-तरंग के समान चारों ओर घूम रहा है।

शक्ति की तरंगें भी इसी तरह—क्षय-वृद्धि का स्वरूप है। प्रत्येक वस्तु इस तरंग के द्वारा अहर्निश आहत हो रही है। उपलखण्ड तोड़ रही है, गढ़ रही है। शक्ति-प्रक्षिप्त लहरों की माला द्वारा जगत जीवित है।

अब जड़-जगत को छोड़ कर जीव-जगत पर दृष्टिपात करें। बसन्त के स्पर्श से निद्रित पृथ्वी को जगा कर, प्रान्तर वन आच्छन्न करके, उद्भिज शिशुओं ने अंधकार के भीतर से अपना सर उठाया। देखते-देखते हरित प्रान्तर फूलों से भर गया। शरद-काल आया, कहां है बसंत के जीवन का वह उच्छ्वास? डाली से टूटे फूल, जमीन पर गिरे हुए पीले पत्ते, पौधे का शरीर मिट्टी में धंसा हुआ। जागरण के बाद ही निद्रा!

फिर बसंत लौट आया; सूखे फूलों से आच्छादित, बीजों में छिपे हुए वृक्ष पुनः जाग उठे। वृक्षों ने, मृत्यु के आगमन पर, जीवन-ब्रिन्दु-बीजों को संचित करके रख लिया था। उसी बिन्दु से वृक्षों ने पुनर्जीवन प्राप्त किया।

इसलिए यह बात स्पष्ट हो गयी कि प्रत्येक जीवन के दो अंश हैं। एक है अजर, अमर; जिसे वेष्ठित किये हुए है यह नश्वर देह। यह दैहिक आवरण पीछे छूट कर रह जाता है। अमर जीव-बिन्दु प्रत्येक पुनर्जन्म में नया घर बसा लेता है। वह आदिम जीवन का तत्व, वंश-परंपरा का रूप धर कर वर्तमान समय तक चला आ रहा है। जो आज पुष्प-कलिका डंठल से अकातर तोड़ रहा हूं, इसके अणु में करोड़ों वर्ष पहले का जीवनोच्छ्वास अंतर्निहित है।

केवल इतना ही नहीं; प्रत्येक प्राणी के सामने वंश-परम्परागत अनंत जीवन फैला हुआ है।

सुतराम्, वर्तमान काल में अवस्थित जीव अनंत के संधिस्थल पर खड़ा है। उसके पीछे है युग-युगान्तर व्यापी इतिहास और सामने है अनंत भविष्य।

और मनुष्य? प्रथम जीव-कणिका, मनुष्य के रूप में परिणत होने के पहले न जाने कितने परिवर्तनों से गुजर कर आयी है। असंख्य वर्ष-व्यापी, विभिन्न शक्ति-गठित, अनंत संग्राम में विजेता, जीवन का चरमोत्कर्ष मानव!

आज उसी कीटाणु का वंशधर, दुर्वल प्राणी स्वयं की अपूर्णता को भूल कर असीम बल धारण करने को उत्सुक है। आकाश से बिजली छीन कर अपने रथ को आलोकित करना चाहता है। अज्ञानी व अंधा होकर भी पृथ्वी के आदिम इतिहास का उद्धार करने के लिए उत्सुक है। घोर अंधकार से आवृत्त पर्दे को हटा कर भविष्य में झांकने के लिए उद्यत है।

यदि कभी सृष्ट-जीव में दिव्य-शक्ति का आविर्भाव सम्भव हो तो यही है वह दिव्य-शक्ति !

अधिक विस्मयकारी किसे कहूंगा ? विश्व की असीमता या इस ससीम क्षुद्र-बिन्दु में असीम को प्रस्थापित करने का प्रयास—कौन अधिक विस्मयकारी है ?

पहले ही कह चुका हूं, इस जीवन का आरंभ भी नहीं है, अंत भी नहीं है। अब देख रहा हूं, इस जगत में क्षुद्र भी नहीं है, वृहत् भी नहीं है।

जीवन के चरमोत्कर्ष मानव ! यह बात हर समय के लिए ठीक नहीं है। जिस शक्ति ने आदिम जीव-बिन्दु को मनुष्य के रूप में उन्नत किया है, जिसके उच्छ्वास तथा निराकार महाशून्य से यह बहु-रूपी जगत और वैसा ही विस्मयकारी जीवन उत्पन्न हुआ है, आज भी वह महाशक्ति समभाव से प्रवाहित हो रही है। सृष्टि की गति ऊर्ध्वमुखी है। और सामने है—अन्तहीन काल और अनंत उत्कर्ष का विस्तार ! ८०

बाहर का संवाद भीतर क्योंकर पहुंचता है ? हमारी बाह्येन्द्रियों का चतुर्दिक् प्रसार है। तरह-तरह के आघात उन पर हो रहे हैं और संवाद भीतर प्रेषित हो रहे हैं। आकाश की तरंगों द्वारा आहत आंखें जो वार्ता भेजती हैं—उसे ही हम आलोक या प्रकाश कह कर संबोधित करते हैं। वायु की तरंग, कानों पर सतत आघात करके जो संवाद भेजती है : उसे हम शब्द कह कर संबोधित करते हैं। बाहर का आघात मधुर होने पर उसे सुखद समझा जाता है। किन्तु आघात की मात्रा बढ़ने पर भिन्न प्रकार की अनुभूति होती है। मृदु-स्पर्श सुखद है, किन्तु ईंट का आघात सुखप्रद नहीं होता।

टेलिग्राफ तार के द्वारा वैद्युतिक प्रवाह एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुंचा करता है और इस प्रकार दूर-दिसावर संकेत प्रसारित होते हैं। तार काटने पर सूचना बंद हो जाती है। एक ही विद्युत प्रवाह विभिन्न यंत्र से विविध संकेत व्यक्त करता है—कांटा चलाता है, घण्टी बजाता है, रोशनी करता है। विविध इन्द्रिय स्नायु-सूत्र द्वारा जो उत्तेजना प्रवाह भेजा जाता है, वह कभी शब्द, कभी आलोक, कभी स्पर्श के रूप में अनुभव करता हूं। उत्तेजना-प्रवाह जब मांसपेशी पर पड़ता है तब पेशी संकुचित होती है। तार कटने से जिस प्रकार खबर की पहुंच बंद हो जाती है, उसी प्रकार स्नायु-सूत्र कटने से भीतर खबर नहीं पहुंचती।

स्वत:स्पंदन व आंतरिक-शक्ति

बाह्य आघात-जनित 'साड़ा' के बारे में बताया है। इसके अलावा एक और किस्म का 'साड़ा' होता है, जो अपने-आप हुआ करता है। वह स्वत:स्पंदन किसी अज्ञात आंतरिक-शक्ति के द्वारा घटित होता है। हमारा हृदय-स्पंदन इसका एक उदाहरण है। यह अपने-आप ही होता है। उद्‌भिज-जगत में इसका उदाहरण दृष्टिगोचर होता है। 'वन-चांडाल' के दो छोटे पत्ते अपने-आप हिला करते हैं। आंतरिक-शक्ति के स्वत:-

स्नायु सूत्र का उत्तेजना प्रवाह

जगदीशचन्द्र बसु

स्पंदन की एक और विशेषता यह है कि वह बाह्य-शक्ति द्वारा विचलित नहीं होती, बल्कि बाह्य-शक्ति का प्रतिरोध करती है। इसलिए देखा जाय तो दो प्रकार की शक्तियों के द्वारा जीव उत्तेजित होता है—बाह्य-शक्ति द्वारा तथा आंतरिक-शक्ति द्वारा। सामान्यतया आंतरिक-शक्ति, बाह्य-शक्ति का प्रतिरोध करती है।

इन्द्रिय-अग्राह्य क्योंकर इन्द्रिय-ग्राह्य होगा

आघात की मात्रा के अनुसार ही उत्तेजना-प्रवाह का ह्रास एवं वर्द्धन होता है। ऐसी अनेक घटनाएं घटित हो रही हैं जो हमारी इन्द्रियों के लिए अग्राह्य हैं। आलोक जब क्षीण से क्षीणतर हो जाता है, तब दृश्य अदृश्य में मिल जाता है। तब भी आंखें आलोक के द्वारा आहत होती हैं, यह सही है, किन्तु अति क्षीण उत्तेजना-प्रवाह स्नायु-सूत्र द्वारा अधिक दूर न जा पाने के फलस्वरूप, निद्रित अनुभूति की शक्ति को जगा नहीं पाता। इन्द्रिय-अग्राह्य क्या कभी इन्द्रिय-ग्राह्य होगा? क्षण भर के लिए जिसका बोध हुआ था, उसे तो फिर देख नहीं पा रहा हूं। क्या यत्न करने से दृष्टि प्रखर होगी, अनुभूति की शक्ति बढ़ेगी।

दूसरी ओर बाहर के भीषण आघात से अनुभूति-शक्ति, वेदना से मुह्यमान है, वह यंत्रणादायक प्रवाह क्योंकर प्रशमित होगा? हे भीरु, यद्यपि तुम एक दिन मरोगे ही, फिर भी अकाल-शंका से त्रस्त होकर प्रतिक्षण मृत्यु-यंत्रणा भोग रहे हो! यद्यपि बहिर्जगत के आघात का निवारण करने में तुम असमर्थ हो, फिर भी अन्तर्जगत के तुम्हीं एकमात्र अधिपति हो। जिस राह से बाह्य-संवाद तुम्हारे निकट पहुंचता है, क्या किसी दिन तुम्हारी आज्ञा से वह कभी प्रसारित हो सकेगा, कभी बंद हो सकेगा?

कभी-कभार उपर्युक्त घटना को घटित होते देखा गया है। मन की विक्षिप्त अवस्था में जो कभी देखा नहीं, कभी सुना नहीं, चित्त को संयमित करके उसे देखा है, सुना है। इस से पता चलता है कि इच्छानुसार एवं निरंतर अभ्यास से अनुभूति-शक्ति का संवर्द्धन संभव है। जब स्नायु-सूत्र द्वारा बाहर की खबर भीतर पहुंचती है, तब स्नायुसूत्र के किस परिवर्तन से अध-खुला द्वार पूरा खुल जाता है? दूसरे उपाय भी शायद हैं, जिस से खुला द्वार बिल्कुल बंद हो जाता है।

बाह्य-शक्ति का प्रतिरोध

इस प्रकार की एक घटना कुमायुं में देखी थी। एक भयंकर बाघ ने तराई से उतर कर कुमायुं में जबरदस्त कहर ढा दिया था। कुछ ही दिनों में सौ से अधिक लोगों का उसने सफाया कर डाला। सरकार की ओर से बाघ को मारने के लिए बहुतेरे प्रयत्न हुए। मगर सब प्रयत्न बेकार साबित हुए। तब वहां के निवासियों ने हताश होकर कालूसिंह का आश्रय लिया। कुछ समय पहले कालूसिंह शिकार करता था। मगर अस्त्र-कानून की तहत उसने काफी अरसे से अपनी एक-नली बन्दूक का इस्तेमाल नहीं किया। बाघ ने दिन के समय एक भैंसा मारा था। उस भैंसे का आर्तनाद मैंने स्पष्ट सुना था। रात को बाघ उसी जगह फिर लौट कर आयेगा, इस आशा से कालूसिंह एक झाड़ी की

ओट में दुबक कर उसका इंतजार करने लगा। सांझ की वेला साक्षात् यम के रूप में वाघ दिखाई पड़ा। वाघ व कालूसिंह के वीच केवल तीन हाथ की दूरी थी। डर के मारे कालूसिंह का तमाम शरीर कांपने लगा। किसी भी तरह वंदूक स्थिर करके निशाना नहीं लगा पा रहा था। कालूसिंह ने ही मुझे वाद में वताया कि उसने अपने आपको फटकार कर कहा, 'कालूसिंह, यह क्या माजरा है ? स्त्री, वहन व वाल-वच्चों को वचाने की खातिर तुम्हें यहां भेजा है और तुम झाड़ी के पीछे लेटे हुए हो। सहसा मेरे भीतर आग-सी भभक उठी। समूचा शरीर फौलाद की तरह सख्त हो गया और अगले ही क्षण मैं वाघ के सामने खड़ा था। उधर वाघ ने मुझ पर छलांग लगाई, इधर धांय की आवाज के साथ वन्दूक छूटी और वाघ वहीं ढेर हो गया।'

स्नायु के भीतर न जाने क्या स्फुरित होता है कि सारा शरीर लोहे की तरह कठोर हो जाता है, तव उस कवच को भेद कर कोई भय भीतर प्रवेश नहीं कर पाता। स्नायु-सूत्र में ऐसा क्या परिवर्तन घटित होता है, जिस से असम्भव सम्भव वन जाता है ? स्नायु के भीतर उत्तेजना-प्रवाह पूर्णतया अदृश्य है, उसकी प्रकृति क्या है, वह किस नियम से चलता है, उसके वारे में कोई जानकारी नहीं है। वैज्ञानिक परीक्षण द्वारा यह तथ्य निर्णीत होगा, यह सोच कर वीस साल तक इस खोज में मशगूल रहा।

वृक्ष में स्नायु-सूत्र

सवसे पहले उद्‌भिज-जीवन को लेकर परीक्षण किया था। फेफर, हेवरलेण्ड प्रमुख यूरोपीय पंडितगणों का सिद्धांत था कि प्राणियों के समान उद्‌भिज में कोई स्नायु-सूत्र नहीं होता, तव छुईमुई [लज्जावती] की वेल के एक स्थान पर चिकोटी भरने से दूरस्थ पत्ता क्यों गिर जाता है ? उनका जवाव था कि वेल को चिकोटी भरने पर जल-प्रवाह उत्पन्न होता है और उस प्रवाह के धक्के से पत्ता गिर जाता है। यह निष्पत्ति भ्रामक है, जिसे मैं अपने परीक्षणों द्वारा प्रमाणित कर चुका हूं। पहली वात, चिकोटी न भर कर किसी दूसरे उपाय से छुईमुई की वेल में उत्तेजना-प्रवाह उत्पन्न किया जा सकता है, यानी वे सव उपाय किये जा सकते हैं, जिस से जल-प्रवाह को धक्का न लगे। और भी देखा जाय तो प्राणी के स्नायुओं में जो विशेषताएं हैं, वे सव उद्‌भिज के स्नायुओं में भी हैं। नल के आंतरिक जल-प्रवाह के वेग में, सर्दी या गर्मी के द्वारा घटत-वढ़त नहीं होती। किन्तु स्नायु की उत्तेजना का वेग ६ डिग्री उत्ताप से दुगुना होता है। उद्‌भिज में भी यही होता है। अत्यधिक सर्दी से उद्‌भिज का स्नायुसूत्र 'असाड़' [चेतनाशून्य] हो जाता है। उत्तेजना-प्रवाह विल्कुल वंद हो जाता है। क्लोरोफार्म के प्रयोग से उत्तेजना-प्रवाह स्थगित हो जाता है। उद्‌भिज में स्नायुसूत्र हैं—मेरा यह सिद्धान्त सर्वत्र मान्य हुआ है।

आणविक सन्निवेश से उत्तेजना-प्रवाह की ह्रास-वृद्धि

पहले यह देखा जाय, किस उपाय से स्नायु की उत्तेजना को दूर भेजा जाय ? इस वावत स्पष्ट धारणा वनने पर पता चलेगा कि किस प्रकार उत्तेजना-प्रवाह वढ़ सकता है या शांत हो जाता है। स्नायु-सूत्र असंख्य अणुओं से गठित होता है। प्रत्येक अणु स्वाभाविक अवस्था

में, आपेक्षिक निश्चल रूप से, अपने ही स्थान में अवस्थित है। किन्तु आघात प्राप्त होने पर हिलता-डुलता रहता है। यह हिलना-डुलना ही उत्तेजित अवस्था का द्योतक है। एक अणु जब स्पंदित होता है, पास के दूसरे अणु भी प्रथम अणु के आघात से स्पंदित होते हैं। इस प्रकार धारावाहिक ढंग से स्नायु-सूत्र के द्वारा, उत्तेजना एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रेरित होती है। अणु का आघात-जनित कंपन किस प्रकार दूर प्रेरित होता है, उसके एक चित्र की कल्पना कर सकता हूं। मान लो, एक मेज पर पुस्तकों की एक कतार सजी हुई रखी है। दाहिनी ओर सजी पुस्तकों को बाईं ओर धक्का देने से, पहले नंबर की पुस्तक, दूसरे नंबर की पुस्तक पर गिर कर तीसरे नम्बर की पुस्तक को धक्का देगी, इस प्रकार एक तरफ आघात का धक्का लगने पर, दूसरी तरफ भी पहुंचेगा।

पहले सारी पुस्तकें सीधी खड़ी थीं, उन्हें उलटा करने में कुछ शक्ति की आवश्यकता हुई। मान लो उसकी मात्रा पांच है। अगर धक्के की शक्ति पांच न होकर तीन हो तो पुस्तकें उलटेंगी नहीं, इसलिए पास वाली पुस्तकें भी निश्चल अवस्था में पड़ी रहेंगी। इसी तरह जब बाह्येन्द्रिय पर धक्का अत्यधिक क्षीण होता है, तब उत्तेजना दूर पहुंच नहीं पाती, इसलिए बाहर का आघात इन्द्रिय-जन्य नहीं होता। मान लो, पुस्तकें सीधी न रख कर, थोड़ी टेढ़ी रखी गयीं। इस बार हलके आघात से ही पुस्तकें उलट कर गिर जायेंगी, और एक तरफ का धक्का दूसरी तरफ भी पहुंचेगा। पहले धक्के का जोर पांच न होकर तीन होने से ज्यादा दूर पहुंचा नहीं था, अब आसानी से पहुंच जायेगा। पुस्तकों को उलटी ओर तनिक तिरछी करके रखा जाय तो पांच नम्बर का धक्का पहली पुस्तक को उलटा नहीं कर सकेगा। धक्का इस बार दूर नहीं पहुंचेगा; गन्तव्य पथ मानो एकदम से बंद हो गया हो। इस उदाहरण से समझ में आता है कि स्नायुसूत्र के अणुओं को दो प्रकार से रखा जा सकता है। 'समुख' सन्निवेश से इन्द्रिय-अग्राह्य-शक्ति, इन्द्रिय-ग्राह्य होगी और विमुख सन्निवेश से बाहर की भीषण आघात-जनित उत्तेजना का धक्का भीतर पहुंच नहीं सकता।

परीक्षा

उत्तेजना-प्रवाह को संयत करने की समस्या किस प्रकार पूरी करने में समर्थ होऊंगा, उसका स्थूल रूप से वर्णन किया है। इस संबंध में जो सोचा है, वह परीक्षण-सापेक्ष है। तब किस प्रकार आणविक सन्निवेश 'समुख' अथवा 'विमुख' हो सकता है? ऐसा देखा जाता है कि विद्युत-प्रवाह एक ओर प्रेरित करने से पास की चुम्बक-शलाकाएं घूम कर अन्यमुखी हो जाती हैं। विद्युत-वाहक जलीय-पदार्थ से यदि विद्युत-स्रोत प्रेरित किया जाय तो अणु विचलित हो जाते हैं एवं अणु-सन्निवेश विद्युत-स्रोत की दिशा के अनुसार नियमित हुआ करता है।

स्नायु-सूत्र में, इस उपाय द्वारा दो तरह से आणविक सन्निवेश किया जा सकता है। पहला परीक्षण छुईमुई की बेल पर किया था। आघात की मात्रा ऐसी क्षीण कर दी गयी कि छुईमुई उसे अनुभव करने में समर्थ नहीं हो सकी। तत्पश्चात् आणविक सन्निवेश 'समुख' किया गया। सहसा वह आघात जो छुईमुई किसी भी दिन अनुभव नहीं कर

पायी थी, उसे अब अनुभव कर पायी एवं जोर से पत्रों को हिला कर 'साड़ा' व्यक्त किया। फिर आणविक सन्निवेश को 'विमुख' किया। इस बार प्रचण्ड आघात करने पर भी छुई-मुई ने किंचित् भी भ्रूक्षेप नहीं किया। पत्तियों ने निस्पंदित रह कर उपेक्षा प्रकट की।

उसके बाद मेंढ़क पकड़ कर पूर्वोक्त प्रकार से परीक्षण किया। जो आघात मेंढ़क ने किसी दिन भी अनुभव नहीं किया, स्नायु-सूत्र ने 'समुख' आणविक सन्निवेश के द्वारा उसे अनुभव किया और अपना शरीर हिला कर 'साड़ा' व्यक्त किया। फिर 'कटे घाव पर नमक' का प्रयोग किया। इस बार मेंढ़क तड़प उठा। किन्तु जैसे ही आणविक सन्निवेश 'विमुख' किया, तुरंत वेदना-जनक प्रवाह पत्थर के बीच अटक कर रह गया और मेंढ़क बिल्कुल शांत हो गया।

इसलिए यह देखने में आया है कि स्नायु-सूत्र के द्वारा उत्तेजना-प्रवाह का इच्छानुसार ह्रास अथवा वृद्धि हो सकती है। यह ह्रास या वृद्धि आणविक सन्निवेश पर निर्भर करती है। इस प्रकार के सन्निवेश से उत्तेजना-प्रवाह की कई गुना वृद्धि होती है। दूसरे प्रकार के सन्निवेश से उत्तेजना-प्रवाह सुन्न हो जाता है। और भी देखने में आता है कि यह आणविक सन्निवेश एवं तज्जनित उत्तेजना-प्रवाह की ह्रास-वृद्धि को बाह्य निर्दिष्ट शक्ति के प्रयोग से नियमित किया जा सकता है। यह कोई आकस्मिक या दैवी घटना नहीं है, बल्कि परीक्षित वैज्ञानिक सत्य है। इस से कार्य-कारण का अटूट संबंध है।

बाह्य-शक्ति द्वारा जो घटित होता है, आंतरिक-शक्ति द्वारा भी अक्सर वह संघटित होता है। बाह्य-आघात से हस्त-पेशी जिस तरह संकुचित होती है, आंतरिक इच्छा से भी हाथ उसी प्रकार संकुचित होता है। उलटे प्रकार के हुक्म से हाथ श्लथ हो जाता है। इस से ज्ञात होता है कि स्नायु-सूत्र से, आणविक-सन्निवेश, इच्छाशक्ति द्वारा नियमित हो सकता है। ऐसा होने पर आंतरिक-शक्ति के बल से भी स्नायु-सूत्र में उत्तेजना-प्रवाह वर्जित अथवा संयत हो सकता है। फिर ये दो प्रकार के आणविक सन्निवेश करने की क्षमता निरंतर अभ्यास व साधना सापेक्ष है। शुरुआत में बच्चा चल नहीं पाता, किन्तु बहुत दिनों की चेष्टा व अभ्यास से चलना-फिरना स्वाभाविक हो जाता है।

सुतराम्, मनुष्य केवल अदृष्ट का ही दास नहीं है, उस में एक शक्ति निहित है, जिसके द्वारा वह बहिर्जगत् से निरपेक्ष रह सकता है। उसकी इच्छानुसार बाहर व भीतर का प्रवेश-द्वार कभी उद्घाटित तो कभी अवरुद्ध हो सकता है। इस प्रकार वह दैहिक व मानसिक दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त कर सकता है। जो क्षीण वार्ता वह सुन नहीं पाया वह अब श्रुतिगोचर होगी, जो लक्ष्य वह देख नहीं पाया, अब उसके सामने जाज्वल्यमान होगा। अन्य प्रकार से वह समस्त बाहरी विभीपिकाओं से मुक्त होगा। अन्तर्राज्य में स्वेच्छा-शक्ति के बूते पर वह बाहर की आंधी के बीच भी अक्षुब्ध रह सकेगा।

भीतर और बाहर

आंतरिक-शक्ति तो स्वेच्छा ही है! तो जीवन के किस स्तर पर इस शक्ति का उद्भव हुआ? सूखा तिनका जल के स्रोत में वह जाता है। किन्तु जीव केवल बाह्य-प्रवाह के द्वारा ही परिचालित नहीं होता, बल्कि लहर के आघात से उत्तेजित होकर

स्रोत के विरुद्ध तैरता है। तो किस स्तर पर यह जूझने की शक्ति जागृत हुई है ? तुच्छ-से-तुच्छ जीव-विन्दु कभी-कभार वाह्य-शक्ति ग्रहण करता है तो कभी आंतरित-शक्ति द्वारा प्रतिहार करता है। ग्रहण व प्रत्याख्यान करने की क्षमता ही तो इच्छा-शक्ति है।

और भीतर की शक्ति किस प्रकार उद्भूत हुई है ? वाहर की व भीतर की शक्ति क्या एकदम विभिन्न हैं ? पहले ही कह चुका हूं कि वन-चांडाल के दो पत्ते भीतर की शक्ति से अपने-आप हिलते हैं। किन्तु गाछ को दो दिन अंधकार में रख कर देखा कि दोनों पत्ते एकदम निश्चल हो गये हैं। इसका कारण यह है कि भीतर की शक्ति जो संचित थी, वह निःशेष हो गयी है। अव दोनों पत्तों पर क्षण-भर के लिए रोशनी डालते ही दोनों पत्ते झूम-झूम कर 'साड़ा' दे रहे हैं; किन्तु रोशनी वन्द करते ही पत्तों का स्पंदन थम जाता है। तत्पश्चात् ज्यादा समय तक रोशनी डालने पर एक अपूर्व वात देखने में आती है। इस वार रोशनी वन्द करने पर भी, दोनों पत्ते काफी समय अपनी इच्छा से हिलते रहे। इस से अधिक विस्मयकारी घटना और क्या हो सकती है ? देखने में आता है कि प्रकाश के रूप में जो वाहर की शक्ति थी, गाछ ने उसे ग्रहण करके अपना अंश वना लिया है और वाहर से संचित शक्ति ने अव भीतर की शक्ति का रूप धारण कर लिया है। सुतराम्, वाहर की व भीतर की शक्ति प्रकृत-रूप में दोनों एक ही हैं। सामान्य विभिन्नता यह है कि जो पर्दे के उस पार था, वह इस पार आ गया है। जो पराया था, वह अपना हो गया है। और भी देखने में आता है कि इस प्रकार स्वतःस्पंदित अवस्था में पत्ता वाहर के आघात से विचलित नहीं होता। वह अव वाहर की शक्ति से निरपेक्ष है, अर्थात् भीतर की शक्ति के द्वारा वाहर की शक्ति का प्रतिरोध करने में समर्थ हुआ है। जव आंतरिक संचय निःशेष हो जायेगा, केवल तभी ग्रहण करेगा एवं वाद में स्वेच्छा से प्रत्याख्यान करेगा। तव फिर जीवन के किस स्तर पर भीतर की शक्ति व स्वेच्छा, उद्भूत हुई हैं ?

जन्म के समय क्षुद्र व असहाय होकर इस शक्ति-सागर में निक्षिप्त हुआ था। तव वाह्य-शक्ति ने भीतर प्रवेश करके मेरे शरीर का पालन किया, संवर्द्धन किया। मातृ-स्तन के साथ स्नेह, माया, ममता ने हृदय में प्रवेश किया, एवं वन्धु-वान्धवों के प्रेम ने मेरे जीवन को उत्फुल्ल किया। दुर्दिन व वाहरी आघात के फलस्वरूप आंतरिक शक्ति का संचय हुआ, तव उसी के वल पर वाहर के साथ जूझने में सक्षम हुआ हूं।

इस में मेरा अपना क्या है ? इस सव के मूल में मैं हूं या तुम हो ?

एक जीवन के उच्छ्वास से तुमने अन्य जीवन को पूर्ण किया है। वहुतों ने तुम्हारे ही निर्देश पर ज्ञान के सन्धान में जीवन लुटा दिया है, मनुष्य के कल्याण की खातिर राज्य-संपद का परित्याग करके, दुःख दारिद्र्य का वरण किया है, एवं देश की सेवा में निर्भय-निर्द्वन्द्व होकर फांसी के फंदे को गले लगाया है। यह सव, जीवन की विक्षिप्त शक्ति ने, अन्य जीवन को ज्ञान व धर्म से, शौर्य व वीर्य से परिपूरित किया है।

भीतर व वाहर के शक्ति-संग्राम में ही जीवन विविध-रूप में प्रस्फुटित हो रहा है। दोनों के मूल में एक ही महाशक्ति है जिसके द्वारा अजीव और सजीव, अणु और ब्रह्माण्ड अनुप्राणित हैं। उस शक्ति के उच्छ्वास में ही जीवन की अभिव्यक्ति है। उसी शक्ति से ही मानव, आसुरी-शक्ति का परिहार करके देवत्व की गरिमा प्राप्त कर सकेगा। ००

सब प्रकार से प्राण-क्रिया को समक्रिया प्रतिपन्न करने के उद्देश्य से मैंने अपना अनुसंधान प्रारंभ किया। यदि यह समक्रिया प्रतिष्ठित की जा सके तो वैज्ञानिक-संसार में एक विराट रहस्य का उद्घाटन होगा। जीव-देह से संबंधित जिन समस्त जटिल समस्याओं का समाधान करने में हम समर्थ नहीं हुए, उद्भिज की अनुरूप क्रियाएं देख कर उन सब का निदान कर पाना संभव हो सकेगा। उद्भिज और जीव के प्राण की समक्रिया किस प्रकार प्रतिपन्न की जाय? निरी कल्पना जितना भी आनंद-दायक क्यों न हो, उसका नतीजा कुछ भी नहीं निकलेगा। वैज्ञानिक को अनुसंधान के कठोर पथ पर अनुसरण करना पड़ता है। नाना प्रकार के कौशल से मूक उद्भिज के द्वारा ही अपनी प्राण-क्रिया का इतिहास लिपिबद्ध करवाने की व्यवस्था की गयी है।

अवयव और उसका कार्य

प्राणी देह का प्रत्येक अवयव, समग्र देह का एक विशेष कार्य संपन्न करता है। विभिन्न श्रेणी के पाक-यंत्रों की तुलना करने पर यह तथ्य स्पष्टतया समझा जा सकेगा। पाक यंत्र का कार्य है पाचक रस के निस्सरण द्वारा भुक्त-द्रव्य को द्रवीभूत करके हजम करना। सनड्यू नामक कीट-भक्षी उद्भिज के पत्तों पर तीखे रोएं होते हैं। ये रोएं एक प्रकार का खट्टा रस छोड़ते हैं। इस रस में कीट-पतंग चिपक कर रह जाते हैं। तब छुटकारा पाने के लिए छटपटाहट करते हैं, तिस पर दूसरे रोएं शिकार को और मजबूती से जकड़ लेते हैं। तत्पश्चात् सब कीड़े गल कर केवल कंकाल के रूप में अवशिष्ट रह जाते हैं। पूर्ण उन्मुक्त पाक-स्थली का कार्य-निदर्शन इस क्षेत्र में दृष्टिगोचर हुआ। किन्तु प्राणीदेह की आभ्यंतरिक पाक-स्थली का कार्य इतना सहज नहीं है। जो भी हो, पाचन-क्रिया की क्षमता देखकर डार्विन के अनुसंधान से प्राप्त तथ्य प्रकाश में आने पर सबने स्वीकार किया है कि कीट-भक्षी उद्भिज के पाकस्थली होती है। वेनस नामक गाछ के दो पत्तों का अर्धांश

एक अभिभाषण

जगदीशचन्द्र बसु

मिल कर एक फंदे का रूप धारण कर लेते हैं, मानो वृक्ष शिकार के लिए मुंह खोले रहता हो। ज्यों ही कोई कीड़ा इस फन्दे में फंसता है, त्यों ही पत्तों का खुला मुंह बन्द हो जाता है। 'नेपंथी' नामक गाछ का पाक-यंत्र थैली की आकृति के समान होता है, जिसका प्राणी-देह के पाकयंत्र से काफी साम्य है। इस प्रकार उद्भिज-जीवन के बारे में अनुसंधान किया जाय तो स्पष्ट होगा कि सरल सहज यंत्र किस प्रकार धीरे-धीरे जटिल यंत्र में परिणत हुआ है।

प्राणियों में तीन प्रकार के कोश हैं—पेशी-कोश, स्नायु-कोश तथा स्वतःस्पंदन कोश। उद्भिज-जगत में भी इसके अनुरूप क्रियाशील कोश हैं या नहीं, उसका अनुसंधान करके देखना आवश्यक है। इस से पहले मैं उद्भिज का नाड़ी संकोचन व प्रसारण दिखा चुका हूं। इस समय केवल रक्त-संचालन क्रिया दिखाने से काम चल जायेगा। प्राणी-देह में अनेक कोश हैं, जिनके स्वतःसंकोचन व विस्फारण के द्वारा यह कार्य संपन्न होता है। उद्भिज-देह में ऐसा कोई स्वतःसंकोचन तथा विस्फारणशील कोश है या नहीं?

उद्भिज व प्राणी का हृद्-यंत्र

एक संकोचन व प्रसारणशील यंत्र की सहायता से प्राणी-देह में रक्त-संचालन क्रिया निष्पन्न होती है। उस यंत्र का नाम है—हृद्-यंत्र। केंचुआ प्रभृति निम्न-स्तर के प्राणियों में हृद्-यत्र नल के समान लम्बा होता है। इस हृद्-यंत्र में संकोचन तथा विस्फारण की सहायता से संजीवनी रस संचालित होता है। उच्च-स्तर के प्राणियों में हृद्-यंत्र भी लम्बे आकार का होता है। प्राणी-देह में स्थित हृदय-यंत्र की कोशिकाओं का एक वैशिष्ट्य है—स्वतःस्पंदनशीलता। विभिन्न अवस्थाओं में इस स्पंदन का ह्रास व संवर्द्धन होता रहता है। किसी-किसी उत्तेजक औषधि के परिणामस्वरूप हृद्-यंत्र की क्रिया द्रुत गति से सम्पादित होने लगती है, इस कारण रक्त का संचालन बढ़ जाता है। फिर अवसाद-जनक औषधि के कारण ठीक विपरीत भाव लक्षित होता है।

रक्त-संचालन कार्य का प्रत्यक्षीकरण

एक अणुवीक्षण-यंत्र की सहायता से मैं एक मेंढ़क के रक्त-संचालन का कार्य इस पर्दे पर प्रतिफलित कर रहा हूं। देखिए, प्रधान शिरा एवं उपशिरा के बीच से, किस तीव्र गति से रक्त-धारा प्रवाहित हो रही है। अब इसी समय मैं एक अवसाद-जनक औषधि का प्रयोग कर रहा हूं। देखिए, ठीक विपरीत क्रिया दिखने में आ रही है। और यह देखिए, रक्त-प्रवाह बिल्कुल बंद हो गया!

उद्भिज देह में रस-संचालन

इस समय प्रश्न यह है कि उद्भिज-देह का रस संचालन, अनुरूप हृदय-क्रिया द्वारा निष्पन्न होता है कि नहीं? प्रचलित सिद्धान्त यह है कि उद्भिज-देह में रस-संचालन जड़ क्रिया का फल है—जीवंत-कोष की प्राण-क्रिया का परिणाम नहीं। युकलिप्टिस वृक्ष में चार सौ पचास् फीट ठेठ ऊपर तक रस संचालित होता है। किसी जड़-यंत्र की सहायता

से इतनी ऊंचाई तक जल उत्तोलित करना असम्भव है। प्राण-क्रिया द्वारा ही यह कार्य होता है कि नहीं ? इसका परीक्षण करने के लिए 'स्ट्रासवर्गर' अनुसंधान में प्रवृत्त हुए थे। उनका अनुसंधान असंपूर्ण रहने की वजह से, प्राण-क्रिया का सिद्धान्त बहुत-कुछ बौना बन कर रह गया।

'स्ट्रासवर्गर' ने परीक्षण करके दिखाया था कि विष प्रयोग से उद्भिज-देह में रस-संचालन का ह्रास नहीं होता। इस आधार पर वे यह सिद्धान्त प्रतिपादित कर पाये कि यदि उद्भिज-देह में रस-संचालन, जीवंत-कोश की सहायता से होता तो विष-क्रिया के फलस्वरूप कोशिकाओं की अवश्य मृत्यु हो जाती एवं रस-संचालन बंद हो जाता। इस भ्रामक सिद्धान्त पर अनेक विज्ञजनों ने बिल्कुल अंधों की तरह विश्वास कर लिया। थोड़ी देर बाद ही मैं आप लोगों को जो परीक्षण दिखाऊंगा, उस से यह सिद्ध हो जायेगा कि स्ट्रासवर्गर का यह सिद्धांत पूर्णतया भ्रामक था। अंत में यह प्रमाणित करने की चेष्टा करूंगा कि जीवंत-कोश की स्पंदनशीलता के फलस्वरूप ही रस-संचालन बराबर अक्षुण्ण रहता है।

उद्भिज-देह में किस प्रकार रस संचालित होता है, यह अभी दिखा रहा हूं। आगे और भी दिखाऊंगा कि जिस तरह प्राणी-देह में रक्त-संचालन का ह्रास एवं संवर्द्धन होता है, उसी तरह उद्भिज-देह में भी रस-संचालन का संवर्द्धन एवं ह्रास होता है। रस-संचालन नापने वाला कोई संतोषजनक उपाय उससे पहले उद्भावित नहीं हुआ था। रस-संचालन का वेग निर्णीत करने के लिए मैंने एक तरीका निकाला है। इस उपाय से यह उद्भिज के पत्तों को नापने का मापदण्ड माना जा सकता है। जल के अभाव में पत्ते नीचे की ओर लटक जाते हैं और पानी मिलते ही पत्ते सीधे हो जाते हैं। यदि और किसी उपाय से रस-संचालन में वृद्धि की जाय तो पत्ते अधिक द्रुत-गति से सीधे हो जायेंगे। अवसाद की स्थिति में रस-संचालन का ह्रास होने पर पत्ते लटक जायेंगे। पत्तों के इस उत्थान-पतन की दर इतनी कम है कि आंखों से पता लगना असंभव है। यंत्र की सहायता से इस दर को वृहताकार में प्रतिफलित करना संभव है; मैं उसे ही दिखाने की चेष्टा कर रहा हूं। यह पेड़ जो आप देख रहे हैं—यह जल-शून्य स्थान पर था, इसलिए पत्ते नीचे की ओर लटक गये हैं। अब मैं इसे पानी पिला रहा हूं। देखिए, पत्ते सीधे होने लगे हैं, किंतु एक साथ खड़े नहीं हो पा रहे हैं, कांपते-कांपते उठ रहे हैं। इसी के द्वारा अदृश्य संकोचन व प्रसारणशील यंत्र का अस्तित्व प्रमाणित हो रहा है। अब इस समय पॉटेशियम ब्रमाइड की अवसाद-जनक औषधि प्रयुक्त कर रहा हूं। देखिए, पानी मिलते ही पत्ते जिस तरह सीधे हो रहे थे, अब वैसा नहीं है। अब पत्ते कांप-कांप कर नीचे की ओर लटकते जा रहे हैं।

प्राणी-देह में कपूर के प्रयोग से हृद्-क्रिया की गति में संवर्द्धन होता है। अब मैं थोड़ा कपूर मिश्रित पानी इस पेड़ पर डाल रहा हूं। जरा गौर से देखिए, परस्पर दो विरोधी क्रियाओं के बीच कैसा संग्राम छिड़ गया है! यह देखिए, अन्ततः उत्तेजक औषधि का प्रभाव ही विजयी हुआ—प्रतिचालित आलोक-रेखा ऊपर की ओर उठकर रस-संचालन के संवर्द्धन का परिचय दे रही है। अब मैं गाछ को तड़िताघात का अनुभव करा रहा हूं।

देखिए, हमारे शरीर पर तड़िताघात से जिस विक्षेप का संचार होता है, गाछ में भी उसी प्रकार के विक्षेप का संचार हुआ।

उद्भिज का हृदय-संधान

इसके द्वारा प्रमाणित हो रहा है कि गाछ के भीतर निश्चय ही आकर्षण-विकर्षण का कोश है। जिस यंत्र की सहायता से कोशिकाओं का संकोचन प्रसारण होता है, उसकी अवस्थिति कहां है ? मैंने अपनी वैद्युतिक-शलाका [इलेक्ट्रिक-प्रॉब] की सहायता से इस यंत्र यानी वृक्ष के हृद्-यंत्र की अवस्थिति निर्धारित की है। मैंने गाछ के भीतर धीरे-धीरे वैद्युतिक-शलाका घुसेड़ कर देखी है। जिस क्षण हृद्-यंत्र का शलाका से संस्पर्श हुआ, तुरंत वैद्युतिक स्पंदन पाया गया। तत्पश्चात् पर्दे पर प्रतिफलित आलोक रेखा ने एक वार दाईं व एक वार वाईं ओर झूल कर हृद्-यंत्र की क्रिया का आश्चर्य-जनक परिचय दिया है।

जीवन-मृत्यु का संग्राम

आपने देखा प्राणी-देह व उद्भिज की हृद्-क्रिया समान है। यहां मैं एक और आश्चर्य-जनक वात दिखा रहा हूं। वह प्राणी तथा उद्भिज के हृद्-यंत्र से संवंधित औषधि की समक्रिया है। सामने के इस गाछ को आप जो देख रहे हैं, इस पर क्लोरोफार्म का प्रयोग किया गया है। पर्दे पर आलोक-रेखा देखिए। आप देख रहे हैं कि गाछ मृत्यु का कौर वन कर किस प्रकार छटपटा रहा है? विल्कुल प्राणी-देह की तरह। देखिए, क्रमशः समस्त यंत्रणा निःशेष हो रही है, जैसे प्रत्यक्ष मृत्यु हो गयी हो। यथासमय यदि उपयुक्त प्रभावकारी औषधि दी जाय तो गाछ को वचाया जा सकता है। कस्तूरी के प्रयोग से सर्वथा विपरीत क्रिया दिखाई जा सकती है। ००

हठात् किसी ने चीत्कार के साथ उत्तर दिया, 'हाजिर !' किसी को बुलाते सुना नहीं, फिर भी अत्यधिक करुणार्द्र व भक्ति के उच्छ्वसित स्वर में उत्तर सुना, 'क्या आज्ञा है, प्रभु ?' कौन है तुम्हारा प्रभु ? किसके हुक्म से तुम इस प्रकार उद्दीप्त हुए ?

विकट आश्चर्य ! एक ही बात से जीवन के तमाम स्तर आलोड़ित हो उठे । सुप्त स्मृति आज जागृत हुई—जो चिर-मौन था, वह आज मुखर हुआ । जो बुद्धि के लिए अगम्य था, आज वह अर्थपूर्ण हो उठा ।

अब समझ पा रहा हूं, बाहर के अतिरिक्त भीतर से भी आदेश प्राप्त होता है। समझता था कि मेरी इच्छा से ही सब-कुछ होता है । मैं क्या एक ही हूं ? मन को तनिक-सा स्थिर करते ही दो के बीच जो संवाद हमेशा से होता आ रहा है, उसे सुन पाता हूं। इन में से कुमति तो मैं हूं, फिर सुमति कौन है ?

इस संदर्भ में सत्ताईस वर्ष पहले की कुछ घटनाएं याद आ रही हैं। लिखने का बिल्कुल ही अभ्यास नहीं था, किन्तु भीतर से किसने मुझे लिखने के लिए प्रेरित किया ? उसी की आज्ञा से 'आकाश स्पंदन व अदृश्य आलोक' के विषय में लिखा । उसके बाद मुझ से लिखवाया, 'उद्भिज जीवन, मानवीय जीवन की छाया-मात्र है ।' जीवन के संबंध में अधिक कुछ नहीं जानता था । किसके आदेश से यह सब लिखा ? लिखने पर भी निष्कृति कहां मिली ? भीतर से कोई समालोचक बन कर कहने लगा, 'तुमने जो इतनी रचनाएं कीं, कभी जांच कर भी देखा है कि उन में क्या सत्य है और क्या मिथ्या है ?' जवाब दिया कि इन सब विषयों का अनुसंधान करते समय बड़े-बड़े पंडितगण परास्त हुए हैं, तब मैं उन सबके बारे में क्या निर्णय कर सकूंगा ? उनके पास असंख्य कल-कारखाने हैं, शोध प्रतिष्ठान हैं और यहां मेरे पास कुछ भी नहीं है, फिर असंभव को क्योंकर सम्भव बना पाऊंगा ?इस पर भी समालोचक चुप नहीं हुए । विवश होकर बढ़ई व लुहार की सहायता से तीन महीने के अंतराल में एक यंत्र का निर्माण किया । जिसके द्वारा जिन आश्चर्य-

हाजिर

जगदीशचन्द्र बसु

जनक तत्वों का आविष्कार हुआ, उन सबने मेरी बात तो दूर, विदेशी वैज्ञानिकों को भी विस्मय में डाल दिया।

कुछ ही दिन बाद इस बाबत काफी प्रसिद्धि हुई। विलायत की संवर्द्धन-सभा का निमंत्रण भी मिला। विख्यात वैज्ञानिक विलियम रेम्जे ने काफी प्रशंसा की। बाद में यह भी कहा कि कुछ व्यक्तियों की दृष्टि में भारत एक नये युग की ओर अग्रसर हो रहा है, किन्तु एक ही कोयल की आवाज से बसंत के आगमन की पुष्टि युक्तिसंगत नहीं है। उस दिन शायद मुझ पर कुमति का ही प्रादुर्भाव हुआ होगा, क्योंकि स्पर्धा के साथ ही उत्तर दिया था। मैंने पुरजोर शब्दों में कहा कि आप लोगों के पास आशंका के लिए कोई भी आधार नहीं है। मेरा सुनिश्चित दावा है कि भारत की वैज्ञानिक बगिया में शत-शत कोकिल-कंठ बसंत के आविर्भाव की घोषणा करेंगे। वह दिन अब आ गया है, जिसे कुमति मान कर भयभीत हुआ था, वही तो सुमति है। तब का शुभ-लग्न पांच साल तक अक्षुण्ण बना रहा। एक के बाद एक दिन वह उज्ज्वलतर होता गया और सामने के समस्त पथ खुल कर प्रशस्त हो गये।

ऐसे संक्रातिमय क्षणों में जो आंतरिक आदेश मिला तो सहज सीधी राह का परित्याग करके दुर्गम अनिर्दिष्ट पथ को स्वीकार करना पड़ा। उस समय तारहीन यंत्र की बाबत परीक्षण कर रहा था। पता चला कि यंत्र का साड़ा पहले-पहल बृहत् होता था, तत्पश्चात् क्षीण होकर लुप्त हो जाता था। वैज्ञानिक प्रबंध में लिखा था कि परीक्षण के लिए सूर्योदय की वेला ही श्रेष्ठ है, क्योंकि दिन भर की परीक्षा के बाद यंत्र क्लांत हो जाता है। तभी भीतर का समालोचक बोल उठा, 'यंत्र क्या मनुष्य है, जो क्लांत होगा?'

यंत्र किस प्रकार क्लांत होता है? इस प्रश्न को नजरअंदाज नहीं कर सका। बहुत-सारे आविष्कारों को केवल लिखना ही शेष रह गया था। उन सब को छोड़ कर नये प्रश्न का उत्तर खोजने में उद्यत हो गया। क्रमशः स्पष्ट हो गया कि जीवन-रहित धातु भी उत्तेजित व अवसादग्रस्त होती है। उत्तेजना स्थगित करने से कुछ समय बाद क्लांति दूर हो जाती है। उद्‌भिज में ये सब प्रक्रियाएं और अधिक प्रस्फुटित नजर आती हैं। इस प्रकार अनेकत्व में एकत्व का सिद्धांत परिलक्षित हुआ।

जीवतत्व-विद के हाथों सब नवीन तथ्य सौंप कर पदार्थविद्या के क्षेत्र में अनुसंधान की खातिर लौट आऊंगा, ऐसा मन-ही-मन निश्चय किया था। किन्तु हुआ बिल्कुल विपरीत ही। रॉयल-सोसायटी में सब परीक्षणों का प्रदर्शन किया था। सर्व-प्रधान जीवतत्व-विद बार्डन सेण्डरसन ने कहा, 'जीवतत्व के विषय में आपने जो परीक्षण किये हैं, उस बाबत हमारे प्रयत्न बहुत पहले से ही निष्फल रहे हैं; इसलिए आपकी बातें असंभव तथा अग्राह्य हैं। इस क्षेत्र में आपकी अनधिकार चर्चा हुई है। पदार्थ विद्या में आप यशस्वी हुए हैं, इस प्रशस्त पथ पर आपके सम्मुख अनेक कृतित्व हैं, अपने अज्ञात पथ से आप निवृत हो जायें। उस समय कुमति की प्ररोचना में बोल उठा, निवृत नहीं होऊंगा, यह दुर्दान्त पथ मेरा अपना है। आज से ही सीधा-सरल पथ मैंने छोड़ दिया है। आज जो प्रत्याख्यान हुआ, वही सत्य है। चाहे अनचाहे, उस सब को अंगीकार करना ही पड़ेगा।

इस दुर्मति के फल को पकने में अधिक देर नहीं लगी। सब ओर के रास्ते एकबारगी

बन्द हो गए। समस्त उजियारा मानो अकस्मात् बुझ गया हो। किन्तु इसके बाद अन्तस्तल की क्षीण ज्योति धीरे-धीरे अधिक प्रस्फुटित होने लगी। प्रखर आलोक, जिसे देख नहीं पाया था, अब उसे देख सका। आशा व निराशा से परे इस प्रकार बीस बरस गुजर गये।

एक वर्ष पहले अकस्मात् जैसे कोई निर्देश सुनाई पड़ा, 'विदेश जाओ।' विदेश यात्रा ! वहां कौन मेरी बात सुनेगा ? इस बार कड़कती आवाज सुनाई दी, 'मेरा नाम है हुकुम, तुम्हारा नाम है तामील ! हानि-लाभ का विचार करने वाले तुम कौन हो ?' आज्ञा शिरोधार्य कर ली।

तत्पश्चात् चारों दिशाओं के रुद्ध द्वार पूर्णतया खुल गये। किसके हुक्म से ऐसा हुआ ? कहीं स्वप्न तो नहीं ? जो विरोधी थे, वे अब परम मित्र बन गये। जो प्रत्याख्यात हुए थे, वे अब सर्वत्र गृहीत हो गये हैं। बीस वर्ष पहले जिसे कुमति समझा था, वही तो सुमति है।

सुतराम्, कौन सुमति है और कौन कुमति है, नहीं जानता ? कौन बड़ा है और कौन छोटा है, उसे भी समझ नहीं पाया ? अच्छे दिनों की सफलता भूल कर बुरे दिनों की विफलता याद कर रहा हूं। तब सर्वत्र ही परित्यक्त हुआ था, केवल दो-एक आत्मीय-जनों का अहेतुक स्नेह मुझे संभाले हुए था। आज वे लोग अन्धकार की यवनिका के उस पार विलुप्त हो गये हैं। अस्फुट क्रंदन वहां पहुंच सकता है क्या ?

जीवन जब पूर्ण-शक्ति से संपुष्ट था, तब कोलाहल के बीच तुम्हारा निर्देश स्पष्टतया नहीं सुन पाता था। अब सुन पा रहा हूं; किन्तु सम्पूर्ण शक्ति अब निर्जीव होती जा रही है। एक दिन तुम्हारे हुक्म से, बीच का पर्दा विच्छिन्न हो जायेगा। जिसे एक दिन माटी से गढ़ा था, वह धूल होकर पड़ा रह जायेगा। क्या लेकर वह तुम्हारे पास उपस्थित हो सकेगा ? नितांत अल्प है उसकी सुकृति, अपार है उसकी दुष्कृति ! तब कहने को और है ही क्या ? कौन-सी है यह सुमति और कौन-सी है यह दुर्मति ! इसी पशोपेश में जिंदगी गुजर चुकी है ! सफाई देने के लिए जब कुछ भी पास नहीं है, तब तुम्हारे पद-चरणों में लुंठित होकर केवल इतना भर कहेगा—'आसामी हाजिर है !' ००

प्रश्न : 'भाण्डार'—संपादक

इस समय हमारे देश की शिक्षा का आदर्श दुरूहतर और परीक्षा कठिनतर करना, अच्छा रहेगा या बुरा?

उत्तर : श्रीयुत् जगदीशचंद्र वसु

शिक्षा का आदर्श दुरूहतर व परीक्षा कठिनतर करने के संबंध में 'भाण्डार' ने जो प्रश्न उठाया है, मैं केवल विज्ञान की ओर से संक्षिप्त उत्तर दूंगा।

यह बात सब जानते हैं कि हमारे देश में शिक्षित लोगों के बीच भी विज्ञान की चर्चा वैसी फैली हुई नहीं है। देशी-भाषाओं के साहित्य की जैसी उन्नति हुई है वैसी उन्नति विज्ञान की नहीं हुई, यह भी उसका एक प्रमाण है।

इस मसले पर देश के विश्वविद्यालयों को देश की अवस्था व अभाव के बारे में विशेष रूप से विचार करके अपना कार्य करना होगा, इस में कोई संदेह नहीं—दूसरे देश के अनुकरण की चेष्टा करने पर, उस देश के लोग जो फल पा रहे हैं, वह भी नहीं पायेंगे और हम लोग जिस फल की आशा कर सकते थे, उस से भी वंचित रह जायेंगे। जो व्यक्ति चलना सीख लेने से ही फिलहाल खुश हो जाता है, उसे एकदम छलांग सिखानी होगी, ऐसा प्रण कर बैठने से छलांग लगाना तो दूर, कहीं दुर्घटना से ग्रस्त होकर चलना ही मुश्किल न हो जाये।

जो लोग देश में एक नया व्यवसाय चलाना चाहते हैं, वे क्या उपाय करेंगे? भारतवासियों में चाय के व्यवसाय को जोर-शोर से चलाने की खातिर क्या किया गया है? यथासंभव देश के अधिकांश लोग चाय का स्वाद जान सकें, चाय पीने के अभ्यस्त हो

जायें, उसके लिए देश भर में सस्ती चाय की बिक्री के लिए व्यवस्था की गई थी। अत्यंत श्रेष्ठ किस्म की चाय को ऊंची कीमत पर बाहर निकालना––देश में चाय प्रचलन की खातिर अच्छे उपाय के रूप में मान्य नहीं हुआ।

देश में नई विद्या चलाने का भी यह एक ही उपाय है। प्रथम-परिचय के स्वाद को प्रसारित करने के लिए शिक्षा-प्रणाली को सरल किया जाय। जब अगणित लोगों के बीच शिक्षा की नींव पड़ जाये, देश के अधिकांश लोग इस विद्या का रसपान करने लगें, तब योग्यता का चयन करने के लिए अधिक सख्ती की जा सकती है।

विदेशी विश्वविद्यालयों की अपेक्षा हमारे आदर्श छोटे हो जायेंगे, इस झूठी लज्जा का कोई अर्थ नहीं है। वहां का आदर्श हमेशा एक-सा नहीं रहा है––ज्ञान की उन्नति के साथ-साथ आदर्श उच्च होता गया।

चाहे जो भी हो न, राजमहल में यदि सब खीर पीते हैं, इसलिए बेचारे गरीब को उस आदर्श की तुलना में लज्जावश दूध छोड़ने की सलाह कोई नहीं देगा, फिलहाल हमारे स्वास्थ्य की पुष्टि का जिससे प्रयोजन है, उसी ओर ध्यान देना होगा, गौरव की बात बाद में सोची जायेगी।

इसके अतिरिक्त एक बात और कहनी है। विज्ञान के कूट तत्व एवं कठिन समस्याओं के साथ छेड़-छाड़ करने से ही उद्भावना-शक्ति बढ़ती है, ऐसा नहीं है। प्रकृति के साथ परिचय तथा अच्छी तरह से देखना-सीखना ही विज्ञान के साधक का मुख्य संबल होता है। विज्ञान के क्षेत्र में जो लोग यशस्वी हुए हैं, वे विद्यालय की कठिन परीक्षा देकर बड़े हुए हैं, यह बात भी सही नहीं है।

अपने देश में यदि वास्तविक विज्ञान वीरों का अभ्युदय देखना चाहें, तब शिक्षा का आदर्श दुरूह व कठिन परीक्षा करने से ही, वांछित फल प्राप्त नहीं होगा। उसके लिए देश में विज्ञान की सामान्य धारणा व्याप्त होनी चाहिए, जिस से छात्रगण पोथीगत विद्या के शुष्क काठिन्य में न रह कर, प्रकृति से प्रत्यक्ष संपर्क साधें और वैज्ञानिक परिदृष्टि का प्रसार करें, ऐसा उपाय करना होगा।

इस प्रकार की शिक्षा भाग्य-दोष से दुर्लभ हो सकती है, किन्तु दुरूह नहीं। ००

आत्म-श्रद्धा ही मन की मांस-पेशी होती है। वह मन को संवर्द्धित करती है और कर्म के प्रति संप्रेरित करती है। जो जाति स्वयं के प्रति श्रद्धा खो बैठती है, वह प्रेरणा व सक्रियता की शक्ति से वंचित हो जाती है।

राष्ट्रीय स्वाधीनता का अभाव भारतवासियों के लिए विशेप गुरुतर अभाव नहीं है, कारण, भारतवर्ष में राष्ट्र-तंत्र वैसा व्यापक और प्राणवंत नहीं था। मुसलमानों क शासन-काल में हम लोग राज-काज की दृष्टि से स्वाधीन नहीं थे, किन्तु अपने धर्म-कर्म, विद्या-बुद्धि व राज्य की सत्ता-क्षमता के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं था।

अंग्रेजी राज्य में हम लोगों की प्रकृत आत्म-श्रद्धा के प्रति चोट पहुंचाई गयी थी। हम लोग सुखी थे; स्वच्छंद थे, निरापद थे; किन्तु हम सब दृष्टि से अयोग्य हैं, यह धारणा हमें बाहर से, भीतर से हरदम आक्रांत किये जा रही है। ऐसी आत्मघाती धारणा हमारे लिए और कुछ भी नहीं हो सकती।

इस आत्म-श्रद्धा की रक्षा के लिए हम लोगों के शिक्षित समाज में परस्पर संघर्ष चल रहा है। यह आत्मरक्षा की लड़ाई है। हमारा सब-कुछ श्रेष्ठ है, प्राणपण से हम इसी की घोषणा करने में मुस्तैद हैं। इसी प्रयास के बीच जो कुछ जितना भी सत्य का आश्रय लिया गया है, वह हमारे लिए मंगलकारी है और अंधाधुंध अहंकार को जितना प्रश्रय दे रहे हैं, उस से हमारा भला नहीं होगा। जीर्ण-वस्त्र को छिद्रहीन समझ कर विश्वास बनाये रखने के लिए आंखें मूंदने की अपेक्षा उस दौरान सिलाई कर डालने से वह काम की बात होगी।

हम श्रेष्ठ हैं, इसे प्रचारित करने के लिए, हम लोग जरूरत से ज्यादा जुट गये हैं। अब ऐसा व्यक्ति चाहिए जो यह प्रमाणित कर सके कि हम बड़े हैं। आचार्य जगदीशचंद्र के द्वारा ईश्वर ने उस अभाव की पूर्ति की है। आज हम सबके लिए सचमुच गर्व करने का दिन आ गया है—लज्जित भारत को जिन्होंने यह सुदिन दिखाया है, उन्हें समस्त अन्तः-

आचार्य जगदीशचन्द्र की जयवार्ता

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

करण से प्रणाम करते हैं।

हमारे आचार्य की जय-वार्ता अभी तक हमारे देश में नहीं पहुंची। यूरोप में उनकी जय-ध्वनि के प्रसार में अभी कुछ देर है। जिन सब वृहत् आविष्कारों से विज्ञान को नये सिरे से अपनी नींव स्थापित करने के लिए बाध्य होना पड़ता है, वह एक दिन में ही ग्राह्य नहीं हो जाता। सबसे पहले चारों ओर जो विरोध उठ खड़ा होता है, उसे निरस्त करने में समय लगता है। सत्य को भी बहुत-समय तक लड़ाई करके अपनी सच्चाई प्रमाणित करनी होती है।

हमारे देश में दर्शन जिस पथ से गुजरा है, यूरोप में विज्ञान उस पथ पर चल रहा है। यह एकत्व का पथ है। अब तक इस एकता के पथ पर विज्ञान के सामने जितनी भी गुरुतर बाधाएं उपस्थित हुई हैं; जड़ और जीव का प्रभेद भी उन में से एक है। अनेक अनुसंधान व परीक्षण करके भी हक्सले इत्यादि पंडितगण इस प्रभेद को लांघ नहीं पाये। जीव तत्व इस प्रभेद की दुहाई देकर पदार्थ-तत्व से बहुत दूर अपने स्वातंत्र्य की रक्षा कर रहे थे।

आचार्य जगदीश ने विद्युत के आलोक में जड़ और जीव के ऐक्य-सेतु का आविष्कार किया। आचार्य से कुछ तत्वविदों ने शंका की थी—आप तो इतने दिनों से धातव-पदार्थ के कणों का परीक्षण करते आ रहे हैं, किन्तु साबुत धातु को चिकोटी काट कर उस से कोई ऐसा लक्षण बता सकें, जो जीव-शरीर को चिकोटी काटने से मिलता-जुलता हो—तब हम आपको मानेंगे।

जगदीश बाबू ने इसके उत्तर में एक नये यंत्र की उद्भावना की। जड़-वस्तु को चिकोटी काटते ही जो स्वतःस्पंदन होता है, इस यंत्र की सहायता से उसका परिमाण स्वतःलिखित हुआ करता है। आश्चर्य की बात यह है कि हमारे शरीर में चिकोटी काटने पर जो स्पंदन रेखा अंकित होती है, उसके साथ इस लिखावट का कोई प्रभेद नहीं है।

जीवन का स्पंदन जिस प्रकार नाड़ी द्वारा जाना जाता है, उसी प्रकार जड़ की जीवन-शक्ति का नाड़ी-स्पंदन इस यंत्र से अंकित होता है। जड़ पर विष प्रयोग करने से उसका स्पंदन किस प्रकार विलुप्त होता है, जो इस यंत्र के द्वारा अंकित हुआ है।

विगत १० मई को आचार्य जगदीश रॉयल-इन्स्टीट्यूशन में वक्तृता देने के लिए निमंत्रित किये गये थे। उनकी वक्तृता का विषय था—'यांत्रिक व वैज्ञानिक वैद्युतिक ताड़ना से जड़-पदार्थ का साड़ा।' [द रेसपॉन्स ऑफ इनऑर्गेनिक मैटर ऑफ मेकनिकल एण्ड इलेक्ट्रिक स्टिमुलस] इस सभा में घटनाक्रम से लॉर्ड रेले उपस्थित नहीं रह सके, किंतु प्रिन्स क्रॉपटकिन एवं वैज्ञानिक समाज के कई प्रतिष्ठित व्यक्ति मौजूद थे।

इस सभा में उपस्थित किसी विदुषी अंग्रेज महिला ने जो विवरण हमारे पास भेजा, उसके कुछ अंश-विशेष का अनुवाद दे रहा हूं :

'करीब सांझ के नौ बजे दरवाजा खुला, श्रीमती बसु के साथ सभापति उपस्थित हुए। सब श्रोताओं ने अध्यापक-पत्नी की सादर अभ्यर्थना की। वे घूंघट में थीं—साड़ी व भारतीय अलंकारों से दीप्त। उनके पीछे यशस्वी लोगों का दल था और उन सबके पीछे थे स्वयं आचार्य बसु। उन्होंने शांत भाव से एक बार समस्त श्रोताओं की ओर देखा और

अत्यधिक स्वच्छंद समाहित भाव से बोलने लगे।

'उनके पीछे की ओर रेखांकन-चित्रित बड़े-बड़े पट टंगे हुए थे। उन में विष प्रयोग से, शांति की अवस्था में, धनुषटंकार प्रभृति के आक्षेप से, उत्ताप की भिन्न-भिन्न मात्रा में स्नायु व पेशी के साथ तुलनीय धातु-पदार्थ की स्पंदन-रेखाएं अंकित हुई थीं। सामने टेबिल पर यन्त्रोपकरण सजे हुए थे।

'तुम जानते हो, आचार्य बसु वक्ता नहीं हैं। वाक्य-रचना उनके लिए सहज-साध्य नहीं होती। उनके बोलने का लहजा आवेग तथा घबराहटपूर्ण होता है, किन्तु उस रात वाक्य-रचना की बाधा न जाने कहां अन्तर्धान हो गयी? इतने सहज ढंग से बोलते हुए उन्हें कभी नहीं सुना था। बीच-बीच में उनका पद-विन्यास गांभीर्य व सौंदर्य से परिपूर्ण हो उठता था और कभी-कभार सहास्य सुनिपुण परिहास के साथ अत्यधिक सरल भाव से वैज्ञानिक व्यूह में एक के बाद एक अस्त्र निक्षेप कर रहे थे। उन्होंने रसायन, पदार्थ-तत्व और विज्ञान की अन्यान्य शाखा-प्रशाखाओं का भेद बखूबी सहज उपहास से ही मिटा डाला।

'उसके पश्चात्, विज्ञान-शास्त्र में जीव तथा अजीव के बीच जो समस्त विभेद-निरूपक-संज्ञा थी उसे उन्होंने मकड़ी के जाल की तरह झाड़ फेंका। जिसकी मृत्यु संभव है, उसे ही तो जीवन कहते हैं—अध्यापक बसु टिन का एक टुकड़ा मृत्यु-शैया के पास खड़ा करके हमें उसका मरण-आक्षेप दिखाने लगे। विष-प्रयोग से जब उसकी अंतिम-दशा उपस्थित हुई, तब औषधि के प्रयोग से पुनः उसे स्वस्थ कर दिया।

'जब अंत में अध्यापक ने स्व-निर्मित कृत्रिम-चक्षु को श्रोताओं के सम्मुख प्रदर्शित करके यह प्रमाणित किया कि हमारे चक्षुओं की अपेक्षा उसकी क्षमता अधिक है तो हम सबके विस्मय की सीमा नहीं रही।

'भारतवर्ष युग-युगांतर से जो महत् एकत्व, अकुण्ठित चित्त से उद्घोषित करता आया है, आज जब वही ऐक्य-संवाद आधुनिक युग की भाषा में उच्चारित हुआ, तब हम सबका मन किस तरह पुलकायमान हो उठा, उसका वर्णन करने में अक्षम हूं। ऐसा लगा, मानो वक्ता ने अपने अस्तित्व के आवरण का परित्याग कर दिया हो और वे अंधकार में अंतर्निहित हो गये हों—केवल उनका देश तथा उनकी जाति हमारे सामने उत्थित हो उठे हों। दृष्टव्य है वक्ता का निम्नलिखित उपसंहार-अंश, जैसे वह एक अपौरुषेय उक्ति हो :

' 'आज इस सांझ की वेला मैंने जीव तथा अजीव के खिचाव व दबाव से संबंधित विवरण का इतिहास स्वयं उन्हीं के हस्ताक्षरों में आप लोगों के सम्मुख प्रस्तुत किया है। दोनों की अलग-अलग लिखावट में परस्पर कितना सादृश्य है! इतना प्रकृत सादृश्य कि दोनों की पहचान में विभेद करना मुश्किल है। उन्होंने आपके सम्मुख प्रस्तुत किया है: अपने जीवन के स्पंदन का उन्मेष और अवसान—उत्तेजना की चरम परिणति, क्लांति का क्रमिक अपकर्ष, विषैले प्रभाव की मरणासन्न यंत्रणा!

' 'जीवन के इस मूक दृष्टा के माध्यम से ही मैंने देखा और जाना कि सर्वव्यापी सम्यक् एकता ही समस्त विभिन्नताओं को अपने में आबद्ध किये हुए है—असंख्य धूलिकण

आलोक की तरंगों पर कंपायमान हो रहे हैं, पृथ्वी पर अवस्थित जो असंख्य जीवन विचरण कर रहे हैं, जो अगणित सूर्य प्रतिभासित हो रहे हैं, सब एक ही बंधन में ग्रथित हैं। तभी, हां तभी, अपने पूर्वजों की अमरवाणी से मेरा साक्षात्कार हुआ और उसका महात्म्य समझ में आया, जिन्होंने सहस्र वर्षों पहले पवित्र गंगा के किनारे इस सत्य की उद्घोषणा की थी।

' 'परिवर्तनशील ब्रह्मांड के बहुरंगी वैविध्य में जो एक का ही दर्शन करते हैं, वे ही चिरंतन सत्य के अधिकारी हैं, दूसरा कोई नहीं, कोई नहीं।'

'वैज्ञानिकों के मन में उत्साह तथा समाज के अग्रणियों के मन में श्रद्धा परिपूर्ण हो उठी। श्रोताओं में उपस्थित दो-एक सर्वश्रेष्ठ मनीषी उन्मादित अवस्था में धीरे-धीरे आचार्य के पास गये और उनके द्वारा उच्चारित सत्य को भक्ति व विस्मय से अंगीकार किया है।

'हम लोगों ने अनुभव किया कि इतने दिनों पश्चात् भारतवर्ष ने--शिष्य-भाव से भी नहीं, समकक्ष भाव से भी नहीं, गुरुभाव से पाश्चात्य वैज्ञानिक-सभा में उत्थित होकर अपने ज्ञान की श्रेष्ठता प्रमाणित की—पदार्थतत्व-ज्ञानी व ब्रह्म-ज्ञानी में जो प्रभेद है, उसे परिस्फुट कर दिया।'

लेखिका के पत्र से सभा का विवरण पढ़ कर हमें रंच-मात्र भी अहंकार नहीं हुआ, हमने उपनिषद के देवता को प्रणाम किया; भारतवर्ष के पुराने ऋषिगणों ने जो कहा है, 'यदिदम् किंच जगत् सर्वम् प्राण एजति' यह जो कुछ भी है—समस्त जगत प्राणों से ही कंपित हो रहा है, उस ऋषि-मंडली को अपने अंतर में उपलब्ध करके कहा, 'हे जगद्गुरु-गण, तुम लोगों की वाणी आज भी तिरोहित नहीं हुई है; भस्माच्छन्न होमहुताशन आज भी अनिर्वापित रखा हुआ है, आज भी तुम लोग भारत के अंतःकरण में प्रच्छन्न रूप से निवास कर रहे हो! तुम हमें विध्वंसित नहीं होने दोगे, हमें कृतार्थता के पथ पर ले जाओगे। तुम्हारे महत्व का हम यथार्थ-भाव से साक्षात्कार कर सकें—वह महत्व अति-क्षुद्र आचार-व्यवहार की सीमा में ही आबद्ध नहीं है—हम आज भी जिसे हिन्दुत्व कहते हैं, तुम उसका पालन करके तपोवन में कलह नहीं करते थे। यह सब पतित भारतवर्ष की आवर्जना मात्र है;—तुमने जिस अनंत विस्तृत लोक में आत्मा को प्रतिष्ठित किया था, उस लोक में यदि हम चित्त को जागृत करके उठा सकें तो हमारे ज्ञान की दृष्टि गृह-प्रांगण तक ही प्रतिहत न होकर विश्व-रहस्य के अन्तर-निकेतन में प्रवेश करेगी। तुम्हें स्मरण करके हमारे मन में जब तक विनय के स्थान पर गर्व उत्पन्न होता रहेगा, कर्म-प्रचेष्टा जागृत न होकर संतोष की जड़ता पुंजीभूत होती रहेगी और भविष्य के प्रति उद्यम करने की प्रवृत्ति धावित न होकर, अतीत में ही समस्त चित्त आच्छन्न होकर लोप होता रहेगा, तब तक हमारी मुक्ति नहीं है।'

आचार्य जगदीश ने हमारे सामने दृष्टांत प्रस्तुत किया है। उन्हें विज्ञान-राज्य में जिस पथ का संधान प्राप्त हुआ, वह प्राचीन ऋषियों का पथ है—वह एकत्व का पथ है। क्या ज्ञान-विज्ञान में, क्या धर्म-कर्म में उस पथ के अलावा 'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।'

किन्तु आचार्य जगदीश ने जिस कार्य का श्रीगणेश किया है, उसे पूर्ण होने में अभी देर है। बाधाएं भी ढेर सारी हैं। प्रथमतः, आचार्य के नये सिद्धांत व परीक्षण से काफी पेटेण्ट रद्द हो जायेंगे, एवं उन मे संबंधित व्यापारियों का एक दल उनके विरुद्ध हो जायेगा। द्वितीयतः, जीवतत्व-विद्गण, जीवन को एक स्वतंत्र व श्रेष्ठ विषय के रूप में जानते हैं, जिनका विज्ञान केवल-मात्र पदार्थ-तत्व है, वे इस बात को किसी भी मूल्य पर स्वीकार करना नहीं चाहते। तृतीयतः, कुछ मूढ़ व्यक्ति यह समझते हैं कि विज्ञान द्वारा जीवन-तत्व को बाहर निकालने से ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती, वे लोग इस से खुश हुए हैं। उनके हाव-भाव देख कर ईसाई वैज्ञानिक तटस्थ बने हुए हैं, इसलिए अध्यापक महोदय कुछ वैज्ञानिकों की सहानुभूति से वंचित रहेंगे। सुतराम्, उन्हें अकेले रह कर विपक्षियों के विरुद्ध कई लड़ाइयां लड़नी होंगी।

फिर भी जो लोग निरपेक्ष विचार करने के अधिकारी हैं, वे लोग वास्तव में प्रसन्न हुए हैं। वे कहते हैं, ऐसी अपूर्व घटना घटित हुई है कि जिस सिद्धांत को रॉयल सोसायटी ने पहले अवैज्ञानिक कह कर परिहार किया था, बीस वर्ष बाद उन्हीं लोगों ने पुनः आदर सहित उसे प्रकाशित किया है। आचार्य जगदीश ने जिस महत्-तत्व को वैज्ञानिक समाज में प्रतिष्ठित किया है, उसके परिणाम बहुत दूर-गामी हैं। आचार्य को इस तत्व के लिए साहस के साथ निर्बाध युद्ध करना होगा। इसे साधारण के पास प्रतिष्ठित करने पर ही वे विश्राम पा सकेंगे। यह कार्य जिन्होंने आरंभ किया है, उसे संपूर्ण करना भी उन्हीं की क्षमता पर निर्भर है। इसका उत्तरदायित्व कोई और ग्रहण नहीं कर सकेगा। आचार्य जगदीश वर्तमान स्थिति में इसे अधूरा छोड़ जायें तो यह नष्ट हो जायेगा।

किन्तु उनकी छुट्टी समाप्त होने वाली है। शीघ्र ही उन्हें प्रेसिडेन्सी कॉलेज में अध्यापन कार्य के लिए आना होगा और उन्हें अपने दूसरे काम भी बंद करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा।

केवल अवसर के अभाव से इतना भयभीत नहीं होता, लेकिन यहां तो सब-तरह की सुविधाओं का अभाव है। आचार्य जगदीश क्या कर रहे हैं, हम लोग उसे भली-भांति समझ भी तो नहीं पाते। एवं दुर्गति-प्राप्त जाति की स्वाभाविक क्षुद्रतावश, हम बड़े को बड़ा कह कर श्रद्धा नहीं कर पाते; श्रद्धा करना चाहते भी नहीं हैं। हमारी शिक्षा, सामर्थ्य, अधिकार जैसा भी हो, हमारी स्पर्धा असीम है। ईश्वर जिन महात्माओं को इस देश में कार्य करने के लिए भेजते हैं, वे सब बंगाली-सरकार के नोवाखाली जिले में कार्यरत हों। सहायता नहीं, श्रद्धा नहीं, प्रीति नहीं—मन-पसंद कोई संगी-साथी नहीं, स्वास्थ्य नहीं; इसकी अपेक्षा जन-शून्य मरुभूमि कहीं ज्यादा बेहतर है—ऐसे हैं हमारे अपने लोग—स्वजातीय बन्धु! अंग्रेजों के बारे में कुछ नहीं कहना चाहता। इसके अलावा यंत्र, ग्रन्थ इत्यादि के साथ हरदम विज्ञान की समालोचना व परीक्षण भारतवर्ष में सुलभ नहीं हैं।

अध्यापक बसु से हमारी प्रार्थना है कि वे अपने कार्य को पूर्णतया सम्पन्न करके ही देश लौटें। हमारी अपेक्षा अधिक गुरुतर प्रार्थना उनके अन्तःकरण में नित्य ध्वनित हो रही है, यह हम जानते हैं। वह समस्त प्रार्थना, समस्त क्षति व आत्मीय-जनों के विच्छेद-

दुख से भी बड़ी है। उन्होंने हाल ही में निःस्वार्थ ज्ञान-प्रचार के निमित्त अपनी देहरी तक आये प्रचुर ऐश्वर्य, प्रलोभन का अवज्ञा सहित प्रत्याख्यान किया है, इस संवाद की जानकारी हमें मिल गई है; किन्तु उस संवाद को प्रचारित करने का अधिकार हमारे पास है या नहीं, असमंजस के कारण मौन रहा। अतएव ये प्रलोभन-रहित पंडित, ज्ञान-स्पृहा को ही सर्वोच्च मान कर—ज्ञान में, साधना में, कर्म में इस हतभाग्य देश के गुरु व आदर्श-नायक होंगे, यही एकांत भाव से हमारी हार्दिक कामना है। ००

आधुनिक भारतवर्ष में—जो बीच-बीच में इस आशा का आलोक जला रहे हैं, यद्यपि वे हमारे सूर्य चन्द्र न भी हों, तब भी अपने देश की अंध रजनी में वे हमें एक महिमान्वित भविष्य की ओर राह दिखाते हुए जगा रहे हैं। संभवतः उस भविष्य के आलोक में उनकी क्षुद्र रश्मि एक दिन म्लान हो सकती है, फिर भी वे धन्य हैं।

आज भारतवर्ष पृथ्वी से समाजच्युत है। उसे फिर समाज में उठना होगा। किसी एक सूत्र में दुनिया के साथ उसका आदान-प्रदान फिर समान रूप से चलेगा, यह आशा हम किसी भी तरह छोड़ नहीं सकते। राष्ट्रीय-स्वाधीनता हम कब लौटा पायेंगे, लौटा पायेंगे कि नहीं, उसकी आलोचना करना वृथा है। किन्तु अपनी क्षमता से जगत के प्रतिभा-राज्य में स्वाधीनता का आसन प्राप्त करेंगे, यह आशा कभी परित्याग करने की नहीं है।

राज्य-विस्तार के मद में इंगलैण्ड वालों ने आजकल ऊष्ण-मंडल-वासी जाति-मात्र को अपने चरागाह की गायों के समान देखना आरंभ किया है। समस्त एशिया एवं अफ्रीका उनके भार-वहन और दूध जुगाड़ने के लिए है, किड् प्रभृति आधुनिक लेखकों ने इसे स्वतः-सिद्ध सत्य के रूप में मान लिया है।

आज हमारी हीनता की कोई सीमा नहीं है, यह बात सच है, किन्तु ऊष्ण-मंडल-युक्त भारतवर्ष सदा दुनिया की मजूरी नहीं करेगा। इजिप्ट, बेबिलोन, भारतवर्ष, ग्रीस एवं रोम—इन्होंने ही जगत में सभ्यता की शिखा अपने हाथ से जलाई थी, इन में से अधिकांश ऊष्ण-कटिबंध के ही अंतर्गत हैं, और ऊष्ण सूर्य के कराधीन है। वह पुरातन कालचक्र पृथ्वी के पूर्व-प्रांत में किस तरह पुनः लौट आयेगा, उसका सांख्यिकी व तर्क द्वारा निर्णय करना दुःसाध्य है, क्योंकि जातियों की उन्नति और अधोगति, विधि के विचित्र विधान के अंतर्गत होती रहती है, तार्किक की तर्क-शृंखला उसका सब-कुछ माप नहीं सकती। उसके कंपास की अर्धांश-मात्र भूल विशाल काल-प्रांतर में क्रमशः बढ़ते-

आविर्भाव

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

बढ़ते सत्य से बहुत दूर चली जाती है।

प्रसंग क्रम से यह अवांतर बात मन के आक्षेप द्वारा ही ऊपर उठने लगती है। क्योंकि, जब देखता हूं, क्षुधित यूरोप घर बैठे समस्त ऊष्ण भू-भाग को अपना हिस्सा बना लेने के लिए खड़िया के द्वारा उसे चिन्हित कर रहा है; तब अपने को पूर्णतया मृत-पदार्थ कहने में शंका होती है, उस समय स्वयं के प्रति नैराश्य एवं अवज्ञा अंत:करण को अभिभूत करने के लिए उद्यत होती है।

ठीक ऐसी वेला जगदीश बसु के समान दृष्टांत हमें पुन: आशा की राह दिखाते हैं। जगदीश बसु ने जगत के रहस्यांधकार में विज्ञान-रश्मि को कितना आगे बढ़ाया है, वह हम में से अधिकांश लोग ठीक तरह जानते ही नहीं हैं और जानने की शक्ति भी नहीं रखते, किन्तु उस सूत्र ने आशा एवं गौरव के उत्साह में हमारी क्षमता बहुत बढ़ा दी है, इस में कोई संदेह नहीं। ००

तरुणावस्था में जगदीशचन्द्र ने जब कीर्ति के दुर्गम पथ पर, संसार में, अपरिचित रूप से प्रथम यात्रा आरंभ की, जब कदम-कदम पर अनेक बाधाएं उनकी गति को व्याहत कर रही थीं, उस समय मैंने उनकी भावी सफलता के प्रति निसंशय श्रद्धा-दृष्टि से, उन्हें बार-बार गद्य या पद्य में जिस तरह अभिनंदित किया है, जय लाभ के बहुत पहले ही उनकी जय-ध्वनि का उद्घोष किया है, आज चिर-विच्छेद की बेला उसी प्रकार प्रबल कंठ से उन्हें सम्मान निवेदित कर सकूं, वह शक्ति मुझ में नहीं रही। और कुछ दिन पहले ही उस अजाने लोक के लिए मेरा बुलावा आया था। लौट आया हूं। किन्तु वहां का कुहासा अब भी मेरे शरीर एवं मन को घेरे हुए है। लगता है, वे मुझे अपने अंतिम पथ का आसन्न-अनुवर्तन निर्देश दे गये हैं। वही पथ-यात्री हूं। मेरी उम्र में मेरे लिए शोक का अवकाश लंबा नहीं हो सकता। शोक सारे देश को हुआ है। किन्तु विज्ञान की साधना में जो अपना कृतित्व अधूरा छोड़ कर नहीं गये, वे विदाई के बहाने देश को वंचित नहीं रख सकते। जो अजर है, जो अमर है, वह शेष रह गया! शारीरिक विच्छेद के आघात से उस सम्पदा की उपलब्धि और भी उज्ज्वल हो उठेगी। जहां पर वे सत्य हैं, वहीं उन्हें अधिक पाने का सुयोग मिलेगा। मित्र के नाते जो मेरा कर्तव्य था, जब मुझ में शक्ति थी, तब उसे निबाहने में त्रुटि नहीं की। कवि रूप में जो मेरा कर्त्तव्य था उसे पूर्ण सामर्थ्य की बेला प्रायः निःशेष कर दिया है—उनकी स्मृति मेरी रचनाओं में कीर्तिमान हुई है।

विज्ञान व रस-साहित्य के प्रकोष्ठ, संस्कृति के विभिन्न महलों में हैं, किन्तु उनके बीच आने-जाने व लेन-देन का पथ है। जगदीश थे, उस पथ के पथिक। इसलिए विज्ञानी व कवि के मिलन का उपकरण दोनों महलों से ही होता था। मेरे अनुशीलन में विज्ञान का अंश अधिक नहीं था, किन्तु वह था मेरी प्रवृत्ति में। साहित्य के संबंध में उनकी थी अनुरूप अवस्था। इसलिए हम लोगों के बंधुत्व-कक्ष में हवा चला करती थी, दोनों ओर की दो खुली हुई खिड़कियों से। उनसे मिलने के लिए मेरे पास एक और बहाना था—उनका

जगदीशचन्द्र

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

निबिड़ देश-प्रेम !

प्राण-पदार्थ रहता है जड़ की गुप्त कोठरी में—अपने को छिपाये हुए। इस बात को जगदीश, वैज्ञानिक-भित्ति पर पुख्ता जड़ देंगे, इस प्रत्याशा ने तब मेरे मन में एक उन्माद-सा जगा दिया था—क्योंकि बचपन से ही मैं इस ऋषि-वाक्य से परिचित था—'यदिदम् किंच जगत् प्राण एजति निःसृतम्।' यह जगत जो-कुछ भी चल रहा है, वह प्राण से निःसृत होकर प्राण में ही कंपमान है। उसी कंपन की कथा आज का विज्ञान कह रहा है। किन्तु वह स्पंदन जो प्राण-स्पंदन के साथ एक है, यह बात विज्ञान के प्रामाणिक-भण्डार में जमा नहीं हुई। उस दिन ऐसा लगता था—और ज्यादा देर नहीं है।

तत्पश्चात् जगदीश हटा लाये अपना परीक्षागार जड़-राज्य से उद्भिज राज्य में, जहां प्राण की लीला में संशय नहीं है। अध्यापक की यंत्र-उद्भावनी शक्ति थी असाधारण। उद्भिज के अन्तःपुर में घुस कर जासूसी कार्यों में वे सब यंत्र, नैपुण्य दिखाने लगे। उनके द्वारा नयी-नयी खबरों की प्रत्याशा से अध्यापक हमेशा उत्कंठित रहते थे। इस राह में उनके साथ चलने योग्य उपयुक्त विद्या मेरे पास न रहते हुए भी मेरी अशिक्षित कल्पना के अतिरेक उत्साह को लक्ष्य करके वे शायद सकौतुक आनन्द महसूस करते थे। कहीं आस-पास किसी जानने वाले का आना-जाना नहीं था, इसलिए अनाड़ी हमदर्दी की अत्युक्ति-मुखर उत्सुकता का उस दिन उनके लिए प्रयोजन था। सुहृद की प्रत्याशापूर्ण श्रद्धा का मूल्य चाहे जैसा भी रहा हो गम्य-स्थान के 'उजान' पथ [प्रतिकूल-पथ] पर आगे बढ़ाने के निमित्त पाल की खातिर कुछ-न-कुछ हवा अवश्य जुटाया करता था। समस्त बाधाओं पर वे विजय प्राप्त करेंगे ही, मुझे यह अक्षुण्ण विश्वास था। अपनी शक्ति पर उन्हें जो श्रद्धा थी, मेरी श्रद्धा का आवेग उस में अनुरणन जगाता था, इस में कोई संदेह नहीं।

यह था आदिकाण्ड। उसके बाद आचार्य अपने परीक्षणों से प्राप्त तत्व और सहधर्मिणी को लेकर समुद्र पार के उद्योग में प्रवृत्त हुए। स्वदेश की प्रतिभा विदेशी प्रतिभाशालियों के पास गौरव प्राप्त करेगी, इस आग्रह से दिन-रात मेरा मन उत्फुल्ल रहता था। उस समय जब जान पाया कि यात्रा का पाथेय संपूर्ण नहीं हुआ, तब मैं उद्विग्न हो उठा। साधना के आयोजन में अर्थाभाव की शोचनीयता कितनी कठोर होती है, वह बात दुःसह रूप से मुझे तब महसूस हुई। जगदीश की जय-यात्रा में यह अभाव लेशमात्र भी कहीं विघ्न जगाये, इस उद्वेग ने मुझे झकझोर डाला। दुर्भाग्यवश मेरे अपने सामर्थ्य में उस समय पूर्ण भाटा आया हुआ था। लम्बे-लम्बे ऋण की रस्सी खींचते हुए साष्टांग नत होकर मुझे अपनी नैया चलानी पड़ रही थी। हार कर उस संकट की वेला एक बन्धु की शरण लेनी पड़ी। उस महा उदार व्यक्ति का औदार्य मेरी दृष्टि में स्मरणीय है। इस प्रसंग में सम्मान के साथ उनके नाम का उल्लेख करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूं। वे थे त्रिपुरा के परलोक वासी महाराजा राधा किशोर देवमाणिक्य। मेरे प्रति उनकी प्रभूत श्रद्धा व प्यार मेरे लिए चिर-विस्मयकारी है। ठीक उसी समय उनके पुत्र की शादी का आयोजन चल रहा था। मैंने उन्हें सूचित किया कि एक शुभ अनुष्ठान के उपलक्ष्य में दान लेने की खातिर उपस्थित हुआ हूं। उस दान का उपयोग होगा एक पुण्य कार्य में। सारी बात सुनने के बाद उन्होंने थोड़ा मुस्कराते हुए कहा, 'जगदीशचन्द्र एवं उनके कृतित्व के बारे

में मुझे विशेष जानकारी नहीं है, मैं जो कुछ भी दूंगा, आपको ही दूंगा, आप उसका क्या उपयोग करेंगे, यह जानने की मुझे जरूरत नहीं है।' और उन्होंने मुझे दिया पंद्रह हजार का चैक। वह रुपया मैंने आचार्य के पाथेय-स्वरूप भेज दिया था। उस दिन मेरे असामर्थ्य की घड़ी में, अपने बन्धु के लिए जो भी कर सका, वह किसी एक और बन्धु की कृपा से। आधुनिक वैज्ञानिक युग, पाश्चात्य महादेश का आश्रय लेकर ही दीप्तिमान हो उठा है; वहां की दीपावली में भारतवासी यह प्रथम दीप-शिखा उत्सर्ग कर सके हैं, जो वहां स्वीकृत हुई है। इस गौरव के पथ को सुगम करने की खातिर एक छोटा-सा सामान्य अधिकार महाराजा ने स्वयं न रख कर, मुझे ही दे दिया था, उस बात को याद करके उस उदारचेता बन्धु के प्रति अपने हृदय की गहनतम श्रद्धा अर्पित करता हूं।

तत्पश्चात् जगदीशचन्द्र की सिद्धि व यश का पथ प्रशस्त होकर दूर तक प्रसारित होने लगा, इसे सब जानते हैं। इस बीच कोई उच्च पदाधिकारी उनकी कीर्ति से आकृष्ट हुए और सहज ही विभिन्न जगहों पर परीक्षण-कानन निर्मित हो गये। अंत में ऐश्वर्यशाली वसु-विज्ञान-मंदिर की स्थापना संभव हो सकी। उनके चरित्र में संकल्प की जो सुदृढ़ शक्ति थी, उसके द्वारा उन्होंने असाध्य को साधित किया था। किसी एक व्यक्ति ने अपने कार्य में राजकोष या स्वदेशी धनिकों के पास से इतनी अजस्र आर्थिक-सहायता मेरे खयाल से भारतवर्ष में अब तक प्राप्त नहीं की। उनके काम की शुरुआत में क्षणस्थायी आर्थिक खींचतान समाप्त होते ही लक्ष्मी ने आगे बढ़ कर उन्हें वरद-हस्त से वरदान दिया एवं अन्त तक अपने लोक-विख्यात चापल्य को प्रकट नहीं किया। लक्ष्मी के पद्म को स्वर्ण-पद्म कहा जाता है। किन्तु सख्ती से विचार करने पर इसे लोह-पद्म ही कहना चाहिए। उस लोह-पद्म को जगदीश अपनी ओर अनायास ही खींच कर ला सके थे, यह उनकी अपनी चुंबकीय शक्ति यानी पर्सनल मेग्नेटिज्म का प्रभाव ही था।

इसी समय उनके कार्य व रचना में उत्साह-दात्री के रूप में जो मूल्यवान सहायक मिलीं—वह थी भगिनी निवेदिता। जगदीशचन्द्र के जीवन में इस महनीया नारी का नाम सम्मान के साथ संरक्षणीय है। तब से उनका कर्म-जीवन समस्त बाह्य बाधा अतिक्रम करके विश्व-भूमिका में परिव्याप्त हुआ। इस समय की सार्थकता का इतिहास मेरे अधिकार के परे है। मेरे कर्मक्षेत्र की क्षुद्र सीमा में, धूप में, बादल में मिट्टी तोड़ कर मेढ़बंदी करने के लिए एक छत्र अकेला ही रह गया हूं। उसकी साधनकृच्छता ने अपने आत्मबंधुओं से मेरी दृष्टि व समय को झटक कर दूर खींच लिया है! ००

आचार्य जगदीशचन्द्र वसु पिछली बार विलायत जाकर विज्ञान के जो नये तथ्य प्रचारित करके आये थे, उसकी थोड़ी-थोड़ी जानकारी हमें मिलती जा रही है। उस आविष्कार ने ईथर-तत्व को आगे बढ़ा कर तारहीन टेलीग्राफ-यंत्र की कार्य-उपयोगिता बढ़ा दी है एवं वैज्ञानिकों से बहुत सम्मान पाया है, यह खबर अपने पास आ पहुंची है।

पुनः आचार्यवर ने यूरोप की पंडित-सभा में और भी नये तत्वों का उपहार लेकर प्रवेश किया है। सुना है, यह बात अद्भुत है—जड़ और जीव की दुर्लंघ्य विषमता भेद कर उन्होंने वैज्ञानिकों को आश्चर्य-चकित कर दिया है। आघात से, उत्तेजना इत्यादि से धातु-पदार्थ और सजीव पदार्थ में समान नतीजा निकलता है, यह परीक्षण द्वारा प्रत्यक्ष दिखा कर उन्होंने जड़ एवं जीव में साधर्म प्रमाणित किया है।

सभी बातें हम अभी स्पष्ट रूप में विस्तार से जान नहीं सके हैं। सभा में जो लोग उपस्थित थे, उनके मन में कैसी धारणा बनी है, उस से ही विषय का मोटे तौर पर हम कुछ अनुमान कर रहे हैं।

अवैज्ञानिक श्रोता-गण क्या समझे हैं, यह अंग्रेजी की 'ग्लोब' पत्रिका के निम्न-लिखित परिहास-वाक्य से जाना जा सकता है। ग्लोब कहता है, 'धातु-पदार्थ पर नाना तरीकों से अत्याचार करते वक्त अध्यापक की दोनों आंखें भर आयी थीं। इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। लेकिन आग उकसाने का लोह-दंड जब चूल्हे के लोह-वेष्टन पर गिर जाय, तब उसे चोट पहुंची है, यह सोच कर तुरंत प्यार करने बैठ जायें, ब्रिटिश गृहस्थी के लिए यह अवस्था आने में अभी देर है।'

ब्रिटिश गृहस्थी का चित्त जड़ है या सजीव, किस परिमाण में है उसकी वेदना अनुभूति, कितने आघात से उसका साड़ा मिल पाता है, उस दुरूह परीक्षा में अध्यापक नियुक्त नहीं थे, उन्हें लोहे पर, पीतल पर आघात करने से साड़ा मिला है। ग्लोब की उक्ति से यह समझा जा सकता है, कि अध्यापक के अनुसार जड़ में जीवन-धर्म है, अवैज्ञानिक श्रोतागणों

जड़ क्या सजीव है

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

पर ऐसा प्रभाव पड़ा है।

जीवमात्र सचेतन है, फिलहाल ऐसा सोचने की जरूरत नहीं है। कम-से-कम अभी इसका प्रमाण नहीं मिला है। उद्भिज में चेतना है कि नहीं, कोई नहीं कह सकता, किन्तु उस में जीवन है, यह बात सभी जानते हैं।

लोह-दंड के गिर जाने से उस में वेदना होती है, यह कोई नहीं कहता, किन्तु उसे जो चोट पहुंचती है, यह बात भी कोई नहीं कहता था। अर्थात् सजीव-पदार्थ के गिरने से उस में आघात का जैसा लक्षण दिखायी पड़ता है, धातु-पदार्थ में भी वैसा लक्षण दिखलायी देता है, यह मालूम नहीं था। आचार्य जगदीश ने परीक्षण द्वारा वही प्रकट किया है।

साधारण श्रोताओं की बात मैंने ऊपर लिखी है। अब, विज्ञानविद् विशेषज्ञ क्या कहते हैं, उसकी आलोचना करने पर विषय का आभास मिल जायेगा। तड़ित्-तत्व के संबंध में विख्यात अंग्रेजी-पत्र इलेक्ट्रिशियन ने अध्यापक बसु की वक्तृता का जो मर्म प्रकाशित किया है, हम उसी का ही सार इकट्ठा करके दे रहे हैं।

सजीव मांस-पेशी में यदि चुटकी भरी जाय, या उसे ऐंठा या दबाया जाय, तब वह लम्बाई में छोटी होकर चौड़ाई की ओर फूल जाती है। दबाव हटा लेने पर मांस-पेशी फिर प्रकृतिस्थ हो जाती है। विशेष यंत्र के द्वारा, मांस-पेशी की यह विकृत एवं प्राकृतिक उत्थान-पतन की रेखा अंकित की जा सकती है। यदि मांस-पेशी पर रह-रह कर दबाव पड़ता है, तब उसकी तरंग-रेखा करोत के दांतों की तरह अंकित होती है। यदि यह दबाव क्रमशः बढ़ता रहे, तब अंत में एक ऐसी अवस्था आती है, जब मांस-पेशी निरंतर संकुचित होकर धनुष-टंकार का आक्षेप उत्पन्न करती है।

अतिरिक्त ठंड अथवा गरमी से मांस-पेशी आड़ष्ट हो जाती है, तब आघात से उसका साड़ा मिल नहीं पाता और उसके प्रकृतिस्थ होने में भी समय लगता है। फिर विशेष मात्रा में गर्मी पाने पर मांस-पेशी का साड़ा सबसे अधिक बढ़ जाता है। इस ताप की मात्रा भिन्न-भिन्न मांस-पेशियों के लिए भिन्न-भिन्न है।

द्रव्य-गुण के हिसाब से मांस-पेशी का साड़ा बढ़ता रहता है, कम होता रहता है। उत्तेजक-पदार्थ से साड़ा प्रबल हो उठता है और प्रकृतिस्थता भी शीघ्र लौट आती है। अवसादक पदार्थ से उलटा होता है एवं जहर से यह साड़ा-शक्ति एकदम नष्ट हो जाती है। यह भी देखा गया है कि कोई-कोई द्रव्य, मात्रा-विशेष में उत्तेजित और अन्य में अवसादित होता है।

सजीव मांस-पेशी की जगह यदि सजीव स्नायु को लेकर परीक्षण किया जाय, तो उस में भी पहले साड़ा और बाद में प्रकृतिस्थ होना देखा जा सकता है। किन्तु स्नायु में इस साड़ा का प्रकाशन और तरह से है। चोट लगने पर स्नायु के आहत अथवा उत्तेजित अंश से सुस्त अंश तक एक विद्युत-प्रवाह की सृष्टि होती है। बार-बार आघात लगने से, शीत एवं ताप के मात्राधिक्य की वजह से, और उत्तेजक अथवा अवसादक द्रव्य द्वारा स्नायु में जो क्रिया एवं क्रिया-शांति होती है, यंत्र-विशेष से उसका रेखा-चित्र लिया हुआ है। मांस-पेशी के चित्र के साथ उसका साम्य देखा जा सकता है। अध्यापक ने इस तरह के विविध चित्र इकट्ठे किये हैं। देहविद्-गण कहते हैं, देह-पदार्थ में यह साड़ा ही जीवन का

सुस्पष्ट लक्षण है, मृत-पदार्थ में इसका पूरा अभाव नजर आता है।

अब जड़-पदार्थ की ओर दृष्टिपात किया जाय। अध्यापक वसु ने दिखाया है कि एक तार के किसी सिरे को यदि ऐंठा या आघात पहुंचाया जाय, तो उस आहत अथवा उत्तेजित सिरे से प्रकृतिस्थ सिरे तक एक विद्युत-प्रवाह होता है। तड़ित्-मापक की सूई के विचलन से इस साड़ा की मात्रा मालूम कर ली जाती है। यंत्र की सहायता से परीक्षण करके अध्यापक वसु ने दिखाया है कि जड़-पदार्थ के इस आघात-जनित साड़ा व प्रकृतिस्थ तरंग-रेखा और स्नायु एवं मांस-पेशी की तरंग-रेखा में अत्यंत सादृश्य है।

धातु-पदार्थ पर वार-वार प्रहार करने से जो तरंग-रेखा दिखायी पड़ती है, वह दंतुर है, प्रहार और भी तेज करने पर तरंग-रेखा निरंतर फैलती हुई धनुषटंकार की अवस्था प्राप्त कर लेती है। शीत एवं ताप की मात्रा अधिक होने पर धातु-पदार्थ आड़ष्ट हो जाता है और विशेप गरमी से उसकी साड़ा-शक्ति सबसे अधिक वढ़ती है। धातु के तार में विशेष द्रव्य का प्रयोग करने पर उसके साड़ा की प्रबलता मद-मस्ती के समान आश्चर्य-जनक रूप से बढ़ जाती है, फिर द्रव्य-विशेष में अवसाद का लक्षण ले आता है, किसी-किसी द्रव्य में जहर की तरह काम करता है। कई-एक द्रव्य धातु-पदार्थ के लिए विशेष-मात्रा में उत्तेजक हैं और मात्रान्तर में अवसादक हैं, फिर यह भी देखा गया है कि समय पर औषधि देने से विष के प्रयोग का प्रतिकार किया जा सकता है।

इस प्रकार नाना आघात, अपघात से धातु-पदार्थ में जो क्रिया उत्पन्न होती है, उसके तरंग-चित्र जैविक-तरंग से इतने मिलते-जुलते हैं कि देहविद्-गण दोनों चित्रों को पहचान कर अलग नहीं कर सकते।

यह तो हुआ आघात-जनित साड़ा। आलोक-जनित साड़ा के संवंध में भी अध्यापक महाशय ने परीक्षण करके यही नतीजा निकाला है। उन्होंने एक कृत्रिम-चक्षु का निर्माण किया है, जिन समस्त रश्मियों के संबंध में हमारे चक्षु असाड़ हैं, उनके कृत्रिम-चक्षु में वे सभी रश्मियां साड़ा उत्पन्न करती हैं। प्रकाश पाने पर सजीव चक्षु जिस तरह मस्तिष्क को संदेश भेजता है, इस कृत्रिम-चक्षु की क्रिया भी ठीक वैसी ही है। सुतराम्, इस आविष्कार के फलस्वरूप दर्शन-क्रिया का मुद्दा, देह-विद्या के क्षेत्र से पदार्थ-विद्या के क्षेत्र में आकर गिर सकता है। इस कृत्रिम-चक्षु के आविष्कार से वर्तमान तारहीन टेलिग्राफी और ऐथरिक वार्ता-प्रेषण प्रणाली उलट-पुलट हो जायेगी। ००

पत्र : रवीन्द्रनाथ ठाकुर

जगदीशचन्द्र बसु के नाम/अबला बसु के नाम/महाराजा त्रिपुरा के नाम

ओम्

शिलाईदह/कुमारखाली
ई. बी. एस. रेलवे　　　　१८ जून, १८९९

प्रियवरेषु,

दार्जिलिंग के पते पर आपके पत्र का जवाब दिया था। क्या पता, पहुंचा कि नहीं। आपके पत्र में दार्जिलिंग के अलावा और कोई पता लिखा हुआ नहीं था। इसलिए कलकत्ते के पते पर ही पत्र लिखा है।

ऐसी जबरदस्त वर्षा हो रही है कि क्या बताऊं। लगता है नदी-निर्झर व साथ-ही-साथ बहुतेरे भूखण्ड, शिलाखण्ड पर्वत छोड़ कर नीचे आ रहे हैं—आप लोग क्या शिखर-प्रदेश पर ही अटल बने रहेंगे? यदि उतर कर नीचे आयें तो क्या पद्मा नदी के पथ का अनुसरण नहीं कर सकते? इस समय आकाश घटाओं से, नदी जल से और पृथ्वी हरियाली से परिपूर्ण है। घर से बाहर निकलना कठिन है, मगर खिड़की है किसलिए? आप लोगों की बाइसिकल के उपयुक्त रास्ता बन गया है।

आत्मीयजनों की पीड़ा से बंध कर लगभग एक महीना कलकत्ता रहा—संप्रति वहां से लौट कर आपकी अध-सुनी कथा को हाथ में लिया है। मासिक पत्रिका में भेजने की उतावली नहीं है। अपनी अलमस्ती में आहिस्ता-आहिस्ता लिखता हूं। किसी दिन एक सांझ की बेला उसी कमरे में शायद पढ़ कर सुनाने का मौका पा जाऊं।
इति ४ आषाढ़ १३०६

आपका
श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

ओम्

कलकत्ता २६ मई, १८९९

प्रियवरेषु,

वलेन्द्रनाथ व अपने पुत्र रथी की रोग-परिचर्या के लिए मुझे अचानक कलकत्ता आना पड़ा। प्राय पंद्रह दिन से यहीं पर हूं, शायद पांच-सात दिन और रहना पड़े। मैं स्वयं भी स्वस्थ नहीं हूं।

इधर बे-मौसमी वर्षा टूट पड़ी है—हूबहू सावन-मास जैसी ही। मुझे इस से कोई आपत्ति नहीं है। आशंका केवल यही है कि कहीं प्रकृति सावन में झांसा देकर न चली जाये। दार्जिलिंग में भी यदि ऐसी ही वर्षा का प्रादुर्भाव हुआ तो मुझे आपके सौभाग्य से तनिक भी ईर्ष्या नहीं होगी। पहाड़ी-वर्षा हम बंगालियों के रिरियाने जैसी सदा एक-सी उबाऊ और अविराम होती है। फिर भी एक बार आप लोगों के शैल-नीड़ में अकस्मात् अवतीर्ण होने को जी चाहता है— किन्तु अवकाश और पंख न होने के फलस्वरूप ऐसी दुराशा को मन में पनाह ही नहीं देता। रोगताप के बीच लिखना-पढ़ना कतई बंद है। मौके की बाट देख रहा हूं। कभी-कभार सोचता हूं—शायद मौका भी मेरी बाट देख रहा होगा। एक बार दृढ़तापूर्वक मन को संयमित करके बैठते ही लिखना हो जायेगा, किन्तु वह जोर ही फिलहाल कहां पा रहा हूं ?

कई-एक पौराणिक कथाएं मेरे दिमाग में घूम रही हैं। जैसे-तैसे भी हो, उनके लिए रास्ता निकालना ही होगा। यह सब मेरे लिए कन्यादाय के समान ही अनिवार्य है। जनता के साथ जब तक उनका परिणय नहीं कर पाता, वे अरक्षणीया हो जायेंगी। किन्तु उनके प्रसंग में बाल-विवाह करना ठीक नहीं है—उपयुक्त उम्र होने तक मुझे इनका कलरव तथा उपद्रव सहन करना होगा। शरीर और मन दोनों ही आज रुग्ण हैं। यहीं विदा लेता हूं। इति १३ ज्येष्ठ, १३०६

आपका
श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

ओम्

शिलाईदह/कुमारखाली

१० आषाढ़, १३०६ २४ जून, १८९९

प्रियवरेषु,

आपका पत्र पढ़ कर मुझे विशेष सान्त्वना और आनन्द की प्राप्ति हुई। स्तुति व निन्दा के प्रति उदासीन रहने के लिए खासतौर से प्रयत्नशील हूं। सफल नहीं हो पाता, इसीलिए यथासम्भव दूरी बनाये रखता हूं, किन्तु दुनिया को झांसा दिया नहीं जा सकता; प्रेमदास का एक गीत है :

वृथा सोच कुछ काम न आये
भोग विना नहीं मिटना।

वृथा शोक करने से कोई परिणाम नहीं निकलता—जो भोगना है उसे भोगे बिना बच निकलना रंचमात्र भी सम्भव नहीं। किन्तु दुख में परम सुख यही है कि मित्रों का स्नेहशील हृदय अपनी वेदना की ओर खिंचते देख रहा हूं।

श्रीयुत् अक्षयकुमार मैत्रेय महाशय न जाने किस अशुभ घड़ी में रेशम की बीसेक गुटिका मेरे घर में पटक गये थे। आज उन दो लाख क्षुधित कीड़ों को अहर्निश आहार व आश्रय जुटाने में परेशान हो गया हूं—दस-बारह आदमी दिन-रात उनकी टोकरी साफ करने व गांव-गांव से शहतूत के पत्ते लाने में जुटे हुए हैं—लारैंस साहब स्नान, आहार, निद्रा का परित्याग करके कीड़ों की सेवा में लगे हुए हैं। मुझे वह दिन में दस बार लपेटता है। बस, पागल करने में थोड़ी-सी कसर रख देता है। अंग्रेज जाति हर मुद्दे में क्यों सफल होती है, उसका प्रत्यक्ष उदाहरण देख रहा हूं। उन लोगों में शक्ति का संचार करने के लिए विधाता ने उन्चास पवन नियुक्त किये हैं, अथच वे सर्वांगीण दायित्व से इस कदर लदे-फदे हैं कि उन्हें कोई डिगा नहीं सकता। इस समय यदि एक बार तुम हमारी कीटशाला में आते तो आप एक दृश्य देख पाते—काम बहुत ज्यादा फैल गया है। किसी भी समय छुट्टी पायें तो इधर की बात भी याद कर लिया करेंगे।

मेरी खेती का कार्य भी काफी अच्छा चल रहा है। अमेरिकन मक्का का बीज मंगवाया था—उसके पौधे तीव्र गति से बढ़ रहे हैं। पतले धान का मद्रासी रोपन करवा दिया है, उस में भी निराश होने का कोई कारण नजर नहीं आता। द्विजेन्द्रलाल बाबू सोमवार को सपत्नीक मेरे शस्य-क्षेत्र का पर्यवेक्षण करने आयेंगे।

आप दोनों, हम लोगों का प्रीति-अभिवादन ग्रहण करें।

आपका
श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

ओम्

शिलाईदह/कुमारखाली/नदीयां १७ सितम्वर, १६००

प्रिय वन्धु,

चुपचाप वैठा फ्रेंच भाषा की एक व्याकरण उलट रहा था, उस समय चिट्ठी पाकर मृत मेंढ़क के भीतर तड़ित-प्रवाह का संचार होकर खूब छटपटा रहा हूं। लोकेन को, सुरेन को आपका पत्र दिखाने के लिए कसमसा रहा हूं। किन्तु वे लोग दूर हैं, आज ही उन्हें लिखना होगा। युद्ध की घोषणा कर दें। किसी के साथ रिआयत न करें—जो हतभागा सरेंडर नहीं करेगा, लार्ड रॉवर्ट्स की तरह निर्मम चित्त से उनके घर-दरवाजे तर्कानल से जला डालिए—आपने एक सैन्य-सम्प्रदाय के साथ एक और सैन्य-सम्प्रदाय को गूंथ कर, जिस तरह की व्यूह-रचना की है, उस में प्रिटोरिया का क्रिसमस जरूर मना सकेंगे, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। उसके वाद विजेता के रूप में आने पर आपकी विजय और ख्याति को हम सव वंगाली मिल कर वांट लेंगे—आपने क्या किया, उसे समझने की जरूरत नहीं होगी—न वुद्धि, न अर्थ, न समय, कुछ भी खर्च करना नहीं होगा, केवल टाइम्स पत्र में अंग्रेजों के मुंह से हम लोग वाहवाही लपक लेंगे। फिर हमारे देश के किसी प्रसिद्ध संवाद-पत्र में कहेंगे—हम भी कोई साधारण लोग नहीं हैं, किसी दूसरी पत्रिका में कहेंगे हम लोग विज्ञान में नये-नये तथ्यों का आविष्कार कर रहे हैं—इधर आपके लिए किसी में चवन्नी के वरावर भी सर-दर्द नहीं है, किन्तु जव आप विश्व-जगत से यश की फसल घर लायेंगे, तव आप हमारे हैं। खेती के समय आप एक-छत्र अकेले और लाभ उठाने के लिए हम सव। अतएव आपकी जीत से, हम कहीं ज्यादा विजयी हुए हैं।

आप 'क' विन्दु पर कम्पायमान हैं और मैं 'ख' विन्दु पर निश्चेष्ट, निरुद्विग्न होकर वैठा हूं—मेरे चारों ओर 'आमन' धान है, एवं ईख के खेत हैं आसन्न शरद के शिशिरयुक्त वातास में झूमते हुए, झूलते हुए। सुन कर आश्चर्य होगा, एक स्केचवुक लेकर मैं वैठा हुआ चित्र खींच रहा हूं। कहना अनावश्यक होगा कि वह तस्वीर मैं पेरिस सेलोन के लिए तैयार नहीं कर रहा हूं, या किसी नेशनल गैलरी के लिए, जो अपने देश का टेक्स वढ़ा कर अचानक खरीद लेंगे, ऐसी कोई भी आशंका मेरे मन में लेशमात्र भी नहीं है। किन्तु कुपुत्र के प्रति मां के मन में अपूर्व स्नेह होता है, वैसे ही जो विद्या अच्छी तरह नहीं आती, उसके लिए मन में आकर्षण होता है। उसी कारण जव से प्रतिज्ञा की, अव सोलह आना हार्दिक मन से अकर्मण्य रहना चाहूंगा, तव सोच-विचार कर चित्र खींचने के लिए यह आविष्कार करना पड़ा। इस संवंध में उन्नति करने के लिए एक वहुत वड़ी वाधा उपस्थित हो रही है, वह यह कि जितनी पेंसल चला रहा हूं, उस से कहीं ज्यादा रवड़ चलाना पड़ रहा है, सुतराम्, रवड़ चलाने का अधिक अभ्यास होता जा रहा है—अतएव मृत राफेल अपनी कब्र में निश्चित पड़े रह सकते हैं, मेरी वजह से उनके यश में कोई कमी नहीं होगी।

लोकेन आने वाली पूजा की छुट्टियों में मुझे अपने भ्रमण का साथी वना कर शिमला-शिखर जाने की चेष्टा कर रहा है, किन्तु मैं खिसकने का नहीं। जव ऋषि लोग पर्वत पर

तपस्या करते थे, तब वह समय और ही था, किन्तु अब उन गिरि-शिखरों में भी शांति नहीं रही, यह बात आप से छिपी हुई नहीं है। आशा करता हूं, कि आप दार्जिलिंग के उस राह चलते साथी को भूले नहीं होंगे। मैं अपनी पद्मा नदी के कल-हंस-मुखर बालू-तट पर शारद-श्री के शुभ्र समागम की प्रतीक्षा कर रहा था, शायद याद होगा आपने मुझे किसी एक यात्रा में साथ ले जाने का वादा किया था—चाहे काश्मीर हो, उड़ीसा हो, त्रावणकोर हो—आपके साथ भ्रमण करके आपके जीवन-चरित के एक अध्याय में झांसा देकर घुसपैठ करना चाहता हूं। आशा करता हूं वंचित नहीं करेंगे—उस भविष्य को किसी एक छुट्टी के निमित्त पाथेय-स्वरूप संचित करके रख रहा हूं। थोड़ी दूर केदारा पर बैठी गृहिणी मुझ से स्नानाहार करने के लिए बेहद तकाजा कर रही है। समय भी काफी हो गया है। अतएव क्षण भर के लिए माफी चाहता हूं, मुझे ज्यादा देर नहीं लगेगी।

लोकेन मेरे काव्य-चयन के प्रकाशन में प्रवृत्त था, बीच में विलायत जाकर उसका सारा उद्यम धीमा पड़ गया है। यदि वह बुरा न माने तो मैं स्वयं ही इस काम को हाथ में ले सकता हूं। मैं चित्र बना रहा हूं, सुन कर, आप यदि आश्चर्यचकित हों तो लोकेन कविता लिखने बैठ गया है, सुन कर, ऐसा लगता है कि आप कम आश्चर्य नहीं करेंगे। उसकी ऐसी ही दुर्दशा हुई है! आखिर बेचारे ने कविता लिखा ही ली। उमर खैयाम का बंगला में पद्यानुवाद कर रहा है। एकाध नमूना देखने से उसकी मनःस्थिति का थोड़ा-बहुत अनुमान कर सकेंगे।

मूढ़ मोरा, त्यजि सुख स्वर्ग-सुख आशे,
थाकिस् मुक्तिर तरे अन्ध कारावासे।
सूद पावि ब'ले फेले राखिस् पाओना,
छाड़ि ना नगद आमि जाहा हाते आसे।

इन समस्त कविताओं में लोकेन ने मूलधन फूंक-फूंक कर व्यापार चलाने का प्रोस्पेक्टस जारी कर दिया है—सूद नहीं चाहता, लाभ नहीं चाहता, जो कुछ जमा है, वह सब फूंक देना चाहता है, मैं उसके व्यवसाय के शेयर खरीदने को राजी नहीं हूं।

आपके साले की पत्नी आर्या सरला ने, विद्यार्णव के पास सम्प्रति संस्कृत पढ़ना आरंभ कर दिया है। शिक्षा-प्रणाली की रचना मैंने की है। बहुत तेजी से उन्नति कर रही है। पंडित जी ऐसी बुद्धिमती छात्रा पाकर अत्यंत खुश हैं। मैंने पहले ही उन्हें आश्वस्त कर दिया था कि यदि वे मेरी पद्धति के अनुसार संस्कृत सीखें तो एक साल में ही भाषा पर उनका अधिकार हो जायेगा। उनकी संस्कृतचर्चा से मैं बहुत ही खुश हुआ हूं। हमारी वर्तमान शिक्षित महिलाओं की अत्यधिक अंग्रेजी-चर्चा के सामंजस्य की रक्षा के निमित्त संस्कृत सीखना बहुत जरूरी हो गया है।

देखिए, आपके लिए [जगन्नाथ] पुरी की जमीन रख सकूंगा, ऐसी आशा नहीं के बराबर होती जा रही है। मजिस्ट्रेट की नजर जो उस पर पड़ चुकी है। संबंधित अधिकारी ने लिखा है कि पुरी-डिस्ट्रिक्ट बोर्ड को इस भूखण्ड की सख्त जरूरत है। 'जिसका जोर, उसकी जमीन' यदि यह उक्ति सही साबित हुई तो फिर इस भूखंड की रक्षा नहीं

हो सकेगी। आप यदि यहां रहते-रहते मकान बनवाना शुरू कर देते तब तो वे लोग जमीन पर कब्जा नहीं कर पाते।

आज भारी अंधड़ चल रहा है। आकाश मेघाच्छन्न है—बीच-बीच में हठात् मूसलाधार बारिश हो जाती है। रह-रह कर हवा का तीव्र झोंका खिड़की-दरवाजों को भड़ाक-से झकझोर कर भाग जाता है। इस बारिश, झंझा और बादलों ने अच्छा-खासा छुट्टी का माहौल बना दिया है। उस कर्म-परायण पश्चिम देश में ठीक ऐसी भावना अनुभव नहीं कर सकेंगे। एक तो सप्ताह में सात दिन काम करते हैं—फिर जिस दिन बादल छाएं या शरद की धूप खिले या दक्षिण की हवा चले, उस दिन तो और भी छुट्टी की इच्छा होती है। मैं घर का दरवाजा खोल कर, खिड़कियां बंद किये बैठा हूं—झर-झर की चिरंतन ध्वनि के साथ प्रबल वर्षा हो रही है।

पत्रोत्तर से मुक्ति पाना चाहते हैं तो आर्या की शरण में जाइये, यदि वे आपकी ओर से उत्तर दें तो मुझे कोई शिकायत नहीं होगी। उन्हें मेरा सादर अभिवादन। आप जिस काम के लिए गये हैं, उसकी छोटी-से-छोटी खबर भी मेरे लिए परम उपादेय है, इसे जरा याद रखें। कौन क्या कह रहा है, क्या लिख रहा है, क्या हो रहा है, सारी बातें आद्योपान्त जानने के लिए प्यासा हूं। इति १ आश्विन—१३०७

आपका
श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

ओम्

अक्टूबर-नवम्बर, १९००

बन्धु,

सीजर जिस नाव पर सवार हो, वह नाव क्या कभी डूब सकती है ? कितना बड़ा महान कार्य आप पर आश्रित है, आपको अविलम्ब बीमारी से मुक्त होना होगा !

मेरा एक भतीजा सांघातिक रोग से पीड़ित है, उसी सिलसिले में कलकत्ता आया हूं—प्राय: आठ दिन से आंख मूंदने का भी समय नहीं मिला। इसलिए आज माथा भन्ना रहा है, शरीर अवसन्न है। कल से उसकी विपदा टल गयी है, अतएव काफी आश्वस्त हूं। अब अपनी ओर देखने का समय मिला है। मन-ही-मन स्थिर किया कि दो-चार दिन के लिए बोलपुर शांति-निकेतन जाऊंगा।

अपनी समस्त छोटी कहानियों को एक साथ प्रकाशित करने की इच्छा हुई है। प्रथम खंड निकल चुका है, द्वितीय खंड की प्रतीक्षा है, इसलिए आपको भेज नहीं सका। अब आपका प्रस्ताव मान कर प्रथम खंड ही भेज रहा हूं। द्वितीय खंड में भी अधिकांश अच्छी कहानियां छपेंगी। प्रथम खंड में अनुवाद के योग्य शायद ये कतिपय कहानियां हो सकती हैं—पोस्ट मास्टर, कंकाल, निशीथ, काबुली वाला, प्रतिवेशिनी। किन्तु श्रीमती नाइट के रचना-नैपुण्य के प्रति मेरी विशेष आस्था नहीं है।

त्रिपुरा महाराजा को आप से संबंधित सारी सूचनाएं भेजता रहा हूं। आपके प्रति उनकी अपार श्रद्धा का परिचय पाकर मैं अत्यधिक प्रसन्न हुआ हूं। उन्होंने कहलाया है कि वे आपकी सहायता के लिए पूर्व प्रतिश्रुत सहयोग की अपेक्षा और भी बहुत अधिक देने को तैयार हैं।

विलायत में काम करने के लिए आपने क्या निश्चय किया है ? इस बारे में अपनी राय पहले ही बता चुका हूं—आप रंचमात्र भी दुविधा न करें। आपकी सफलता के पथ में यदि अपना देश भी अन्तराय बने तो उसे भी उदास मन से विदा देनी होगी।

आपका शरीर अत्यंत क्लांत है। एकांत मन से प्रार्थना करता हूं कि स्वस्थ होकर उठ बैठें।

आपका चिरन्तन
श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

ओम्

· २५ जुलाई, १६०१

बन्धु,

तुम्हारा काम क्यूं पूर्णतया सफल नहीं होगा ? बाधा चाहे जितनी बड़ी क्यूं न हो, तुमने जो बीड़ा उठाया है, उसकी मीमांसा न होने तक तुम्हारी निष्कृति नहीं है। उसके निमित्त जो भी त्याग अपेक्षित है, तुम्हें करना ही पड़ेगा। यह बात तुम्हारे अलावा और किसे भी निस्संकोच कह नहीं सकता। कैसे कहूं कि दारिद्र्य, अर्थ-संकट व सांसारिक अवनति ग्रहण करो ! मेरे लिए भी शायद यह संभव नहीं था, लेकिन मैं तुम्हें अपने से बड़ा मानता हूं, इसलिए तुम्हारे प्रति मेरे दावे की सीमा नहीं है। तुम जो आविष्कार कर रहे हो और करोगे, निःसंदेह उससे दुनिया शिक्षित होगी, लाभान्वित होगी। कर्त्तव्य से अनुप्रेरित होकर तुम्हें जो दुख उठाना पड़ेगा, उस से कुछ ज्यादा ही दुनिया को शिक्षा मिलेगी। हमारी तरह विषयी, सतर्क, निष्ठाविहीन क्षुद्र लोगों के लिए यह दृष्टांत और यह शिक्षा नितांत आवश्यक हो गयी है। यदि तुम्हें 'फर्लो' [लम्बी छुट्टी] न मिले तो एक बार यहां आ जाओ। यथासाध्य पर्याप्त व्यवस्था करके रणक्षेत्र के लिए बाहर निकल पड़ो। इसके अलावा और क्या सलाह दे सकता हूं ? सच, तुम से मिलने पर मुझे बड़ा आनंद आयेगा ! न मिलने पर भी खुशी कम नहीं होगी। तुम अपने काम में निरंतर आगे बढ़ रहे हो, इस खुश-खबरी के अतिरिक्त मुझे और क्या चाहिए ? तुम पर मेरा अटल विश्वास है। मौजूदा यूरोप ने तुम्हें स्वीकार किया है या नहीं, मैं इसके लिए रंचमात्र भी उत्कंठित नहीं हूं। तुमने जो कुछ भी देखा-समझा है, वह वैज्ञानिक-माया-मरीचिका नहीं है, इस तथ्य के प्रति मैं तनिक भी संदेहशील नहीं हूं, आशंकित नहीं हूं। तुम्हारे द्वारा उद्भावित सत्य एक दिन विज्ञान के सिंहासन पर अभिषिक्त होगा, उस दिन की मुझे अविकल प्रतीक्षा है।

इसी बीच तुम एक बार जर्मनी या अमेरिका जा पाते तो अच्छा रहता। इस बार न भी हो तो आगे के लिए जरूर चेष्टा करना।

मैं इस बीच बच्ची को ससुराल छोड़ आया हूं। रास्ते में कुछ दिन शांतिनिकेतन रुक कर आराम से रहा हूं। वहां के शांत वातावरण में एकांत अध्यापन की व्यवस्था हेतु प्रयत्नशील हूं। दो-एक त्यागी ब्रह्मचारी अध्यापकों की तलाश में घूम रहा हूं।

तुम्हारा रवि

ओम्

शिलाईदह २१ मई, १९०१

बन्धु,

बहुत दिनों से तुम्हारे पत्र की प्रतीक्षा कर रहा था। आज पाकर बड़ी खुशी हुई। तुम्हारे कार्य में लेश-मात्र भी क्षति न हो, इसलिए तकाजा नहीं करता।

पृथ्वी को सर्वत्र चिऊंटी भरने का जो तरीका तुमने खोज निकाला है, उसे पढ़ कर गर्व का अनुभव हुआ। अभी तक जड़-पदार्थ हम लोगों के मतानुसार हमें कष्ट पहुंचाते रहे हैं, अब तुम्हारी मेहरबानी के फलस्वरूप उनसे प्रतिशोध ले सकेंगे। जितना चाहो उन्हें चिऊंटी भरो, जहर पिलाओ, उन्हें हरगिज छोड़ना नहीं। यदि अब से अपराधी जड़-पदार्थ का किसी अदालत में विचार हो तो विचारक उनके लिए चिऊंटी भरने के दंड का प्रावधान कर सकेगा।

यदि तुम्हें पांच-छः वर्ष विलायत में रहना पड़े तो उसके लिए तैयार रहना। खामखां भारतवर्ष के झंझटों में उलझ कर अपना काम नष्ट मत करना। जरा खुलासा करना कि पांच-छः वर्ष रहने के लिए तुम्हें कितनी सहायता की जरूरत होगी? मुझे बताने में तनिक भी संकोच मत करना। साल भर के लिए कितना रुपया मिल जाने पर तुम अवैतनिक लम्बी छुट्टी ले सकते हो। मुझे निस्संकोच लिखना, जिस से तुम स्वतंत्र होकर निश्चिंत भाव से वहां रह कर अपना काम सुगमता से कर सको, शायद इसकी व्यवस्था कर सकूंगा। जरा सविस्तार खुलासा करके लिखना।

लोकेन यात्रा के लिए रवाना हो गया है। अब तक उसने तुम्हारे साथ जरूर मुलाकात कर ली होगी। उसके प्रति मुझे ईर्ष्या हो रही है। मेरी प्रबल इच्छा है कि हम दो-तीन जने तुम्हारे यहां मच्छी का झोल खाकर आग के पास बैठें, जम कर काफी गप-शप करें। एक बार मैं लोकेन के साथ लंदन गया था, तुम में से वहां कोई नहीं था। दो दिन पश्चात्ताप करता हुआ उलटे पांव वापस लौट पड़ा। यदि संयोग से तुम विलायत में पांच-छः बरस और रुक सके तो क्या एक बार भी तुम से वहां मुलाकात नहीं होगी? आशा करता हूं कि जरूर मुलाकात होगी। शायद किसी भी दिन तुम्हारे दरवाजे पर ठक-ठक की दस्तक सुनायी पड़ जाय।

'बंग-दर्शन' का पहला अंक निकला है। अनेक झंझटों के कारण उस में ठीक तरह मन नहीं लगा सका, कई गलतियां रह गईं। मेरी एक कविता इस कदर खराव हो गयी कि वह बोध-गम्य ही नहीं रही। तुम्हारे पास भेजने के लिए कह दूंगा।

तुम्हारा रवि

ओम्

४ जून, १९०१

वन्धु,

धन्योहम् कृतकृत्योहम् ! तुम्हारा पत्र पाकर मैं आज सवेरे से ही नयी दुनिया में विचरण करने लगा हूं। जिस ईश्वर ने तुम्हारे माध्यम से भारत की लज्जा का निवारण किया है, उन्हीं के चरणों में अपना हृदय अवनत कर रखा है। वे किस ओर से हमारे देश को गौरवान्वित करेंगे, अब मैं अरुण आभा से मंडित उनका पवित्र पंथ देख रहा हूं। तुम्हारे पास प्रसाद भेजने के लिए मेरा अंतःकरण उन्मुख है—वन्धु, मेरी पूजा ग्रहण करो ! जय हो, तुम्हारी जय हो। तुमने सारे देश को विजयी वनाया है। नव भारत के प्रथम ऋषि ! ज्ञान की आलोक-शिखा से नूतन होमाग्नि प्रज्वलित करो !

तुम से वारंवार मेरी यह प्रार्थना है—समय के पहले भारतवर्ष में आने की चेष्टा मत करना। तुम अपनी तपस्या पूरी करो। दैत्य-असुरों के साथ युद्ध करके अशोक वन से सीता का उद्धार तुम्हीं करोगे; यदि मैं किंचित् रुपयों का आहरण करके सेतु वांध सकूं तो धता वता कर स्वदेश की कृतज्ञता अर्जित कर लूंगा।

वेला के व्याह में दस-ग्यारह दिन बाकी हैं। तुम्हारे जय-संवाद से मेरा यह उत्सव दुगुना प्राणवंत हो गया है। तुम्हारी अदृश किरण के आलोक से मेरा आयोजन जगमगा उठा है। वहुतेरे झंझटों में फंसा हुआ था, सब कुछ भूल गया। दुख केवल इसी वात का है कि तुम्हारे जय-क्षेत्र में उपस्थित होकर विजय प्राप्ति के पश्चात् तुम से हाथ नहीं मिला सका।

तुम्हारी नन्हीं वांधवी मीरा को तुम्हारी विजय का शुभ संवाद सुना दिया है, पर वह समझी कुछ भी नहीं। जब समझने लायक उम्र होगी तब याद करके खुशी मनायेगी।

अब विवाह के आयोजन की ओर ध्यान दूं। इति २१ ज्येष्ठ, १३०८

तुम्हारा
श्री रवीन्द्रनाथ

ओम्

अगस्त, १९०१

वन्धु,

आज रमेश वावू का पत्र पाकर कितना उत्साहित हुआ हूं। तुम्हारे प्रति—इसलिए देश के प्रति उनके हार्दिक अनुराग ने मेरे हृदय को द्रवित कर दिया। मेरी तो वस एक ही वात है—विलायत में रह कर स्वतंत्रतापूर्वक तुम्हें अपना कार्य सम्पूर्ण करना है। केवल दो-तीन महीने के लिए एक वार स्वदेश लौट आओ—तुम्हारे साथ वैठ कर सारी वातों के सिलसिले में खुल कर विचार-विमर्श करना चाहता हूं।

स्पंदन-रेखा से सम्वन्धित तुम्हारी कॉपी पाकर काफी-कुछ धारणा परिष्कृत हो गयी। 'वंग-दर्शन' में इन्हें खुदवा कर प्रकाशित करने की इच्छा है।

तुम्हारे साथ शीघ्र मिलन की संभाव्य कल्पना करके उत्साह से भर गया हूं।

तुम्हारा रवि

ओम्

· अगस्त, १९०१

बन्धु,

तुम्हारा चित्र पाकर वहुत खुश हुआ। कैसी सुन्दर छवि अंकित हुई है ? यह तस्वीर मेरे लेखन-गृह की शोभा वढ़ायेगी। कुछ दिन पहले 'साहित्य' में प्रकाशित करने के लिए समाजपति ने तुम्हारे चित्र की पुरजोर मांग की थी। शिलाईदह ग्रुप-फोटो को छोड़ कर मेरे पास तुम्हारा कोई चित्र नहीं है। और वह चित्र उतना अच्छा भी कहां है; फिर भी मजवूरी में वही चित्र समाजपति को देना पड़ा। तुम्हारा यह चित्र मांगने पर तुम्हें भी नहीं मिलता। चोरी करने से तो अधिकांश सज्जन कतराते हैं, किन्तु उधार लेकर नहीं लौटाना, अपहरण का ही दूसरा नाम है, वे केवल यही नहीं जानते। तुम्हारे द्वारा भेजी गयी आशा की तस्वीर काफी भाव-पूर्ण है। भारतीय आशा की सप्ततंत्री वीणा का कौन-सा तार वचा हुआ है ? धर्म या कर्म, ध्यान या ज्ञान; विद्या या उद्यम ?

शान्तिनिकेतन में एक विद्यालय खोलने के लिए विशेष प्रयत्नशील हूं। वहां प्राचीन समय के गुरुकुल जैसा ही नियम-तंत्र होगा। विलासिता की कहीं गंध-मात्र भी नहीं होगी। अमीर-गरीव सब को कठिन ब्रह्मचर्य का पालन करना होगा। उपयुक्त अध्यापक लाख ढूंढ़ने पर भी नहीं मिल पाते। इस युग की विद्या और उस युग की प्रकृति—दोनों का एक जगह मिलन संभव नहीं। किसी महान कार्य से स्वार्थ और आडम्बर को वचा कर रखना किसे भी अच्छा नहीं लगता। अव तक अंग्रेजी-शिक्षा हमें यथार्थ कर्मयोगी क्यों नहीं वना सकी ? महाराष्ट्र में तिलक व परांजपे हैं, लेकिन हमारे यहां वैसे कर्मठ त्यागी क्यों नहीं हैं ? वाल्यावस्था से ही ब्रह्मचर्य न धारण करके हम लोग सच्चे अर्थ में प्रकृत हिन्दू नहीं वन सकते। असंयत प्रवृत्ति और विलासिता हमें भ्रष्ट कर रही है। दारिद्र्य को हम सहज भाव से ग्रहण नहीं कर पा रहे हैं। इसीलिए हर प्रकार का दैन्य हमें पराभूत कर रहा है। इस वीच एक वार तुम यहां आओ, तुम्हारे साथ जुड़ कर इस काम की वुनियाद रखनी होगी।

'विंश शताव्दी' पत्रिका में 'नैवेद्य' की जो समालोचना निकली है, तुम्हारे पास भेज रहा हूं। अपनी अन्य पुस्तकों को जिस दृष्टि से देखता हूं, नैवेद्य को उस तरह नहीं देखता। लोग यदि कहें कि कुछ भी समझ में नहीं आता या कहें कि कृति अच्छी नहीं है तो ये वातें मुझे तनिक भी प्रभावित नहीं करतीं। नैवेद्य जिन्हें अर्पित की है, यदि वे उसे सार्थक करें, तभी वह सार्थक होगी। उस पर केंद्रित किसी भी लोक-स्तुति या लोक-निन्दा को ग्रहण करने का मैं अधिकारी नहीं हूं।

उस दिन 'सरस्वती' नामक एक हिन्दी पत्रिका में देखा कि मेरी छोटी कहानी 'मुक्ति का उपाय' प्रकाशित हुई है। हिन्दी में पढ़ना मुझे अच्छा लगा। कहीं भी रस भंग नहीं हुआ।

एक खवर तुम्हें दे नहीं पाया। अचानक मेरी मंझली वेटी रेणुका की शादी हो गई।

एक डॉक्टर ने आकर मुझ से कहा, 'मैं शादी करूंगा।' मैंने कहा, 'करो।' जिस दिन यह बात हुई, उसके तीसरे दिन ही ब्याह हो गया। अब लड़का अपनी एलोपेथी डिग्री पर होम्योपेथी का मुकुट लगाने के लिए अमेरिका रवाना हो रहा है। वहां ज्यादा दिन रहना नहीं होगा। लड़का अच्छा है, विनयी और कुशल है।

डरो नहीं—तुम्हारी बान्धवी को तुम्हारी प्रतीक्षा करने के लिए रोक रखूंगा। जल्दबाजी में उसे हस्तांतरित नहीं करूंगा।

तुम्हारा रवि

ओम्

सितम्वर, १९०१

बन्धु,

आज मिस नोवल [भगिनी निवेदिता] के पत्र में तुम्हारा उल्लेख पढ़ कर मेरा मन आनंद से भर उठा। हम लोग इस समय वोलपुर, शांतिनिकेतन में रह रहे हैं। तुम यहां कभी नहीं आये। जगह वहुत रमणीक है। आलोक से, आकाश से, वातास से, आनंद और शांति से मानो परिपूर्ण हो। यहां के आकाश में चलने-फिरने के समय, निश्चित रूप से एक मंगल-स्पर्श का अनुभव करता हूं। यहां जीवन व्यतीत करना अत्यंत सहज व सरल है। कलकत्ते के आवर्त में फिर से लौटने की मेरी तनिक भी इच्छा नहीं होती। यहां निभृत में, निर्जन में, ध्यान व प्रेम में अपने जीवन को धीरे-धीरे विकसित करने के निमित्त तीव्र आग्रह उत्पन्न हुआ है। पहले ही लिख चुका हूं, यहां एक वोर्डिंग हाउस स्थापित करने की योजना है। पौष महीने से यह प्रारंभ होगा। फिलहाल दसेक छात्रों को भारतवर्ष के निर्मल शुचिकर आदर्श में गढ़ने के लिए प्रयत्नशील हूं।

त्रिपुरा के महाराजा ने कल एक कर्मचारी मेरे पास भेजा था। तुम्हारे सम्वन्ध में विस्तार से वात करने की इच्छा व्यक्त की है। दस-वारह दिन के पश्चात् त्रिपुरा जाकर उन से मिलूंगा। तुम्हारे प्रति उनकी आंतरिक श्रद्धा को लक्ष्य करके मेरा हृदय दुगुने रूप में उधर आकर्षित हुआ है। इस तरह की विनीत गुण-ग्राहिता उनकी श्रेणी के वीच दुर्लभ है।

अव तो तुम प्रवास में वस गये। लम्वे समय तक तुम्हारा विच्छेद वहन करना होगा। विलायत जाने का लोभ मेरे मन में फिलहाल नहीं है। किन्तु एक वार तुम से मिल कर वात-चीत करने के लिए मेरा मन अक्सर व्यग्र हो उठता है। सर्कुलर रोड पर स्थित तुम्हारी छोटी वैठक व नीचे की मंजिल में मछली के झोल की मुझे हमेशा याद आती है। इस समय यदि तुम अपने देश में होते तो तुम्हें कुछ दिन के लिए शांतिनिकेतन वुला कर निविड़ आनंद का अनुभव करता। यदि कोई ऐसा ही सुयोग घटित हुआ तो तुम्हारे इंगलैण्ड प्रवास के दौरान वहां आने का जरूर प्रयत्न करूंगा। तुम्हारी दोस्ती मुझे इस तरह प्रवल गहराई से आकर्षित करेगी, यह एक वर्ष पहले नहीं जानता था।

तुम्हारा रवि

ओम्

अगरतला, कार्तिक १३०८ अक्टूबर व नवम्बर, १९०१

वन्धु,

मैं तुम्हारे काम से त्रिपुरा आया हूं। कुछ दिनों से महाराजा का अतिथि वना हुआ हूं। तुम्हारे प्रति उनकी श्रद्धा तो जानते ही हो—सुतराम्, उनसे कुछ भी निवेदन करने में मुझे रंचमात्र भी संकोच नहीं होता। वे शीघ्र ही तुम्हें दस हजार रुपये डाक से भेजने की व्यवस्था कर देंगे। यह रुपया तुम्हें मेरे नाम से ही भेजेंगे। फिर कुछ समय वाद तुम्हें और दस हजार रुपये भेजने के लिए उन्होंने वादा किया है। लगता है, तुम वर्त्तमान संकट से उवर सकोगे। इस समय महाराजा भवन-निर्माण जैसे और भी दूसरे खर्चीले कार्यों में उलझे हुए हैं अन्यथा वे अपनी इच्छा से तुम्हें पचास हजार रुपयों की सहायता करते। उनके इस असामान्य उत्साह ने मेरे हृदय को और भी दृढ़ता-पूर्वक आकर्षित किया है। स्वाभाविक उदारता का ऐसा उज्ज्वल आदर्श मैंने अन्यत्र नहीं देखा। तुम अपने-आपको अवसाद से वचाओ। फल-प्राप्ति के लिए तुम्हें चाहे जितनी देर क्यों न लगे, हमारी श्रद्धा एवं आंतरिक प्रीति हर समय धैर्य के साथ तुम्हारी पार्श्वचर वन कर रहेगी। जल्दवाजी करने के लिए हमारी ओर से लेशमात्र भी आग्रह नहीं है, जिस-किसी तरह तुम अपना कार्य वांछित अवधि में पूरा कर सको, हम लोग वैसी ही सहायता करने के लिए प्रस्तुत हैं। हमारे प्रति अपने मन में ऐसी ही आस्था को दृढ़तर रूप में वनाये रखना। तुम्हारे पास हम लोग और कितना हक जताएं? तुमने जो किया है उसके प्रति हम चिर कृतज्ञ नहीं हो सके तो हमें धिक्कार है। तुम्हारे अपूर्व कार्यों के प्रति कभी उपयुक्त प्रतिदान नहीं कर सकेंगे। मैं जो कुछ भी प्रयास कर रहा हूं, वह है ही कितना और उसका मूल्य ही क्या है? इतना-सा देकर हम तुम पर कैसा भी अधिकार जतलाना नहीं चाहते। तुम्हें हृदय की निविड़ प्रीति के अलावा कुछ भी नहीं दे पाये, केवल इतना भर समझना कि वह प्रीति धैर्य रखना जानती है। प्रीति के अतिरिक्त फिरौती में कुछ भी नहीं चाहता। महाराजा के वारे में इतनी वात अवश्य जान लेना कि तुम्हें ऋणी वनाने के लिए उन्होंने आर्थिक सहायता नहीं की है, वल्कि तुम्हारे ऋण का परिशोध कर रहे हैं। जिन्होंने तुम्हें प्रतिभा का वरदान दिया है, वे ही तुम्हारे मन में आशा व उद्यम अनुप्रेरित करके उस प्रतिभा को सार्थक करें!

तुम्हारा रवि

ओम्

अप्रैल, १९०२

वन्धु,

तुम्हें चिट्ठी तो नहीं लिख सका, लेकिन न जाने कितने दिन तुम्हारे साथ गुजारे हैं, हृदय के अंतरंग प्रदेश में तुम्हें अनुभव किया है, उसे व्यक्त नहीं कर सकता। आज तुम्हारा जय-संवाद पाकर मेरा हृदय नये मेघ की गर्जना से पुलकित मोर के समान नाच रहा है। शरावी जिस तरह वोतल की आखिरी वूंद तक नहीं छोड़ता, उसी तरह मैं भी तुम्हारे पत्र की सारी मस्ती उंड़ेल कर उसे चखने का प्रयास कर रहा हूं। वहुत दिनों के वाद भी तुम्हें सफलता मिलती तो भी हताश नहीं होता—फिर भी नकद प्राप्ति का एक विशेष ही आनन्द है।

कल पेरिस में तुम्हारी वक्तृता थी, निश्चय ही तुम्हारी जीत हुई होगी—तुम्हारी उस वक्तृता-सभा में हम सवका मन वहां मौजूद था।

यूरोप में भारत की जय-पताका फहरा कर ही लौटना, देखो उसके पहले वापस आने की कतई चेष्टा मत करना। गैरिवाल्डी जिस तरह विजयी होकर रण-क्षेत्र से कृषि-क्षेत्र में आये, उसी तरह तुम्हें भी अभ्र-भेदी तोरण द्वार से गुजर कर भारतवर्ष की अगाध निर्जनता के वीच, उसकी दरिद्रता के वीच आश्रय लेना होगा, तव तुम्हें सव खोज लेंगे, तुम्हें किसी को खोजने की जरूरत नहीं पड़ेगी—तव तुम्हारे पास आने के लिए वे समूचे भारतवर्ष के सामने नत-मस्तक होंगे—विदेशी छात्र को बुलाने के लिए, विदेशी योजना की भित्ति पर प्रासाद खड़े नहीं किये जायेंगे—खुले मैदान में कुटिया के भीतर, मृग-छाल के आसन पर जो वैठेगा, वही तुम्हें पायेगा। भारतवर्ष के दारिद्र्य को इस प्रकार प्रवल तेजस्विता के साथ विजयी वनाने की क्षमता हम में से किसी और के हाथ न सौंप कर विधाता ने केवल तुम्हें ही वह महाशक्ति प्रदान की है। जिस दिन, स्निग्ध पवित्र प्रभात में प्रातःस्नान के पश्चात् काषाय-वसन धारण करके तुम अपने यंत्र-तंत्र सहित सघन वटवृक्ष की छांव में वैठोगे—तव भारतवर्ष के प्राचीन ऋषिगण तुम्हारा जयनाद करने की खातिर, उस दिन के पुण्य समीर एवं निर्मल सूर्य के आलोक में आविर्भूत होंगे! भारतवर्ष के समस्त प्रान्तर एवं उदार आकाश, तृषित वक्ष की तरह, व्याकुल प्रसारित वांहों की तरह उस दिन का इंतजार कर रहे हैं। अपनी क्षुद्र शक्ति के अनुसार हमने भी उस शुभ दिन के उपलक्ष्य में तपस्या शुरू कर दी है। हमारा राजा कोई भी हो, हमारा आकाश, हमारा दिगंत व्यापी मैदान कौन हम से छीनेगा? हमारा ज्ञान के निमित्त यह आकाश, हमारा ध्यान के निमित्त यह आकाश, हमारा दारिद्र्य के निमित्त यह आकाश—भला उस से हमें कौन वंचित कर सकेगा? अपने देश में जिस परम-मुक्ति की अचल प्रतिष्ठा हुई है—वह स्तव्ध है, निर्वाक है, दीन है, दिगंवर है, शाश्वत है—उसे वलवान की भुजाएं और समर्थ की स्पर्धा छू भी नहीं सकती। इसे ही चित्त में दृढ़ निश्चय के साथ शांत मन से, प्रसन्न मुख संतुष्ट होकर धारण करना होगा और इसे ही विरल-भूषण

ऐश्वर्य के साथ पूर्ण रूप से आत्म-समर्पित करना होगा। विदेशियों के कटाक्षों पर भ्रूक्षेप नहीं करूंगा—उनकी लांछना को अनसुनी कर दूंगा, उनके पास से जो बर्बर रंगीन वसन-भूषण ग्रहण कर लिया था, उसे तपोवन के द्वार पर आवर्जना की तरह बाहर फेंक कर भीतर प्रवेश करूंगा।

पत्र के साथ संलग्न है—आश्रम-वृक्ष से चयनित कालिदास का शिरीष-कुसुम।

तुम्हारा रवि

ओम्

मई, १६०२

वन्धु,

ईश्वर ने तुम्हारे ललाट पर विजय-तिलक अंकित करके तुम्हें पृथ्वी पर भेजा है--तुम क्या हम जैसे लोगों से वल या उत्साह की अपेक्षा रखते हो ? जहां भी रहो, जिस किसी स्थिति में रहो—चाहे उल्लास में, चाहे बाधा में, चाहे नैराश्य में, तुम स्वयं को नष्ट नहीं कर सकते। जो तुम्हारे भीतर रह कर, तुम्हें जताये वगैर चुपचाप, तुम्हारे जीवन को सफलता की ओर ले गये हैं, उनके कार्य को अचानक निरर्थक कौन कर सकेगा ? सीजर की नाव कभी डूवती नहीं है। निरासक्त भारतवर्ष की अविचलित स्थिरता तुम्हारे कार्यों की महत्ता के वीच तुम्हारी रक्षा करे। कोई क्षुद्र आकर्षण, कोई चंचल इच्छा तुम्हें अपने महान व्रत से भ्रष्ट न करे। भारतवर्ष के अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा तुम्हारे हाथ में है। तुम्हारे लौट आने पर ही हमारे यज्ञ की पूर्णाहुति होगी। तुम यहां तपस्वी वन कर एकांत में अपने शिष्यों को ज्ञान के अगम्य दुर्ग की गुप्त राह वताओगे, मन में यही आशा संजोये वैठा हूं। पाठ याद करवाना, पास करवाना तुम्हारा काम नहीं है—जो अग्नि तुम्हें प्राप्त हुई है, उसे साथ नहीं ले जा सकोगे—उसे भारत के हृदय में अवस्थित करके जाना होगा। विदेशी हमें ज्ञान की जितनी अग्नि सौंपते हैं, उस से कहीं ज्यादा धुआं देते हैं—उस से न केवल अंधकार ही वढ़ता है वल्कि अंधापन भी वढ़ जाता है—हमारी दृष्टि घायल होती है। तुम से ज्ञान-पंथ की याचना करता हूं—और कोई भी पथ, भारतवर्ष का पथ नहीं है—तपस्या का पथ, साधना का पथ ही हमारा चिर पथ है। हमने संसार को वहुत कुछ दिया है, किन्तु यह वात आज किसे भी याद नहीं है। हमें फिर एक वार गुरु की वेदी पर वैठना होगा—नहीं तो सर ऊंचा रखने का कोई उपाय नहीं है। भारतवर्ष के प्रान्तर में अवस्थित वटवृक्ष की छाया में पड़ी सूनी वेदी पर बैठने के लिए तुम्हें हमारी सहायता करनी होगी। सैन्य सामंत, ऐश्वर्य, संपत्ति, वाणिज्य, व्यवसाय इत्यादि कुछ भी मुझे विचलित नहीं करता। मैदान के वीच वैठ कर मैं उसी प्राचीन वेदी का स्वप्न देख रहा हूं। वह खाली पड़ी है और हम सव अवोध शिशु की नाईं उसकी मिट्टी उकेर कर खिलौने गढ़ रहे हैं, खेल रहे हैं !

तुम्हारा रवि

ओम्

सितम्बर-अक्टूबर, १६१६

वन्धु,

यहां आने पर तुम्हारी चिट्ठी मिली। जापान में मिलने से सुविधा होती, क्योंकि वहां समय की काफी इफरात थी। किन्तु यहां आते ही ऐसे गोरखधन्धे में उलझा कि कुछ भी सोचने का समय नहीं मिलता। सिर्फ खींचातानी में, झपटा-झपटी में धकेल कर लिये जा रहे हैं। इस तूफानी हवा में एक मुहूर्त भी स्थिर रह कर खड़े होने का उपाय नहीं है—घर पर चिट्ठी-पाती लिखना तक वंद करना पड़ा। अन्तत: इस मार्च महीने तक चक्रवात की तरह मुझे शहर-दर-शहर घुमायेंगे, दिखायेंगे। खैर, जैसा भी हो, कहीं भी स्थिर होकर वैठने का अवसर मिलते ही तुम्हारे लिए गाना लिखने का समय निकालूंगा। तुम्हारे विज्ञान-मंदिर में प्रथम उद्‌वोधन-सभा के समय मैं रह पाता तो वड़ी खुशी होती। यदि विधाता वापस स्वदेश ले आयें तो तुम्हारे यज्ञ-मंदिर में अपना मिलनोत्सव होगा और वही मेरी मधुरतम स्मृति में अक्षय रहेगा। इतने दिन जिस वात के लिए तुमने संकल्प लिया था, आज उसकी प्रत्यक्ष सृष्टि का शुभ दिन उपस्थित हुआ है। किन्तु, यह तो अकेले तुम्हारा ही संकल्प नहीं है, समूचे देश का संकल्प है, तुम्हारे माध्यम से यह संवर्द्धित हो रहा है। जीवन के भीतर से ही जीवन उद्‌वोधित होता है। तुम्हारे प्राणों की सामग्री को तुम हमारे देश के प्राणों की सामग्री वना कर जाओगे—इसके वाद वह चिरन्तन प्राण-प्रवाह में अपने-आप आगे वढ़ता रहेगा। कितनी वार हमने नाना मिथ्याओं के साथ उलझ कर कितनी मिथ्या सामग्री की सृष्टि की है—उस पर रुपयों की अजस्र वारिश करने पर भी उसे जीवित कहां रख पाये? केवल अभिमान के जोश में हम किसी सत्य का सृजन नहीं कर सकते। किन्तु यह तो है तुम्हारी चिर-कालिक सत्य-साधना—जिस में तुमने अपने-आप को खोया है, अपने-आप को पाया है—मन्त्रदृष्टा ऋषियों के सदृश तुम अपने मंत्र को ठेठ अंतस्तल की गहराई में प्रत्यक्ष देख पाये हो, इसलिए उसे वाहर उजागर करने का पूर्ण अधिकार ईश्वर ने तुम्हें दिया है। और उसी अधिकार के वल पर आज अकेले खड़े होकर अपने मानस-पद्‌म की विज्ञान-सरस्वती को देश के हृदय-पद्‌म पर प्रतिष्ठित कर रहे हो। तुम्हारे मंत्र के गुण से, तुम्हारी तपस्या के वल पर देवी उस आसन पर अचला के रूप में विराजमान होंगी और प्रसन्न होकर दाहिने हाथ से अपने भक्तों को नये-नये वरदान देती रहेंगी।

स्वदेश लौटने के लिए मन व्याकुल हो उठा है। यहां का कार्य संपन्न होने में कितने दिन लगेंगे, कह नहीं सकता। किन्तु इस तरह हांफते-भागते, लट्टू की तरह और अधिक घूम नहीं सकता।

तुम्हारा रवि

ओम्

६ आषाढ़, १३०९

शांतिनिकेतन/बोलपुर २० जून, १९०२

वन्धु,

आषाढ़ आ गया है—किन्तु आषाढ़ की वह चिरन्तन नव घनघटा अब तक दिखायी नहीं पड़ी। इसलिए हम आंखें फाड़ कर प्रतीक्षा कर रहे हैं। चारों ओर अवारित प्रांतर फैला है, दृष्टि के लिए कहीं कोई बाधा नहीं। बादलों के लिए ऐसी लीला-भूमि और कहीं नहीं है। यहीं तमाल वन में जयदेव ने विपुल-छंदों के द्वारा पावस-रजनी का वर्णन किया है। जयदेव की जन्म-भूमि यहां से छः कोस पर है। चण्डीदास का जन्म-स्थान भी ज्यादा दूर नहीं है। घनघोर वर्षा के समय तुम्हें यहां गिरफ्तार कर सका तो बस मजा आ जायेगा। कभी-कभार मेरे मन में बिजली-सी कौंध जाती है कि जिन कार्यों को हम अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं—जैसे भाषण देना, लिखना-पढ़ना, इधर-उधर दौड़-धूप करना, देशोद्धार के लिए चिंतित होना—ये सब वाहियात काम हैं। इस से जीवन, केवल खंडित, विच्छिन्न व असम्पूर्ण हो जाता है। प्रेम ही नित्य है, शांन्ति ही चिरंतन है। दुख इस बात का है कि मनुष्य क्षणिक क्षोभ व सामयिक अशांति से गुजर कर नित्य-परिणाम की ओर अग्रसर होता है। ऐसा करते-करते ही जीवन समाप्त हो जाता है—तब तुम्हारी और मेरी बिसात ही क्या? सम्पूर्णता, केवल मरीचिका की तरह आगे-आगे चलती है, उसके पथ का कोई अंत नहीं। न जाने कौन हमें इस तरह निरंतर घसीट रहा है? कभी-कभार विद्रोह करने की इच्छा होती है—सारे प्रपंच को तिलांजलि देकर आमने-सामने बैठें, रिक्त हृदय को पूर्ण कर लें। किन्तु पथ का आह्वान सुनने के बाद अभागा निष्क्रिय होकर बैठ नहीं सकता। फिर दौड़—दौड़; फिर दौड़; जैसे किसी चक्कर में फंस गये हों। सारा संसार ही एक चक्कर है—घूम रहा है, केवल घूम रहा है। मानो चक्कर लगाना ही इसका उद्देश्य हो। मानव लोक भी तो एक चक्कर है—बस घूमे जा रहा है। इसका परिणाम क्या होगा? इसीलिए तो भगवान बुद्ध ने व्याकुल होकर किसी भी तरह इस से बाहर निकलने का भरसक प्रयत्न किया। समस्त मनुष्य इस से बाहर न हों, तब तक एक के लिए बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं है। जन्म-जन्मान्तर से इस मानव-चक्र में चक्कर लगा कर मरना पड़ता है। तुम्हारे विज्ञान के मतानुसार आकाश में एक स्थान पर आवर्त होने के फलस्वरूप यह जगत अगण्य ग्रह-तारागणों से झिलमिला रहा है—कुछ विद्वत्-जन ऐसा नहीं मानते। इस आवर्त में अगणित चक्र हैं—नक्षत्र-चक्र, सौर-चक्र, ग्रह-चक्र, जीव-चक्र—इस चक्र के बाहर है स्थिर शांति! प्राण इसी स्थान में जाने के लिए छटपटाता है, किन्तु जगत का प्रबल आकर्षण उसे अपने अनंत चक्र की ओर बार-बार खींच लेता है। प्रेम के भीतर मानो इस चक्र में भी यत्किंचित स्थिति व परिपूर्णता का आभास होता है। दो हृदय जब आमने-सामने स्थित हों तब जगत-चक्र की घरघराहट

कुछ समय के लिए सुनायी नहीं देती—लाभ-हानि, सुख-दुख, पाप-पुण्य, जय-पराजय, उखाड़-पछाड़ को कुछ समय के लिए भुलाया जा सकता है। किन्तु तुम्हारे विज्ञान की दिग्विजयी-यात्रा के दौरान यह सब काव्य-क्रंदन-संगत नहीं है। इस समय सर्वत्र विजय-दुन्दुभि के बाजे बज रहे हैं, हृदय की बात हृदय में ही रहने दूं।

तुम जर्मनी, अमेरिका में अपनी जय-पताका फहरा दो। जल्द-बाजी मत करना। संभवतया मैं दो-एक महीने में तुम्हारी कुछ सहायता कर सकूंगा, ऐसी व्यवस्था कर ली है। इस समय तुम्हें अपने पास नहीं बुलायेंगे। पहले तुम अपना काम सम्पन्न कर आओ, फिर सुदीर्घ संध्या में दीप जला कर खूब गपशप करेंगे।

शान्तिनिकेतन में एक जापानी छात्र संस्कृत सीखने आया है। बहुत नफीस लड़का है। एकदम आत्मीय-सा बन गया है। तुम्हारी बांधवी मीरा ने उसे एक गुलदस्ता देकर अपने वश में कर लिया है। उस से दो-चार जापानी अल्फाज भी सीख रही है। यदि तुम्हारे लिए यह आशंका की बात हो तो इसका यथोचित प्रतिकार करना।

तुम्हारा रवि

तब मेरी उम्र छोटी थी; और सामने का जीवन था—प्रातःकालीन बादल जैसा, अस्पष्ट किन्तु बहुरंगी। और मन था रचना के आनंद से परिपूर्ण, आत्म-प्रकाश का स्रोत; तरह-तरह के घुमाव तथा मोड़ पर आप ही अपने-आप पर विस्मित होता हुआ आगे बढ़ रहा था; किनारे का पाट कहीं टूट रहा है, कहीं बन रहा है, धारा कहां जाकर मिलेगी, उस समाप्ति का चेहरा दूर से भी नजर नहीं आया था। स्वयं के भाग्य की सीमा-रेखा तब भी अनेक अनिर्दिष्ट आकार में थी, इसीलिए नित्य-नूतन उत्तेजना में मन अपनी शक्ति की नयी-नयी परीक्षाओं से उत्साहित रहता था। तब भी अपने पथ को पक्का करके तैयार नहीं किया; इसीलिए चलना और रास्ता तैयार करना इन दो बातों की सव्यसाचिता में जीवन था हर समय चंचल!

ऐसे समय जगदीश के साथ मेरा प्रथम मिलन हुआ। वे भी उस समय चरमोत्कर्ष पर नहीं पहुंचे थे। पूर्व के उदयाचल की छांव से ढालू चढ़ाव की राह अपनी यात्रा पर चले जा रहे थे, कीर्ति-सूर्य ने अपनी सहस्र किरणों के द्वारा उनकी सफलता को देदीप्यमान नहीं किया था। तब थीं अनेक बाधाएं, अनेक संशय। किन्तु अपने शक्ति-स्फुरण के साथ प्रथम-परिचय का जो आनंद होता है, वह मानो यौवन की प्रथम-प्रीत जैसा ही अग्नि से भरपूर होता है, विघ्न की पीड़ा से, दुख के ताप से उस आनंद को और भी निबिड़ कर डालता है। प्रबलतम सुख-दुख के देवासुर मिल कर जब अमृत की खातिर जगदीश के सामर्थ्य का मंथन कर रहे थे, तब उस समय मैं उनके खूब निकट आ गया था।

मित्रता के लिए ऐसी मंगल-वेला और कोई नहीं होती। उसके बाद जब मध्यान्ह-वेला आती है तब विपुल-संसार मनुष्य पर अधिकार जताने लगता है। तब किसके पास से क्या आशा की जा सकती है, उसकी मूल्य-तालिका पक्के अक्षरों में छप कर निकले, उसी के अनुसार फिर नीलाम शुरू होता है, भीड़ एकत्रित होती है। उस समय मनुष्य की किस्मत के अनुरूप माल्य-चंदन, पूजा-अर्चना सब ही जुट सकता है, उस समय यदि पथ-

पत्र-परिचय

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

यात्री की रिक्त-प्राय कलाई पर मित्र का कर-स्पर्श निर्जन-प्रभात में दैव-योग से आ पड़े, उस जैसा मूल्यवान और कुछ भी पाना नहीं होता।

उस समय जगदीश ने जो चिट्ठियां मुझे लिखीं, उन में हमारी मैत्री का स्वतः चिन्हित परिचय अंकित ही नहीं, विद्यमान है। साधारण व्यक्तियों के पास वैयक्तिक रूप से उनका यथोचित मूल्य नहीं भी हो सकता, किन्तु मन की ख्यात में कोई कृत्रिमता नहीं होती, जो सहज प्रवर्तन में प्रतिदिन अपने-आप को उद्‌घाटित करती है। मनुष्य के मन में उसका आदर तो है ही। जिनकी ये चिट्ठियां हैं, वे अपने जीवन के कृष्ण पक्ष को अतिक्रमित कर गये, गोपनता की अंध-रात्रि ने उन्हें प्रच्छन्न नहीं किया, वे आज भी दुनिया के सामने प्रकाशित हैं। उसी कारण उनकी चिट्ठियों में जो तुच्छ है, वह भी उनके सम्यक् जीवन की गाथा में आंशिक रूप से गौरव प्राप्त करने योग्य है।

इस में मेरे भी उत्साह की वात है। प्रथम बन्धुत्व की स्मृति यद्यपि याद रहती है, किन्तु उसकी छवि सर्वांग रूप में स्पष्ट होकर नहीं रहती। इन सब चिट्ठियों में वही मंत्र व्याप्त है, जिस से कि वह छवि आज फिर मन में जग उठी है। वह उनके धर्मतल्ला के घर से प्रारंभ होकर हमारी निर्जन पद्मावती के प्रान्तर तक फैली हुई बन्धु-लीला की छवि है। बचपन से ही मैं निःसंग रहा हूं, समाज के बाहर पारिवारिक अवरोध के कोने-कोने में मेरे दिन गुजरे हैं। मेरे जीवन मे पहली मित्रता जगदीश के साथ हुई। मेरे चिर-अभ्यस्त कोने से उन्होंने ही मुझे खींच कर बाहर निकाला था, जिस तरह शरद के शिशिर-स्निग्ध सूर्योदय की महिमा मुझे हमेशा शयनकक्ष से भगा कर बाहर लायी है, उस में सहज ही एक ऐश्वर्य देखा था। अधिकांश मनुष्यों का जितना-सा भी गोचर है, उस से ज्यादा व्यंजित नहीं होता, अर्थात् माटी का दीया दिखाई पड़ता है, उजियारा दिखाई नहीं पड़ता। अपने दोस्त में मुझे उजियारा ही नजर आया था। मुझे इस बात का गौरव है कि प्रमाणित होने के पहले ही मेरा अनुमान सही निकला। प्रत्यक्ष हिसाब की गणना के अनुरूप जो श्रद्धा होती है, उनके प्रति मेरी श्रद्धा उस जात की नहीं थी। मेरी अनुभूति थी अधिक प्रत्यक्षतर, वर्त्तमान के साक्ष्य में ही आबद्ध करके भविष्य को बौना करके नहीं देखा था। इन चिट्ठियों में उसी का इतिहास प्राप्त होगा, और यदि किसी दिन इसी के उत्तर-प्रत्युत्तर में मेरी सब चिट्ठियां उपलब्ध हो जायें तो फिर इतिहास सम्पूर्ण हो सकेगा। २२ चैत्र, १३३२।

ओम्

कलकत्ता ४ जून, १९०१

माननीयासु,

आप धन्य हैं। हम लोग भी दूर रह कर उनके बन्धुत्व से धन्य हुए हैं। अपने गर्व को मैं छिपा नहीं पा रहा हूं—मैं सब को यह जय-संवाद बताते हुए फिर रहा हूं। त्रिपुरा के महाराजा को कल टेलीग्राम कर दिया है।

उद्देश्यपूर्ति के पहले उन्हें स्वदेश न आने दें। इस देश में उनका जीवन निरर्थक हो जायेगा। हम लोग उन्हें यूरोप में रखने की व्यवस्था कर सकेंगे —यह सामान्य कार्य करने का वे हमें अवसर तो दें !

आप लोग प्रवास में रहते हुए भी हमारी अपेक्षा भारत के अंतस में और भी गहरे बसे हैं। वहां पर स्वदेश के हृदय-मंडप में सदा-सर्वदा आप लोगों की प्रतिष्ठा अक्षय हो।

आप लोगों का
श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

ओम्

शांतिनिकेतन/बोलपुर १६ अप्रैल, १६०२

माननीयासु,

ठीक नव-वर्ष के प्रथम प्रभात में आपकी चिट्ठी दूर-दिगंत समुद्र पार से इस प्रान्तर तक आनंद-संवाद का भार ढोती हुई मेरे हाथ में आकर उपस्थित हुई। कलकत्ते से उस दिन अनेक महाविद्यालयों के छात्र एवं मोहित बाबू इत्यादि कई अध्यापक यहां मौजूद थे। प्रातःकाल की उपासना सम्पन्न करके हम लोग विद्यालय गृह में आकर बैठे ही थे कि उस समय आपके पत्र ने हमारे उत्साह को सम्पूर्ण कर दिया। हमारे इस बंगाल-देश के नव-वर्ष का आनन्द-अभिवादन स्वीकार करें। अध्यापक महोदय जययुक्त होंगे इस में मुझे रंचमात्र भी संदेह नहीं है—निःशब्द भारतवर्ष उन्हें अशेष सहायता करेगा। प्रायः प्रतिक्षण मेरी इच्छा होती है कि आप लोगों को देख आऊं। पर कई कारणों से ऐसा करने में अक्षम हूं। यदि आप लोग भारतवर्ष लौटते समय जापान से घूम कर आयें तो उस समय जापान आकर मुलाकात करने की भरसक चेष्टा करूंगा। निवेदिता के कल्याण से एक जापानी के साथ मेरी मित्रता हुई है—अध्यापक महोदय को जापान में वन्दी बनाने के लिए वे अत्यंत उत्सुक हैं।

मेरे सद्य-समाचार तो आप अवश्य जानती होंगी। आजकल कुछ बच्चों को यहां एकांत में पढ़ा रहा हूं। आशा करता हूं कि ये अंकुर क्रमशः बड़े-बड़े गाछ बन कर फलवान हो उठेंगे। इति ३ वैसाख, १३०६ बंगाब्द

आप लोगों का
श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

ओम्

सोमवार अक्टूबर, १९०३

माननीयासु,

विद्यालय आज खुल गया है। मेरा कार्य आरंभ हुआ। छुट्टियों के दौरान कुछ लड़के भी थे, उन्हें थोड़ा-बहुत पढ़ा देता था—आज यहां की रिक्तता बहुत-कुछ भर उठी है। अब इस कार्य की व्यस्तता में ही मेरा विश्राम है—इस काम से ही मेरे शरीर और मन की चिकित्सा होगी। काम से दूर रह कर क्या मेरा मन शान्त होगा? मेरी अनुपस्थिति में विद्यालय के जो-जो अंश विकृत व कलाविहीन हो गये थे उनका मुझे संस्कार करना होगा। अध्यापक व छात्रों के हृदय पर छाई भस्म को हटा कर, अग्नि प्रज्वलित करनी होगी—सब-कुछ उज्ज्वल और सजीव करना होगा। यह सब काम की बातें याद करने से मेरी दुर्बलता निःशेष हो जाती है। मेरा काम अधूरा नहीं रहेगा। मैं युद्ध से विमुख नहीं होऊंगा।

अंग्रेजी शिक्षा की सुविधा के लिए सुबोध को फिर दिल्ली से खींच लाया हूं। सुबोध अंग्रेजी अच्छी पढ़ाता था। मैं उसे जबरदस्ती यहां लौटा लाया हूं। अरविन्द के लिए अब आप जरा भी चिन्ता न करें।

आप क्यों मुझे लोभ दिखा रही हैं। यदि दार्जिलिंग में आप लोग आ जाते तो मैं और कुछ भी नहीं चाहता। किन्तु बचपन में स्कूल से बहुत भागा हूं; इस उम्र में यह सब चल नहीं सकता। अभी लिखाई-पढ़ाई का बहुत-सारा काम मुल्तवी है—आपके आश्रम में आ जाता तो एक ओर अध्यापक तथा दूसरी ओर सम्पादक, अपने-अपने काम में निःशब्द लगे रहते—भूख के समय आपके पास हाजिर हो जाता—किन्तु निरामिष, यह साफ कह देता हूं। माछ तक नहीं, द्विपद व चतुष्पद की बात तो छोड़िए। कलकत्ता की अपेक्षा यहां स्वास्थ्य में कुछ सुधार हुआ है। यदि छुट्टी लेना आवश्यक व संगत समझूंगा तो अगहन से पहले हिलने का नाम तक नहीं। मेरे बजरे में क्या आप लोगों को खींच नहीं सकूंगा? मुझ निःसहाय को पद्मा नदी में विसर्जित नहीं कर सकेंगी? यदि इस तरह मेरी अवहेलना करेंगी तो अकेला इस शरीर से क्या-क्या करूंगा?

आप लोगों का
श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

ओम्

वोलपुर १६ जुलाई, १६०६

माननीयासु,

अरविन्द के लिए कुछ भी चिन्ता न करें। इस बार आते ही उसे बूआ के जिम्मे सौंप दूंगा—वे उसे माछ-भात, मांस, सैजन की फली, कुंम्हड़े का फूल, घीया-बेल की सब्जी इत्यादि खिला कर मोटा-ताजा कर देंगी।

आपको एक और काम करना होगा—मुझे श्रद्धा एवं सम्मान इत्यादि करना विल्कुल छोड़ दीजिए। उसकी खास वजह आपको वताता हूं। आज मेरी उम्र जो काफी हो चुकी है, उसे छिपाने का कोई उपाय नहीं है—इस देह-यंत्र का गठन अध्यापक महाशय से काफी सरल है। मेरे अपने ही सर के वाल मेरे विरुद्ध खड़े हो गये हैं, ऐसी स्थिति में आप लोग भी यदि मेरे प्रति श्रद्धा या सम्मान प्रदर्शित करें तो मेरा निस्तार कहां है? यदि स्नेह करें तो मेरा वचाव हो—तव वचपन की स्मरणीय वातें कभी-कभार जाग उठें। मेरी एक वहूरानी थीं, ठेठ वचपन में उनके स्नेह का भिखारी था—उन्हें खो देने के वाद मेरी उम्र वेहद तेजी से वढ़ने लगी और मैं श्रद्धा व सम्मान से परेशान हो उठा हूं। किन्तु आप से इस तरह के नृशंस-व्यवहार की प्रत्याशा नहीं थी। आपकी उम्र मुझ से कम है। किन्तु ईश्वर ने आप लोगों को स्नेह करने की स्वाभाविक शक्ति दी है—इसलिए आप लोगों को उम्र का लिहाज नहीं करना पड़ता—सव लोगों के अधिकार को सलटा कर, उन्हें अपने अंश का प्राप्य देकर, मुझ जैसे जरा-जीर्ण व्यक्ति के निमित्त थोड़ा-वहुत स्नेह मुहय्या कर देने पर उसका तनिक भी अपव्यय नहीं होगा। मुझे यदि 'आप' न कह कर 'तुम' कहने की चेष्टा में सफल हो जायें तो वहुत अच्छा रहेगा—यदि ऐसा न कर सकें तो कृपया पत्र में 'श्रद्धास्पदेषु' इत्यादि विभीषिका तो न फैलाएं। उस से तो यह वेहतर होगा कि आप मुझे 'कविवरेषु' ही लिखें। आप लोगों के इस उत्साहजनक सम्भाषण से मेरी कलम और भी परिमार्जित हो सकती है—इसे यदि दुर्घटना के योग्य न समझें तो दुविधा-संकोच न करें।

द्वितीय निवेदन की खातिर वोलपुर आने के लिए प्रस्तुत हो जायें। देरी न करें। इति ३ श्रावण, १३१३।

आप लोगों का
श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

ओम्

महाराजा राधाकिशोर माणिक्य बहादुर को लिखित

विपुल सम्मान के साथ निवेदन :

बहुत दिनों बाद महाराजा का पत्र पाकर आनन्दित हुआ।

महाराजा के साथ मैं ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहता, जिस से लोग स्वार्थ-सिद्धि के लिए मेरी निंदा करें। मेरी शक्ति चाहे कितनी ही सामान्य क्यों न हो, एवं उद्देश्य जन-हित के निमित्त होने पर भी, जो काम अपने हाथ में लिया है, उसके लिए महाराजा से आर्थिक सहायता नहीं लूंगा, यह मैंने तय कर लिया है। कष्ट और त्याग स्वीकार किये विना किसी बड़े काम का मूल्य नहीं रहता। जितनी मेरी शक्ति है, वंग-दर्शन के संचालन में उस सीमा का अतिक्रमण करने पर ही मैं गौरवान्वित हो सकूंगा। इस बार जगदीश बाबू का पत्र पढ़ कर, इस सम्बन्ध में मैंने मन-ही-मन शक्ति प्राप्त की है। जगदीश बाबू की प्रतिभा के पांडित्य एवं सहृदयता का आश्चर्यजनक मिलन देख कर इन सारे विषयों में उनका मत मेरे लिए सबसे अधिक ग्राह्य हो गया है। उन्होंने लिखा है :

'तुम पुनः सम्पादक का भार लेकर अपना वक्त बर्बाद करोगे, यह सोच कर पहले-पहल थोड़ा दुःखी हुआ था। उसके बाद वंग-दर्शन की दो प्रतियां पाकर बेहद खुश हुआ। और, समस्त रचनाओं में एक नया रूप देख कर बेहद आशान्वित हुआ हूं। इतने दिनों बाद यदि हमारी आंखों का आवरण हट जाता है और हम अपना वास्तविक मनुष्यत्व समझ सकें, इस से ज्यादा हम और कुछ भी नहीं चाहेंगे। तुम्हारी आकांक्षा पूरे भारतवर्ष में फैले। और, तुमने जो दुरूह प्रतिज्ञा की हैं, उसका पालन करने में तुम समर्थ होओ। मेरा सब से ज्यादा क्षोभ इसी बात पर है कि हम अपना वास्तविक गौरव भूल कर मिथ्या आडंबर में खोये हुए हैं। अब मैं इस देश को अच्छी तरह देख पा रहा हूं, और बहुत-कुछ समझ रहा हूं। किस देश में सभ्यता ठेठ निम्न-स्तर तक पसरी हुई है? दूसरी कोई जाति अनार्य को आर्य कर पायी है? अन्य कहीं निम्न-स्तर तक पुण्य इस तरह फैला है? फिर आजकल ज्ञान के आधार पर सभ्य-असभ्य का विचार होता है। तुम लोग मूर्ख हो, तुम केवल नकल कर सकते हो, इत्यादि बातें विदेशियों से ही नहीं, बहुत से स्वदेशियों से भी सुनी हैं। यह बात सुन कर देश के सभी लोग मंत्र-मुग्ध से बैठे हैं। तुमने स्नेह के वशीभूत मेरी बहुत मिथ्या प्रशंसा की है। यदि प्रशंसा करने के लिए कुछ है तो यही कि मैं इस मंत्रपाश से अपने को मुक्त कर पाया हूं। मैं सच कह रहा हूं कि दूसरों ने जो किया है, वह कितना ही बड़ा काम क्यों न हो, अपनी जाति के लिए यह असम्भव नहीं है। तुम्हारा आशीर्वाद रहे तो मैं उस शाश्वत मिथ्या को जिस से हमारी सारी चेष्टाएं, सारा उत्साह निर्मूल हो गया है, उस मिथ्यापाश को चिरकाल के लिए तोड़ फेंकूं!'

जगदीश बाबू की यह चिट्ठी मेरे लिए पारितोषिक है। मैंने जो बोलने की चेष्टा की है, उसे इन्होंने समझ लिया है। हिन्दू का यथार्थ गौरव क्या है, और हिन्दू के

उत्कर्ष-साधन की सही राह किस दिशा में है, वंग-दर्शन में उसी की सम्यक् आलोचना होने पर सफल होऊंगा। हिन्दुत्व क्या है, वही मैं शनैः-शनैः दिखा रहा हूं और उसके साथ इस बात की भी जानकारी दे रहा हूं कि यूरोपीय सभ्यता में जिसे जातीय महत्व कहते हैं, एकमात्र आदर्श नहीं है। हमारे विपुल सामाजिक-आदर्श उनकी तुलना में बहुत वृहत् एवं उच्च थे। इस आदर्श को यदि हम जड़ता-वश नष्ट होने देते हैं, तब यूरोप जैसा राष्ट्र भी नहीं होगा, यानी आत्म-प्रकृति से भ्रष्ट होकर, हम अकर्मण्य व कमजोर हो जायेंगे।

जगदीश बाबू के लिए कुछ करने का समय आ रहा है। उनकी विज्ञानालोचना का संकट-काल आ गया है। वे ऊपर उठ रहे थे, पराधीनता और बाहर की बाधाएं अगर उन्हें हठात् तोड़ दें, तब हमारे लिए क्षोभ एवं शर्म की कोई सीमा नहीं रहेगी। महाराजा आपको स्पष्ट कहता हूं—यदि मैं दुर्भाग्यवश दूसरों की नासमझी से आपाद-मस्तक ऋण के जाल में फंसा हुआ नहीं होता तो जगदीश बाबू के लिए मैं किसी का द्वार नहीं खटखटाता। मैं अकेला ही उनका सारा बोझ उठा लेता। इस दुरवस्था में मेरी सबसे बड़ी कमजोरी यही है कि देश के कल्याण की खातिर दूसरों को उत्तेजित करने के अलावा मुझ से और कुछ भी नहीं हो सकता। महाराजा उदार-हृदय हैं, जन-हित महाराजा के लिए सहज स्वाभाविक है, इसी गुण की वजह से मैं महाराजा की ओर अत्यधिक आकृष्ट हुआ हूं। जगदीश बाबू के लिए मैं खुद महाराजा के दरबार में उपस्थित होना चाहता हूं, इसके लिए मैं अगरतला जाने को प्रस्तुत हूं।—मैं महाराजा के खास दरबार में अकेले मिलने का प्रत्याशी हूं—मैं महाराजा के पास बेहद उपद्रव मचाऊंगा, मंत्री-वर्ग से मैं नहीं हारूंगा। महाराजा के सेवक तरह-तरह की बातें बनायेंगे, नाना षड्यंत्रों की आशंका करते हुए मुझे संकुचित करेंगे, लेकिन मैं वह शिरोधार्य कर लूंगा। महाराजा से मैं पहले ही यह सब निवेदन कर चुका हूं। महाराजा के प्रति मेरी अकृत्रिम श्रद्धा होने की वजह से ही मैं अकुण्ठित भाव से सारी बातें कह सका हूं। यदि धृष्टता हो गयी हो तो क्षमा कीजिएगा। एवं मुझे व्यक्तिगत हिसाब से माफ करके मेरे अत्यधिक आन्तरिक मंगल-उद्देश्य के प्रति कृपा-दृष्टि रखिएगा।—इति २४, श्रावण १३०८।

चिरानुरक्त
श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

पत्र : जगदीशचन्द्र बसु

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाम

दार्जिलिंग २० मई, १८९९

सुहृदरेषु,

—यहां नितांत निश्चेष्ट अवस्था में जीवन व्यतीत कर रहा हूं। जहां रह रहा हूं, वहां किसी तरह का कोई कोलाहल नहीं है; केवल पक्षियों का कलरव और सामने है अडिग हिमाचल। यदि आप यहां आ सकते तो बहुत अच्छा रहता। कुछ दिन के लिए आ सकेंगे? तल्लीन होकर आपकी ग्रन्थावलि पढ़ रहा था। आपकी पौराणिक कविताएं सर्वांग सुन्दर हैं। इन्हें कब संपूर्ण करेंगे?—महाभारत से चुन-चुन कर कई रचनाएं लिखिए न! एक बार कर्ण के संबंध में लिखने का अनुरोध किया था। भीष्म पितामह के देव-चरित्र से हम अभिभूत होते हैं, किन्तु कर्ण के गुण-दोष मिश्रित अपरिपूर्ण जीवन से हमें अतिरिक्त सहानुभूति है। घटनाचक्र से जिसका जीवन पूर्णता प्राप्त नहीं कर सका, जिसके जीवन में क्षुद्रता व महानता के बीच सदैव संग्राम प्रज्वलित होता रहा, जो कभी-कभार मनुष्य होकर भी देवता भी बना रह सकता था और जिसकी पराजय, जीत की अपेक्षा अधिक महत्वशाली रही, उसके प्रति मन सहज ही आकृष्ट हो जाता है।

आपका
श्री जगदीशचंद्र बसु

एस. एस. अरेबिया/अदन १६ जुलाई, १६००

सुहृदरेषु,

कवि की कल्पना और सत्य में कितना प्रभेद है ? आपके द्वारा समुद्र का प्रभावशाली वर्णन पढ़ कर समुद्र-यात्रा की हार्दिक प्रतीक्षा कर रहा था। जहाज पर चढ़ कर केवल एक कप चाय पी कि उसी क्षण समुद्र का रुद्र गर्जन सुनाई पड़ा—देओ, देओ, देओ !! मैंने तत्काल ही व्याज-सहित प्रतिदान कर डाला; इसे ही कहते हैं अनुकरणीय आतिथ्य ! तत्पश्चात् निरंतर पांच दिन तक यही आदेश-गर्जना अविराम सुनता रहा, जो कुछ भी था, वह सब-का-सब दे डाला, अधिक देने की शक्ति ही शेष नहीं रही। सूर्य कब उदय होता है, कब अस्त होता है, उदय होता भी है कि नहीं, कई दिन तक कुछ पता नहीं चला। झंझा, अंधड़, उल्कापात या वज्रशिखा का कब क्या उत्पात हो रहा है, कुछ भी बोध नहीं था। दूर, कहीं प्रभुत्वहीन धरती दिखलाई पड़ी, न जाने कब इस समुद्र से छुटकारा पा सकूंगा।

आपका
श्री जगदीशचंद्र वसु

वन्धु,

तुम्हारे दो पत्र पाकर अत्यधिक प्रसन्न हुआ। पिछले दो महीनों से मेरे मन में दिन-रात संघर्ष चल रहा है। यहां रहूं या अपने देश लौट आऊं! क्या तुम भी मुझे प्रलुब्ध करोगे ?

जरा सोच कर देखिए; यदि हम सब अपना-अपना बोझ छिटक कर चल दें, तब कौन उस भार को वहन करेगा ?

और भी याद करके देखिए; तीन साल पहले मैं तुम्हारे लिए एक प्रकार से अपरिचित ही था। तुम स्वतः प्रवृत्त होकर मेरे निकट आये। तत्पश्चात्, एक-एक करके अनेक आत्मीयजनों के प्रबल स्नेह-बंधन से आबद्ध हुआ। आप लोगों की उत्साह-वर्धित ध्वनि में मातृ-स्वर की भनक पड़ी। स्वयं मेरी आशा-दुराशाएं कई मर्तबा पूरी हुई हैं; किन्तु आप लोगों के स्नेह का प्रतिदान करने के लिए मैं पूर्णतया असमर्थ हूं। मैं कई बार सर्वथा श्रांत व अवसन्न हो जाता हूं, किन्तु आप सब की प्रेरणा से मैं किंचिन् भी विश्राम नहीं कर पाता। आप लोगों ने मुझे इस तरह बांध रखा है। तुम्हारी ओट में एक दीन-हीन जर्जरित वसन की प्रतिमूर्ति सर्वदा मेरी आंखों के सामने रहती है। आप सब के साथ मैं भी उसके आंचल में आश्रय लेता हूं। इन सब बातों को मैं भाषा के द्वारा क्योंकर प्रकट करूं ? तुम सब-कुछ समझ जाओगे।

साधारणतया आम-लोग जिन बंधनों में जकड़े रहते हैं, मैं उन सब से मुक्त हूं, फिर भी मैं उस आंचल का बंधन काट कर अलग नहीं हो सकता।

मैं कई बार बिना सोचे लिखता हूं। कई बार चेष्टा किये बगैर ही मन में बहुतेरे भाव उठते हैं। बाद में आश्चर्य-चकित रह जाता हूं। यह सब मेरे बावजूद है, मुझ से परे है। कौन मुझे यह सब सुना जाता है ?

मेरे हृदय की मूल अन्तरवेदना है—भारतवर्ष। यदि वहां रह कर मैं कुछ कर सका, अपने जीवन को धन्य समझूंगा। स्वदेश लौटने पर जो विघ्न-बाधाएं उपस्थित होंगी, वह सब समझ रहा हूं। यदि मेरा अभीष्ट अपूर्ण रह जाय तो उसे सहन कर लूंगा।

न जाने कितने काम अधूरे पड़े हैं, कह नहीं सकता। अब तक कुछ भी नहीं कर पाया। यंत्र तैयार करने में बहुत समय लग रहा है। इतने दिन कई लोगों से आलाप-परिचय होने पर काम शुरू करने में सुविधा हो रही है। जान पड़ता है, यदि यहां दो बरस रह गया तो बहुत-सारे काम संपन्न कर लूंगा।

यहां जो तकलीफ हुई थी, अब काफी ठीक है। किन्तु स्वदेश लौटने के पूर्व ऑपरेशन करवाना जरूरी है। कुछ बकाया पेपर लिखने के बाद डॉक्टर के हाथों अपना जीवन सुपुर्द कर दूंगा।

अब तुम्हारे बारे में दो-एक बातें लिखूंगा। तुमने जो कटिंग भेजी है, उस से मैं तनिक भी संतुष्ट नहीं हूं। तुम छोटे-से गांव में छिपे रहोगे, मैं यह हरगिज नहीं होने दूंगा। अपनी कविताओं को क्यों इस तरह की भाषा में लिखते हो कि जिन्हें अन्य भाषाओं

में उजागर करना ही असंभव है ? किन्तु तुम्हारी कहानियों को यहां अवश्य प्रकाशित करवाऊंगा। जिस से लोग काफी-कुछ हृदयंगम कर सकेंगे। सोच कर देखियेगा कि तुम सार्वभौमिक हो। यहां कई लोगों से तुम्हारी कहानियों के संबंध में काफी चर्चा हुई।

कई दिनों से तुमने अपनी रचनाएं नहीं भेजीं। जरूर भेजना। मेरी धारणा है कि तुम्हारी कविता चिरकाल के लिए स्पंदित करती रहेगी। तुम्हारी रचनाएं जिस तरह मुझे उद्वेलित करती हैं, उसी तरह असंख्य लोगों को भी उद्वेलित करें, प्रज्वलित करें।

तुम्हारा
जगदीश

सुहृद,

...तुम्हारी पुस्तक के लिए मैंने कई जुगाड़ बिठाये हैं। मैं तुम्हें यशोमंडित देखना चाहता हूं। तुम छोटे-से गांव में और नहीं रह पाओगे। तुम्हारी रचनाओं का अनुवाद करके यहां के मित्रों को अक्सर सुनाता रहता हूं; वे अपने आंसुओं को रोक नहीं पाते। पर इन्हें कैसे प्रकाशित करवाया जाय, मैं समझ नहीं पाता। प्रकाशक झांसापट्टी करते हैं। कुछ भी हो तुम्हारे हिस्से में होगा केवल यश और जो नफा-नुकसान होगा, वह मेरा है। यदि कुछ लाभ हुआ तो आधा होगा अनुवादक का और आधा होगा किसी सद्‌अनुष्ठान के निमित्त। इसके लिए तुम्हें कोई आपत्ति तो नहीं है? मैं आकाशी वादलों में कई किले बना रहा हूं।

एक वार यदि तुन्हारा नाम प्रतिष्ठित कर पाऊं तो अपने-आपको परम सौभाग्यशाली समझूंगा। छह कहानियां प्रकाशित करवाना चाहता हूं।

तुम्हारा
जगदीश

द्वारा मैसर्स हेनरी एस. किंग एण्ड कंपनी
लंदन ३ जनवरी, १९०१

बन्धु,

सीजर का जहाज डूबा नहीं था, इसलिए मेरी क्षुद्र डोंगी सुरक्षित रह जायेगी, इस पर विश्वास नहीं कर सका। इस समय मेरी भाग्य-लक्ष्मी सीजर की अपेक्षा मुझ पर अधिक प्रसन्न है क्योंकि सीजर के पेट में जब ब्रूटस ने छुरा भौंका तो वह अविलंब वहीं ढेर हो गया। मगर जब तीन डॉक्टरों ने मेरा पेट चीर कर डेढ़ घण्टे तक मनमाने ढंग से बखुशी विभिन्न अस्त्र चलाये, तब कहीं इस मृत्युलोक में वापस लौट सका, यह मेरे लिए कल्पनातीत बात थी। क्लोरोफार्म का नशा जब उतर गया, तब अपने जीवन के प्रति मेरे मन में लांछना-सी उत्पन्न हो गयी; आहार का भी परित्याग करना पड़ा। तब तुम्हारी भाभी ने मेरे लिए मछली का झोल और भात बनाना शुरू कर दिया। यहां तक कि विदेशी मछली देशी ढंग से कटी होने पर मैं दुविधा में पड़ गया। इस समय स्वदेश प्रेम जीवन की अपेक्षा अधिक प्रिय था। इस प्रकार करीब चार सप्ताह के पश्चात् अब धीरे-धीरे स्वस्थ होने लगा हूं। चार सप्ताह और विश्राम करना होगा। तब कहीं अपना नियमित काम शुरू कर सकूंगा।

मैंने एक वर्ष की छुट्टी और मांगी थी, पर आधी ही स्वीकृत हुई, इसलिए सारा काम संपन्न नहीं हो सकेगा।

...तुम्हें, शायद इस से पहले भी लिखा था कि विख्यात इलेट्रिक कम्पनी, मैसर्स मूरहेड ने मेरे सुझाव मान कर, वायरलेस टेलिग्राफी के संबंध में अपूर्व आश्चर्य-जनक सफलता प्राप्त की है। उन्होंने और भी कहा कि इतने दिन केवल नासमझी की वजह से वे अंधेरे में भटक रहे थे। कई मसलों में व्यर्थ की चेष्टा करके वे हतोत्साहित हो गये थे। किन्तु मेरी थ्योरी के अनुसार सही पथ पर चलने के फलस्वरूप उनकी बेशुमार उन्नति हुई है। मैंने एक और नया पेपर लिखा है, जिस में प्रेक्टिकल वायरलैस टेलिग्राफी को कई तरह की सुविधाएं प्राप्त हो जायेंगी। डॉक्टर मूरहेड ने नये आविष्कारों को बिल्कुल गोपनीय रखने का अनुरोध किया है, किन्तु मेरे पास समय बहुत कम है और मुझे ढेरों काम सम्पन्न करने हैं। एक बार यदि अर्थ-संग्रह करने वाली विद्या की ओर आकर्षित हो गया तो और कुछ भी नहीं कर पाऊंगा। तुम्हें शायद अच्छी तरह समझा नहीं सकता कि मैं किस नवीन राज्य में आ पहुंचा हूं। कितना आश्चर्यजनक है यह नूतन लोक, जिसे मैं धीरे-धीरे समझने लगा हूं। इस सबको भाषा में प्रकट करना मेरे लिए संभव नहीं, पर दिन प्रतिदिन इसका परिष्कृत-रूप स्पष्टतया दृष्टिगोचर हो रहा है, इस में कोई संदेह नहीं। किन्तु पूर्ण तन्मयता से बहुत समय तक सत्य की अभिज्ञता के लिए ध्यानस्थ होना पड़ेगा। यदि वह एकाग्रता किसी कारण से डिस्टर्ब हो जाय तो मेरी दृष्टि-शक्ति एकदम लुप्त हो जायेगी। और अब तक मैंने जो कुछ भी कार्य संपन्न किया है, वह सर्वथा सामान्य है, अभी तो बहुत कुछ बाकी है। किन्तु यह सब करने के लिए पर्याप्त समय व धन की आवश्यकता है।

...मैं स्वाधीन रूप से अपना थोड़ा-बहुत कार्य कर सकूं, इसके लिए पिछले पत्र में एक प्रस्ताव लिख कर मेरा मत जानना चाहा था। क्या बताऊं, तुम मेरे लिए जो भी उचित समझोगे, मैं वह करने को तैयार हूं। फिर भी इस संबंध में दो-एक बातें बताना चाहूंगा।

१. तुम क्या सोचते हो कि दो-एक व्यक्तियों को छोड़ कर कोई अपनी इच्छा से मेरी सहायता करने के लिए व्यग्र है? देखो, मैं दो-एक व्यक्तियों को ही संतुष्ट कर सकता हूं, इससे अधिक व्यक्तियों को तुष्ट करना मेरे वश की बात नहीं है।

२. एक बात और कि निम्न कर्मचारियों ने हर कदम पर मुझे बाधा पहुंचायी है, किन्तु लेफ्टिनेंट गवर्नर ने मुझे विशेष रूप से अनुग्रहीत किया है। मगर बाहर के लोग राज्यशक्ति की इस विभिन्नता को समझ नहीं पायेंगे।

३. यदि मैं अपने व्याख्यान या अपनी पुस्तक प्रकाशित करके तुम लोगों को संतुष्ट कर सका तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।

मुझे हर तीसरे साल इस देश में आकर, अपने कार्य का प्रचार करना होगा।

प्रेसीडेंसी कॉलेज के साथ एकदम अपना संबंध विच्छेद नहीं करना चाहता। क्योंकि मेरे स्थान पर किसी बंगाली की नियुक्ति नहीं होगी। और दूसरे छात्रों को भी अनुसंधान कार्य में इस से असुविधा होगी। फिर भी प्रेसीडेन्सी कॉलेज में कितने दिन रह पाऊंगा, यह संदेहास्पद है।

तुम्हारा
जगदीश

९७, अपर सर्कुलर रोड   १८ अगस्त, १९०३

वन्धु,

तुम्हारा पत्र पाकर खुश हुआ। तुम अनेक दुश्चिताओं से घिरे हो, इसका खयाल आते ही वहुत कष्ट होता है। तुम शारीरिक रूप से स्वस्थ नहीं हो, यह तुम्हारे न लिखने पर भी समझ लेता हूं।

...तुम्हारे साथ मांगलिक क्षणों में ही परिचय हुआ था, केवल तुम से ही मन खोल कर वात कह सकता हूं। आज तुम्हारे साथ काम करके ही सुख पाता हूं।...एक व्यक्तित्व को पहचानना और सम्पूर्ण रूप से अपना मान कर समझना, कितने सौभाग्य की वात है। इतने लोगों के वीच रह कर भी मैं अपने-आपको पूर्णतया एकाकी महसूस करता हूं। तुम कव आओगे, मुझे उसी की अपेक्षा है।

मैं एक विराट तथ्य के अनुसंधान में व्यस्त हूं। लेकिन तुम पास नहीं हो, इसलिए कार्य में अवसाद घिरने लगता है। और भी नाना प्रकार की वाधाएं तैयार खड़ी हैं। खैर, इन्हें अव यहीं छोड़ता हूं।

तुम मुझे [जगन्नाथ] पुरी वाली जमीन देना चाहते हो! तुम क्या सोचते हो कि मुझे किसी स्थान-विशेष के प्रति आकर्षण है? केवल एक वार ऐसा सोचा था कि दोनों मिल कर एक कुटिया वनायेंगे और कभी-कभार वहां जाकर रहेंगे। तुम्हारी जमीन तुम्हें ही मुवारक हो, तुम यदि इस प्रकार निरासक्त हो जाओ और पुरी में मेरे साथ न रह सको तो मेरे लिए वह निर्जन एकांत असह्य हो जायेगा।

तुम्हारा
जगदीश

२३ अक्टूबर, १६०५

बन्धु,

तुम्हें एक बात अच्छी तरह समझा देनी होगी। सबसे पहले हम लोगों को 'बंग-भवन' की स्थापना करनी है। एक मूर्तिमान एवं वर्धमान चीज हमें उत्साहित करने के लिए सर्वप्रधान सहायक होगी। उसके बाद इस स्थल को केन्द्र बना कर जो भी महत् कार्य संपन्न करने हैं, वे हो जायेंगे। इस स्थान पर पांच हजार लोगों के बैठने लायक सभा-भवन होगा, वहां नियमित रूप से छात्रों के लिए हर विषय के निमित्त वक्तृताएं व परिचर्चाएं आयोजित होंगी। इसके अलावा हमारे जातीय विश्वविद्यालय संबंधी व्याख्यान भी उसी तरह नियोजित होंगे। यह अत्यंत गंभीर मसला है। आजकल विश्वविद्यालयों से छात्रों को निष्कासित करने के लिए कई प्रकार की सांघातिक चेष्टाएं हो रही हैं—इसका प्रतिरोध भी नितांत जरूरी है।

और भी—जातीय भवन में तुम्हारे समाज का अधिवेशन होगा। शिल्प, वाणिज्य इत्यादि विभिन्न विभागों की शाखाएं स्थापित होंगी। सब्सक्रिप्शन से लेकर बिल इत्यादि का भुगतान करना सही नहीं होगा। इस केन्द्र से नाना विषयों पर अनुसंधान, सूचना इत्यादि की अपेक्षाएं होंगी।

इस स्थान पर बंकिम, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, राममोहन राय आदि के स्मृति-चिह्न रहेंगे।

तुम्हें इस संबंध में एक बेइन्तहा सुन्दर प्रबंध तैयार करना है। भैयादूज के स्वर्ण अवसर पर वहां इसका वाचन होगा।

कई बार हमारे विद्वत्जन ज्ञान-गर्भित उपदेश बघारेंगे और सोते हुए परामर्श देंगे। जागृत रहने का यही समय है। और तुम्हें इसकी चौकीदारी करनी है।

तुम्हारा
बन्धु

द्वारा हेनरी एस. किंग एण्ड कंपनी
९, पॉल हॉल/लंदन

१९ दिसम्बर, १९०७

मेरे बन्धु,

केवल तुम्हें ही अपने हृदय की वेदना जतला रहा हूं। तुम्हारे सुख-दुख का साथी हूं मैं। कैसे सांत्वना दूं, कुछ समझ नहीं पड़ता।

अपने कई आत्मीयजन उस पार पहुंच गये हैं। इसलिए वह देश अब दूर-दिगंत-सा बेगाना नहीं लगता।

केवल कुछ दिन और यथासाध्य कार्य समापन करना होगा। तुम्हारे विद्यालय के बारे में जितना सोचता हूं, उतना ही मन उत्फुल्ल होता है। कम-से-कम कुछ व्यक्ति तो तुम्हारी शिक्षा से अमर हो जायेंगे, इस में रंचमात्र भी संदेह नहीं। अरविन्द का पत्र पाकर महसूस कर रहा हूं कि तुम्हारा आशीर्वाद सार्थक होगा। यहां नयी किस्म का एक यंत्र देख कर, मेरी इच्छा हुई कि तुम्हारे स्कूल में एक छोटा-सा वर्क-शॉप खोला जाय। काफी छोटा यंत्र है जो पहले पहिये के पीछे रहता था, मिट्टी के तेल से चलने वाला एक हॉर्स पावर का इंजन, कीमत केवल डेढ़-सौ रुपया, आसानी से चलता है। बिजली की रोशनी वाला डायनमो भी उस से चलाया जा सकता है। इसके लिए पचास रुपये अलग से देने पड़ते हैं। मेरे शिष्य सुरेश के साथ तुम्हारी स्कूल-बाबत चर्चा होती रहती है। छोटा अमेरिकन लेथ शायद दो सौ रुपयों में मिल जाय। पांच-छः सौ रुपयों में तुम्हारा वर्कशॉप प्रारम्भ हो सकता है।

तुम्हारा
जगदीश

रॉयल इन्स्टीट्यूट ऑफ ग्रेट ब्रिटेन २९ नवम्बर, १९०१

बन्धु,

पेड़ मिट्टी से रस सोख कर संवर्द्धित होता है, उत्ताप व रोशनी पाकर पल्लवित होता है। किसके गुण से फूल प्रस्फुटित हुआ? केवल पेड़ के गुण से ही नहीं। मैं अपनी मातृभूमि के रस से जीवित हूं, स्वजाति के प्रेम से प्रस्फुटित हुआ हूं। युग-युगांतर से होमाग्नि की ज्वाल अविराम जल रही है, कोटि-कोटि हिन्दुस्तान अपनी प्राण-वायु द्वारा उस अग्नि की रक्षा कर रहे हैं, उसी की एक चिन्गारी दूर-दराज देश में छिटक पड़ी है। मैं तुम्हारे प्राण का अंश हूं, तुम्हारे सुख-दुख का भागीदार हूं, यह बात सदा-सर्वदा के लिए हृदयंगम करवा देना। इस से सहस्र बाधा उपस्थित होने पर भी मेरा उद्यम खंडित नहीं होगा, बल्कि तुम्हारे माध्यम से जय-लाभ करूंगा।

रॉयल इन्स्टीट्यूशन के लिए प्रेषित अपनी वक्तृता भेज रहा हूं। विषय बहुत ही कठिन है। यथाशक्ति सहज बनाने का प्रयास किया है। एक घण्टे की अवधि में जितना भी बोला जा सकता है, मैं बोला। किन्तु और भी कई आश्चर्यजनक विषयों पर बोला जा सकता है। उन पर बोलने के लिए एक पुस्तक लिखना जरूरी है। वही करना पड़ेगा।

तुम कब आओगे?

तुम्हारा
जगदीश

लंदन 30 मई, 1902

वन्धु,

अब तक केवल काम के सिलसिले में ही लिखता रहा हूं। एक दिन भी दिल खोल कर, पत्र लिखने का समय जुटा नहीं पाया। आज सब-कुछ भुला कर तुम्हारे घर का अतिथि बना हूं। कई बार ऐसा खयाल आता है कि दूर उछाल फेंकूं—दुख की यह दास्तान—मनुष्य में हृदय नाम की भी तो कोई चीज होती है। सांझ की मद्धिम बेला मानो तुम्हारे घर में बैठा हूं, मेरी गोदी में छोटी बांधवी बैठी है, पास ही मेरे चिर बांधव की गृहलक्ष्मी विराजमान है और तुम अपनी रचनाएं पढ़ कर सुना रहे हो। मैं तुम्हारी रचनाएं पढ़ रहा था। तुम्हारा कण्ठ-स्वर मानो प्रत्यक्ष सुन रहा हूं। तुमने कालिदास के समय की बात लिखी है, ऐसा लगता है कि मैं अपने पूर्वजन्म की कथा सुन रहा हूं। बीते दिनों की उन चिर विस्मृत बातों का स्मरण करके मन कैसा पुलकित हो रहा है? ऐसी मधुर स्मृति, ऐसा उद्वेलित सरल प्रेम, ऐसा सुख, ऐसा कल्याण क्या किसी जाति में कभी रहा है? तुम्हारी एक और बात मुझे बेइन्तहा पसंद आयी, वह है—कल्याणी के संदर्भ में—तुमने ठीक ही कहा है कि इस बात का अर्थ किसी दूसरी भाषा में नहीं है।

तुमने शहर से दूर जिस आश्रम की स्थापना की है, वहां कब आ सकूंगा, मन-ही-मन उसकी कल्पना में खोया हूं। तत्पश्चात् तुम्हारी कल्पना के उद्रेक से अतीत की सुखद स्मृतियां फिर लौट आयेंगी। यह वर्तमान तो मुझे नितांत अलीक दुःस्वप्न-सा प्रतीत होता है। कल्पना का अखंडित साम्राज्य ही हमारे लिए नैसर्गिक जीवन है।

तुम्हारा यह नया आश्रम कैसा है, कुछ भी स्पष्ट धारणा नहीं बना पा रहा हूं। मेरी स्मृति शिलाईदह तक ही उलझी हुई है। वहां पर क्या लौट कर जाओगे ही नहीं? अन्ततः एक बार मेरे साथ वहां जरूर चलना। और एक बार एक साथ तीर्थ-यात्रा करेंगे।

तुम्हारी 'चोखेर बालि' इसी बैसाख में पढ़ कर समाप्त की है। बहुत अच्छी लगी। मुझे भय था कि जिस अवस्था में तुमने कथा को ला पटका है, कैसे संभाल पाओगे? किन्तु सब-कुछ सुन्दर हो गया।

अब अपने काम के बारे में बताना चाहूंगा। स्रोत शायद अनुकूल ही प्रवाहित हो उठा है। उस दिन लिनियन सोसायटी के वार्षिक अधिवेशन में मेरे काम की जबरदस्त प्रशंसा हुई। यदि अधिक समय यहां रह सका तो सब-कुछ अनुकूल हो जायेगा, ऐसा मुझे महसूस हो रहा है। लेकिन जय-पराजय तो ज्वार-भाटा के समान ही है। जर्मनी की बोन यूनिवर्सिटी से वक्तृता देने के लिए निमंत्रण मिला है। अपने प्रतिनिधि के प्रति आप लोग जरा सहानुभूति रखियेगा।

तुम लोगों के सहयोग से उत्साहित होने के बावजूद कभी-कभार जो अवसाद मुझे घेर लेता था, उसी का उल्लेख मैंने तुम से किया था और तुमने तत्काल उत्तर दिया कि सीजर की नाव कभी नहीं डूबती। एक बार समुद्र में उतर पड़ने के बाद ही पता लगेगा कि नाव डूबती है कि नहीं। तुम क्या सोचते हो कि मैं कोई तीसमारखां बन गया हूं।

गले में पत्थर बांध कर पानी में फेंकने से भी मैं सतह पर तैरता रहूंगा। दुहाई है, ऐसी काव्य-कल्पना से मुझे दूर ही रखिए।

अगले सप्ताह फोटोग्राफिक सोसायटी में वक्तृता देने के लिए अनुबंधित हूं—दृष्टि और फोटोग्राफी के संबंध में मुझे बोलना ही पड़ेगा। आंखों पर जो छाया पड़ती है, वह कुछ समय बाद एकाकार हो जाती है, केवल उसकी प्रतिध्वनि सुप्त व जागृत स्मृति के रूप में शेष रह जाती है। किन्तु फोटो की छवि सर्वथा अपरिवर्तित रूप में अंकित हो जाती है। तब किस प्रकार वह आणविक आड़ष्टता [मॉलिकुलर अरेस्ट] साधित होती है, इस संबंध में अत्यंत आश्चर्यजनक प्रयोग में सफलता मिली है। अकस्मात् मुझे कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि तुमने मेरा आविष्कार चुरा कर पहले ही कविता के रूप में उसे प्रेषित कर दिया है। जब सूरदास अपनी आंखों को शलाका से फोड़ने लगे थे, तब उन्हें खयाल आया होगा चिर-अंधकार में निष्पलक स्मृति चिर-अंकित रहेगी!

तुम्हारा
जगदीश

लंदन

१५ अक्टूबर, १६०१

बन्धु,

तुमने लिखा कि मेरी मित्रता तुम्हें इस घनिष्ठ रूप में आकृष्ट करेगी, एक वर्ष पहले नहीं जानते थे। शायद मेरी भी यही स्थिति है। मैं क्यों आकृष्ट हुआ, बताऊं—हृदय की जो महत् आकांक्षाएं हैं, वे संभवतया मन में ही रह जातीं, यदि उन्हें तुम्हारी बातों में, तुम्हारी रचनाओं में प्रस्फुटित होते नहीं देख पाता। निराशा के दौरान कौन मन को बांधे रख सकता है ? फिर भी एक विश्वास है कि हम एक दिन प्रकाश का पता लगा कर ही रहेंगे। तुम्हारे भीतर उसी आशा को लक्ष्य करके विश्वस्त हुआ हूं। दो आभ्यंतरिक शत्रुओं से हमें बच कर रहना होगा। स्वजाति वत्सल मिथ्या अभिमानी से और स्वार्थरत स्वजाति द्रोही से। मुझे ऐसा लगता है कि इस समय विनयी, विश्वस्त, धैर्यवान स्वजाति प्रेमियों की संख्या दिन-ब-दिन बढ़ रही है। तुम इन सबको आकृष्ट करो और इन्हें एक सूत्र में पिरो डालो। तुमने जो नया आश्रम खोला है, उस से मुझे खुशी हुई। साल भर में यदि दो-चार युवक भी इस कोटि के प्रणोदित हुए तो हम कभी विनष्ट नहीं होंगे।

तुम नहीं जानते कि तुम्हारे पत्र पाकर मैं कितना आश्वस्त महसूस करता हूं। मेरे लिए कदम-कदम पर कितनी विघ्न-बाधाएं हैं, तुम आसानी से नहीं जान पाओगे। मैं कई बार बिल्कुल हताश हो जाता हूं। तुम्हें इस बाबत पहले ही बता चुका हूं कि मेरे कार्य में जितना नवीन तत्व रहेगा, उसी परिमाण में मेरे सामने अवरोध उपस्थित होंगे। जिस प्रचलित सिद्धांत की भित्ति पर समस्त इलेक्ट्रो-फिजियोलोजी प्रस्थापित है, उसके ऊपर हाथ धरना कई प्रख्यात वैज्ञानिकों के सुचारु काम में अचीता हस्तक्षेप है। और यदि मैं सत्य को झुठला कर चुप रहूं तो किसी भी दिन सत्य प्रतिष्ठापित नहीं होगा। सचमुच, मेरा कार्य इतना दुःसाध्य है कि इंगलैण्ड में दो-तीन व्यक्तियों को छोड़ कर मेरी बात सुनने वाला कोई नहीं है। और जो हैं, वे भी पुरातन मत के मानने वाले हैं। फिजिसिस्ट और फिजियोलोजिस्ट के बीच कई वर्षों से संग्राम छिड़ा हुआ है, इस कारण अब कोई भी एक दूसरे के काम में हस्तक्षेप नहीं करना चाहता।

अतएव मुझे पूर्णतया अकेले ही सारा काम करना होगा। और काम भी इतना फैला हुआ है कि उसे करने में समय लगेगा। कितना समय लगेगा, अभी उसका अनुमान लगा सकना मुश्किल है। साफ खुलासा करूं कि प्रत्येक विषय को नये सिरे से स्थापित करना होगा।

तुम्हें बता चुका हूं कि मेरी थ्योरी के समर्थन में कई आश्चर्यजनक प्रमाण प्राप्त हो रहे हैं। निविड़ अंधकार में धीरे-धीरे आलोक-पुंज देख रहा हूं। यदि तुम यहां होते तो तुम्हें भी यह दिखा कर बहुत खुश होता। थोड़े ही प्रयास से तुम समझ जाते और निश्चय ही मेरी तरह उत्साहित होते।

जिसे प्रमाण द्वारा एक मुहूर्त में प्रत्यक्ष दिखा सकता हूं, उसे लिख कर व्यक्त करना बहुत ही कठिन है। फिर भी सोच रहा हूं कि इस पर एक पुस्तक लिखूंगा, जिस में

पुष्पानुरूप से समस्त एक्सपेरिमेण्ट्स का विवरण रहेगा। इसके लिए भी काफी समय अपेक्षित है।

उस दिन प्रिंस क्रोपोटकिन ने विशेष रूप से मेरा तमाम एक्सपेरिमेण्ट देखा। उनकी टक्कर का मनस्वी यूरोप में दुर्लभ है। वे भी दुर्लभ हैं। उन्होंने सब-कुछ देख कर कहा, 'आपके एक्सपेरिमेण्ट और आर्गुमेण्ट में सूई की नोक घुसने जैसा भी कोई छिद्र नहीं है। आप अवध्य हैं, कोई आपका बाल तक बांका नहीं कर सकता। आपने आवरण नष्ट कर दिया है, फलस्वरूप आपको बेशुमार प्रतिवाद का सामना करना पड़ेगा।'

तुम्हारा
जगदीश

१९ नवंबर, १९१३

वन्धु,

इस धरती पर तुम्हें इतने दिन जयमाला से विभूषित न देख कर, मुझे वहुत दुख होता रहा है। आज वह दुख दूर हुआ। इस दैवी अनुकम्पा के लिए क्योंकर कृतज्ञता प्रकट करूं? चिरन्तन शक्तिशाली वने रहो, सदैव जय-माल्य से युक्त रहो। धर्म तुम्हारा चिर सहयोगी रहे।

तुम्हारा
जगदीश

बन्धु,

तुम्हारा पत्र और कविता पाकर मैं कितना उत्साहित हुआ हूं, कह नहीं सकता। तुम्हें क्या पता कि विदेश में रह कर, रात-दिन परिश्रम करने से मेरा मन कितना शुष्क व अवसन्न हो गया है ? सामने है—अचीन्हा राज्य और मैं एकाकी पथ खोजते-खोजते बिल्कुल श्रांत हो गया हूं—कभी-कभार थोड़ी-सी रोशनी दिखाई दे जाती है और उसकी खोज में आगे बढ़ने लगता हूं। तुम्हारे स्वर में मुझे क्षीण मातृ-स्वर सुनाई पड़ता है—उस मातृ-देवी के अतिरिक्त मेरा और क्या उपास्य हो मकता है ? उसी के वरदान से मुझे बल प्राप्त होता है। मेरा और है ही कौन ? तुम्हारे अपूर्व स्नेह से मेरी अवसन्नता दूर होती है। मेरे उत्साह से तुम उत्साहित होते हो और मैं तुम्हारे बल से बलवान बनता हूं। तुम्हारी आशा से ही मैं पूर्ण आशान्वित हूं। मैं अपने सुख-दुख के बारे में नहीं सोचूंगा; तुम्हीं बताओगे कि मुझे क्या करना है ? तुमने जो मुझे घेर रखा है ! मैं एकाकी नहीं हूं, यह मैं अब समझ पाया हूं। यदि मैं कार्यभार से, अथक परिश्रम या निराशा से अवसन्न हो जाऊं तो इसे ध्यान में रखते हुए मुझे बार-बार प्रोत्साहन भरे शब्दों से पुनर्जीवित करना।

एक काम तुम्हें और करना होगा। यदि तुमने मुझे अपने हृदय में स्थान दिया है तो तुम मेरे सुख में सुखी और मेरे दुख में दुखी, जरूर होओगे। मेरे सामने जो काम है, उसके अलावा किसी अन्य काम के बारे में सोच नहीं पाता और सोचने पर भी क्या उचित है, ठीक तरह समझ नहीं पाता। मेरे लिए क्या श्रेयस्कर है, तुम्हीं मेरी ओर से निश्चित करना। मेरे बारे में सारी बातें जान कर, जो अच्छा है, कल्याणप्रद है, उसे ही स्थिर करना।

तो अब मैं तुम्हें सारी बातें बताना चाहूंगा। इस देश के एक व्यक्ति का परिचय पाकर मैं बहुत ही खुश हुआ हूं। उनके जीवन की अत्यंत आश्चर्यजनक कहानी तुम्हें मिलने पर बताऊंगा। विज्ञान के कई क्षेत्रों में वैसा ज्ञानी शायद ही कोई हो। गत पचास वर्षों के यूरोपीय विज्ञान का युगांतकारी इतिहास और उसके प्रवर्तकों के बारे में उनकी विशेष जानकारी है। मेरे नये विषय की जानकारी से वे खूब उत्साहित हुए हैं।

इसके अतिरिक्त मैंने पूर्णतया तीन नये विषयों पर पेपर लिखे हैं। तुम्हें यह जान कर बड़ी खुशी होगी कि रॉयल सोसायटी उसे पब्लिश कर रही है।

यह सम्पूर्ण अमावनीय एवं सम्पूर्ण नूतन विषय, यदि हमारे देश में प्रतिष्ठित होता तो मैं अपना जीवन सार्थक समझता।

दो साल के एक्स्टेंशन की खातिर इंडिया ऑफिस में आवेदन प्रस्तुत करूंगा। अंडर सेक्रेटरी ने आश्वस्त किया कि इसके लिए दिक्कत नहीं होगी। पर बाद में न जाने क्या हुआ—अचानक खबर मिली—यद्यपि मेरा साइन्टिफिक वर्क इज वेरी इम्पोर्टेण्ट, यट द सेक्रेटरी आफ स्टेट रिग्रेट्स, इत्यादि। सितंबर के अंतिम सप्ताह में मुझे लौट कर जाना होगा।

इस बीच ब्रिटिश एसोसियेशन इत्यादि स्थानों से निमंत्रण मिले हैं। धीरे-धीरे मेरी धारणा मान्य होगी, ऐसा नजर आने लगा था, किन्तु इस संवाद से सब-कुछ ध्वस्त हो गया। बन्धुवर, क्या तुम मेरी इस मानसिक पीड़ा को समझ सकोगे?

क्या करूं, कुछ समझ नहीं पड़ता। फर्लो के लिए आवेदन करूंगा। यदि उनका यह अभिप्राय हो कि मैं उनके देश में न रहूं, तो छुट्टी पाना संभव नहीं होगा।

तुमने तपस्या की बात लिखी है, अब बताओ मैं क्योंकर अपना मन स्थिर रखूं?

तुम मुझे निश्चिंत करने का उत्तरदायित्व लेना चाहते हो। मेरी इच्छा-आकांक्षा तुम जानते हो कि मैं क्या करना चाहता हूं? लेकिन कब तक स्वस्थ रह सकूंगा, नहीं जानता। और यह भी कहां जानता हूं कि कितने वर्ष कार्य कर सकूंगा? यदि किसी दिन निराश होना पड़े।

अविलम्ब पत्र लिखना।

तुम्हारा
जगदीश

श्रद्धा-अर्घ

[रवीन्द्रनाथ ठाकुर की सप्ततितम जन्मवार्षिकी के
उपलक्ष्य में देशवासियों की ओर से जगदीशचंद्र वसु]

कविगुरु,

तुम्हारी ओर देख कर हमारे विस्मय की सीमा नहीं है।

तुम्हारे सप्ततितम वर्ष की समाप्ति पर प्रार्थना करते हैं कि जीवन-विधाता तुम्हें शतायु करें। आज के जयन्ती उत्सव की यह चिर स्मृति जातीय-जीवन में अक्षय हो।

वाणी के देवल ने आज गगन का स्पर्श किया है। बंगाल के कितने कवि, कितने शिल्पकार और न जाने कितने सेवकों ने इसे निर्मित करने के लिए द्रव्य-संभार वहन किया है। उनके स्वप्न, उनकी साधना और उनकी तपस्या ने आज तुम्हारे बीच पूर्ण सिद्धि प्राप्त की है। तुम्हारे पूर्व-वर्ती समस्त साहित्याचार्यों को तुम्हारे अभिनन्दन के द्वारा ही आज अभिनन्दित करते हैं।

आत्मा का निगूढ़ रस और शोभा, कल्याण और ऐश्वर्य तुम्हारे साहित्य में पूर्णतया विकसित हुआ है। समूचे विश्व को उसने आत्म-मुग्ध किया है। तुम्हारी सृष्टि के उस विचित्र व अपरूप आलोक में अपने चित्त का सुगंभीर सत्य पाकर हम कृतार्थ हुए हैं।

हाथ पसार कर हमने जगत-संसार से बहुत-कुछ पाया है, किन्तु तुम्हारे हाथों से वापस बहुत-कुछ लौटाया है।

हे सार्वभौम कवि, इस शुभदिन के मांगलिक अवसर पर तुम्हें शांत-भाव से नमस्कार करते हैं। तुम्हारे भीतर चिर सुन्दर का जो परम आलोक है, उसे बारम्बार नतशिर होकर प्रणाम करते हैं।

कलकत्ता
रविवार, कृष्ण तृतीया
११ ई. पौष, १३३८ साल

रवीन्द्र-जयन्ती उत्सव-परिषद की ओर से
जगदीचंद्र वसु
सभापति

पत्र : भगिनी निवेदिता, रमेशदत्त

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाम, जगदीशचन्द्र बसु के प्रसंग मे

बोसपाड़ा लेन
बाघ बाजार, कलकत्ता

शुक्रवार, १६ जून १८९९

प्रिय श्री टैगोर

आपने काफी पहले ही सुना होगा कि मैं इसी गर्मियों में इंगलैण्ड जाने के लिए लालायित हूं, इसलिए आपके बजरे में घूमने का आकर्षक निमंत्रण स्वीकार नहीं कर सकती, जिसके लिए मैं कई दिनों से उत्सुक थी। यह पत्र लिखने से दो दिन पहले तक मेरी इच्छा थी कि आपकी अनुमति एवं स्वामी [विवेकानंद] की रवानगी के तुरंत बाद आपके व आपकी श्रीमती के दर्शनों की खातिर आऊंगी। पत्र लिखने से पहले मैंने यह सोचा भी न था कि अकस्मात् सारा संयोग यों उलट जायेगा।

भारत से जुदा होने की बात, चाहे वह बिल्कुल थोड़े समय के लिए ही क्यों न हो, मुझे बड़ी नागवार महसूस होती है। दूर जाने के परिणामस्वरूप घटित होने वाली निराशाओं में एक बड़ी निराशा यह भी है कि मुझे उन सभी आल्हादकारी मसलों पर आपके सुखद विचार-विमर्श से वंचित रहना पड़ेगा। मेरी हार्दिक आकांक्षा थी कि जिन मित्रों के सान्निध्य का सौभाग्य मुझे भारतवर्ष ने प्रदान किया है, उस परिवार में एक और मित्र की वृद्धि होती! आप मेरे मित्र डॉक्टर बोस के अनन्य मित्र हैं और इस नाते मैं इस लोभ का संवरण नहीं कर सकती कि आप भी मेरे खास मित्र बन जायेंगे।

मैं सोचती हूं कि यहां रुकने की निस्बत जाने से ही उत्तम लक्ष्यों की प्राप्ति हो सकेगी और इसीलिए मैं अपेक्षा करती हूं कि आप मुझे उसी परिप्रेक्ष्य में समझने की कोशिश करेंगे कि वैयक्तिक रिआयत का मेरे जीवन में कोई स्थान नहीं है।

अगले मिलन तक मेरी इस अप्रत्याशित विदाई में तुम्हारी सेहत व प्रसन्नता की सारी कामनाएं सन्निहित हैं। श्रीमती टैगोर को मेरी श्रद्धा एवं लाडले बच्चों को बहुत-बहुत प्यार।

तुम्हारी शुभाकांक्षी
निवेदिता

९, एलसियम रॉ/कलकत्ता १८ अप्रैल, १९०३

प्रिय श्री टैगोर,

आपने मुझ से प्रोफेसर वोस के आविष्कारों का व्योरा और तज्जनित कठिनाइयों के बारे में लिखने को कहा है। मेरा खयाल है कि आपकी मंशा उसी व्योरे की ओर इंगित करती है जो एक पत्र में लिखना संभव है। मुझे विश्वास है कि इन गोपनीय पत्रों के जरिए जिन नामों का मैं यदा-कदा जिक्र करती हूं, उन्हें अपने तईं रखेंगे, या कहीं सार्वजनिक सभाओं में उद्धरित कर भी देंगे तो मेरा हवाला नहीं देंगे।

कलकत्ता आने के उपरांत प्रोफेसर वोस एवं उनकी श्रीमती से मेरा परिचय सबसे पहले १८९८ ई. के अंत में हुआ। मैं यह जान कर हतचेता रह गयी कि एक महान कार्यकर्त्ता से जलने वाले किस तरह उसके वैशिष्ट्य को ध्वस्त करने की खातिर उद्धत हैं; किस तरह उसे परेशान करते रहते हैं, तथा उसके दुर्गम पथ में जब-तक रुकावटें पैदा करते रहते हैं। कॉलेज के नियमित काम को भी इस कदर श्रमसाध्य बना दिया कि वे अपने अनुसंधान के लिए भी वांछित समय न निकाल सकें। हर छोटी-मोटी घटना के बहाने अधिकारीगण उन्हें उद्दीप्त पत्र लिख कर विरक्त करते रहते हैं और अकारण बात का बतंगड़ बना कर गलत ढंग से प्रदर्शित करते रहते हैं।

शायद तुम्हारी दृष्टि में ये बातें अति नगण्य हों। काश ! आप यह जानते [शायद जानते भी हों] कि इतने सूक्ष्म एवं महत्वपूर्ण कार्य को बिना शांति, स्वतंत्रता व अंतर्ज्ञान के कर पाना कितना दुश्वार है। आपको यह जान कर बड़ा विस्मय होगा कि ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में अपने मित्र ने किस निष्ठा से अपना काम जारी रखा और वांछित उपलब्धि प्राप्त की। काश ! भारत में कोई यह महसूस कर पाता कि अमेरिका, इंगलैंड, फ्रांस एवं जर्मनी में कई लोग ऐसे हैं जो डॉक्टर वोस के समान विरल प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति को अपने यहां रखने के लिए कुछ भी करने को तैयार हैं। लेकिन कितनी हैरत-अंगेज बात है कि यहां उनके अपने देश में उनकी सहायता करने वाला कोई नहीं है। मात्र अकेले ही सब तरह की विपदाओं से जूझ रहे हैं। मैं अभी-अभी यूरोप से लौटी हूं, विश्वास कीजिए वहां खनिज भेदक ईथरीय तरंगों के अनुसंधान-कर्ता डॉक्टर वोस का क्या नाम हुआ है ? तिस पर उनका यह आविष्कार यूरोप में बहुत देर बाद पहुंचा। यद्यपि इसकी घोषणा रोन्टेजन किरणों के साथ-साथ ही की गयी, फिर भी यह ज्यादा लोकप्रिय एवं प्रभावकारी सिद्ध हुई, क्योंकि रोन्टेजन किरणें हड्डी एवं धातु को भेद पाने में असमर्थ रहीं, जबकि उनकी ईथरीय तरंगें काफी सफल रहीं। मुझे याद है कि एक बार पहले भी सन १८८५ के प्रारंभ में डॉक्टर वोस ने इन अदृश्य किरणों के अस्तित्व को प्रमाणित कर दिया था। इस खोज के कोई दो वर्ष बाद इटली के एक वैज्ञानिक पत्र ने सर्वप्रथम यह खबर दी कि मार्कोनी ने एक योजना बना कर उक्त कार्य को, विस्तृत पैमाने पर कार्यान्वित करना शुरू कर दिया है।

आप से वेहतर इस बात को और कौन समझ सकता है कि मार्कोनी, टेसला व मैसनी इत्यादि आविष्कर्ता एवं शोधकर्ता संन्यासी वर्चस्व वाले डॉक्टर वोस के सामने कितने

बौने हैं, जो ज्ञान को उसकी अस्मिता के निमित्त जीवित रखने वाले अन्वेषक हैं। यहां तक कि प्रोफेसर भी अपनी प्रतिष्ठा को जोखिम में डाल रहे हैं; अपने आविष्कारों के पेटेण्ट करवा कर, उन्हें व्यावसायिक ज्ञान पर चढ़ा कर अपने महत्व को कम कर रहे हैं। मगर डॉक्टर बोस ने न केवल ईथरीय तरंगों के अस्तित्व को प्रदर्शित किया, बल्कि अपनी रचनात्मक योग्यता और अन्वेषी क्षमता का भी अपूर्व परिचय दिया है। और 'कृत्रिम-आंख' नामक उनका उपकरण तो अपनी सिद्धि व सरलता का अद्‌भुत नमूना है। इस मुतल्लिक एक बार प्रिन्स क्रोपोट्किन ने चुटकी लेते हुए बताया कि एक सप्ताह पूर्व रॉयल इन्स्टीट्यूट में प्रोफेसर थॉम्पसन ने प्रकाश-ध्रुवण से संबंधित एक उपकरण का प्रदर्शन किया, जो काफी गज लम्बा था, जबकि इस सप्ताह डॉक्टर बोस ने इसी प्रयोग को बहुत ही सरल विधि से समझाया, जिसके लिए उन्हें किसी उपकरण की जरूरत नहीं पड़ी, बल्कि उन्होंने एक किताब उठायी [जो संभवतया रेलवे की समय-सारिणी ही थी] और दिखाया कि कैसे किरणें सिर्फ एक ही तरफ गुजरती हैं, दूसरी तरफ नहीं। इस पर प्रिन्स क्रोपोट्किन ने बताया, 'मैंने अपने-आप से मन-ही-मन कहा, यह है सर्वोच्च प्रतिभा का सहज आदर्श। सचमुच डॉक्टर बोस के लिए अपने प्रयोगों का यह सहजतम रूप इसीलिए संभव हुआ कि अपने इंगलिश व जर्मन प्रतिद्वन्द्वियों के प्रयोगों की अपेक्षा वे अधिक प्रामाणिक थे।'

जहां तक मेरा खयाल है, उन्होंने सन् १८९४ में रॉयल सोसायटी के माध्यम से अपने शोध-प्रबंधों का प्रकाशन प्रारंभ कर दिया था। और तब से लेकर सन् १९०० में उनकी पेरिस यात्रा तक, इतनी कठिनाइयों के बावजूद भी वे प्रतिवर्ष दो या तीन शोध-प्रबंध निरंतर प्रकाशित करवाते रहे। [वैसे सुविधाजनक परिस्थितियों में भी दो वर्ष के दौरान एक प्रबंध का प्रकाशन काफी सराहनीय समझा जाता है] और प्रोफेसर बोस का हर प्रबंध नितांत मौलिक, सम्यक्, परिशुद्ध व सर्वांगीण होता था। वे उन आतंकित व्यक्तियों में से थे जिन्हें प्रतिक्षण यह आशंका बनी रहती थी कि यदि वे किसी भी स्तर पर असफल हो गये तो देश के किसी व्यक्ति को शिक्षा का अधिकार नहीं रहेगा। 'सब जानते हैं कि हम कितने मेधावी हैं।' सन् १९०० में जब वे मौत से जूझ रहे थे, फिर भी अपने प्रयोगों का कीर्तिमान स्थापित करने के लिए निर्बाध संघर्षरत थे, तब उन्होंने मुझ से कहा, 'लेकिन साथ ही मुझे यह भी सिद्ध करना है कि हम में सम्यकता, परिशुद्धता और दृढ़ लगन भी है।' और इसे प्रमाणित करके दिखलाया। लार्ड रेले एवं विलियम क्रूक्स ने एक बार उनसे कहा कि यद्यपि उनके प्रयोगों की उत्कृष्टता में कोई संदेह नहीं है, फिर भी १८९५-९६ में किये गये उनके प्रयोगों को सन् १९०१ तक कोई फिर से दुहराने में सफल नहीं हो सका! उनकी प्रायोगिक प्रणालियां सचमुच प्रतियोगिता के परे थीं।

सन् १८९४ से १९०० तक डॉक्टर बोस ने अदृश्य प्रकाश-ध्रुवण पर तरह-तरह के कोई बारह से अधिक शोध कार्य किये। 'डार्क-क्रॉस' के अस्तित्व संबंधी उनके प्रयोग भी कम महत्वपूर्ण नहीं थे, जो यूरोप के अग्रणी वैज्ञानिकों के लिए भी शिक्षा-प्रद व अनुकरणीय थे। सन् १९०० के लगभग उनके पृथक्-पृथक् प्रयोग सामान्यीकरण की दिशा में क्रम-बद्ध विकसित होते रहे, जो अब तक भी दुनिया के सामने सम्यक् रूप से

प्रकट नहीं हुए। समय के साथ-साथ विस्तृत दार्शनिक पृष्ठभूमि में इनके वहु आयाम उजागर होते रहेंगे।

उनका 'खिचाव और दवाव' का सिद्धांत भी उल्लेखनीय है। यदि वे कुछ समय निकाल कर इस सिद्धांत को योजनावद्ध तरीके से दुनिया के सामने उजागर कर पाये तो मेरा दावा है कि न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण की तरह यह भी युगांतकारी सिद्ध होगा। ज्ञान के संसार में भारत की यह एक वहुत वड़ी देन होगी।

इस सामान्यीकरण के आंशिक प्रयोग से ही इतने कम समय में सम्पूर्ण विश्व का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ है। इसकी सहायता से सर्वप्रथम जो खोज प्रवर्त हुई, वह है—दृष्टि का द्विनेत्री प्रत्यावर्तन।

इस सामान्यीकरण की दूसरी बड़ी देन और भी है—वेतार-संकेतों की सुसंगता में सुधार। हालांकि इस खोज की प्रवृत्ति व्यावहारिक होने के साथ-साथ वाणिज्योन्मुख भी थी। लेकिन जैसा कि 'लॉज' के सहयोगी मूरहेड ने एक वार स्वीकार किया था कि काफी समय वाद भारत के लिए अपनायी गयी इस प्रणाली के विकास का श्रेय वहुत हद तक डॉक्टर वोस के शोध-प्रवंधों में निहित सुझाव तथा संवंधित परिचर्चाओं को जाता है। उक्त सिद्धांत का विस्तृत सामाजिक प्रयोग पूर्ण वैज्ञानिक था। इसी सिद्धांत की वदौलत फोटोग्राफी, रसायन एवं आणविक भौतिकी में निहित असंगतियों की जानकारी संभव हुई। अन्य वातों के अतिरिक्त वानिस्पतिक प्रतिक्रिया की खोज एव नियमन का श्रेय भी इसी सिद्धांत को जाता है। इसी तरह, इस क्षेत्र के अंतर्गत लघु-स्तर के भावी प्रतिपादकों के मतों को भी इसने अस्वीकार कर दिया। और यही वजह थी कि प्रोफेसर वोस के कार्यों का जीवशास्त्रियों के उस खेमे ने जोरदार विरोध किया जो जीवन के अद्वितीय स्वरूप को सिद्ध करना चाहते थे। हालांकि यह विरोध पूर्णतया स्वाभाविक है, क्योंकि विरोध के द्वारा ही एक वैज्ञानिक अपनी महानता चरितार्थ करता है, उस से जो असहमत हैं, उन पर विजय प्राप्त करता है। किंतु इस मसले में स्वाभाविक एवं वांछित वैज्ञानिक विरोध के साथ-साथ प्रजाति भेदभाव तथा ईर्ष्या की वू भी थी। और मुझे इस में कोई संदेह नहीं कि यह इन्हीं 'महा-पुरुषों' के सद्प्रयासों का परिणाम है कि इंडिया-ऑफिस ने डॉक्टर वोस की प्रतिनियुक्ति वढ़ाने के प्रार्थना-पत्र को अस्वीकृत कर दिया। और वह भी उस वक्त कि जव वे बुलंदियों के क्षितिज का स्पर्श करने वाले ही थे और उनकी पुस्तक का प्रकाशन शेष था।

मुझे संदेह है कि यह वही वन्दा था जिसने नवम्बर में उनके कई परिणाम चुरा कर प्रकाशित करवा लिये, यह सोच कर कि डॉक्टर वोस भारत में हैं और वाकई उन्हें जवरदस्ती भारत भेज दिया गया था। किंतु सौभाग्यवश डॉक्टर वोस ने तव तक विज्ञान की दुनिया में इतनी ख्याति अर्जित कर ली कि उन पर आंच आना कठिन था। हालांकि उसने अपना एक छोटा-मोटा दल वना लिया था पर हम आसानी से इस प्रकार की हरकतों को अवमानित कर सकते हैं यदि यह कार्य आगे भी उपयुक्त ढंग से चलता रहे।

सजीव एवं निर्जीव पदार्थों की प्रतिक्रिया पर लिखी उनकी पुस्तक ने सभी को चमत्कृत कर दिया है। मैं आणविक-भौतिकी पर और भी श्रेष्ठ कार्य की आशा रखती हूं,

जिसे करने की क्षमता केवल इसी भारतीय वैज्ञानिक में है। उपनिषद् काल में मानवीय ज्ञान को आत्मसात करने के वाद उस महान भारतीय द्रष्टा ने यह उद्भावित किया था कि ज्ञान के स्तर पर सब-कुछ अखंडित है—एक है। उसी तरह वह भौतिक जगत के दृश्य-प्रपंच की असंख्य विविधताओं का सर्वेक्षण करने के पश्चात्—जिसे उन्नीसवीं शताब्दी ने—देखा, संग्राह्य किया, तथा पाश्चात्य-जगत के आनुभाविक यंत्र-उपासक एवं स्वर्ण-पिपासुओं के सामने प्रदर्शित किया—प्रमाणित करेगा कि अलग-अलग दिखलायी देने वाली समस्त विभिन्नताएं वास्तव में एक हैं।

लेकिन मैं यह महसूस करती हूं कि वर्तमान परिस्थितियों में किसी से भी इस तरह के कार्य की अपेक्षा नहीं की जा सकती। आवश्यक सुविधा व सहानुभूति की जगह रोज-मर्रा के जान-लेवा सितम, आजीविका की खातिर उवाऊ काम-काज से लिथड़ी सरकारी नौकरी, टुच्चे अधिकारियों की विषैली ईर्ष्या, कदम-कदम पर बाधाएं और भी न जाने क्या-क्या कठिनाइयां—क्या इतना काफी नहीं है? इसके बावजूद भी हम उस से आशा करते हैं कि वह किसी महान कार्य में अपने को समर्पित करे दे! मगर हम उसके लिए क्या कर रहे हैं? क्या उसे ऐसे सहयोगी जुटाये जा सकते हैं जो इस श्रम-साध्य कार्य के लिए उसे प्रेरित कर सकें, प्रोत्साहित कर सकें? क्या हमें एक क्षण भर के लिए भी यह बात कचोटती है कि समूचे भारतवर्ष में इस किस्म का काम करने वाला यह इकलौता ही व्यक्ति है और जिसे अब तक भी एक मामूली अंग्रेज के मुकाबले बहुत कम तनख्वाह मिलती है।

लंदन के डॉक्टर गार्नेट ने मेरे सामने वियना के विख्यात वैज्ञानिक महाविद्यालयों के वैभव की चर्चा करते हुए कहा कि कैसे, कॉलेज के अचित्य व्यय की बात सुन कर उनके हैरत में पड़ जाने पर एक सरकारी प्रतिनिधि ने बड़े गर्व से कहा कि यदि पूरी शताब्दी में एक भी उत्कृष्ट वैज्ञानिक पैदा हो जाय तो यह व्यय क्या माने रखता है? क्या हम ऐसा कह सकते हैं?

ओह भारत! भारत! क्या तुम अपने श्रेष्ठतम सपूत को ऐसी स्वतंत्रता नहीं दे सकते? आराम से बैठने की नहीं, बल्कि तुम्हारी लड़ाइयों में लड़ने की स्वतंत्रता—जहां अग्नि का भयंकर उत्ताप है, अथक परिश्रम है, भयंकर प्रतिस्पर्धा है? अगर तुम इतना भी नहीं कर सकते—अगर तुम अपने लाडले बच्चे को आशीर्वाद भी नहीं दे सकते, उसे पूर्णतया सुसज्जित नहीं कर सकते तो क्या यह वांछनीय है कि तुम्हारे विमुख होने से इस संत्रस्त और प्यारी धरती पर मंडराता विनाश मिट जायेगा, वर्वादी का हिंसक पंजा ओझल हो जायेगा?

यह सब कुछ कितना अपर्याप्त है मेरे प्रिय टैगोर! फिर भी मैंने काफी कागज काले किये हैं और मुझे अब यहीं रुक जाना चाहिए।

सदा तुम्हारी शुभाकांक्षी
निवेदिता
रामकृष्ण वेलूर मठ

५४, पार्लियामेण्ट स्ट्रीट
लंदन, एस. डब्ल्यू

१६ जुलाई, १६०१

मेरे प्रिय रवि,

मुझे यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि हमारे कतिपय देशवासी डॉक्टर वोस को सरकारी नौकरी से मुक्ति दिलाने की वात सोच रहे हैं ताकि वे राष्ट्र की प्रतिष्ठा व ख्याति के लिए निश्चिंत होकर अपना शोध-कार्य कर सकें। वहुत वढ़िया विचार है। यदि यह स्वर्ण-अवसर हाथ से निकल गया तो पीढ़ियों तक उसे वापस हथिया नहीं सकेंगे। रॉयल-इन्स्टीट्यूट और रॉयल सोसायटी के एक समारोह में डॉक्टर वोस ने जो पत्र-वाचन किया, वह वेइन्तहा सनसनीखेज था। जिन खोजों को उन्होंने उद्घाटित किया, वे सचमुच हतप्रभ कर देने वाली थीं। उन्होंने सभ्य एवं वैज्ञानिक दुनिया के हितों को जागृत कर दिया है। सचमुच, वे उन तथ्यों को उजागर करने में पूर्णतया सफल हुए हैं, जिनसे अपने देशवासियों का नाम रोशन होगा, उनका गौरव वढ़ेगा। लेकिन संभावित विघ्न-वाधाओं को ध्यान में रखते हुए, उनके कार्य की पूर्ण सफलता में कई वरस लग सकते हैं, तव तक हमें उनकी हद-वांछित मदद करनी चाहिए, ताकि वे अपना कार्य सुचारु रूप से कर सकें। भारत-सरकार न तो उनकी मदद कर सकती है और न करना चाहेगी। उलटे सरकार ने छुट्टी की अवधि तक वढ़ाना भी स्वीकार नहीं किया। जैसा कि हम सभी जानते हैं, वे अपने काम को अधूरा छोड़ कर भले ही कलकत्ता की नीरस दुर्वोधता में हमेशा के लिए अवसन्न हो जायें, सरकार इसके लिए रंचमात्र भी उद्विग्न नहीं होगी। यदि हमें अपनी मर्यादा व ख्याति के लिए लड़ना है तो यही शानदार मौका है।

मेरा खयाल है कि मेरी तरह शायद तुम भी सही-सही अनुमान कर सकते हो कि उनके लंदन-प्रवास का खर्च संभवतः क्या होगा? उन्हें एक सहायक तो रखना ही होगा, जिसके लिए कम-से-कम दो सौ पौंड सालाना देने होंगे। शायद इतनी ही राशि शोध-कार्य के निमित्त उपकरण व अन्य चीजों के लिए चाहिए। इसके अलावा, पत्नी के साथ यहां रहने, तथा जर्मनी, अमेरिका इत्यादि देश-भ्रमण के लिए छः सौ पौंड काफी होंगे।

इस तरह उन्हें साल में एक हजार पौंड यानी पंद्रह हजार रुपयों की आवश्यकता होगी। जहां तक मैं जानता हूं, सर एम. भुवनगिरि को उनके राजनैतिक कार्यों के लिए इस से तिगुनी रकम मिलती है। क्या अपना देश हमारे एक-मात्र वैज्ञानिक को ऐसी दुविधाजनक स्थिति में इतनी मदद भी नहीं दे सकेगा? यदि यह मौका चूक गये तो हम हाथ मलते रह जायेंगे।

अतीत के कड़ुवे अनुभव को ध्यान में रखते हुए, मैं इस वार वार्षिक शुल्क या चंदे पर निर्भर नहीं करूंगा। एक मित्र के नाते मैं डॉक्टर बोस को वार्षिक सहायता के भरोसे नौकरी छोड़ने की सलाह नहीं दूंगा, चाहे वह कितनी ही दयनीय क्यों न हो। हमें चाहिए कि उन्हें हमेशा के लिए स्वावलम्वी वना दें, जिससे उन्हें अपने भविष्य के प्रति किसी प्रकार की आशंका न रहे और वे अनिश्चय की घातक स्थिति से उवर कर अपना सारा समय व

अपनी समूची शक्ति अपने काम के निमित्त अर्पित कर सकें। मैं पुख्ता तौर पर नहीं जानता कि डॉक्टर बोस को आजीवन पंद्रह हजार रुपये की वार्षिक वृत्ति देने के बदले बीमा कार्यालय में कितने रुपये जमा करवाने होंगे, मेरा खयाल है कि दो लाख रुपये जमा करवाने पड़ेंगे। जब तक हम इतनी राशि एकत्रित करके किसी बीमा कार्यालय में जमा करवा कर उन्हें भविष्य के लिए पूर्णतया आश्वस्त व चिंतामुक्त नहीं कर सकते, तब तक नीरस घबराहट, आत्मग्लानि व घातक अवमानना से वे कभी मुक्त नहीं हो सकेंगे और निस्संदेह यह स्थिति उनके साथ-साथ समूचे देश के भविष्य की खातिर अहितकर है।

इस पत्र में जो सुझाव मैंने दिये हैं, वे मेरे अपने हैं। मैंने इस मुद्दे पर काफी गहराई से सोचा है, तब कहीं जाकर इस निर्णय पर पहुंचा हूं। और मैं यह भी महसूस करता हूं कि यदि इस मसले में हमने अपने-आपकी मदद नहीं की तो हम सदा-सर्वदा के लिए इस अवसर को गवां देंगे और वही हमारे लिए अपेक्षित है। क्या हम में देश-भक्ति की इतनी भी भावना नहीं है कि अपने इकलौते वैज्ञानिक को जीवन भर के लिए स्वावलम्बी बना कर विज्ञान एवं राष्ट्र के प्रति समर्पित कर सकें? मैं जानता हूं रवि, कि तुम इस सिलसिले में उतने ही उद्विग्न हो जितना कि मैं हूं। अपने देश में तुम्हारा जबरदस्त प्रभाव है इसलिए तुम से मेरी यह विनम्र प्रार्थना है कि तुम व्यक्तिगत रूप से यह राशि एकत्रित करने का प्रयत्न करो और देश की प्रतिष्ठा व गौरव के निमित्त प्रस्तावित इस पुनीत कार्य में उसका सदुपयोग करो।

तुम्हारा सदैव शुभाकांक्षी
रमेशदत्त

एक बार उन्होंने मुझे अपने गांव 'कुचूक-कोई' के लिए आमंत्रित किया, जहां उनकी थोड़ी-सी जमीन और एक दुमंजिला सफेद मकान था। बड़े उछाह से अपनी जायदाद दिखलाते समय वे गहराते आवेग में कहने लगे, 'यदि मेरे पास ढेर-सारा रुपया होता तो देहात के मरीज अध्यापकों के लिए एक नफीस सेनेटोरियम बनवाता। बड़ी-बड़ी खिड़कियों वाली एक ऐसी आलीशान इमारत, जो सुनहरी धूप से जगमगाती हो, एक-एक से बढ़ कर आला पुस्तकों से भरी-पूरी हो। मेरी मंशा समझ रहे हो ना मेरे भाई—जहां तरह-तरह के सुरीले साज, शहद के छत्ते, साग-सब्जियों की क्यारियां और फल-फूलों की सुरंगी बगिया हो। जहां समय-समय पर खेती-बाड़ी और मौसम इत्यादि पर व्याख्यान-माला की व्यवस्था हो। गुरुजन अध्यापकों के लिए सब-कुछ जानना जरूरी है, मेरे भाई, उन्हें सब-कुछ जानना चाहिए!'

वे अचानक चुप हो गये। खांसते हुए मेरी ओर तिरछी निगाह से देखते रहे। दूसरे ही क्षण उनका चेहरा पारदर्शी उजली मुस्कान से खिल उठा, जो केवल उन्हीं की अपनी मुस्कान थी; हर किसी को अपनी ओर खींचने वाली एक ऐसी विशिष्ट मुस्कान जो उनके मुंह से छलकते शब्दों में मिठास घोल देती थी।

'मेरे कुलबुलाते सपने तुम्हें बेहूदे तो नहीं लगते? पर मुझे इस तरह चहकने में बड़ा मजा आता है। काश! मेरी तरह तुम भी महसूस करते कि दूर-दराज रूसी गांवों में योग्य, मेधावी और शिक्षित अध्यापकों की कितनी दरकार है! अपने रूस में अध्यापकों के लिए सब तरह की माकूल सुविधाएं तत्काल जुटानी चाहिए, तत्काल, समझे! नहीं तो हमारे देखते-देखते शिक्षा के अभाव में, अधपकी ईंटों से बनी अटारी के समान राज्य का ढांचा भी ढह पड़ेगा, निःसंदेह ढह पड़ेगा। एक अध्यापक को चाहिए कि वह दक्ष प्रवक्ता हो, सभी कलाओं में माहिर व फर्राट! अपने काम के प्रति उसकी गहरी निष्ठा और अखूट लगाव होना चाहिए। पर कहां, हमारा अध्यापक तो माटी खोदने वाले मजूर से भी

अन्तोन चेखोव

मेक्सिम गोर्की

वदतर है, मामूली साक्षर, जो गांव में वच्चों को पढ़ाने के लिए एक निर्वासित की तरह वेमन से खुर घसीटते हुए पहुंचता है। रोजमर्रा की फाकेमस्ती से वेजार, सहमा-सहमा, कुण्ठाग्रस्त, रुजगार छिन जाने की दहशत से आतंकित! जव कि एक अध्यापक को गांव में सबसे प्रमुख व्यक्ति होना चाहिए, सर्वाधिक प्रतिष्ठित। इसलिए कि वह सव तरह के प्रश्नों का पुख्ता जवाव दे सके। हर किसान के दिल में उसके प्रति आदर व आत्मीयता का भाव हो, जिस पर कोई भी आंखें दिखाने की जुर्रत न करे, कोई भी उसे झिड़कने की हिमाकत न करे, जैसा कि हमारे यहां आये दिन उसके साथ वदसलूक करने का दस्तूर है —क्या पुलिस का मुंशी, खुशहाल वनिया, दारोगा, पादरी, पाठशाला का संरक्षक और वह कर्मचारी जो विद्यालय-निरीक्षक कहलाता है, जिसे न विद्या से कोई वास्ता है और न शिक्षा से कोई सरोकार; सभी उसे झिड़कते हैं। उसे हरदम इसी वात की चिंता लगी रहती है कि प्रशासनिक आदेशों की अनुपालना में कोई खामी न रह जाय। आखिर यह कैसी वाहियात वात है कि उस व्यक्ति को अध-मुट्ठी खैरात मिले, जिस पर देश की शिक्षा का भार है, जनता को सभ्य वनाने की सम्पूर्ण जिम्मेवारी है, समझ रहे हो ना, इस जिम्मेवारी की अहमियत! कितनी असह्य त्रासदी है कि वह जिम्मेवार व्यक्ति फटे चिथड़े पहने, जीर्ण-शीर्ण पाठशालाओं की सीली दीवारों के वीच ठंड से ठिठुरे, तंग अंधेरी कोठरियों की जहरीली अंगारक वायु में उसका दम घुटता रहे और जव-तव खांसी-जुकाम की चपेट में आकर तीस वरस का होते-न-होते वह दमा, गठिया और तपेदिक का शिकार हो जाये। ओह! कैसी शर्मनाक वात है यह, हम सवके लिए शर्मनाक! साल में नौ या दस महीने हमारे गृहस्थ अध्यापक को हठयोगी की जिंदगी वसर करने के लिए मजवूर होना पड़ता है। मुंह खोल कर वह किसी से दो वात भी नहीं कर सकता। आत्मघाती एकांत में उसकी वुद्धि ठस होती रहती है। अध्ययन व मनोरंजन के अभाव में उसका अंतस कसैला हो जाता है। और यदि वह अपनी सनक में भूल-चूक से किन्हीं दोस्तों को आमंत्रित कर लेता है तो लोग-वाग उसे राजनैतिक दृष्टि से 'संदिग्ध' समझने लगते हैं। ओह! कितना भौंडा और घिनौना शब्द है यह 'संदिग्ध'! धूर्त्त लोगों के द्वारा भोले-भाले निरीह जन को डराने की ओछी हरकत! कितना घिनौना और शर्मनाक है यह सव—शिक्षा के सर्वोच्च जिम्मेवार व्यक्ति की ऐसी जघन्य दुर्गति! विश्वास करोगे, मैं जव कभी किसी अध्यापक से मिलता हूं तो उसकी भीरुता, उसकी हीनमन्यता और उसकी दयनीय स्थिति देख कर मेरी तो हवा खिसक जाती है। मेरा मन अजाने ही इस अपराध-वोध की भावना से ग्रसित होने लगता है कि अध्यापक की इस दुर्दान्त अवस्था के लिए शायद मैं भी वहुत-कुछ कसूरवार हूं। सच, मुझे ऐसा ही महसूस होता है।'

वे कुछ देर चुप रह कर सोचने लगे, फिर हाथ झटक कर वोले, 'ऐसा वेढंगा और वेहूदा है हमारा रूस।'

उनकी आंखों में निविड़ संताप की काली छाया-सी झलक उठी, चारों ओर हलकी झुर्रियों का ताना-वाना-सा खिंच गया, जिस से उनकी नजर और भी पैनी हो गई। फिर उन्होंने इधर-उधर झांका, जैसे किसी अलभ्य वस्तु की तलाश हो। अपनी वातों पर ही कटाक्ष करते कहने लगे, 'देखा तुमने, किसी उदारपंथी अखवार का अग्र-लेख ही झाड़

दिया तुम्हें। चलो, तुम्हारे धीरज की माकूल परख हो गई, जिसके पुरस्कार में अपने हाथ से बना कर उम्दा चाय पिलाता हूं...।'

ऐसा ही था उनकी बातचीत का निश्छल सलीका—किसी भी प्रच्छन्न सच्चाई को अतिरेक उत्साह, अकृत्रिम गरिमा व सहज भाव से प्रकट करना और सहसा अपनी ही निर्मल बातों पर आत्म-मुखर होकर हंस पड़ना। और उस उज्ज्वल, शालीन, तथा विषाद-पूर्ण हंसी की झांई में एक ऐसे व्यक्ति का सूक्ष्म अविश्वास उजागर हो उठता था, जो शब्दों की मर्यादा और स्वप्नों का मूल्य पहचानता हो। हां, उनके परिहास की एक खासियत और भी थी—स्नेह-सिक्त विनम्रता के साथ मानवीय संवेदना से आप्लावित सौजन्य !

हम चुपचाप, धीरे-धीरे कदम उठाते हुए घर के भीतर आये। उजले-उजले आलोक में दमकता गर्म दिन था। सूरज की किरणों से अठखेलियां करती लहरों की खनक साफ सुनाई दे रही थी। पास की घाटी में किसी अजानी खुशी का इजहार करता एक कुत्ता किकिया रहा था। चेखोव ने मेरी बांह का सहारा लिया और धीरे-से बोले, 'कितनी दुखद और घिनौनी बात है, मगर इसकी सच्चाई से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऐसे बहुतेरे लोग हैं, जो कुत्तों से डाह करते हैं...।'

और वे अपनी उसी विशिष्ट रौ में हंस कर आगे कहने लगे, 'क्यूं, मेरी बातें तुम्हें सठिया-गई लगती हैं न, शायद बहुत तेजी से बूढ़ा हो रहा हूं।'

मैंने बहुत बार उन्हें यह कहते सुना है, 'तुम नहीं जानते, इधर एक नया अध्यापक आया है—काफी बीमार है, शादीशुदा है—उसकी कुछ मदद नहीं कर सकते ? फिलहाल तो मैंने थोड़ा-बहुत जुगाड़ कर दिया है।' कभी-कभार मुझ से आग्रह करते—सुनो गोर्की ! एक अध्यापक तुम से मिलना चाहता है। बिस्तर से उठ नहीं सकता। सख्त बीमार जो है। क्या उस से मिल नहीं सकोगे ? जरूर मिलो।' और कभी-कभार एक गहरा निःश्वास छोड़ते हुए फुसफुसाते, 'कुछ अध्यापिकाओं ने पुस्तकें मंगवायी हैं।'

अक्सर उनके घर पर 'अध्यापक' नाम के इस प्राणी से मेरी मुलाकात हो जाती—अपने बेढंगेपन के बासी अहसास से ग्रसित—मुरझाया-सा, सहमा-सहमा, कुर्सी के ऐन सिरे पर वह दुबका रहता, पसीने से तर-बतर। बड़े जतन से उपयुक्त शब्दों का प्रयोग करने की चेष्टा करता। 'भद्र लोगों' के लहजे में बोलने का असफल प्रयास करता। अथवा किसी अन्य संकोचशील व्यक्ति का मुखौटा धारण कर लेता। मुद्दे की बात यह है कि वह हर-चंद यही कोशिश करता कि वह लेखक की निगाह में घामड़ नजर न आये। इस कारण वह चेखोव के सामने ऐसे प्रश्नों का तांता लगा देता, जो अभी-अभी उसके दिमाग में उपजे हों।

अंतोन पाव्लोविच बड़े गौर से उसकी बेतुकी बातें सुनते। और व्यथा से भीगी उनकी आंखों में मुस्कान कौंध उठती, कनपटियों पर झुर्रियां सिहरने लगतीं। तब वे अपनी गहरी, संजीदा कोमल आवाज में सीधे-सादे, सहज शब्दों के माध्यम से बतियाते रहते। उन शब्दों का जिंदगी से प्रगाढ़ नाता था, जिन्हें सुनते ही भटका हुआ अध्यापक तुरंत

संभल कर सहज वन जाता। तत्पश्चात् वह चंट व चालाक वनने की विफल चेष्टा छोड़ देता। और...वह सचमुच प्रवीण व प्रभावशाली दिखने लगता...।

एक अध्यापक का हुलिया मैं कभी नहीं भूल सकता—लंबा कद, मरियल काठी, भूख से पीड़ित निस्तेज पीला चेहरा, सुग्गे-सी नुकीली नाक, ठुड्डी की ओर मुड़ी हुई। वह अंतोन पाव्लोविच के सामने वैठा, अपनी काली, पथराई आंखों से उन्हें एकटक घूरता हुआ, मुंह से भारी-भरकम शव्द पछाड़ रहा था, 'शैक्षणिक-सत्र की सीमित अवधि में अस्तित्व के प्रभावों का ऐसा मनोवैज्ञानिक पुंज वनता है, जो संभावित परिवेश के वस्तुगत अववोधन की सम्पूर्ण संभावनाओं को ध्वस्त कर देता है। और यह विश्व-जगत हमारी मानसिक धारणाओं के अतिरिक्त है ही क्या...।'

फिर वह सर के वल दार्शनिक समस्याओं में उलझ गया। शाश्वत-सत्यों का छौंक लगाने की निष्फल चेष्टा में, वर्फ की सतह पर शरावी की नाईं फिसलने लगा।

'जरा वताइये तो।' चेखोव ने शांत मृदु स्वर में पूछा, 'आपके जिले में वच्चों को सवसे ज्यादा कौन पीटता है?'

अध्यापक अपनी कुर्सी से उछल पड़ा और आवेश में हाथ झटकते वोला, 'क्या कह रहे हैं आप? नहीं नहीं, मैंने कभी किसी वच्चे पर हाथ नहीं उठाया। सरासर झूठ!' और उसने गला साफ करने के वहाने अपने आक्रोश को तनिक संयत करने का प्रयास किया।

'उत्तेजित मत होइए।' चेखोव ने स्निग्ध मुस्कान छितराते हुए उसे आश्वस्त करना चाहा, 'नहीं, मैंने आपके लिए नहीं कहा। किसी अखवार में पढ़ा था कि आपके जिले का कोई अध्यापक वच्चों की कस कर धुनाई करता है...।'

अध्यापक फिर से वैठ गया। मुंह से पसीना पोंछा। चैन की गहरी सांस खींच कर भारी आवाज में कहने लगा, 'हां, यह सही है। एक वार ऐसा हुआ था। मकारोव...हां मकारोव नाम के अध्यापक ने एक वच्चे को वुरी तरह पीटा था। पर इस में अचरज की क्या वात! अनहोनी के वावजूद मेरे खयाल से यह असंगत नहीं है। जरा सोचिये तो... वह शादीशुदा है। चार वच्चे हैं। पत्नी वीमार है। खुद तपेदिक का मरीज है और तनख्वाह सिर्फ वीस रूवल ..! तिस पर स्कूल का सीलन भरा तहखाना। सर घुसेड़ने के लिए उसकी खातिर एक तंग कोठरी। इन परिस्थितियों में तो स्वर्ग के निरीह देवदूत की भी धुनाई हो सकती है। मेरी वात पर यकीन कीजिए कि वच्चे न तो निरीह होते हैं और न देवदूत ही!'

और वही आदमी, जो अभी-अभी वड़े रुआव में चेखोव को भरकम शव्दों से स्तव्ध कर रहा था, अव अकस्मात् अपनी नुकीली नाक को सहलाता हुआ सीधे-सादे सरल शव्दों की फुहार छोड़ने लगा, जो रूसी देहात की अभिशप्त व गलीज सच्चाई को भेदने के लिए वाण से भी अधिक कठोर और पैनी थी।

घर से विदा होते समय उस अध्यापक ने वच्चे की तरह सरल मेजमान की पतली-पतली अंगुलियों वाले दुवले हाथ को अपने हाथों में थाम कर विगलित स्वर में कहा, 'आपसे मिलने से पहले मैं मन-ही-मन झिझक रहा था कि मैं किसी आला अफसर की सेवा में हाजिर हो रहा हूं। काफी दुविधा थी, भय था। तुर्की मुर्गे की तरह तन कर मैं

आपको दिखाना चाहता था कि हम भी किसी से कम नहीं हैं। और अब जाते समय ऐसा महसूस हो रहा है कि मैं एक नेकदिल घनिष्ठ मित्र से बिछुड़ रहा हूं, जो सब-कुछ समझता है। कितनी बड़ी बात है यह—सब-कुछ समझना! शुक्रिया, बहुत-बहुत शुक्रिया। वाकई मैं अपने साथ इस अनहद आनंद की नयी अनुभूति लिये जा रहा हूं कि बड़े आदमी सरल होते हैं, वे दूसरों की अपेक्षा अधिक समझते हैं और जिन तथाकथित बड़े लोगों की हीन तुच्छता के बीच हम हरदम रहते हैं, उनकी अपेक्षा ये हमारे ज्यादा करीब हैं। खुदा हाफिज! आपकी तुतली सरलता को मैं कभी नहीं भूल सकूंगा...।'

उसकी नुकीली नाक में थोड़ी सिहरन पैदा हुई। फूल की नाईं उसके होंठ थोड़े-से खिले और उन पर नैसर्गिक मुस्कान थिरक उठी और हठात् आगे कहने लगा, 'चाहे कुछ भी दंद-फंद कर लें, ये धूर्त लोग कभी सुखी नहीं रह सकते। बेड़ा गर्क हो इनका।'

जब वह जाने लगा तो अंतोन पाव्लोविच की हठीली आंखें उसका ठेठ तक पीछा करती रहीं। उसके ओझल होने पर वे धीरे-से मुस्कराये। गद्‌गद होकर कहने लगे, 'नफीस आदमी है। अब ज्यादा दिन स्कूल में टिक नहीं सकेगा...!'

'क्यों?'

'वे उसे दबोच लेंगे...निकाल बाहर करेंगे।'

कुछ देर सोचने के बाद गंभीर स्वर में बोले, 'रूस में ईमानदार आदमी भी एक हौवा है, जिसके द्वारा छोटे बच्चों को डराने की खातिर दाइयां वक्त पर अपना काम सार लेती हैं।'

मेरा ऐसा खयाल है कि अंतोन पाव्लोविच के सामने हर व्यक्ति चाहे-अनचाहे अधिक सहज, अधिक सच्चा और अधिक स्वाभाविक होने की निर्बंध प्रेरणा महसूस करता था। मैंने कई बार यह देखा कि छद्‌म लोग किस तरह उनके साहचर्य से शास्त्रीय उक्तियों, रटे-रटाये मुहावरों, बड़-बोले शब्दों और दूसरी कई हलकी-फुलकी चीजों का नकाब उतार फेंकते थे, जो रूस का पुश्तैनी जाया-जन्मा यूरोप की नकल करने के लिए अमूमन काम में लाता था, उस जंगली मानुस की तरह जो सीपियों और मछली के दांतों से अपने-आपको सजाता है। अंतोन पाव्लोविच को मछली के दांत और मुर्गे के चिकने परों से बिलकुल लगाव नहीं था। उन तमाम भड़कीली, खनखनाती और बेगानी चीजों के बहाने थोथी प्रतिष्ठा के मुगालते में जो खोखला व्यक्ति अपनी अहम्मन्यता को तुष्ट करने की विफल कारगुजारी करता है, वह चमक-दमक वाली बनावटी सभ्यता चेखोव को बड़ी अटपटी लगती थी और मैंने देखा कि जब कभी वे अपने सामने उस तरह सजे-संवरे श्रीमंत को देखते तो उनके मन में यह अदम्य इच्छा कुलबुलाने लगती कि वे तुरंत उसका यह अनावश्यक बोझिल लबादा उतार दें, जो उसकी मासूम सूरत व निर्मल आत्मा को विकृत करता है। चेखोव ने सारी उम्र आत्मा के निमित्त ही अपनी जिंदगी बसर की, मानवीय मर्यादा के अनुकूल अपनी आंतरिक मुक्ति के लिए उन्होंने कभी लोकमत की परवाह नहीं की कि भद्र लोग उन्हें किस रूप में देखना चाहते हैं और उजड्ड लोग उन से क्या प्रत्याशा रखते हैं? उन्हें भरकम विषयों पर चर्चा करना कतई पसंद नहीं था, जिन्हें

चिगलने में लगभग सारे रूसी अपनी नादानी के कारण बड़ा रस लेते हैं। भविष्य की सुनहरी पोशाक पर विवाद करते समय वे बिलकुल आत्म-विस्मृत हो जाते हैं कि फिलहाल उनके पास तन ढांपने के लिए फटा-पुराना कैसा भी वसन नहीं है। और उन्हें यह तक भी अहसास नहीं कि यह हास्यास्पद की अपेक्षा बेहद शर्म की बात है।

चेखोव स्वयं बहुत सरल-प्रकृति के थे, इस कारण वे उन तमाम चीजों के मुरीद थे जिन में सादगी, सच्चाई व नैसर्गिक सरलता की झांकी नजर आती हो। और लोगों को सहज-स्थिति में लाने के लिए उनके पास एक अपना ही खास हुनर था।

एक बार बड़े ठाट से तीन सजी-धजी महिलाएं उन से मिलने आईं। रेशमी पोशाकों की सरसराहट व इत्र की तेज महक से सारा कमरा गमक उठा। बड़े गुमान से वे मेजमान के सामने बैठ गईं और राजनीति में गहरे रुझान का मिथ्या प्रदर्शन करते हुए प्रश्न पूछने लगीं, 'अंतोन पाव्लोविच, आपके विचार से युद्ध का अंत क्या होगा ?'

उन्होंने खखार कर गला साफ किया, कुछ देर सोचने के बाद मृदु गंभीर विनम्र स्वर में बोले, 'निःसदेह शांति में...।'

'अच्छा ! पर जीत किसकी होगी ? यूनानियों की या तुर्कों की ?'

'मेरे खयाल से जो शक्तिशाली होगा, वही जीतेगा।'

'अच्छा ! मगर आपकी नजर में कौन अधिक शक्तिशाली है ?' तीनों महिलाओं ने एक साथ पूछा।

'जो पौष्टिक भोजन करता है और उच्च शिक्षित है...।'

'वाह ! कैसी मजेदार बात है !' एक महिला खुशी में चहकी।

'और आपको कौन ज्यादा पसंद है—यूनानी या तुर्क ?' दूसरी महिला ने जिज्ञासा की।

उन्होंने स्नेह-भरी दृष्टि से उसकी ओर देखा और हलकी मार्मिक मुस्कराहट के साथ बोले, 'मुझे सेब का मुरब्बा बहुत पसंद है। शायद आपको भी...।'

'क्यों नहीं ! बहुत अच्छा लगता है।' महिला ने सहर्ष अनुमोदन किया।

'सच्ची ! बड़ी जायकेदार चीज है।' दूसरी महिला ने अविलंब दाद दी।

तत्पश्चात् तीनों महिलाओं ने बड़े जोश-खरोश के साथ सेब के मुरब्बे पर चर्चा की। सचमुच उन्हें इस बाबत बड़ी अच्छी जानकारी थी। सभी प्रकार के मुरब्बों की कोई भी विशेषता उनसे छिपी हुई नहीं थी। साफ दिखाई दे रहा था कि अब वे बहुत प्रसन्न हैं। दिमाग का सारा वजन छूमन्तर हो गया। ग्रीक व तुर्कों के युद्ध की गंभीरता का दिखावा करने की अब कोई जरूरत शेष नहीं रही, जिसके बारे में उन्होंने आज दिन तक कुछ भी नहीं सोचा था।

जाते समय उन्होंने चेखोव से बखुशी वादा किया, 'हम आपके लिए सेब के मुरब्बे का एक डिब्बा भेजेंगी।'

जब वे चली गईं तो मैंने कहा, 'आप इन से खूब निबटे !'

वे मंद-मंद मुस्कराते हुए बोले, 'हर पंछी को अपनी वाणी में चहकना चाहिए।'

एक मर्तबा उनकी बैठक में एक सरकारी प्रवक्ता से मुलाकात हुई। वह चेखोव के

सामने बिलकुल करीब खड़ा होकर कह रहा था, 'अंतोन पाव्लोविच अपनी 'पाजी' कहानी में आपने मेरे सामने एक अत्यंत जटिल समस्या खड़ी कर दी। यदि मैं महसूस करता हूं कि देनिस ग्रिगोर्येव की दुष्टता उसकी सचेतन क्रिया का परिणाम है तो मुझे निस्संदेह उसे जेल के सींकचों में बंद कर देना चाहिए, समाज के व्यापक हित में यह अनिवार्य है। मगर वह तो जंगली मानुस है, उसे अपने अपराध की कोई चेतना ही नहीं है। मुझे उसकी नासमझी पर तरस आता है। यदि मैं उसकी अनभिज्ञता स्वीकार करता हूं और उसके प्रति मेरा मन सहानुभूति से आर्द्र हो जाता है तो मैं समाज को कैसे विश्वास दिलाऊं कि वह फिर से पटरियों के पेच नहीं उखाड़ेगा और उसकी घातक नासमझी रेल-दुर्घटना का कारण नहीं बनेगी। यही है मेरी दुविधा ! करूं तो क्या करूं ?'

वह चुप हो गया, कुर्सी के पीछे धड़ सटा कर उसने चेखोव के चेहरे पर उत्सुक जिज्ञासा-भरी नजर गड़ा दी। उसकी वर्दी एकदम नयी अटंग थी। न्याय के इस रक्षक की चिकनी-चुपड़ी सूरत में जड़ी निर्वैयक्तिक आंखों के समान सामने के बटनों में भी एक विश्वस्त भावहीन जड़ता की चमक व्याप्त थी !

'यदि मैं न्यायाधीश होता', अंतोन पाव्लोविच गंभीरतापूर्वक कहने लगे, 'तो देनिस को रिहा कर देता।'

'किस आधार पर ?'

'मैं उसे समझाता कि देनिस तुम्हें अभी अपराध करने का शऊर नहीं है; जाओ, पहले इसका हुनर सीख कर आओ।'

सरकारी प्रवक्ता से हंसे बगैर न रहा गया, पर दूसरे ही क्षण निर्विकार गंभीरता के साथ कहने लगा, 'जी नहीं, आदरणीय अंतोन पाव्लोविच, आपने जो समस्या प्रस्तुत की है, उसका समाधान समाज के हितों को ध्यान में रख कर ही किया जा सकता है, जिसकी जान व जायदाद के संरक्षण की संपूर्ण जिम्मेवारी मुझ पर है। देनिस भले ही गंवार हो, पर वह अपराधी है, इस सच्चाई को नजर-अंदाज नहीं किया जा सकता !'

'आपको ग्रामोफोन पसंद है ?' सहसा चेखोव ने यह अप्रत्याशित प्रश्न कर डाला।

'ओह, क्यों नहीं ! खूब पसंद है ! गजब का आविष्कार है !' उसने निःसंकोच हामी भरी।

'पर मुझे तनिक भी पसंद नहीं।' चेखोव ने रूखे स्वर में कहा।

'क्यों ?'

'इसलिए कि यह भावना के बिना ही बोलता और गाता है। इसके द्वारा निकलने वाली कोई भी आवाज नितांत निष्प्राण और निर्विकार होती है। खैर छोड़ो, तुम्हें फोटोग्राफी का भी शौक होगा ?'

तुरंत पता चल गया कि प्रवक्ता को फोटोग्राफी का अच्छा-खासा शौक है। वह निःसंकोच बड़े उत्साह से अधिकारपूर्ण स्वर में अपने शौक का इजहार करने लगा, जिसकी रौ में वह ग्रामोफोन का प्रसंग एकदम ही बिसर गया। इस 'गजब के आविष्कार' के साथ परोक्ष रूप से उसकी काफी समानता थी, जिसे चेखोव की सूक्ष्म व अनुभवी नजर तुरंत ताड़ गई। मैंने फिर एक बार स्पष्ट महसूस किया कि कृत्रिम नकाब के हटते ही उस

नयी वर्दी में छिपी एक सजीव सलौनी सूरत नमूदार हुई जो जिंदगी के वैविध्य का सामना करने के लिए नये शिकारी पिल्ले की तरह नितांत नौसिखिया है।

नौजवान प्रवक्ता को विदा करने के उपरांत उन्होंने भारी मन से कहा, 'न्याय व इंसाफ की ओट में...ये गिनती के फोड़े असंख्य लोगों के भाग्य का फैसला करते हैं।'

फिर कुछ क्षण मौन रह कर बोले, 'सरकारी प्रवक्ता को मछली पकड़ने का बड़ा शौक होता है और खासतौर पर कांटेदार पर्च मछली...!'

हर क्षेत्र में प्रच्छन्न तुच्छता को उजागर करने की चेखोव में विलक्षण प्रतिभा थी। यह गुण केवल उन्हीं विरल लोगों की विरासत है जो मानवीय जीवन से ऊंची अपेक्षाएं रखते हैं। जो व्यक्ति चतुर्दिक परिवेश को सरल, सुंदर और सामंजस्यपूर्ण देखने का महत् आकांक्षी है, केवल उसी के अंतस में ऐसी प्रतिभा प्रस्फुटित होती है। अंतोन पाव्लोविच चेखोव का अंतस ऐसी ही अपूर्व प्रतिभा से सराबोर था। किसी भी रूप में तुच्छता का प्रदर्शन उनकी सख्त व निर्मोही नजर में क्षम्य नहीं था।

एक बार किसी ने उनकी उपस्थिति में बताया कि दूसरों के लिए प्रेम, करुणा व सहानुभूति की लंबी-चौड़ी बातें बघारने वाले एक लोकप्रिय अखबार के सम्पादक ने अकारण ही रेलवे के एक गार्ड की तौहीन की और वह अपने मातहतों के साथ बहुत बदतमीजी से पेश आता है।

'क्यों नहीं?' उन्होंने कसैली मुस्कराहट के साथ कहा, 'आखिर वह कुलीन व्यक्ति है, काफी पढ़ा-लिखा है...गिरजाघर के विद्यालय में शिक्षा पाई है। यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो और कौन करेगा? उसका बाप तो फटे-पुराने जूतों से ही अपना काम चला लेता है और वह बेशकीमती चमाचम बूट पहनता है।'

जिस व्यंग्यात्मक लहजे में चेखोव ने कुलीनता का बखिया उधेड़ा, जिस से वह खानदानी व्यक्तित्व सबकी नजर में तुच्छ व हास्यास्पद सांचे में ढल गया।

फिर उन्होंने एक दूसरे पत्रकार के संदर्भ में बताया, 'बड़ा प्रतिभाशाली व्यक्ति है। दबंग और दिलेर। उसके लेखों में उदात्त विचार तथा मानवीय आदर्शों की भरमार रहती है, किन्तु अपनी पत्नी को सरेआम बेवकूफ कहता है। उसके चाकर बदबूदार अंधेरी कोठरियों में रहते हैं, जिसकी वजह से गठिया की भयंकर बीमारी उनके शरीर का आश्रय छोड़ना ही नहीं चाहती...।'

एक विशिष्ट व्यक्ति का जिक्र करते हुए किसी ने जानना चाहा कि उसके बारे में चेखोव की क्या राय है?'

'अच्छी राय है। बड़ा शालीन बंदा है। विद्वान है। खूब पढ़ता है। मुझ से तीन किताबें मांग कर ले गया और अब तक लौटाने की याद नहीं आई। शायद कुछ खोया-खोया रहता है। भुलक्कड़ भी है। आज आपसे कहेगा कि आप शानदार व्यक्ति हैं और कल किसी को निःसंकोच बतायेगा कि आप अपनी प्रेमिका के पति की रेशमी जुराबें चुरा कर ले गये; अरे! वही नीली-नीली धारियों वाली सांवली जुराबें...।'

एक दिन उनके सामने किसी धाकड़ पत्रिका की कोई शिकायत कर रहा था कि उसके

गभीर लेख कितने रूखे और जटिल होते हैं।

'तो आप उन्हें मत पढ़िए।' चेखोव ने तत्काल ही पुख्ता सलाह दी, 'यह तो एक सहकारी-साहित्य है, साझेदारी का मसला। अमुक, प्रमुख और द्रमुक मंडली इसका निर्माण करती है। एक लेख निकालता है, दूसरा उसका प्रतिवाद करता है और तीसरा दोनों की भ्रांति का निबटारा करता है। यह तो अंधे व्यक्ति के साथ ताश खेलने जैसी बात हुई। मगर पाठक को इस सबकी जरूरत क्या है, इस बाबत किसी के दिल में कोई शंका नहीं मचलती!'

एक संपुष्ट कद-काठी की सुंदर, स्वस्थ एवं सलौनी महिला बढ़िया पोशाक पहने उनके पास आई और 'चेखोवी-मिजाज' में बातें करने लगी, 'ओह! जीवन कितना नीरस व बेसुरा है, अंतोन पाव्लोविच। सब-कुछ धूमिल है—लोग, आकाश, समंदर...माफ करिए मुझे तो फूल तक धूमिल नजर आते हैं। न कोई इच्छा है और न कोई आकांक्षा, आत्मा में सर्वत्र अंधकार-ही-अंधकार फैला है। मानो कोई असाध्य रोग हो।'

'हां, सचमुच, यह एक रोग है!' चेखोव ने दृढ़ विश्वास के साथ कहा, 'भयंकर रोग। जिसे लैटिन में 'मोर्बस शेमिटिज' [कपटता की बीमारी] कहते हैं।'

सौभाग्यवश वह महिला लैटिन नहीं जानती थी, या संभवतया उसने न जानने का बहाना करना ही उचित समझा।

आलोचकों के बारे में चेखोव की राय ठीक नहीं थी। जब भी मौका मिलता वे निःसंकोच कहते, 'आलोचक घुड़मक्खियों के समान होते हैं, जो घोड़े को हरदम हैरान करती रहती हैं।' चेखोव प्रखर मुस्कराहट के साथ कहते, 'घोड़ा मजे से अपने काम में मशगूल है। सितार के तारों की तरह उसकी रग-रग तनी है, तभी कहीं से उड़ती हुई घुड़-मक्खी उसके पुट्ठे पर आ टपकती है। गुनगुनाती है। गुदगुदाती है। घोड़े की तनी चमड़ी कांपती है। ढीली पड़ जाती है। घोड़ा पूंछ हिलाता है। कोई नहीं समझता कि मक्खी क्या भिनभिनाती है? शायद मक्खी स्वयं भी नहीं जानती। बस, उसका स्वभाव ही ऐसा है या फिर यह दिखाना चाहती हो कि दुनिया में उसका भी कोई अस्तित्व है। वह भिनभिना कर अपने होने की घोषणा करना चाहती है। देखो, मैं किसी पर भी भिनभिना सकती हूं—हाथी, शेर और अजगर पर भी। दुनिया में कोई ऐसा प्राणी नहीं जिस पर सवारी गांठ कर मैं भिनभिना नहीं सकती। मैं पच्चीस बरस से अपनी कथाओं की आलोचनाएं पढ़ रहा हूं। याद नहीं पड़ता किसी ने भी कोई काम की बात बताई हो या भूल-चूक से कोई भी उचित सुझाव दिया हो। सिर्फ एक समीक्षक की बात पढ़ कर मैं जरूर प्रभावित हुआ था, उसका नाम है—स्काबिचेव्स्की। उसने पते की बात लिखी कि मैं नशे में धुत्त होकर किसी नाली में मरा मिलूंगा...।'

विषाद भरी उनकी सुरमई आंखों में अधिकांशतया सूक्ष्म व्यंग्य की स्निग्ध झलक घुली रहती थी, किन्तु कई बार इन आंखों का पानी ठण्डा, सख्त और मार्मिक हो जाता, और उन अविस्मरणीय क्षणों के दौरान उनका संवेदनशील आत्मीय स्वर भी तीखा और कठोर हो जाता, तब मुझे साफ दिखलाई पड़ता कि यह कोमल विनम्र व्यक्ति समय पर कैसी भी दुर्दान्त शक्ति का दृढ़ता से मुकाबला कर सकता है और किसी भी कीमत पर कोई

समझौता नहीं करेगा।

कभी-कभार मुझे लगता उनकी अकलुषित दृष्टि में लोगों के प्रति उदासीनता का भाव अतिक्रमण कर गया है जो ठण्डी उपेक्षा और हताशा का ही दूसरा रूप है।

'यह रूसी आदमी भी एक लाजवाब हस्ती है।' एक बार उन्होंने विश्लेषण करते हुए समझाया, 'ठीक चलनी की तरह उस में भी कुछ नहीं टिकता। जवानी की दहलीज में घुसने तक वह बड़े उत्साह से, जो भी चीज हाथ लगती है उसे ताबड़तोड़ इकट्ठी करने में मुस्तैद रहता है और जब वह तीसवें बरस को लांघने लगता है तब उसके पास बदरंग बेकार व निरर्थक घूरे के अलावा कुछ भी शेष नहीं रहता। यदि कोई अच्छी जिन्दगी जीना चाहता है, मानवीय मर्यादा के अनुकूल नेक जिन्दगी तो उसे डट कर काम करना चाहिए। और काम भी ऐसा जो प्रेम और विश्वास के बूते पर टिका हो। पर हमारे देश में इस तरह के काम से क्या सरोकार? एक वास्तुविद् ढंग के दो-तीन अच्छे मकान बना ले तो वह बाकी जिन्दगी ताश खेलने में गंवा देता है या कभी तफरी करने की इच्छा हुई तो रंगमंच के ग्रीन-रूम में घुसपैठ करने की कोशिश करता है। किसी डॉक्टर की प्रेक्टिस चल निकले तो वह ज्ञान-विज्ञान की ओर से मुंह मोड़ लेता है, 'चिकित्सा-समाचार' के अतिरिक्त कुछ भी पढ़ने की चाह नहीं रखता और चालीस का होते-न-होते उसकी पुख्ता धारणा बन जाती है कि तमाम बीमारियों की उत्पत्ति सर्दी लगने से होती है। आज दिन तक ऐसे अधिकारी से मेरा साबका नहीं पड़ा जो रंचमात्र भी अपने काम की अहमियत समझता हो। वे राजधानी से चिपके हुए छोटे-बड़े शहरों में, कस्बों में राजकीय आदेशों के पुलिंदे भेजते रहते हैं और उन आदेशों से किस शहर या देहात में किसकी आजादी पर कितनी रोक लगेगी, उसकी उन्हें उतनी ही चिन्ता रहती है जितनी एक नास्तिक को नरक की यातनाओं के बारे में। किसी एक मुकदमे की पैरवी में सफलता हासिल करने के बाद वकील को सच्चाई की पैरवी करने का कोई खयाल नहीं रहता। वह तो बस संपत्ति के संरक्षण के अलावा दूसरा कोई काम नहीं जानता। हां, अलबत्ता घोड़ों पर बाजी लगाता है, ओयस्टर खाता है और स्वयं को सभी प्रकार की कलाओं का मर्मज्ञ साबित करने के लिए सर्वत्र अपना ढोल पीटता रहता है। अभिनेता नाम का प्राणी दो-तीन भूमिकाओं में शोहरत हासिल करने के बाद, नयी भूमिकाओं से सर्वथा उदासीन हो जाता है और अजीबोगरीब टोप पहन कर अपनी प्रतिभा पर स्वयं इतराता रहता है, तिस पर मुगालता ऐसा कि नैसर्गिक प्रतिभा का कोई एकमात्र धनी है तो केवल वही। सारा रूस ही लालची और निकम्मे लोगों का देश है। खाने और पीने के अलावा दिन में सोने का उन्हें पूरा शौक है और नींद में लगातार खर्राटे भरते हैं। परिवार के सन्तुलन के लिए शादी करते हैं और सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए पासवान रखते हैं। और इनकी मानसिकता बहुत-कुछ कुत्तों से मिलती है—पीटने पर दबी-दबी आवाज में किकियाते हैं और अपने-अपने दड़बों में दुबक जाते हैं; पुचकारने का मौका मिलते ही वे पीठ के बल लेट कर पंजे ऊपर उठा लेते हैं और गद्गद होकर पूंछ हिलाते रहते हैं।'

इन शब्दों में उदासीन विषाद की हताशा प्रकट होती है। लेकिन इस उपेक्षित दृष्टि

के साथ-साथ प्रत्यक्ष लोगों पर उनकी सहानुभूति भी कम नहीं थी। जब उनके सामने कोई किसी की प्रताड़ना या निंदा करता तो वे तुरंत उसकी हिमायत करते, 'अरे! छोड़ो भी, बस, काफी है। बूढ़ा जो हो गया है, सत्तर बरस का...।' या फिर किसी युवक का पक्ष लेते हुए कहते, 'वह तो अभी जवान ही है,जिन्दगी का गहरा अनुभव कहां. अनाड़ीपन मिटने में समय लगेगा...।'

और उस मानवीय संवेदना के दौरान मुझे उनके चेहरे पर खिन्न या उपेक्षा की हलकी झांई तक नजर नहीं आती।

जवानी के दौरान हर मनुष्य को चारों तरफ फैली तुच्छता अकिंचन, महत्त्वहीन तथा हास्यास्पद लगती है, मगर धीरे-धीरे तुच्छता की वह आत्मघाती धुंध आदमी को चारों ओर से घेर लेती है और उसकी चेतना के अनजाने ही उसके अंतस में, उसके मस्तिष्क, मानस और रक्त में विषाक्त दमघोंटू धूएं की तरह पसरती रहती है और आदमी पुरानी होटलों के जंग खाये बोर्ड की मानिंद हो जाता है —हालांकि बोर्ड पर कुछ अंकित अवश्य है, पर क्या?—अच्छी तरह उघाड़ा नहीं जा सकता।

अंतोन चेखोव ने शुरुआत ही इसी तरह की रचनाओं से की, जिन में मानवीय दुनिया की तुच्छता या उसका ओछापन पूरी ताकत के साथ उजागर होता है। मनहूस परिहास के द्वारा उसका पर्दाफाश करने में उन्हें अद्वितीय सफलता मिली है। उनकी अपूर्व हास्य-कथाओं को तनिक ध्यान से पढ़ने की जरूरत है, अपने-आप पता चलता रहेगा कि इन परिहास व हंसी-दिल्लगी से आप्लावित शब्दों व परिवेश की तह में क्रूर व घिनौनी बातों को उन्होंने किस भारी मन से उकेरा है, लज्जावश ढांप कर संजोया है।

चेखोव में एक अक्षत विनम्रता थी। खुले-आम लोगों को जोर से उद्बोधित करना कि 'तुम शिष्ट बनो, भद्र बनो'—उन्हें कभी गवारा नहीं था। उनका विश्वास था कि अच्छा इंसान बनने के लिए लोग स्वतः प्रेरणा महसूस करेंगे। जीवन की तुच्छता, ओछेपन व गंदगी से उन्हें आकण्ठ घृणा थी, पर उसका चित्रण हमेशा कवि की उत्कृष्ट प्रांजल भाषा में सूक्ष्म व्यंग्य के साथ करते थे। उनकी कहानियों के अनुपम कलेवर में गुंफित क्रूरतम सच्चाई कलात्मक गरिमा के साथ मुखर होती है।

चेखोव की एक कहानी है—एल्बीयन की बेटी, जिसे पढ़ कर श्रीमंत श्रेणी के लोग हंसते हैं, मगर शायद ही उन में से किसी को यह आभास मिला हो कि एक खुशहाल भद्र जमींदार—नितांत अकेली, अपने चतुर्दिक वातावरण से निपट अजनबी औरत की किस तरह खिल्ली उड़ाता है! उनकी संपूर्ण हास्य-कथाओं में मुझे एक निर्मल, सच्चे इंसान का धड़कता उच्छ्वास सुनाई पड़ता है—एक ऐसा आशाहीन उच्छ्वास जिसे उन लोगों की सहानुभूति के निमित्त उन्होंने व्यंजित किया है, जो मानवीय गरिमा की मर्यादा से नितांत अनभिज्ञ हैं और बिना किसी हील-हुज्जत के क्रूर शक्ति का आधिपत्य कबूल कर लेते हैं। वे गुलाम से भी बदतर जिंदगी बसर करते हैं; किसी बात में उनका विश्वास नहीं, आस्था नहीं। बस, एकमात्र चिंता है तो यही कि उन्हें जस-तस स्वादिष्ट व्यंजन गटकने को मिल जाय। बस, एकमात्र आशंका है तो यही कि उन से भी ज्यादा ताकतवर और दुष्ट व्यक्ति उनकी मरम्मत न कर दे।

जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं में छिपे दुखद कटु अर्थ को जितनी गहराई व स्पष्टता से जैसा चेखोव ने समझा, वैसा और किसी ने नहीं समझा। मध्यम वर्ग की दकियानूसी, वेढव कूपमंडूकी जिंदगी में घुली शर्मनाक व नीरस तसवीर का चित्रण जिस निर्मम सच्चाई से चेखोव ने किया वैसा और कोई नहीं कर सका।

तुच्छता से उनकी जन्मजात दुश्मनी थी। वे सारी उम्र उस से जूझते रहे; उस से घिन करते रहे, अपनी निष्पक्ष लेखनी के द्वारा उसे छिन्न-विच्छिन्न करते रहे, तुच्छता की सड़ांद को उनकी पारदर्शी आंखें वहां भी खोज लेती थीं, जहां पहली नजर में सब-कुछ उज्ज्वल, पवित्र और शानदार प्रतीत होता था। और अंत में अपना दांव लगने पर तुच्छता ने भी पलट कर वैसा ही प्रतिशोध लिया। उनका शव—एक कवि का शव—घोंघे ढोने वाली मालगाड़ी के डिव्वे में लाया गया...।

मालगाड़ी का वह गंदा हरा डिव्वा—थके-मांदे शत्रु पर तुच्छता की स्मित मुस्कान में मुझे दाम्भिक विजय का कुटिल अट्टहास प्रतीत हुआ और बाजारू पत्रिकाओं के असंख्य संस्मरणों में प्रकाशित छद्म संताप व मिथ्या शोक की ओट में पराजित शत्रु की मौत पर मन-ही-मन उल्लसित तुच्छता की ठण्डी और वदवूदार सांस का प्रतीक...!

चेखोव की कृतियां वांचते समय शरद् ऋतु के अवसाद-भरे अंतिम दिनों का अहसास होने लगता है; जब वायु पारदर्शी होती है, जिस में उभरे हुए चित्र की नाईं सूने दिगंत में निर्वसित वूचे पेड़, परस्पर सटे हुए मकानों की पांतें और निस्तेज व नीरस लोग स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। सब-कुछ कितना अजीव, एकाकी, अविचल और अशक्त लगता है! विवर्ण आकाश में विलीन होते हुए दूर-दराज के नीले और सूने-सूने फासले ठण्ड से जमे कीचड़ पर सर्द आहें भर रहे हैं। किन्तु सृष्टा की अंतर्प्रज्ञा शरद्-कालीन धूप के सदृश घिसे-पिटे रास्तों को उद्भासित करती है। टेढ़े-मेढ़े गलियारों, तंग और गंदे मकानों को प्रतिभासित करती है, जिन में रहने वाले क्षुद्र वाशिंदे ऊव और काहिली की एकरसता में जीते हुए दम तोड़ रहे हैं और अपने-अपने दड़वों को निरर्थक व उनींदे कोलाहल से जगाये रखते हैं। देखो, वह 'डार्लिंग' जा रही है—भूरी चुहिया-सी सहमी और सशंकित—एक सलौनी व विनम्र औरत जो आजन्म दासी रह कर भी असीम प्यार कर सकती है। किसी भी प्रताड़ना के प्रतिरोध में वह चूं तक नहीं कर सकती। उसकी वगल में 'थ्री सिस्टर्स' की 'ओल्गा' खड़ी है—नितांत वेगानी और आत्म-विस्मृत! हां, वह भी असीम प्यार की प्रतिमा ही है, जो अपने निठल्ले भाई की परित्यक्त, ओछी व कुलटा पत्नी के नखरे चुप-चाप वर्दाश्त करती रहती है। उसकी आंखों के सामने सगी वहनों की जिंदगी वरवाद हो रही है और वह हरदम सुवकती रहती है, किसी की कुछ भी मदद नहीं कर सकती और न तुच्छता के प्रतिरोध में एक भी कड़कता शब्द उसकी छाती में घुमड़ सकता है।

यह जो आंसू वहा रही है—वह है 'रानेव्स्कया' 'चेरी की वगिया' वाली नायिका। पास खड़े हैं—'चेरी की वगिया' के दूसरे भूतपूर्व स्वामी, वच्चों की तरह स्वार्थी और वूढ़ों जैसे थुलथुल। इन्हें वहुत पहले मर जाना चाहिए था पर मरे नहीं और अब जर्जरित अवस्था में नकियाते हुए रिरिया रहे हैं। अपने चारों ओर के वातावरण में झांकने की खातिर ये नितांत अंधे हैं, नासमझ हैं। ये परजीवी पिस्सू के समान हैं जो अब जीवन का

खून चूसने की क्षमता खो बैठे हैं। यह है त्रोफीनोव—एकदम निकम्मा विद्यार्थी, जो काम की अनिवार्यता का जबरदस्त पक्षधर है, पर अपने जीवन का हर क्षण बेकार नष्ट करता है और वार्या के साथ फूहड़ मजाक करके अपना मन बहलाता है; उस कर्मठ निष्ठारत वार्या के साथ जो इन निठल्लों की खातिर दिन-रात खटती है, अथक परिश्रम करती है।

और यह वेर्शीनिन है—'थ्री सिस्टर्स' का स्वप्नचारी नायक, जो तीन सौ बरस बाद आने वाले भविष्य का सपना देखता है लेकिन इस बात का उसे कोई इल्म नहीं कि उसका वर्त्तमान चारों ओर से ध्वस्त हो रहा है, सड़ रहा है। आंखें होते हुए भी वह देख नहीं सकता कि ऊब और नासमझी के चक्कर में 'सोल्योनी' निरीह 'तूजेन्बाख' की जान लेने पर आमादा है।

यह लंबा-ही-लंबा हुजूम, जो अपने हवाई प्रेम का गुलाम है, अपने आलस, अपनी मूर्खता और अपने लालच का गुलाम है। चेखोव के पाठक देख रहे हैं, जीवन से पूर्णतया संत्रस्त, अजानी आशंका से कंपित यह हुजूम, जिसका जीवन भविष्य की बेतुकी बातों से भरा है, क्योंकि इसे पुख्ता अहसास है कि प्रत्यक्ष वर्त्तमान में उसके लिए कोई स्थान नहीं है।

कभी-कभार इस बदरंग भीड़ में गोली की आवाज सुनाई पड़ती है—यह कोई इवानोव या त्रेप्लेव है, जिसे अकस्मात् जीवन की गुत्थी मालूम पड़ गयी कि उसे अगला कदम क्या उठाना है और उसके समाधान की खातिर, वह जीवन का परित्याग कर देता है...!

इस भीड़ में बहुतेरे लोग हरदम यह सपना बुनते रहते हैं कि दो सौ बरस के उपरांत जीवन कितना सुंदर होगा, पर किसी के मानस में एक सीधा-सा सवाल नहीं कौंधता कि यदि हम सपने ही बुनते रहे तो जीवन को सुंदर कौन बनायेगा ?

इस बदरंग, नीरस, निर्वीर्य भीड़ को चीरता हुआ एक अभूतपूर्व मनीषी बाहर निकला, जिसकी नजर से कहीं कुछ भी छिपा नहीं रह सकता। अपने देश के नीरस लोगों की तरफ उसने अवसाद भरी मुस्कराहट से देखा। उसके दिल और दिमाग पर विषादमय हताशा की काली छाया मंडरा रही थी। गहन प्रताड़ना की मधुर वाणी से सच्चाई फूट पड़ी—साथियो, कैसी फूहड़ और घिनौनी जिन्दगी जी रहे हो...!'

पांच दिन से बुखार चढ़ रहा है, लेकिन सोने का जी नहीं करता। गीले रजकणों-सी झीनी-झीनी फुहार धरती पर छा रही है। इन्नो किले में तोपों की निरंतर गर्जना हो रही है। रात के अंधकार को चीरती हुई सर्चलाइट की लपलपाती जिव्हा बादलों को चाट रही है। कैसा वीभत्स माहौल है, जो शैतान के असाध्य रोग अर्थात् युद्ध को किसी भी क्षण भूलने नहीं देता।

मैं चेखोव की कहानियां पढ़ता रहा। यदि दस साल पहले उनका इंतकाल नहीं हो गया होता तो लोगों के प्रति उनके मन में विषाक्त घृणा भर कर यह युद्ध उन्हें मार डालता। उनका अंतिम संस्कार आज भी भूला नहीं हूं।

जिस लेखक को मास्को ने हृदय की अतल गहराई से इतना प्यार किया, उसका शव मालगाड़ी के गंदे-हरे डिब्बे में मास्को लाया गया, जिस पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा

था—ओयस्टर। [घोंघा]

लेखक की शव-यात्रा में स्टेशन पर आई भीड़ में से कुछ लोग मंचूरिया से लाये जनरल केल्लर के ताबूत के पीछे अनजाने ही चल दिये और इस बात पर उन्हें बड़ा अचरज हुआ कि चेखोव की शव-यात्रा में फौजी बैंड बज रहा है। जब भूल का पता चला तो कुछ मसखरे लोग खी-खी करके हंसने लगे। उनकी शव-यात्रा में मुश्किल से सौ व्यक्ति होंगे। दो वकीलों का हुलिया अच्छी तरह याद है। उत्साही दूल्हे की तरह दोनों ने ही नये बूट और भड़कीली टाइयां ठसा रखी थीं। उनके पीछे चलते हुए मैंने वकील वी. ए. मक्लाकोव को कुत्तों की होशियारी का बखान करते सुना। और दूसरा वकील जिसे मैं जानता नहीं था, वह अपनी समर-कॉटेज और उसके चतुर्दिक् सौंदर्य का वर्णन कर रहा था। बैंगनी पोशाक पहने, लेस लगा छाता ताने और आंखों पर चश्मा लगाये एक महिला बूढ़े को विश्वास दिला रही थी– 'वे कितने प्यारे इंसान थे, और कितने हाजिर-जवाबी...!'

बूढ़ा अविश्वसनीय भाव से खखारने लगा। झीनी-झीनी बालू से आच्छादित गर्म दिन था। एक मोटा तगड़ा थानेदार हृष्ट-पुष्ट सफेद घोड़े पर, सबसे आगे चल रहा था। एक अतुलनीय महान कलाकार की गरिमा के प्रतिकूल वह सब कितना घृणित और अशोभनीय था!

ए. एस. सुवोरिन के नाम चेखोव ने एक पत्र में लिखा था, 'गुजर-बसर के लिए प्रतिदिन जूझना कितना उकताऊ और नीरस काम है। जीवन की तमाम खुशियां छीन कर यह मनुष्य को भीतर से एकदम बुझा देता है...।'

यह अभिव्यक्ति है अछोर रूसी मानस की, और मेरे खयाल से ये शब्द चेखोव की लेखनी के योग्य नहीं हैं। जिस रूस में हर चीज की इफरात है, वहां लोगों को काम से प्यार नहीं है, अधिकांश लोगों की ऐसी ही मान्यता है। रूसी लोग शक्ति के प्रशंसक जरूर हैं, पर वास्तव में उस पर विश्वास नहीं करते। जेक-लंदन जैसा लेखक रूस में पैदा होना असंभव है, जो सक्रिय काम का जबरदस्त पक्षधर था। हालांकि उसकी पुस्तकें रूस में बड़े चाव से पढ़ी जाती हैं, पर मुझे संदेह है कि वे पुस्तकें लोगों को काम के लिए प्रेरित कर सकेंगी, अलबत्ता कल्पना को आलोडित करने में सक्षम हो सकती हैं। लेकिन चेखोव इस माने में रूसी नहीं थे; किशोरावस्था की शुरुआत से ही जीने के लिए उन्हें ताबड़तोड़ संघर्ष करना पड़ा था। रोटी के रूखे-सूखे टुकड़े की खातिर निरानंद विवर्ण मजूरी के लिए उन्हें हरदम जुते रहना पड़ता था। अपने अलावा परिवार के अन्य सदस्यों के लिए उन्हें और बड़े टुकड़े की जरूरत थी। किसी भी प्रकार की खुशी से विच्छिन्न रोजमर्रा की इन आवश्यकताओं के लिए उन्होंने अपनी सम्पूर्ण युवाशक्ति की आहुति दे दी; मगर आश्चर्य तो केवल इसी बात का है कि इन यातनाओं के बीच उन्होंने अपने उन्मुक्त परिहास को क्योंकर कायम रखा। उदर पूर्ति व शांति की खातिर अथक परिश्रम के सिवाय उनके लिए जीवन का दूसरा कोई अर्थ नहीं था। जीवन के महान नाटक और उनकी अपूर्व त्रासदी मानो उनके ही निमित्त सामान्य पर्त के नीचे छिपे हुए थे और जब परिवार के लिए कमाने-खाने की चिंता से मुक्त हुए तब इन नाटकों की गहनतम सच्चाइयां उनकी आंखों के सामने उजागर हुईं।

चेखोव को छोड़ कर मुझे दूसरे व्यक्ति की अभी तलाश है जिसने काम और केवल काम को अपने विभिन्न वैविध्य और गांभीर्य के परिवेश में संस्कृति का आधार-स्तंभ माना। उनकी यह भावना घरेलू जीवन की संपूर्ण छुट-पुट क्रियाओं में चरितार्थ हुई है। मसलन घर के लिए विभिन्न वस्तुओं का चयन—केवल उनके प्रति प्यार की आकांक्षा से। एक खास बात और कि चीजों का संचय करने की रंचमात्र भी प्रवृत्ति नहीं थी उनकी। विभिन्न वस्तुएं मनुष्य की सृजनात्मक आत्मा की धरोहर हैं; इस अटल मान्यता के फलस्वरूप वे एक क्षण भर के लिए भी उनके प्रति आकर्षण से उदासीन नहीं हुए। उन्हें मकानों से प्यार था, बाग-बगेचियों से प्यार था, जमीन को सजाने-संवारने से प्यार था। उन्हें काम से काव्यमयी प्रेरणा मिलती थी। वे किस तरह स्नेहसिक्त सतर्कता से पेड़ों का फलना-फूलना निहारते थे! अपने हाथों से लगाये पौधों की शोभा उन्हें कितना पुलकित करती थी! 'आउत्का' में अपना मकान बनाने की अनेक कठिनाइयों के बावजूद उन्होंने एक दिन मुझ से कहा, 'यदि हर कोई अपनी जमीन के टुकड़े पर वह सब कुछ करे जो वह कर सकता है तो हमारी दुनिया कितनी सुन्दर हो जाय!' जब मैं अपने नाटक 'वेसिली बुस्लायेव' को जन्म देने के दरद में छटपटा रहा था, तब मैंने उन्हें वेसिली का यह दृप्त स्वगत-संभाषण सुनाया :

काश! मुझ में अधिक शक्ति होती और अधिक
उत्तप्त उसांसों से पिघला देता बर्फीला प्रांतर
बो देता दूर-दराज दुनिया की धरती डगर-डगर
तलाश कर लेता भव्य बस्तियां भव्य नगर
बनवाता हर ओर बाग-बाड़ियां, नाना गिरजाघर
तब लगता सुन्दर बाला-सा कितना मोहक यह संसार
और दुलहिन-सा भर लेता उसको अपनी बांहों में
थाम लेता खुशी-खुशी सीने पर, हां अपने सीने पर
फिर प्रस्तुत करता परमेश्वर के आगे सत्वर
कहता—तुम देखो बारंबार इसे निगाहें भर कर
रची-बसी यह दुनिया मेरी, कितनी आला, कितनी सुंदर
नभ की ओर उछाले अनघड़ पत्थर-सी तेरी दुनिया रे भगवन
जड़ कर और जड़े हैं हमने नवलख माणिक मोती
तुम देखो और दिखाओ, खुशियों के दीप जलाओ
हरी-भरी-सी दमक रही मेरी दुनिया, किरणों का चुंबन पाकर
प्रसाद की गरिमा से लो कर लो स्वीकार इसे
नहीं-नहीं, मुझ को प्रिय है मेरी दुनिया, मेरा घर

चेखोव ने इस संभाषण को काफी पसंद किया; बेजारी से खखारते हुए उन्होंने मुझे और डॉक्टर ए. एन. अलेक्सिन से कहा, 'खूब—बहुत खूब—कितना यथार्थ और मानवीय!—दर्शन की मीमांसा यहीं सार्थक होती है! मनुष्य ने दुनिया को आबाद किया

है तो वह निश्चित रूप से अपने पड़ाव की खातिर उसे सुंदर भी बनायेगा।' अपना सर हिलाते हुए उन्होंने दृढ़ता के साथ दुहराया, 'जरूर बनायेगा।'

उन्होंने वेसिली का यह संभाषण फिर सुनने की आतुरता प्रकट की और खिड़की से बाहर झांकते हुए उन्होंने उसे ध्यानपूर्वक सुना। धीरे से बोले, 'अंतिम दोनों पंक्तियां ठीक नहीं हैं—मुंहजोर और निरर्थक।'

-

अपनी साहित्यिक उपलब्धियों की चर्चा वे बहुत कम और बड़ी अनिच्छा से करते थे। मैं पहले भी कई बार कह चुका हूं कि वे उसी अक्षत तटस्थता के साथ अपनी चर्चा करते थे, जैसे लेव तोलस्तोय की चर्चा कर रहे हों। बस, कभी-कभार किन्हीं प्रमुदित क्षणों में जब वे उन्मुक्त होते तो मृदु व्यंग्य से मुस्कराते हुए कोई कथानक सुनाते, जो हमेशा परिहास से छलछलाता था। 'सुनो, एक अध्यापिका की कहानी लिखूंगा, जो नास्तिक है, डार्विन की उपासक है। उसकी दृढ़ मान्यता है कि अंधविश्वास और रूढ़ियों से मरते दम तक जूझना चाहिए, लेकिन वह स्वयं आधी रात के बाद खौलते पानी में काले बिल्ले को उबालती है; जिसकी चमत्कारिक हड्डी से अपने प्रेमी का मन जीत सकेगी, उस से मन वांछित प्यार पा सकेगी। तुम शायद जानते नहीं...वाकई ऐसी हड्डी होती है।'

अपने नाटकों को वे हास्य-विनोद की श्रेणी में ही रखना चाहते थे। उनका खयाल था कि वे सचमुच हास्य-विनोद के निमित्त ही नाटक लिखते हैं। बहुत संभव है, उनकी बातें सुन कर ही साव्वा मोरोजोव आग्रहपूर्वक कहा करते थे कि चेखोव के नाटकों का काव्यमय विनोद के रूप में ही मंचन होना चाहिए।

साहित्य के प्रति उनका अदम्य लगाव था। खास तौर से नये लेखकों को वे खूब तरजीह देते थे। बी. लाजारेव्स्की, एन. ओलिगेर तथा अन्य कई लेखकों की भरकम पांडुलिपियां वे अप्रत्याशित धैर्य के साथ पढ़ते थे।

'हमें लेखकों की सबसे अधिक दरकार है।' वे अक्सर कहा करते, 'हमारे दैनन्दिन जीवन में साहित्य आज भी नयी चीज है और वह भी गिनती के लोगों की खातिर। नार्वे में दो सौ छब्बीस लोगों के पीछे एक लेखक है और हमारे यहां दस लाख में एक।'

शाश्वत बीमारी ने उन्हें अत्यधिक लाचार कर दिया था। उस दौरान उनके मन में मानव-जाति के प्रति विद्वेषपूर्ण भाव उबलने लगते थे, उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। उनका रुख बहुत ही सख्त और कसैला हो जाता था।

एक दिन सोफे पर लेटे हुए थर्मामीटर से मन बहला रहे थे। उन्हें सूखी खांसी आ रही थी। सहसा बोले, 'केवल मरने के लिए जीवित रहना भी अजीब मसखरी है, किन्तु यह जानते हुए जीना कि समय के पहले मृत्यु हमें दबोच लेगी, यह भी कोई कम बेहूदी बात नहीं।'

एक मर्त्तबा वे खुली खिड़की के पास बैठे दूर समंदर की ओर देखते हुए सहसा खीज भरे स्वर में बोले, 'हम सभी अच्छी मौसम की आशा में जीने के अभ्यस्त हो गये हैं: अच्छी फसल की आशा, एक सुखद रोमांस की आशा, धनवान बनने की आशा, ऊंचे-से-

ऊंचा ओहदा पाने की आशा, पर अब तक मुझे एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिला, जो बुद्धिमान बनने की आशा रखता हो। हम यह सोच कर अपने मन को समझाते हैं कि नये जार के राज्य में जिंदगी सुधर जायेगी और दो सौ बरस के उपरांत सब-कुछ शानदार हो जायेगा, लेकिन किसे भी इस बात की चिंता नहीं है कि आने वाले कल तक ही जिंदगी संवर जाये। मगर ले-देकर जिंदगी और अधिक पेचीदा होती जा रही है; और वह अपनी इच्छा व अपनी गति से स्वयं संचालित हो रही है और हम हैं, जो दिन-ब-दिन और भी जाहिल होते जा रहे हैं; हर पल, हर क्षण जिन्दगी से किनारा करते जा रहे हैं।'

कुछ देर की चुप्पी के बाद भृकुटि तान कर बोले, 'किसी धार्मिक जुलूस में लूले-लंगड़े भिखारियों की तरह।'

वे डॉक्टर थे और डॉक्टर की बीमारी मरीजों से अधिक कष्टप्रद होती है। मरीज को तो फकत रोग की अनुभूति होती है किन्तु डॉक्टर को तो रोग का अहसास होता है। वह अच्छी तरह जानता है कि बीमारी किस घातक रूप में उसके शरीर को प्रभावित कर रही है? यह एक ऐसा मसला है जिसे मद्दे-नजर रखते हुए हम स्पष्टतया उद्घोषणा कर सकते हैं कि जानकारी मौत को दिन-ब-दिन नजदीक ला रही है।

हंसी के दौरान उनकी आंखें निहायत सुंदर हो जाती थीं—नारी-सुलभ स्नेह व सुकोमल मृदुता का पुट उन में घुल जाता था। और उनकी हंसी काफी हद तक नीरव और अत्यंत सुहानी होती थी। हंसते समय वे स्वयं हंसी का आनंद लेते थे। कम-से-कम मैंने तो एक भी ऐसा इंसान नहीं देखा जो इस तरह की आत्मिक हंसी हंस सकता हो।

फूहड़ मजाक पर उन्हें कभी हंसी नहीं आती थी।

एक बार उन्होंने सदय स्मित मुस्कान के साथ मुझ से पूछा, 'जानते हो, तुम्हारे प्रति तोलस्तोय का विश्वस्त व्यवहार क्यूं नहीं है? उन्हें तुम से ईर्ष्या है; इसलिए कि सुलेर-झीत्स्की तुम्हें उन से अधिक चाहता है। वाकई ईर्ष्या है, उन्होंने कल ही मुझ से कहा, 'गोर्की के साथ मेरी घनिष्ठता नहीं बढ़ सकती, पता नहीं क्यों, मगर यह मेरे वश की बात नहीं है। और तो और उसके यहां सुलेर का रहना भी मुझे नहीं सुहाता। सुलेर के लिए भी यह ठीक नहीं है। गोर्की पाजी है। उस धार्मिक विद्यालय के छात्र जैसा, जिसे जबरन मठवासी बना दिया गया हो, इसी कारण सारी दुनिया के प्रति उसका रोष है! उसकी आत्मा एक गुप्तचर की आत्मा है। न जाने कहां से वह इस बेगानी दुनिया में टपक पड़ा। वह सर्वत्र ताक-झांक करता है, टोह लेता है और अंत में अपने खुदा के पास इस सबकी रपट पेश करता है। और उसका खुदा भी अव्वल दरजे का पिशाच है। किसी जंगल का दैत्य, या किसी जल का दैत्य, जिस से कि देहाती औरतों के दिल में दहशत पैदा हो जाय।'

उस दौरान चेखोव ठेठ तक हंसते रहे। आखिरी वाक्य समाप्त करते-करते उनकी आंखों में आंसू आ गये। गला रुंध गया। आंसू पोंछ कर आगे कहने लगे, 'मैंने बताया कि गोर्की भला और नेक इंसान है।' किन्तु वे अपनी बात पर अड़े रहे, 'नहीं-नहीं, तुम पैरवी मत करो। उसकी नाक बत्तख जैसी है जो दुर्भाग्य और विद्वेष की निशानी है।

औरतें भी उसे नहीं चाहतीं। सच, औरतों को भी कुत्तों की तरह भले आदमी की सही पहचान होती है। इधर सुलेर में भी निस्वार्थ प्रेम की अमोलक देन है। इस दृष्टि से वह विलक्षण मेधावी है। यदि किसी में प्रेम करने की क्षमता है तो सब-कुछ करने की क्षमता है...।'

थोड़ी देर रुक कर उन्होंने कहा, 'बूढ़ा बावा तुम से ईर्ष्या करता है...गजब की हस्ती है...!'

वे जब भी तोलस्तोय की चर्चा करते तो उनकी आंखों में एक विशिष्ट प्रकार की स्नेहसिक्त लजवंती मुस्कान थिरकती और वे सप्रयास धीमी वाणी में बोलने लगते मानो वह किसी रहस्यमयी अलौकिक बात का संदर्भ हो जिसे बड़ी सावधानी और दुलारपूर्वक संभालने की आवश्यकता है।

उनकी यह शिकायत हमेशा बरकरार रही कि तोलस्तोय के साथ 'ऐक्करमान' जैसा कोई व्यक्ति नहीं रहता, जो बड़ी मुस्तैदी से इस वयोवृद्ध मनीषी के अप्रत्याशित, गूढ़ और अंतर्विरोधी आप्त-वचन टीप लिया करे।

उन्होंने सुलेरझीत्स्की से कई बार आग्रह किया, 'तुम्हें यह जिम्मेवारी उठा लेनी चाहिए। तोलस्तोय तुम्हें कितना चाहते हैं; आलीशान मसलों पर तुम से चर्चा करते हैं।'

सुलेर के बारे में चेखोव की राय थी—बड़ा बुद्धिमान बालक है।

बड़ी सटीक राय थी।

एक बार तोलस्तोय ने चेखोव की 'डार्लिंग' कहानी का जी भर कर बखान किया। 'यह कहानी पवित्र कुमारी के हाथों बुनी लेस के समान है।' वे गद्गद होकर कहने लगे, 'पुराने जमाने में लेस बुनने वाली ऐसी लड़कियां होती थीं, जो जीवन पर्यंत अपनी खुश-हाली के सपने लेस के बेलबूटों में बुनती रहती थीं। अंतस की संपूर्ण आकांक्षाएं, सुनहरी इच्छाएं, अपना अस्पष्ट व अछूता प्रेम उस बुनावट के माध्यम से व्यक्त करती थीं।' तोलस्तोय की भावविह्वल वाणी काफी आर्द्र हो गई। आंखों में आंसू छलक आये।

चेखोव को उस दिन काफी तेज बुखार था। उनके गाल आरक्त हो रहे थे। सर झुकाए बड़े जतन से अपनी ऐनक पोंछने लगे। बड़ी देर तक वे मौन साधे रहे। आखिर एक गहरा उत्तप्त निःश्वास खींच कर वे धीरे-से बोले, 'छपाई की काफी अशुद्धियां हैं...।'

चेखोव पर बहुत-कुछ लिखा जा सकता है, किन्तु उसके लिए अत्यंत स्पष्टता, सूक्ष्मता और बारीकी अपेक्षित है। अपनी लेखनी को मैं इसके उपयुक्त नहीं मानता। उनके बारे में ठीक उसी शैली में लिखा जाना चाहिए, जिस शैली में उन्होंने 'स्तेपी' कहानी लिखी—एक खुशबूदार, स्वच्छ कहानी। मन को भिगोने वाली कहानी। रूसी जमीन और रूसी आकाश की कहानी। अवसाद उपजाने वाली कहानी, विचार उत्प्रेरित करने वाली कहानी और नितांत अपनी कहानी।

इस तरह के इंसान को, ऐसी अप्रतिम हस्ती को चितारना सदैव कल्याणकारी है; जिसे चितारते ही नस-नस में स्फूर्ति का संचार होने लगता है और जीवन को नया अर्थ

व नयी परिभाषा मिल जाती है।

मनुष्य ब्रह्मांड की धुरी है।

कोई कहेगा—वह तो अवगुण का समंदर व खामियों की खान है।

हम सबको अपने हम-सफर साथियों के प्यार की भूख है। और भूख जगने पर तो अधपकी कच्ची रोटी भी स्वादिष्ट लगती है। ००

तिजोरी

ज़ेन बोध-कथाएं / वृक्षांजली

चाय का प्याला

मैंजी काल [१८६८-१६१२] के दौरान एक जापानी आचार्य झेन-दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्रमण नान-इन के पास आया।

नान-इन न जाने क्या सोच कर प्याला भर जाने के बाद भी अतिथि के लिए उस में चाय उंड़ेलता रहा।

प्याले से गिरती चाय की ओर कुछ क्षण तक आचार्य चुपचाप देखता रहा। आखिर उस से संयम नहीं रखा गया तो बोला, 'बस-बस, प्याला पूरा भर गया है, अब इस में एक बूंद भी चाय नहीं समायेगी।'

श्रमण शान्त भाव से कहने लगा, 'बिल्कुल ठीक कहा तुमने, इस प्याले की तरह तुम भी तो अपनी मान्यताओं और विचारों से लबालब भरे हो। उसे खाली किये बिना, तुम्हें झेन दर्शन के बारे में भला क्या समझा सकता हूं?' ००

दलदल की यात्रा

तन्जान और एकिदो एक भीषण दलदल की राह अपनी निर्दिष्ट यात्रा पर जा रहे थे। मूसलाधार बारिश हो रही थी।

चलते-चलते उन्हें घुमावदार गहरे मोड़ पर एक सुन्दर व जवान लड़की नजर आयी। भीगे हुए रेशमी कपड़ों से उसकी सुन्दरता और भी निखर आयी थी। किन्तु झेन भिक्षुओं को उसकी परेशानी का ही पता चला। वह गहरा मोड़ उसके लिए पार करना बहुत मुश्किल था। उसकी निर्बोध अवशता देख कर तन्जान ने सहज भाव से कहा, 'कोई बात नहीं, मैं तुम्हारी मदद करूंगा, घबराओ नहीं।' यह कह कर वह तेजी से उसकी ओर बढ़ा। कन्धे पर बिठाया और दलदल के पार उतार कर अपनी राह चलने लगा।

एकिदो के होंठ मानो चिपक ही गये हों। पूरे रास्ते तक उसने अपने साथी से बात नहीं की। रात को जब बौद्ध-मठ में सोने के लिए पहुंचे, तब कहीं उसके होंठ खुले। अब उसके लिए और संयम रखना दूभर था। झुंझलाते बोला, 'हम बौद्ध भिक्षु औरतों के पास तक नहीं फटकते।' उसने तन्जान की ओर घूरते कहा, 'खास तौर पर जवान और खूबसूरत औरतों के पास! खतरनाक, बेहद खतरनाक! तुमने वैसा क्यों किया? क्या सोच कर किया, बताओ।'

'ओह! मैंने तो उस लड़की को वहीं उतार दिया।' तन्जान ने अपने साथी से, तनिक मुस्कराते कहा, 'और तुम अभी तक उसे ढो रहे हो?' ००

सरे आम

कोई वीसेक साधु और इशुन नाम की एक साध्वी ज़ेन गुरु के पास 'ध्यान' करते थे।

अपने सादे लिवास और मुंडे हुए सर के वावजूद भी इशुन के रूप व आकर्षण में कोई विशेष व्यवधान नहीं पड़ा। कई साधु मन-ही-मन उस से प्रेम करने लगे। एक साधु ने तो उसे प्रेम-पत्र तक लिख डाला और एकान्त में मिलने के लिए विनम्र प्रार्थना की।

इशुन ने कोई प्रतिक्रिया नहीं दरसायी और न पत्र का कोई जवाव ही दिया। दूसरे दिन जव गुरु का प्रवचन समाप्त हुआ तो इशुन अचीती खड़ी हुई और पत्र लिखने वाले साधु को संवोधित करके वोली, 'यदि तुम वास्तव में मुझ से प्रेम करते हो तो सरे आम सवके सामने वांहें पसार कर मुझे अपनाओ।' ००

विचित्र बदला

एक चीनी महिला ने कोई वीस वरस तक एक ज़ेन श्रमण की नियमित परवरिश की। उसके लिए अलग से एक झोंपड़ी वनायी। वही उसकी सफाई करती। पानी भरती। श्रमण चुपचाप ध्यान में खोया रहता और वह उसका पूरा-पूरा ध्यान रखती। वह मन-ही-मन अचरज करती कि श्रमण ने इतने वरस कुछ सिद्धि भी हासिल की है या नहीं?

उसकी परख करने के लिए उसने एक उपयुक्त लड़की का सहयोग लिया, जो वासना से उमड़ रही थी। 'जाओ, उसे कस कर आलिंगन करो।' अच्छी तरह हिदायत करते वोली, 'और उकसाते हुए पूछना कि इस से आगे की उपासना क्या है?'

लड़की को जैसा समझाया, उसने वैसा ही किया। श्रमण को अपने घर वुलाया और विना किसी भूमिका के वह उस से लिपट गयी। उसकी पीठ सहलाते वोली, 'अव आगे की उपासना तुम जानो।'

'सर्दी के मौसम में ठण्डी चट्टान पर एक पुराना पेड़ खड़ा है।' श्रमण ने काव्यात्मक उक्ति में जवाव देते कहा, 'उस से गर्मी की आस रखना वेकार है।'

लड़की वहां से निराश लौट आयी और उसने जो कहा वह उक्त महिला को वता दिया।

'जरा सोचो तो, मैंने वीस साल तक इस मुस्टंडे की सेवा की। उसे खिलाया-पिलाया, जिन्दा रखा।' वृद्ध महिला तमतमाते सुर में कहने लगी, 'और इस ठूंठ ने तुम्हारी जरूरत का कुछ खयाल ही नहीं रखा? तुम्हारी कशमकश का निवारण तो दूर, उस वदजात ने उसे समझने की भी कोशिश नहीं की। सहानुभूति के दो वोल भी उसकी जवान पर नहीं आये! शैतान कहीं का।'

वह तुरत-फुरत श्रमण की झोंपड़ी पर गयी और उसे जला कर खाक कर डाला। ००

अपूर्व सीख

साठ वर्ष की उम्र के बाद जोशु ने ज़ेन की शिक्षा प्रारंभ की और अस्सी वर्ष की उम्र तक उसे नियमित सीखता रहा। तब कहीं उसे ज़ेन-बौद्ध का साक्षात्कार हुआ।

उसने अस्सी वर्ष की उम्र के बाद शिष्यों को शिक्षण देना शुरू किया सो एक सौ बीस वर्ष की उम्र तक शिक्षा देने का काम करता रहा।

एक मर्तबा एक विद्यार्थी ने उस से पूछा, 'यदि मेरे दिमाग में कोई बात ही न हो तो बताइए मैं क्या करूं?'

'फेंक दो उसे।' जोशु ने तुरन्त जवाब दिया।

'जब मेरे पास कोई चीज है ही नहीं तो उसे फेंकने का सवाल ही कहां उठता है?' जिज्ञासु की शंका जारी थी।

'तो उसे ढोये रहो।' बस, जोशु का यही संक्षिप्त जवाब था। ००

पांव तले की चेतना

कमकुरा राज्य वंश के दौरान, शिन्कन नामक शिष्य ने छः साल तक तेंदई का अध्ययन किया, फिर सात वरस तक ज़ेन की शिक्षा ग्रहण की। तत्पश्चात् वह चीन गया और तेरह साल तक अत्यधिक गंभीरता से ज़ेन-बौद्ध का मनन किया।

जब इतना ज्ञान प्राप्त करके वह जापान लौटा तो बहुतों के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि उस से तरह-तरह की शंकाएं करें, गहरे दार्शनिक प्रश्न पूछें। शिन्कन के पास जिज्ञासुओं का तांता लगा रहता। कानों में विभिन्न प्रश्नों की शंकाएं सुनायी पड़ने लगीं, पर वह बहुत कम प्रश्नों का जवाब देता था।

एक बार एक पचास वर्ष के प्रबुद्ध शिष्य ने शिन्कन से कहा, 'मैं ठेठ बचपन से तेंदई मत का अध्ययन कर रहा हूं, पर उसकी एक बात अब तक भी मेरी समझ में नहीं आयी कि घास व पेड़-पौधों को क्योंकर आत्मबोध हो सकता है?'

'यह समझ कर तुम्हें करना क्या है कि घास व पेड़-पौधों को ज्ञान होता है या नहीं? क्या तुमने कभी भूल से भी इस बात की चिन्ता की कि तुम्हें आत्मबोध कैसे हो?'

'ओह! इस पर तो मैंने कभी सोचा ही नहीं।' बूढ़े जिज्ञासु ने कहा।

'अपने घर जाओ और इस पर सोचो।' इतना कह कर शिन्कन चुप हो गया। ००

एक बुद्ध

मैजी काल के दौरान टोकियो में दो पहुंचे हुए ज़ेन गुरु रहते थे। दोनों का एकदम विपरीत स्वभाव था। एक का नाम था उन्शो, जो शिगोन में शिक्षक था—बुद्ध के उपदेशों

का अन्ध-अनुयायी। वह नशे-पते के मादक द्रव्य छूता तक नहीं था। सवेरे ग्यारह बजे के बाद कभी भोजन नहीं करता था।

दूसरे का नाम था—तन्जान। इम्पीरियल विश्वविद्यालय में दर्शन का प्राचार्य। बुद्ध के उपदेशों से एकदम उदासीन। जब खाने की इच्छा होती, खाता। सोने की इच्छा होती, सोता; चाहे रात हो, चाहे दिन।

एक दिन उन्शो तन्जान से मिलने गया। वह बेझिझक शराब पी रहा था। और वह समय भी ऐसा था कि किसी बौद्ध के लिए एक बूंद शराब तक चखना वर्जित था।

'आओ, भाई आओ।' तन्जान ने उसका स्वागत करते कहा, 'शराब पीने की मंशा है क्या?'

'शराब? मैं तो इसे सपने में भी नहीं छूता!' उन्शो ने गम्भीरता से जवाब दिया।

'जो शराब नहीं पीता, वह मनुष्य ही नहीं है।' तन्जान ने एक बड़ा-सा घूंट लेते कहा।

'गजब है! तुम्हारे खयाल से मैं मनुष्य ही नहीं हूं? केवल इसलिए कि मैं नशीली चीजों को छूता नहीं!' उन्शो ने गुस्से में थूक उछालते पूछा, 'तो फिर, मैं मनुष्य नहीं तो क्या हूं?'

'एक बुद्ध!' तन्जान ने मुस्कराते हुए धीमे-से कहा। ००

पद की उपेक्षा

मैजी काल के दौरान क्योतो के ताफुकु मठ में एक प्रसिद्ध श्रमण रहता था जिसका नाम था कैचु। एक दिन क्योतो के गवर्नर की इच्छा हुई कि वह उस से मुलाकात करे।

मठ के परिचारक ने श्रमण के सामने कार्ड प्रस्तुत किया। जिस पर लिखा था: कितगाकि, गवर्नर क्योतो।

'मुझे इस व्यक्ति से कोई वास्ता नहीं है।' कैचु ने परिचारक को कार्ड लौटाते कहा, 'कह दो उसे, फौरन यहां से चला जाए।'

परिचारक ने विनम्रता से गवर्नर को कार्ड लौटाया तो वह तुरंत श्रमण की मंशा भांप गया। 'वाकई मुझ से भारी गलती हो गयी।' और उसने अदेर अपनी गलती सुधार ली। 'गवर्नर क्योतो' को पेंसिल से काट कर उसने परिचारक को कार्ड वापस सौंपते हुए कहा, 'अपने गुरु से एक बार और पूछ लीजिए।'

'ओह! यह कितगाकि है क्या?' श्रमण ने कार्ड पर नजर डालते कहा, 'मैं जरूर मिलना चाहूंगा उस से।' ००

आवाज की कसौटी

श्रमण बैंकी का जिस मठ में निवास था, उसके पड़ोस में कई सालों से एक अन्धा व्यक्ति रहता था। बैंकी की मृत्यु के बाद उस अन्धे व्यक्ति ने अपने मित्र से कहा, 'क्योंकि

मैं जन्म से ही अंधा हूं, इसलिए किसी मनुष्य का चेहरा देख कर उसके भाव नहीं समझ सकता। इस कारण गले की आवाज सुन कर मैं हर व्यक्ति के चरित्र का अनुमान कर लेता हूं। आमतौर पर जब मैं किसी मनुष्य के मुंह से बधाई के निमित्त खुशी के बोल सुनता हूं तो उस आवाज की तह में दबी हुई ईर्ष्या की भनक भी सुन लेता हूं। किसी अभागे के दुर्भाग्य पर तरस खाने वाले मनुष्य की आवाज में मुझे संतोष व खुशी की झनक अपने-आप सुनायी दे जाती है। जैसे शोक प्रकट करने वाला मन-ही-मन काफी खुश हो रहा हो कि मृत व्यक्ति जिन्दगी का आनन्द नहीं ले सकता। और वह जिन्दा है इसलिए जीवन की खुशियों का अनुभव सम्भव है।'

कुछ देर ठहर कर वह आगे कहने लगा, 'मेरी उम्र भी कोई कम नहीं है, मुझे तो बैंकी के अलावा किसी दूसरे व्यक्ति से साबका नहीं पड़ा जो अपनी भावनाओं के प्रदर्शन में ईमानदार हो। वे जब अपने मुंह से खुशी प्रकट करते तो उनके हृदय की खुशी ही प्रकट होती थी और शोक प्रकट करने पर उनके मन का दुख ही प्रकट होता था। अपने प्रति नितांत सच्चे मनुष्य को मैं अब तक खोज नहीं पाया।' ००

ठहरने की शर्त

यदि कोई यात्री उस मठ में रहने वाले भिक्षुओं से बौद्ध-धर्म पर शास्त्रार्थ करे और जीत जाए तभी उसे वहां ठहरने की अनुमति मिल सकती थी, अन्यथा हारने पर उसे आगे चलने को मजबूर होना पड़ता था। अपवाद की कोई रिआयत नहीं थी।

जापान के उत्तरी भाग में एक ऐसा ही मठ था। दो भाई भिक्षुओं के रूप में वहां अड़े हुए थे। बड़ा भाई विद्वान था। छोटा भाई निहायत ही भोंदू था। हृदय की बात तो दूर, ललाट की एक आंख भी बुझी हुई थी।

भ्रमण करते हुए एक भिक्षु ने पहल करके शास्त्रार्थ की चुनौती स्वीकार की और वहां ठहर गया। संयोग की बात कि उस दिन बड़ा भाई अत्यधिक अध्ययन करते-करते काफी थक गया था। एक लम्बी जम्हाई लेते अपने छोटे भाई से कहा, 'मेरे बदले तुम्हें ही आज शास्त्रार्थ करना होगा।'

'अच्छी बात है, आपको हमेशा शास्त्रार्थ करते सुनता ही हूं। मुझे कोई दिक्कत नहीं होगी।'

'एक सच्चे बौद्ध का ऐसा ही बुलंद हौसला होना चाहिए। अब जाओ, किसी एकांत जगह बैठ कर इस मठ के नियम की अनुपालना करो।'

तब छोटा भिक्षु और वह यात्री थोड़ी दूर एक झाड़ी की छांह में बैठ कर शास्त्रार्थ करने लगे।

कुछ ही देर बाद यात्री उठ खड़ा हुआ और हड़बड़ाता बड़े भाई के पास पहुंचा। कहने लगा, 'आपका भाई तो गजब ही विद्वान है। उसने मुझे तुरंत ही हरा दिया।'

'क्या चर्चा हुई थी?' बड़े भाई ने खुश होकर जानना चाहा।

'देखिए।' यात्री बहस का ब्योरा देते बोला, 'सबसे पहले मैंने एक अंगुली दिखा कर यह इंगित किया कि बुद्ध केवल एक ही है। तब उसने प्रतिवाद के रूप में दो अंगुलियां दिखा कर संकेत किया कि दुनिया में बुद्ध और बुद्ध का उपदेश दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। फिर मैंने भी जवाब में एक और अंगुली जोड़ कर इशारा किया कि तीन तथ्य महत्त्वपूर्ण हैं—भगवान बुद्ध, उनका उपदेश और उनके अनुयायी। तभी जीवन सामंजस्यपूर्ण हो सकता है। तव आपके विद्वान भाई ने आंखों के सामने मुक्का तान कर मेरी भ्रांति का निवारण कर दिया कि जब तक तीनों में एकात्म्य स्थापित नहीं होता, मुक्ति का मार्ग संभव नहीं। दूसरे ही क्षण मेरी गलतफहमी दूर हो गयी। मैं उनकी जीत और अपनी हार मंजूर करता हूं।' इतना कह कर वह चुपचाप मठ से निकल गया।

'कहां है, वह पाजी कहां है?' छोटे भाई ने उतावली के साथ तैश में आकर बड़े भाई से पूछा।

'मुझे तुम से यही उम्मीद थी। शास्त्रार्थ में जीतने की बधाई स्वीकार करो।'

'बधाई, कैसी बधाई?' छोटा भाई विस्मय प्रकट करते बोला, 'मुझे तो उस अहमक की मरम्मत करनी है, ताकि भविष्य में और किसी के साथ शास्त्रार्थ करने की हिमाकत न करे। मैं उसे ऐसा सबक सिखाऊंगा कि याद रखे।'

'क्यूं, ऐसी क्या बात हुई? उसने तो बताया कि तुम जीत गये।'

'क्या खाक जीत गया? जब तक उसकी अक्ल दुरुस्त न करूं, मुझे शांति नहीं मिलेगी। बदजात कहीं का! मेरी ओर देखते ही उसने एक अंगुली से इशारा करके मेरी खिल्ली उड़ाते जाहिर करना चाहा कि मेरी एक आंख फूटी हुई है। अतिथि की आवभगत के नाते मैंने संयम रख कर उसके सामने दो अंगुलियां बतायीं। जताना चाहता था कि कोई बात नहीं, तुम्हें तो दो आंखों की नियामत है। मेरी चिंता मुझ पर ही छोड़ दो। फिर भी उस अहमक ढीठ ने कोई लिहाज नहीं रखा। मेरी ओर तीन अंगुलियों की सानी करके दुबारा वही धृष्टता दोहरायी कि अपन दोनों के ललाट पर केवल तीन ही आंखें हैं। तब मेरा धीरज टूट गया। बदले में मुक्का दिखा कर उसे आगाह करना चाहा कि ज्यादा गुस्ताखी की तो मुक्के मार-मार कर मुंह टेढ़ा कर दूंगा। वह तो घबरा कर बीच में ही अपना शास्त्रार्थ पूरा करके न जाने कहां चंपत हो गया? मिल जाये तो ऐसा सबक सिखाऊं...।'

बड़े भाई ने मुस्कराहट को दबाने की चेष्टा करते कहा, 'दूसरों को सबक सिखाने की बजाय एक सच्चे ज़ेन को स्वयं सबक सीखना चाहिए।' ००

लाभ की सीमा!

एक किसान ने तेन्दई के पुरोहित से प्रार्थना की, 'मेरी मृत पत्नी के लिए सूत्रोच्चारण कीजिए, ताकि उसकी आत्मा को शांति मिले।'

पुरोहित ने उसकी पत्नी के लिए सूत्रोच्चारण किया। तत्पश्चात् किसान ने पूछा, 'आपको विश्वास है कि इस से मेरी पत्नी को जरूर लाभ होगा?'

'केवल तुम्हारी पत्नी को ही नहीं, हर संवेदनशील व्यक्ति को इन सूत्रों के उच्चारण से पूरा लाभ होगा।' पुरोहित ने किसान को आश्वस्त करने की चेष्टा की।

किन्तु किसान आश्वस्त होने की बजाय अपना समूचा धीरज ही खो बैठा। अधीर होकर पूछा, 'तब तो भारी अनर्थ हो जायेगा। मेरी पत्नी बहुत कमजोर है, दूसरे सभी संवेदनशील व्यक्ति उसका लाभ हथिया लेंगे। मेरी पत्नी को जो लाभ मिलना चाहिए, वह उसे हर्गिज नहीं मिलेगा। कृपया ऐसा सूत्रोच्चारण कीजिए जिस से केवल मेरी पत्नी को ही उसका लाभ मिले।'

पुरोहित ने उसे समझाने की चेष्टा की कि प्रत्येक सच्चे बौद्ध की यही आकांक्षा होनी चाहिए कि वह जगत के हर प्राणी की सुख-शांति के लिए मंगल कामना करे। तथागत का यही उपदेश है।

'बहुत अच्छा उपदेश है!' किसान काफी कुछ समझ गया था। फिर भी थोड़ा अधीर होकर बोला, 'किन्तु एक अपवाद तो आपको करना ही होगा। मेरा एक पड़ोसी है। मेरे साथ उसका बहुत ही रूखा और घृणित व्यवहार है। कृपया ऐसे सूत्र का उच्चारण कीजिए ताकि वह उसके लाभ से वंचित रह जाय।' ००

बुद्ध-प्रतिमा की गिरफ्तारी

एक व्यापारी अपनी पीठ व दोनों कंधों पर रेशमी कपड़े की पचास गांठें लिये जा रहा था। गर्मी से परेशान होकर उसने रास्ते में बुद्ध की एक विशाल प्रतिमा की छांह तले विश्राम करने का विचार किया। पास में सारी गांठें जमा कर वह लेट गया। लम्बा रास्ता, गांठों का बोझ व गर्मी के मारे वह इतना थक चुका था कि सोते ही गहरी नींद आ गयी। जब आंख खुली तो एक भी गांठ नहीं दिखी। उसने तत्काल पुलिस को सूचना दी।

ओका नाम के प्रसिद्ध न्यायाधीश ने जांच के लिए कार्यवाही शुरू की। 'हो न हो, बुद्ध की उसी प्रतिमा ने माल चुराया है।' न्यायाधीश ने अविलम्ब अपना निर्णय सुनाया, 'निरीह जनता के माल की सुरक्षा करना उसका कर्त्तव्य है, किन्तु वह पूर्ण रूप से उस में असफल रहा। इस बेमिसाल गैर-जिम्मेदारी के लिए उसे फौरन गिरफ्तार करो।'

आदेश मिलने की देर थी कि पुलिस ने अदेर वह प्रतिमा हिरासत में लेकर न्यायाधीश के सामने पेश की। भगवान बुद्ध की प्रतिमा! और उसकी गिरफ्तारी! उत्सुक दर्शकों की भीड़ से कचहरी खचाखच भर गयी। क्या शाक्यमुनि की प्रतिमा को भी दंड मिलेगा? कैसा सिरफिरा है? किन्तु उसके न्याय का सर्वत्र दबदबा था। कानाफूसी और कोलाहल से कचहरी गूंज उठी।

न्यायाधीश ओका ने न्याय की कुर्सी पर बैठते ही तैश में आकर उत्सुक श्रोताओं को घुड़की पिलायी, 'इस तरह बेशर्मी से हंसने, शोर मचाने, अदालत को सर पर उठाने का तुम्हें क्या अधिकार है? तुम सबने अदालत की अवमानना की है, उसका मखौल उड़ाया

है। इस अपराध के लिए अदालत तुम्हें जुर्माने व कैद की सजा देती है।'

लोगों ने तुरत-फुरत क्षमा याचना की। न्यायाधीश ने थोड़ा नम्र होकर कहा, 'हर व्यक्ति को जुर्माना तो अदा करना ही पड़ेगा। अलवत्ता, एक रिआयत दे सकता हूं। तीन दिन के भीतर कपड़े की एक-एक गांठ पेश करने वाले को माफ कर दिया जायेगा, अन्यथा कैद की सजा वरकरार रहेगी।'

एक व्यक्ति द्वारा पेश की गई गांठ को व्यापारी ने तुरंत पहचान लिया। और यही न्यायाधीश ओका की न्याय-वुद्धि थी। असली चोर से सारा माल वरामद करके उसे सख्त सजा दी गयी। दर्शक अपनी-अपनी गांठें लेकर ओका के अद्भुत न्याय की प्रशंसा करते वखुशी लौट गये। ००

सही रास्ता

निनकावा की शारीरिक मुक्ति के पहले जेन श्रमण इक्यु उस से मिलने आया और पूछा, 'तुम्हारा कुछ मार्ग-दर्शन करूं?'

निनकावा ने जवाव दिया, 'अकेला आया, अकेला ही जाऊंगा। तुम मेरी क्या मदद कर सकते हो?'

इक्यु ने कहा, 'तुम्हारा यह खयाल कि तुम वास्तव में आये और गये; केवल एक भ्रम है। मैं तुम्हें ऐसी राह दिखाऊंगा, जिस पर न आना है, न जाना है।'

इन शब्दों के साथ इक्यु ने उसका ऐसा मार्ग-दर्शन किया कि मुक्ति की अंतिम मुस्कान के साथ निनकावा इस संसार से चल वसा। ००

सही और गलत

जव वैंकी ध्यान-योग के शिविर आयोजित करता तो जापान के दूर-दराज क्षेत्रों से शिष्य उपस्थित होते थे। किसी एक शिविर में एक शिष्य हाथोंहाथ चोरी करते पकड़ा गया। शिकायत ठेठ वैंकी के पास पहुंची। एक मत से सवका आग्रह था कि अपराधी को दंडित करके शिविर से वाहर निकाला जाय। किन्तु वैंकी ने कुछ भी विशेष ध्यान नहीं दिया, जैसे कुछ हुआ ही न हो।

कुछ दिन वाद वही शिष्य फिर चोरी करते पकड़ा गया और वैंकी ने तव भी सुनी-अनसुनी कर दी। इस से सभी शिष्यों को काफी गुस्सा आया। लिखित रूप में पुरजोर आग्रह किया, या तो चोर को भारी दंड देकर तुरन्त निष्कासित किया जाए, नहीं तो सव-के-सव शिष्य वहां से कूच कर जायेंगे।

तव कहीं वैंकी ने याचिका पर गौर किया। सव शिष्यों को एक जगह इकट्ठा करके कहने लगा, 'मेरे आयुष्मान शिष्यो, तुम सव तो काफी समझदार हो, विद्वान हो। अच्छी

तरह जानते हो कि भली बात क्या है, बुरी बात क्या है ? सही क्या है, गलत क्या है ? तुम चाहो तो कहीं और अध्ययन कर सकते हो, पर बेचारा यह गरीब निर्बोध तो कुछ भी नहीं जानता कि अच्छा क्या है, सही क्या है ? यदि मैं ही इसे नहीं समझाऊंगा तो और कौन समझायेगा ? मैं इसे अपने साथ ही रखूंगा, तुम सब जाना चाहो तो तुम्हारी मरजी ।'

उस चोर की आंखों से अनजाने ही आंसुओं की धाराएं फूट पड़ीं और चोरी करने की भावना भी उन आंसुओं के साथ बह कर न जाने कहां तिरोहित हो गयी ? ○○

चोर जो शिष्य बना

किसी एक सांझ की बेला शिचिर कोजुन अपने घर में सूत्रों का पाठ कर रहा था। अचानक नंगी तलवार हाथ में लिये एक चोर उसी कमरे में दाखिल हुआ। उसने पाठ करते शिचिरि को धमकी दी—चुपचाप धन सौंप दो, नहीं तो जान गंवाओगे।

शिचिरि ने सहज भाव से कहा, 'मुझे मत छेड़ो। उस दराज में धन रखा है, ले लो।' यह कह कर वह फिर से अपना पाठ करने लगा।

चोर बेझिझक धन हथियाने लगा तब शिचिरि ने कहा, 'सब का सब मत ले जाना। कल मुझे कुछ कर जमा करवाना है।'

चोर ने जितना चाहा उतना धन अपने कब्जे में कर लिया और जाने को उद्यत हुआ। 'भले आदमी, भेंट कबूल करने पर धन्यवाद तो देते जाओ।' शिचिरि ने उसे बस यही आखिरी हिदायत दी।

कुछ दिन उपरांत वह चोर पकड़ा गया और उसने अपना अपराध मंजूर किया कि दूसरी चोरियों के साथ उसने शिचिरि के घर भी चोरी की थी। जब शिचिरि को गवाह के रूप में तलब किया गया तो उसने कहा, 'जहां तक मेरा सवाल है, इसने चोरी नहीं की। मैंने अपनी खुशी से धन सौंपा और इसने बदले में आभार प्रकट किया।'

कारावास की अवधि काटने के बाद जब चोर मुक्त हुआ तो वह सीधा शिचिरि के पास गया और उसका शिष्य बन गया। ○○

हर चीज बढ़िया है !

एक बार बेन्जान किसी बाजार की गली से गुजर रहा था। अचानक उसके कानों में ग्राहक और कसाई की तकरार सुनायी दी।

'देखो, तुम्हारी दुकान में जो सबसे बढ़िया मांस हो, मुझे वही देना।' ग्राहक का पुर-जोर आग्रह था।

'मैं अपनी दुकान मे हर चीज बढ़िया रखता हूं।' कसाई ने विनम्रता से जवाब दिया। 'यहां तुम्हें मांस का कोई टुकड़ा ऐसा नहीं मिलेगा जो सबसे बढ़िया न हो।'

कसाई का जवाब सुन कर बेन्जान को तुरंत आत्मबोध की अनहद अनुभूति हुई। ○○

एक हाथ की ताली !

केन्निन मठ का श्रमण था, मोकुराइ—एक निर्वाक मेघ-गर्जन, एक अवाक विद्युत ! उसका एक नन्हा-सा अनुयायी था, तोयो। जिसकी उम्र थी केवल बारह वर्ष। तोयो प्रतिदिन सांझ-सकारे चुपचाप देखता कि बड़े-बड़े बुजुर्ग उसके गुरु के पास उपासना सीखने आते हैं, ध्यान सीखने आते हैं। शान्ति और निर्वाण के अनेक सूत्रों की अभिज्ञता प्राप्त करने आते हैं।

उपासना सीखने के लिए तोयो के मन में जबरदस्त ललक थी।

'कुछ समय तक धीरज रखो।' मोकुराइ ने समझाया, 'अभी तुम्हारी बहुत छोटी उम्र है।'

किन्तु बच्चे ने बहुत हठ किया तो गुरु को स्वीकृति देनी पड़ी।

सांझ की वेला निश्चित समय पर तोयो मोकुराइ के उपासना कक्ष की देहरी के पास आकर खड़ा हो गया। उसने घण्टा बजा कर अपने आने की सूचना दी। तीन बार श्रद्धा से दरवाजे के बाहर नमन किया और गुरु के सामने प्रणत होकर चुपचाप बैठ गया।

'दो हथेलियों से बजने वाली ताली की आवाज तो तुम सुनते ही हो।' मोकुराइ ने कहा, 'पर तुम मुझे एक ताली की आवाज सुन कर बताओ।'

तोयो गुरु के सामने श्रद्धा से झुका और उस समस्या का समाधान खोजने के लिए अपने कमरे में गया। कमरे की खुली खिड़की से उसने गणिका के गाने की आवाज सुनी। 'मिल गया, मुझे समाधान मिल गया।' स्वयं को आश्वस्त करते हुए उसने मन-ही-मन कहा।

दूसरे दिन सांझ की वेला गुरु ने अपनी शंका का समाधान मांगा। तोयो ने उसके जवाब में गणिका का वही संगीत प्रस्तुत किया।

'नहीं नहीं।' मोकुराइ ने अस्वीकृति प्रकट करते कहा, 'यह नहीं चलेगा। यह एक हाथ की ताली नहीं है। तुम उसका समाधान नहीं खोज पाये।'

शायद उस संगीत से बाधा उपस्थित हुई हो। यह सोच कर तोयो निर्जन एकांत जगह पर चला गया। वह फिर ध्यान में लीन हो गया। 'एक हाथ से ताली क्योंकर बज सकती है ? भला उसकी क्या आवाज होती होगी ?' सहसा उसने झरने के पानी की आवाज सुनी ! 'मिल गया, इस बार पुख्ता समाधान मिल गया।' तोयो मन-ही-मन आश्वस्त हुआ।

दूसरे दिन सांझ की वेला वह गुरु के सामने हाजिर हुआ तो उसने झरने की नकल करते हुए वैसी ही ध्वनि प्रस्तुत की।

'यह कैसी आवाज है ?' गुरु ने जानना चाहा। 'ओह ! यह तो झरने की आवाज है। एक हाथ से ताली बजने की आवाज नहीं है ! और कोशिश करो।'

तोयो ने उसके बाद कई बार ध्यान लगा कर एक हाथ से ताली बजने की आवाज सुननी चाही। पर निरर्थक, एक बार भी उसे सफलता नहीं मिली। उसने हवा की सांय-सांय सुनी और गुरु को बतायी। वह आवाज भी उनकी दृष्टि से अपर्याप्त थी।

उसने उल्लू की इकहरी आवाज सुनी पर वह भी अस्वीकृत हो गयी।

टिड्डी दल की आवाज भी, एक हाथ की ताली नहीं थी।

दस बार से भी ज्यादा तोयो, मोकुराइ के पास उपस्थित हुआ, तरह-तरह की आवाजों का अनुभव लेकर। किन्तु वे सभी गलत थीं। करीब एक वर्ष तक तोयो निरंतर इस जिज्ञासा में खोया रहा कि एक हाथ से ताली कैसे बज सकती है? उसकी आवाज कैसी होती होगी?

अंत में सब तरह से हताश होकर नन्हा तोयो सच्चे मन से ध्यान में लीन हो गया। विश्व-जगत की समस्त लौकिक आवाजों को पार कर वह लोकातीत अवस्था में जा पहुंचा। 'अब मुझे किसी भी आवाज की भनक सुनायी नहीं पड़ती।' उसने बाद में गुरु को बताया कि ध्वनि रहित ध्वनि का अनहद नाद उसे सुनायी पड़ने लगा है।

आखिर तोयो को एक हाथ से बजने वाली ताली की आवाज का साक्षात्कार हो ही गया। ००

तीन दिन और

स्यूवो, जो कभी हेकुइन का शिष्य रह चुका था, खुद भी एक अच्छा शिक्षक था। एक बार एकांतिक गर्मियों के दौरान जापान के दक्षिणी द्वीप से एक जिज्ञासु उनके पास आया।

स्यूवो ने उसे रास्ता सुझाया, 'एक ताली की आवाज सुनो।'

शिष्य पूरे तीन साल तक वहां रहा, मगर परीक्षा में सफल नहीं हो सका। एक रात वह आंसू बहाता हुआ उसके पास आया और विगलित कण्ठ से कहने लगा, 'बेहद लज्जा और विकट उलझन के साथ मुझे अपने दक्षिणी दड़बे में लौट जाना चाहिए। मैं किसी काबिल नहीं हूं। यह छोटी समस्या भी मुझ से नहीं सुलझ सकती।'

'एक सप्ताह और ठहरो। हर रोज सांझ-सवेरे नियमित ध्यान करो।' स्यूवो ने आग्रह-युक्त सुझाव देते हुए समझाया। लेकिन फिर भी शिष्य को किसी भी नये ज्ञान का बोध नहीं हुआ। 'सात दिन और प्रयास करो।' स्यूवो ने फिर उसी आग्रह को दोहराया। पर निरर्थक।

'एक सप्ताह और आजमाइश कर लो; शायद इस बार तुम्हें हताश नहीं होना पड़ेगा।' मगर शिष्य को फिर वही हताशा हाथ लगी। उसने अन्तिम रूप से निराश होकर कहा कि उसे घर जाने की इजाजत मिल जाये। वह किसी काबिल नहीं है। किन्तु स्यूवो के आदेश पर उसे पांच दिन और ठहरने के लिए मजबूर होना पड़ा, पर अकारथ। तब स्यूवो ने आखिरी बार हिदायत की, 'केवल तीन दिन और सच्चे मन से ध्यान करो, तब भी तुम्हारे अंतस में प्रकाश न जगे तो तुम्हारे लिए बेहतर होगा कि आत्महत्या कर लो। ऐसी निष्फल जिन्दगी जीने में सार ही क्या?'

और दूसरे दिन ही शिष्य को नये ज्ञान का बोध हो गया। ००

पछतावा

रौकान नामक एक ज़ेन श्रमण एक पहाड़ी की तलहटी में रहता था। पहाड़ी के समान ही उसका सादा जीवन था। वैसा ही प्रकृत और वैसा ही नैसर्गिक। एक दिन सूनी झोंपड़ी पाकर एक चोर ने तुरंत पता कर लिया कि वहां चोरी करने के लिए कुछ भी नहीं है। वह सकते में आकर कुछ देर तक सोचता रहा।

रौकान लौट कर आया तो अभागे चोर से उसकी भेंट हुई। 'तुम्हें तो वहुत पहले मेरी खोज-खवर लेनी चाहिए थी, भाई।' वह चोर की तरफ देखते हुए कहने लगा, 'खैर, कुछ भी हो, तुम्हें खाली हाथ नहीं जाने दूंगा। कृपया मेरे कपड़ों की यह तुच्छ भेंट ही स्वीकार करो।'

चोर के अचरज की सीमा न रही। उसने कपड़े ले लिये और चुपचाप वहां से खिसक गया।

एक छोटी-सी चट्टान पर निरावृत वैठा रौकान चांद की तरफ टकटकी लगाये देखता रहा। फिर धीरे-से फुसफुसाया, 'वेचारा चोर! कितना मोहताज है? काश! मैं उसे यह खूवसूरत चांद दे पाता!' ००

अच्छा, यह वात है!

ज़ेन भिक्षु हेकुइन के सादे व पवित्र जीवन से प्रभावित होकर सभी पास-पड़ोसी उसकी खूव प्रशंसा करते थे।

कुछ ही दूरी पर एक जापानी परिवार रहता था। पंसारी की दुकान थी और एक जवान लड़की थी। निहायत खूवसूरत। अनायास एक दिन अप्रत्याशित दुःस्वप्न की तरह पिता को पता चला कि उसकी वेटी गर्भवती है।

मां-वाप का गुस्सा भड़कना स्वाभाविक ही था। पूछताछ करके हैरान हो गये, मगर अड़ियल लड़की टस-से-मस नहीं हुई। आखिर हरदम तंग करने से लड़की पस्त हो गयी और उसने धीमी जवान से हेकुइन का नाम वता दिया।

गुस्से में उवलते मां-वाप भिक्षु के पास पहुंचे। उसे वहुत खरी-खोटी सुनायी। विना किसी प्रतिवाद के वह चुपचाप सुनता रहा। अंत में सहज सादे सुर में इतना ही वोला, 'अच्छा, यह वात है!'

उस वात के वाद हेकुइन की साख-प्रतिष्ठा एकदम गिर गयी। लोग उस से कतराने लगे। रास्ते में भेंट होने पर मुंह फिराने लगे। लेकिन उसके सहज दैनिक जीवन में उस घटना का रंच-मात्र भी असर नहीं हुआ। वही सहज गति और वही सहज दृष्टि। लोग मन-ही-मन सोचते, कितना घुन्ना और पाखण्डी है! लड़की के वच्चा हुआ तो घर वालों ने तुरंत उसका पाप उसके हवाले कर दिया और उसने सहज भाव से उसे अंगीकार किया। मां के अभाव में भी उसने सद्यःजात वच्चे की वहुत एहतियात से परिवरिश की। वच्चे की

हर जरूरत को वह पूरा करता रहा।

लेकिन साल भर से अधिक अपराधिनी मां ज़ेन भिक्षु के सहज व्यवहार को सहन नहीं कर सकी। वह भीतर-ही-भीतर कट रही थी, पिघल रही थी। आखिर एक दिन उसका धीरज टूटा। साल भर की दबी सच्चाई को उसने मां-बाप के सामने प्रकट कर दिया कि बच्चे का असली पिता एक दूसरा युवक है, जो मच्छी-बाजार में काम करता है।

मां-बाप अपने दुर्व्यवहार के लिए बहुत ही पछताये। अविलम्ब भिक्षु के पास पहुंचे और अपने अपराध की क्षमा मांगी। भिक्षु ने पहले की भांति सारी बातें चुपचाप सुनीं। बच्चे को सौंपते समय सहज भाव से इतना ही बोला, 'अच्छा, यह बात है!' ००

अनुपालना

श्रमण बैंकी के प्रवचन इतने संयत, इतने सहज व इतने प्रकृत होते थे कि ज़ेन विद्यार्थियों के अलावा विभिन्न सम्प्रदाय व शाखा के मतावलम्बी भी अक्सर उसे सुनने आ जाते थे। न वह सूत्रों के उद्धरण प्रस्तुत करता था और न शास्त्रों का संदर्भ देकर अपने पांडित्य का प्रदर्शन। उसके हृदय से निकले हुए शब्द सीधे श्रोताओं के हृदय में उतर जाते थे। मन से मन का नैसर्गिक परस हो जाता था।

श्रोताओं के बढ़ते आकर्षण से 'निचिरेन' मत के साधु को मन-ही-मन बड़ी जलन हुई। क्योंकि उसके अनुयायी भी ज़ेन बौद्ध के बारे में जाने-अनजाने रुचि लेने लगे थे। अपने ही दायरे में जकड़ा 'निचिरेन' मठ में आया और बैंकी को शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दी।

'ओ रे ज़ेन श्रमण, नहीं नहीं—ज़ेन प्रवंचक।' उसने कसैले स्वर में ललकारा, 'अपनी बकवास बन्द कर। जो कोई भी तुम्हें श्रद्धा करेगा, वही तो तुम्हारी अनुपालना करेगा। किन्तु मुझ जैसा विवेकशील व्यक्ति जो तुम्हारी श्रद्धा नहीं करता, क्या तुम उसे भी तुम्हारी अनुपालना के लिए बाध्य कर सकते हो?'

'मेरे पास आइये, तभी मैं आपकी शंका का समाधान कर सकूंगा।' बैंकी ने विनम्रता से कहा।

उत्सुक भीड़ को पार करता हुआ निचिरेन साधु रुआब से उसके पास गया।

बैंकी ने मुस्करा कर कहा, 'मेरी बाईं तरफ बैठिए।'

जैसा कहा उसने वैसा ही किया।

'ना ना।' बैंकी ने अकृत्रिम भाव से कहा, 'जरा दायीं ओर आने का कष्ट करें। बात करने में सुविधा रहेगी। आपको थोड़ी तकलीफ तो होगी, जरा जल्दी आइये।'

वह तुरंत दायीं ओर आकर बैठ गया।

'अब आप ही बताइए।' बैंकी कहने लगा, 'आप मेरा कहा मान रहे हैं कि नहीं? मेरे खयाल से बहुत ही अच्छा स्वभाव है तुम्हारा। अब चुपचाप बैठो और ध्यान से मेरी बात सुनो। किसी की अच्छी बात सुनने में कोई बुराई नहीं है।' ००

मौन रहने की साधना

जापान में ज़ेन के प्रादुर्भाव से पहले का यह दृष्टांत है। तेन्दइ मत के शिक्षार्थियों का ध्यान-योग के प्रति काफी रुझान था। उस मत के चार शिष्य बहुत ही घनिष्ठ मित्र थे। ध्यान-योग के लिए मौन रहने की साधना अनिवार्य थी। उन्होंने मिल कर दृढ़ निर्णय किया कि वे शुरुआत में ही सात दिन तक पूर्ण रूप से मौन रहें। मुंह से बोलने की बात तो दूर, इशारों में भी परस्पर कोई संवाद न करें।

दिन भर तो उन्होंने अपने निर्णय की जबरदस्त पाबंदी रखी। हाथ और आंखों पर भी उन्होंने कस कर नियंत्रण रखा। साधना का श्री-गणेश तो सोचा उस से भी शानदार हुआ। मन-ही-मन गहरे मनन का तो स्वाद ही निराला है!

किन्तु रात का अंधकार निगूढ़ होते ही उनके भीतर हाहाकार मचलने लगा। अचानक एक मित्र की नजर मद्धिम होते हुए दीपक पर पड़ी। दीपक बुझते ही भीतर का हाहाकार बाहर छिटक पड़ेगा। तुरंत अधीर होकर उसने सेवक से कहा, 'दिखता नहीं, दीया बुझ रहा है, जल्दी ठीक करो।'

दूसरे मित्र को उसके बोलने पर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसे सावधान करते हुए उतावली में बोला, 'भूल गये, सात दिन का मौन व्रत है न?'

'तुम दोनों ही अजीब घनचक्कर हो। मुंह से तो सांस तक लेना वर्जित है, समझे।' तीसरे मित्र ने उन्हें टोकते हुए कहा।

'केवल मैं ही चुप हूं, तुम तीनों की साधना तो भंग हो गयी।' चौथा मित्र अपने संयम का परिचय देते हुए बोला। ००

हत्या

एक दिन गसान अपने अनुयायियों को सीख दे रहे थे: 'जो लोग हत्या के विरुद्ध आवाज उठाते हैं, हर चेतन-शील प्राणी को बचाने का समर्थन करते हैं, वे सही हैं। जानवर, कीड़े-मकोड़े व पेड़-पौधों की सुरक्षा करना भी अच्छी बात है। मगर उन लोगों के बारे में क्या कहा जाय जो समय की हत्या करते हैं, संपत्ति का विनाश करते हैं, राष्ट्रीय निधि का दुरुपयोग करते हैं! उन्हें कतई नजरअंदाज नहीं करना चाहिए। और सबसे अधिक घातक हैं वे लोग जो आत्मबोध के बिना ही लोगों को उपदेश बघारते हैं! यह तो स्वयं बुद्ध की हत्या है, बौद्ध-धर्म का सफाया है।' ००

आखिरी वसीयत

अशिकाग राज-वंश के दौरान इक्यु नामक एक प्रसिद्ध ज़ेन श्रमण था। उसके छुटपन से ही, एक बहुत बड़े राज्य की महारानी का वैभव त्याग कर उसकी मां ज़ेन भिक्षुणी वन गयी थी। तव मां के आदर्श का अनुसरण करते हुए वह भी सल्तनत का सिंहासन छोड़ कर ज़ेन-शास्त्रों का अध्ययन करने हेतु भिक्षु वन गया। अपनी दैहिक मुक्ति से कुछ दिन पूर्व मां ने पुत्र के नाम निम्नलिखित पत्र लिखा :

लाडले इक्यु !

मनुष्य-जीवन का कर्त्तव्य-वोध मैंने अच्छी तरह निभाया और अव मैं शाश्वत काल की ओर प्रयाण कर रही हूं। मेरी हार्दिक इच्छा है कि तुम एक आदर्श श्रमण वनो और वुद्ध-प्रकृति में लीन हो जाओ। तुम्हें पता चल जायेगा, मेरा निर्वाण हुआ कि नहीं ? मैं हरदम तुम्हारे साथ हूं कि नहीं ?

यदि तुम एक ऐसे मनुष्य का जीवन विताने लगो जो यह महसूस करता हो कि भगवान वुद्ध और वोधिधर्म तुम्हारे सेवक हैं, तव वेहतर है कि तुम शिक्षा का परित्याग करके मानवता की सेवा में जुट जाओ। गौतम-वुद्ध ने उन्चास वरस तक उपदेश देने का मंगल कार्य किया और उस दीर्घ अवधि के दौरान कभी इस वात की जरूरत नहीं समझी कि एक शब्द वोलना भी अनिवार्य है। तुम्हें जानना चाहिए कि ऐसा क्योंकर सम्भव हुआ ? यदि तुम न भी जान सको, मगर जानने की इच्छा हो तो निरर्थक चिंतन सर्वथा वन्द कर दो।

तुम्हारी जन्मदात्री
जो न तो जन्मी, न मरी
सितम्वर एक

पुनश्च : भगवान वुद्ध के उपदेशों का प्रमुख ध्येय यही था—मनुष्य मात्र के लिए आत्म-वोध की भूमिका प्रस्तुत करना। यदि तुम उसकी एक भी कर्म-विधि पर पूर्णतया निर्भर हो तो एक तुच्छ कीड़े से वेहतर तुम्हारी जिन्दगी नहीं है। वुद्ध-धर्म पर अस्सी हजार पुस्तकें हैं, यदि उन सवका अध्ययन करने के वावजूद भी तुम अपनी प्रकृति समझने मे असमर्थ रहे तो यह पत्र भी तुम समझ नहीं सकोगे। तुम्हारे नाम मेरी यही वसीयत और यही दस्तावेज है। ००

अछूत

सुन रे चम्पा के बूटे,
बच्चा है तू।
तेरे फूल
किसी कामिनी के
कोमल कपोल
चूमने के लिए बने हैं।

यहां मरुथल में
इन ठूंठ-से लोगों के बीच
मत फूलों की हंसी बिखेर!

हे बालचम्पकतरो तरुणीकपोल-
लावण्यचुम्बनसुखोचितचारुपुष्प!
किं पुष्पितेन विजहीहि विकासहास-
मुद्दामपामरगणा मरुभूमिरेषा ॥

—नरेन्द्र

आकांक्षा

तुम्हारा मीठा फल खाया
छाया में ठण्डा पानी पिया
नये चिकने पत्तों की सेज पर
सुख की नींद सोये
थकान मिटाई
देर तक सुस्ताते रहे
मन को चैन मिला

हम बटोही अब विदा लेते हैं
फिर तुम्हारा साथ मिले
ऐ रास्ते के पेड़ !

भुक्तं स्वादु फलं कृतं च शयनं शाखाग्रजैः पल्लवै-
स्त्वच्छायापरिशीतलं च सलिलं पीतं विनीतः क्लमः ।
विश्रान्तं सुचिरं ततोऽपि मनसा प्राप्ता परा निर्वृति-
स्त्वं सन्मार्गतरुर्वयं च पथिका भूयात्पुनः संगमः ।।

—अज्ञात

मदांध !

रस के लोभी भंवरे
गुन-गुन
जिसका गुणगान करते थे।
दिसावर से आये पंछी
जिस में सुख से

बसेरा करते थे।
गरमी के घाम में
सैकड़ों बटोही
जिसका आसरा ढूंढ़ते थे

उस छाया के धनी पेड़ को
किसी पागल हाथी ने आज
गिरा दिया !

उच्चैर्यो मधुपानलुब्धमनसां भृंगांगनानां गणै-
रुद्गातो रचितालयः खगकुलैर्देशान्तरादागतैः।
आसीद्यश्च निषेवितोऽध्वगशतैर्ग्रीष्मोष्मतान्तिच्छिदे
सोऽयं संप्रति दुर्मदेन दलितश्छायातरुर्दन्तिना ।।

—अज्ञात

प्रतिदान ?

ये जो यहां
निःस्वार्थ मन से
लोगों का दुःख मिटाते हैं—
ये पेड़ कितने असहाय हैं !

कौन जाने, ईश्वर ने
क्या सोच कर इन्हें रचा !

दूरीकृतस्वार्थलवा जनस्य
समुद्यता ये भुवि तापशान्त्यै ।
द्रुमास्त एवागतिका न विद्मः
प्रजापतेराशयलेशमत्र ॥

—प्रकाशवर्ष

फलें-फूलें

भंवरों के भार झुके
फूलों से
मधु-पराग झरता है।
घनी-घनी छाया में
बटोही को
घर-सा चैन मिलता है।
फलों से भूख मिटती है
पास के सोते से, प्यास।

ईश्वर करे, ये पेड़
बढ़ते रहें,
फलें-फूलें,
सुखी रहें!

भ्राम्यद्भृंगभरावनम्रकुसुमश्च्योतन्मधूद्गन्धिषु
च्छायावत्सु तलेषु पान्थनिवहा विश्रम्य गेहेष्विव।
नित्यं निर्झरवारिवारिततृषस्तृप्यन्ति येषां फलै
स्ते नन्दन्तु फलन्तु यान्तु च परामत्युन्नतिं पादपाः॥

—अज्ञात

सहन-शक्ति

हमने माना, छायादार हो
मगर चौराहे पर जनमे हो !
माना, तुम में फल हैं
फल के धनी हो—
फिर यों झुके-से क्यों रहते हो ?

अरे पेड़, भले मानस,
ये लोग स्वभाव से दुष्ट हैं—
तुम्हारी डालों को नोचते हैं, खसोटते हैं
खींचते हैं, तोड़ते हैं, काटते हैं—
और तुम
सहने के सिवा कर क्या सकते हो ?

किं जातोसि चतुष्पथे यदि घनच्छायोसि किं छायया
युक्तश्चेत्फलितोसि किं फलभरैराढ्योसि कस्मान्नतः ।
हे सद्वृक्ष सहस्व संप्रति शिखाशाखाशताकर्षण
क्षोभामोटनभंजनानि जनतः स्वैरेव दुश्चेष्टितैः ।।

—अज्ञात

अभिशाप !

जानते नहीं, यह मरुथल है।
यहां हवा—
नाक के आगे रहती है
—अपनी ही सांस की—
और पानी—
बस, आंखों में रहता है।
कोई काम—
जो होता भी है
तो मन-ही-मन में।
एक जलन ही है
जो सदा बनी रहती है।

यहां मन में सौ आस लिये
बटोही—
पेड़ के पास आते हैं।
और पेड़ ?—
इस आस में बैठा है
कि उनके पसीने से
अपनी प्यास बुझाये।

नासाग्रे पवनः परं नयनयोरापः क्रिया चेतसि
स्थैर्यं दाहभरेषु किं नु विदिता नैता मरुक्षोणयः।
यत्राशाशतसम्भ्रमेण पथिकैर्लब्धोपि भूमीरुह-
स्तेषामेव निदाघबिन्दुनिचयैः सेकस्थितिं वाञ्छति ॥
—सोढगोविन्द

अतुल्य दानी

वृक्ष, तुम बोधिसत्व हो !
किस-किस को अपना आपा नहीं लुटा देते :
हवा को सुगन्ध,
पशु को पात,
मुनि को छाल,
भंवरे को फूल,
पंछी को फल,
थके को छाया,
मतवाले हाथी को कंधे-सा तना।
तुम्हारे आगे, सच, और सब छोटे हैं !

आमोदैर्मरुतो मृगाः किसलयैर्लम्वैस्त्वचा तापसाः
पुष्पैः षट्चरणाः फलैः शकुनयो धर्मार्दितश्छायया।
स्कन्धैर्गन्धगजाश्च विश्रमरुजाः शश्वद्विभक्तास्त्वया
प्राप्तस्त्वं द्रुम बोधिसत्त्वपदवीं सत्यं कुजाताः परे ।।

—अज्ञात

ओछे साथी

फुनगी के पंछी दूर कहीं उड़ गये।
वन्दरों ने फल तो फेंक दिये
और अलग खड़े देखते रहे।
छाया में बैठे बटोही की थकान मिट चुकी थी;
उसने हट कर अपना बचाव किया।

जब पेड़ पर कुल्हाड़ी चली
तो सारे-के-सारे ओछे निकले—
किसी ने साथ नहीं दिया !

शाखानामुपरि स्थितैः शकुनिभिर्दूराद्गृहीता दिशः
सद्योमुक्तफलैर्विवृत्य कपिभिः पश्यद्भिरेव स्थितम्।
छायापास्तपरिश्रमैश्च पथिकैरात्मा परं रक्षितो
न क्षुद्रैर्पतन्निशातपरशावात्मार्पितः शाखिनि ।।

—अभिनंद

मुरला नदी को

किसने अहा,
तेरा किनारा
इन निचुल के पेड़ों से ढक दिया है !

धार तक फैली घनी छाया
ठण्डी हवा की अठखेलियां
पनकुकरी का भीना स्वर
नरम रेत का बिछौना

यहां गांव की ढीठ लड़कियां
निडर, निरन्तर किसी की
बांहों में खेल सकती हैं।

सिकतिलतला: सान्द्रच्छायास्तटान्तविलम्बिन:
शिशिरमरुतां लीलावासा: क्वणज्जलरंकव:।
अविनयवतीनिर्विच्छेदस्मरव्ययदायिन:
कथय मुरले केनामी ते कृता निचुलद्रुमा: ।।

—विद्या

भलाई ?

तुम हमारा भला ही चाहते हो
भाई अंगार वाले।
इन पेड़ों को काट कर
हमारा निबाह चाहते हो न ?

पर यहां मरुथल में
जब सूरज की किरणें
बिजलियां बरसायेंगी,
बेचारे झुलसे हुए बटोही
का क्या होगा ?

कल्याणं नः किमधिकमतो वर्णनार्थं यदस्मा—
ल्लत्वा वृक्षानहह दहसि भ्रातरंगारकार !
किं त्वेतस्मिन्नशनिपिशुनैरातपैस्तापिताना-
मध्वन्यानामपयसि मरुप्रान्तरे कोऽभ्युपाय : ।।

—गदाधर

अकिंचन आश्रय

ऊपर कठोर सूरज है
नीचे कठिन, पांव-तले कटती हुई,
धरती।
धूल-भरी तीखी हवा
झील को सुखा चुकी है।
फिर भी बटोही को भरोसा है :
'प्राण नहीं जायेंगे'।

तुम्हारे छतनार पत्तों के नीचे
आ बैठा है।

उपरि मिहिरः क्रूरः क्रूरास्तलेचलभूमयो
वहति पवनः पांशूत्कर्षी कृशः सरसो रसः।
अहह न जहत्येते प्राणांस्तदैव किमध्वगा
यदि न भवतः पत्रच्छत्रं विशन्ति महीरुहः।।

—पुरुसेन

स्वाभिमान !

पीपल का अंकुर-कण
दूसरे अंकुरों-सा नहीं होता ।
या तो ऊंचा विशाल पेड़ ही बनता है,
या जड़-समेत धूल

महातरुर्वा भवति समूलो वा विनश्यति ।
नांकुरप्रक्रियामेति न्यग्रोधकणिकांकुरः ।।
—अज्ञात

वन्दनीय !

पथ के पेड़ !
तुम पथ की शोभा हो ।
सौ साल जियो !

आज फिर अपने पत्तों से
आकाश को घेर लो !
अपनी डालों से
आकाश को चूमो !

तुम्हारे तले
जब हम थक कर लेटे
तुमने पसीना पोंछ दिया ।
ताप मिटाया--
और फल देकर
भूख ।

हे हे मण्डितमार्ग मार्गविटपिञ्जीव्याः समाः शाश्वती-
रद्याप्यावृणु दिग्तटानि विटपैः सालैश्च चुम्बाम्बरम् ।
मूले विश्रमणाशयैव लुठिता यन्न त्वया केवलं
घर्मार्तैः परिमोचिताः फलशतैर्यावद्वयं तर्पिताः ।।

—अज्ञात

कनेर

गहरे नील, मोरकंठी
भौंरों से जड़े
लाल चटख फूल

पर्वत की चोटी पर
कनेर
मुकुट पहने खड़ा है।

महीध्रमूर्ध्नि भ्रमरेन्द्रनीलैर्विभक्तशोभः शिखिकण्ठनीलैः।
गृहीतभास्वन्मुकुटानुकारस्ततान कान्तिं नवकर्णिकारः।।

—कुमारदास

आभास

गीले-गीले जूड़े में
चमेली का हार।
उरोज पर ठण्डी
पाडर की माला।
कानों में सुकुमार
सिरस

गरमी के दिन
दिखायी दे रहे हैं।

तोयात्तीर्णा श्रयति कवरी शेखरं सप्तलानां
शैत्यं सिंचत्युपरि कुचयोः पाटलाकण्ठदाम।
कान्तं कर्णावभिनिविशते कोमलाग्रं शिरीपं
स्त्रीणामंगे विभजति तपस्तत्र तत्रात्मचिह्नम्।
—मधुरशील

चांदनी का जाल

पेड़ों के झुरमुट में
काले भंवरे,
काला अंधेरा

पत्तों के जाल से
चांद की किरणें
उतरीं

और अंधेरे को
पकड़ ले गयीं।

गुल्मलीनमलिकर्वुरं तमः कृष्टुकाम इव शर्वरीकरः।
सर्वतो विटपजालरन्ध्रकैः प्रेरयत्युदयशेखरः करान्॥
—कुमारदास

बरगद

तुम्हारे पत्ते ऐसे नहीं
जैसे किसी लड़की की
नरम हथेली ।
न तुम में फूलों की वहार है
न कस्तूरी-सी गन्ध,
न रसभरे फलों का
भण्डार ।

न सही, वड़, न सही !

यहां लोगों को चैन
कौन देता है ?
किसको पूजते हैं लोग ?

नोन्मीलन्तु नितम्बिनीकरतलस्पर्धाभृतः पल्लवाः
प्रत्युद्यान्तु न वैणनाभिमधुरामोदाः प्रसूनश्रियः ।
नाभूवन्फलसंपदो मधुरसप्रस्यन्दभाजस्तथा
प्यश्वत्थस्य गतः सुखेन जगतां वन्द्यस्य जन्मग्रहः ।।
—उमापतिधर

बड़प्पन

फल तो आते हैं,
पर रस एक ही दो में होता है।
बीज भी ऐसे हैं
कि बिरला ही अंकुराता है।

पर जड़ पकड़ ले
तो बड़ का एक ही अंकुर
कैसा बढ़ जाता है!
कितने मारे-मारे बेचारे
इसकी छांह ढूंढ़ते फिरते हैं
जैसे मां की गोद हो।

न्यग्रोधे फलशालिनि स्फुटरसं किंचित्फलं पच्यते
वीजान्यंकुरगोचराणि कतिचित्सिद्ध्यन्ति तत्रापि च।
एकस्तत्र स कश्चिदंकुरवरो वध्नाति तामुन्नतिं
यामध्यगजनः स्वमातरमिव क्लान्तिच्छिदेधावति ॥

—शालिकनाथ

विवशता

जड़ के पास ही कोटर है।
कोटर में सांप।
ऊपर गीध बैठा है,
नीचे कांटे बिछे हैं
और सब ओर कीड़े ही
कीड़े !

पर पेड़ !
यहां मरुथल में
और कहां जायें ?
तुम्हारा ही आसरा है !

फणी मूलश्वभ्रे वपुरविरलं कीटपटलैः
शिरो गृध्रश्रेणीविधुरितमधः कण्टकचितम्।
इतीदं जानीमश्चिरमपथभाजस्तव तरो !
तथाप्यस्यामक्ष्मारुहि भुवि भवानेव शरणम्।।
—वैद्यगदाधर

उच्चाश्रय ?

हां, ऊंचे तो हो,
नीचे तक छाये भी हो।
घनी-घनी छांह है
इठलाते पत्ते हैं
फूलों की बड़ी पूंजी है

लेकिन अशोक !
तुम्हारे नीचे बैठे
ये हारे-थके बटोही
फलों को तरस जाते हैं।

किं ते नम्रतया किमुन्नततया किं ते घनच्छायया
किं ते पल्लवलीलया किमनया चाशोक पुष्पश्रिया।
यत्त्वन्मूलनिषण्णखिन्नपथिकस्तोभः स्तुवन्नन्वहो
न स्वादूनि मृदूनि खादति फलान्याकण्ठमुक्तिण्ठतः।

—कविराज

मोह

जामुन के फूलों में
गहरे
मधु का भरा है।
पीकर
ये मतवाले तोते
भंवरों को
जामुन जान बैठे हैं:
चोंच में लेते हैं,
उगल देते हैं।

ये भौंरे भी, देखो,
टेसू की नयी
लाल-लाल कोंपल को
फूल के धोखे,
बार-बार,
छेड़-छेड़ जाते हैं।

जम्बूनां कुसुमोदरेष्वतिरसादाबद्धपानोत्सवाः
कीराः पक्वफलाशया मधुकरीश्चुम्बन्ति मुंचति च ।
एतेषामपि पश्य किंशुकतरोः पत्रैरभिन्नत्विषां
पुष्पभ्रान्तिभिरापतन्ति सहसा चंचूषु भृंगांगनाः ॥

—राजशेखर

विन्ध्याचल के जंगल

दूर-दूर तक घनी वंसवारी है—
हरी, तोतापंखी।

पेड़ों पर खेल-खेल में
हाथियों ने दांतों से
घाव कर दिये हैं।

लताओं के झुरमुट में,
नदी-किनारे,
रतिक्लान्त युवती के कपोलों को
सुखाती सहलाती
भीनी-भीनी हवा आयी है।

ये ही हैं वो
विन्ध्याचल के जंगल!

इमास्ता विन्ध्याद्रेः शुकहरितवंशीवनघना-
भुवः क्रीडालोलद्विरदरदनारुग्णतरवः।
लताकुंजे यासामुपनदि रतिक्लान्ततरुणी-
कपोलस्वेदाम्भः परिचयनुदो वान्ति मरुतः।।

—योगेश्वर

गगन वट

आकाश बरगद-सा खड़ा
काले घिरे बादल
घनेरे पात की जैसे घटा
बरसात की आ लगी
धरती पर झड़ी
जैसे जटा

आरोहवल्लीभिरिवाम्बुधाराराजीभिराभूमिविलम्बिनीभिः ।
संलक्ष्यते व्योम वटद्रुमाभमम्भोदरश्यामदलप्रकाशम् ।।

—दक्ष

सिरस

तोते के जैसे पंख
हरे उजले कोमल
फूलों की वांधे जटा
सिरस की डाल-डाल

ठण्डक आयी है सिमट वहीं
दिन की गरमी से जोगन हो
कर लिया बसेरा सिरस तले।

शुकपत्रहरितकोमलकुसुमशटानां शिरीषयष्टीनाम्।
तलमाश्रयति दिनातपमयेन परिपिण्डितं शैत्यम्।

—वागुर

मलय-पवन

छलछल करता आ भरा
नारियल में जल, उसको
दे हिलोर।

कावेरी-तट के ताड़ों पर
वंध रहे सुरा के भाण्ड
उन्हें झकझोर झोर।

केलों के नीले फूलों को
दे फल, शीतल
यह मलय पवन
द्राविड़ वालाओं के कपूर-गोरे
कपोल पर ठिठक-ठिठक
अव चली मन्द
गति तोड़-तोड़।

पानीयं नालिकेरीफलकुहरकुहूत्कारि कल्लोलयन्तः
कावेरीतीरतालद्रुमभरितसुराभाण्डभांकारचण्डाः।
उन्मीलन्नीलमोचापरिचयशिशिरा वान्त्यमी द्राविडीनां
कर्पूरापाण्डुगण्डस्थललुठितरया वायवो दाक्षिणात्याः॥
—बिल्हण

निःसंग योगिनी

भ्रमरों की माला, जटाभार
उजले पराग का रचे भस्म
वह रही डोल
एकान्त जहां फूलों का वन
चुन-चुन कलियां गुनगुन मंथर,

निःसंग योगिनी मलय पवन

अलीनां मालाभिर्विरचितजटाभारमहिमा
परागैः पुष्पाणामुपरचितभस्मव्यतिकरः ।
वनानामाभोगे कुसुममति पुष्पोच्चयपरो
मरुन्मन्दं मन्दं विचरति परिव्राजक इव ।।

—वीर्यमित्र

निर्बन्ध-प्रवाह

चट्टानें तोड़तीं,
विन्ध्य को बींधतीं,
पाताल-छूतीं,
ये बरसात की नदियां
नर्मदा से मिलने को,
मन दहलातीं
आकुल बही जाती हैं।

किनारे के पेड़
खेल-खेल में उखाड़तीं
नचातीं, घुमातीं,
चलातीं, ठुकरातीं,
डुबातीं, तिरातीं,
छुपातीं, दिखातीं,
हटातीं, बढ़ातीं,
बहाये लिये जाती हैं।

एते मेकलकन्यकाप्रणयिनः पातालमूलस्पृशः
संत्रासं जनयन्ति विन्ध्यभिदुरा वारां प्रवाहाः पुरः।
लीलोन्मूलितनर्तितप्रतिहतव्यावर्तितप्रेरित-
त्यक्तस्वीकृतनिह्नुतप्रचलितप्रोद्धूत तीरद्रुमाः ।।
—अज्ञात

हतभाग्य

जब धूप चढ़ी
किरणों ने गंजे के
सिर ऊपर किया वार।
जा बचा, दौड़ कर
बेल-तले की छाया में।
पर हाय, तभी
फल गिरा
बेल का पका, वहीं।
फट गयी खोपड़ी
गंजे की।

होनी ने ही
जिसको मारा,
विपदा भी चलती साथ-साथ
जा छुपे कहीं !

खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किरणैः संतापितो मूर्धनि-
च्छायामातपवैरिणीमनुसरन् बिल्वस्य मूलं गतः।
तत्राप्याशु कदाचिदेव पतता बिल्वेन भग्नं शिरः
प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रापदां भाजनम् ।।

—अज्ञात

मेरे घर के आसपास सर्वत्र प्रतिष्ठित ये मेरे बान्धव, जो आलोक के प्रेम में उन्मत्त होकर आकाश की ओर हाथ उठाये हुए हैं, उनकी अपौरुषेय पुकार, मेरे अंतस में अवतरित हुई। उनकी भाषा है—जीव और जगत की आदि-भाषा। जिसका इशारा ठेठ पहुंचता है, प्राणों के सर्वप्रथम अंतस्तल में, जो हजार-हजार वर्षों के विस्मृत इतिहास को झंकृत कर देता है। मन के भीतर यह जो साड़ा व्यंजित होता है, वह भी गाछ-बिरछ की उसी भाषा में—जिसका कोई स्पष्ट अर्थ नहीं है, फिर भी उस में अगण्य युग-युगान्तर गुनगुना उठते हैं।

वे सभी गाछ-बिरछ विश्व-बाउल के इकतारे हैं, उनकी मज्जा में है सरल सुर का कंपन, उनकी डाल-डाल में, पात-पात में है इकताल छंद का नर्तन। यदि निस्तब्ध होकर प्राण उंडेल कर सुनूं तो मानस में मुक्ति की वाणी छलछलाती है। मुक्ति के उस विराट प्राण-वारिधि के ऊपरी तल पर तरंगित है महासुन्दर की रंग-बिरंगी लीला और अतल गहराई में अवस्थित है—शांतम्, शिवम्, अद्वैतम्। उस लीला में कहीं भी लालसा नहीं, आवेश नहीं, जड़ता नहीं –है तो केवल परम-शक्ति के निःशेष आनन्द का आंदोलन। 'एतस्यैवानन्दस्य मात्राणि' देखता हूं फूल में, फल में, पल्लव में। उसी के भीतर पाता हूं मुक्ति का आस्वाद और सुनता हूं विश्वव्यापी प्राणों के संग, प्राणों के निर्मल अबाध मिलन की वाणी।

वैष्णवी ने एक दिन पूछा था—कब होगा, बिरछ की छांव, हमारा मिलन कब होगा ? उसका आशय था कि गाछ के भीतर निहित है—प्राणों का विशुद्ध सुर। उस सुर को यदि प्राण बिछा कर ग्रहण कर सके तो उनके मिलन-संगीत में बद्-सुर नहीं लगेगा। बुद्धदेव जिस बोधि-वृक्ष के तले निर्वाण को प्राप्त हुए थे, उनकी वाणी के साथ-साथ बोधि वृक्ष की वाणी भी सुन सके, परस्पर दोनों आज भी घुली-मिली जो हैं। आरण्यक ऋषि सुन पाये थे गाछ-बिरछ की वाणी, 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः।' सुना था, 'यदिदम्

वन-वाणी

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

किंच सर्वम् प्राण एजति निःसृतम्।' उन्होंने उसी चिर-युगीन प्रश्न से साक्षात्कार किया था, 'केन प्राणः प्रथमः प्रैतियुक्तः'—प्रथम-प्राण अपना वेग लेकर कहां से आया इस जगत में? वह प्रैति, वह वेग कहीं रुकना नहीं चाहता, रूप का निर्झर प्रतिक्षण झरने लगा है, उसकी कितनी रेखा, कितनी भंगिमा, कितनी भाषा, कितनी वेदना है? उस प्रथम-प्राण प्रैति की नवनवोन्मेषशालिनी सृष्टि के चिर-प्रवाह को अपने भीतर गहराई से, विशुद्ध रूप से अनुभव करने की महामुक्ति और कहां है?

यहां सूर्योदय की वेला होटल की खिड़की के पास बैठ कर कितनी बार सोचा है कि शांतिनिकेतन के प्रांगण में अपने घर-द्वार पर प्राण का आनंद-रूप निहारूंगा, उस लता की शाखा-प्रशाखाओं में, प्रथम प्रैति का बन्ध-विहीन प्रकाश-रूप निहारूंगा—उस नागकेशर के फूल-फूल में। मुक्ति के लिए जब प्रतिदिन प्राण व्यथित-व्याकुल हो उठे, तब सबसे ज्यादा याद आती है—मेरे घर के बाहर अधिष्ठित उन गाछ-बिरछ की। वे धरणी के ध्यान-मंत्र की ध्वनि हैं। प्रतिदिन अरुणोदय के समय और हर निस्तब्ध रात के सितारों की चमक में, उनकी ओंकार ध्वनि के साथ अपना ध्यान-सुर मिलाना चाहता हूं। मैं यहां रात के करीब तीन बजे—एक तो सघन अंधकार, उस पर मेघों का आवरण —अपने अन्तर-अन्तर में एक असहनीय चंचलता अनुभव करता हूं, अप्रतिहत गति के सहारे अपने-आप से कहीं दूर भागने की खातिर। मगर भागूं कहां? कोलाहल से संगीत में? इस अंतरगूढ़ वेदना के समय जब शांतिनिकेतन की चिट्ठी मिली, तब याद आया वह संगीत, जिसका विशुद्ध सुर बज रहा है, मेरे उत्तरायण में विराजमान गाछ-बिरछ के झुरमुट में, जहां चुपचाप बैठ पाने पर ही उस सुर का निर्मल झरना मेरी अंतरात्मा को प्रतिदिन स्नान करवा सकेगा। इस स्नान से भीगने पर, स्निग्ध होने पर ही हमें आनंद-लोक में प्रविष्ट होने का अधिकार प्राप्त हो सकता है। परम सुन्दर के रूप में प्रकाश के बीच ही परित्राण है—और आनंदमय सुगंभीर वैराग्य ही है—उस चिर सुन्दर का चरम दान। ००

२३ अक्टूबर, १९२६,
होटल इम्पीरियम,
वियना

'वृक्षांजलि' में संस्कृत की जिन कविताओं का मैंने अनुवाद किया है, उन्हें संस्कृत में सूक्ति या सुभाषित कहा जाता है। दोनों शब्द पर्याय हैं। अर्थ है—भली बात, अच्छे कहे गये बोल। इस अर्थ में सूक्ति के विषय की ओर कोई इंगित नहीं है। सूक्ति का क्षेत्र व्यापक हो सकता है—और यह सच भी है। केवल भाव-निष्पत्ति के लिए, कविता करने के लिए सूक्ति नहीं लिखी-कही जाती थी। नीति, राजनीति, कृषि, वाणिज्य, व्यापार, चिकित्सा, ऋतु, विज्ञान, व्यवहार—किसी भी क्षेत्र की उपयोगी बात को लेकर सूक्ति कही जा सकती है, कही जाती भी थी। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—सूक्ति का कुछ भी विषय हो सकता था। कई पुराने संग्रहों में सूक्तियों को इन्हीं चार वर्गों में बांटा भी गया है।

पर एक अर्थ में सूक्ति से कविता जैसा गुण अपेक्षित था। व्युत्पत्ति के आधार पर सूक्ति का अर्थ है—सुष्ठु उक्ति। सौष्ठव के लिए शिल्प की अपेक्षा होती है। सूक्ति से यह अपेक्षा थी। सही अर्थ में सूक्ति तभी सूक्ति कहला सकती थी जब उसके कहने में एक ऐसी भंगिमा हो जो चमत्कार ज़गाये, ऐसा अन्दाज जो भा जाये। इस काव्य-सुलभ, मोहक गुण के कारण सूक्तियों का बहुत चलन था। ये लोगों की जिह्वा पर बसती थीं और विभिन्न विषयों पर सूक्तियों का लगभग अक्षय भण्डार प्रचार में था—संस्कृत में ही नहीं, सभी प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओं में।

जहां इतने बड़े अक्षय-भण्डार की बात हो वहां यह दावा करना ठीक नहीं होगा कि प्रत्येक सूक्ति में कोई-न-कोई बांकपन है, उक्ति की मोहक भंगिमा है। नीरस, सपाट सूक्तियों की कोई कमी नहीं। फिर भी बांकपन लाने की प्रवृत्ति तो थी ही—और किसी बात में न भी हो तो इस बात में कि सूक्ति पद्य में होती है, छंद और लय से मण्डित। फिर उस में यह शिल्पोचित प्रयास भी होता है कि बड़ी-से-बड़ी बात को कम-से-कम शब्दों में कह दिया जाये। अधिकतर सूक्तियां एक ही छन्द में पूरी हो जाती हैं। गागर

वृक्षांजली के संदर्भ में

मुकुंन्द लाठ

में सागर भर देना सूक्ति का एक आदर्श है ; यह बात और है कि आदर्श अक्सर आदर्श ही रह जाता है ।

मेरे अनुवाद, वृक्ष से संबंधित कुछ सूक्तियों के हैं। इन सूक्तियों में शिल्प की प्रवृत्ति स्पष्ट ही नहीं, प्रखर है । इन में चमत्कार जगाने की बड़ी सजग, बड़ी प्रगल्भ चेष्टा है। ये सूक्तियां कलाकृतियां हैं, काव्य की सूक्तियां हैं, भाव-निष्पत्ति के ध्येय से रची गयी हैं ।

दो-तीन को छोड़ कर सारी-की-सारी सूक्तियां मैंने संस्कृत के ऐसे तीन पुराने सूक्ति-संग्रहों से ली हैं, जहां संग्रहकार का ध्यान प्रधानतः काव्य-संग्रह ही था । ये तीन संग्रह हैं—विद्याकर का सुभाषितरत्नकोष, श्रीधरदास का सदुक्तिकर्णामृत और वल्लभदेव की सुभाषितावलि ।

विद्याकर बंगाल के रहने वाले थे। बौद्ध थे। अपने सुभाषितरत्नकोष का संग्रह इन्होंने ११३० ईस्वी में पूरा किया। संग्रह में १७०० से ऊपर छन्द हैं, अधिकतर ऐसे जिन्हें कविता—अच्छी कविता—कहा जायेगा। यों कुछ छंद केवल नीतिज्ञान देने के लिए भी हैं।

विद्याधर अच्छे सहृदय थे। आधुनिक मर्मज्ञों ने भी उनकी रुचि को सराहा है। प्रख्यात भारतविद् इंगौत्स का किया हुआ उनके पूरे संग्रह का एक अंग्रेजी काव्यानुवाद निकल चुका है, जिसकी विद्वानों में बड़ी चर्चा रही है ।

स्वयं विद्याकर ने अपने संग्रह का—ग्रन्थ के पहले श्लोक में—यों गुण गाया है :

सच्चे समझदारों के
कण्ठहार हैं
अच्छे कवियों के
ये मीठे बोल ।
बड़े-बड़े कवि
इनको सुन कर
सिर धुनते हैं ।
ऐसे बोलों का मैं
अनमोल संग्रह कर रहा हूं ।

[यहां केवल हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत है। मूल-श्लोकों के लिए कृपया परिशिष्ट-२ देखें।]
यह उक्ति हमें उस रसिक समाज का भी संकेत देती है, जिस में रहते हुए, जिस के लिए विद्याकर ने अपना संग्रह तैयार किया था । ऐसे समाज से आज भी हमारा परिचय है। शेर-शायरी के शौकीन जिस तरह अच्छे शेर याद कर लेते हैं, उसी तरह ये सूक्तियां रसिकों के कण्ठ का हार होती थीं ।

श्रीधरदास भी ऐसे ही रसिक समाज से थे । उनकी परिस्थितियों के बारे में विद्याकर की अपेक्षा हमें अधिक ज्ञान है । विद्याकर की तरह ये भी बंगाल के थे । बंगाल के अंतिम सेनवंशी राजा लक्ष्मण सेन के दरबार में रहते हुए इन्होंने १२०५ ईस्वी में अपना संग्रह

पूरा किया था। श्रीधरदास को अच्छे कवियों का संग मिला था। गीतगोविन्द-कार जयदेव भी लक्ष्मण सेन के सभाकवि थे। दूसरे कवियों में उमापतिधर और गोवर्धन प्रसिद्ध हैं। गोवर्धन ने गाथा सप्तशती की प्रेरणा से संस्कृत में आर्या सप्तशती की रचना की थी। उमापतिधर की एक सूक्ति—'वरगद'—मेरी छोटी-सी वृक्षांजलि में है।

श्रीधरदास के संग्रह में २३०० से ऊपर छन्द हैं, जिनको उन्होंने विषय के अनुसार पांच 'प्रवाहों' में बांटा है। ग्रन्थ के आरंभ में इन पांच प्रवाहों की वे रस की पांच नदियों से तुलना करते हैं और अपने रसिक पाठकों से कहते हैं कि वे इन प्रवाहों को :

कान की कलसियों में
भर लें
और देर तक इनका रस लें
इन में डूब जायें
और मन में इनको
जागने दें।

वल्लभदेव ने ३५०० छन्दों की अपनी विशालकाय सुभाषितावलि का संग्रह पंद्रहवीं सदी में किया था। उन में रुचि का निखार तो अच्छा है पर उनके संग्रह में उनकी उपदेश-प्रवण मनोवृत्ति का उतना ही परिचय मिलता है, जितना कविता की परख का। उन्होंने नीतिवाक्य, शीलवाक्य, धर्मवाक्य भी अच्छी मात्रा में संजोये हैं। और यह तब जबकि संग्रह के आरंभ में ही, 'कविकाव्य-प्रशंसा' इस नाम के खण्ड में उन्होंने एक ऐसा श्लोक सजाया है, जिस में कविता के नाम पर उपदेश और युक्तितर्क का बीड़ा उठाने वालों पर करारी चोट है। श्लोक अचितदेव नाम के किन्हीं काव्यमीमांसक का है, जिनके चिन्तन और शब्दचयन पर कश्मीर की रसचर्चा का प्रभाव स्पष्ट है, हालांकि इनका नाम अन्यत्र अनजाना ही है। अचितदेव कहते हैं: 'सहृदयों की उक्ति-काव्य का मर्म हम अपनी संवेदना द्वारा अनुभूत करते हुए ही जान सकते हैं—उन में न तर्क की कुम्हलाहट होती है, न उपदेश का रोग।'

यों वल्लभदेव को अपनी कविता की परख पर भरोसा था। वे दावा करते हैं कि उन्होंने अपनी ही समझ को, अपने विमर्श को चयन का आधार बनाया है। अपने संग्रह के आरंभ में, दूसरे ही श्लोक में दृढ़ता के साथ कहते हैं :

मेरी अपनी विमर्श-
शक्ति की जय हो
जो दूसरों के
रहस्य की गांठ
आप खोल देती है
किसी गुरु की बात का
मुंह नहीं तकती।

यहां एक बात उठाना चाहता हूं जो विमर्श का ऐसा दावा करने वाले वल्लभदेव को उठानी चाहिए थी, पर उन्होंने उठायी नहीं। उन्होंने विमर्श की बात तो की है, अपने विमर्श पर भरोसा जताया है, पर विमर्श की व्याख्या करने में कोताही की है। उनके विमर्श की कसौटी क्या थी ? अर्चितदेव का जो श्लोक उन्होंने अपने संग्रह में रखा है, उस में कविता की जो परिभाषा निहित है, उस से क्या वल्लभदेव सहमत थे ? नहीं ही रहे होंगे, क्योंकि अगर सहमत होते तो उन्हें अपने संग्रह की बहुत सारी सूक्तियां निकाल बाहर करनी पड़तीं। विमर्श करने वाले का यह भी धर्म बनता है कि अपने विमर्श का कुछ तो खुलासा दे। विमर्शशील व्यक्ति किसी विमत विमर्श को अपने ग्रन्थ में स्थान दे, यह सराहने की बात है। पर साथ ही अगर अपनी भिन्न दृष्टि का उद्‌घाटन न करे तो कहना पड़ता है कि विमत की ओर ध्यान नहीं दिया, उसका उपेक्षा भरा निरादर किया। विमर्श के जगत में विमत का यही समादर है कि अपना भिन्न मत उसके सामने रक्खा जाये। जो ऐसा न करे उसके विमर्शशील होने पर संदेह हो सकता है।

वल्लभदेव ने जो काम नहीं किया उसे मैं यहां करना चाहता हूं, क्योंकि अर्चितदेव की कसौटी पर वल्लभदेव की ही नहीं, मेरे भी 'वृक्षांजलि' संग्रह की सूक्तियां कविता की कोटि से बाहर पड़ेंगी। अपनी ही रक्षा के लिए एक ऐसी दृष्टि को सामने रखना चाहूंगा, जिस से वल्लभदेव और दूसरे सूक्ति संग्रहकार अनुप्राणित थे।

अर्चितदेव जो कहते हैं, उस में दो बातें हैं। उनका पहला और प्रधान आशय यह है कि कविता ऐसी बात होती है जो केवल संवेदना का विषय हो सकती है। दूसरी बात वे कहते हैं कि उपदेश कविता नहीं होता, न युक्तितर्क की चेष्टा कविता होती है। सुनने में बात बड़ी खरी लगती है। पर इसके तात्पर्य की थोड़ी थाह लें। उपदेश हमारे संकल्प से उन्मुख होता है और युक्तितर्क बुद्धि से। कविता अगर न उपदेश है और न युक्तितर्क तो अर्थ यही हुआ कि उसका संबंध भावना से ही है। अर्चितदेव कहते हैं कि जो बात हमें संवेदना द्वारा संविदित होती है, वही कविता है—जिसे हम भावना द्वारा ही समझ सकते हैं; बल्कि कहना चाहिए कि भावना द्वारा ही पा सकते हैं, अनुभूत कर सकते हैं, छू सकते हैं। क्योंकि समझना तो बुद्धि का काम है। प्रश्न उठता है कि क्या कविता का विषय भी भावना ही होता है या किसी भी बात की ऐसी अभिव्यक्ति कविता होती है जो हमारी भावना को छू जाये। अर्चितदेव को पहला ही पक्ष अभिप्रेत जान पड़ता है, नहीं तो उपदेश और तर्क—उनके शब्दों में उपपत्ति—को वे कविता के दायरे से बाहर नहीं रखते। उनकी कसौटी कविता के क्षेत्र को बहुत संकुचित कर देती है, एक छोटे-से वलय में बांध देती है। बहुत-सी ऐसी सूक्तियां जो अपनी भंगिमा से हमें भा जाती हैं, उनकी कसौटी पर खरी नहीं उतरेंगी, क्योंकि उनका विषय भावना नहीं होता, उन में तर्क की भी प्रवृत्ति होती है, उपदेश की भी।

यहां कुछ उदारभाव दिखाते हुए अगर हम अर्चितदेव का तात्पर्य यह लें कि किसी भी बात की—चाहे उपदेश और तर्क की क्यों न हो—ऐसी अभिव्यक्ति कविता है, जो भावना को छू ले तो फिर कविता का दायरा बढ़ जाता है। सूक्तिकार सूक्तियों को इस

दूसरे उदार अर्थ में ही कविता समझते थे। उन्होंने भावना को ही अपनी उक्तियों का विषय नहीं बनाया, वे हमारे संकल्प से भी उन्मुक्त होती हैं, बुद्धि से भी। और सूक्तिकारों में बड़े-बड़े महाकवियों की भी गिनती है। अभी ऊपर वल्लभदेव को उपदेश-प्रवण कह कर जो मैंने उनकी आलोचना की थी, वह इसलिए कि उनकी कई सूक्तियां कोरा उपदेश या कोरी युक्ति की बातें हैं, हमारी भावना की ओर उन्मुख ही नहीं होतीं।

राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में कविकर्म के ध्येय और विषय पर किसी अज्ञात कवि आलोचक का एक छन्द दिया है :

कुछ देखा
अनदेखा भी कुछ
कुछ यों ही बातों की बात
कानों सुना पुराना-सा कुछ
पढ़ने में कुछ आया हाय

कुछ भी लो
जो रस में तोलो
कहो चुटीले मीठे बोल

कविता हुई : नहीं कविता
पर्वत पर सीधे जा चढ़ना
या मूंगा सागर तले कहीं।

कविकर्म की जैसी धारणा, जो आदर्श इस सूक्ति में निहित है, उसी आदर्श से हम सूक्ति संग्रहों को अनुप्राणित पाते हैं। इस सूक्ति को हम सूक्तिकारों का मैनिफेस्टो कह सकते हैं। यहां अचितदेव की परिभाषा का संकोच नहीं है। अचितदेव की उदार व्याख्या करके हमने कविता के क्षेत्र में जिस विस्तार की परिकल्पना की, वही विस्तार यहां है—बल्कि उस से बढ़ कर ही है।

कविता का यह आदर्श महत् कविता का आदर्श नहीं है; अच्छी, सुघड़ कविता का आदर्श है। कल्पना, भावना की गगनचुम्बी उड़ान भरना या सिन्धुतलस्पर्शी गाम्भीर्य पा लेना यहां कवि का ध्येय नहीं है। उसे बड़ी अठपहरी-सी कविता की चाह है। कोई भी बात लो, उसे सजा कर कह सको, एक चमत्कार की भंगिमा दे सको तो कविता हुई—कविता का कोई अपना दुर्गम दूर-कहीं-गोपन भावलोक नहीं है, जहां कविता चुपके-से किसी दुर्लभ 'रत्न की तरह पनपती' है, कविमानस की ऐसी अनबूझ गहराइयों में जिसकी थाह कोई नहीं पा सकता, स्वयं कवि भी नहीं। सूक्तिकार की कविता अपनी परम्परा और अपने आसपास जगत दोनों के प्रति सचेत है, एक अर्थ में बड़ी इहलौकिक कविता है।

सूक्तिसंग्रहों में सूक्ति के विषय की विविधता तो उलट-पलट कर देखते ही झलक

आती है। मैंने यहां केवल वृक्ष पर कविताएं इकट्ठा की हैं, फिर भी विविधता सामने आ ही जाती है।

तीन सूक्तिसंग्रहों के सिवा मैंने कुछ सूक्तियां महाकाव्यों से भी ली हैं। कुमारदास के जानकीहरणम् से दो और बिल्हण के विक्रमांकचरितम् से एक। कुमारदास सिंहल के राजकुमार थे और उन्होंने अपने जानकीहरणम् की रचना सातवीं या आठवीं सदी में की। कहा जाता है कि वे संस्कृत के विख्यात आलंकारिक और कथाकार दण्डिन् के भी शिष्य रहे। उनकी कविता पर रसिकों ने कालिदास की स्पष्ट छाया पायी है। शायद इसीलिए किंवदन्ती चल पड़ी कि उनके एक अधूरे छन्द को कालिदास ने पूरा किया था।

बिल्हण ग्यारहवीं सदी के कवि थे। उन्हें अपनी शृंगारमयी चौरपंचाशिका के कारण जितनी ख्याति मिली उतनी विक्रमांकचरितम् से नहीं मिल पायी, हालांकि विक्रमांकचरितम् के शिल्प पर ही उन्होंने अधिक परिश्रम किया है।

आप पूछ सकते हैं कि सूक्तिसंग्रह से कुछ ले लेना तो समझ में आता है, वहां तो हर सूक्ति अपने-आप में स्वतंत्र रचना है, पर किसी बड़े काव्य से एक या दो छंदों को अलग निकाल लेना कहां तक उचित है? अवयव को अवयवी बना देना कौन-सी अच्छी बात है? किसी बड़े कलेवर का छोटा-सा टुकड़ा उस कलेवर का अंग बन कर ही सार्थक होता है, अपने-आप में उसे पूरा मान कर एक सम्पूर्ण कृति की तरह प्रस्तुत करना कहां तक संगत है?

अपने पक्ष में दो युक्तियां दूंगा—यों दोनों को एक ही युक्ति के दो अंग भी कहा जा सकता है। पहली युक्ति यह है कि मैंने ही नहीं, सूक्तिसंग्रहकारों ने भी ऐसा किया है। उन्होंने महाकाव्यों के छन्द स्वतंत्र सूक्तियों की तरह अपने संग्रह में रक्खे हैं। जानकीहरणम् के छह छन्द वल्लभदेव की सुभाषितावलि में आये हैं। बिल्हण के जिस छंद का मैंने अनुवाद किया है, वैसे तो वह विक्रमांकचरितम् का ही है, पर सूक्तिसंग्रहों में भी आया है। मैंने वहीं से ले लिया है।

मेरी यह पहली युक्ति निष्प्राण-सी लग सकती है। किसी और के करने से—चाहे बात के पीछे एक लम्बी परम्परा क्यों न हो—कोई अनुचित बात उचित नहीं हो जाती। इसलिए दूसरी युक्ति देता हूं कि मैंने जो किया है उस में औचित्य से च्युति नहीं होती—और यही कारण है कि ऐसा करने की परम्परा रही है। संस्कृत कविता का शिल्पविधान मुक्तक को आदर्श मान कर चलता है। लम्बे से लम्बे महाकाव्यों में भी कवि प्रयास करता चलता है कि उसका प्रत्येक छंद पूरे काव्य का अवयव होते हुए भी अपने-आप में सम्पूर्ण हो, अवयवी हो। कवि का प्रयत्न सुघड़ मोतियों की ऐसी माला पिरोने का होता है जिसका हर मोती अपने-आप में भी एक आभूषण हो। प्रयत्न की कई बार ऐसी अति हो जाती है कि मोती-मोती अलग दिखाई देता है और माला माला ही नहीं बन पाती। यही कारण है कि किसी सुघड़ छन्द को महाकाव्य के परिवेश से निकाल कर अपने पांवों पर भी खड़ा किया जा सकता है। सूक्ति-संग्रहकारों ने यही किया है और मैंने भी।

यों तो 'वृक्षांजलि' की हर सूक्ति का विषय किसी-न-किसी अर्थ में वृक्ष है, पर आप देखेंगे कि कुछ छन्द ऐसे हैं जिन में वृक्ष विषय होते हुए भी विषय नहीं कहा जा सकता।

लगता है पेड़ की आड़ में बात कुछ और है। क्योंकि संग्रह की कई कविताएं अन्योक्तियां हैं। अन्योक्ति ऐसी उक्ति को कहते है जिस में बात किसी से या किसी की कही जाती है, पर तात्पर्य कुछ और किसी और, से होता है। यों अन्योक्ति को हम एक प्रकार का रूपक भी कह सकते हैं।

संस्कृत में अन्योक्तियों की भरमार है। अन्योक्ति कहने के लिए कई उपमान, कई प्रतीक रूढ़ हो गये थे। सूक्ति संग्रहकारों को अन्योक्ति से विशेष लगाव था। जिन संग्रहों से मैंने सूक्तियां ली हैं, उन में सूक्तियों का एक बड़ा भाग अन्योक्तियों का ही है। सदुक्तिकर्णामृत और सुभाषितावलि, इन दोनों में, खास कर सदुक्तिकर्णामृत में तो अन्योक्ति के रूढ़ प्रतीकों की एक व्यवस्थित तालिका मिल जाती है। लंबी तालिका है—मछली, सरोवर, मेंढक, सांप, भ्रमर, पर्वत, सिंह, गज, हंस, चातक, मेघ...और कई प्रकार के वृक्ष।

अन्योक्ति की परम्परा हिन्दी में चली आयी है। बिहारी का प्रसिद्ध दोहा—'नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल। अली कली ही सौं बंध्यौ, आगै कौन हवाल।' यह अन्योक्ति ही है। किंवदन्ती है कि बिहारी ने यह दोहा अपने आश्रयदाता सवाई जयसिंह की सीख के लिए कहा था। जयसिंह किसी कमसिन लड़की के मोह में ऐसे डूबे थे कि राजकाज व अन्य जरूरी सारे काम एकदम भूल गये थे। किंवदंती केवल किंवदंती भी हो सकती है, दोहे का संबोधन जयसिंह के प्रति मानना जरूरी नहीं है, किसी भी व्यक्ति-विशेष को मानना जरूरी नहीं है। न किसी परिस्थिति-विशेष पर ही बात लागू होती है। सच यह है कि दोहा किसी से भी कहा जा सकता है और कई परिस्थितियों पर लागू हो सकता है, बशर्ते कि उन परिस्थितियों में एक प्रकार का सादृश्य हो। दोहे में एक सामान्य भाव की अभिव्यक्ति है, एक अपनी तरह का साधारणीकरण है, जिस में एक प्रकृति चित्र को मानव-परिस्थिति का प्रतीक बना दिया गया है। किसी भी मोह में संतुलन खो देने वाले किसी भी व्यक्ति पर यह दोहा कहा जा सकता है। प्रकृति के बहाने मानव को कुछ कहना, यही अन्योक्ति का विशेष गुणधर्म है। और बात को सजा कर कहने में उक्ति का जो बांकपन है, चमत्कार है—वही इसकी कविता है।

यों अन्योक्ति के दो पक्ष होते हैं। एक प्रस्तुत पक्ष जो प्रकृति के किसी जीव —वृक्ष भी जीव ही है—उसे आधार बना कर आंका गया चित्र है। दूसरा अप्रस्तुत पक्ष, वह मानव परिस्थिति होती है, जिसका यह चित्र प्रतीक होता है। इस दोहरेपन के कारण अन्योक्ति में एक सघनभाव होता है—चित्र के अन्दर चित्र की गहराई।

पर इस दोहरेपन का बोध कराने में परंपरा भी सहायक होती है। संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश में अन्योक्ति कहने की एक परंपरा थी। कहने की ही नहीं, उसे बरतने की एक परम्परा थी जो अन्योक्ति में जान फूंकती थी। साधारण जीवन और व्यवहार में लोग अन्योक्तियों का प्रयोग करते थे, उन्हें बरतते थे। और इसीलिए अन्योक्ति का प्रतीक 'जाग्रत' प्रतीक बना रहता था। अन्योक्ति का काव्य एक तरह से बड़ा व्यावहारिक काव्य है—साधारण जीवन से गुंथा हुआ। वह ऐसी कविता नहीं है जैसी शायद अर्चितदेव को अभीप्सित थी। उस में एक उपदेश का अंग होता है, एक समझाने का, बोध देने का

भाव होता है। हमारे संकल्प, हमारी बुद्धि के प्रति आग्रह होता है।

जो दोहरा होता है, जरूरी नहीं कि अपना इकहरापन खो दे। अन्योक्तियों के प्रस्तुत पक्ष में भी एक भाव, एक शिल्प होता है जो हमें खींच लेता है। अप्रस्तुत की ओर न भी ध्यान जाये तब भी एक चमत्कार जगाता है। अन्योक्ति का प्रकृति-चित्र अपने-आप में एक सजीव प्रकृति-चित्र बन पड़ता है। अच्छा कवि पुराने प्रतीक को रूढ़ि नहीं बनने देता, अपनी कविता से उसे भी जाग्रत रखता है। यही कारण है कि आज अन्योक्ति की परम्परा क्षीण हो गयी हो फिर भी हम अन्योक्तियों का आस्वाद कर सकते हैं।

पर साथ ही यह भी सच है कि कई अन्योक्तियों में अन्योक्ति का भाव हम से छुपा नहीं रहता—अप्रस्तुत वहां प्रस्तुत की तरह ही साफ झलकता है। अनुवाद की कई कविताओं में यह बात आपके सामने आयेगी। मैं समझता हूं कि 'वृक्षांजलि' में 'अछूत', 'मदांध,' 'सहनशक्ति,' 'ओछे साथी,' 'स्वाभिमान,' 'बरगद'—ये कविताएं अनुवाद के नये बाने में भी अन्योक्ति के रूप में सहज ही पहचानी जा सकती हैं। कारण सीधा-सा है—इन में पेड़ से या पेड़ के बारे में ऐसी बात कही जा रही है जो स्त्री-पुरुष पर ही सार्थक है।

'अछूत' को लीजिये। संस्कृत में एक प्रचलित कटूक्ति है—'विधाता तुम कुछ भी मेरे भाग्य में लिख दो, पर रस से अछूते लोगों के आगे रस की बात कहनी पड़े, ऐसी दुर्दशा मेरी कभी मत करना।' 'अरसिकेषु रसस्य निवेदनं मा लिख मा लिख।' इस बात को यहां चम्पा के नये उभरते पेड़ का प्रतीक लेकर प्रकार-भेद से बांधा गया है। प्रतीक का सजीव निभाव ही यहां कविता है। पर यह भी स्पष्ट है कि बात चम्पा से नहीं, किसी नये उभरते कवि से कही जा रही है, जिसने अभी नासमझों की उपेक्षा नहीं देखी है। कविता में निराशा और कड़वाहट का जो स्वर है, उस में कवि नरेन्द्र का अपना दुखड़ा भी कहीं छुपा हो सकता है—संस्कृत के कवियों को समझदार संरक्षण की खोज में अक्सर भटकना पड़ता था। वैसे बात कवि पर ही नहीं किसी भी समानधर्मा कलाकार, जौहरी, गन्धी की दुर्गति पर कही जा सकती है। ऐसे ही दुर्गत लोगों पर सार्थक भी है। चम्पा तो यहां बहाना है। 'भैंस के आगे भागवत न बांचो'—यों भी बात कही जा सकती थी।

पर यों कविता नहीं बनती। चम्पा के सजीव प्रतीक से कविता में एक बेसहारापन आ गया है, एक अभिशाप का-सा भाव जो न संस्कृत की उक्ति में आया है, न हिन्दी की कहावत में और न कवि की अपनी दुर्गति में रहा होगा। चम्पा का पेड़ बेचारा जहां है, वहां से कहां जा सकता है? खिले बिना रह भी कैसे सकता है? अभिशप्त है अपनी दुर्गति से। छुटकारा पाने का उसके पास कोई चारा नहीं। देश-काल-पात्र के बंधन को लांघ ही नहीं सकता। ये अनुकूल होते तो उसकी प्रतिभा का मोल होता, पर जिस अनिवार्य दशा में है, उसकी प्रतिभा ही उसके लिए अभिशाप है।

कटूक्ति का भाव दूसरी अन्योक्तियों में भी है। दो टूक कड़वी बात कहने के लिए संस्कृत में अक्सर अन्योक्ति का सहारा लिया जाता था। प्रतीक की ओट में वार किया जाता था। 'मदांध' को देखिये—ऐसे पागल हाथी, ऐसे खल जो रसमय, मंगलमय पदार्थ को खेल-खेल में उखाड़ फेंकते हैं, कब कहां नहीं होते? 'मदांध' के कवि की व्यथा 'साधारण' व्यथा है। पर 'मदांध' के इस 'साधारण' भाव के पीछे किसी वृक्ष-विशेष—

और अन्योक्ति से किसी सज्जन-विशेष—की दुःखगाथा छुपी है, और उसके 'विशेष' को बड़ी सावधानी से उभारा गया है। हमारे सामने एक बड़ा जीता-जागता चित्र उकेरा गया है—हरे-भरे फल से लदे छायादार पेड़ पर, ऐसे पेड़ पर जिस से कइयों का भला होता है, कोई आकर अपने स्वार्थ से कुल्हाड़ी चलाता है। चिड़ियां उड़ जाती हैं, बंदर अधखाये फल कुतरते अलग खड़े देखते रहते हैं, और बटोही—ऐसे लोग जो विरोध कर सकते थे—वे भी अपने बचाव की सोचते हैं। कवि ने एक छोटा-सा करुण नाटक गढ़ दिया है—एक कुशल चितेरे की तरह तीन-चार रेखाओं से उस में प्राण भर दिया है।

कटूक्ति का चरम 'अभिशाप' नाम की कविता में है। यहां किसी सज्जन-विशेष की दुःखांतिका नहीं, परिस्थिति-विशेष की विभीषिका है। ऐसी परिस्थिति, जहां प्राणों की सांसत सज्जन को भी दुर्जन बना देती है। पेड़ को संस्कृत में निःस्वार्थ सज्जन का ही प्रतीक समझा गया है, जैसे 'मदांध' में। इस परिस्थिति को आंकने के लिए भी कवि ने एक छोटा-सा नाटक ही रचा है। नाटक का अंत रोंगटे खड़े कर देता है। संस्कृत नाटकों के अंत में विस्मय जगाने वाले अद्‌भुत रस का विधान था। कितने ही विघ्न व कितने ही दुःख रहे हों, अन्त में सब जैसे जादू की छड़ी से मिट जाते हैं। क्योंकि सज्जन सज्जन ही रहता है, अपने पथ से टलता नहीं, सारा संसार हिल जाये, सज्जन अटल रहता है। उसी के बल पर ऋत और धर्म का विच्युत-चक्र अपने सही पथ पर चल पड़ता है। 'अभिशाप' को पढ़ते हुए पाठक के मन में संस्कार जागता रहता है कि चाहे कहीं अनर्थ हो रहा हो, पेड़ अपने सज्जन-धर्म का पालन करेगा ही—दुखियारे को शरण दे देगा। पर होता उलटा ही है—और यहीं इस छोटी-सी कविता की अनन्य सफलता है। हमें जिस पर सज्जन होने का पूरा भरोसा था, वह भी दुर्जन निकलता है, वह भी परिस्थिति की चपेट में आ चुका है। विस्मय का भाव जागता है, पर वैसा सौम्य, 'देखो-कैसे-सब-कुछ-ठीक-हो-गया' वाला विस्मय नहीं। यहां अद्‌भुत के साथ शांत नहीं—जैसा संस्कृत नाटकों में प्रयत्न के साथ संजोया जाता था, यहां अद्‌भुत के साथ रौद्र है। यही सूक्ति का चमत्कार है, जो सूक्ति में ही संभव था, संस्कृत नाटक की परिपाटी में नहीं। उस परिपाटी का निभाव 'अकिंचन आश्रय' कविता में हुआ है, जहां डूबते को पेड़ सहारा दे कर थाम लेता है।

हम देखते हैं कि अपनी छोटी-सी कविता को एक छोटे-से नाटक का रूप दे देना अक्सर मुक्तक कवि का ध्येय रहा है, उसके कविकर्म का अभीष्ट शिल्प। यह शिल्प अन्योक्तियों में ही नहीं, अन्य सूक्तियों में भी है। स्वाभाविक भी था। संस्कृत नाटक को ही काव्य का चरम रूप माना जाता था, इसलिए नाटक का-सा रूप-विधान काव्य-मात्र का आदर्श बन गया था। नाट्येतर रचनाओं में भी जहां काव्य दृश्यकाव्य नहीं होता था—मंच पर नहीं दिखाया जाता था—वहां भी कवि से आशा की जाती थी कि ऐसी रचना करे जिसका चाक्षुष-प्रत्यक्ष न सही, पर नाटक की तरह ही मानस-प्रत्यक्ष किया जा सके—जो मन की आंखों के आगे नाटक की तरह खेला जाये। आदर्श इतना घर कर गया था कि कई ऐसी सूक्तियां भी, जिनके विषय में अन्यथा नाटक का भाव नहीं है, जैसे 'चांदनी का जाल', वे भी लघु नाटिकाएं ही हैं। 'चांदनी का जाल' में एक छोटे-से,

साधारण-से प्रकृति-चित्र को नाटक का रूप दे दिया गया है। नाटक-का-सा घटना-चक्र उस में एक चमत्कार ला देता है—हमारी आंखों के आगे मंच बिछाया जाता है—पेड़ों का झुरमुट है। उस में अंधेरा आ छुपा है। फिर ऊपर से किरण उतरती है। अंधेरे को पकड़ ले जाती है। कुमारदास के छोटे-से चित्र में नाटक की गति है। रचना का यही संवेग उसका प्राण है।

सूक्ति के कवि जहां नाटककार नहीं भी हैं, चितेरे हैं। संस्कृत के कवियों में अपने काव्य को एक 'दृश्य' रूप देने की गहरी ललक थी। अच्छे कवि एक छोटे-से पट पर छोटा-सा समर्थ चित्र आंक देने में कुशल होते थे। 'कनेर' में कुमारदास ने एक ऐसा ही चित्र आंका है। इस से भी समर्थ चित्र है मधुरशील के 'आभास' में, जहां सधी हुई रेखाओं से आंकी गयी एक ललना पूरी एक ऋत को, एक समूचे आवह को समेटे हुए है—कविता में मैंने कुछ काट-छांट की है। मधुरशील की अन्तिम पंक्ति है—'स्त्रीणामंगे विभजति तपस्तत्र तत्रात्मचिह्नम्'—'स्त्रियों के अंगों पर ग्रीष्म तत्र-तत्र अपना चिह्न बांट रहा है।' इसे मैंने एक सूत्र के-से सम्पुट में डाल दिया है—'गरमी के दिन/दिखाई दे रहे हैं।' कविता को दो भागों में बांटा जा सकता है। पहली तीन पंक्तियां एक चित्र आंकती हैं, चौथी, अंतिम पंक्ति चित्र का 'अर्थ' बताती है—चित्र किसका है, किसका प्रतीक है—चिह्न है—किस की ओर इशारा करता है, यह बताती है। इस अंतिम पंक्ति को छोटा करने में उसके फैलाव को मैंने सिकोड़ दिया है, पर आशा करता हूं, उसके अर्थ में, उसके संकेत में और तीखापन आ गया है।

मेरे प्रयास के पीछे एक कारण है। आप देखेंगे कि 'आभास' में ही नहीं, कई सूक्तियों में अंतिम पंक्ति पूरी कविता की गति को बटोर कर एक शिखर पर लाकर छोड़ती है। सूक्ति के शिल्प का यह एक स्वीकृत-सा कौशल जान पड़ता है। सूक्ति में जहां एक छोटा-सा नाटक बंधा हो वहां तो ऐसा होना ही चाहिए। जहां नाटक न भी हो, जैसे 'आभास' में, वहां भी यही प्रवृत्ति दिखाई देती है। इस चेष्टा में एक संगीत का-सा भाव है—अगर संगीत का स्पष्ट प्रभाव न भी हो। संगीत में एक तान होती है, जिसे आज हम 'उठाव' की तान कहते हैं। यों तान अपने-आप पुरानी है और जिन दिनों ये सूक्तियां लिखी गयीं, उन दिनों भी ऐसी तान जरूर रही होगी, नाम उसका कुछ भी रहा हो। उठाव की तान छोटी, सुघड़ तान होती है; ताल के बीच से कहीं से उठती है, बन के आती है और सम पर आ टूटती है। सम पर अपनी पूर्णता को पा जाती है—मन में एक चमत्कार के साथ पूर्णता की प्रतीति जगा जाती है। सूक्तियों की अंतिम पंक्ति पूरी कविता को इसी तरह 'सम' पर ला छोड़ने का बोध जगाती है। उठाव की तान की तरह सम की ओर बढ़ती हुई कविता उसके साथ 'पूर्णमिदम्' का भाव पा लेती है। जैसे लहर उठे, उठ कर बढ़े और किनारे पर आकर चुक जाये, पूरी हो जाये। 'आभास' और 'चांदनी का जाल' में भी ऐसा ही संवेग है। पर कुशल गवैये कभी-क़भार तान को आरोह के साथ तार पर ले जाकर, सम नीचे मन्द्र के स्वर पर ले लेते हैं। इस में एक अचीता, अनहोना-सा चमत्कार होता है। कई सूक्तियों में हम ऐसा भी चमत्कार पाते हैं; विशेष कर ऐसी सूक्तियों में जहां कवि का धेय व्यंग होता है, किसी पर वह फबती कसना चाहता है।

जैसे 'उच्चाश्रय' में—अशोक को स्तुति से ऊपर चढ़ा कर अन्त में कवि एक झटके से नीचे गिरा देता है। यही 'भलाई' में भी है। यहां भी स्तुति निन्दा में बदल जाती है—निन्दा के आवेग को और प्रखर कर देती है।

आरोह अवरोह का ऐसा ही प्रयोग स्तुति के अर्थ में भी किया जा सकता है, किया भी जाता था। इस में गति को पलट दिया जाता है, अवरोह करती हुई तान अचानक ऊपर को मुड़ती है और 'सा' पर सम ले लेती है। वटवृक्ष पर लिखे दो छंदों में—'बरगद' और 'बड़प्पन' में—हम ऐसी गति की बानगी दे सकते हैं।

शिल्प के इन नाट्यवत्, चित्रवत्, या संगीतवत् प्रयोगों के पीछे कविकर्म का एक प्रयोजन होता था। कवि जिन विषयों और प्रतीकों पर लिखते थे, अक्सर बड़े चलते हुए रूढ़ विषय या प्रतीक होते थे, जिनकी व्यंजना-गंभीर ध्वनि घिसपिट कर लगभग अभिधा का रूप ले चुकी थी। कवि का कौशल इस बात में था कि रूढ़ि की पुरानी ठठरी में नयी जान फूंक दे, लीक से चले आ रहे अर्थ का कायाकल्प कर दे। इसके लिए कवि नाट्य-चित्र या संगीत का मार्ग अपनाते थे।

पर और भी मार्ग थे। कहीं एक नयी उपमा ही अर्थ में नया आयाम ला दे सकती थी। जैसे 'अतुल्य दानी' में। वृक्ष को करुणामय और परोपकारी कहना हमारे यहां कोई नयी बात नहीं है। पर कवि ने उसे बोधिसत्त्व कह कर ध्वनि का एक बड़ा संभार इस पुराने अर्थ में पिरो दिया। यों भी यह कोई निरे संयोग की बात नहीं थी कि बुद्ध को वृक्ष के तले बोधि की प्राप्ति हुई। हमारी संस्कृति में वृक्ष की बड़ी गरिमा है। धर्म की वृक्ष से तुलना की गयी है। भगवान विष्णु का भी एक नाम वृक्ष है। पुराण-कथा है कि प्रलय-काल में जब सारा विश्व-ब्रह्माण्ड कारण-सलिल में समा जाता है तब उस सलिलमय संसार में एक वृक्ष बच रहता है, जिसके पत्ते पर भगवान बाल-कृष्ण लेटे हुए अपने पांव का अंगूठा चूसते दिखाई देते हैं। इसी पुरा कथा का एक रूप सूक्तिकार के इस छंद में है :

संसार के सारे तत्त्व
एक दूसरे के आतंक से जब
विलीन हो जाते हैं

तब
उस प्रलयकाल में
एक अकेला पेड़
कंधा ताने खड़ा रहता है।

सारे जगत को
अपने उदर में समेटे
भगवान
उसकी डाल पर
बच्चे की तरह
खेलते हैं।

पेड़ के इस महिमागान के साथ ही मुझे अपनी वात का अन्त करना चाहिए। पर अनुवाद के बारे में भी कुछ कहने की चाह है क्योंकि मैंने कविता का अनुवाद कविता में किया है। आज का युग अनुवाद का युग है। जितने अनुवाद आज होते हैं, उतने पहले कभी नहीं हुए। अनुवाद कविता के भी होते हैं और काफी मात्रा में होते हैं। वार-वार प्रश्न उठाया जाता है—क्या कविता का भी अनुवाद हो सकता है? पर अनुवाद होते हैं और सफल अनुवाद भी होते हैं। आज कविता का अनुवाद साहित्य का एक स्वीकृत, परिचित अंग हो गया है।

कविता के अनुवाद की समस्या क्या है? कविता शब्दों में लिखी-कही जाती है और एक शब्द का अर्थ दूसरे शब्द से जताया जा सकता है, जताया जाता ही है, फिर समस्या कहां है?

कुछ काव्यशास्त्रियों ने कहा है कविता का प्राण ध्वनि होती है। एक शब्द की ध्वनि को दूसरा शब्द नहीं पकड़ सकता। ध्वनि आती तो शब्द से ही उभर कर है, पर उसकी पहुंच शब्द की सीमा को लांघ जाती है। दो शब्दों का अर्थ एक हो सकता है, फिर भी ध्वनि भिन्न। इसलिए अगर उसी कविता को दूसरे शब्दों में लिखा-कहा जाये—फिर चाहे उसी भाषा में क्यों न लिखा-कहा जाये जिस में कविता रची गयी हो—तो भी कविता वही नहीं रहेगी। उसकी ध्वनि मूक हो जायेगी या ध्वनि के अनुरणन का स्वर वदल जायेगा। अगर हमें लगे कि गूंज दूसरे शब्दों की पकड़ में पूरी आ गयी है तो समझना चाहिए कि ध्वनि थी ही नहीं—या फिर हमें ध्वनि की प्रतीति नहीं हो पायी थी। और ध्वनि का अनुवाद नहीं हो सकता।

ध्वनि कविता का ही नहीं भाषामात्र का सहज गुण है। आम वातचीत में भी ध्वनि होती है। उसी को कवि निखारता है; उसके बीज को सींच कर छतनार पेड़ वनाता है। हम कहते हैं—लड़की क्या है, वारूद है। इसे दूसरे शब्दों में समझाना चाहें तो कह सकते हैं—लड़की वहुत तेज है, वड़ी गुस्सैल है, छोटी-सी बात पर आग हो जाती है, ऐसे फट पड़ती है कि आगा-पीछा नहीं सोचती, भयंकर उत्पात मचा देती है, संभालना दूभर हो जाता है...आदि-आदि। मगर किसी भी रूपांतर में वह ध्वनि नहीं है जो वारूद में है। वारूद कहने से जो भाव जागता है, उसे दूसरे शब्दों में नहीं कहा जा सकता। वही उसकी ध्वनि है। वह संगीत की तरह है; उसे अर्थ में वांधा ही नहीं जा सकता। और संगीत का अनुवाद कैसा?

तो फिर कविता के सफल अनुवाद कैसे होते हैं? मैं समझता हूं, अनुवादक मूल के आधार पर एक नयी कविता गढ़ देता है और अनुवाद का मूल से अलग अपना एक नया अस्तित्व हो जाता है। तो फिर प्रश्न उठता है कि मूल के साथ उसका क्या संवंध होता है? कविता अगर नयी होती है तो उसे किसी मूल का अनुवाद क्योंकर कह सकते हैं?

इस प्रश्न का एक उत्तर हमें संस्कृत काव्य-विमर्श की परम्परा में भी मिलता है। पुरानी कविता को नयी कर लेना और इस तरह अपना लेना संस्कृत में कविता करने का माना हुआ मार्ग था। काव्यचोरी का प्रसंग उठाते हुए राजशेखर ने अपनी 'काव्य-मीमांसा' में इसकी विस्तार से चर्चा की है और इसे 'स्वीकरण' की संज्ञा दी है। उन्होंने वड़ी पैठ के

साथ विवेचना करते हुए कहा कि दूसरों की कविता को अपना लेने भर से चोरी नहीं हो जाती, बात इस पर निर्भर करती है कि कैसे अपनायी जाती है दूसरे की कविता? नया कवि उसके साथ करता क्या है? उन्होंने अपनाने के दो बिल्कुल भिन्न प्रकार बतलाये—एक हरण, दूसरा स्वीकरण। हरण सरासर चोरी है। पर स्वीकरण चोरी नहीं है। उस में सृजन है, उत्पादन है। नयी रचना का अधिकार है। दूसरे की कविता को थोड़ी-सी ऊपरी हेराफेरी के साथ अपने नाम पर चला देना हरण है। हरणकी हुई कविता नाम को ही अपनी कहला सकती है, सचमुच अपनी नहीं बन पाती। पर स्वीकरण की प्रक्रिया तो सचमुच अपना बना लेती है। नया कवि पुरानी कविता को नया रंग-रूप दे देता है, उस में नयी बात ला देता है। ऐसे कवि को 'उत्पादक' कहना ही उचित होगा। फिर भी नयी कविता में पुरानी कविता पहचानी जा सकती है।

आज हम अनुवाद करते हैं तो मान कर चलते हैं कि मूल और अनुवाद की भाषाएं भिन्न हैं। राजशेखर जिस स्वीकरण की बात करते हैं, उस में भाषा का भेद महत्त्व की बात नहीं थी। स्वीकरण उसी भाषा से भी हो सकता था, दूसरी भाषा से भी। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के कवि एक-दूसरे की कविता को अपनाते—स्वीकरण करते—नहीं हिचकिचाते थे। ऐसा लेन-देन आम था। विभिन्न भाषाओं के कवि एक साथ पलते, बड़े होते हुए अपनी कला को मांजते थे। अक्सर एक ही सभा के 'रत्न' होते थे। सभा के बाहर भी साथ परवान चढ़ते थे।

भाषान्तर से स्वीकरण की इस परंपरा का प्रवाह रीतिकाल तक देखा जा सकता है। राजशेखर के युग की कविता के समान रीतिकाल की कविता भी बड़ी मात्रा में एक-दूसरे से स्वीकरण की कविता है। इस अर्थ में रीतिकाल के कवि संस्कृत प्राकृत को भी अपनी बपौती समझते थे। स्वीकरण के रास्ते उन में से कुछ ले लेना, अपना लेना अपनी 'कविताई' का अभिन्न अंग मानते थे।

अनुवाद भी कविकर्म से कुछ-कुछ स्वीकरण जैसी ही मांग करता है। कविता का अनुवाद एक ऐसा रूपान्तर होना चाहिए जो अपने-आप में एक नयी कविता हो। पर अनुवाद का आधुनिक आदर्श एक और भी मांग करता है जो स्वीकरण से भिन्न है। अनुवाद एक विशेष प्रकार का स्वीकरण है जो अनुवाद के पुराने आदर्श पर एक नया बंधन डालता है—रूपान्तर के स्वरूप को कस देना चाहता है। अनुवाद एक नयी कविता की तो मांग करता है जो स्वीकरण के रास्ते बनायी गयी हो, पर साथ ही अनुवाद का यह भी आदर्श है कि रूपान्तर मूल से हटे नहीं, उसकी आत्मा को न बदले। अनुवाद की कविता एक नयी कविता हो, पर मूल में जिसकी थी उसकी भी बनी रहे। जिस भाषा में हम अनुवाद कर रहे हैं, मूल लेखक अगर उसी भाषा में रचना करता तो वह जैसी होती—अनुवादक इसी लक्ष्य की सिद्धि में तत्पर रहे। मूल के भाव को, अर्थ को और उसकी आत्मा को अनुवाद में उतार लाये। इसलिए अनुवाद का आधुनिक आदर्श एक छलावा-सा लग सकता है, जिसे आसानी से पाना संभव नहीं, मानो अपनी ही काया में रहते हुए परकाय-प्रवेश करना चाह रहे हों। सफलता मिले या नहीं, एक लाभ अनुवाद में होता है। अनुवादक को अपनी सीमाओं से, अपनी भाषा की बंधी हुई लीकों से बाहर निकलने

की चेष्टा करनी पड़ती है। चेष्टा सफल न भी हो तो भी विस्तार की संभावना का इंगित तो मिल ही सकता है। आप कहेंगे कि संस्कृत के अनुवाद में ऐसे किसी विस्तार का इंगित ही नहीं है। संस्कृत का काव्य बड़ी रूढ़ियों में कसा काव्य है और यों भी उसकी सारी संभावनाएं हिन्दी को वपौती के रूप में मिल ही चुकी हैं—उस में नया क्या है? वल्कि वह वपौती एक वोझ है, जिसे उतार फेंकना ही अच्छा है। अनुवाद करना हो तो ऐसी भाषा से करना चाहिए जो सचमुच परायी हो।

इसके उत्तर में वहुत-कुछ कहा जा सकता है। पर मैं फिलहाल इतना ही कहूंगा कि ऐसे कथन के पीछे संस्कृत काव्य के अधकचरे वोध का परिचय है। हमारे मन में एक रूढ़ि, एक लीक वन गयी है कि अव वहां कुछ भी नहीं। सच यह है कि संस्कृत की कई धाराओं में से कुछ ही हम तक आयी हैं। वड़ी लम्वी, वड़ी जीवंत परंपरा थी। अव भी वहां वहुत-कुछ ऐसा है, जिस में हमारे लिए नयेपन का चमत्कार है। इस चमत्कार की एक झलक भी मेरे अनुवाद में आ गयी हो तो अपने को सफल समझूंगा।

अन्त में एक छोटी-सी वात और कहना चाहूंगा। प्रश्न उठ सकता है कि अगर मैंने सचमुच अनुवाद की चेष्टा की है, स्वीकरण की नहीं तो फिर मेरी भाषा का कहां तक औचित्य है? और मेरे वंध का? प्रश्न इसलिए उठता है क्योंकि संस्कृत के नाम से ही हम वड़ी भारी-भरकम भाषा की कल्पना करने लगते हैं, और इस में शक नहीं कि संस्कृत के कई कवि भाषा को कृत्रिम वनाने में वड़े दक्ष थे। पर भाषा का ऐसा प्रपंच सूक्तिकारों का ध्येय नहीं था। उनकी भाषा सीधी, सुथरी, प्रासादिक भाषा है, वर्णाडंवर या शव्दालंकार के जटिल जाल वुनने की साधना नहीं है। वनाव है पर वनावट नहीं है। और वनाव भी वात को नाप-तोल कर कहने में है, सजा कर कहने में है, वड़ा सहज वनाव है। 'आकांक्षा' नाम की एक कविता में संस्कृत के एक-एक वाक्य-खण्ड को मैंने अलग-अलग पंक्तियों में लिख देने के सिवा कुछ नहीं किया है। कविता के इस हिन्दी अनुवाद में चातुरी का कोई प्रयास नहीं है। वात का ठेठ खरापन ही वात की जान है। अन्य कविताओं मे भी जहां कोई छोटा-सा नाटक रचा गया है या चित्र आंका गया है या उठाव की सुघड़ तान का उतार-चढ़ाव वांधा गया है, वहां भी भाषा तो सहज ही रहती है।

और वंध? संस्कृत की कविताओं में वंध का अक्सर वड़ा महत्त्व होता है। वर्णों के गुरु-लघु की लय, भाव के साथ ताल मिलाती हुई चलती है—जैसे कालिदास के 'मेघदूत' में। सूक्तिकारों ने भी मन्दाक्रान्ता जैसे विदग्ध छन्दों का प्रयोग किया है। पर इनके छन्द में वर्ण-संगीत गौण है—कम-से-कम मैंने जो छन्द चुने हैं, उन में तो यही वात है। इसीलिए मैं समझता हूं कि मूल के वंध को आधुनिक 'निर्वंध' में पलट देने पर उन में कही वात को—सूक्ति को—ठेस नहीं पहुंचती। वल्कि वात को ठेस पहुंचती, जव मूल के वंध की प्रतिकृति वनाने की मैं चेष्टा करता। तव 'स्वीकरण' हो जाता, अनुवाद नहीं। जो सहज है, उस में वनावट आ जाती। ००

ऐसी भी कोई आग है, स्वयं जल कर भी जो औरों को न जलाये ? ऐसी भी कोई मृत्यु है, स्वयं मर कर भी जो दूसरों को न मारे ? ऐसा भी कोई तूफान है, स्वयं उजड़ कर भी जो तिनके को न उजाड़े ? ऐसी भी कोई बाढ़ है, स्वयं बह कर भी जो औरों को न बहाये ? ऐसा भी कोई अस्त्र है, स्वयं आहत होकर भी जो दूसरों को चोट न पहुंचाये ? ऐसा भी कोई विषधर है, जो वैरी को भी न डसे ? हां, है। इन सभी उलटवांसियों का एक ही उत्तर है—ज़ेन बौद्ध-दर्शन। भाषा की मजबूरी के कारण इसे भले ही धर्म या दर्शन के नाम से संबोधित किया जाय, पर इसका न धर्म से कोई वास्ता है और न किसी दर्शन से कोई सरोकार। न संप्रदाय, पंथ, मीमांसा, वाद या किसी विचारधारा की रूढ़ सीमा में इसे समाहित किया जा सकता है। यह कोई जीवन-दृष्टि नहीं, शुद्ध जीवन है। यह कोई आदर्श नहीं, निखालिस क्रिया है। यह कोई उपदेश नहीं, सहज कर्म का सीधा सलीका है। किसी वाक्-जाल का प्रपंच नहीं, मौन का नीरव छंद है। जो बाहर के भव-संसार की नहीं, भीतर के अंत:स्वर्ग की ओर इंगित करता है।

किसी ज़ेन भिक्षु ने वृद्ध श्रावक से पूछा, 'रास्ते में बुद्ध मिल जायें तो क्या करें ?' 'मार डालो उसे !' गुरु के निश्शंक उत्तर में कहीं कोई दुविधा नहीं थी।

परंपरागत बुद्ध की मृत्यु से ही नये बुद्ध का जन्म होता है। और जो शिष्य गुरु से बढ़ कर न हो तो दोनों का वर्चस्व निरर्थक है। बने-बनाये ईश्वर से ज़ेन योगी का काम नहीं सरता। उसे चूर-चूर करके ध्वस्त करना होगा। हर बूढ़ा ईश्वर सठिया जाता है, चाहे वह स्वयं बुद्ध ही क्यों न हों ! किसी भी आप्त-वचन, निर्धारित सिद्धान्त, परंपरागत आदर्श व रूढ़ मान्यताओं पर विश्वास न करना ही ज़ेन दर्शन की पहली व अंतिम शर्त है। संशय, संशय और संशय ही ज़ेन शिक्षा का आणविक तत्त्व है। इसलिए न बुद्ध पर विश्वास करो और न बुद्ध प्रतिमा पर। किन्तु आज धर्म, मजहब, पंथ, ईश्वर और खुदा के नाम पर मनुष्य सर्वथा अंधा-बहरा और गूंगा हो गया है। उसे कौन समझाये कि अपने

ज़ेन बोध-कथाओं की दार्शनिक पृष्ठभूमि

विजयदान देथा

भीतर के देवता को पाने के लिए उसे कहीं किसी गुरु के पीछे भटकने की आवश्यकता नहीं है, किसी के प्रवचन सुनने की दरकार नहीं है। इन गुरुओं, इन आचार्यों के प्रवचनों ने ही हर भक्त को राक्षस वना दिया है। हर संत को शैतान वना दिया है। और यहीं धर्म, मजहव और पंथ के परिप्रेक्ष्य में ज़ेन वौद्ध-दर्शन की सार्थकता चरितार्थ होती है, जिसकी मान्यता के अनुसार विना किसी गुरु की जवान खुले सारा ज्ञान प्राप्त हो जाता है। वह आत्मवोध न तो किसी गुरु का इंतजार करता है, न किसी इमाम का और न किसी मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे का। ज़ेन श्रावक का पहला कदम उठते ही मंजिल पार हो जाती है, क्योंकि ज़ेन धारणा के अनुसार रास्ता ही मंजिल है और मंजिल ही रास्ता है, जिस पर चलने के लिए उसे किसी दूसरे बुद्ध की शरण में जाने की जरूरत नहीं, उसे तो स्वयं बुद्ध वन कर अपनी मंजिल तय करनी है, जो रास्ते से अलग नहीं, सर्वथा एक ही है। परंपरागत सूरज के बूते पर उसे अंधकार के अतिरिक्त कुछ प्राप्त नहीं हो सकता, उसे तो स्वयं अपना दीपक जलाना है, दीपक वनना है।

किसी भी विचार को अंततः मुक्ति मिलती है तो आचरण से। इसीलिए ज़ेन-वौद्ध का व्यवहारगत आचरण न वाणी का मोहताज है और न किसी भाषा का भिखारी। विचारों की कंटीली वाड़ से दूर-दराज है इसका अकृत्रिम, मुक्त वसेरा—हवा में झूलता हुआ, चांदनी में मचलता हुआ, वारिश की फुहारों से भीगता हुआ, वादलों के वीच इठलाता हुआ, फूलों के सौरभ से महकता हुआ। मत-मतांतरों के इकलौते अभिशाप से अव तक इतनी...इतनी क्षति हुई है, जितनी भूकंप, महामारी, ज्वालामुखी, वाढ़ और अकाल-दर-अकाल से भी नहीं हुई। चतुर्दिक विकास और निर्वाध प्रगति के नाम पर अमरीका व पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान ने युद्ध के हथियार दिये, खुले वाजार की अंधी होड़ दी, अनियंत्रित लोभ की रक्त-पिपासु पूतना दी और पिछड़े हुए भारत ने चीन व जापान को ज़ेन-वौद्ध का स्नेह-सिक्त उपहार दिया। आधुनिक सभ्यता के सर्वोपरि राष्ट्र अमरीका के प्रवुद्ध मनीषी रोशि फिलिप की दृष्टि में, "क्या हम वाकई पूर्वजों के मुकावले ज्यादा विकसित हैं, शिक्षित हैं, अभिज्ञ हैं? क्या मनुष्य और ब्रह्माण्ड के वारे में हमारी जानकारी सचमुच वढ़ी है? कोई भी दक्ष वैज्ञानिक क्या इसका मायना समझा सकता है कि सूरज क्यों पूर्व दिशा में उदय होता है और क्यों पश्चिम दिशा में अस्त होता है? कौए काले क्यों हैं और वगुलों का रंग सफेद क्यों है? पानी क्यों सौ डिग्री सेण्टीग्रेड पर उवलता है और सिफर डिग्री पर जमता है? कुत्ते क्यों विल्ली का पीछा करते हैं और विल्ली क्यों चूहों को दवोचती है? क्या कोई भी मनोवैज्ञानिक या जीव-शास्त्री मूलभूत चेतना की व्याख्या कर सकता है? शायद वह अपनी चेतना के वारे में भी ठीक तरह नहीं जानता! अपने पूरमपूर तामझाम के वावजूद वैज्ञानिक यह तक नहीं जानते कि अंततः मनुष्य क्या है? व्हाइटहेड ने कितनी सटीक वात कही है कि 'आजकल के तमाम दर्शन प्लेटो की पाद-टिप्पणियों के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं।' इसी प्रकार मानवीय मस्तिष्क और ब्रह्मांड के संवंध में हमारी अभिज्ञता केवल उसी तथ्य का पिष्टपेषण है, जिसका वुद्ध ने ढाई-हजार वर्ष पहले साक्षात्कार किया था, जो हमारी अंतःप्रज्ञा का निगूढ़ रहस्य है। नवीं शताव्दी के एक भिक्षु ने जो वाद में ज़ेन-श्रावक वन गया था, अपनी वौद्ध-प्रज्ञा के

संदर्भ में वताया कि गहनतम दर्शन-शास्त्रों का अध्ययन और मनन अनंत ब्रह्मांड की तुलना में एक बाल के बरावर भी नहीं है। मानवीय ज्ञान का अधुनातन विस्तार पहाड़ों की बीहड़ घाटी में उछाली हुई बूंद के समान है।"

मगर विडम्बना यही है कि जो इस परम-सत्य को जानते हैं वे कुछ भी कहना नहीं चाहते, क्योंकि उनकी दृष्टि में कहना सर्वथा निरर्थक है। और जो इस ब्रह्म-तथ्य के बारे में कुछ भी नहीं जानते वे मिथ्या ज्ञान के अहंकार में सारी दुनिया के कान खाये जा रहे हैं। आखिर वे अपनी कलम की नोक से हम सबकी आंखें फोड़ कर ही दम लेंगे। किन्तु इसके विपरीत दक्षिण भारत के बोधिधर्म ने छठी शताब्दी के प्रारंभ में ही चीन के बाशिंदों की आंखों के भीतर ज़ेन-बौद्ध का अलौकिक सुरमा सारा था, जिसकी ब्रह्म-ज्योति चीन की धरती से बारहवीं शताब्दी में जापान की धरती पर चमक उठी थी। संस्कृत के 'ध्यान' को चीन की वाणी ने 'चा'न' के रूप में अंगीकार किया, जो जापान की सांस्कृतिक धरती पर 'ज़ेन' के सांचे में रूपांतरित हो गया।

आज भी हमारी कल्पना के लिए यह बड़ी गुत्थी है कि आवागमन के उन आदिम-साधनों के सहारे बोधिधर्म चीन पहुंचा था या एक-एक कदम पैदल चल कर उसने अपनी यात्रा संपूर्ण की थी? आखिर किस आदर्श की खातिर? किस चाह व ललक के निमित्त? ऐसी कौन-सी विवशता थी कि उसने धरती की उस अलंघ्य दूरी को अपने कदमों से नापा? क्या कोई भी पंछी उड़ने से पहले अनंत-आकाश के विस्तार को नापता है? क्या कोई भी मछली तैरने से पहले अथाह पानी की पूर्णतया थाह लेना अनिवार्य समझती है? यदि इस दुर्भावना का मन में यत्किंचित् भी अभास हो जाये तो न कोई पंछी अनंत आकाश में उड़ान भर सकता है और न कोई मछली समंदर में तैरना ही प्रारंभ कर सकती है। कोई भी पंछी अपनी जैसी-तैसी पांखें साथ लेकर ही उड़ता है। पांखें साथ हों तो वह कहां नहीं उड़ सकता? श्रावक बोधिधर्म भी कोई तलवार के जोर पर चीन नहीं गया था, वह उड़ा था अपनी पांखों के सहारे। वह तो केवल उड़ना चाहता था, किसी राष्ट्र की धरती को जीतना या लूटना नहीं चाहता था। प्रेम की पांखों का ऐसा ही करिश्मा होता है! निगोड़ी बुद्धि का पंगु विवेक भला उन पांखों का क्या मुकाबला करता! ज़ेन-बौद्ध का सार तत्त्व भी यही है। जिसे भाषा के सहारे दरसाने की उसने खास जरूरत नहीं समझी। और जरूरत है भी नहीं।

भाषा, ज्ञान, दर्शन व धर्म के दांभिक अहंकार की निस्सारता जितनी ज़ेन-बौद्ध ने समझी वैसी किसी दर्शन ने नहीं समझी। क्योंकि आर्य-सत्य अवाच्य होता है। उसे न जन्म का अहसास है और न मरण का, न सुख का न दुख का, न लाभ का न हानि का, न अमंगल का न मंगल का, न गोचर का न अगोचर का, न जीव का न अजीव का, न आदि का न अंत का, न धर्म का न अधर्म का, न पाप का न पुण्य का, न छूत का न अछूत का, न ऊंच का न नीच का, न घर-परिवार का न राष्ट्र का और न नित्य का न अनित्य का। ये तो केवल शब्द मात्र हैं। ब्रह्म-सत्य का शब्दों से कोई सरोकार नहीं होता, कोई नाता-रिश्ता नहीं होता। वह शब्दातीत है। नितांत शब्दों से परे है उसका वर्चस्व; जिसका तर्क-वितर्क से, ज्ञान-विज्ञान से, निरर्थक वाक्जाल से और दार्शनिक डुबकियों से

कोई वास्ता नहीं। मौन की नीरव कोख से ही ब्रह्म-सत्य का जन्म हुआ था। ऋषियों की अंतश्चेतना ही जिसका साक्षात्कार कर सकती थी। 'गौतम-बुद्ध ने उनचास बरस तक उपदेश देने का मंगल कार्य किया और उस दीर्घ अवधि के दौरान कभी इस बात की जरूरत नहीं समझी कि एक शब्द बोलना भी अनिवार्य है।'

जिस प्रकार हंसी व आंसुओं की कोई भाषा नहीं होती, उसी प्रकार बौद्ध-सत्य की भी कोई भाषा नहीं है। उसे न उपदेशों के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है और न-उपदेशों के माध्यम से सुना जा सकता है। वाणी, कान और आंखों से परे होता है उसका विद्युत-आलोक। ज्यादा ही खींच-तान की जाय तो शब्दों को सत्य के वाहन रूप में स्वीकार किया जा सकता है। उन्हें सत्य का प्रतिरूप मानना तो बेहद घातक है। सत्य का साक्षात्कार होने के बाद शब्दों का उसी निर्ममता के साथ परित्याग कर देना चाहिए, जिस निर्ममता के साथ भोजन के पश्चात् निमंत्रण-पत्रों को फेंक दिया जाता है। कुंकुम-पत्रिकाओं के कूड़े को बटोरने से भोजन की पूर्ति नहीं होती। हजार मर्त्तबा दूध का नाम रटने की बजाय उसे एक बार पीना ही स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद है।

वितंडावाद की व्यर्थता ध्यान में रखते हुए ज़ेन-बौद्ध वास्तविकता से तादात्म्य स्थापित करना उचित समझता है। जिसके प्रति वह पूर्णतया सजग है, पर चंचल नहीं, निष्ठारत है पर व्यग्र नहीं। क्योंकि वास्तविकता की अपेक्षा शब्दों के प्रति अंधविश्वास से वह रंच-मात्र भी ग्रस्त नहीं है, किन्तु आज हम पूर्णतया ग्रस्त हैं। रोटी, पानी, निवास और वस्त्रों से भी कहीं ज्यादा शब्दों का नशा हमारे लिए अनिवार्य हो गया है। सत्य के वाहन या माध्यम से बढ़ कर भाषा को तरजीह देना हमारी आदत में शुमार हो गया है। और यही सर्वाधिक घातक संस्कार है। अब इस से छुटकारा पाना संभव नहीं। प्रत्यक्ष अनुभव की बजाय परोक्ष ज्ञान का शब्द-जाल हमें मगरमच्छ की तरह निगलता जा रहा है। हर वस्तुस्थिति का शाब्दिक विकल्प हमें प्रत्यक्ष अनुभूति से निरंतर महरूम करता जा रहा है और सत्य की अपेक्षा शब्दों की भ्रांति में ही हमारी तमाम उम्र कट जाती है। मरते दम तक हमें यह अहसास नहीं होता कि खीर खाने की बजाय हमने उसके नाम का ही जाप किया है।

धारणा जगत को पूर्णतया विनष्ट करके ही बौद्ध-यथार्थ से तादात्म्य स्थापित कर पाना संभव है। और इस तादात्म्य की अनुभूति किसी भी प्रकार की बुद्धि या विवेक से परे है। विचार की चिन्तन प्रक्रिया में बहुत्व और एक का विभेद कृत्रिम रूप से उजागर होने लगता है, जब कि वास्तविकता यही है कि एकता और वैविध्य का परस्पर अभिन्न और अद्वैत संबंध है। इसी आर्य-सत्य के साक्षात्कार हेतु यह ज़ेन प्रणाली बौद्ध-दर्शन की एक व्यावहारिक प्रक्रिया है जो पिण्ड और ब्रह्माण्ड, एकता और अनेकता, रूप और तत्त्व, वैविध्य और अभिन्नता, आत्मा और परमात्मा, व्यक्ति और समष्टि के द्वैत को पूर्णतया अस्वीकार करती है। अद्वैत भाव के इस ब्रह्म-सत्य को प्राप्त करने के लिए ज़ेन-दर्शन का एकमात्र उपाय है—संबोधि, जो जापानी भाषा में 'सतोरी' शब्द से परिलक्षित होती है। यह संबोधि ही ज़ेन-दर्शन की धुरी है, जो दार्शनिक प्रपंच के परंपरागत संस्कारों पर अपनी बोध-कथाओं के द्वारा जब-तब करारी चोट करती है। गूढ़ार्थ के सूक्ष्म-मर्म से

अनुगुंफित इन बोध-कथाओं के लिए जापानी शब्द है— कोआन। बुद्धि के प्रमाद, विवेक के अहंकार, किसी एक ईश्वर के प्रति अडिग आस्था एवं दार्शनिकों के विभिन्न वितंडावाद के प्रति जम कर प्रहार करना ही इन बोध-कथाओं का मुख्य ध्येय है। भरे हुए चाय के प्याले में ज़ेन-चाय की एक बूंद भी नहीं समा सकती। यदि ज़ेन-चाय का अनूठा स्वाद लेना है तो प्याले को पूर्णतया खाली करना होगा—चाहे वह प्याला स्वयं बुद्ध के विचारों से ही क्यों न भरा हो! इसलिए खाली प्याला, भरे हुए प्याले की अपेक्षा ज्यादा महत्त्वपूर्ण है!

योशिनो पर्वत की घाटियों में
चेरी के अगणित बिरछ लहलहा रहे हैं
महक रहे हैं
मगर मुझे बताओ
बिरछ का तना चीर कर बताओ
कि उस में फूल कहां हैं?
फूलों की भीनी खुशबू कहां है?

धरती—धरती से उगने वाले गाछ और उन गाछों पर खिलने वाले फल-फूल सब एक ही नहीं हैं, भिन्न भी नहीं हैं। वास्तविकता का कोई रूप नहीं होता। वह न गोचर है और न अगोचर। आकाश की तरह वह इतनी सूक्ष्म है कि भाषा व शब्दों की पकड़ में नहीं आ सकती। भाषा के विरोधाभास द्वारा उसकी ओर केवल संकेत भर किया जा सकता है। और ज़ेन-दर्शन का पूरा झरोखा विरोधाभास की नींव पर खड़ा है। फूलों को मसलने से उन में बिरछ की जड़ मिलेगी और तने को चीरने से उस में फूल मिलेंगे, फूलों की महक मिलेगी।

ज़ेन-श्रावक की दृष्टि में यह ब्रह्माण्ड स्वयं एक श्रेष्ठतम बोध-कथा है, इसका मर्म उघड़ने पर तमाम सत्रह सौ बौद्ध-कथाओं का अर्थ स्वत: स्पष्ट होने लगता है। यदि बोध-कथाओं के इस आर्य-मर्म को हृदयंगम कर लिया जाय तो मर्मज्ञ के मन में कोई दुविधा नहीं रहती कि 'दलदल की यात्रा' के समय जवान सुंदरी को कंधे पर बिठा कर पार उतारना अधिक जघन्य है या उसकी वासना को हरदम ढोये रहना।

भाषा की तरह ये बोध-कथाएं भी निमित्त-मात्र हैं ब्रह्मांड की एक-मात्र सच्चाई को समझने के लिए। ज़ेन-श्रावक की दृष्टि में इस बिन्दु पर कोई दुविधा नहीं है कि भाषा की अपेक्षा मौन की शक्ति ज्यादा प्रबल होती है। ध्यान के माध्यम से इस चरम मौन का साक्षात्कार होने पर सांसारिक विवेक तिरोहित हो जाता है। मनीषी और मनन का भेद मिट जाता है। इस एकाग्र चित्त के अप्रत्याशित तादात्म्य के लिए ये बोध-कथाएं संकेत का काम करती हैं। और यह वैयक्तिक तादात्म्य नितांत मनोवैज्ञानिक है, दार्शनिक, धार्मिक या नैतिक नहीं; किन्तु दार्शनिक या आध्यात्मिक मनोभूमि के अभाव में यह मनोवैज्ञानिक उपलब्धि असंभव नहीं तो मुश्किल जरूर है। और न यह उपलब्धि केवल ध्यान के निरंतर अभ्यास पर ही पूर्णतया मुन्हसर है। यह इतनी आकस्मिक है जितनी कि बिजली

की त्वरित लहर। इतनी अप्रत्याशित है जितना कि स्वप्न। इन बोध-कथाओं की सार्थकता यही है कि इस आकस्मिक व अप्रत्याशित साक्षात्कार के लिए झटके का काम करती हैं। प्रगाढ़ निद्रा में सोते हुए को चौंका देती हैं। तभी तो ग्राहक व क़साई की तकरार सुन कर श्रावक वेनजान को अविलम्ब आत्मबोध की अनहद अनुभूति हुई। और उधर ग्राहक व कसाई अपनी तकरार में ही खोये रहे। अपने आसन्न हित में ही उलझे रहे। वर्ना गोश्त के टुकड़ों का क्या तो वढ़िया और क्या घटिया? ग्राहक अपने स्वाद के संस्कार में फूला है और कसाई अपने तात्कालिक लोभ में। इस बोध-कथा का महत्त्व केवल यही है कि वह संस्कारों की जड़ पर करारा आघात करती है। हिसावी विवेक को झिंझोड़ती है। वुद्धि की पुश्तैनी वसीयत को झाड़ फेंकती है। तब तर्क-वितर्क का प्रेत भावना का रूप धारण कर लेता है और अहंकारी विवेक अंत:प्रज्ञा में परिवर्तित हो जाता है। हां, एक वात यहीं खुलासा कर दूं कि इन बोध-कथाओं के मर्म को समझने के लिए कोई आसान गुर नहीं है। धड़ से सर अलहदा करने के वाद ही इनकी निराली गुहा में प्रवेश संभव है। सर तान कर इनकी तह मे पैठना संभव नहीं। दरवाजा खटखटाने के लिए ही पत्थर की उपयोगिता है। दरवाजा खुलने के वाद उसे हाथ में थामे रहना नादानी है। यदि पत्थर पर ही ध्यान केंद्रित रहा तो खुली गुहा के अनिवर्चनीय रहस्य की झांकी पाना मुश्किल है। और उस दीदार की वुनियादी शर्त है—पत्थर की तरह नितांत जड़ हो जाना। किन्तु जव कभी उस जड़-पत्थर में हरकत होगी, प्राणों की सिहरन होगी, तव वह स्वत: शेर की नाईं दहाड़ उट्ठेगा, अपनी अलमस्ती में स्वच्छंद उड़ने लगेगा। वौद्ध-सत्य के दीदार सुनने, देखने, तपने, सूंघने से नहीं होते, उसे तो मर कर ही आत्मसात किया जा सकता है। लुक-छिप कर एकांत में नहीं, सरे आम वांहें पसार कर प्रेयसी को अपनाना पड़ता है। दूर के ढोल की सुहानी गाज को अनसुना करके 'पांव तले की चेतना' का अनहद मौन सुनना पड़ता है। चींटी के पांवों की झांझर खनकने पर ही 'एक हाथ की ताली' स्पष्ट सुनाई देने लगती है। उमड़ती वाढ़ भला कव किसका अवरोध मानती है, उसके सामने सव ढह कर स्वत: रास्ता दे देते हैं। पानी की क्षमता भी अपार है और मजवूरी भी वेशुमार। जिस वासन में आश्रय लेता है, तुरंत उसके अनुरूप वैसा ही आकार ग्रहण कर लेता है। कटोरी में कटोरी जैसा, घड़े में घड़े जैसा और थाली में थाली जैसा। यह विनम्रता ही पानी की वेजोड़ ताकत है। वह जितना तरल है, उतना ही कठोर। जितना निर्वल है, उतना ही शक्तिशाली—विल्कुल ज़ेन कथाओं की तरह।

मर्यादा पुरुषोत्तम राम की तरह ज़ेन श्रावक लोकमत की परवाह नहीं करता। वह न तो लोगों की रजामन्दी से अपनी सीता को ग्रहण करता है और न उनकी निंदा से उसका परित्याग। वह खुद ही राम है, खुद ही सीता है। अपने अंतस के वाहर ताक-झांक करने के लिए उसके पास न समय है और न वैसी अभिरुचि। हवा किसी से नियंत्रित हो तो ज़ेन श्रावक का आचरण किसी से नियंत्रित हो! लोकमत का क्या भरोसा, वह जव चाहे ज़ेन-भिक्षु हेकुइन के सादे पवित्र जीवन की प्रशंसा कर सकता है और जव चाहे उसकी निराधार प्रताड़ना कर सकता है। पर हेकुइन की प्रतिक्रिया सर्वथा अपनी सच्चाई पर ही निर्भर है। पंसारी की खूबसूरत जवान वेटी की अवैध संतान को लोगों द्वारा सौंपने पर

उसी सहज भाव से कबूल कर लेता है—न कोई विवाद और न कोई प्रतिरोध। अपने ही बच्चे की तरह वह उसका पोषण करता है। लेकिन पंसारी की बेटी संतान की तरह अधिक समय तक सच्चाई को पेट के भीतर संजो कर नहीं रख सकी ! आखिर पिता को बताने पर ही उसे शांति मिली कि वह अवैध संतान हेकुइन की नहीं, मच्छी-बाजार के एक नौजवान की है। लोगों की दौड़ फिर शुरू हो जाती है। पश्चात्ताप के साथ वे हेकुइन से क्षमा-याचना करते हैं और उसकी गोद से अवैध संतान लेकर चल देते हैं। पर हेकुइन तब भी कोई अधिकार नहीं जताकर चुपचाप बच्चे को सौंप देता है। उसका आचरण दूषित नहीं था तो वह क्यों भाषा के सहारे पैरोकारी करके अपना मुंह गंदा करे ? लोगों से माथा लड़ाने का उसके पास बेकार समय ही कहां है ? इस अल्पतम जीवन में ही उसे अपनी खोज करनी है। इस खोज के अतिरिक्त उसकी कोई समस्या नहीं, किसी भी बेश-कीमत वस्तु पर उसकी ममता नहीं।

'सब-कुछ मेरा है और कुछ भी मेरा नहीं' इस भावना से अनुप्रेरित होने वाले ज़ेन योगी की दृष्टि में चोर सबसे बड़ा साहूकार है और साहूकार सबसे बड़ा चोर। जब किसी भी चीज पर किसी का कोई अधिकार नहीं तो कौन चोर और कौन साहूकार ? तभी तो ज़ेन श्रावक शिचिर कोजुन की दृष्टि में चोर को पकड़ने की बजाय अपने आसन पर सूत्रों का पाठ करना ज्यादा जरूरी था। भौतिक वस्तुओं की हिफाजत के लिए उनके बारे में सोचने का उसे अवकाश ही कहां था ? उसे तो बस अपनी आंतरिक सम्पदा की देखरेख करनी थी।

क्या अमरीका का दैन्य और दिवालियापन इन कथाओं के अखूट वैभव को कभी ललचायी आंखों से देख सकेगा ? चीन व जापान की अपेक्षा अमरीका को ज़ेन-दर्शन की अत्यधिक आवश्यकता है। पर वह तो इस से भी आर्थिक मुनाफा कमाये बगैर नहीं मानेगा, हरगिज नहीं मानेगा। वह पराजित है तो केवल मृत्यु के सामने। अंततः उसे एक दिन मरना तो पड़ेगा ही, किन्तु आज उसने जीवन का ही मृत्यु से सौदा कर लिया है। उसने जीवन को ही मौत का काला लिबास पहना दिया है। एक हाथ या दो हाथ की ताली तो दूर, उसे तोपों का कर्णभेदी गर्जन भी सुनाई नहीं पड़ता। अणुबम का भयंकर विस्फोट भी वह अनसुना कर देता है। फिर उसके कानों पर, उसकी आंखों पर, उसके दिल और दिमाग पर क्या भरोसा किया जाय ? केवल बाहर ही बाहर झड़पने से यही हश्र होता है। इसके विपरीत ज़ेन-श्रावक बाहर का संचय करने की बजाय, उसे जीत कर हथियाने की बजाय अपने अंतस में समा लेना चाहता है—जब तक उसकी नाड़ियों में बाहर की नदियां हहराती हुई बहने नहीं लगतीं, जब तक नवलख चांद-सितारों से जड़ा आकाश उसके मानस को आवेष्टित नहीं कर लेता, जब तक प्रकृति की समस्त हरियाली उसके भीतर छा नहीं जाती। बादल, बिजली, समुद्र और पहाड़ सब उसके भीतर आश्रय ग्रहण कर लेते हैं। वह समूची प्रकृति का सर्वोपरि अधिष्ठाता बन जाता है। चक्रवर्ती साम्राज्य का महाराजा तो दुनिया का सबसे अदना गुलाम है—अकिंचन भिखारी।

ज़ेन-दर्शन की अतुल्य विशिष्टता अंत में एक बार और दोहरा दूं कि यह सबकुछ उपलब्ध करने के लिए वह अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन करना उचित नहीं समझता।

किसी भी प्रतिष्ठान, दर्शन व धर्म की स्थापना नहीं करना चाहता, जो समय के दौरान अंततः भ्रष्ट व पतित होकर ही रहते हैं। इसी कारण जेन श्रावक किसी भी सिद्धांत या वाद के प्रवर्तक न होकर अपने वैयक्तिक निर्वाण तक ही सीमित रहे। अपने से बाहर हाथ-पांव मारना वे घृणित समझते हैं। यही कारण है उनकी बोध-कथाओं ने गंभीर मुद्रा का रूप धारण न करके परिहास का बाना धारण किया, इसी खातिर वे गंभीरता का सहज ही अतिक्रमण कर सकीं। अपनी बोध-कथाओं को सजाने-संवारने के लिए जेन श्रावकों ने जाने-अनजाने कोई चेष्टा नहीं की, इसी कारण इनके सीधे-सरल दृष्टांत कलात्मक-सौंदर्य की ऊंचाइयों को आसानी से छू सके। इस दार्शनिक पृष्ठभूमि में बारह और बारह चौबीस बोध-कथाओं के झीने मर्म को समझना है, तभी अपने सौंदर्य की आभा को चांदनी की तरह वे निस्पृह निर्विकार भाव से छिटका सकेंगी। इसी मंशा से मैंने इनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि को उकेरा है, जो नितांत अनर्गल व ऊलजलूल है, क्योंकि किसी भी भाषा के सहारे जेन-दर्शन को दरसाया नहीं जा सकता। सुतराम् मेरी चाबी से इन कथाओं के पट नहीं खुलेंगे। प्रत्येक मर्मज्ञ को अपनी ही चाबी बनानी होगी।

कितनी सहज सीख है जेन श्रावकों की—चलने की इच्छा हो तो मुक्त होकर चलो। नींद आये तो तान कर सोओ। भूख लगे तो डट कर खाओ। प्यास लगे तो छक कर पीओ। हंसी आये तो खुल कर हंसो। यह पशुवत् सहजता ही आध्यात्म की मूलभूत संजीवनी है। प्रकृति के इस सहज रूप को पाना ही सबसे ज्यादा कठिन है। मनुष्य के लिए कर्त्तव्य का यही पथ श्रेयस्कर है कि वह निकट को गौर से देखे। किन्तु वह तो दूर की कौड़ी लाना चाहता है। उसे दूर के ढोल ज्यादा सुहाते हैं, दूर के पहाड़ सुन्दर लगते हैं। अपने तलवों के चप्पे को अनदेखा करके वह पाताल व आकाश गंगा की चिंता करता है। मनुष्य के कर्त्तव्य का एकमात्र सलीका यही है कि वह सहज काम को अविलंब संपन्न करे, मगर उसका दुराग्रह सदैव यही रहता है कि वह मुश्किल काम में हाथ डाले। सब-कुछ देखने वाली आंखों को वह स्वयं कभी नहीं देख पाता। दर्पण में जड़ी आंखें तो वास्तविक आंखों की प्रतिच्छवि मात्र हैं। सामने से हटते ही प्रतिच्छवि ओझल! इसलिए लुप्त होने वाले प्रतिबिंब की तलाश न करके मनुष्य को अखंडित ब्रह्माण्ड की खोज करनी चाहिए। यही उसका श्रेय है, यही उसका प्रेय है। जेन बोध-कथाओं की सम्यक् दृष्टि में श्रेय और प्रेय का समान महत्त्व है।

बिरछ का तना चीर कर
मुझे बताओ
कि उस में फूल कहां हैं?
फूलों की भीनी खुशबू कहां है?

००

जॉर्ज स्टीनर की लाजवाब पोथी 'ऑफ्टर बेबल' [ऐस्पेक्ट्स ऑफ लैंग्वेज ऐण्ड ट्रैंस्लेशन] दत्तचित्त होकर बांचने में मशगूल था। धर्मग्रन्थ के पाठ की तरह एकबारगी सचमुच भूल गया कि अक्षरों के बाहर भी कोई दुनिया है। समय, हवा और आलोक की आधी-अधूरी चेतना थी। कुछ ऐसा आभास हो रहा था कि बाह्य-प्रकृति के सारे उपादान इस पोथी के अच्छरों में समाहित हो गये हैं। इस गंभीरतम विषय में चेखोव की कथाओं-सा अनहद आनंद निःसृत हो रहा था।

...'बहुत संभव है मनुष्य वाणी की उपज हो, न कि वाणी मनुष्य की।'

...'अपने बीते हुए समय का वाणी में अनुवाद करना केवल मनुष्य के लिए ही संभव है।'

...'नहीं — यह अतिरंजित कथन बिल्कुल नहीं है कि हम सभ्यता की वसीयत का दावा वाणी के फलस्वरूप ही कर सकते हैं।'

...'मनुष्य का समस्त कार्य-व्यापार व्याकरण के नियमों द्वारा ही अनुबंधित है। बीती विभावरी, सद्यः वसंत या पिछली शताब्दी को मनुष्य अपने वाक्य-विन्यास में पिरो सकता है। हजारों-हजार बीते युगों की दीप्ति को वह वाक्यों में संजो कर रख सकता है।'

...'अतीत, वर्त्तमान और भविष्य की धुरी केवल व्याकरण का ही विशिष्ट तत्त्व है, जो हमारे अभिज्ञान और अहम् का प्रत्यक्ष आधार है।'

...'हमारा समस्त अनुभव अतीत के स्मृति-पुंज की मुखर व्यंजना है।'

...'इतिहास—अभिव्यक्ति का चमत्कार नहीं तो और क्या है, जो भूतकालिक क्रिया के प्रयोग पर निर्भर करता है। न भाषा के बाहर इतिहास की कोई भौतिक सत्ता है और न भाषागत व्याख्या के बाहर उसका कोई वर्चस्व।'

भाषा और संस्कृति : १

तो क्या वाणी के अभाव में पशु-पक्षियों की स्मृति सर्वथा निष्क्रिय है? भूत, वर्त्तमान और भविष्य-कालिक क्रियाओं के बिना पशु, पक्षी या वनस्पति को अपने बीते हुए जीवन का कोई अहसास नहीं होता? बछड़े को जन्म देती हुई गैया की चेतना में प्रथम कामोत्तेजना की कोई यादगार शेष नहीं रहती? विशालकाय गहन-घुमेर बरगद को अपने अंकुर की कोई मधुर-स्मृति विचलित नहीं करती? फिर बरसों...बरसों बाद कोई पालतू कुत्ता केवल सूंघ कर अपने मालिक की क्योंकर गंध पा लेता है? गाय अपनी बछिया की आवाज कैसे पहचान लेती है? कोई भी नस्ली घोड़ा अपने स्वामी के वियोग में क्यों झार-झार आंसू बहाता है? क्यों...क्यों...?

...कि अकस्मात् किसी अपरिचित गले की खखार सुन कर धीरे से पलकें उठायीं तो देखा—सामने की कुर्सी पर श्रीयुत् विवेकचन्द्र 'विश्वमानव' विराजमान हैं। एकदम तटस्थ व निस्पृह, मानो यह उन्हीं के पठन-पाठन का कमरा हो और मैं कोई अजनबी। काफी समय से जिस सनीचर की आशंका थी, आखिर अजाने उसकी गिरफ्त में आ ही गया। हम-उम्र होते हुए भी उन्होंने समय तक को अपनी गिरफ्त में ले लिया था, फिर मेरी तो बिसात ही क्या? थोड़ा अकचका कर दूसरे ही क्षण आश्वस्त हो गया। विस्मय से पूछा, 'आप...!'

वही दमकती हुई बत्तीसी। चुनौती की ललकार से कौंधती हुई वही स्मित मुस्कान। अक्षरों को भीतर खींचते हुए अपने उसी चिर-अभ्यस्त लहजे में बोले, 'भूत समझ कर डर तो नहीं गये?'

'डरना ही चाहिए था।' मुस्कराने का असफल प्रयास करते हुए मैंने कहा, 'मगर उतना नहीं डरा। कब आये?'

'परेशान होने की जरूरत नहीं। कोई पांच-सात घण्टे नहीं, पांच-सात मिनट ही हुए हैं।'

समय का हवाला सुनते ही मैंने तत्काल घड़ी देखी—पौने सात बज गये! अल्ल सवेरे तीन बजे नहा-धोकर पढ़ने बैठा था, सो काले अक्षरों को कुरेदते-कुरेदते चार घण्टे बीत गये। कब अंधियारा समाप्त हुआ और कब कमरा धूप से नहा उठा, पता ही नहीं चला। भाषा और अनुवाद की मीमांसा में रोशनी तक बुझाना भूल गया। पंखे की हवा ऐन विवेकी बाबू के सर पर मचल रही थी। घुंघराले बाल हलके-हलके उड़ रहे थे। न जाने क्यों उन कजरारे बालों की क्रीड़ा देखकर मुझे बड़ी कोफ्त हुई। उधर से आंखें चुराकर बोला, 'मगर आपने मुझे टोका क्यूं नहीं? इतना धीरज तो शायद आपने पहली बार ही रखा।'

'पर अब साल-डेढ़-साल से धीरज रखने का आदी हो गया हूं। प्रति-दिन नासमझ बुद्धिजीवियों से पाला पड़ता है न?'

केवल मुझे ही लक्ष्य करके यह सामान्य बात कही गयी थी। अविलम्ब माकूल जवाब नहीं सूझा तो मेरा मुंह तनिक-सा उतर गया। विपक्षी की कमजोरी ताड़ने के पश्चात् वे दूसरा प्रहार करने में कभी ढील नहीं करते। विनम्रता का नया मुखौटा चढ़ाकर बोले, 'बच्चों की तरह बेकार जिज्ञासा प्रकट करने की आदत तुम्हारी छूटी नहीं है। जरूर

अगला प्रश्न करोगे कि इतनी जल्दी तो कोई बस आती नहीं, फिर मैं यहां पहुंचा क्योंकर ? इसलिए पहले ही बता दूं कि बसों की जानकारी के लिए कोमल को फोन किया तो संयोग से प्रशांत मिल गया। राजस्थान-पत्रिका की कार मेड़ता सिटी अखबार पहुंचाने के लिए रवाना होने ही वाली थी। तुरंत पत्रिका पहुंच गया। अब तक कोमल से बहसबाजी में तो कोई फायदा नहीं हुआ, पर उनके सुपुत्र के द्वारा ढाई घण्टे का वक्त बच गया। इसके लिए वाकई तुम सबका आभारी हूं।'

'वक्त से भी ज्यादा साढ़े बारह रुपयों की बचत का आभार। जिसके लिए एक बहुमूल्य सुझाव और दूंगा कि वापस जोधपुर पहुंचते ही आप वज्रदंती मंजन की दो शीशियां जरूर खरीद लें।'

'वज्रदंती मंजन ! यह किसलिए ?'

'दांत मजबूत करने के लिए। आप जैसे बेजोड़ बुद्धिजीवियों के दांत भी चूहों की तरह तेज व नुकीले होने चाहिएं।'

उनके कानों की एक अजीब ही अविश्वसनीय तासीर है कि हारने वाली बात का पूर्वाभास होते ही वे बहरों से भी ज्यादा बहरे हो जाते हैं। अकृत्रिम भाव से बिल्कुल नया ही प्रश्न पूछा, 'इतने ध्यान-मग्न होकर क्या पढ़ रहे थे ? शायद गीता ही होगी ? क्यूं ?'

'हां। आपका अनुमान कभी गलत हो सकता है भला ?' न जाने क्यों उनके सामने सच बोलते हुए मुझे झिझक होती है, मानो सच्चाई स्वयं उन से कतराना चाहती हो।

'तभी तो ऐसी उम्दा मखमली जिल्द चढ़वायी है !' वे खुशी में इतराते हुए कहने लगे, 'आज तो कोई भी अनुमान लगा सकता है, मगर तीस बरस पहले जब तुम मार्क्स के नये-नये भक्त बने थे, मैंने पुख्ता निश्चय कर लिया था कि तुम देर-सवेर धार्मिक-ग्रन्थों का पारायण करोगे।'

होंठों तक फांदती मुस्कराहट को तो मैंने उसी क्षण दबा लिया, किन्तु आंखों की चंचल दृष्टि पर नियंत्रण नहीं रख सका। सीने से सर तक और सर से सीने तक उन्हें तीन-चार बार गौर से देखा। बीस साल से उनके हुलिये में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ। हर बार मिलने पर मुझे सबसे ज्यादा इसी बात का आश्चर्य होता रहा है, आज भी हुआ। वही गोरा-चिट्टा कश्मीरी रंग। गोल भरा-भरा-सा चेहरा। ताजी घुटी हुई दाढ़ी। कद्दावर शरीर। पूर्णतया सानंद और स्वस्थ। नाक-नक्श ग्रीक नस्ली सांचे में ढले हुए। पहले की अपेक्षा दांत कुछ लम्बे नजर आये, फिर भी बत्तीसी वैसी ही सुघड़ व सुन्दर। होंठ वैसे ही पतले और गुलाबी। बाल वैसे ही काले, घने और घुंघराले। काश ! किसी भी कीमत पर उनसे आधे बालों का सौदा कर पाता ! हमेशा की तरह आज भी उनके बाल देखकर वैसा ही रश्क हुआ। यदि बालों के साथ उनकी मदांध नासमझी का भी सौदा हो जाय तो एतराज नहीं करूंगा। इस दौरान विवेकचन्द्र 'विश्वमानव' प्रतिपल मेरे बोलने की प्रतीक्षा करते रहे। तब मैंने अचंचल गंभीर स्वर में कहा, 'समझ नहीं पड़ता—किस विशेषण के द्वारा आपको संबोधित करूं—मंत्र-द्रष्टा या भविष्य-द्रष्टा। पर एक बात तो बताइये कि मरने के बाद आप जिन्दा रहेंगे कि नहीं ?'

मुझे स्वप्न में भी यह खयाल नहीं था कि मेरे ये बोल उन्हें बिजली की तरह छू जायेंगे।

क्षण भर के लिए उनकी आंखें पथरा गयीं। चेहरे की ललाई कुछ म्लान-सी नजर आयी। होंठ कुछ इस तरह फड़फड़ाये, जैसे अंतस में घुमड़ती गर्जना झेल नहीं पा रहे हों। फिर भी कुछ-न-कुछ तो बोलना निहायत जरूरी था ! चाहे वह भीतर की बात न होकर, बाहर की ही क्यों न हो—नितांत मिथ्या, सर्वथा कृत्रिम। हाथ में थमी भरकम पोथी टेबल पर न रखकर मेरे सामने करते उन्होंने इस तरह पूछा, जैसे हथेली की तरह वह पोथी भी उनके शरीर का अंग हो। 'राजस्थानी के झमेले में इसे पढ़ने का वक्त ही नहीं मिला होगा ? क्यूं ?' यह कहकर उन्होंने इस तरह मेरी ओर संशयात्मक नजर से देखा, जैसे यह प्रश्न किसी दूसरे के मुंह से फिसल पड़ा हो। पहली बार मुझे उनकी वाणी और होंठों के अलगाव का किंचित् आभास हुआ। उन्होंने बेमन से उस पुस्तक को और आगे बढ़ाया। कांट की पुस्तक थी—क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन। तीन-चार मर्तबा पढ़ चुका था। मगर घर आये अतिथि के दिल को जाने-अनजाने ठेस पहुंचाना भी ठीक नहीं। सामंती संस्कार के मुताबिक घर आया और मां-जाया बराबर होता है। और मेरी स्वीकृति पर भी वे क्यों विश्वास करते ? यह उनके स्वभाव में ही नहीं था। मैंने धीरे-से कहा, 'नहीं, विवेकी बाबू, वक्त की दुहाई देना तो उचित नहीं। इस कोटि के ग्रन्थों को पढ़ने की समझ भी तो चाहिए।'

'वाह ! आज तो तुमने बिल्कुल सही बात कबूल की। इस तरह के सच की मुझे कतई उम्मीद नहीं थी, सुनकर खुशी हुई। खैर, इन बेकार बातों में वक्त जाया न करके, अपनी यात्रा का मकसद साफ बता दूं। शायद समझ भी गये होगे। उसके पहले अभी-अभी मन में उठी बात निस्संकोच प्रकट कर दूं—यदि किसी कारण से काण्ट यह ग्रन्थ नहीं लिख पाता तो मुझे 'प्रज्ञा' का संपादन एक बरस मुल्तवी करके इसे लिखने के लिए मजबूर होना पड़ता।'

मनुष्य की वाणी का ऐसा निर्लज्ज उपयोग मैं पहले भी 'विश्वमानव' के मुंह से सुन चुका हूं, पर इस बार सचमुच विश्वास नहीं हुआ। परिहास या मजाक में कोई व्यक्ति इस से भी बड़ी डींग हांक सकता है ! किन्तु इस आत्मविश्वास-युक्त गंभीरता से ऐसी घिनौनी व जघन्य बात कोई होश रहते क्योंकर उगल सकता है ? शायद उन्होंने हलके-फुलके लहजे में मेरी प्रतिक्रिया उकसाने के लिए यह शिगूफा उछाला हो। मैंने अपनी समझ मुताबिक उनकी आंखों व होंठों में कुछ खोजने के आशय से देखा। मगर वहां तो वास्तविक गुमान की सूक्ष्म आभा स्पष्ट खिली हुई थी। कुछ देर पहले की दुविधाजनक मनःस्थिति का उन्होंने निर्ममतापूर्वक दमन कर दिया। बीच का रास्ता उन्हें किसी भी तरह मंजूर नहीं होता ! इस पार या उस पार ! मुझे भीतर-ही-भीतर लज्जा की अप्रत्याशित अनुभूति हुई। कई बार बिना कसूर के भी लज्जा अजाने धर दबाती है।

अपने ही कमरे में अपनी मौजूदगी मुझे नागवार महसूस हुई। किसी भी बहाने एक बार कमरे से बाहर चक्कर काट आना होगा। इस मंत्रणा की चेतना के साथ, बहाने की बजाय मुझे एकदम सही कारण तुरंत सूझ गया। उठते ही क्षमा-याचना के लहजे में चिट्टू अंगुली का संकेत करते हुए बोला, 'माफ करें विवेकी बाबू...' उन्होंने अविलंब बीच में कुछ हस्तक्षेप करना चाहा, पर मैंने वैसा मौका ही नहीं दिया। बिना रुके ही

धड़ल्ले से अपनी बात पूरी कर दी, 'कुछ कुदरती शंकाएं ऐसी ढीठ होती हैं कि वे 'प्रज्ञा' का भी नियंत्रण नहीं मानतीं।'

'प्रज्ञा' शब्द के प्रच्छन्न व्यंग्य को समझने की उन्होंने कतई जरूरत नहीं समझी। प्रतिपक्ष की कोई भी बात उन्हें मच्छरों की भिनभिनाहट से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं लगती। लिहाज, संकोच या व्यर्थ के सामंती शिष्टाचार से उन्हें कोई लगाव नहीं। तनिक गंभीर स्वर में कहने लगे, 'कितनी बार टोका कि मुझे बाबू का संबोधन बहुत बुरा लगता है। सुनते ही सीधा दफ्तरों की फाइलों से चिपक जाता हूं और रिश्वत के सामने मेरा हाथ पसर जाता है।'

मैंने चलते-चलते ही होंठों से अधर झूलती बात पूरी कर दी, 'नहीं-नहीं, आप बिल्कुल गलत समझ रहे हैं। बिड़ला-डालमिया जैसे उद्योगपति भी बाबू संबोधन से खुश होते हैं। वे देश की पूंजी के सिरमौर हैं तो आप विश्व की चरम-बुद्धि के सिरमौर।'

इस बार उनके होंठों पर बरबस मुस्कान की झांई थिरक उठी। बोले, 'फिर वही पुश्तैनी दांव-पेच! चारणों वाली खुशामद से उल्टे तुम्हारी ही कलई खुलेगी।'

'कलई है तो जरूर खुलनी चाहिए, विवेकी बाबू।' और मैं दूसरे ही क्षण कमरे से बाहर निकल आया। हवा की इफरात तो कमरे में भी कम नहीं थी, पर मुझे सचमुच बाहर की हवा में सांस लेना अच्छा लगा। इच्छा हुई कि चुपचाप गांव से बाहर निकल पड़ूं और विवेकी बाबू दिन-भर कमरे में मेरी प्रतीक्षा करते रहें। मेरी सात पुश्तों को कोसते रहें। पर अतिथि बन कर सांप भी घर आये तो उसके सत्कार से पीछे नहीं हटने के सामंती स्वभाव को लाख चाहने पर भी छोड़ पाना मेरे बस की बात नहीं। किंतु कुछ देर अधिक बाहर रुकने का कसूर तो जान कर ही किया था। उच्चतम शिक्षा प्राप्त एक बुद्धिजीवी की समझ से स्वच्छ निर्मल परिवेश भी इस सीमा तक प्रदूषित हो सकता है—पहली बार इस तीव्रता से इसकी दारुण अनुभूति हुई।

कमरे में घुसते ही क्या देखता हूं कि जॉर्ज स्टीनर की पुस्तक को वे पैनी निगाहों से टटोल रहे हैं। मुझे कतई झटका नहीं लगा। मेरा अनुमान सही निकला। बल्कि वे ऐसा नहीं करते तो मुझे अचरज के साथ थोड़ा दुःख भी होता। तनिक हिकारत की नजर से देखते हुए अधीर होकर कहने लगे, 'समझ नहीं पड़ा कि तुमने किस डर से बेकार हामी भरी कि गीता पढ़ रहे हो? यह तो काफी अच्छी पुस्तक मालूम पड़ती है?'

जिस तरह हथेलियों के बीच किताब थमी हुई थी और जिस संशय और विद्वेष की दृष्टि से वे उसका निरीक्षण कर रहे थे, उस मुद्रा-विशेष से साफ जाहिर हो रहा था कि उनके अलावा कोई दूसरा अच्छी पुस्तक क्यों पढ़ता है? क्या अधिकार है उसे? एकाध बार इस तरह मुंह बिदकाया जैसे दांतों के बीच किरकिर आ गयी हो। उन्हें और अधिक खिझाने के आशय से कहा, 'शायद आपको पता नहीं कि मैं हर अच्छी किताब गीता समझ कर ही पढ़ता हूं। फिर भी सच बोलने का दंभ झूठ बोलने के आनंद की होड़ नहीं करता। और यों भी मुझे सच्चाई की बनिस्बत झूठ ज्यादा प्रिय है।'

'अपनी-अपनी पसंद है। पर मुझे झूठ से सख्त नफरत है, जानते हो?' उन्होंने मुंह बनाते हुए अपने स्वभाव की आज पहली घोषणा की।

इच्छा तो हुई कि उन्हें हाथोहाथ झिड़क दूं कि उनका जीवन, अध्ययन और प्रज्ञा सरासर झूठ है—निखालिस झूठ। उनकी मौजूदगी से तो आसपास का नजारा तक झूठ में तब्दील हो जाता है। हवा, धूप, छाया, सूरज, वादल, वरसात...सव कुछ। लेकिन खामखा वात वढ़ाने की वजाय मैंने उन्हीं की उक्ति धीमे-से उछाली, 'अपनी-अपनी पसंद है।'

न जाने भीतर की कौन-सी तिलमिलाहट को कावू करने की चेष्टा करते उन्होंने अपने श्रीमुख से फरमाया, 'लेकिन हर ऐरे-गैरे व्यक्ति की पसंद कोई माने नहीं रखती।'

तव मैंने भी पलट कर जवाव दिया, 'श्रीमान् विवेकी वावू, यह ऐरे-गैरे व्यक्ति की पसंद नहीं, आपके मसीहा स्वयं नीत्शे की पसंद है।'

'फिर वही ऊलजलूल वात।' वे वाईं भृकुटि हिलाते हुए वोले, 'मेरा कोई मसीहा नहीं ...मैं खुद अपना मसीहा हूं।'

अव मुझे उनकी उपस्थिति में रस आने लगा था। मुस्कराते हुए फुलझड़ी छोड़ी, 'मसीहा न सही, पूर्वज ही मान लीजिये, आप विश्वमानव जो हैं।'

होंठों तक उछली मुस्कराहट को जवरन दवोचते हुए वे तुरंत वोले, 'आगे वातचीत करने के पहले मेरी एक हिदायत साफ सुन लो कि गंभीर मसलों के वीच मुझे मजाक विल्कुल नहीं सुहाती।'

'मुझे भी नहीं सुहाती...।'

'फिर वही झूठ!' मेरे मुंह की वात वीच ही में झपटते हुए वोले, 'तुमने जिन्दगी-भर मजाक के अलावा किया ही क्या है? दुनिया कहां-से-कहां पहुंच गयी और तुम वीसवीं शताव्दी के मुहाने पर राजस्थानी में लिख रहे हो—वातां री फुलवाड़ी...यह मजाक नहीं तो और क्या है?'

वुरा तो वहुत ही लगा, पर क्या जवाव देता? ऐसी वातों का कोई जवाव है भी! मैंने वहुत ही पैनी दृष्टि से उनकी समूची सूरत का निरीक्षण किया। आज उसकी झांई के निभृत तल में अंतर्द्वन्द्व के झिलमिल आलोक की झलक दिखाई दी, जैसे स्वयं अपनी खोज में भटक रहे हों। या तो पूरमपूर अपनी खोज करके मानेंगे या हमेशा के लिए गुमशुदा ही वने रहेंगे।

तत्काल कोई दूसरी वात नहीं सूझी तो मैंने फिर नीत्शे की छांव का आसरा लिया। फुलवाड़ी का मुद्दा पलट कर इच्छा न होते हुए भी कहने लगा, 'आपने तो नीत्शे को न जाने कितनी वार पढ़ा होगा...।'

'फिर वही नीत्शे...नीत्शे की रट! तुम्हारे मुंह से यह नाम शोभा नहीं देता। जानते हो नीत्शे की स्पेलिंग क्या है?'

'स्पेलिंग आप रटते रहिये, मुझे इस से कोई सरोकार नहीं। इस पोथी में झूठ पर उसके उद्धरण वड़े मजेदार हैं—स्पेलिंग की वजाय उन्हें सुनाना चाहूंगा, सुनेंगे?'

मेरा अहोभाग्य कि उन्होंने मुझे सचमुच स्वीकृति देते हुए कहा, 'तुम्हें ऐसी ही हवस है तो सुनाओ, मगर थोड़े में। मैं किसी की हवस तोड़ना नहीं चाहता। पर आज दूसरी चर्चा के मूड में हूं।'

मुझे उनके मूड का काफी-कुछ पता लग चुका था और मैं उसी से वचना चाहता था। आफत जितनी देर टले उतनी ही खैरियत है। ताजी पढ़ी हुई पोथी के कई मार्मिक प्रसंग स्मृति में कौंध रहे थे। स्वीकृति की मेहर के वहाने शायद वे मेरी परख भी करना चाहते हों कि मुझ में पचाने या आत्मसात करने का माद्दा कितना है ! तो यही सही ! पर दूसरों को परखने की धृष्टता मुझे वहुत नागवार लगती है। मगर आज इस अचीती होनी से बच पाना मेरे लिए दुश्वार है।

नीत्शे के मुख-जवानी उद्धरण चूंकि मेरे मुंह से छिटक रहे थे, शायद इसी डाह के कारण वे अधूरे कान व उखड़े-उखड़े मन से सुन रहे थे। उनके स्वभाव की दुर्गन्ध पाते ही मैं और भी जोश-खरोश के साथ बोलने लगा, 'सत्य नहीं झूठ...झूठ...केवल झूठ ही दिव्य है; इसीलिए तो हम अपनी जिंदगी का अधिकांश भाग हवाई कल्पनाओं से संवारते हैं। मनुष्य की जिस प्रतिभा पर हमें इतना नाज है, वह झूठ का ही दूसरा नाम है। आप से अधिक कौन जानता है कि पशु-जगत का असत्य तो सर्वथा नैसर्गिक है—वहुत-कुछ अनिश्चित और अस्पष्ट— वलिदान के समय उसकी सहज-क्रिया का उद्रेक मात्र। नीत्शे की असामान्य दृष्टि में स्वतंत्रता या आजादी का समूचा प्रभामंडल झूठ की चकाचौंध है ! भाषा का खिलवाड़ है।'

अपने ही कानों अपनी वाणी का धारा-प्रवाह निनाद सुन कर सचमुच मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। आज यह अनहोनी क्योंकर घटित हुई ? कहीं विश्वमानव की जिह्वा से उसकी अदला-बदली तो नहीं हो गयी ? कहीं उनकी उपस्थिति का ही तो यह चमत्कार नहीं है ? बहुत संभव है मेरे अवचेतन में दबी भावना आज उन्हें परास्त करने के लिए व्यग्र हो उठी हो। कितने वर्षों से उनके दंश की जहरीली पीड़ा बिना किसी प्रतिवाद के चुपचाप सहता रहा हूं। जबान की पांखें पुन: उड़ने के लिए फड़फड़ा उठीं, 'क्या आप विश्वास करना चाहेंगे कि मनुष्य का आदिम सहयोगी सत्य नहीं झूठ था, जिससे आपको इतनी नफरत है। आप क्यों इस बात से इनकार करना चाहते हैं कि भाषा की मूल प्रवृत्ति सत्य को छिपाने की है, चोरी करने की है। माफ करियेगा, विवेकी वाबू—आपके पूर्वज नीत्शे का ही यह दावा था कि मनुष्य के लिए मात्र एक ही दुनिया है जो नितांत क्रूर, बेहूदी, अंतर्विरोधी, गुमराह करने वाली और मायावी है। मानवीय दुनिया की इस वास्तविकता को ध्वस्त करने के लिए हमें केवल झूठ का ही एकमात्र आसरा है। खुश-हाली से जीने के लिए हमें झूठ की इसी सच्चाई का भरोसा है।'

इतनी देर वाद उन्होंने मुस्करा कर विषैली चुटकी ली, 'सुना था कि अपने बिल में चूहा भी शेर होता है...!'

'और आज आपको उसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया ? क्यूं ? जव संयोग से आप उसके विल पर हाजिर हो ही गये हैं तो थोड़ी और दहाड़ सुन लीजिये कि झूठ...केवल झूठ ही हमारे जीवन की बुनियादी शर्त है; हमारे अस्तित्व का एकमात्र अवलंबन है। हमारा समस्त ज्ञान, दर्शन, धर्म, तत्त्व-मीमांसा मनुष्य की कलात्मक अभिरुचि की अभिव्यंजना है— जो केवल झूठ से उद्‌घाटित होती है। भाषा की सृजनात्मक ऊर्जा की सर्वोच्च विशेषता यही है कि वह अर्ध-सत्य को, असत्य को व्यंजित करे। हमारे जीवन की सार्थकता किसी

आदर्श में नहीं, वल्कि जस-तस अपने अस्तित्व को वनाये रखने में निहित है। और यही मानवीय चेतना की, उसके विकास की उत्प्रेरक धुरी है। सच मानिये, झूठ वोलने की क्षमता—भाषा की विकृति नहीं, उसकी अदम्य शक्ति है, जिसके अभाव में आप जैसी वैयक्तिक हस्तियां और समूचा मानव समाज कव का नष्ट हो गया होता।'

'शावाश, शावाश ! तुम्हें तो लेखक वनने की वजाय नेता होना चाहिए था। जवरदस्त कामयावी मिलती !' इससे आगे उन से धीरज रखा नहीं गया। वे फिर उस पोथी के पन्ने टटोलने लगे। उनके घोर संशयी मन को अव भी विश्वास नहीं हुआ कि इस ग्रन्थ को वांचने लायक क्षमता मुझ में है और मैंने अभी-अभी इसी के कुछ प्रसंग उन्हें सुनाये हैं। सहसा एक पृष्ठ पर उनकी दृष्टि अटक गयी। कुछ समय तक वे रेखांकित पंक्तियां पढ़ते रहे। उनका चेहरा क्रमशः गंभीर होता गया। वे मन-ही-मन जरूर दहाड़ रहे होंगे, पर मुझे वाहर कुछ भी सुनाई नहीं पड़ा।

'चाहूं तो ऐसी पुस्तक चार-पांच महीने में लिख सकता हूं, मगर तुम विश्वास नहीं करोगे।'

'भला मैं विश्वास क्यों नहीं करूंगा ? आप चाहें तो उत्तर के हिमालय को हटा कर राजस्थान के टीवों पर खड़ा कर सकते हैं। लेकिन आप तहेदिल से चाहें तव न ? आपकी प्रतिभा का चहेता मुरीद मेरे अलावा कोई दूसरा नहीं है।'

शायद मेरी यह अपूर्व स्तुति उनके कानों तक नहीं पहुंची। धीरे से फुसफुसाये, 'ये निशान किसने लगाये हैं ?'

'माफ कीजिये, यह गुस्ताखी मैंने ही की है !'

'नहीं-नहीं, यह गुस्ताखी नहीं अध्ययन की निष्ठा है। देख कर वाकई मुझे काफी खुशी हुई। अच्छा, एक वात पूछूं, सही जवाव दोगे ? मेरी पुस्तक पढ़ कर भी क्या ऐसी ही गुस्ताखी करोगे ?'

मुझे स्वयं नहीं मालूम कि मैं इतना निर्मम कैसे हो गया ? छिपकली की तल्लीनता का जायजा लेते हुए वोला, 'आपकी तरह मैं ऐसी भविष्यवाणी तो नहीं करता। मगर यह तो अमावस के अंधियारे की तरह अभेद्य है कि आपकी प्रतिभा अभिव्यक्ति की रंचमात्र भी मुहताज नहीं है। उसके आनंद की चरम व्यंजना तो उसकी अव्यक्ति में ही है। विना लिपिवद्ध हुए ही मैं उसके नीचे रंग-विरंगी लकीरें खींच सकता हूं।'

केवल आंखों व होंठों पर ही नहीं उनके रोम-रोम में प्रतिरोध की हिंस्र-भावना दहक उठी। एक दीर्घ निश्वास के वाद उनकी जासूसी नजर पोस्तीन पर चटक पड़ी। वोले, 'आखिर तुम्हारे लम्वे हाथों ने नेहरू विश्वविद्यालय की पुस्तक भी टांच ली। खूव !'

इस वार झूठ की वजाय मेरे मुंह से अजाने ही सच्ची वात निकल गयी। इस सही जानकारी से उन्हें अधिक सदमा लगेगा, शायद इसलिए। 'आप पत्र लिख कर शौक से पता लगा लें कि नामवरसिंहजी ने अपने खाते में...।'

'किसने ? डॉक्टर नामवरसिंह ने ?'

'हां, एक नहीं, अनुवाद पर तीन पुस्तकें। चाहता तो और भी ला सकता था। यहां जोधपुर विश्वविद्यालय में थे, तव भी उन्होंने मुझे पुस्तकें दिलवाने में कभी आनाकानी

नहीं की।'

'मगर मुझे तो साफ मना कर दिया कि...।'

'अपनी-अपनी प्रतिष्ठा है ! विश्वास न हो तो वताऊं—यहीं सामने रखी हैं।'

'जाने दो। मुझे तो नकल करके निबंध लिखने नहीं हैं।'

'आप जैसी अक्ल न हो तो और क्या करें विवेकी वावू ! कुछ रास्ता सुझाइये न !'

'चींटी भी अपना रास्ता खोज लेती है, फिर तुम तो राजस्थानी के जाने-माने लेखक हो।'

'आपकी मेहरवानी है...!'

'इसीलिए तो अपना कर्त्तव्य समझ कर आया हूं। राजस्थानी के मसले पर जम कर तुम्हारा एक साक्षात्कार लेना है।'

'माफ करिये विवेकी वावू, मुझे तो साक्षात्कार के नाम से ही जूड़ी चढ़ती है और कैमरे का तोप से भी ज्यादा डर लगता है।'

'पर अभी तो धड़ल्ले से भाषण झाड़ रहे थे। झूठ पर विना पूछे तुमने इतनी बातें वता दीं, तो राजस्थानी पर दस-बीस प्रश्नों का जवाव नहीं दे सकोगे? जिसके लिए तुमने अपनी सारी उम्र गंवा दी, अपने पिछड़े हुए प्रान्त को और भी पीछे धकेल दिया ! राजस्थानी की धमाल पर मेरे मन में कई ज्वलंत शंकाएं हैं। भला तुम से उपयुक्त पात्र और कहां तलाश करने जाऊं? तुम्हारा अध्ययन भी काफी है।'

सहसा उनकी आंखों पर मेरी नजर अटक गयी। दोनों पुतलियों में पूर्ण रूप से वघेरे की वर्बरता समाहित हो गयी थी। वैसी ही वाणी के स्वर में कहने लगे, 'हमेशा ही कोई न कोई नयी पुस्तक हाथ में लिये घूमते हो। वरसों तक टरकाते रहे, आज छुटकारा नहीं मिलेगा। वस, कल तक का वक्त मेरे हवाले कर दो। 'प्रज्ञा' का पूरा विशेषांक तुम्हारे साक्षात्कार का होगा; इस से अधिक और क्या सहयोग चाहिए...!'

'सहयोग या वलि ?'

'तुम वलि समझो तो तुम्हारी मर्जी, पर मैं तो साक्षात्कार के लिए खुला संवाद करने आया हूं। प्रांत के कल्याण को ध्यान में रखते हुए, अव मैं ज्यादा सब्र नहीं रख सकता।'

'तो न रखिये। किसी का भी आग्रह न मानिये और न मनवाइये। खुले संवाद के नाम पर आप मेरी परीक्षा लेने आये हैं, पर मुझे तो परीक्षा के नाम से ही चिढ़ है...।'

पूरी वात सुनने के लिए वाकई उन्हें सब्र नहीं था। वीच ही में वोल पड़े, 'ना-ना, इस तरह मैदान छोड़ कर भागने से काम नहीं चलेगा। सामंती मान्यता के अनुसार युद्धस्थल से पीठ दिखाना तो कायरता की निशानी है। कहीं एक जगह तो विचारों की ईमानदारी वरतो ! खरगोश यदि नासमझी से आंखें वंद भी कर ले तो सामने खड़े शिकारी के निशाने से वच नहीं सकता।'

वात से ही वात उत्पन्न होती है। अपनी चेतना के अनजाने ही मैं उस वहाव में वह गया। उनके लतीफे को उसी रूप में मंजूर करते हुए उन्हें फुसलाने के आशय से कहा, 'वेचारा खरगोश आंखें खुली भी रखे तो शिकारी का सामना करने लायक उस में वह हौसला ही कहां है? दुवक कर छिपने या कुशलतापूर्वक दौड़ कर वचने के अलावा कोई

दूसरा चारा...।'

मैं वात सम्पूर्ण करूं उसके पहले ही उनके मुंह से शब्द फूट पड़े, 'पर आज किसी भी वहाने खरगोश का वचना कठिन है। या तो वह शिकारी का सामना करे या अपनी मौत कवूल करे।'

वात ही वात के चक्कर में उन्होंने शिकारी का पद ग्रहण कर लिया और मैंने खरगोश का। तनिक गहराई से देखने पर मुझे साफ मालूम पड़ गया कि उनकी आंखों में शिकारी वाला दंभ और वैसी ही हिंस्र भावना झिलमिला रही है। कहीं हमेशा के लिए अपने-आपको शिकारी और मुझे खरगोश ही न समझ वैठें। मामूली दांव पलटने की जरूरत है। अव तक के वार्त्तालाप से एक वात तो समझ में आ गयी कि माननीय विश्वमानव की वातों को गंभीरता से लेना सरासर नादानी है। इनके साथ तो मुक्त होकर झुनझुने की तरह खेलना चाहिए। साक्षात्कार का मसला जितनी देर लटका रहे उतना ही ठीक है। चाहूं तो पूरे पखवाड़े तक इन्हें भरमाये रखूं और भनक तक नहीं पड़ने दूं। उनके अध्ययन का मुझे काफी भ्रम था। उनका भ्रम वे जानें। किन्तु शिक्षा, विद्या, अध्ययन के ऐसे घातक दुरुपयोग का नमूना शायद ही कहीं अन्यत्र खोजने पर मिले! मगर मन नहीं मानता। वुद्धि के इस निर्णय का प्रतिवाद करता हुआ मेरा मन फुसफुसाता है कि मिलेंगे, ऐसे नमूने हर शहर, प्रांत व राष्ट्र में मिलेंगे। जरूर मिलेंगे। विधाता के पास ऐसे अनेक सांचे हैं। देश-देश में इस कैंडे के विश्वमानवों की भरमार है। इनके असाधारण व्यक्तित्व का उपयोग लाजिमी है। न मालूम क्या समझ कर इन्हें कलमवन्द करने से मैं कतराता रहा। मुझे तो ऐसे पात्रों की अभ्यर्थना में पलक-पांवड़े विछा देने चाहिएं। इनका भ्रम है कि ये पहाड़ की तरह अडिग हैं, पर इन्हें तो कठपुतली की तरह नचाया जा सकता है। शब्दों को झीनी मुस्कान से छानते हुए पूछा; 'आपने पंचतंत्र तो कई वार पढ़ा होगा?'

'धत्!' उन्होंने मुंह मस्कोरते हुए कहा, 'यह भी कोई पढ़ने की चीज है। निहायत वचकानी, तुम्हारी 'फुलवाड़ी' के माजने की।'

इसे अपनी भर्त्सना मानूं या प्रशंसा, एक ही वात है। न इनकी प्रशंसा का कोई अर्थ है और न भर्त्सना का। विश्व की महानतम कृति पंचतंत्र भी इनकी विवेकशील दृष्टि में जव कोई महत्त्व नहीं रखती तव 'फुलवाड़ी' की तो विसात ही क्या? अपनी-अपनी पसंद में क्या इतना वड़ा भेद होता है? आखिर मर्मज्ञता के इस अछोर वैषम्य का औचित्य क्या है? मैं वाकई उस समय उनकी उपस्थिति से वेखवर हो गया, किन्तु वे तनिक भी वेखवर नहीं हुए। पहले की अपेक्षा कुछ जोर से वोले, 'समझ नहीं पड़ा कि खरगोश और शिकारी की चर्चा के वीच छिपकली की तरह यह पंचतंत्र कैसे टपक पड़ा?' और उन्होंने मंद-मंद मुस्कराते हुए काच पर वैठी छिपकली की ओर हाथ का इशारा किया।

अव मुस्कराने की मेरी वारी थी। छिपकली की तरफ देखते हुए वोला, 'उस वचकाने तंत्र में आपके मतलव का एक वहुत ही उम्दा किस्सा है कि एक निरीह खरगोश ने किस तरह जंगल के राजा शेर को फुसला कर कुएं में पटक दिया।'

'और तुम उस किस्से से अपना मन वहलाना चाहो तो शौक से वहलाओ, मुझे कोई

एतराज नहीं । अरे...हां...कुछ समय पहले तुम्हें 'प्रज्ञा' के राजस्थानी विशेषांक की रजिस्ट्री तो मिली होगी ? पहली बार तुम्हारी रचनाओं का उचित मूल्यांकन हुआ है । शायद कई रातों की नींद उचट गयी होगी । पर मुझ में एक बहुत बड़ा ऐब है कि समीक्षा करते समय किसी का लिहाज नहीं रहता ।'

'आपकी तरह मुझ में भी एक छोटा-सा ऐब है कि लिहाज में आकर किसी की कोई रचना नहीं पढ़ता । वो रहा आपका विशेषांक, वैसा ही 'शीलबंद' और सुरक्षित ।'

मैंने उठ कर तत्क्षण उनके सामने 'प्रज्ञा' का लिफाफा प्रस्तुत किया तो अदेर उनका तेवर बदल गया । अपने हाथ से अपने मुंह पर इस तरह तमाचा लगेगा, उन्हें स्वप्न में भी ऐसी दुराशा नहीं थी । टूटते स्वर में बोले, 'इतना डर गये कि लिफाफा खोलने तक की हिम्मत नहीं हुई...क्यों ?'

'जिस मुगालते से आपका मन बहले, वही समझ लीजिये । आखिर आप वही समझेंगे जो समझना चाहते हैं । या आपको जो अच्छा लगेगा, आप उसे ही समझने के लिए मजबूर होंगे । कुछ सामान्य किस्म के लेखक होते हैं जो पढ़ने पर भी आसानी से समझ में नहीं आते, मगर कुछ लेखक आपकी तरह असाधारण प्रतिभा के धनी होते हैं, जिन्हें समझने के लिए पढ़ना कतई जरूरी नहीं होता । जरा सोचिये तो आपकी इस खूबी से मेरा कितना वक्त बच गया । वरेण्य है आपकी प्रतिभा और आपका चिंतन । मगर माफ करियेगा विवेकी बाबू, आप जैसे विश्वमानवों की जड़ें कहीं नहीं होतीं, न अपने देश की धरती में और न विदेश की धरती में ।'

मुझे पूरमपूर विश्वास था कि अब तो विवेकी बाबू जरूर बौखलायेंगे । लेकिन उन्होंने कोई खास प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की । वे कभी-कभार विकट प्रतिरोध का सामना चुप रह कर करते थे । कई मर्त्तबा मौन की मार अधिक पीड़ा देती है, इस गुर के माहात्म्य को वे बखूबी समझते थे । जान कर ही खामोश रहे । मैं भीतर-ही-भीतर तिलमिला उठा । एकाध बार बिना कुछ बोले ही उनके होंठों पर व्यंग्यात्मक मुस्कान कौंध उठी । मैंने उत्सुक दृष्टि से उनकी ओर देखा—वे उसी तरह तटस्थ भाव से बैठे रहे, मानो कमरे में अकेले ही हों । मेरी बेचैनी देखकर वे तीसरी बार और मुस्कराये । फिर काफी धीमे स्वर में बोले, 'और भी कुछ कहना हो तो एक साथ ही कह डालो, काफी मोटी चमड़ी है मेरी । खटमल और मच्छर तो पास तक नहीं फटकते । तुम्हारी स्वीकृति हो तो अब कुछ कहूं ।'

यह कृत्रिम विनम्रता उनके काइयांपन का अचूक नुस्खा है । जानते हुए भी मैं क्योंकर बिसर गया । तुरंत भूल को सुधारते हुए सहज भाव से बोला, 'हां, स्वीकृति है ।'

सीधे मेरी आंखों में ताकते हुए कहने लगे, 'आजकल जिस-किसी सेमिनार में जाता हूं, जड़ों का ही बोलबाला सुनाई पड़ता है । जड़ें, जड़ें और जड़ें । सर्वत्र जड़ों की दुहाई और जड़ों का ही रोना । मैं तो सुन-सुन कर तंग आ गया । इन गंवारों को कौन समझाये कि जड़ें तो केवल वनस्पति का ही अवलंबन है, पर अमरबेल की तो जड़ भी नहीं होती । बेर, खेजड़ी और बबूल की जड़ें धरती में खूब गहरी होती हैं, इस से क्या उनका महत्त्व बढ़ जाता है । इसके विपरीत सूरज, चांद और बादलों की तो ज़मीन में जड़ें नहीं होतीं, इस से

क्या सूरज की अहमियत घट जायेगी ? जड़ के अभाव में क्या हम चांद को कोसने लगेंगे ? बादलों को खरी-खोटी सुनायेंगे ? खैर, छोड़ो, अब बिना सोचे समझे किसी के सामने जड़ की बात मत करना। पर तुम लोगों का मानस तो ऐसी ही नारे-बाजी से बहलता है ! जड़ की बात छोड़ दोगे तो पूंछ की बात करने लगोगे, पांखों की बात करने लगोगे। मगर पूंछ व पांखों की जरूरत उनसे संबंधित प्राणियों तक ही सीमित रहने दो। जड़ और पूंछ आदमी के लिए शोभा की बात नहीं है, जरा समझने की कोशिश करो।'

यह आखिरी वाक्य समाप्त करते-करते वे अदृष्ट रूप से गुब्बारे ही नाईं फूल उठे। बौद्धिक विजय का गुमान भी साम्राज्य जीतने की तुलना में कुछ कम नहीं होता। पर मुझे हठात् जोर की हंसी आ गयी। हंसते-हंसते ही कहने लगा, 'आपकी इस अमूल्य सीख के लिए आजन्म आभारी रहूंगा। यथा नाम तथा गुण। आपके विवेक की भी दाद देनी होगी। सूरज और चांद की मिसाल दे कर आप जड़ के महत्त्व को नकारना चाहते हैं ? भगवान न करे, जिस दिन आपके दांतों की जड़ें उखड़ जायेंगी, उस दिन पता चलेगा कि जड़ का माहात्म्य क्या है ? फिर भी मुझे आपके द्वारा यह समझने की जरूरत नहीं कि लेखक या बुद्धिजीवी के संदर्भ में जड़ का वह मायना नहीं है जो पेड़ों व दांतों की जड़ों का है। भाषा की इस अक्षमता व मजबूरी को समझने की कोशिश करिये।' प्रतिक्रिया जानने के लिए उनकी सूरत पर नजर दौड़ायी तो वह सुघड़ कठपुतली की तरह नितांत निर्द्वन्द्व लगी। फिर भी मन में घुमड़ती बात को सम्पूर्ण करने का लोभ संवरण नहीं कर सका। आगे कहना जारी रखा, 'हर किसी बात पर असहमति का दंभ न उचित है और न संगत ही। जब मैं सूरज के आलोक की दाद दूंगा तो आप कोयले की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए सर खपायेंगे। जब मैं चांदनी का बखान करूंगा तो आप धुएं की विशेषता बताने लगेंगे कि उससे मच्छरों व घातक कीटाणुओं का सफाया होता है और इसके विपरीत चांदनी की ठण्डक मच्छर पैदा करने में सहायक होती है। हर किसी का खंडन, हर किसी पर छींटाकशी और हर किसी की निंदा—क्या यही है आपकी प्रज्ञा का परिचय, यही है आपके विवेक की बानगी ? बाल सफेद नहीं हुए तो क्या आपकी उम्र तो काफी हो चुकी है, अब तो अपने से संवाद करना सीखिये, अपनी आलोचना करनी सीखिये अपने से साक्षात्कार करना सीखिये।'

'पहले तुम से साक्षात्कार कर लूं उस के बाद।' फिर दांभिक चुनौती के स्वर में कहने लगे, 'आखिर यह हीन भावना किसलिए ? यह पलायन किसलिए ? आखिर कब तक राजस्थानी के फुफकारते प्रश्नों से कतराते रहोगे ? पिछले तीन-चार सालों से मैं 'प्रज्ञा' के अलावा अन्य पत्र-पत्रिकाओं में जम कर राजस्थानी का विरोध कर रहा हूं, मगर राजस्थानी के धुरंधर विद्वानों ने मेरे एक भी लेख का जवाब नहीं दिया—तो यह समझने के लिए मेरे पास पर्याप्त आधार नहीं है कि राजस्थानी के हिमायती मेरी अकाट्य धारणाओं का उत्तर देने में पूर्णतया असमर्थ हैं।'

लगता है ये महानुभाव आसानी से पिंड छोड़ने वाले नहीं, इनकी कांव-कांव का ठीक ऐसा ही जवाब देना पड़ेगा। 'माफ कीजियेगा विवेकी बाबू, आपके विरोध का जवाब न जर्मनी से, न जापान से, न फ्रांस, न इंगलैंड और न अमरीका से—मतलब कि दुनिया के

किसी कोने से नहीं मिला, तो क्या संसार के सभी विद्वान आपके खयाल से असमर्थ हैं ? थोड़ा सोचने का कष्ट करियेगा, इस की तो और भी कुछ स्थितियां हो सकती हैं—जैसे किसी को आपके विरोध की कतई जानकारी ही न हो या जानकारी के बाद किसी ने उसका जवाब देना ही उचित नहीं समझा हो या चाहने पर भी किसी को जवाब देने का वक्त ही न मिला हो।'

विवेकचन्द्र विश्वमानव की श्रवण-शक्ति पूरी तेज थी, पर सुनी हुई केवल वही बात उन्हें प्रभावित करती है, जिस से वे स्वयं प्रभावित होना चाहते हों। सुनने वाला कोई व्यक्ति इस सीमा तक अछूता रह सकता है, इस तथ्य की ऐसी तीव्र अनुभूति मुझे पहले कभी नहीं हुई। वे इस सीमा तक ढीठ होंगे, यह मेरी कल्पना के बाहर की बात थी। मेरा दांव कुछ भारी लगा तो उन्होंने जमीन ही बदल दी। वे तो केवल घाव पर ही टोंच मारना चाहते थे। पीछे मुड़ कर बोले, 'तुम्हारे पुस्तकालय का बड़ा शोर सुना था, बस, इतनी ही किताबें हैं ?'

तात्कालिक उपयोग के लिए 'रूंख' की खातिर तीन रेक्स में पुस्तकें जमी हुई थीं। क्या बात सुन कर उन्हें कष्ट होगा, इस का सही कूता करके मैंने सच्ची बात ही बतायी, 'पोथीखाना तो दूसरे कमरे में है। ये कुछ चुनिंदा पोथियां खास मतलब से रख छोड़ी हैं।'

'कोई आकर देखे तो उस पर रोब गालिब हो जाय, क्यों ?'

'यही समझ लीजिये। जाकी रही भावना जैसी...।'

'प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।' उक्ति का अगला पद मेरे मुंह से छीन कर उन्होंने पूरा कर दिया। आत्म-विस्मृत होकर आगे बहक पड़े, 'जिस रट्टूपीर को अपनी समझ पर भरोसा नहीं होता, केवल वही महामूर्ख जब-तब दूसरों की उक्तियां उगलता रहता है।'

'सिवाय आपके! क्योंकि आपने भी अभी-अभी उक्ति के अगले पद की फर्राट पूर्ति की है, मगर मैं आपको न रट्टूपीर कहूंगा और न महामूर्ख ही। मेरी हार्दिक मान्यता है कि जब भी मौका मिले अपनी सांस्कृतिक विरासत का खुल कर प्रयोग करना चाहिए, पर आप जैसे विश्वमानवों की तो बुद्धि ही निराली है।'

सहसा मेरे कंधे पर हाथ धर कर वे चिंगारियों की तरह मुस्कराते हुए बोले, 'सच्ची बात सुन कर तुम्हें इतनी झुंझलाहट क्यों होती है ? थोड़ा माद्दा बढ़ाओ।'

'कृपया अपनी मोटी चमड़ी थोड़ी उधार दे दें तो अपने-आप माद्दा बढ़ जायेगा!'

मुस्कराहट की चिंगारियां काफी बड़ी होकर फैल गयीं। बोले, 'रुपये भी उधार, पुस्तकें भी उधार, चमड़ी भी उधार! उधार-उधार में ही सारी जिंदगी गुजार दोगे ?'

बड़ी दुखती रग पर वार किया था। फिर भी मैं छटपटा कर चुप रह गया। पर वे ऐसा बढ़िया मौका हाथ से गंवाना नहीं चाहते थे। तकाजा करते हुए बोले, 'चुप क्यों रह गये, कुछ तो जवाब दो।'

'मेरा भ्रम था कि आप मौन की भाषा खूब समझते हैं।' खिसियाते लहजे में मुझे बोलने को बाध्य होना पड़ा, 'फिर हर बात का जवाब देना भी जरूरी नहीं है।'

'खैर, जाने दो।' वे जौहरी की तरह किताबें टोहने लगे, 'लैंग्वेज इन कल्चर एण्ड सोसायटी, द ओरिजिन्स ऑफ प्री-हिस्ट्री ऑफ लैंग्वेज—भाषा पर तो काफी पुस्तकें हैं।'

'पोथीखाने में और भी हैं।'

'लाइब्रेरी को पुस्तकालय भी न कह कर पोथीखाना कहते हो ! इस से क्या पुस्तकों का महत्त्व घटता नहीं?'

'जब तक आप जैसे पाठक दुनिया में रहेंगे तो जरूर महत्त्व घटेगा।'

'ओह ! अवर ओरियंटल हेरिटेज—विल ड्यूरां। पूरा सेट है?'

'हां है, मगर मरुधर का।'

'अच्छा ! उसके पास भी कुछ उम्दा पोथियां हैं।' पोथी का उच्चारण करते समय उनके होंठों पर व्यंग्य की लौ चमक उठी, 'मगर उसे पढ़ने का वक्त नहीं मिलता, बहुधंधी है न ! फिर भी मकान की सजावट के लिए कुछ खास लेखकों के नाम जरूरी हैं। लोग-बाग कुछ भी कहें, मिलनसार व्यक्ति है, मीठी जबान है।'

उनके व्यक्तित्व की एक खास विशेषता कि बिल्ली की तरह सामने वाले शिकार पर ही कस कर टूटते हैं, बिलों में दुबके चूहों की ज्यादा परवाह नहीं करते। उनकी गैर-मौजूदगी में छींटाकशी के साथ हलकी-फुलकी तारीफ भी कर देते हैं, ताकि सामने वाला व्यक्ति अलगाव-सनी आकण्ठ हताशा में पूर्ण असहाय होकर घुटता रहे।

'द थर्ड वेव—एलविन टॉफ्लर। इसका मतलब कि फ्यूचर शॉक पढ़ चुके हो। मुझ तो दोनों ही पुस्तकें बेकार लगीं, पर तुम्हें तो खूब पसंद आयी होंगी?'

'बड़ा अजीब चक्कर है, मेरी बात आप मुझ से ज्यादा जानते हैं, क्यूं?'

'द ताओ ऑफ फिजिक्स—फ्रिट्जॉफ केप्रा, टर्निंग प्वॉइण्ट—फ्रिट्जॉफ केप्रा। अच्छी किताबें खरीदने की सनक भी बुरी नहीं है। आनंद कुमार स्वामी की इतनी पुस्तकें...!'

'कुछ निजाम की हैं।'

'कौन, शीन.काफ. निजाम?'

'हां।'

'उसके पास भी अच्छा सेलेक्शन है। पढ़ता भी है। लेकिन है जबरदस्त हठयोगी। यह हठ उसे ले डूबेगा। पूर्वाग्रह और कट्टर-मान्यताएं भी कम नहीं हैं ! पर सब मिला कर आदमी चतुर है...इवोलुशन आफ्टर डार्विन, तीन वोल्यूम...इतने बड़े-बड़े ! किसी लाइब्रेरी की लगती हैं। कहां से कबाड़ीं?'

'एरिड जोन लाइब्रेरी से...।'

'लाइब्रेरी नहीं पोथीखाना। यों भूल करोगे तो राजस्थानी की दुकान कैसे चलेगी? आठों पहर सावधान रहने की जरूरत है। समझे?'

'आप समझाएं और कोई न समझे, यह कैसे संभव है?'

'मक्खन खाने की बजाय लगाने में ज्यादा फायदा है? पर मैं कोई मंत्री नहीं हूं, इस बात को भी अच्छी तरह समझ लो, खामखा ठोकर खाओगे। द सेक्स लाइफ ऑफ प्लांट्स...यह चस्का भी है?'

'जबरदस्त !' जब उन्होंने तबीयत से सवाल किया तो मैंने भी तबीयत से जवाब दिया, 'इस विषय पर तो ढेर सारी पुस्तकें हैं।'

'जरूर होंगी।' फिर थोड़ा रुक कर बोले, 'लड़कियों पर जाल फेंकने के लिए

अनिवार्य है।'

'आपने यह गुर आजमा कर देख लिया?'

वे तुरंत पासा पलट कर बोले, 'अरे...इतनी भारी-भरकम बंगला पुस्तकें—रवीन्द्र रचनावली। पूरा सेट! बंगला पढ़ लेते हो?'

'थोड़ी-बहुत, काम-चलाऊ।'

'बड़े भक्ति-भाव से शानदार जिल्द चढ़वायी है। पर कागज तो बहुत पुराना है।'

'पूरा सेट मुकुन्द लाठ से मांग कर लिया है।'

'तब तो कोई हर्ज नहीं। वही मुकुन्द लाठ, जो राजस्थान विश्वविद्यालय में हिस्ट्री का प्राध्यापक है?'

'हां, वही।'

'काफी मेहनती और निष्ठावान है, पर बड़ा अंतर्मुखी, अपने ही अंतस में तैरता रहता है।'

'टैगोर—ए बॉयोग्राफी, ओह...कृपलानी की!'

जल्दी से वह किताब खींच कर इस तरह टोहना शुरू किया, जैसे कोई उदार कसाई गाय को टोहता है। फिर शब्दों को धीरे-धीरे भीतर खींचते हुए कहने लगे, 'दो महीने से इसकी तलाश में हूं, पर कहीं हाथ नहीं लगी—न जोधपुर और न जयपुर। विश्वभारती वालों ने भी खेद के साथ मना कर दिया। क्या यह भी तुम्हारी नहीं? वर्षा ...यह वर्षा कौन है?'

'वर्षा दास।'

'काफी बड़ी तोप मालूम पड़ती है। स्वयं लेखक ने अपनी कृति भेंट की! मैंने तो नाम ही नहीं सुना, कौन है?'

'गुजराती की लेखिका है। बड़ी शालीन और प्रबुद्ध महिला है।'

'महिला और प्रबुद्ध?' मुस्कान के साथ थोड़ी लार भी उनके मुंह से छिटक पड़ी। लार को पोंछते हुए बोले, 'क्या वाहियात बात करते हो! शायद अब भी तुम्हारी नजर में हर पंद्रह से पच्चीस बरस की सुन्दर महिला प्रबुद्ध ही नजर आती है! छूटी नहीं वह पुरानी आदत? क्या उम्र है?'

'विवेकी बाबू, जरा अपनी चमड़ी के भीतर रहिये। सहन करने की भी सीमा होती है। बरसों से तुम्हारा लिहाज रख रहा हूं...।'

'बस, इतनी बात से ही उखड़ गये! वे दिन याद करो, जब कॉलेज में लड़कियों को छेड़ा करते थे और मैं तुम्हें कितना मना करता था; कितना समझाता था। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके भी देख लिया, पर चिकने घड़े पर क्या छांट लगती? और अब उम्र की ढलान पर महिलाओं के प्रति इतनी श्रद्धा कहां से उमड़ पड़ी? क्या यह भी कोई नया पेच है? फिर भी इतने बरसों में काफी प्रगति की है तुमने। वाकई प्रगतिशील लेखक संघ के प्रांतीय अध्यक्ष बनने के अधिकारी हो। ऐसे पिछड़े प्रांत में ही तुम्हारी तिकड़म चल सकती है। गजब! झूठी नामवरी की खातिर क्या-क्या चक्कर नहीं चलाया?'

'आपकी जानकारी के लिए मैं तो उस मीटिंग में ही मौजूद नहीं था, फिर भी उन्होंने

सर्व-सम्मति से...।'

'अरे...छोड़ो भी...तुम्हारे इस अदीठ सुदर्शन-चक्र को मेरे आलावा कोई नहीं समझ सकता।' फिर एक लम्वा निःश्वास खींच कर वोले,'क्या कुछ दिनों के लिए मुझे यह पोथी दे सकते हो?'

'क्षमा कीजिये, कल ही वर्माजी की चिट्ठी आयी। रजिस्ट्री से आज ही भिजवानी पड़ेगी। अचानक उन्हें ऐसी ही सख्त जरूरत पड़ गयी।''

'यह तो मैं पहले ही जानता था कि कोई-न-कोई वहाना जरूर वनाओगे!'

'वहाना? मैं आपकी तरह पाखण्डी नहीं हूं।'

'अभी-अभी तो मुझे चमड़ी के भीतर रहने की धमकी दे रहे थे और हजरत खुद...।'

'गलती हो गयी, माफ करें, इसकी मोनोपॉली तो आपने ले रखी है।'

' 'मोनोपॉली' के लिए राजस्थानी शब्द नहीं सूझा। मैं यही तो अक्सर कहा करता हूं कि हिन्दुस्तान में चार आंख वालों के लिए कोई लकड़ी का सहारा है तो अंग्रेजी। अपने देश में हवा और धूप के विना काम चल सकता है पर रिश्वत और अंग्रेजी के विना काम नहीं चल सकता। और तुम्हारे ये गुरुदेव भी अंग्रेजी की शरण नहीं जाते तो नोवल पुरस्कार कहां पड़ा था? छिः, अच्छे-खासे पुरस्कार का गुड़-गोवर कर दिया। मेरे खयाल से तो इस अकेले गुरु-घंटाल ने न केवल अपने सुनहरे वंगाल या भारतवर्ष वल्कि सारे संसार की इतनी बड़ी क्षति की है, जिसका घाटा सदियों में भी पूरा नहीं हो सकेगा।'

अव मेरे सहने का अंत आ गया था। चमड़े की वजाय इस्पात की खाल भी होती तो मैं तुरंत उसके वाहर फट पड़ता। गधे का गोश्त विना मैला डाले कहीं सीझता है भला? खौलते शब्दों में वोला, 'खैरियत मनाओ कि रवि-वावू और शरत्-वावू जैसे गुरुओं के नाम पर वट्टा नहीं लगाना चाहता, अन्यथा तुम्हारा यहीं गला घोंट देता...।'

'बस, तुम्हारे मुंह से यही वात सुनने का वरसों से मुहताज था। आज मेरा दांव सफल हुआ। अव पूरे निश्चिंत रहो, तुम्हें कभी कुछ नहीं कहूंगा। अपने असली रूप को छिपाने के लिए न जाने कितने जतन किये, आखिर वह फुदक कर वाहर टपक ही पड़ा।'

'और आप अपने असली रूप को साथ लेकर ही जल मरेंगे? मगर एक वात वताइये विवेकी वावू, कि परम्पराओं को तोड़ने के झूठे गुमान में आदिम राह के वदले मुंह से शौच करना कहां की क्रांति है? कैसा इंकलाव है?'

'इसे समझना तुम्हारे वस की वात नहीं। जातिगत संस्कारों के लिए मैं तुम्हें दोष नहीं दूंगा। लेकिन एक वात हमेशा याद रखो कि शहर छोड़ कर गांव की गोद में दुवक जाने से हर कोई तोलस्तोय नहीं वन सकता।' फिर उन्होंने एकदम चुप्पी साध ली।

उड़ती नजर से तीनों रेक्स की अधिकांश पुस्तकें देख कर उनके मस्तिष्क में क्या हल-चल हुई सो वे ही जानें, पर सूरत इस तरह विगाड़ी जैसे मक्खी निगल गये हों। उनकी आशा के विपरीत विभिन्न विषयों पर पठनीय सामग्री देख कर उन्हें वाकई अच्छा नहीं लगा। अपनी इस प्रतिक्रिया को वे छिपा नहीं सके। उनके अलावा कोई दूसरा, प्रज्ञा और विवेक का अधिकारी वने, यह उन्हें गवारा नहीं था।

तत्पश्चात् पोथीखाने का लम्वा-चौड़ा कपाट खुलने पर तो एकवारगी उनकी आंखें

फटी की फटी रह गयीं। नहीं आते तो अच्छा था। भ्रम बना रहता। मगर नया भ्रम बनते क्या देर लगती है? उनकी पहली प्रतिक्रिया से ही वह बात स्पष्ट हो गयी। पोथियों की विभिन्न कतारों पर नजर दौड़ाते हुए बोले, 'भई वाह! क्या भरकम इमारत बनवायी जैसे कोई छोटा-मोटा गढ़-किला हो। कितनी जमीन हथिया ली है? राजस्थानी का ढोल बजाते-बजाते नये ठाकुर बन गये! जितना उस्ताद समझा था, उस से बढ़ कर निकले। तुम्हारा ठाट देख कर अब तो मैं भी राजस्थानी की दुन्दुभी बजाऊंगा।'

ईंट का जवाब पत्थर से देने वाला ही था कि अकस्मात् भीखाराम ने उपस्थित होकर बिना किसी लाग-लपेट के कह डाला, 'मांमीसा फरमायौ के अबार ई झोटी सारू कपासिया नै खळ अर गाय सारू गुळ-बाजरी लावणी है। रातै ई दूध कम व्हियौ।'

विवेकी बाबू ने शायद पूरी बात सुनी ही नहीं। चौंक कर बोले, 'दूध! दूध किसलिए? मैं तो चाय नहीं पीता।'

'नहीं, दूसरा मसला है। राजस्थानी भाषा पर मेरे साक्षात्कार से भी ज्यादा जरूरी। भैंस के लिए बिनौले व खली का इंतजाम करना है और गाय के लिए बाजरी व गुड़ का। बातचीत में कुछ खयाल नहीं रहा, न गाय-भैंस के बांटे का और न आपके नाश्ते का।' फिर यों ही परिहास के भाव से मैंने पूछा, 'सामंती परिवेश की गाय-भैंस का मक्खन और दही तो आप खा सकेंगे? जब राजस्थान के गरीब किसान की मेहनत से पैदा किया हुआ अन्न आपको आसानी से हजम हो जाता है, तब बेचारे की भाषा के प्रति आपकी यह अदम्य घृणा क्यों है? अन्न के साथ-साथ इसे भी पचाने की कुछ तो उदारता बरतिये?'

विवेकी बाबू के विद्रूप भरे अट्टहास से सारा पुस्तकालय गूंज उठा। निस्पृह, निर्विकार अट्टहास!

और मैं खोया-खोया व क्लांत भाव से उनकी तरफ देखता रहा। इस तरह जोर से ठहाका मार कर हंसने जैसी तो कोई बात नहीं थी। अपने स्वभाव के विरुद्ध उन्होंने उस अट्टहास को काफी लम्बा खींचने का निरर्थक प्रयास किया। क्योंकि अट्टहास के चुकते ही उनकी आंखें एकदम आर्द्र हो गयीं। लेकिन वह अतिरेक हंसी की नमी नहीं थी।

यह क्या...विवेकी बाबू की आंखों से तो सचमुच आंसू ढुलक रहे हैं। आंसुओं के दबाव से उनकी आंखें अधिक विस्फारित हो गयीं। पूर्ण हताशा और टूटन की निगाहों से मेरे पांवों की ओर देखते हुए बोले, 'सुनो, थोड़ा और नजदीक आओ। मैं जोर से बोल नहीं सकूंगा। इस अट्टहास के साथ मेरी सारी शक्ति क्षीण हो गयी है।'

लेकिन मैं उसी तरह मूर्तिवत् वहीं खड़ा रहा। तब वे पास आकर कहने लगे, 'आज दिन तक जो बात मैं अपने-आप से छिपाता रहा, तुम्हें पहली बार बता रहा हूं। तुम्हारे साथ-साथ मैं भी स्वयं को पहचान लूंगा। इतने बरस अपने-आप से ही दूर-दूर भागता रहा। खुद से सामना करने की अब तक हिम्मत ही नहीं हुई।'

उनका गला भर आया। आंसुओं का नीरव वेग और अधिक उमड़ पड़ा, जिसकी उन्हें पूरी चेतना नहीं थी। धुंधलायी आंखों से पुस्तकों की कतारों को घूरते रहे, जैसे किसी अप्रत्याशित भय से सहम गये हों। भीगे शब्दों में थोड़ा हकलाते हुए फुसफुसाये, 'यह ढेर

सारा कूड़ा क्यों इकट्ठा कर रखा है ? कुछ काम नहीं आयेगा—सिवाय इसके कि ज्ञान के मुगालते में इसे अपने माथे में भर लो। मैंने क्या कम पढ़ा है ? पढ़ते-पढ़ते ही पूरा खोखला हो गया हूं, नहीं नहीं, कचरे से भर गया हूं।'

विवेकचंद्र विश्वमानव की दुर्दान्त हताशा का वेसुरा प्रलाप सुन कर मुझे कुछ ऐसा विभ्रम हुआ जैसे मैं नींद से चौंक कर आधा जाग पड़ा हूं। मैंने अकचका कर इधर-उधर देखा। फिर उनके हुलिये को इस संशय से देखता रहा जैसे वह मेरा ही प्रतिरूप हो। अभी-अभी उनके गले से कहीं मेरी प्रतिध्वनि ही तो नहीं फूट पड़ी ! कुछ क्षण चुप रहने के वाद वे कहने लगे, 'यूं मुंह वाये अविश्वास की नजर से मुझे क्यों घूर रहे हो ? मेरी लाख चेष्टा के वावजूद भी आज घूरे के नीचे दवी सच्चाई मेरी आंखों से, मेरे मुंह से वरवस उवक पड़ी है। मैंने अपने क्षुद्र अहंकार को वहलाने की खातिर रवि-वावू पर कीचड़ उछाला। विवेकानंद, गांधी, नेहरू व मार्क्स तक को नहीं छोड़ा। वड़ी-वड़ी हस्तियों पर कीचड़ उछालते-उछालते आखिर मैं ही उस वदवूदार गंदगी से लिथड़ गया हूं। नामवरी के हिंसक लोभ में जिंदगी भर अपने को छलता रहा। और ये वेहया परिचित लोग मेरी मौत के पहले ही मुझे नाली के कीड़े की तरह विसर जायेंगे। यह मैं हरगिज वरदाश्त नहीं कर सकता। काश ! मेरी पीड़ा का हजारवां अंश भी तुम महसूस कर पाते ! और मेरी जिंदगी की इस से वड़ी क्या शिकस्त हो सकती है कि अव तुम्हारे सिवाय मेरा कहीं कोई निस्तार नहीं !'

थूक निगल कर सहसा उन्हें वीच ही में चुप रह जाना पड़ा, जैसे वे शब्द उनके मुंह से वाहर निकलने की वजाय गले में गुंफित होकर फंस गये हों। थोड़ा खांसने के वाद वे आगे कहने लगे, 'सुनो, अव मैं पूरी तरह से तैयार हूं। चाहो तो अपनी कलम की तीखी नोक से मुझे गोद-गोद कर मार डालो, पर मुझे अमर कर दो। सर्वन्तीज के डॉन क्विग्जोट की तरह, मृत-आत्मा के छिछिकोव की तरह, न हो तो शेक्सपियर के शाइलॉक की तरह ही—वस, कुछ इसी तरह मेरा नाम उजागर कर दो कि अपनी मौत के वाद भी मैं मरूं नहीं। विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी मेरे नाम को हरदम घोंटते रहें, रटते रहें। मेरे चरित्र को वखूवी याद किये विना कोई परीक्षा में पास न हो। सुन रहे हो न ? थोड़ा और करीव आओ। मेरी समूची ताकत आज जवाव दे रही है। मोम का सिंह आखिर कव तक दहाड़ता ? आखिरी नाखून तक पिघल गया है। तुम्हारे पांव पड़ता हूं, वोलो, वादा करो।'

और उन शब्दों की फुसफुसाहट विलीन होते ही उनके हाथ मेरे पांवों की तरफ वढ़े, तव कहीं मुझे होश हुआ। कस कर उनके हाथ अपने हाथों में थाम कर वड़ी मुश्किल से वोल पाया, 'विवेकी वावू, यह क्या पागलपन कर रहे हैं ?'

'नहीं, पहली वार समझदारी कर रहा हूं। संवेग की छिपकली आज शुद्ध-वुद्धि के पतंगे को हड़प गयी है। विश्वास करो अव मुझे किसी के साक्षात्कार की कोई जरूरत नहीं...कतई जरूरत नहीं।'

'मगर मुझे जरूरत है।' ००

कल दस जुलाई की सांझ यदि वह अचीती बरसात एक सुमधुर सपने की तरह उमड़ कर मुस्कराती, हंसती, झूमती हुई प्रकट नहीं होती तो इस निबंध का प्रारंभ न जाने किन पंक्तियों से होता, कैसे होता, मैं स्वयं नहीं जानता ! पिछले तीन साल से निरंतर अकाल-दर-अकाल की विभीषिका से जूझती हुई मेरे प्रांत की रेतीली धरती जस-तस अपने भीतर वनस्पति के प्राण-तत्त्व को जिंदा रख रही है। कहीं ऐसा न हो कि मेरी सूखी-प्यासी धरती बारिश की बौछार को अंगीकार करना ही बिसर जाये ! आखिरकब तक पानी के अभाव की निदारुण यंत्रणा बुझे-बुझे मन से सहन करती जायेगी ? बादलों के पानी का अभाव, नेताओं के पानी का अभाव, नौकरशाही के पानी का अभाव, पत्रकारों के पानी का अभाव, लेखकों के पानी का अभाव, इस धरती के अन्न से पले हर बाशिंदे के पानी का अभाव ! सब का पानी मर गया है ! तब वह किसके लिए हरा परिधान पहन कर मुस्कराये, अपने हृदय के रंग-बिरंगे फूल खिलाये ? उसकी छाती को आठों पहर रौंदते हुए चलते-फिरते लाडलों को अनाज की बनिस्बत अब मुनाफे का लोभ हो गया है। किसी के भी लालच को पूरा करने की खातिर मां की कोख नहीं फलती। मनुष्य की तरह यदि कुदरत ने भी सोचना शुरू कर दिया तो मनुष्य का चिंतन बिल्कुल बंद हो जायेगा। पशु, पक्षी और अबोध बच्चों के भाग्य से उसने वैसा सोचना आरंभ नहीं किया है, तभी तो कल पूरब दिशा से मटमैली पांखों पर सवार होकर न जाने किस दूर-दराज दिसावर से वर्षा-दुलहिन आन पहुंची। एक घड़ी-भर पहले तो सांय-सांय के लम्बे अर्ज की हवा बौराई-सी मचल रही थी। डेढ़ महीने से प्रति क्षण दिन-रात यह सांय-सांय की गुहार गूंज रही है।'आखिर कितना अनंत और अछोर है इस बिलखते पवन का यह महाक्रंदन।

देखते-देखते प्यासी धरती पर तीतर-पंखी बादली का एक और आकाश तन गया। ठण्डा, सुहाना। इस नये आकाश के अंतस में ममता की हिलोरें ठुमक रही थीं और उसका आर्द्र मानस झिरमिर-झिरमिर बरस पड़ा। खुशियों के नगारे पर बिजलियां चारों तरफ

अनुवाद के आयाम : १

अनुवाद की अनिवार्यता / विजयदान देथा

दिप-दिप नाच उठीं। छोटे-बड़े सभी गाछ-बिरछ मस्ती में झूम-झूमकर नाचने लगे। पत्ते-पत्ते में सलोनी मुस्कान किलक उठी। दूसरे ही क्षण क्लांत धरती की समूची दाझ मिट गयी और उसका आकुल-अंतर हरियाली के बहाने हुलस उठा। तब सहसा मेरे मन में भी बिजली की नाईं यह खयाल कौंधा कि दूर-दिसावर की रचनाओं का अनुवाद भी मर्मज्ञों के मन को इसी तरह सरसाता है, अंतस की क्यारियों में फूल खिलाता है और उन्मुक्त हरियाली से सराबोर कर देता है। अलंघ्य दूरी का व्यवधान मिटा कर कहां की घटा और कहां की फुहार मुरझाये पत्तों में हंसी छलका देती है। पत्तों व फूलों की बात तो दूर—बेर, खेजड़ी व बबूल के कांटे भी बौछार की गुदगुदी से खिलखिला उठे। क्या इसी प्रकार सर्वप्रथम शरत्-बाबू की रचनाओं से, मेरा बुझा-बुझा चिर-प्यासा मन एकदम से खिल नहीं उठा था? कहां तो बंगाल की दूर-दराज शस्य-श्यामला धरती और कहां मेरा सूखा रेतीला मन! जैसे जन्म-जन्मांतर की आत्मीयता हो। यदि दुर्भाग्य से शरत्-बाबू की बंगाली कृतियों का हिन्दी अनुवाद उपलब्ध नहीं होता तो मरुस्थल की सांय-सांय में मेरे अंतस का 'रूंख' कब का सूख कर ईंधन बन गया होता! अनुवाद का मायना तो कई बरसों के बाद खुला था। उन दिनों चिर-तृषित मन को कहां सुध-बुध थी जो यह छान-बीन करे कि यह हिन्दी की मौलिक कृति नहीं, बंगला का अनुवाद है। सूखी वनस्पति और प्यासी धरती को इस से क्या मतलब कि बारिश कहां से आती है, कितनी दूर से उमड़ कर आती है—बंगाल की खाड़ी से, हिन्द महासागर या अरब सागर से? उसके मुरझाये अंतस को तो बस बादलों का पानी भर चाहिए। इसी प्रकार सैकड़ों कोस दूर की भाषाओं से विक्टर ह्यू गो, मोपासां, वाल्तेयर, बालजक, रोमांरोलां, चेखोव, तोलस्तोय, तुर्गनेव, गोगोल, पुश्किन, गोर्की, मार्क्स, एंजिल्स, स्टीफेन ज्वाइग, ब्रेख्त, नीत्शे, कजान-जाकिस, गेटे, शिलर इत्यादि लेखकों के अनुवाद यदि अंग्रेजी के माध्यम से पढ़ने को मयस्सर नहीं होते तो मेरा क्या हश्र होता? सोचते ही रूह कांपने लगती है! मेरे अध्ययन व सृजन का बंटाढार हो जाता। जिंदा रहते भी मैं मुर्दे से गया-गुजरा होता। केवल हिन्दी के बूते पर मेरे सृजन के पांव दस-पंद्रह कदम से आगे नहीं बढ़ पाते। यह है अनुवाद का माहात्म्य—समझने वाले के लिए विश्व के समस्त हीरे-मोतियों से बढ़ कर और न समझने वाले के लिए जूठन से भी घटिया।

मूल भाषा के लेखक तो अपनी सीमित धरती पर ही अधिकांशतया विचरण करते रहते हैं। समय के दायरे को तो जरूर लांघ जाते हैं, पर स्थान के घेरे को तोड़ने में वे पूर्ण रूप से न सक्षम हैं और न स्वतंत्र ही। किन्तु पराधीन गुलामों को तो विजेता की मूल भाषा सीखनी पड़ती है, चाहे मन मार कर सीखें, चाहे राजी-खुशी सीखें। पर विभिन्न भाषाओं के अनुवाद तो देश-काल की सीमाएं तोड़ कर न जाने किस-किस के प्रेमातुर मन में घर कर जाते हैं, जिसका लेखा-जोखा तक नहीं। ऐतिहासिक विजेताओं या योद्धाओं की तरह लेखक-वृन्द लूटते नहीं, हर किसी को लुटाते हैं। मारकाट नहीं करते, बुझे अंतस में प्राणों की संजीवनी-शक्ति का संचार करते हैं। किसी का शोषण नहीं करते, परित्याग करते हैं और परित्याग करने पर भी रोते नहीं और अधिक उमगने लगते हैं। अनुवाद की गंगा का कहीं कोई कूल-किनारा नहीं होता, निश्चित धरती

नहीं होती। और इस गंगा की वाढ़ भी ऐसी अनूठी है जो काटती नहीं, जोड़ती है। गड्ढे नहीं करती, भरती है। अनुवाद को अस्त्र के रूप में मानने वालों का दावा कितना सही है कि वह दिव्यास्त्र वैर-भाव, हिंसा व डाह के बदले स्नेह, प्रीति, ममता और श्रद्धा की भावना फैलाता है। हताशा व घुटन के बदले आशा और विश्वास जगाता है। गौरवमयी जिंदगी जीने का अमोघ मंत्र सिखाता है। दूर होते हुए भी अनुवाद जितना सन्निकट और कोई नहीं। नितांत वेगाना होते हुए भी अनुवाद जितना परम आत्मीय और कोई नहीं। दूसरे रिश्तों की वात तो अलहदा, मैं स्वयं अपने इतना समीप नहीं हूं जितनी मृणाल, विन्दु व मृणाल का भाई शरत् मेरे समीप हैं। तोता कहानी का मिट्ठू तो जैसे मेरे भीतर ही घोंसला वना कर वैठा हो। मेरे हाथ-पांव तो मेरे हृदय से वाहर हैं पर गफूर, अमीना, महेश, तर्करत्न महाशय, सोफ्या पेत्रोवना, इल्यिन, लुन्यांत-झेव, अल्योशा, उस्तिन्या, सिस्टर फिलोमना, मरणासन्न कवि इत्यादि ये सब मेरे अंतस के आसन पर विराजमान हैं, स्वयं परमेश्वर भी चाहे तो इनका सिंहासन छीन नहीं सकता, इन में फूट नहीं डाल सकता! मेरे मानस में इस अलौकिक सम्पदा की निरंतर संवृद्धि क्योंकर संभव हुई, केवल अनुवाद के माध्यम से और अनुवाद की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि मानवीय संसार में विभिन्न जातियों के लोग विभिन्न भाषाएं वोलते हैं। कोई दस-वीस नहीं, सैकड़ों—चार-पांच हजार से भी ज्यादा। कुछ लड़खड़ाती पुरानी भाषाएं लुप्त होती जाती हैं और कुछ नयी भाषाएं नवेली दुलहिन की तरह संवरती जाती हैं।

दुनिया की हर विकसित या अविकसित भाषा एक ऊपरी आवरण की द्योतक है, जिसकी तह में अंतर्निहित है—मनुष्य-मात्र के अंतस की धड़कन, सपनों का इंद्रजाल, कल्पनाओं की चांदनी, सुख-दुख का ताना-वाना, प्रेम, घृणा, क्रोध, मद, लोभ, लालसा व आकांक्षाओं की धूप-छांह। आवरण की ओट में मनुष्य सर्वत्र एक-सा है। तभी अनुवाद के द्वारा आवरण वदल जाने के वावजूद भी भीतर के प्राणों का स्पंदन हर पाठक के मन को वैसा ही छूता है, भिगोता है। एक स्वर्गीय आनंद से उत्फुल्ल कर देता है। यदि भाषा का आवरण ही अपने-आप में सव-कुछ होता तो किसी एक भाषा का कथ्य दूसरी भाषा में ढलने पर किसी को पसंद नहीं आता। फिर भी आवरण और कथ्य का अविभाज्य या अटूट संवंध तो नहीं, घनिष्ठ संवंध जरूर है। आवरण उपयुक्त नहीं होने पर वह कथ्य को झेल नहीं सकता। फूटे वासन की तरह रस से रिक्त हो जाता है। मूल भाषा की तरह अनुवाद भी वैसा ही प्रांजल, संप्रेषणीय व सांगोपांग होना चाहिए, नहीं तो कथ्य विखर जायेगा, रिस जायेगा।

प्रणय-सूत्र में वंधने के लिए दुलहिन का केवल लड़की होना ही पर्याप्त नहीं है, वह सुन्दर, शालीन व शिक्षित भी होनी चाहिए। मात्र आंखों की ज्योति से दूल्हे का मन तुष्ट नहीं होता, मृगनयनी चाहिए। वत्तीस दांतों की गिनती से हिसाव नहीं वैठता, अनार के दांतों की तरह सुघड़ वत्तीसी चाहिए। शरीर के भरकम वजन से काम नहीं सरता, छरहरी रूपसी का हर नाक-नक्श उपयुक्त होना चाहिए। ठीक यही सार्थकता अनुवाद के आवरण की है। आवरण के भोंड़ेपन से कथ्य स्वयमेव भोंड़ा हो जाता है। इसलिए यह कतई जरूरी

नहीं कि मातृभाषा के आवरण का अपनापन कथ्य की खामियों के वावजूद उसके प्रति आत्मीयता उत्पन्न करे। और यहीं ठीक इसी विन्दु पर लेखक की वैयक्तिक प्रतिभा, उसकी आंतरिक ऊर्जा, शैली व भाषा की दक्षता और कथ्य पर सहज अधिकार का महत्त्व खड़ा होता है। आखिर भाषा, शैली व कथ्य के सम्यक् संतुलन का सर्वोपरि दायित्व तो लेखक का ही है। इसी कारण ठेठ वचपन से और आज भी हिन्दी लेखकों की अपेक्षा शरत्-बावू, रवि-वावू मेरे ज्यादा अपने हैं। उन से मेरा नाता रक्त संवंध से भी ज्यादा प्रगाढ़ है। तव तो मेरी अपनी मातृ-भाषा राजस्थानी में गिनती के कवियों को छोड़ कर गद्य-लेखन का तो अस्तित्व ही नहीं था। और आज भी कहां है? कुछ तुतलाते कवियों के अलावा राजस्थानी के लेखकों को पढ़ना तो एक तरह की सजा है। हिन्दी की स्थिति इस से काफी वेहतर है। फिर भी शरत्-वावू, रवि-वावू, चेखोव, तोलस्तोय, दोस्तोयेवस्की, मेक्सिम गोर्की...वे ही नाम वार-वार कव तक गिनाऊं, और भी पचासों लेखक हैं जो कहने को तो विदेशी हैं, पर वे मेरे ज्यादा सगे हैं—मां-वाप, भाई-वहन, पुत्र व पौत्र से भी ज्यादा। यदि मेरी मर्मज्ञता के मजूस में ये माणिक-मोती निरंतर नहीं जुड़ते तो हिन्दी के दिवाले को ढोते-ढोते मैं स्वयं ही टूट जाता। अच्छे-बुरे पाठकों के लिए तो हिन्दी में उपयुक्त सामग्री है, पर जागरूक लेखक की खातिर तदनुरूप कृतियों का सर्वथा अभाव है। निकट भविष्य में भी श्रेष्ठतम अनुवादों के अतिरिक्त और कोई आशा नजर नहीं आती। जव देश की प्राचीन प्रतिभाओं को, तत्कालीन विद्वानों को, कवि और अद्वितीय लेखकों को अपनी मूल गरिमा के साथ हिन्दी में वांचने का सुयोग ही उपलब्ध नहीं है, तव विदेशी प्रतिभाओं के नियोजित अनुवाद की कल्पना करना भी एक दुराशा मात्र है। अधुनातन तकनीकी उत्कर्ष के बावजूद अनुवाद जैसी सशक्त, प्राणों से ओतप्रोत उपयोगी विधा का हिन्दी में जिस लचर तरीके से प्रकाशन हो रहा है, उसके स्तर का जिक्र करते हुए भी शर्म आती है। प्रकाशकों के पारिश्रमिक से प्रतिभाओं का पुनः-सृजन संभव नहीं हो सकता, अब तो इस तथ्य को हमें समझ ही लेना चाहिए। प्रसव की तरह सृजन व पुनः-सृजन की पीड़ा भी अवश्यम्भावी है।

हां, एक बात मुझे पहले जतला देनी चाहिए थी कि कविता की विधा में कथ्य और कथन का सर्वथा अविभाज्य संबंध है। मूल-कवि के सदृश किसी प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति के द्वारा ही कविता का अनुवाद कभी-कभार संभव हो पाता है, जिसे अनुवाद न कह कर पुनः-सृजन ही कहना चाहिए। इसका यह तात्पर्य नहीं कि साहित्य की अन्य विधाओं का अनुवाद कोई सहज काम है। कोई भी काम सहज नहीं होता, दूभर नहीं होता। इसी तरह अनुवाद भी नितांत सहज है और विकट दुष्कर भी। जिस प्रकार मूल-लेखक के लिए सृजन की सफलता हेतु कोई निश्चित गुर या नुस्खे नहीं हैं, उसी प्रकार अनुवाद के निमित्त भी बने-वनाये गुर नहीं हैं। यह गुर नाम की बला वड़ी घातक है। आज कल हर सीगे में—क्या शिक्षा, क्या विकास, क्या निर्माण, क्या सृजन और क्या अनुवाद—हर किसी के पास हर प्रकार के गुर हैं, नुस्खों की भरमार है। आखिर किसी भी काम का कर्त्ता है—स्वयं मनुष्य। और मनुष्य नामधारी उस व्यक्ति की अपनी निष्ठा, अपनी सूझवूझ, अपनी प्रतिभा और अपनी मेहनत पर ही हर काम की सफलता निर्भर है।

व्यक्ति योग्य है तो हर काम सहज है। व्यक्ति अयोग्य है तो कोई भी काम अत्यंत कठिन है, सामाजिक या राजकीय सुविधाओं के बावजूद भी।

अंग्रेजी भाषा में अनुवादों की भरमार है। किसी भी भाषा की ठीक-ठाक, अच्छी या श्रेष्ठ कृति का अंग्रेजी के कई प्रकाशनों में अनुवाद उपलब्ध हैं, चाहे वे इंगलैण्ड के हों चाहे अमरीका के। अनुवाद का स्तर घटिया भी है, श्रेष्ठ भी है! कोई यह समझने की भूल न करे कि इस विधा के निमित्त अंग्रेजी सबसे उपयुक्त भाषा है। यह मुगालता इतना ही गलत और बेबुनियाद है, जितना यह कहना कि जर्मन या कोई भी अन्य श्वेत नस्ल ही सबसे श्रेष्ठ है। दुनिया की हर भाषा, चाहे वह कितनी ही अविकसित या पिछड़ी हुई हो, उस में बीज की तरह उपयुक्त जमीन, पानी, हवा, धूप व सुरक्षा मिलने पर विस्तार की पूरमपूर संभावना अंतर्निहित है।

राष्ट्र की ताकत को भाषा की ताकत मान लेना निरी भ्रान्ति है। अंग्रेजी भाषा के सर्वतोमुखी विकास-विस्तार के लिए कोई अंग्रेजी भाषा की अपनी मूलभूत विशिष्टता नहीं, बल्कि इसकी पृष्ठभूमि में संबंधित राष्ट्रों की साम्राज्य लिप्सा, पाशविक कुटिलता, बर्बरता, भौतिक संपन्नता इत्यादि मिश्रित क्षमताओं का योगदान ही प्रमुख है। अन्यथा यही अंग्रेजी—बेचारी अभ्यागत अंग्रेजी, कुछ ही वर्ष पहले—मुश्किल से सौ डेढ़-सौ वर्ष पहले बाइबिल का अनुवाद करने के लिए भी अक्षम थी। और तो और, कानून या विधि शास्त्र के लिए भी अयोग्य थी। और आज उसका यह नखरा है!

दुनिया की कोई भाषा अपनी मूलभूत शक्ति में किसी भाषा से कमजोर नहीं होती। साहित्य या विज्ञान की ऊपरी विधाएं अनुकूल परिवेश के भीतर विकसित या संपन्न होती रहती हैं। यह न हमारी राजभाषा हिन्दी की अक्षमता है और न किसी जनपदीय भाषा की अयोग्यता, चाहे उसे संवैधानिक मान्यता मिली हो, चाहे न मिली हो। आजादी के बाद संभाव्य विकास की ओर शासन-कर्त्ताओं का ध्यान ही नहीं गया। उनकी अक्षमता हमारी समस्त योजनाओं की अक्षमता साबित हो गयी! यही हमारी भयंकर विडम्बना है।

आखिर वह सुनहरा दिवस कब आयेगा जब हमारे शासनकर्त्ताओं की दृष्टि में भाखरा बांध के साथ-साथ अनुवाद की प्राणवंत विधा भी उतनी ही अनिवार्य महसूस होगी। काश! हिन्दी के अतिरिक्त हमारी समस्त प्रांतीय-भाषाओं में हमारी प्राचीन श्रेष्ठतम कृतियों तथा विदेशी साहित्य का विपुल अनुवाद अधिकृत रूप से उपलब्ध होता! यदि देश का प्रत्येक नागरिक भीतर से दृढ़ व सशक्त नहीं है तो ये बांध और ये सतही योजनाएं सभी ध्वस्त हो जायेंगी। इस्पात के कारखानों की अपेक्षा अब इस्पाती जीवन-दृष्टि जरूरी है। और यही दृष्टि निरंतर प्रखर होती है—साहित्य से। यदि आज हमारे अपने घर में अपना साहित्य समृद्ध नहीं है तो कुछेक विदेशी भाषाओं के समृद्ध साहित्य का अनुवाद करके सब-कुछ आनन-फानन में हासिल किया जा सकता है। फिर उस अनुवाद की उर्वरा भूमि पर हमारे अपने मौलिक साहित्य को फलने-फूलने में क्या देर लगेगी? एक स्वतंत्र राष्ट्र का इस से बड़ा और क्या दुर्भाग्य हो सकता है कि विदेशी-साहित्य तो दरकिनार हमारी अपनी प्राचीन गौरवमयी विरासत एवं अपने प्रांतों की परम्परागत

और तात्कालिक 'श्री' से भी हम नितांत वंचित हैं।

अनुवाद और केवल अनुवाद ही हर आधुनिक व्यक्ति को पूर्णतया आश्वस्त कर सकता है कि वह अपने प्राचीन साहित्य की विरासत से वंचित नहीं रहेगा। किसी भी अन्य विदेशी भाषा की कैसी भी प्रचुर सम्पदा से महरूम नहीं रहेगा। उत्तराधिकार का ऐसा अनंत, अपार, अखूट और अनियंत्रित क्षेत्र और कहां मिलेगा? और आज हम इस सार्वजनिक सम्पदा के ही सबसे ज्यादा मुहताज हैं। अमूल्य हीरे-मोतियों की बजाय कंकरों से हमारा मन बहलाया जा रहा है! वैयक्तिक मुनाफाखोरी की अर्थ-व्यवस्था में यही संभव है। तकनीकी विकास के जिहाद में जब समाज व देश की अपेक्षा वैयक्तिक हित-साधन का लक्ष्य रहेगा, तब तक तकनीकी उत्कर्ष का वैताल सामाजिक रूप से अपनी घातक भूमिका ही अदा करता रहेगा। प्रेस, प्रकाशन, अनुवाद, पत्रकारिता, साहित्य व कला का भी यही हश्र होगा। इनका अमांगलिक पहलू ही उजागर होता रहेगा। तभी तो पितामह तोलस्तोय को द्रवित मन से यह उद्घोषणा करनी पड़ी कि अज्ञान प्रसार के लिए मुद्रित-सामग्री से शक्तिशाली साधन और कोई नहीं। ये सत्य-कथाएं, ये मनोहर कहानियां, ये दैनिक, साप्ताहिक, मासिक पत्र-पत्रिकाएं, ये कामोत्तेजक घटिया अनुवाद, ये रंग-बिरंगी लुभावनी पुस्तकें, चिकने-चमकते मुख-पृष्ठों पर ये अधनंगी तारिकाएं—आखिर इस धर्मयुग के दौर में इस नियमित, सजी-संवरी सामग्री के प्रकाशन का चरम ध्येय क्या है? पाठकों का परिमार्जन? राष्ट्र का कल्याण? ज्ञान का प्रसार? एकता का प्रचार या अपना वैयक्तिक अछोर लालच? और यह सब अंधेरगर्दी होती रही है विचारों की स्वतंत्रता के नाम पर, अभिव्यक्ति की आजादी के नाम पर! किन्तु अब इस शाब्दिक छलावे को उचित परिप्रेक्ष्य में परिभाषित करना निहायत जरूरी हो गया है कि इन भ्रामक नारों की ओट में किसका हित-साधन? किसकी स्वतंत्रता? कैसी स्वतंत्रता? इस शब्द-जाल से आखिर कब तक अल्ल सवेरे हर ग्राहक को यह काला-जहर चटाया जायेगा? विचारों की स्वतंत्रता के नाम पर कब तक यह वैयक्तिक डकैती बर्दाश्त की जायेगी? मुक्त अभिव्यक्ति की दुहाई देकर लूट-खसोट के फकत हथियार ही बदले हैं। तोप-तलवार की जगह दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक या मासिक पत्र! तलवार की तुलना में बदनामी की बजाय ये परिवर्तित हथियार सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रतीक हैं। शब्दों का जहर सांप व धतूरे के जहर से ज्यादा घातक होता है। निर्जीव लाश की अपेक्षा जिंदा-मौत ज्यादा भयंकर है। और खुशहाल बहबूदी के नाम पर हम यही जिंदा-मौत जी रहे हैं। जिसे श्रेष्ठतम अनुवादों द्वारा शायद बचाया जा सके, टाला जा सके। मगर सामाजिक व्यवस्था के आमूल-चूल परिवर्तन के बिना यह संभव नहीं। मुनाफे की वैयक्तिक छूट को समाप्त किये बिना किसी भी सीगे में सामाजिक सफलता नहीं मिल सकती—न प्रकाशन में, न मूल लेखन में और न अनुवाद में। वैयक्तिक मुनाफे से संचालित ये आधुनिकतम मुद्रणालय शब्द को निरंतर निर्जीव, खोखला और खौफनाक बनाते जा रहे हैं। आज के ये चरम विकसित मुद्रणालय लिखित शब्द की अमानवीय प्रवृत्ति के एकमात्र जिम्मेवार हैं—सर्वत्र यंत्रणा फैलाने वाले यंत्र! इसलिए वैयक्तिक मुनाफे की दृष्टि से किया हुआ किसी भी श्रेष्ठतम कृति का अनुवाद सर्वथा निष्प्राण ही होगा। भाषा की तरह अनुवाद

भी पाठक को आश्वस्त करते हैं, हताश भी करते हैं। आत्मीयता का सुख भी देते हैं, बेगानेपन की शून्यता भी प्रदान करते हैं। अतएव मर्मज्ञ की सौंदर्यानुभूति का दायित्व और भी वढ़ जाता है।

ज्ञान-विज्ञाम की सामाजिक उपलब्धियों के परिणामस्वरूप सौंदर्यानुभूति का स्तर भी निरंतर परिमार्जित होता रहता है। इसलिए कुछ गहनतम कृतियों का अनुवाद सुदूर भविष्य में ही संभव है। उदाहरण के तौर पर हमारी प्राचीनतम पुराण-कथाएं, वेद, उपनिषद, दर्शन, महाभारत, रामायण, प्रचलित लोक कथाएं इत्यादि का आज भी मर्म समझना शेष है, अतएव उन के प्रामाणिक अनुवाद भी संभव नहीं। भविष्य में संभव बनेंगे। अपने तात्कालिक समय का अतिक्रमण करके कुछ श्रेष्ठतम कृतिकार भविष्य के लेखक होते हैं। रवि-वावू इसी विरल प्रतिभा के प्रतिनिधि हैं ; उन्हें भविष्य में और भी सच्चाई व गहराई के साथ समझा जायेगा। उन के आर्य-शब्दों का मर्म भविष्य की वयार से और भी प्रज्वलित होता रहेगा। इस कोटि के साहित्य का अनुवादक मनुष्य की निभृत आत्मा का दूत होता है। इस तरह के अनुवाद की सफलता किसी राष्ट्र की जीत से कहीं ज्यादा श्रेयस्कर है। कल्याणप्रद है।

इतिहासकार की अपेक्षा अनुवादक अतीत की ज्ञान-सम्पदा, सांस्कृतिक धरोहर का सहस्र-गुणा विश्वस्त पहरुआ है। इतिहास के नाम पर हमें कत्लेआम, लूटपाट और धोखा-धड़ी का ब्यौरा मिलता है। लेकिन उपमा, रूपक, बिब व प्रतीक का कोई इतिहास नहीं मिलता और न वैसी चेष्टा ही कहीं नजर आती है। वह कौन मेधावी था जिसने पहले-पहल नारी के सुन्दर नयनों का खंजन पक्षी या हरिण की आंखों में साम्य देखा ? बिंव-फल से सुन्दर अधर, चन्द्रमा के समान सुहानी सूरत की किस कवि ने कव सवसे पहले उपमा दी थी ? कोई भी यह सोचने के लिए आतुर नहीं है कि इतिहास की घिनौनी लड़ाइयों की अपेक्षा उपमा, प्रतीक, बिंब, रूपक की खोज ज्यादा जरूरी है। इस दृष्टि से हर भाषा का अपना वैभव होता है, अपनी धरती की अपनी महक होती है। अपने फूलों का अपना रंग होता है, अपनी खुशवू होती है। हर भाषा की हरियाली का अपना आकर्षण, अपना आनंद होता है। हर भाषा के स्वाद का अपना जायका होता है। हर सभ्यता का अद्वितीय और विशिष्ट परिचय उसकी भाषा के द्वारा ही उजागर होता है।

प्राकृतिक परिवेश के वैविध्य की तरह भाषाओं का वैविध्य भी अनिवार्य है। भाषा ही मनुष्य की गौरवमयी विरासत है। हर भाषा की अपनी गहराइयां, अपना विस्तार और अपनी ऊंचाइयां होती हैं। हर भाषा अपनी जाति के आंतरिक प्रसव की दुलारी संतान है। अपनी भाषा के सांचे में ढल कर ही हर संस्कृति व सभ्यता प्रकट होती है। पर दूसरी भाषाओं के सांचे में उसे ढाला जा सकता है। और यही अनुवाद की सार्थकता एवं एकमात्र अनिवार्यता है कि अन्य भाषाओं की संस्कृति व सभ्यता का अपनी भाषा के दर्पण में अव-लोकन किया जाय। यह काम संभव भी है और असंभव भी। जो अनुवादक की योग्यता पर ही अंतिम रूप से निर्भर है। क्योंकि शब्द स्वयं यथार्थ का अपना स्वरूप न होकर उसका वोधक होता है, वाहन होता है। इसलिए हर व्यक्ति के शब्दों की सीमा ही उसके संसार की सीमा निर्धारित करती है। और सफल अनुवादक इन दोनों सीमाओं में समन्वय स्थापित

करता है।

वास्तविक बात तो यह है कि यह विश्व-जगत एक विशिष्ट समुदाय के भाषा-संस्कार द्वारा ही निर्मित होता है, जो उसकी अवचेतना का ही परोक्ष स्वरूप है। कोई भी दो भाषाएं कभी इतनी समान नहीं होतीं, जो एक ही सामाजिक यथार्थ का प्रतिनिधित्व करती हों। दुनिया में जितनी भी जातियों का निवास है, वे सभी अपने-अपने भिन्न संसार हैं, विभिन्न शब्दों द्वारा व्यंजित कोई एक संसार नहीं। इसलिए हर व्यक्ति को अपनी मातृ-भाषा की अभिव्यक्ति का नैसर्गिक अधिकार है, जो जन्मसिद्ध अधिकार से ज्यादा प्रबल है। और इस नैसर्गिक अधिकार के स्पष्ट वैविध्य को, सांस्कृतिक वैभव की विभिन्नता को, उपमा, प्रतीक, विम्ब व रूपक की भिन्नता को अपनी भाषा में प्रामाणिक रूप से सुरक्षित रखने में ही अनुवादक की चरम सफलता है। विभिन्न यथार्थ का आवरण बदल जाने के बाद भी उसकी आत्मा को अकलुषित रूप से अंकित करने में ही उसकी सार्थकता है। परकाया में प्रवेश की सिद्धि क्या कोई सरल काम है? इन सब विविधताओं के बावजूद भाषा की सर्वप्रथम नैसर्गिक प्रकृति वाचिक है, इस कारण अन्य भाषाओं में परस्पर उनका अनुवाद भी संभव है। कठिन जरूर है मगर दुःसाध्य नहीं।

आंशिक रूप से भाषा का पार्थिव, मानसिक और आध्यात्मिक रूप होता है। इन तीनों रूपों का सम्यक् समन्वय अनुवादक की वैयक्तिक दक्षता पर मुन्हसर होता है। इसके अतिरिक्त भाषा का वैयक्तिक उपयोग भी है और सामाजिक भी। अनुवाद में इन दोनों उपयोगिताओं का संतुलन आवश्यक है, अन्यथा अनुवाद बेसुरा होकर कर्कश हो जायेगा। आखिर तर्कसंगत तो यही है कि किसी अनुवाद की आलोचना एक तरह से स्वयं भाषा की ही आलोचना है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति वार्तालाप के दौरान एक ही शब्द द्वारा एक ही वस्तु की व्यंजना नहीं करता। अनुवाद करते समय इस मर्म की सूक्ष्मता को ध्यान में रखना जरूरी है।

केवल शब्द पर ही सारा ध्यान केन्द्रित करने से कथ्य की आत्मा में विकृति उत्पन्न होने की संभावना है। हालांकि शब्दों की अपनी धार, अपना माधुर्य, अपनी लक्षणा व अपनी व्यंजना शक्ति होती है; फिर भी उनकी सार्थकता अंतर्निहित सत्य को उजागर करने में ही है। शब्दों में सत्य छिपा नहीं रहता, उनके द्वारा उसकी गहरी तलाश करनी होती है। अनुवाद करते समय शब्द और यथार्थ के इस संबंध को समझना निहायत जरूरी है। फिर भी इस सच्चाई से इंकार नहीं किया जा सकता कि हर शब्द का अपना ऐतिहासिक अंतराल होता है। उस अंतराल की गहराई को समझने से ही साहित्य का वास्तविक आनंद प्राप्त किया जा सकता है।

विभिन्न वाणी का वैविध्य—भावना, अनुभव तथा परिवेश के वैविध्य को नियंत्रित करता है, इसलिए हर वाणी की अपनी विशिष्टता होती है, जिसकी पूर्त्ति किसी एक भाषा से नहीं हो सकती। हर वाणी की अपनी स्वतंत्र अस्मिता होती है। उस अस्मिता की गहरी पहचान हो तो अनुवाद में आसानी रहती है।

अंततः शब्द और शब्द के बीच जितना आत्मीय संबंध है उतना शब्द और यथार्थ के बीच नहीं। भाषा आखिर क्या है—यथार्थ को अपने अक्षुण्ण रूप में अस्वीकार करने की एक

सशक्त प्रक्रिया। हर भाषा का अपना एक स्वतंत्र ही संसार होता है, जो यथार्थ संसार से बहुत-कुछ भिन्न है। अनुवादक के लिए यह जरूरी है कि वह भाषा के संसार और वास्तविक संसार के सूक्ष्म विभेद को अच्छी तरह समझे, तभी अनुवाद में सहज संप्रेषणीयता का गुण समाहित हो सकेगा।

प्रकृति के निभृत रहस्य को देखने के लिए शब्द एक प्राणवंत चक्षु है, जिसकी ज्योति मनुष्य की अपनी आंखों से ज्यादा प्रखर व गहरी है। अनुवादक को चाहिए कि शब्द की इस विलक्षण ज्योति के मर्म को अच्छी तरह समझे, तभी वह सत्य की गहराइयों को समझने में समर्थ हो सकता है।

अविकसित और असमृद्ध भाषाओं के लिए अनुवाद और अनुवाद का ही एकमात्र आसरा है, जिसकी पांखों पर बैठ कर वे मन-वांछित ऊंचाइयों को छू सकने में समर्थ हो सकती हैं। अविकसित भाषा का पाठक अपने आंगन के रूंख की छांह तले बैठ कर विभिन्न अनुवादों के वरदान स्वरूप विभिन्न देशों की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, पौराणिक और भौगोलिक यात्रा कर सकता है। अपनी खुली आंखों से देख कर किसी देश के साथ उतनी घनिष्ठता प्रस्फुटित नहीं हो सकती, जितनी एक विशिष्ट कृति का सफल अनुवाद पढ़ कर।

मैंने अपनी नजर से बंगाल की शस्य-श्यामला धरती तो काफी बरसों के बाद देखी और देखकर भी ठीक तरह से पहचान कहां पाया, उस से आत्मीयता कहां जोड़ पाया? वैसी आत्मीयता जो बहुत पहले इन अमर काव्य-पुरुषों की कृतियां पढ़ कर स्थापित कर पाया, जैसे बंगाल की सांस्कृतिक धरती मेरे अंतस में समा गयी हो।

अंत में ऑक्टेवियो पाज की एक मार्मिक उक्ति को अपने शब्दों में दोहराना चाहूंगा कि 'हर रचना दूसरी कृतियों का परोक्ष-अपरोक्ष रूप से आसव मात्र है—क्या परंपरागत शैली में और क्या परंपरागत कथ्य में, इसलिए कोई भी स्वतंत्र रचना अनुवाद के अनुवाद का ही अनुवाद है।' फिर भी हर रचना का अपना स्वतंत्र अस्तित्व और अपनी स्वतंत्र अस्मिता है। अन्य रचनाओं पर आधारित होते हुए भी वह एक स्वतंत्र कृति है।

००

बोरुंदा
मंगलवार, २६-८-८६

प्रिय अरुणा !

"उपनिषद—भारतवर्ष के ब्रह्मज्ञान की वनस्पति है। वह केवल सुन्दर, श्यामल छायामय ही नहीं, वृहत् और कठिन भी है। उसके माध्यम से केवल सिद्धि का प्राचुर्य ही पल्लवित नहीं हुआ, तपस्या की कठोरता भी ऊर्ध्वगामी हो उठी है। उस की अभ्रभेदी सुदृढ़ अटलता के बीच एक मधुर फूल खिल उठा है—जिस की, खुशबू ने हमें व्याकुल कर डाला है—वह है मैत्रेयी का प्रार्थना मंत्र।

"गृह-त्याग के समय जब याज्ञवल्क्य अपनी दोनों पत्नियों को समस्त संपत्ति दान कर के जाने को उद्यत हुए तब मैत्रेयी ने सहज भाव से जिज्ञासा प्रकट की, 'जरा बताइये, इन सब को लेकर क्या मैं अमर हो जाऊंगी ?' याज्ञवल्क्य बोले, 'ना, यह नहीं हो सकता, जिस तरह अब तक सांसारिक-उपकरणमय तुम्हारा जीवन रहा है, वैसा ही बना रहेगा। सांसारिक प्राणी जिस प्रकार आनंद से घर-द्वार, गोरू-बछड़े, अशन-वसन लेकर स्वच्छंद जीवन-यापन करते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे दिन भी मजे में कट जायेंगे।'

"मैत्रेयी तत्क्षण बोल उठी, 'येनाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम ?—जिस के द्वारा मैं अमृता न हो सकूं, उसे लेकर क्या करूंगी ?' यह तो कठोर ज्ञान की बात नहीं है। उस ने चिंतन द्वारा, ध्यान द्वारा, नित्यानित्य विवेक-विवेचन द्वारा यह तथ्य प्रकट नहीं किया। उस के मन में तो बस एक ही कसौटी थी, जिस पर उस ने संसार के सारे उपकरण घिस कर परख लिये और बोल उठी, 'जो मैं चाहती हूं, वह तो यह नहीं है।'

'उपनिषदों के समस्त पुरुष-ऋषियों की ज्ञान-गंभीर वाणी के बीच, केवल एक स्त्री-कण्ठ से यह एकमात्र व्याकुल वाक्य ध्वनित हो उठा है और वह ध्वनि आज भी विलीन नहीं हुई—वही ध्वनि मैत्रेयी के मेघमन्द्र शांत स्वर के साथ एक अपूर्व, अश्रुपूर्ण माधुर्य

प्रिय अरुणा : खीर पत्र की समीक्षा

विजयदान देथा

जाग्रत कर रही है,' मृणाल के सुर में सुर मिला कर। उपनिषदों की पुरातन मैत्रेयी को ही रवि-बाबू ने अपनी कहानी 'स्त्रीर पत्र' की नायिका के रूप में चित्रित किया है, अरुणा, अब तो तुम भी समझ गयी होगी। किसी भी मनीषी साहित्यकार के लिए उस की प्रत्येक रचना उस का नियोजित स्वप्न है, जो निद्रावस्था के स्वप्न की अपेक्षा ज्यादा गहरा, सूक्ष्म व रहस्यात्मक होता है, किसी जटिल से जटिलतम स्वप्न की व्याख्या और उस का विश्लेषण तो मुझे आसान लगता है, पर रवि-बाबू जैसे मंत्रद्रष्टा ऋषि के बेशुमार नियोजित स्वप्न जो उन की रचनाओं में गुंफित हुए हैं, उन की व्याख्या और पड़ताल मेरे लिए तो नितांत दुष्कर है।

मैत्रेयी की तरह मृणाल भी तो माखन-बढ़ाल की गली के सत्ताईस नम्बर वाले घर-द्वार को, रसोई-कोठार को, गोरू-बछड़े को, अशन-वसन को, सेज-बिछौने को ठुकरा कर अमृत की तलाश में श्रीक्षेत्र के लिए निकल पड़ी है। इस पुरुष-प्रधान समाज में नारी का परिचय क्या है—गृहलक्ष्मी या गृहदासी—वह जान चुकी है। उसे और कुछ भी जानने की जरूरत नहीं। अब उस की आंखों के सामने अपने गृहस्थ-परिवार और मुहल्ले की संकरी गली का सीमित दायरा नहीं—असीम नीला समुद्र फैला हुआ है—अछोर व अनन्त; और सर पर छांह किये हुए हैं—आषाढ़ के निर्मल बादल! तुम भी तो मृणाल के कैंडे की महिला हो अरुणा, तभी तो मैंने समीक्षा के बहाने तुम्हें पत्र लिखने का औचित्य खोजा है। जिस आई.ए.एस. की परम मोहिनी चाकरी के लिए आधुनिक भारत का कोई भी बन्दा या बन्दी बड़े-से-बड़े आदर्श को ताक में रखकर कैसा भी जघन्यतम समझौता करने को तैयार है और तुमने अपनी मुट्ठी में थमे उसी गुमानी पद को अकिंचन समझ कर ठुकरा दिया! आज की गर्दभ-दौड़ में वाकई यह वन्दनीय कदम है, जिस की मन-ही-मन सराहना शायद मृणाल भी कर रही होगी।

और मैं तुम्हारे बारे में क्या सोच रहा हूं, बता दूं—कि तुम एक बौद्ध-भिक्षुणी हो, जो अजन्ता की गुफा का निवास छोड़कर आजादी के पश्चात् हिन्दुस्तान की तबाही का निरीक्षण करने आयी हो। जिस दिन तुम्हारा मन उचट जायेगा, तुम वापस उसी गुफा में लौट जाओगी! मेरे लिए तो प्रति क्षण यही आश्चर्य की बात है कि तुम अब तक लौटीं क्यों नहीं? भारतवर्ष के मौजूदा 'स्वतंत्र' परिवेश में तुम्हारे लिए, मृणाल के लिए, मीरा के लिए, मैत्रेयी के लिए एक पल भी सांस लेने की गुंजाइश नहीं है। श्रीक्षेत्र के अनंत समुद्र और नील गगन तक पहुंचने के सभी रास्ते बंद हैं। श्रीक्षेत्र की बात तो दूर, घर के शौचालय की बंद दीवारों के बाहर तक झांकने की हमारी इच्छा नहीं है, आकांक्षा नहीं है, जिज्ञासा भी नहीं है। वैसी समझ का तो सर्वथा विनाश ही हो गया है। चुभती बात कहूं तो नाक-भौंह तो सिकोड़ने नहीं लगोगी कि हमने सारे घर-द्वार को ही आजकल शौचालय बना लिया है। 'संसार में जो-कुछ सबसे अधिक तुच्छ है, वही सबसे अधिक कठिन हो गया है।' घर-परिवार की इस 'निरानंद चहार-दीवारी का यह तुच्छतम बुदबुदा ही' अलंघ्य बाधा बन गया है! हर मनुष्य-नामधारी प्राणी को 'इस तुच्छ काठ-पत्थर की आड़' में क्षीण रुदन के साथ जन्म लेना होगा और विकट क्रंदन के बीच ही उसे मरना होगा। यही 'उस की गति है, मुक्ति है।' किन्तु मृणाल ने मैत्रेयी की भांति मानवीय हाट-बाजार की इस

प्रचलित गति-मुक्ति को अंगीकार नहीं किया और न उसके छोटे भाई शरत् ने ही समाज की परम्परागत लीक पर चलना कबूल किया। उसे तो किसी बिन्दु की त्रासदी के बिना ही यह आत्मबोध हो गया था। फिर मृणाल तो उसकी बड़ी बहन ही थी न, अरुणा! बिन्दु की त्रासदी घटित न होने पर भी वह घर-परिवार की घिनौनी लक्ष्मण-रेखा लांघ कर श्रीक्षेत्र के लिए उस पवित्र राह पर निस्संदेह चल पड़ती। बिन्दु की त्रासदी तो एक बहाना भर थी। मैत्रेयी के जीवन में तो ऐसी कोई त्रासदी घटित नहीं हुई। जिस तरह गौतम-बुद्ध के जीवन में मुर्दा व जर्जरित बुढ़ापा उनके निर्वाण के निमित्त बने, उसी प्रकार मृणाल की मुक्ति के लिए बिन्दु निमित्त बनी। हालांकि मृणाल ने स्वयं पुरजोर शब्दों में स्वीकार किया है—यदि उसकी 'बिटिया जन्म के साथ ही नहीं चल बसी होती तो उसके जीवन में जो-कुछ महान है, जो-कुछ सत्य है, वह उसे ला देती। वह तो मझली बहू से एकदम मां बन जाती। किन्तु उसे मां होने की पीड़ा ही मिली, मातृत्व का मुक्ति-वरदान प्राप्त नहीं हुआ।' उसकी 'बिटिया तो सांध्य तारे की नाईं, क्षण भर के लिए उदित होकर अस्त हो गयी।' और मृणाल अपने नित्य-कर्म और गाय-बछड़ों में खो गयी और मृत्यु-पर्यन्त उसी में खोयी रहती, यदि उसके जीवन में काली-कलूटी, बदसूरत बिन्दु का पदार्पण न होता। पर मेरा ऐसा खयाल है, अरुणा, कि किसी भी उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किसी-न-किसी अकिंचन घटना को निमित्त बनना ही पड़ता है। यही उस गौण निमित्त की चरम सार्थकता है और जिसे कबूल करके महत्त्व देना यह उस व्यक्ति का बड़प्पन है जो स्वयं श्रेय का अधिकारी नहीं बनना चाहता। वर्ना ऐसा कौन-सा घर-परिवार है जिस में रोजमर्रा बिन्दु जैसी त्रासदी घटित नहीं होती? पर मृणाल की तरह आंख, कान, हृदय और आत्मा भी तो चाहिए, जो बिन्दु की त्रासदी के बहाने समस्त मानव-जीवन की वृहत् त्रासदी से आत्म-साक्षात्कार कर सके। मसान में मुर्दे की चिता और जर्जरित बुढ़ापे की दुर्दशा किस की आंखों के सामने नहीं गुजरती, फिर अकेले गौतम-बुद्ध ही को आत्मज्ञान क्यों हुआ?

'इस आंख से जो-कुछ हम देख सकते हैं, उसे अब भी देख नहीं पाये। हमारे सामने, हमारे चारों ओर जो-कुछ है, उसे भी देख नहीं पाते—उस तृण को भी नहीं। हमारा मन ही हमारी आंख को दबोचे हुए है। वह न जाने कितने मतों के प्रभाव से ग्रस्त है, जिस का ठिकाना नहीं। वह अशन-वसन की दुर्भावना से हमारी दृष्टि को ढांपे हुए है। उसने कितने मनुष्यों की उक्तियों से कितने संस्कार जमा किये हैं? उसके कितने रूढ़ शब्द हैं, कितने रूढ़ मत हैं, जिस की सीमा नहीं? वह किसे शरीर कहता है और किसे आत्मा कहता है? किसे हेय समझता है, किसे श्रेय समझता है? किसे सीमा कहता है और किसे असीम, इसका कोई हिसाब नहीं। इन्हीं समस्त संस्कारों द्वारा परिवेष्टित होने से हमारी दृष्टि निर्मल, निर्मुक्त भाव से जगत का संत्रव प्राप्त नहीं कर पाती।' अपने विचारों को क्रियान्वित करने के लिए रवि-बाबू ने मृणाल को वैसी आंखें दीं, जो बिन्दु की दुर्दशा देख कर उसे समझ सके। वैसे कान दिये जिस से वह बिन्दु की अन्तर्वेदना को सुन सके। वैसा हृदय दिया जो बिन्दु को सहज भाव से प्यार कर सके और वैसी आत्मा दी, जो बिन्दु की आत्मा में पैठ कर परम सत्य को पहचान सके। 'मनुष्य को

भी हम आत्मा द्वारा नहीं देखते—इंद्रियों द्वारा, युक्तियों द्वारा, स्वार्थ द्वारा, संसार द्वारा और संस्कार द्वारा देखते हैं। उसे पारिवारिक सदस्य के रूप में, प्रयोजन-सिद्धि के रूप में, अजनबी के रूप में अथवा किसी श्रेणी-विशेष के रूप में देखते हैं – सुतराम् उसी सीमा पर जाकर हमारी परिचय-शक्ति रुक जाती है, उसी खाने में रुद्ध हो जाती है।'

मुझे उद्धरणों को प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत करने से सख्त नफरत है, अरुणा। पर 'रूंख' की इस सम्यक् रचनावली की खातिर मुझे अपनी जमीन से, चारों तरफ की धूप, हवा, आकाश और सजल बादलों से प्राण स्वीकार करना ही पड़ेगा। खास तौर पर, इस कहानी की समीक्षा के लिए रवि-बाबू के उद्धरण-दर-उद्धरण पेश करने के अलावा मेरे पास कोई विकल्प नहीं है। यह मृणाल तो सर्वत्र उनके निवन्धों में प्रच्छन्न रूप से विद्यमान है। समझ नहीं पड़ता कि रचनावली के प्रबंधों में रवि-बाबू के विचार हैं या मृणाल के? क्या किसी मृणाल ने ही तो उन्हें यह सब-कुछ नहीं बताया? यह सब प्रेम का अद्भुत करिश्मा है, अरुणा! बिना प्रेम किये विचारों की ऐसी बौछार नहीं हो सकती। रवि-बाबू ने किसी मृणाल से प्रेम किया होगा, प्रेम पाया भी होगा, जिस का अनहद आनंद वे ही जानें, पर इस मृणाल ने मुझे बहुत चक्कर दिया है। तीन साल से तो उस के प्रेम में बावरा ही हो गया हूं। सच पूछो तो आनंद भी कुछ कम नहीं मिला। उस ने मुझे हर पल समृद्ध किया है। उस की तुलना करने के खयाल से किस-किस नायिका का परीक्षण नहीं किया? बाहर से अधिक उन सभी नायिकाओं के अभ्यंतर में पैठ कर भीतर यात्रा की है। न जाने कितनी बार आन्ना कारेनिना को पढ़ा है? मादाम बवारी के अंतस की पर्त-दर-पर्त उघाड़ी है। इब्सन की नोरा के सामने बार-बार नतशिर हुआ हूं। चेखोव की डार्लिंग ओलेंका से न जाने कितनी बार साक्षात्कार किया है। फोन्तेन की इफ्फी ब्रेस्ट से मुलाकात करने में भी नहीं चूका। जेन-ऑस्टिन की एम्मा को पोथीखाने से हटा कर मन के घोंसले में सहलाया है। फिर भी प्यास नहीं बुझी। कुछ और भी असामान्य नायिकाओं से आत्मीयता बढ़ाना चाहता हूं, ताकि उन सब के परिप्रेक्ष्य में मृणाल की तुलना कर सकूं। इच्छा तो इसी पत्र में घसीट मारने की थी, पर मन-वांछित अध्ययन अभी शेष है। अगले पत्र में इन पर एक स्वतंत्र ही प्रबंध लिखूंगा, खूब विस्तार से। इसी दुविधा के फलस्वरूप इस पत्र में इतनी देर हुई, अन्यथा यह सब तो कब का लिख चुका होता।

एक अभिनन्दनीय जानकारी से तुम्हें समृद्ध करूं, अरुणा, कि विश्व के बेजोड़ दार्शनिक विल ड्यूरां ने एक पुस्तक लिखी थी—'द केस फॉर इंडिया', जिस पर तत्कालीन बंगाल के अंग्रेज प्रशासकों ने प्रतिबंध लगा रखा था। रवि-बाबू की अमरीकी यात्रा के दौरान विल ड्यूरां ने उन्हें उक्त पुस्तक भेंट करते हुए उस में लिखा—'तुम अकेले ही इस प्रश्न के पर्याप्त उत्तर हो कि भारतवर्ष को क्यों स्वतंत्र होना चाहिए?' केवल इतना-ही लिख कर विल ड्यूरां के उद्वेलित मन को संतोष नहीं हुआ। रवि-बाबू के व्यक्तित्व और उन की कविताओं से प्रभावित होकर उन्होंने पुरजोर शब्दों में लिखा, 'तुम से मिल कर हमारा अंतस परिमार्जित व उदात्त हुआ है। तुम्हारे दर्शन मात्र से हमारे भीतर एक नये ही विश्वास का सूर्योदय हुआ है कि मनुष्य चाहे तो उन तमाम आदर्शों के अनुरूप बखुशी

जी सकता है, जिन आदर्शों की परिकल्पना तुमने अपने युवाकाल में की थी। तुम से साक्षात्कार होने के पहले सचमुच ही हम पूर्णतया 'अंध-अविश्वासी' थे। हमारी दृढ़ मान्यता थी कि सभी आदर्श निराधार एवं अव्यावहारिक हैं और मानव जीवन के उज्ज्वल भविष्य की समूची आशाएं वांझ हैं। पर तुम्हारे व्यक्तित्व की छवि निहारते ही हमें अविलम्व अहसास हुआ कि हम गलती पर हैं और न्याय व शक्ति के युद्ध में हमारी पराजय अभी दूर है। तुम से मिल कर हमारा खोया विश्वास फिर जागा कि मनुष्य के लिए सचमुच जीवन का गहरा अर्थ है, जो मृत्यु के कारण निरर्थक नहीं हो सकता। तुम्हारे काव्य के मधुर संगीत, उसकी अकल्पनीय मदहोशी और तुम्हारे आकर्षक वर्चस्व ने हमारे रक्त में पूर्व के शाश्वत आदर्श को नये प्रवाह से संचारित किया है।'

और स्वतंत्र होने के वाद हम उन्हें भूलते जा रहे हैं, अरुणा! यह कैसी विडम्वना है? इस दारुण त्रासदी के दरद का अनुमान लगा सकती हो, जो लावास्रोत की तरह मेरे अंतस में खौल रहा है! रवीन्द्र भवन, जन्म शताव्दी या उन की वरसी मनाने का अर्थ उन्हें याद करना नहीं है। यह तो उन्हें भुलाने की घोर मंत्रणा है। अव तो उन्हें अपने हृदय में स्थापित करने से ही हम सव का निस्तार है। उन के लिखे हर शव्द को, उन की तूलिका से चित्रित हर रेखा को, उन के अनहद संगीत के हर सुर को, काव्य के हर छन्द को अपने जीवन में ढालना है, तभी हम उवर सकेंगे। एल्विन टॉफ्लर की 'तीसरी लहर' के विध्वंसक प्रवाह को रोकने के लिए यही एक मात्र चौथी लहर है जो समस्त विश्व को डूवने से वचा सकती है। यश का ऐसा मांगलिक तिलक युग-युगान्तर के पश्चात् किसी एक ललाट पर सृष्टिकर्ता के हाथों वड़ी मुश्किल से अंकित होता है। अरुणा, यह क़ोई अतिरंजना नहीं है। किसी भी मर्मज्ञ, लेखक व आलोचक की लेखनी में यह सामर्थ्य ही नहीं कि वह रवि-वावू की सृष्टि के संवंध में अतिरंजना कर सके। जो कुछ भी कहूंगा, वह सीमा के इस पार ही होगा, उस पार नहीं।

कल्पना की जिन वेगवती पांखों पर रवि-वावू ने शव्दों को विचरण कराया है, उन विभिन्न ऊंचाइयों तक दुनिया के किसी शव्द-शिल्पी ने अपने अक्षरों को नहीं उड़ाया। वेद, उपनिषदों के उपरान्त वे शव्द-व्रह्म के तीसरे स्रष्टा थे। उनकी सृजनशील अस्मिता से उपनिषदों का ज्ञान एक नयी ऊर्जा लेकर पुनः प्राणवन्त हुआ है। रवि-वावू के कथनानुसार उपनिषद भारतवर्ष के व्रह्म-ज्ञान की वनस्पति है, तो मेरे खयाल से रवि-वावू उपनिषदों के सार-तत्त्व की वनस्पति हैं। वंगाल की शस्य-श्यामला धरती पर कोई तीन हजार वरस वाद उपनिषदों के वीज का वटवृक्ष अंकुरित हुआ, जिसने अपने सघन विस्तार से फैलते-फैलते सारी दुनिया को अपनी छांह तले घेर लिया। चांद, सूरज और आकाश के नवलख तारों को भी सहलाने लगी थीं उसकी टहनियां और उसकी सघन हरियाली। हां, तीन हजार साल वाद फूटा था उपनिषदों का वह वीज जोड़ांसाको वाले घर के आंगन में, करीव सवा-सौ वर्ष पहले—६ मई १८६१ की ढलती रात। वह शुभ घड़ी न केवल ठाकुर परिवार के लिए, न केवल सोनार वंगाल के लिए, न केवल भारतवर्ष के लिए और न केवल समूचे मानवीय जगत् के लिए, वल्कि समूचे अस्तित्व—चराचर, वनस्पति, पशु-पाखी, कीट-पतंगों के लिए भी मंगल-घड़ी थी। सचमुच अरुणा, आकाश की वजाय धरती

पर एक और रवि उदित हुआ था। ऐसा ही था उस रवि का वर्चस्व, उसका आलोक जो रात के अंधकार में भी उसी तप-तेज के साथ जगमगाता है।

लेकिन मेरी बदकिस्मत कमजोर आंखें कई बरसों के बाद उस आलोक को देख सकीं। मुश्किल से कोई तीन बरस ही तो हुए हैं, धरती की इस अपूर्व आलोक-रश्मि को कुछ-कुछ देख सका हूं, चौंधियाई आंखों से पलकें टमकारते हुए कुछ-कुछ झेल सका हूं। समझने में शायद कुछ और समय लगेगा। पढ़ता तो ठेठ बचपन से रहा हूं। पर अब गहराई से अहसास होने लगा है कि पढ़ने और समझने में जबरदस्त भेद है। शायद तुम्हें पता हो, न भी हो—फिर भी यह जान कर बड़ा अचरज होगा कि रवि-बाबू अपनी मां की चौदहवीं संतान थे। यदि आजकल की तरह परिवार-नियोजन का लफड़ा होता तो वह चौदहवीं सन्तान तो अजन्मा ही रह जाती, अरुणा! क्या कोई भी गणितज्ञ या अर्थशास्त्री यह हिसाब लगा सकता है कि धरती के रवि इस नियोजन से अजन्मे रहें तो संसार को अधिक क्षति होगी या आबादी की अविरल वृद्धि से? मेरी औंधी खोपड़ी का हिसाब तो कुछ दूसरा ही है। इस पर विस्तार से मशविरा तो फिर कभी करूंगा, पर किसी धाकड़ अर्थशास्त्री के सामने अपना यह विनम्र दावा तो पेश कर ही सकता हूं कि यह विकट समस्या निरंतर बढ़ती आबादी की नहीं, बल्कि सामाजिक वितरण के गलत हिसाब की है। यह सहनशीला विपुला धरती मनुष्य तो क्या किसी भी प्राणी, पर्वत, समुद्र या जंगल की बढ़ोतरी का कितना ही भार वहन कर लेगी, पर मनुष्य की विकृत बुद्धि का, उसके असह्य अहंकार का, उसकी गलत योजनाओं का, उसकी सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक गलत व्यवस्थाओं का भार वहन नहीं कर सकती। प्राकृतिक नियंत्रण का काम मनुष्य अपने हिंसक हाथों से छोड़ कर स्वयं प्रकृति के ही जिम्मे रहने दे तो ज्यादा कल्याणकारी है। यदि संख्या ही मानवीय औचित्य की अन्तिम निर्णायक है तो उसे नियंत्रित करने की दोगली नीति क्योंकर संगत है? पेड़-पौधे, झाड़-झंखाड़ या समस्त वनस्पति से उत्पन्न बीजों के पुनः अंकुरित होने का अनुपात कितना अकिंचन है, जानती हो? जन्म, मरण, संवृद्धि या नियंत्रण का प्रशासन प्रकृति के हाथ से हथियाने का यह मानवीय भ्रम ही सम्पूर्ण चराचर के लिए घातक है। यह सब कुछ ले डूबेगा! एक रवि के उदित होने से मनुष्य के द्वारा प्रज्वलित अरबों-खरब रोशनियां तिरोहित हो जायें तो अनंत आलोक में कहीं कुछ भी कमी नहीं पड़ती। अब तो मनुष्य को यह हिसाब अन्तिम रूप से समझ ही लेना चाहिए, अरुणा!

मेरी आंखों में इस रवि की पहली किरण फूटी थी १४ मई १९८४ की रात। शायद आकाश का सूरज उगने से चार घड़ी पहले यह किरण मेरी पुतलियों में पैठी थी। अंतस के अतल अंधियारे को छेकती हुई बहुत गहरी पैठी थी। केवल इसी कहानी पर मैंने प्रथम पारायण की तारीख टीप रखी है। मेरे जीवन की सर्वोपरि मांगलिक वेला थी वह। तब से न जाने कितनी बार 'स्त्रीर पत्र' का पारायण कर चुका हूं। और हर बार मुझे यह पत्र सर्वथा नया ही महसूस होता है। प्रकृति की तरह न मालूम कितने अगणित रूप हैं इसके! हर बार इन कजरारे अक्षरों की तह में मुझे एक नया ही आलोक नजर आता है। और हर बार इस कहानी का पाठ करने के पश्चात् मैं वही मर्मज्ञ नहीं रहता, बार-बार

वदलता रहता हूं। अपनी ही आंखों के सामने अपनी एक नयी मूरत उघड़ने लगती है। मैं अपने-आपको खोज कर प्राप्त करने में कुछ-कुछ कामयाव होने लगा हूं। और अव मेरी दृष्टि में मनुष्य की यह वैयक्तिक खोज ही साहित्य व कला को परखने की सही कसौटी है। तुम्हारी भी तो यही मान्यता है न?

हिन्दी अनुवाद से मन भर गया तो मुकुन्द लाठ से डरते-सहमते रवीन्द्र रचनावली का तेईसवां खण्ड मांगा, जिसमें यह कहानी जड़ी हुई थी। मुकुन्द ने अकृत्रिम भाव से वखुशी वह पोथी मेरे हवाले कर दी। शायद दास कवीर को भी यह पोथी पढ़ कर वितृष्णा की वजाय खुशी ही होगी। फिर तो मेरा हौसला भी खुल गया। कुछ दिन पश्चात् मैंने पुनः अपनी इच्छा प्रकट की तो उसने उसी सहज भाव से वह अमूल्य खजाना मुझे सौंप दिया—सम्पूर्ण रवीन्द्र रचनावली की सत्ताईस तिजोरियां—एक-से-एक वढ़ कर कोहनूर हीरों से भरी हुई! काश! एक भी आतंकवादी खुलेआम ऐसी डकैती करता, जिस से लेने वाला और देने वाला दोनों अपने-आप को उपकृत महसूस करते हों।

अरुणा! यह जान कर तुम्हें वाकई वड़ा आश्चर्य होगा, मुझे भी क्या कम हुआ था कि इस कहानी की जड़ें सर्वत्र विखरी-फैली हैं—उनके निवंधों में, शांतिनिकेतन के प्रवचनों में, छिन्न पत्रों में, भानुसिंह पत्रावली में। रूंख तो अपने समग्र फैलाव के साथ ही सुन्दर लगता है। एक टहनी या एक पत्ते में उसका आनन्द नहीं है। लिखने के निमित्त रवि-वावू की खातिर केवल लेखनी व शिक्षा ही काफी नहीं थी। वे हृदय से लिखते थे, आत्मा से लिखते थे। उनकी रचनावली के एक-एक अक्षर में—उनके रक्त का प्रवाह, हृदय की धड़कन, आत्मा की सांसें या यों कहूं कि उनके व्यक्तित्व का अणु-अणु आप्लावित है। वे अपना सम्पूर्ण जीवन शब्दों में निःशेष कर गये हैं। अव तो वे हर शब्द में प्रति पल नया जन्म ग्रहण करते रहेंगे।

उनकी आत्मा में सत्य केवल एक ही था। उसे चाहे आर्य-सत्य कह लें, ब्रह्म-सत्य कह लें या वौद्ध-सत्य कह लें—यह तो मानवीय भाषा की लाचारी है, अरुणा। वर्ना वह सत्य तो किसी भाषा के शब्दों द्वारा परिभाषित या विश्लेषित नहीं हो सकता। उस परम-सत्य को जव वे गीतों में गुनगुनाते हैं तो वह 'गीतांजलि' का स्वरूप ग्रहण कर लेता है, जव उपन्यास में निःसृत करते हैं तो वह 'चोखेर वालि' या 'योगायोग' का वाना धारण कर लेता है। जब उसी सत्य को प्रबंध के निर्झर में प्रवहमान करते हैं तो वह 'आत्मबोध' के रूप में बदल जाता है। कथा की शैली में प्रकट होने पर 'स्त्रीर पत्र' का वेश धर लेता है। प्रवचनों में मुखरित होने पर 'शांतिनिकेतन' के विभिन्न निबंधों में छिटक पड़ता है। चिट्ठी-पत्री में वरसने पर 'छिन्न-पत्र' या 'भानुसिंह पत्रावली' में रिसने लगता है। वीणा के तार छेड़ने पर रवीन्द्र-संगीत के अनहद नाद में झंकृत होने लगता है। वही सत्य आलोचना लिखते समय 'छेलेभुलानो छड़ा' या 'ग्राम्य-साहित्य' में घुमड़ने लगता है। काव्य-शास्त्र की चर्चा में 'छंद' के बहाने थिरकने लगता है। यही तो लिखने की—नहीं-नहीं वरसने की, अपने-आप को रिक्त करने की सार्थकता है। और रवि-वावू ने अपने सृजन की हर पंक्ति में स्वयं को निःशेष करके समस्त विश्व-जगत को समृद्ध किया है।

मेरी खाम खयाली ही समझो कि अपने प्रवचनों के दौरान रवि-बाबू की प्रखर ज्योति-किरणें शांतिनिकेतन के शिष्यों का मानस जरूर टोहती रही होंगी। अपने शाश्वत विचारों के अनुरूप उनके अवचेतन में किसी-न-किसी मृणाल की धुंधली छवि अवश्य उभरी होगी। यह मृणाल अकेले रवि-बाबू की नहीं, भारतवर्ष के समस्त ऋषि-मुनियों की मानस-पुत्री है। उनके प्रबंधों में यत्र-तत्र परिव्याप्त इस कुंकुम कन्या को मैंने अन्वेषित कर लिया है कि किसी एक स्वर्णिम वेला में भारतीय नारी के आदर्श रूप में याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी के प्रति उनका मन जरूर श्रद्धानत हुआ होगा। और शताब्दियों के उपरांत ऋषिवर याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी ने 'स्त्रीर पत्र' की इस अपौरुषेय-कथा में फिर से जन्म लिया है—शरत् की बहन के रूप में। दोनों भाई-बहन एक-दूसरे के पूरक हैं—निर्धूम अग्नि-पुंज के प्रतीक, रत्नगर्भा-कोख के एकमात्र दावेदार!

वास्तव में सही बात तो यह है, अरुणा, कि तात्त्विक रूप से दो या तीन कथाओं में ही मानवीय-संसार के समस्त आख्यान सन्निहित हैं। घूम-फिर कर वे ही दो या तीन कथाएं विभिन्न काल, विभिन्न स्थानों की सीमा का अतिक्रमण करके अपना विभिन्न स्वांग बदलती रहती हैं। मनुष्य का विवेक ही उसका सर्वोपरि वरदान एवं उसका जघन्यतम अभिशाप है। और इन्हीं दो हलके-भारी पाटों के बीच त्रासद-कामद कथाओं की चाकी अनादिकाल से चली आ रही है और अनन्त काल तक चलती रहेगी। इसी सार-तत्त्व को मृणाल के चरित्र द्वारा उजागर करने के लिए रवि-बाबू ने इस कहानी की सृष्टि की, जो पुरातन काल से अक्षुण्ण चली आ रही उन्हीं दो या तीन कथाओं का एक नया ही रूपांतर है। मनुष्य का मन भी अबोध बच्चे की तरह नितांत चंचल व अस्थिर है जो एक रूप में ही अधिक देर तक खोया नहीं रह सकता। परिवर्तित विभिन्न रूपों में ही उसे सत्य दृष्टि-गोचर होता है। निरंतर एक ही बाने में सत्य अरुचिकर हो जाता है। और उसी चरम-सत्य को इस कहानी के माध्यम से प्रस्तुत करते समय रवि-बाबू इतने आविष्ट हो गये कि अपनी किसी रचना में समाज के प्रति इतने निर्मम, क्रूर और बेदर्द कभी नहीं हुए। चाबुक के बदले भीम की गदा हाथ में लेकर उन्होंने ठौर-कुठौर रूढ़िगत समाज की रुग्ण रीति-नीति पर प्रहार किया है। जिस रीति-नीति के अंधकार ने सब को आच्छन्न कर रखा है। कितनी तुच्छ है इस रीति-नीति पर चलने वाले मनुष्य की जीवन-यात्रा! 'कितने तुच्छ हैं—इसके बंधे नियम, बंधे अभ्यास, बंधी हुई बोली और इन सबकी बंधी हुई मार!' किन्तु मृणाल के अलावा परिवार में इस कदीमी ढर्रे के प्रति किसी का भी प्रतिरोध नहीं है—न उसकी जेठानी का, न उसके पति का, न उसके जेठ का—सभी तो इसके अभ्यस्त हैं। बिन्दु के ससुराल वाले और उसके चचेरे भाई तो अपने निहित-स्वार्थ के वशीभूत इस ढर्रे को गति प्रदान करते हैं। क्योंकि इस ढर्रे की वजह से ही उनका अस्तित्व है और उनकी वजह से यह ढर्रा 'जिन्दाबाद' है! जिसकी धड़कन हृदय की बजाय शास्त्रों व नारों में स्थापित है। मृणाल की जेठानी और बिन्दु की सास का समस्त आचार-व्यवहार हृदय के बदले मिथ्या संस्कारों द्वारा अनुशासित है। हृदय नाम की बला उनके शरीर में है ही नहीं। 'वे पतिव्रता जो हैं।' किन्तु मृणाल को वह परम्परागत पातिव्रत्य-धर्म गवारा नहीं था। बिन्दु या इन्दु, किसी भी बहाने उस पारिवारिक पोखर को तिलांजलि देनी थी।

किसी भी कीमत पर, किसी भी सुख के वदले उस सड़े वदवूदार पानी से उसकी प्यास वुझनें वाली नहीं थी।

तव कैसी थी वह 'अतिरिक्त' प्यास ! आखिर किस अदृष्ट तलैया के स्वच्छ पानी की तलाश में वह घर-परिवार को छोड़ कर चल पड़ी ? पांव तले के ठोस विश्वस्त आंगन को छोड़ कर किस शून्य की तलाश में वह स्वप्नचारी की तरह पारिवारिक सुख-संपत्ति को ठुकरा कर प्रीतम के घर से निकल पड़ी ? पुरुष देहधारी किसी अन्य प्रेमी या पति में उसके लिए कोई तात्त्विक भेद नहीं था। वह तो एक गंदे पोखर को छोड़ कर दूसरे गंदे पोखर से प्यास वुझाने का ही छलावा होता। उसके दिल में तो मंझली वहू के 'अतिरिक्त' कुछ और ही खमीर था। उसे तो अपने भीतर के पवित्र अमृत-कुण्ड से ही अपनी प्यास वुझानी थी। अपनी ही अस्मिता का स्वाती-जल चाहिए था उसे ! पीहर का पोखर छोड़ कर सास-ससुर, पति, खाना-कपड़ा, संपत्ति-जायदाद, सुख-सेज, मद, लोभ के गदले पानी से उसकी प्यास का कोई मेल नहीं था। वह कवि जो थी। खुली आंखों सपने देखने वाली। उसे तो कुछ 'अतिरिक्त' की ही अविकल चाह थी, अमिट तृष्णा थी। किन्तु परिवार का मुखिया पति और उसके आत्मीय-स्वजन आंखें होते हुए भी मृणाल के उस स्वरूप को पहचान कहां सके ? आज भी कौन पहचानता है ? जिस पहचान के लिए आंखों का जोर ही काफी नहीं होता, अतिरिक्त दिव्य-दृष्टि चाहिए। यह 'अतिरिक्त' की वला ही सब से वड़ी वला है, पर है एकमात्र सार्थक वला। जिसका महत्त्व मैत्रेयी के वाद केवल मृणाल ने ही समझा। और जो भी समझता है, वह मृणाल का ही प्रतिरूप है, उसकी ही प्रतिच्छवि है। मैत्रेयी की भांति उसकी चाहना के अनुरूप जिस घर में जो सुख नहीं था, उसे वह तृणवत् तिलांजलि देकर छोड़ गयी। जिस सुख के वीच रह कर वह अमृता नहीं हो सकती, उस प्रीतम की सुख-संपत्ति का वह क्या करेगी ? उसे तो अपने ही अमृत की अविकल प्यास है। जो न प्रणय-सूत्र में वंधे भर्तार के पास उपलब्ध है और न किसी अजाने अचीन्हे प्रेमी के पास। दोनों ही हैं तो आखिर किसी-न-किसी परिवार के मुखिया पुरुष ही न ! संसार के किसी भी पुरुष के पास—चाहे वह सारे विश्व का सम्राट ही क्यों न हो, मृणाल की प्यास वुझाने वाला अमृत नहीं है। उसकी दृष्टि में सभी पुरुष निर्वीर्य हैं। उसे तो स्वयं अपने ही रज की तलाश है। और वह तलाश ही उसका अमृत है, जिसे पीकर वह अमृता हो सकेगी। और विन्दु को उस तलाश का, उस अमृत का निमित्त वनना ही था।

और यहीं इसी विन्दु पर मेरी एक शंका है, जिसका समाधान तुम्हें ही करना है। कैसा भी छोटा-वड़ा लेखक क्यों न होऊं, आखिर हूं तो पुरुष ही न ! नारी के मन की थाह नहीं पा सकता। प्रकृति की तरह वह उतनी ही रहस्यमयी होती है। शायद तुम वता सकोगी कि मृणाल की अनिंद्य, अपूर्व सुन्दरता और विन्दु की वेइन्तहा वदसूरती मुझे समान रूप से आकर्षक क्यों लगती हैं ? मेरी नजर में विन्दु भी मृणाल से कम सलोनी नहीं है। क्या चरम कुरूपता की अंतिम परिणति चरम सौंदर्य में अंतर्निहित नहीं है ? मुझे तो विन्दु मृणाल के वेजोड़ सौंदर्य की ही प्रतिच्छवि जान पड़ती है। मृणाल के सौंदर्य की तह में विन्दु छिपी है और विन्दु की कुरूपता में मृणाल का सौंदर्य। शायद दोनों ही एक-

दूसरे के पूरक हैं। और दोनों को अपने पूरक प्रतिरूप की वैसी ही विकट चाहना है। तभी तो बिन्दु मृणाल के सौन्दर्य पर पागल थी और मृणाल ने भी तो बदसूरत बिन्दु को कम प्यार नहीं किया ! लेकिन हम सब के गुरुदेव ने इस रहस्य को जिस कलात्मक खूबी के साथ चित्रित किया है उसे उजागर करने का फूहड़पन नहीं करूं तो तुम्हें भी अच्छा लगेगा, क्यों अरुणा ? अजंता की बौद्ध भिक्षुणी तो बिना कुछ कहे ही सब-कुछ समझने की क्षमता रखती है। अकलात्मक सीधा-सपाट खुलासा क्या उसके मन को रुचेगा ? मेरे सुझाव पर ही तुम एक बार अजंता की किसी एक नारी-छवि से अपनी छवि का मिलान तो करो ! काफी-कुछ सादृश्य नजर आयेगा—आंखों में, स्मित मुस्कान में, धरती की माटी से मिलते-जुलते अध-सांवले वर्ण में ! क्यूं, बंकर भी तो तुम्हारे इसी सलोने रूप पर मोहित हुआ था न ? तुम नहीं बताओगी तो मैं उस से पूछ लूंगा। कुछ टेढ़ा-मेढ़ा बहक गया, बुरा तो नहीं मानोगी ? अरे हां, अभी-अभी मुझे महसूस हुआ कि बंकर का हुलिया भी किसी-न-किसी बौद्ध-भिक्षु से मिलता है। इस बार मिलने पर जरा गौर से निरीक्षण करूंगा।

इस कहानी को इतनी बार पढ़ने के पश्चात् आधुनिक 'प्रेम-विवाह' के प्रति मेरा काफी-कुछ मोह-भंग हुआ है। विवाह – चाहे प्रेम के आधार पर हो, संपत्ति के आधार पर हो ; चाहे घरवालों की रजामंदी से, जाति व धर्म के आधार पर हो ; पारिवारिक प्रपंच के अन्य सारे बंधन तो वैसे ही कायम रहते हैं। विवाह के पहले का उन्मुक्त प्रेम क्या विवाह के बाद वैसा ही पारिवारिक बन्धन नहीं बन जाता ? जब तक एक दूसरे के प्रति रहस्य की निविड़ता बनी रहती है, तब तक ही प्रेम का आकर्षण है। मेरा खयाल है कि विवाह के बाद दोनों के लिए ही एक-दूसरे का रूप बदल जाता है। न प्रेमी—वह प्रेमी रह पाता है और न प्रेयसी—वह प्रेयसी। पूर्व प्रेम की बीती हुई स्मृतियां पारस्परिक बेगानेपन को भुलाये रखती हैं। ऐतिहासिक उन्मुक्त प्रेमी जस-तस गृहस्थी के जुए को खींचते रहते हैं। मेरा तो यहां तक खयाल है, अरुणा, कि सयाने प्रेम के दौरान तो दोनों प्रेमियों के अवचेतन में भावी स्वार्थ की छद्मवेशी सूर्पणखा ही दुबकी रहती है। अलबत्ता किशोरावस्था का प्रेम तो अवश्य निश्छल, निर्मल व निःस्वार्थ होता है। बाकी उच्च शिक्षित सयाने प्रेमियों पर से मेरा विश्वास उठता जा रहा है। पारिवारिक जिम्मेवारी, आर्थिक निर्भरता, कर्त्तव्य परायणता, संतान की हित-साधना आदि मजबूरियों के सम्मिश्रण को प्रेम का ढकोसला मान लें तो बात दूसरी है, अन्यथा चाकी के वही दो पाट ! आधुनिक शिक्षित मन को बरगलाने का नया नुस्खा ! हां, अलबत्ता प्रेम शब्द का मुगालता काफी समय तक पारिवारिक गुलामी को भुलाने में सहायक अवश्य होता है। प्रेम करने के लिए वह स्वच्छंद धरती, उन्मुक्त आकाश और निःस्वार्थ वातावरण ही कहां है ? धन, परिवार, संपत्ति, चालू साहित्य, बम्बइया फिल्म, रंग-बिरंगी पत्रिकाओं और दूरदर्शन के फूहड़ पिटारे के निरीह गुलाम, मुक्त प्रेम का माहात्म्य क्या जानें ? शरत् और मृणाल जैसे सहज अकलुषित पात्र इनके आदर्श तो क्या, मरीचिका भी नहीं बन सकते ! क्यूं अरुणा, तुम्हारी क्या मान्यता है ? पारिवारिक जीवन की वही संकीर्णता, वही ओछा स्वार्थ, वही रोजमर्रा के घिनौने समझौते, संपत्ति के प्रति वे ही परम्परागत लालसाएं,

वही तेरी-मेरी का विभेद, अपना घर, अपना दरवाजा, अपना विस्तर और अपनी नींद—क्या प्रेम-निकेतन का ऐसा ही परिवेश होता है ?

इस विश्व-संसार में जन्म लेने के निमित्त, जीने के निमित्त सिवाय विन्दु के हर व्यक्ति की कुछ-न-कुछ 'शर्त' होती है। शर्त—खुशहाल परिवार की, शर्त—उच्च शिक्षा की, शर्त—रूप और सौन्दर्य की, टिकाऊ यौवन की, शर्त—उच्च पद की, शर्त—प्रचुर धन की, प्रचुर संपत्ति की। जीवन-निर्वाह के लिए यह शर्त ही सवसे वड़ी गुलामी है, जघन्य अपराध है। केवल रवि-वावू ही विन्दु के रूप में ऐसे निर्दोष पात्र की सृष्टि कर सके, विश्व-संसार में जन्म लेने के लिए जिसकी कोई शर्त नहीं थी—न रूप की, न शिक्षा की, न धन-जायदाद की और न पारिवारिक सुख की—तभी चचेरे भाइयों द्वारा, तथा नृशंस सास द्वारा उसकी यह 'सद्‌गति' हुई। स्वयं मृणाल भी तो इस शर्त से वरी कहां थी? विश्व-संसार में जन्म ग्रहण करने के लिए उसकी भी शर्त थी—अमृत और मुक्ति। किन्तु मृणाल और विन्दु तो एक ही व्यक्तित्व के दो पहलू हैं। और तो और, स्वयं वुद्ध-भगवान भी शर्त की इस वला से निर्मुक्त नहीं थे। उनकी भी शर्त थी—निर्वाण। पर विन्दु की कोई शर्त नहीं थी। इसी कारण वह मेरी दृष्टि में सवसे महान है। इसीलिए तो 'एक दिन के प्रयोजन से वेशी जो संचय नहीं करते, हमारी प्राचीन संहिताओं में ऐसे ही द्विज-गृहस्थ की प्रशंसा की गयी। क्योंकि एक वार संचय प्रारंभ करने से हम क्रमशः संचय का यन्त्र वन जायेंगे। और तव हमारा संचय प्रयोजन को भी वहुत पीछे छोड़ कर आगे निकल जायेगा, इतना आगे कि वह प्रयोजन को भी वंचित और पीड़ित करने लगेगा।' रवि-वावू के इस विचार को अपने आचरण द्वारा मुक्ति प्रदान की थी मृणाल ने। मैत्रेयी की उत्तराधिकारिणी मृणाल ने। 'जिस प्रकार गाछ-विरछ को जड़ों द्वारा धरती में जकड़ कर पकड़ने की शुरू से ही आवश्यकता है, हमें भी ठीक उसी प्रकार असंख्य स्थूल तथा सूक्ष्म जड़ों द्वारा सत्य पर प्रतिष्ठा-लाभ करने की आवश्यकता है।' इसी सत्य की खोज में मृणाल ने गृह-त्याग किया था। मीरा की तरह वह भी न तो अपने जीवन से हताश हुई थी और न अपने सत्य से विचलित। मनुष्य-जीवन की यह सहज सिद्धि ही आज के तकनीकी उत्कर्ष की होड़ में सर्वथा असाध्य और दुर्वोध हो गयी है। नितांत कृत्रिम और अस्वाभाविक जीवन-यापन उसकी दिनचर्या का आम ढर्रा हो गया है। न जाने कव मनुष्य अपने इस स्वाभाविक रूप को पाने में कामयाव हो सकेगा ? निकट भविष्य में तो कोई आशा नजर नहीं आती, अरुणा। मृणाल के सहज जीवन का अनुकरण तो दूर, आज उसे समझना ही दुश्वार हो गया है। वाहर के विकास की अनंत वहवूदी ने आधुनिक मनुष्य को भीतर से एकदम दिवालिया कर दिया है। मृणाल का सहज स्वाभाविक जीवन पागलपन में शुमार हो गया है और विन्दु की सास का अस्वाभाविक पागलपन समस्त मानवीय-संसार का अनुकरणीय आदर्श। समझ रही हो अरुणा, आधुनिक जीवन की इस निदारुण त्रासदी को। तुम नहीं समझोगी तो फिर कोई नहीं समझ सकेगा कि रवि-वावू ने आधुनिक प्रदूषण के परिप्रेक्ष्य में किस सफाई से अपने वैचारिक सांचे में मृणाल का चरित्र निर्मित किया है—एकदम गणित के नियमों की तरह निर्दोष, फिर भी कला की अलंघ्य ऊंचाई के साथ। मानो सहज नैसर्गिक भाव से मृणाल वनस्पति की भांति

उनकी आत्मा से उपजी हो। 'आत्मा द्वारा विश्व-आत्मा में प्रवेश करना ही तो हमारी साधना का लक्ष्य है।' और इसी परम लक्ष्य-पूर्ति के निमित्त मृणाल के रूप में रवि-बाबू ने विश्व-साहित्य में एक ऐसे बेजोड़ चरित्र का निर्माण किया जो उनकी बुद्धि का नहीं, उनकी आत्मा का ही विशुद्ध रूप है। जिसका पवित्र प्रेम केवल आत्मीय जनों तक ही प्रतिबद्ध नहीं है। रक्त-संबंध के नाते बिन्दु मृणाल के जेठ की साली थी, जेठानी की छोटी बहन थी, पर उसे बेइन्तहा प्यार किसने किया? मृणाल ने। बहन और बहनोई से तो उसे ठण्डी उपेक्षा, प्रताड़ना व लांछना ही मिली। मृणाल का सहज स्वभाव ही ऐसा था कि वह 'जिस बात को अच्छा समझती है, उसे किसी और की खातिर बुरा मानना उचित नहीं जान पड़ता।' इसलिए उसके प्रेम की सीमा केवल स्वजाति के मनुष्य तक ही सीमित नहीं है, वह घर की गाय को भी उसी आत्मीयता से प्यार करती है, खुद न खाकर गो-बछड़ों को लुक-छिपकर खिलाती रही। पशु-पक्षियों के प्राण कोई मनुष्य की हंडिया में सीझने के लिए नहीं बने, इस मर्म को जितना मृणाल समझ सकी, उतना भला कौन समझ सका है? तिस पर अहिंसा के बारे में कोई प्रवचन नहीं, वाग्जाल का प्रदर्शन नहीं। अपने प्राणों की पीड़ा के समान ही वह भेड़े की 'आत्मा' का दरद समझती है। वह किसी अकेले पति की रमणी या भार्या नहीं, सारे विश्व की मां है। हर इंसान उसका आत्मीय है, विश्व-जगत का हर प्राणी उसका अपना है—अपने शरीर से भी ज्यादा अपना!

आज के प्रदूषित मानवीय संसार में मृणाल के समकक्ष व्यक्तित्व का तो सपना ही दुर्लभ हो गया है—इसी कारण साहित्य-जगत में रवि-बाबू ने तल्लीनता के अतिरेक में मृणाल की ऐसी असाधारण छवि उकेरी, जो बीते हुए कल से आज ज्यादा प्रासंगिक है और आने वाले कल के लिए और भी ज्यादा प्रासंगिक होगी। 'क्योंकि नाना प्रकार की आसक्तियों के निविड़ आकर्षण में हमारी प्रकृति पत्थर के समान एकदम कठोर हो गयी है।' पर इसके विपरीत मृणाल का 'त्याग कोई शून्यता नहीं, अधिकार की पूर्णता है। नाबालिग जब तक सम्पत्ति का पूर्ण अधिकारी नहीं हो जाता, तब तक दान अथवा विक्रय नहीं कर सकता। उस समय तो उसे केवल क्षुद्र भोग का ही अधिकार रहता है, त्याग का महत् अधिकार नहीं। हम जिस अवस्था में केवल संचय ही करते हैं, दान करके उस में प्राण की स्थापना नहीं करते, उस अवस्था में संचित सामग्री के संबंध में हम को स्वाधीनता प्राप्त नहीं होती।...यदि केवल लेना ही एकमात्र बड़ा मानें तो हम आबद्ध हो जाते हैं और यदि देना ही एकमात्र बड़ा मानें तो हम सब से वंचित हो जाते हैं। यदि कर्म—मुक्ति-विवर्जित हो तो हम दास हो जाते हैं और यदि मुक्ति—कर्म-विहीन हो, तो हम विलुप्त हो जाते हैं। इसलिए ईसा ने कहा है—जो धनी हैं, उनके लिए मुक्ति अत्यंत कठिन है, क्योंकि जो धन वे छोड़ नहीं सकते, वही धन उन्हें जकड़ लेता है। इस बन्धन को जिसने जितना बड़ा किया है, वह उतना ही विपद्‌ग्रस्त हुआ है।' और इसी तुच्छ धन का, घर-परिवार का तथा अकिंचन संसार का परित्याग करके मृणाल मुक्ति की तलाश में, अमृत की खोज में निर्द्वन्द्व निकल पड़ी; ताकि वह अमृता हो सके। समझ नहीं पड़ता, अरुणा, कि इस छोटी-सी कथा की बंधन-मुक्त नायिका मृणाल—मैत्रेयी की प्रतीक है,

गौतम-बुद्ध की प्रतीक है, महावीर की प्रतीक है, ईसा की प्रतीक है, मीरा की प्रतीक है या स्वयं रवि-बाबू की ?

और अरुणा—मृणाल की प्रतीक हो तुम स्वयं, उस नाम की मर्यादा तुम्हें हर कीमत पर निबाहनी होगी। यही मौका है, जीवन का एक-एक अमूल्य क्षण उड़ता जा रहा है। तुम और बंकर दोनों ही कुछ-न-कुछ लिखने की नियमित साधना करो। बहुत-अच्छा लिख सकोगे। प्रेम और निष्ठा के सम्मिश्रण का ही दूसरा नाम प्रतिभा है। वह तुम दोनों में आकण्ठ, लबालब भरी है। फिर किस बात की दुविधा है ? केवल एक बार दृढ़ संकल्प कर डालो और कलम हाथ में थाम लो। भाषा तो छाया की तरह तुम्हारा पीछा ही नहीं छोड़ेगी। मेरी तरह तुम्हें मृणाल से प्रेरणा हासिल नहीं करनी है, तुम तो स्वयं मृणाल का छोटा-मोटा प्रतिरूप हो। त्रासदी केवल इतनी ही है कि अपनी प्रतिभा का माकूल कूता नहीं कर सकीं तुम। कुछ-न-कुछ स्पर्धाजनक काम किये बिना वापस अजन्ता की गुफा में मत लौट जाना, मुझे तुमसे भरकम अपेक्षाएं हैं, बोलो निराश तो नहीं करोगी ? इसके लिए तुम्हें भी मृणाल की तरह त्याग करना पड़ेगा। 'त्याग किये बिना स्वाधीनता की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिस वस्तु का हम परित्याग नहीं करेंगे, वही वस्तु हमें पूर्णतया आबद्ध कर लेगी, केवल त्याग के द्वारा ही हम मुक्त हो सकेंगे।' बिलकुल मृणाल की तरह माखन बढ़ाल की संकरी गली से मुक्त, घर-संसार से मुक्त। 'हम जिसे छोड़ कर बाहर न आ जायें, उसे हम पा नहीं सकते। गर्भ में आवृत शिशु अपनी मां को पा नहीं सकता—वह जब नाड़ी का बन्धन काट कर भूमिष्ठ होता है, स्वाधीन होता है, केवल तभी अपनी मां को पूर्णतया प्राप्त कर सकता है।' इस जगत के गर्भावरण से हमें ठीक मृणाल की ही भांति मुक्त होना पड़ेगा, अरुणा, 'तभी वास्तविक रूप में हम जगत को प्राप्त कर सकेंगे, क्योंकि स्वाधीन होने पर ही यह संभव है। भ्रूण के समान जगत के भीतर चिपके रहने से जगत को देख पाना भी असंभव है। जो मुक्त हुए हैं उन्होंने ही जगत को ठीक तरह से देखा है, जाना है और उसे पाया है।' इसीलिए तो गुरुदेव ने बार-बार सतर्क किया है और मृणाल ने तो अपने आचरण द्वारा सिद्ध किया है कि 'जो लोग संसार के भीतर दुबके हुए हैं, उस से चिपटे हुए हैं, वे तो असल संसारी नहीं हैं—जो संसार से बाहर आ गये हैं वे ही संसारी हैं—क्योंकि वे अब संसार के नहीं हैं, बल्कि सारा संसार ही उनका है। वे ही सचमुच घोषणा कर सकते हैं—संसार मेरा है।'

अब तुम्हीं बताओ अरुणा, कि माखन बढ़ाल का घर छोड़ कर मृणाल घाटे में रही या हम सभी जन्म-जन्मान्तर के लिए घाटे में पल रहे हैं, जो अपने-परिवार से, गोरू-बछड़े से, अशन-वसन से चिपके हुए हैं ! 'हम तो लोटे के अधीन, थाली के अधीन, भृत्य के अधीन, कथा के अधीन, प्रथा के अधीन, असंख्य प्रवृत्तियों के अधीन।' हमें न तो मुक्ति की दरकार है और न स्वाधीनता की। वैसी मुक्ति तो मृणाल को ही मुबारक हो। कहानी में तो हर कोई घर छोड़ सकता है, बड़े-से-बड़े सिंहासन को ठोकर मार सकता है, पर वास्तविक संसार में एक 'तिनके का लोभ' छोड़ना भी कठिन है। जब कि आज कल तो पैसा, पैसा और पैसा—की सर्वत्र गुहार मची है। कल्पनातीत मृणाल के सृष्टिकर्ता रवीन्द्रनाथ ठाकुर हमारे लिए कतई प्रासंगिक नहीं हैं। इस वाक्य को जरा उलट कर कहने की तुम से

इजाजत चाहूंगा, अरुणा, कि रवि-बाबू तो हर युग के लिए सदैव प्रासंगिक रहेंगे, पर हम अपने जीवन के सहज प्रसंग से निरंतर दूर हटते जा रहे हैं, कहीं ऐसा न हो कि हम अपने जीवन से ही सर्वथा बिछुड़ जायें। बहुत-कुछ तो बिछुड़ चुके हैं। मुर्दा लाश की बजाय, जिंदा लाश ज्यादा घातक होती है और खतरनाक भी। कुछ भी हो, अब संभलना लगभग असंभव है, अरुणा। मृणाल को मुबारक हो उस की मुक्ति, उस का अमृत, हमें तो अपनी गुलामी, जीवन से ज्यादा प्यारी है। उस के अमृत से हमारा जहर ज्यादा उपयोगी है, ज्यादा कारगर है। उस के बिना हमारा एक पल भी नहीं गुजर सकता। मृणाल की मुक्ति का ढोल पीटना चाहें तो हमें अपने समस्त जीवन को नकारना पड़ेगा, सो हमें किसी भी कीमत पर मंजूर नहीं। सूरज की तरह मृणाल को नकारने के लिए आंखों के दो नन्हें बटन ही तो बन्द करने होंगे।

मगर एरिक फ्रॉम का तो विश्वास है कि 'मनुष्य आस्था के बिना जिन्दा नहीं रह सकता। हमारी अपनी पीढ़ी के लिए और आने वाली पीढ़ी के लिए निर्णायक मसला यही है कि यह आस्था विवेकपूर्ण हो या विवेक-रहित। विवेक-रहित आस्था होगी—राज-नेताओं के प्रति, मशीनों के प्रति, तकनीकी विकास के प्रति या सफलता के प्रति और विवेकपूर्ण आस्था होगी उस मनुष्य के प्रति जो सृजनात्मक अनुभवों से गुजर कर उदात्त हुआ है।' गुरुदेव की उक्तियों से इस पत्र का शुभारंभ किया था और सोफोक्लीज के इस अविस्मरणीय कथन से इसका समापन करना चाहूंगा कि 'दुनिया में आश्चर्य तो बहुतेरे हैं, पर मनुष्य से बढ़ कर और कुछ भी विस्मयकारी नहीं है।' इतना विवेकशील प्राणी होने पर भी वह आज कितना मूढ़ हो गया है, जड़मति हो गया है, यह क्या कोई कम आश्चर्य की बात है? मृणाल की अपेक्षा हमारे लिए उसकी जेठानी और उसका पति ज्यादा अभिनन्दनीय हैं। शरत् की अपेक्षा बिन्दु की सास, उसके चचेरे भाई व उसका पागल परिणेता ज्यादा वंदनीय हैं। यह भी क्या कम आश्चर्य की बात है? वाकई अरुणा, दुनिया में आश्चर्य तो बहुतेरे हैं, पर मनुष्य से बढ़ कर और कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं। इसके साथ एक छोटी-सी बात और जोड़ना चाहूंगा कि दुनिया में हिंसक पशु तो बहुतेरे हैं, पर मनुष्य से बढ़ कर और कुछ भी हिंसा नहीं है।

मेरी हार्दिक इच्छा है कि इस पत्र के जवाब में तुम एक बार चार-पांच दिन के लिए गांव आओ, मृणाल के चरित्र पर जम कर चर्चा करेंगे। इस पत्र में तो उसकी शुरुआत ही नहीं हुई। पर कहानी से तो लम्बा हो ही गया। कितना अरुचिकर या निरानन्द—मैं नहीं कह सकता, तुम बताना।

मृणाल की तरह सदैव तुम्हारी भी याद आती रहेगी।

तुम्हारा
बिज्जी

पुनश्च: यदि अंग्रेजी की तरह तुम्हारी हिन्दी उतनी ही फर्राट होती तो और भी लम्बा पत्र लिखता। पर एक बात के लिए मेरा पुरजोर आग्रह है कि मेरी हिन्दी तुम्हारी समक्ष

में न आये तो शारदाजी या अनिल किसी से भी एक-एक शब्द का अर्थ अच्छी तरह समझना। इस में ढील वरती तो तुम्हें वंकर की कसम है! इस समीक्षा की खातिर मैंने कितना परिश्रम किया है, निष्ठा उंड़ेली है, आनन्द प्राप्त किया है, यह सव मिलने पर वताऊंगा, काफी-कुछ तो जानती ही हो। 'रूंख' के प्रकाशन में देर की एक वजह यह भी है। आज लिख कर मुक्त हुआ, कृतार्थ हुआ, पर संतुष्ट नहीं। जिम्मेवारी और ज्यादा वढ़ गयी है। तुम जैसे आत्मीयजनों की शुभकामनाएं और सहयोग रहे तो जिम्मेवारी की अनुपालना में मेरी तरफ से कोई खामी नहीं रहेगी। लिखते-लिखते ही लेखक वना हूं और अव लेखक वन कर लिखना चाहता हूं...वस। ००

यह पुस्तक, जोधपुर से प्रकाशित 'परम्परा' और 'रूपम' पत्रिकाओं की खातिर लिखे गये निबन्धों का संकलन है। यदि ये पत्रिकाएं न होतीं तो ये निबन्ध भी नहीं होते। समय-समय पर लिखे हुए ये निबन्ध पहली बार अपने ही हाथ की लिखावट के रूप में मेरे सामने आये, फिर पत्रिकाओं में छप कर सामने आये और आज फिर पुस्तक-रूप में मेरे सामने हैं। वक्त गुजरने के साथ-साथ अध्ययन के दौरान इन निबंधों के प्रति मेरा रिश्ता भी बदला है। तब ये जितने मेरे अपने थे, आज ये उतने मेरे अपने नहीं हैं। अपनी ही लिखी बातों के प्रति आज मेरे मन में कहीं कुछ-कुछ मतभेद पैदा हो गया है। बड़ी खुशी के साथ आज यह महसूस करता हूं कि तब के ये विचार न सम्पूर्ण रूप से मेरे अपने थे और न आज का यह मतभेद भी पूर्णतया मेरा अपना है। इन निबन्धों में अभिनिहित विचारों के प्रति अधिकार के काफी बड़े हिस्से को गंवा कर एक छोटी-सी बात हासिल की है—वह यह कि इस संग्रह के निबन्धों में अभिनिहित विचार मेरे नहीं हैं—बल्कि मैं इन विचारों का हूं, जिनकी मेरी जानकारी व मेरे अस्तित्व के बिना भी, विभिन्न लेखकों द्वारा लिखी हुई पोथियों में अपनी स्वतंत्र सत्ता है। हां, इस तथ्य तक पहुंचने और साक्षात्कार का अनुभव मेरा अपना अवश्य है।

पुस्तक पर एक लेखक के रूप में अपने नाम का 'प्रयोग' देख कर विचारों की मौलिकता के प्रश्न को सुलझाने की चेष्टा करना कुछ आवश्यक-सा प्रतीत हो गया। इन निबन्धों में प्रासंगिक स्थलों पर शब्द, भाषा, कविता, सौंदर्यबोध, ज्ञान, अंधविश्वास, धर्म, प्रेम, कला, विज्ञान और पुराणकथाओं आदि के उद्गम, विकास और उनकी ऐतिहासिक विवेचना पर काफी कुछ मगजमारी करके अधिकारपूर्ण स्वर में कुछ निश्चित मान्यताएं प्रकट करने के बाद जब यह सोचता हूं कि इन विचारों और इन तथ्यों तक पहुंचने का मेरे मानस में क्या ऐतिहासिक क्रम रहा, मेरे अपने मस्तिष्क में इन विचारों का विकास कैसे हुआ— हलफिया बयान करूं तो कहना पड़ेगा कि इस विकास-क्रम के

मौलिकता का प्रश्न

विजयदान देथा

ब्योरे का सम्पूर्ण व सही हिसाब अंतिम रूप से नहीं बतला सकता। अस्पष्ट, बिखरे-बिखरे व असंबद्ध रूप में कहीं-कहीं धुंधला-सा आभास दिखलाई पड़ता है। जहां स्वयं अपनी बातों के लिए मुझे सबसे अधिक पुख्ता व सही जानकारी थी, जहां अपनी बातों के लिए मैं कुछ अधिकारपूर्ण स्वर में कहने का एकमात्र अधिकारी था, यदि वहीं अस्पष्टता और असंबद्धता नजर आती है तो फिर अपने अनुभव, अपने काल व अपने स्थान से परे—शब्द, भाषा, कविता, लोकगीत, धर्म और प्रेम के आदि-रूप और उनके विकास की चर्चा, उनकी ऐतिहासिक विवेचना—एक विडम्बना-सी प्रतीत होती है। व्यक्ति के मानस में चेतना के निर्माण, विचारों की परिपक्वता, मौलिकता व भावना के उदय तथा विकास का पता पाना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण खोज व मनन का विषय है।

जब मैं स्वयं अबोध बच्चा था तब अपने अनुभव, अपने भाव, अपनी चेतना को समझ सकने की योग्यता का मुझ में सर्वथा अभाव था। और आज जब बड़ा हो गया हूं, समझने-बूझने की यत्किंचित् योग्यता—शिक्षा, अध्ययन व उम्र के साथ हाथ लगी है तो आज की इस अवस्था के लिए ठेठ बचपन का अनुभव एक ऐसी कहानी बन गया है जिसके प्रारंभिक पहलुओं को न सिलसिलेवार याद किया जा सकता है और न उस अनुभव की पुनरावृत्ति ही किसी तरह सम्भव है। दूसरे बच्चों को देख कर उनकी क्रियाओं में अपने अनुभव की समान अभिव्यक्तियों को अपने बुद्धि-कौशल से समझने की चेष्टा-भर की जा सकती है।

जन्म के साथ ही ज्ञानेन्द्रियों की ग्राह्य शक्ति के रूप में प्रत्येक बच्चे के मानसिक चैतन्य की आधार-भूमि तैयार होती है। वाणी की अभिव्यंजना केवल रोने तक ही सीमित रहती है। भय और प्रसन्नता की अचेतन व्यंजना आंखों व चेहरे के परिवर्तित भावों में लक्षित होती है। अपने शारीरिक अभाव—क्षुधा, तृष्णा और शारीरिक पीड़ा को व्यक्त करने का अचेतन साधन है—रोना। प्रसन्नता को व्यक्त करने का साधन है—मुस्कराना। मानसिक विकास, चेतना व ज्ञान को अनजाने ग्रहण करने के लिए प्रमुख इंद्रियां हैं—आंख और कान। दृष्टि द्वारा निरंतर अभ्यास के कारण अपने स्वजनों की मुखाकृतियों की अनजानी पहचान, प्रति दिन सम्पर्क में रहने वाले व्यक्तियों के छोटे-मोटे कार्यों का प्रारंभिक अनुकरण, कान की श्रवण-शक्ति के जरिये मां व अन्य सम्बन्धियों की आवाज का सुनना तथा उन में अभ्यास की वजह से समता और विभेद का अनजाना बोध—वाणी और भाषा के पूर्व यही तो है बच्चे की वैयक्तिक चेतना, यही तो है उसका वैयक्तिक ज्ञान! अपनी वैयक्तिकता के भीतर मूल प्रवृत्तियों के मौलिक प्रकाश का विशुद्ध अस्तित्व केवल इतना ही है।

अपने पारिवारिक दायरे में उच्चरित वाणी को सुनते रहने का क्रम, संबंधित यथार्थ की अभिज्ञता का बोध-संकेत ग्रहण करने की चेतना प्रदान करता है। शब्द और यथार्थ के सम्बन्ध को कान से सुनने, आंख से देखने, मुंह तथा अंगुलियों द्वारा स्पर्श करने से अनुभवजनित ज्ञान का अचेतन संचय होता रहता है। तब इसके साथ ही जन्मजात मूल प्रवृत्तियों की मौलिकता का विशुद्ध रूप समाप्त हो जाता है। मूल प्रवृत्तियों की स्वभावगत

चेतना व मौलिक प्रक्रियाओं के बाद पारिवारिक दायरे में व्यक्ति का सामाजिक जीवन आरम्भ होता है। परम्परागत व सामाजिक ज्ञान के सांचे में व्यक्ति की मूल प्रवृत्तियां दीक्षित होती रहती हैं। भाषा की तरह, भाषा में अभिनिहित विचार और भावना का भी सामाजिक व परम्परागत रूप है। भाषा तो केवल विचारों की अभिव्यक्ति का साधन मात्र है। भाषा के हर शब्द में एक विचार निहित है। भाषा और विचार का परस्पर अविभाज्य संबंध है। इसलिए वाणी द्वारा अभिव्यंजित विचारों की पूर्ण वैयक्तिकता व पूर्ण मौलिकता का प्रश्न नितांत भ्रान्ति है।

वाणी द्वारा उच्चरित शब्दों के माध्यम से यथार्थ को समझने की अभिज्ञता जहां से प्रारम्भ होती है, वहीं से ज्ञान का सामाजिक रूप भी प्रारंभ हो जाता है। शब्द और यथार्थ के सम्बन्ध को सुन कर समझने के बाद स्वयं अपनी तुतलाती वाणी के जरिये सामाजिक ज्ञान की अभिव्यंजना शुरू होती है।

आरम्भ में कान द्वारा सुनने के निरन्तर अभ्यास का परिमाण [क्वांटिटी] वस्तु और शब्द के सम्बन्ध को समझने की अभिज्ञता के गुण [क्वालिटी] में परिवर्तित होता रहता है। तत्पश्चात् शब्द और वस्तु की अभिज्ञता का निरंतर अभ्यास, अपने परिमाण की एक सीमा तक पहुंचने के बाद तुतलाती वाणी की अभिव्यक्ति के गुण में परिवर्तित हो जाता है।

कानों से बात को सुनने तथा मस्तिष्क द्वारा उसे निर्विलम्ब समझने और वाणी के माध्यम से बात को प्रकट करने की अभिज्ञता के बाद, [शिक्षा के मर्यादित दायरे में] लिपि की वर्णमाला के सहारे लिखित शब्द को आंख द्वारा उसी रूप में उच्चरित करने की शिक्षा आरम्भ होती है। लिपि के ये साक्षर प्रयोग आंख द्वारा सुनने के लिखित संकेत-चिह्न हैं। कान के जरिये जो कुछ भी सुना जाता है, आंख द्वारा लिपि के माध्यम से जो कुछ भी पढ़ा जाता है, उसका परम्परागत व सामाजिक रूप है। व्यक्ति की चेतना से सर्वथा भिन्न और स्वतन्त्र अस्तित्व है इसका। व्यक्ति के ज्ञान व उसकी चेतना का विकास इन सामाजिक विचारों के माध्यम से ही सम्पन्न होता है।

जिस प्रकार व्यक्ति के लिए सामाजिक परम्पराओं का अपना भिन्न और स्वतन्त्र अस्तित्व है उसी प्रकार सामाजिक परम्पराओं के लिए व्यक्ति का भी अपना स्वतन्त्र और भिन्न अस्तित्व है। सही है कि भाषा के माध्यम से व्यक्ति को परम्परागत ज्ञान की उपलब्धि होती है और यह भी सही है कि उस उपलब्धि में निहित विचारों का सामाजिक रूप होता है। किन्तु विचारों का सामाजिक रूप और व्यक्ति की उपलब्धि कभी चरम, शाश्वत और एक-सी नहीं होती, क्योंकि न सामाजिक परम्परा व्यक्ति को निष्क्रिय रूप से प्रभावित करती है और न व्यक्ति की उपलब्धि ही सामाजिक परम्पराओं के प्रति निष्क्रिय होती है। सामाजिक ज्ञान की उपलब्धि के कारण ही व्यक्ति में आत्म-चेतना का निर्माण होता है, किन्तु अपनी निर्मिति के पश्चात् व्यक्ति की आत्म-चेतना सामाजिक ज्ञान को पुनः प्रभावित करती है, उस में परिवर्तन लाती है, उसका स्वरूप बदलती है। निःसंदेह शब्द का अपना भिन्न व स्वतन्त्र अस्तित्व है, उसका अपना सामाजिक व परम्परागत इतिहास है, किन्तु जब व्यक्ति की भावात्मक अभिव्यंजना में उसका प्रयोग

होता है तब उसकी आत्मा का पुट उस में पड़ जाता है—तब वह अभिव्यक्ति आत्मपरक भी बन जाती है। सामाजिक ज्ञान और व्यक्ति के आत्म-चैतन्य की यह पारस्परिक सक्रियता सामाजिक परिवर्तनों की आधार-भूमि है। एक ओर जहां सामाजिक ज्ञान की उपलब्धि अपनी प्रारम्भिक स्थिति में वैयक्तिक मौलिकता को अपने में निःशेष कर डालती है, वहां व्यक्ति की चेतना में घुली हुई यह सामाजिक उपलब्धि परिमाण की एक सीमा तक पहुंचने के बाद व्यक्ति की मौलिकता को पुनः संप्रेरित करती है। उसे जगमगाती है। दोनों ही एक दूसरे के सम्मिश्रण से अधिक प्रकाशवान बनते हैं।

जो व्यक्ति अनुभव और अध्ययन के जरिये सामाजिक ज्ञान को अधिक-से-अधिक संचित करने की चेष्टा करेगा, वही मौलिकता को अधिक-से-अधिक व्यंजित करने का सामर्थ्य प्राप्त कर सकेगा। जो सुनेगा नहीं, वह बोलेगा क्या? जो जानेगा नहीं, वह बतलायेगा क्या? जो पढ़ेगा नहीं, वह लिखेगा क्या? जिस प्रकार बोलना, सुनने का ही एक दूसरा रूप है, उसी प्रकार लिखना भी पढ़ने तथा सुनने का ही दूसरा रूप है। किन्तु दोनों का स्वरूप समान और एक-सा नहीं होता। उन में भिन्नता होती है। दृष्टान्त का सहारा लेकर बात को स्पष्ट करना चाहें [ये दृष्टांत केवल उदाहरण मात्र हैं, कोई प्रमाण नहीं] तो कहना पड़ेगा कि—खाने से खून बनता है, चारे और बांटे से गाय के स्तनों में दूध रिसता है, किन्तु जिस प्रकार खून और खाना एक नहीं है, चारा और दूध एक नहीं है—उसी प्रकार सुनना और बोलना भी एक नहीं है, पढ़ना और लिखना भी एक नहीं है। मगर यह बात असंदिग्ध रूप से सही है कि खाना नहीं तो खून भी नहीं, चारा नहीं तो दूध भी नहीं—उसी प्रकार सुनना नहीं तो बोलना भी नहीं, पढ़ना [ज्ञान का श्रवण और अध्ययन] नहीं तो लिखना भी नहीं, सामाजिक ज्ञान की उपलब्धि नहीं तो वैयक्तिक मौलिक ज्ञान का प्रकाश भी नहीं!

तो कान द्वारा—मां, पानी, दूध, रोटी, चांद, भाई, बहन आदि शब्दों को सुन कर सम्बन्धित यथार्थ की अभिज्ञता, वाणी द्वारा सुने हुए शब्दों का उच्चारण, तत्पश्चात् लिपि की वर्णमाला से निर्मित शब्दों की पहचान, तथा अ माने अमरूद, क माने कबूतर और ख माने खरगोश की सूझ न पूर्णतया मेरी अपनी थी और न इन निबन्धों में अभिनिहित—शब्द, भाषा, कविता, धर्म और प्रेम आदि की व्याख्या व विवेचन पूर्णतया मेरे अपने हैं। शब्द, भाषा, धर्म और प्रेम के विवेचन तथा अध्ययन की आवश्यकता, अमरूद, कबूतर और खरगोश की आवश्यकता से अपेक्षाकृत बहुत ही कम है। इनकी आम शिक्षा तथा इनकी उपलब्धि का दायरा सीमित है। इन्हें जानने व समझने की अनिवार्यता मर्यादित है।

अ माने अमरूद आदि की जानकारी तथा उनकी वैयक्तिक उपलब्धि मेरी अपनी थी, उन्हें याद करके दोहराने की लियाकत मेरी अपनी थी, उसी प्रकार इन निबंधों में अभिनिहित विचारों को प्राप्त करने की लालसा व मेहनत मेरी अपनी है, उनको समझने की क्षमता मेरी अपनी है, सामाजिक ज्ञान को अधिक-से-अधिक ग्रहण करने की आवश्यकता मेरी अपनी है, अपनी शैली में उन्हें व्यक्त करने का तरीका मेरा अपना है, मेरी चेतना में सम्मिश्रित उपलब्धियों का परिवर्तित रूप मेरा अपना है, विभिन्न लेखकों व मनीषियों

के विचारों से संपर्क हासिल करने की विकल तड़पन मेरी अपनी है, ज्ञान को परम व सर्वोपरि महत्त्व की वस्तु समझने तथा उसे आत्मसात करने की कशिश मेरी अपनी है और स्वयं तक पहुंचने की तलाश मेरी अपनी है।

भाषा में अभिनिहित सामाजिक विचारों का तो न कोई आरम्भ है और न इनका कोई अन्त ही। किन्तु एक व्यक्ति के लिए अपनी जिन्दगी की शुरुआत में इन सामाजिक विचारों को प्राप्त करने का आरम्भ तो अवश्य है पर इसका कहीं अन्त नहीं है, इसलिए सामाजिक ज्ञान के रूप में व्यक्ति की उपलब्धि कभी अन्तिम नहीं होती। उपलब्धि की बढ़ोतरी के साथ विचार व ज्ञान में परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक उपलब्धि सही है, प्रत्येक परिवर्तन सही है। हर मत सही है, हर मतभेद भी सही है। सामाजिक ज्ञान के क्षेत्र में व्यक्ति की उपलब्धि न कभी गलत होती है और न कभी अन्तिम होती है। गलत कुछ भी नहीं है, अन्तिम कुछ भी नहीं है। हर व्यक्ति की अपनी समझ, अपने ज्ञान, अपनी अभिज्ञता के अनुरूप उसका सत्य होता है। किन्तु इन वैयक्तिक सत्यों की आधारभूमि सामाजिक होती है—इसी कारण सामाजिक समानता का बृहत् रूप संभव बन पाता है और इस बृहत् रूप के दौरान उजागर होती है वैयक्तिक वैभिन्न्य की स्वतंत्र अस्मिता।

मनुष्य की चेतना और उसकी अभिज्ञता के परे सत्य का अपना वस्तुनिष्ठ और स्वतंत्र रूप है। किन्तु स्वयं मनुष्य के लिए सामाजिक अभिज्ञता के अलावा सत्य का कोई भी दूसरा रूप नहीं होता। सामाजिक अभिज्ञता का सत्य और वस्तुनिष्ठ सत्य कभी भी दोनों एक नहीं होंगे। सत्य स्वयं प्रकट नहीं होता, वह मनुष्य की अभिज्ञता के साथ-साथ अपना रूप बदलता रहता है। जो समाज ने जाना है—वह समाज का सत्य है। जो व्यक्ति ने जाना है—वह व्यक्ति का सत्य है।

एकम् सद् विप्राः बहुधा वदन्ति। [एक ही सत्य को ज्ञानी लोग बहुत तरह से कहते हैं।]

सत्य को ग्रहण करने की वैयक्तिक उपलब्धियां अनेक हैं, उन्हें समझने की क्षमताएं अनेक हैं, उसकी अनुभूतियां अनेक हैं, उसकी अभिव्यक्ति के रूप अनेक हैं। प्रत्येक व्यक्ति की अनुभूति व ग्राह्य शक्ति भिन्न अवश्य होती है, किन्तु उनके अनुरूप व्यक्तियों के सामाजिक सत्य उतने भिन्न नहीं हुआ करते। जितनी बातें भिन्न हैं, उतने तथ्य भिन्न नहीं हैं। जितने रूप भिन्न हैं, उतने तत्त्व भिन्न नहीं हैं। जितनी आकृतियां भिन्न हैं, उतने पदार्थ भिन्न नहीं हैं। जितनी रुचियां भिन्न हैं, उतने मर्म भिन्न नहीं हैं। तर्जेअदाएं जितनी भिन्न हैं, उतनी भावनाएं भिन्न नहीं हैं।

ज्ञान की तरह ज्ञान की अभिव्यक्ति के माध्यम कला, शैली और उसके रूप-तत्त्व का भी अपना सामाजिक स्वरूप है, उनका परम्परागत इतिहास है, फिर भी वैयक्तिक मौलिकता जितनी शैली, रूप, अभिव्यक्ति तथा तर्जेअदा में होती है उतनी विषयवस्तु में नहीं। कहने के तरीके अनेक हैं, कहने के लिए सारवस्तु सीमित है।

व्यक्ति के जीवन में सामाजिक उपलब्धि के दो पहलू हैं। एक—व्यक्ति द्वारा सामाजिक उपलब्धियों को अपने विकास के लिए साधन रूप में वरतना। दूसरा—स्वयं अपने को ही इन सामाजिक उपलब्धियों के निमित्त समझना। एक विकास का जीवन्त

पहलू है। दूसरा जड़ता का निष्क्रिय पहलू है। विकास का जीवन्त पहलू अपने अनुभव की मौलिकता से सामाजिक उपलब्धियों को समृद्ध बनाता है, उनका रूप बदलता है। जड़ता का निष्क्रिय पहलू सामाजिक परम्पराओं को पंगु बनाता है, उन्हें उसी रूप में कायम रखने की हठीली चेष्टा करता है। जो अबोध शिशु अपनी तुतलाती वाणी में अपने भावों की यत्किंचित् अचेतन व्यंजना सहज ही कर लेता था, वही बड़ा होने पर अपने ही प्रयत्न से सामाजिक परम्परा में स्वयं को निःशेष कर सकता है। परम्परा के फन्दे को अपने गले में लटका कर कठपुतली की तरह रूढ़ियों के धागों में स्वयं को लटका रख सकता है।

मनुष्य जितने बातचीत में मौलिक होते हैं उतने लिखने में नहीं। एक बच्चा जो अपनी छोटी उम्र में टूटे-फूटे शब्दों के तुतलाते उच्चारण तथा शरीर की भाव-भंगिमाओं द्वारा मौलिक उद्‌गारों को अनजाने ही प्रकट कर लेता था, वही बड़ा होने पर कलम के जरिये वाक्यों के प्रयोग में अपनी मौलिकता को आरम्भ में खो बैठता है। बातचीत करना अथवा बोलना एक सामाजिक आवश्यकता है जो व्यक्ति को सामाजिक वरदान के रूप में अपने-आप ही प्राप्त हो जाती है। किन्तु लिखना एक वैयक्तिक प्रयास है, एक वैयक्तिक आवश्यकता है।

एक कवि, कहानी लेखक, चित्रकार, नृत्यकार और एक संगीतज्ञ आदि कलाकारों के लिए सम्बन्धित कलाओं की अभिज्ञता, परम्परागत शैलियों का अनुकरण, उनका निरन्तर अभ्यास वैयक्तिक मौलिकता की बुनियादी शर्त है। अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था में मौलिकता का अपना कोई अस्तित्व नहीं होता, किन्तु अध्ययन और अभ्यास के दौरान एक स्थिति स्वयमेव ऐसी बन जाती है कि जिस से मौलिकता के गुण का उद्‌भव होने लगता है। लेकिन कलाकार को चाहिए कि वह परम्परागत विरासत को साध्य रूप में नहीं बल्कि साधन रूप में बरते। परम्पराओं को अपनी वैयक्तिक अनुभूति से समृद्ध करने की चेष्टा करे। व्यक्ति की चेतना में प्रवेश करने पर वांछित समय के बाद सामाजिक उपलब्धियों का स्वरूप अवश्य बदलना चाहिए। क्योंकि व्यक्ति का जो अपना अनुभव है—वह उसी का अनुभव है, किसी भी दूसरे व्यक्ति का नहीं। परम्परा में उसका अनुभव जुड़ना चाहिए। मनुष्य तोता नहीं है। वह चाहे तो तोता बन सकता है। तोते से भी बदतर हो सकता है।

अ माने अमरूद से लेकर इन निबन्धों की रचना तक मैंने जो कुछ भी पढ़ा, सुना और समझा है, उस सबका निष्कर्ष या सार इन निबन्धों में है—यह कहना भी गलत कहना है। और यह कहना कि उसके अतिरिक्त भी कुछ नहीं है—यह भी गलत है। अतिरिक्त वाले हिस्से में थोड़ा बहुत 'मैं' भी हूं—बहुत ही अकिंचन रूप में। फिर भी यह सब अब तक के अध्ययन व मनन की वजह से ही है, कोई इसके बावजूद नहीं।

इन निबन्धों की रचना में जाने-अनजाने न मालूम कितने लेखकों का प्रभाव, न मालूम कितने बुरे लेखकों के प्रति अरुचि का प्रभाव, उनकी बुराइयों से बचते रहने का प्रभाव, न जाने कितने मित्रों के प्रेम व उनके व्यक्तित्व का प्रभाव, उनके प्रेम से संप्रेरित निर्बन्ध उत्साह का प्रभाव—न जाने कितने प्रभावों के मेल से इन निबन्धों की सृष्टि हुई है—

उसकी सम्पूर्ण व वैज्ञानिक जानकारी मुझे भी नहीं है। लेकिन ऐसा है जरूर, इतना अवश्य जानता हूं।

कुछेक लेखकों व मित्रों का प्रभाव तो मेरी जानकारी में है—बिलकुल स्पष्ट और तयशुदा। किन्तु उनके नामों की केवल चर्चा मात्र करके रह जाना काफी नहीं है। युक्ति-संगत भी नहीं है। यह मेरे जानने व समझने की बात है, प्रकट करने की नहीं। लेकिन आलोचना के क्षेत्र में जिस लेखक का प्रभाव मुझ पर सबसे अधिक पड़ा है, उसका जिक्र न करूं तो कृतघ्नता होगी। और उसके बाद दूसरा नाम शुरू करने पर तो कई लेखक हैं, फिर कहां खतम करूं समझ नहीं पड़ता। इसलिए केवल एक नाम लेकर ही सब्र करना चाहूंगा। वह लेखक है—क्रिस्टॉफर कॉडवेल। उसकी शैली, उसके विचार और उसका जीवन, इन तीनों ने मुझे समान रूप से प्रभावित किया है। अपनी बात के लिए वक्त पड़ने पर एक लेखक को अपनी जान तक देने में हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए, यह बात जितनी आसानी के साथ मुझे कॉडवेल के जीवन से समझ में आई, उतनी और कहीं से नहीं आई। न जाने कितनी बार कितनी तन्मयता से मैंने उसकी रचनाओं को पढ़ा है और कितना उन पर लट्टू हुआ हूं, उसे केवल मैं ही जानता हूं।

और उस तन्मयता का आज परिणाम यह हुआ कि साहित्य व कला के प्रति कॉडवेल के काफी कुछ विचारों से मैं सहमत नहीं हूं। किन्तु यह समझ बहुत कुछ उसी की दी हुई है, इस से इन्कार नहीं करूंगा। उसकी मौत ने मुझे रह-रह कर जीवन दिया है। उसका यह सबक हमेशा याद रखूंगा कि मनुष्य न कुत्ते की तरह जिये, न कुत्ते की तरह मरे।

एक लेखक के नाते मेरी सबसे पहली और आखिरी तमन्ना यही है कि मेरा मगज मेरे पेट की खुराक न बने। शरीर का राजा मस्तिष्क मेरे पेट का गुलाम न बने। जरूरत पड़ने पर शरीर का गोश्त नोच-नोच कर पेट की अंतड़ियों के हवाले कर दूं, पर किसी भी कीमत पर अपने अक्षरों व अपनी कलम को गिरवी न रखूं। मेरी कमर झुक जाये पर मेरी कलम नहीं झुके। मेरे अक्षरों को धन की लालसा न हो, मेरे शब्दों को सत्ता का भय नहीं हो, मेरी रचना में यश की बू नहीं हो—एक लेखक का सबसे बड़ा श्रेय यही है। बात बहुत बड़ी है—मेरा हौसला बहुत छोटा है। मेरी क्षमता बहुत नगण्य है। अपने सुने हुए और पढ़े हुए हर शब्द से यह आशीर्वाद चाहता हूं कि वे मेरी यह टेक निभायें। बड़ा लेखक न बन सकूं न सही। अच्छा नहीं लिख सकूं न सही। ज्यादा नहीं लिख सकूं न सही। पर लेखक की मर्यादा को न तोड़ूं, शब्दों के गौरव को लांछित न करूं, बस इतनी भर ख्वाहिश है। आज की तमन्ना तो यही है—कल का कोई भरोसा नहीं। किन्तु जिस दिन भी मेरा यह भरोसा टूटे तो मेरे अक्षरो तुम उसी क्षण मेरा गला घोंट देना। यदि इस में ढील हो गई तो मेरी बदली हुई हैवानियत तुम्हारा ही गला घोंट डालेगी। तुम्हारे गौरव को बेच कर मैं अपना गुजारा नहीं करना चाहता। तुम्हारी हत्या करके मैं अपनी जिन्दगी बसर नहीं करना चाहता। मुझे लेखक नहीं बनना है, लेखक की मर्यादा का पालन करना है।

मेरे गाये गायेगा तो खत्ता घणेरा खायेगा।
मेरे खोजे खोजेगा तो तीन लोक को सोजेगा।।

कबीर की इस अमर वाणी के साथ मैं अपनी भूमिका समाप्त करता हूं। और कवि की इस एकमात्र सीख को गांठ बांध कर साहित्यकार के जीवन का प्रारंभ करता हूं। अब तक तो उसकी तैयारी में लगा था। ००

प्रकृति तथा मानव-जीवन में समाहित निसर्ग-सौंदर्य के प्रति सहज आकर्षण की ललक पशुओं की तरह मनुष्य में भी एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। पर्वत, नदी, बादल, समुद्र, वनस्पति, रंग, नक्षत्र, चांद, ध्वनि आदि इन प्राकृतिक उपकरणों के प्रति सहज अनुराग तथा मानवीय जगत में पुरुष की नारी के प्रति एवं नारी की पुरुष के प्रति आसक्ति; यौवन, शैशव एवं समवयस्कता के प्रति प्रेमभाव इत्यादि ये सांवेगिक भावनाएं जन्मजात प्रवृत्तियां हैं। यह आकर्षण अथवा सौंदर्य, वस्तु में है या व्यक्ति में या दोनों का परस्पर अद्वैत सम्बन्ध है—यह दर्शन-शास्त्र का विषय है। और शारीरिक-धर्म की इन मूल-भूत प्रक्रियाओं की वैज्ञानिक जांच-पड़ताल जीवशास्त्र का विषय है। हालांकि मनुष्य के इन प्रकृतिगत रागात्मक सम्बन्धों का शिक्षा, संस्कार, संस्कृति, दर्शन तथा परम्परा के समवेत प्रभाव द्वारा आंशिक परिवर्द्धन और उनका यत्किंचित् सामाजीकरण होता है; फिर भी इनके मूलभूत स्वरूप में विशेष परिवर्तन की संभावना नहीं बन पाती। इसलिए आज दिन भी मनुष्य की इन स्वाभाविक सौंदर्यानुभूतियों का जवाब जीव-विज्ञान ही के पास है। सौंदर्यशास्त्र इस रहस्य को उद्‌घाटित करने में काफी-कुछ असमर्थ है। सभी विज्ञान एक दूसरे के पूरक होते हुए भी अपनी कुछ भिन्न विशेषता रखते हैं। इसलिए सौंदर्य-शास्त्र प्रकृति तथा मानव जीवन में निहित सौंदर्य का विज्ञान नहीं, बल्कि कला में निहित सौंदर्य का विज्ञान है। वह सुन्दरता के नहीं—कला के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है।

इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं—कला के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले सौंदर्य-शास्त्र का जीव-विज्ञान, दर्शन-शास्त्र या मनोविज्ञान आदि अन्य विज्ञानों से कोई वास्ता नहीं। वास्ता है—और बहुत करीब का वास्ता है। कला के सिद्धान्तों की वैज्ञानिक व्याख्या के लिए मनुष्य से सम्बन्धित जितना भी आवश्यक है—वह सब हमें विस्तार-पूर्वक जानना पड़ेगा। क्योंकि वह मनुष्य ही है जो कला की सृष्टि करता है, कला से रस

सौंदर्यबोध की समस्या

विजयदान देथा

ग्रहण करता है। जिस प्रकार स्वयं मनुष्य की देह और उसकी चेतना को टुकड़ों में नहीं बांटा जा सकता, उसी प्रकार मनुष्य से सम्बन्धित विज्ञान व कलाओं को भी परस्पर विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। तात्त्विक प्रमुखता की वजह से सभी विज्ञान एक दूसरे से भिन्न भी हैं और मानवीय समानता की वजह से परस्पर समान भी। अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए भी ये एक दूसरे से विच्छिन्न नहीं हैं। इसलिए सौंदर्यशास्त्र को केवल अपने ही में सम्पूर्ण रूप से नहीं जाना जा सकता।

जिस प्रकार हर रंग और रेखा चित्र नहीं है, हर ध्वनि संगीत नहीं है, शरीर की हर भाव-भंगिमा नृत्य नहीं है, वस्तु की हर आकृति शिल्प नहीं है, हर शब्द साहित्य नहीं है—उसी प्रकार हर ध्वनि, हर मुद्रा, हर रंग व रेखा और हर आकृति से प्राप्त होने वाला आनन्द कला का आनन्द नहीं है। कला के आनंद के लिए तत्संबंधी ज्ञानेन्द्रियों का माध्यम आवश्यक है, किन्तु इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होने वाला प्रत्येक आनन्द कला नहीं है। इसलिए सौंदर्यशास्त्र इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले प्रत्येक आनन्द, प्रत्येक रस, और प्रत्येक सौंदर्यानुभूति की व्याख्या नहीं करता।

भाषा पहले है और व्याकरण वाद में। भाषा से आगे व्याकरण की न सीमा है और न गति। व्याकरण कोई भी ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं कर सकता—जिसका भाषा के आम-प्रचलन में स्वयं अपना अस्तित्व न हो। इसलिए स्वयं भाषा ही व्याकरण की निश्चित सीमा है। इसी प्रकार कला पहले है और सौंदर्यशास्त्र वाद में। कला से आगे सौंदर्यशास्त्र की भी सीमा नहीं है। इसलिए सौंदर्यशास्त्र कोई भी ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं कर सकता जिसका कलाओं के आम-प्रचलन में स्वयं अपना अस्तित्व न हो। अतएव स्वयं कला ही सौंदर्यशास्त्र की निश्चित सीमा है। इतना सब कुछ होते हुए भी भाषा के व्याकरण और कला के सौंदर्यशास्त्र दोनों में एक मूलभूत फर्क है। कला के प्रतीकों से भाषा के प्रतीक अर्थात् शब्द अधिक पूर्ण और स्पष्ट हैं—इसलिए व्याकरण भी सौंदर्यशास्त्र से अधिक पूर्ण और स्पष्ट है। भाषा का दायरा कलाओं से बहुत अधिक व्यापक है। उसके विना तो मनुष्य और समाज का जीवन ही असम्भव है—किन्तु कला एक विशेष आनन्द है। उसका क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित है। उसकी अनिवार्यता केन्द्रित है। व्याकरण विज्ञान-सम्मत और पूर्ण है, इसलिए अपेक्षाकृत रूढ़ और परिवर्तनशून्य है। सौंदर्यशास्त्र असंपूर्ण और अस्पष्ट है—फिर भी गतिशील और विकासजन्य है। उसके सिद्धान्तों में परिवर्तन होता रहता है।

प्राकृतिक इन्द्रियों से जो प्रतीति होती है यदि वही ज्ञान है तो फिर ज्ञान के विकास का प्रश्न ही व्यर्थ है। इन्द्रियों का यह प्रत्यक्ष बोध तो आदिम मानव में भी ऐसा ही था—पशुओं में भी वही है। शारीरिक विकास को पूर्णतया हासिल करने के वाद ही मनुष्य के मानसिक जीवन की कहानी प्रारम्भ होती है। केवल मात्र ज्ञानेन्द्रियों के जरिये जब तक आदिम-मनुष्य वस्तुजगत से सम्पर्क स्थापित करता रहा, तब तक उसका जीवन पशुवत् ही रहा होगा। ठीक पशुओं ही की तरह ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जैसा-जो-कुछ भी प्रतीत होता था, वही उसका ज्ञान था। इन्द्रियों का प्रत्यक्षबोध ही उसकी वास्तविकता थी। इन्द्रियानुभूति और उसकी अंतश्चेतना में कोई अन्तर नहीं था। किन्तु भाषा के रूप

में उन सामाजिक अर्थ-संकेतों से आदिम-मानव के इन्द्रिय-बोध में एक गुणात्मक परिवर्तन आया। पहले उसे जैसा जो कुछ भी प्रतीत होता था—वही उसका ज्ञान था, वही उसकी चेतना थी। लेकिन तत्पश्चात् इन सामाजिक प्रतीकों की सृष्टि के कारण उसके अंतर्मन में अतिरिक्त चेतना का निर्माण हुआ। तब वह सामाजिक चेतना के द्वारा इन्द्रियों के माध्यम से अनुभूति ग्रहण करने लगा। उसकी इन्द्रियों का मानवीकरण हो गया। चेतना और ज्ञान के प्रकाश से उसे प्रतीति होने लगी। चेतना के नियंत्रण से ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति बढ़ी—ज्ञानेन्द्रियों की विकसित शक्ति से चेतना व ज्ञान का और अधिक विकास हुआ। ज्ञान के विकास ने ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति को पुन: प्रभावित किया। यह अविच्छिन्न क्रम निरंतर चलता रहा। इस क्रम की मूल प्रेरक शक्ति थी—मनुष्य की वाणी, जो स्वयं भी निरन्तर विकसित होती रहती थी। वाणी के विकास ने मनुष्य के सम्यक् जीवन को प्रभावित किया। उसका मध्यवित्ति-स्नायु-केन्द्र विकसित हुआ, मस्तिष्क विकसित हुआ, ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति विकसित हुई। ये सभी शक्तियां परस्पर शक्ति ग्रहण करती रहीं—परस्पर शक्ति प्रदान करती रहीं। परिणामस्वरूप समाज व मनुष्य का विकास होता रहा।

सही है कि बिना इन्द्रियों के ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता, किन्तु साथ ही यह भी सही है कि बिना ज्ञान के इन्द्रियों की शक्ति का प्रकाश सर्वथा नगण्य है। परस्पर अविच्छिन्न सम्बन्ध होते हुए भी आज मनुष्य की वास्तविक शक्ति उसका समाज और श्रम है, न कि इन्द्रियां! जिस प्रकार इन्द्रियों का प्राकृतिक-बोध, ज्ञान नहीं—बल्कि एक भ्रान्त प्रतीति है—उसी प्रकार इन्द्रियों द्वारा अनुभूत प्रत्येक आनन्द वास्तविक और सच्चा आनन्द नहीं है। जिस प्रकार ज्ञानात्मक चेतना द्वारा अनुशासित इन्द्रियों की प्रतीति वास्तविकता के अधिक सन्निकट है—उसी प्रकार कलात्मक चेतना द्वारा अनुशासित इन्द्रियों का आनन्द वास्तविकता के अधिक समीप है। कलात्मक चेतना का अपना कोई स्वतंत्र या नैसर्गिक रूप नहीं है—वह ज्ञानात्मक चेतना की आधार-भूमि पर विकसित होती है। किन्तु ज्ञानात्मक चेतना पर आश्रित होते हुए भी सत्य को व्यंजित करने की शक्ति कलाओं में अधिक गहन और तीक्ष्ण है, क्योंकि कला का सीधा सम्बन्ध इन्द्रियों से रहता है।

ज्ञान प्राप्ति के साधन—ये सामाजिक प्रतीक—मनुष्य को दैविक वरदान के रूप में एक साथ ही कहीं से अकस्मात् मिल नहीं गये थे। विकास-क्रम में उसने इन प्रतीकों को निर्मित किया है—चाहे उस निर्माण का क्रम उसकी अचेतन अवस्था में ही क्यों न सम्पन्न हुआ हो। इन अर्थ-संकेतों के क्रमिक विकास का सही ब्योरा आज बता सकना मुश्किल है; किन्तु यह निश्चित है कि नृत्य, संगीत और चित्रकला के रूप में आज जो स्वतंत्र कलाएं विद्यमान है—उनका आदिम युग में कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था। ये कलाएं ही तब की भाषा थीं। इन्हीं कलाओं से वाणी का उद्भव और विकास हुआ है। किन्तु वाणी के रूप में शब्द-संकेतों का स्वतंत्र रूप से निर्माण होने पर इन आदिम बीज-संकेतों अर्थात् भाव-भंगिमा, ध्वनि, और चित्रों का लोप नहीं हो गया। वाणी के साथ-साथ वे प्राचीन भावाभिव्यंजनाएं स्वयं अलग से भी विकसित होती गई। एक विशेष आवश्यकता

के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने पर भी एक बार जब उनका अस्तित्व निर्धारित हो गया तो वे स्वयं में ही एक आवश्यकता बन गई—सत्य को व्यंजित करने की एक नई आवश्यकता। विभिन्न समयों की तत्कालीन आवश्यकताओं ने ही आगे चल कर स्वतंत्र कलाओं का रूप धारण किया है।

विभिन्न कलाओं के द्वारा वास्तविकता को विभिन्न रूपों में व्यक्त करने वाले ये कलात्मक प्रतीक, भाषा से भिन्न होने पर भी सौन्दर्यग्राह्यता के लिए स्वयं में पूर्ण और पर्याप्त नहीं हैं। भाषा में व्यक्त ज्ञान के द्वारा परिमार्जित मस्तिष्क ही कला के सौन्दर्य को वास्तविक रूप में ग्रहण करने के लिए समर्थ होता है। कला में निहित सौन्दर्य को ज्ञान और अभ्यास की मर्मज्ञता से ग्रहण करना पड़ता है—इन्द्रियों की स्वस्थता ही इसके लिए पर्याप्त नहीं है। भाषा के द्वारा अर्जित ज्ञान पर आश्रित होते हुए भी—कला का सौन्दर्य सत्य को व्यंजित करने का उस से भी श्रेष्ठ और सशक्त साधन है। ००

इस बात की जानकारी—कि शब्दों का अपना स्वंतत्र इतिहास है, उनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है और उनका परम्परागत स्वरूप है—विज्ञान के क्षेत्र में एक बहुत ही महत्त्व-पूर्ण खोज थी। आज दिन भी बहुत से लोग सोचते हैं कि शब्द स्वयं यथार्थ है। जिस किसी रूप में वस्तु का संबोधन प्रचलित है, उसके अलावा उसका कोई दूसरा संबोधन हो ही नहीं सकता और जो वस्तु है उसे किसी अन्य शब्द के द्वारा व्यक्त किया ही नहीं जा सकता। शब्द और वस्तु में एक अलौकिक तादात्म्य निहित है। वे परस्पर किसी दैविक संबंध से आबद्ध हैं। भाषा के परम्परागत विकास-क्रम से शब्दों का कोई संबंध नहीं है, इस प्रकार की मिथ्या धारणाएं आज दिन भी प्रचलित हैं।

किन्तु आज हम जिस वैज्ञानिक आधार पर इस धारणा को मिथ्या कह सकने की क्षमता रखते हैं, यही धारणा प्राचीन युग में हमारे पूर्वजों का विज्ञान थी। वे प्रकृति और बाह्य जगत को अपनी चेतना का ही अंश समझते थे। चेतना वाणी द्वारा प्रकट होती थी, इसलिए वे वाणी को ही चेतना मानते थे। वाणी को एक दैविक या पारलौकिक वस्तु समझते थे। उनका विश्वास था कि वाणी द्वारा प्रकृति को नियंत्रित किया जा सकता है। शब्दों की अलौकिक शक्ति पर उन्हें पूरी आस्था थी। शब्द ही उनके लिए यथार्थ था और इस शाब्दिक यथार्थ को अपने अनुकूल बरतने के लिए वे उसकी पूजा-अर्चना करते थे। प्रकृति से सामना करने के लिए यह दैविक शब्द ही उनका औजार था। उनकी कला, उनका विज्ञान, उनका धर्म सभी कुछ शब्द ही में निहित था। शब्द की शक्ति उनके लिए सबसे बड़ी शक्ति थी। वैदिक ऋचाओं में वर्णित इन्द्र, पर्जन्य, वरुण, वायु, मारुत, सूर्य, संध्या, उषा, सोम, अग्नि आदि ये शब्द उनके लिए अर्थ-संकेत मात्र ही नहीं थे। ये उनके देवता थे। इन्हीं देवताओं में उनका प्राकृतिक यथार्थ सन्निहित था। उस यथार्थ को अपने हित में बरतने के लिए, अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वे ऋचाओं द्वारा उनकी स्तुति करते थे। शब्दों की मंत्र-शक्ति का तब यही तात्पर्य था।

शब्द और यथार्थ

विजयदान देथा

मानवीय भाषा का उच्चारण और उसका प्रयोग कोई प्राकृतिक देन नहीं, वल्कि मनुष्य का अपना स्वनिर्मित सामाजिक गुण है। परन्तु भाषा का निर्माण उसकी सजग चेतना का परिणाम नहीं—उसकी अचेतन क्रिया का अगोचर प्रयास है। भाषा का वैयक्तिक नहीं, सामाजिक रूप है। यह किसी समय-विशेष की उपज नहीं, वल्कि युगों से चले आ रहे अविरल काल की सृष्टि है, जिसका सृष्टा एकाकी मनुष्य नहीं, समूची मानव जाति है। किन्तु जिसका निमित्त वन सकने का श्रेय केवल मनुष्य को ही है।

मनुष्य ने नियम-कायदों के अनुसार अपने सजग ज्ञान द्वारा भाषा की सृष्टि नहीं की और न उसके निर्माण की उसे आत्म-चेतना ही थी। मनुष्य की चेतना के परे ही प्रकृति, परम्परा, वातावरण, अभ्यास व अनुकरण आदि के पारस्परिक संयोग से भाषा का प्रारम्भ और उसका विकास होता रहा। किन्तु भाषा निश्चित रूप से मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं का भौतिक परिणाम थी, कोई अलौकिक या दैविक वस्तु नहीं। इसके विकास या निर्माण का अपना इतिहास है। विकास की एक स्थिति-विशेष पर पहुंचने के बाद ही मनुष्य ने भाषा के नियमों का निर्माण किया। व्याकरण ने भाषा को जन्म नहीं दिया, वल्कि भाषा ने व्याकरण को जन्म दिया है। व्याकरण—भाषा के इतिहास में वहुत वाद की विकास-स्थिति है। इसलिए भाषा व शब्द की भांति व्याकरण का भी अपना इतिहास है, उसका अपना परम्परागत स्वरूप है और अपने नियम-कायदों का स्वतंत्र विज्ञान है।

मनुष्य के मानस में भौतिक जगत की प्रभाव-प्रक्रिया का नाम ही विचार है। या यों कहिए कि वस्तु-जगत का मानवीय विचारों में अनुवाद होता है। विचारों का साधन है—शब्द। इस प्रभाव-प्रक्रिया के भी अपने नियम-विधान हैं, अपने सिद्धान्त हैं जो स्वतंत्र रूप से संचालित होते हैं।

भाषा, व्याकरण और शब्द का एक निश्चित परम्परागत स्वरूप होने पर भी, शब्द द्वारा जिस अर्थ-संकेत का वोध होता है, उस अर्थ-संकेत का कोई निश्चित परम्परागत रूप नहीं है। शब्द स्वयं यथार्थ नहीं होता, इसीलिए तो संसार की विभिन्न भाषाओं में एक ही यथार्थ का वोध कराने वाले विभिन्न शब्द हैं। समय के दौरान एक ही भाषा के अधिकांश शब्द भी विभिन्न अर्थ-संकेत ग्रहण करते रहते हैं। आवश्यकताओं का तकाजा पुराने शब्दों को शनैः-शनै नये अर्थ प्रदान कर देता है। यथार्थ के प्रति मनुष्य की जानकारी वदलती रहती है या दूसरे शब्दों में वह विकसित होती रहती है। तब उस यथार्थ-विशेष का वोध कराने वाले शब्द का अर्थ भी बदलता रहता है। किसी यथार्थ के मिट जाने पर यह आवश्यक नहीं है कि उस से संबंधित शब्द भी मिट जाय। उस मृत यथार्थ का वोध कराने वाला शब्द किसी दूसरे यथार्थ का बोधक बन जाता है। हर नई पीढ़ी अपने पुरखों से वसीयत के रूप में 'शब्द-ज्ञान' का भंडार प्राप्त करती है और अपने नये अनुभवों द्वारा आवश्यकता पड़ने पर उन परम्परागत शब्दों को नये अर्थों का नया वाना पहनाती रहती है। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि पुराने शब्दों के केवल अर्थ ही वदलते रहते हैं और नये शब्दों का निर्माण कतई नहीं होता। सर्वथा नये यथार्थ और नये अनुभवों को व्यंजित करने के लिए नये शब्दों की सृष्टि भी होती है, किन्तु उस में

पुराने शब्दों का धातु-रूप, शब्द-संयोग, उनके रूप-परिवर्तन का आधार उस नई शब्द-सृष्टि में काफी दखल रखता है। दरअसल सच्चाई यही है कि सर्वथा नये शब्दों की सृष्टि नहीं हुआ करती। पुराने शब्दों के आंशिक परिवर्तन द्वारा नये तथ्यों की नई जानकारी होती है, यथार्थ की नई व्याख्या प्रस्तुत होती है, विभिन्न भाषाओं के शब्द-ज्ञान का आपसी आदान-प्रदान होता है, नई अनुभूतियों को नई व्यंजना मिलती है, शब्दों का प्रयोग बदलता है, भाषा का परिमार्जन होता है, किन्तु शब्द-भण्डार में वृद्धि नहीं होती।

प्राचीन ग्रंथों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि शब्द और यथार्थ के तात्कालिक संबंध को ऐतिहासिक दृष्टि से समझा जाय। क्योंकि यथार्थ का बोध कराने वाले शब्दों का अर्थ-संकेत समय और परिस्थितियों के दौरान काफी-कुछ बदलता रहता है। इसलिए बदले हुए अर्थ-संकेत से हम तात्कालिक संबंधों को ठीक से समझने में असमर्थ रहेंगे। शब्द की भांति शब्द के अर्थ-संकेत को अपरिवर्तित समझने से प्राचीन ग्रन्थों की न्याय-संगत विवेचना नहीं हो सकती, चाहे वह परिवर्तन आंशिक हो चाहे अधिक, उसको मद्दे-नजर रख कर ही हमें उनका ऐतिहासिक मूल्यांकन करना होगा।

शब्दों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व होने पर भी वाक्य या भाषा में प्रयोग किये जाने के बाद ही उन में निश्चित बोध-ग्राह्यता की सक्रिय शक्ति का संचरण होता है। इसलिए भिन्न प्रसंग, भिन्न स्थिति तथा भिन्न समय में प्रयुक्त होने पर एक ही शब्द अपने विभिन्न प्रयोगों के कारण विभिन्न अर्थों का बोधक होता है। बोल-चाल की भाषा के प्रचलित शब्द अपने 'विज्ञान-विशेष' में प्रयुक्त होने पर विशेष यथार्थ का बोध कराते हैं। प्रसंग, प्रयोग और स्थिति विशेष से विच्छिन्न शब्द की बोधग्राह्यता स्पष्ट नहीं होती। अभि-व्यक्ति ही शब्द को अर्थ की सार्थकता प्रदान करती है।

पशुओं का भी वस्तु-जगत से निकट सम्पर्क रहता है और इस सम्पर्क की भी एक वंशानुगत स्वाभाविक प्रभाव-प्रक्रिया है। पशुओं का भी यथार्थ के साथ एक जीवन्त क्रियाशील संबंध होता है। वे भी विशेष परिस्थितियों में विशेष व्यवहार करते हैं और उस व्यवहार की प्रक्रिया भी काफी निश्चित होती है। परन्तु पशु का—यथार्थ, वस्तु और स्थिति के साथ सहज और सीधा संबंध रहता है। वह यथार्थ को अपनी ऐन्द्रिक प्रक्रिया से विच्छिन्न करके नहीं देख सकता। उसके अर्थ-संकेत यथार्थ के साथ ही सन्निहित रहते हैं। यथार्थ की मूर्त सत्ता से भिन्न उसकी बोधग्राह्यता का अपना अमूर्त, निरपेक्ष और स्वतंत्र रूप नहीं है। यथार्थ ही उसके लिए शब्द-शक्ति का काम करता है। परन्तु मनुष्य की वाणी वस्तु-पदार्थ से विलग होकर स्वतन्त्र रूप से अमूर्त-प्रतीकों का निर्देशन करती है। इन अमूर्त-प्रतीकों के आधार पर ही मनुष्य का मानसिक विकास संभव हुआ है। यथार्थ और प्रभाव-प्रक्रिया के अविभाज्य संबंध के कारण पशु सामान्य में भी विशेष का अनुभव करता है, सामान्य के प्रति उसका विशेष ही संबंध रहता है; किन्तु मनुष्य की—शब्दों के माध्यम से विशेष में भी सामान्य की अनुभूति मौजूद रहती है। शब्दों के संबल से मनुष्य के सीमित-विशेष ही में विश्व का असीम-सामान्य समाहित रहता है, और पशुओं में शब्द के अभाव की वजह से वस्तु-जगत का असीम-सामान्य उनके सीमित-विशेष में समाया रहता है। इसी कारण पशुओं के प्राकृतिक ऐन्द्रिय बोध में अधिक

परिवर्तन और विकास नहीं हो पाता और मनुष्यों में ऐन्द्रिय वोध की ग्राह्यशक्ति उत्तरोत्तर समृद्ध व उन्नत होती रहती है। शब्दों के मारफत मनुष्य के मानस में निर्मित होने वाली चेतना का महत्त्व उसके ऐन्द्रिय ज्ञान से वहुत अधिक है। हालांकि उस चेतना का निर्माण ऐन्द्रिय ज्ञान के माध्यम से ही होता है। किन्तु साथ में यह भी सही है कि इस चेतना के संवल से मनुष्य ने ऐन्द्रिय ज्ञान की प्राकृतिक शक्ति को कई हजार गुना वढ़ा लिया है। इसलिए किसी मनुष्य के शव्दों की सीमा ही उसके यथार्थ व उसके ज्ञान की सीमा है— क्योंकि शव्द व भाषा के अनुपात में ही उसकी चेतना-शक्ति का विकास होता है। ००

भौतिक-जगत के विभिन्न स्वरूप—चाहे वनस्पति के रूप में हों, चाहे पशु-पक्षी के रूप में, चाहे किसी पदार्थ के रूप में—आज जितने विभिन्न दिखलाई पड़ते हैं, अपने अस्तित्व की प्रारम्भिक अवस्था में सभी का उद्‌गम-स्रोत एक ही था। एक ही अनेक का जन्मदाता है। विज्ञान की मान्यताओं ने इस सिद्धांत को पूर्णतया प्रतिपादित कर दिया है कि निर्जीव ही से जीव की सृष्टि हुई है। वस्तु-जगत की असंख्य विभिन्नताओं का बीज-रूप एक ही था। किन्तु बीज-रूप की अभिन्नता के सिद्धान्त पर हम आज की अनेकानेक विभिन्नताओं को अस्वीकार नहीं कर सकते। इन विभिन्नताओं की गतिमयता और विकास के अपने सिद्धान्त हैं, अपनी निजी क्रियाएं हैं। आज इन विभिन्नताओं को जादू की डंडी से न एक किया जा सकता है और न इन्हें एक ही समझा जा सकता है। यह विभिन्नता ही आज हमारी एकमात्र वास्तविकता है। इसी की आधार-भूमि पर हमें अपनी प्रगति और अपना विकास करना है। उद्‌भव की एकता और विकासजन्य विभिन्नता—दोनों की सम्यक् दृष्टि से सम्यक् विवेचना करने पर ही विज्ञानसम्मत निर्णयों पर पहुंचा जा सकता है।

वस्तु-जगत की तरह मानवीय जगत में भी—क्या भाषा, क्या कला, क्या विज्ञान, क्या उत्पादन के साधन, क्या धर्म, क्या वेश-भूषा, क्या अस्त्र-शस्त्र—इन सभी क्षेत्रों में आज जो अगणित विभिन्नताएं दृष्टिगोचर हो रही हैं, वे भी विकास क्रम ही के परिणाम हैं। मानवीय जगत का आदि-रूप भी एक ही था। संसार भर की भाषाओं के जो मौजूदा विभिन्न रूप प्रचलित हैं—उनका उद्‌गम भी एक था। लेकिन आज सभी भाषाओं का अपना साहित्य है, अपना भिन्न व्याकरण है, अपना विभिन्न शब्द-भण्डार है और उच्चारण के अपने भिन्न तरीके हैं। विभिन्न देशों की बात तो दूर, एक ही समुदाय विशेष की एक ही भाषा के अर्थ-संकेत, अभिव्यक्तियों के विभिन्न प्रयोगों की वजह से विभिन्न अर्थ-शक्ति का परिचय देते हैं। बोलचाल की भाषा, साहित्य की भाषा, कविता

विषय-वस्तु और भाषा

विजयदान देथा

की भापा, नाटक की भापा, विज्ञान की भाषा, धर्म की भापा—इन सभी उपांगों का मूल शव्द-भण्डार एक होने पर भी वे अपने प्रासंगिक स्थलों में भिन्न व्यंजना-शक्ति का आभास देते हैं। एक ही शव्द का—प्रासंगिक उपयोग के कारण अनेक व्यंजना-शक्तियों में तदनुरूप परिवर्तन हो जाता है।

व्यंजना-शक्ति के इन विविध रूपों का सद्याश्रित कारण मानवीय आवश्यकताओं का वैविध्य है। मानव जाति की प्रारम्भिक अवस्था में अवैविध्य जीवन के कारण, उसके रहन-सहन व उसके कार्य-व्यापारों में, व्यंजित विपयवस्तु व अभिव्यक्ति के साधनों में भी विविधता नहीं थी। सभी प्रकार की अभिव्यक्तियों का स्वरूप काव्यमय था। कविता नाम की स्वतंत्र कला के अस्तित्व की तव कल्पना भी संभव नहीं थी। लिपि की प्रारम्भिक अवस्था में चित्र और शव्द में कोई अन्तर नहीं था। चित्र ही शव्द का लिपि-वद्ध रूप था। मानव जाति के विकास-क्रम की एक स्थिति ऐसी भी थी जव उसके सामूहिक गान में कविता, नृत्य, संगीत तीनों सम्मिश्रित थे। संगीत और वाणी का अभिन्न स्वरूप था। संगीत ही मनुष्य की वाणी थी। धर्म, कला, विज्ञान और साहित्य, इन सवका एक ही रूप था।

भाषा के माध्यम से मनुष्य पशुओं की अपेक्षा वाह्य जगत के साथ संपर्क स्थापित करने में अधिक समर्थ होता है। यह अतिरिक्त सामर्थ्य मनुष्य को और भी अधिक समर्थ वनाता है। भाषा, समाज और परम्परा के जरिये मनुष्य के ज्ञान में विकास होता है; उस नये ज्ञान से भौतिक जगत के नये तत्त्वों का अनुसंधान होता है। नये तत्त्वों का सम्पर्क फिर मनुष्य के मानस में नये ज्ञान का सर्जन करता है। और वह नया ज्ञान नये तत्त्वों की खोज के लिए नई शक्ति प्रदान करता है। समय के दौरान मनुष्य को ज्यों-ज्यों वाह्य जगत की तात्त्विक जानकारी अधिक होती गई—वह स्वयं आंतरिक रूप से अधिक विकसित और शक्तिशाली होता गया और अधिक शक्तिशाली होने पर उसे भौतिक जगत की अभिज्ञता के लिए अधिक क्षमता प्राप्त होती गई। इस पारस्परिक निर्भरता का क्रम न कभी सम्पूर्ण हुआ है और न कभी सम्पूर्ण होगा। ज्यों-ज्यों वाह्य जगत के नये तत्त्वों की अधिकतम जानकारी होगी—त्यों-त्यों मनुष्य के अंतर्जगत में नई क्षमता, नये तत्त्व और नये रहस्यों का उद्‌घाटन होता रहेगा। वाह्य जगत का अधिकतम सम्पर्क ही मनुष्य की आंतरिक सम्पदा है। न उस वाह्य जगत की जानकारी कभी समाप्त होगी और न उसके आंतरिक जगत का वैभव ही कभी निःशेष होगा।

वाह्य जगत की अभिज्ञता का वैभव—विज्ञान का वैभव है। आंतरिक जगत के रहस्य का वैभव—कला का वैभव है। मनुष्य अपनी आंतरिक शक्ति के जरिये वाह्य जगत का जो भी नया परिचय प्राप्त करता है, उसे एक वैज्ञानिक शैली में व्यवस्थित ढंग से संजोकर उसे नये विषय का रूप प्रदान करता है ताकि उसकी सामाजिक उपयोगिता सुगम और सुलभ हो सके। इस तरह विज्ञान के विषयों की संख्या वढ़ती रहती है। विज्ञान के उस नये यथार्थ का वोध कराने वाले शव्दों का चयन उसी के अनुरूप हो जाता है।

विज्ञान और कला में प्रयुक्त होने वाले शव्दों की कोई भिन्न तालिका नहीं होती। कोई भी शव्द किसी भी क्षेत्र में काम दे सकता है। विज्ञान और कला के गद्य की न

व्याकरण ही जुदा होती है और न इसकी वाक्य-रचना ही। प्रासंगिक प्रयोग के बीच ही शब्द अपनी व्यंजना-शक्ति का परिचय देता है।

जहां तक कर्ता [सब्जेक्ट] और वस्तु [ऑब्जेक्ट] का प्रश्न है, सभी व्यंजित विषयों में ये दोनों ही समान रूप से उपलब्ध हैं। कला और विज्ञान के दायरे में जो कुछ भी सृजित होता है उस सबका सृष्टा केवल मनुष्य ही है। और वस्तु के रूप में बाह्य जगत भी एक ही है। फिर इन विभिन्न शैलियों में विभिन्नता का प्रवेश कैसे सम्भव होता है? इन विभिन्नताओं का कारण है—कर्ता और विषय का संबंध। इनके पारस्परिक संबंधों की विभिन्नता ही अभिव्यक्तियों की विभिन्नता का मुख्य आधार है।

मनुष्य का वस्तु जगत से जो संबंध है उसकी अभिव्यक्ति होती है—विज्ञान में। और वस्तु-जगत का मनुष्य से जो संबंध है उसकी अभिव्यक्ति होती है—कला में। यों तो बाह्य जगत का सम्यक् रूप एक ही है, किन्तु उसके तत्त्व भिन्न हैं। भौतिक जगत की यह तात्त्विक भिन्नता विज्ञान के विषयों की भिन्नता है। विषयों के अनुरूप उस 'यथार्थ-विशेष' का सम्यक् बोध कराने वाले शब्दों का सम्यक् प्रयोग तो भिन्न अवश्य होता है; किन्तु उसकी व्यंजना में कोई भाषागत व रूपगत विभिन्नता नही होती। मनुष्य का विज्ञान के तत्त्वों से संबंध रहता है—वस्तुपरक। इसलिए मानवीय विभिन्नता विज्ञान में लक्षित नहीं होती। विज्ञान का सृष्टा स्वयं मनुष्य होने पर भी मनुष्य की आत्मा उस में नहीं रमती। उसका मूर्त रूप उस में नहीं होता। लेकिन मनुष्य के हृदय पर वस्तु-जगत की प्रतिक्रिया नाना रूपों में उद्वेलित होती है, इसलिए कलात्मक अभिव्यक्तियों में—भाषागत और रूपगत—इतनी विभिन्नताएं संभव बनती हैं। क्योंकि वस्तु-जगत की प्रतिक्रिया का केन्द्रस्थल कोई अमूर्त मानव, अमूर्त काल या अमूर्त स्थान नहीं होता। सभी प्रतिक्रियाओं का स्थान, समय, समाज और वातावरण के बीच एक मूर्त स्वरूप होता है। और इसी मूर्त भिन्नता पर यथार्थ की सदैव भिन्न प्रतिक्रिया होती है। मनुष्य के अंतर्जगत की ये विभिन्न प्रतिक्रियाएं समय के दौरान कई कलात्मक शैलियों के माध्यम से नाना रूपों में प्रकट होती हैं।

भौतिक जगत की उत्तरोत्तर अधिक जानकारी के कारण अंतर्जगत की कई गुप्त निधियां प्रकट होती हैं। उन निधियों की प्रभाव-प्रक्रिया भी भिन्न होती है। वस्तु-जगत से उसका संबंध भी नया होता है—फलस्वरूप एक नई कला का उद्गम होता है। नई कला अपने नये संबधों के अनुरूप नई व्यंजना, नये प्रतीक, नई शैली और नई भाषा को जन्म देती है। ००

दृश्य-जगत की प्रत्येक वस्तु का कुछ-न-कुछ आकार-प्रकार है और उसका कुछ-न-कुछ रंग है। किसी भी वस्तु से उसकी आकृति व उसके रंग को तत्त्वतः भिन्न नहीं किया जा सकता। वस्तु या पदार्थ को अन्यथा करके रंग और आकृति का कोई अमूर्त रूप नहीं होता। शिल्प-कला में आकृति मुख्य है और रंग गौण। वस्तु की निसर्ग-आकृति को परिवर्तित करके मानवीय भावना या कल्पना द्वारा उस में नई आकृति [सार्थक] उत्पन्न करना, शिल्प-कला के अंतर्गत आता है। आजकल 'शिल्प' एक भ्रामक शब्द बन गया है। कई अर्थों में उसका प्रयोग होता है। यह कला का भी पर्यायवाची है। शिल्पी और कलाकार एक ही तथ्य के बोधक हैं। किन्तु विशेष प्रासंगिक स्थलों में इसका विशेष अर्थ ग्रहण करना चाहिए। मैंने कुछ व्यापक अर्थ में इसका प्रयोग किया है। किसी भी वस्तु या पदार्थ को मानवीय कौशल द्वारा नई आकृति प्रदान करने वाली सभी कलाओं को इसके अंतर्गत माना है—क्या वास्तु कला, क्या मूर्ति कला, क्या स्थापत्य कला।

वस्तु को नई आकृति प्रदान करने की क्रिया में दो बातें मुख्य रूप से अभिनिहित हैं। एक—स्वयं वस्तु की जानकारी, दो—औजारों की सहायता से वस्तु को प्रयोग में लाने की विधि। वस्तु के गुणों की प्रारम्भिक जानकारी औजारों के निर्माण की आधार-भूमि है और औजारों के प्रयोग से वस्तु के नये गुण निरंतर प्रकाश में आते रहते हैं। अग्नि का आविष्कार होने से पहले धातुओं का इस कदर सफल प्रयोग संभव नहीं था। अग्नि का एक विशेष गुण है—किसी गीली या नम वस्तु को पका कर उसे ठोस व मजबूत बना देना और ठोस या कठोर धातु को पिघला कर उसे तरल बना देना। अग्नि के पहले से ही मनुष्य मिट्टी को अपने हित में बरतने लग गया था, किन्तु उसका पूर्ण उपयोग अग्नि के बाद ही संभव हुआ। अग्नि ने मिट्टी की काया बदल दी। धातुओं की उपयोगिता भी सहस्र गुना बढ़ गई। अग्नि की सहायता से उन्हें भिन्न आवश्यकताओं की खातिर भिन्न रूपों में बरता जाने लगा। कहने का आशय यह है कि समय के दौरान इन्सान को विभिन्न

शिल्प की भाषा

विजयदान देथा

वस्तुओं की जानकारी होती गई—और औजारों की सहायता से वह उनको विभिन्न प्रयोगों में बरतना सीखता गया। पत्थर, मिट्टी, लकड़ी, अस्थि, हाथी-दांत, सींग, शंख, सीप, लोहा, पीतल, सोना, चांदी, कांसी, अष्टधातु, कथीर, शीशा, वीड़, कागज का कूटा, मोम, लाख, काच, रत्न, उपरत्न, गंधक आदि कई प्राकृतिक तथा कृत्रिम पदार्थ—शिल्प कला के वस्तु-साधन हैं। वस्तुओं के विभिन्न गुणों की वजह से उन्हें खोद कर, उभार कर, कोर कर, गढ़ कर, डोलिया कर, ढाल कर, कूट कर, या उन पर ठप्पा या छापा करके विभिन्न कलात्मक आकृतियों का रूप प्रदान किया जाता है। शिल्पकला में विषय-वस्तु, रूप और प्रतीक-शैली की समवेत व्यंजना में स्वयं वस्तु का भी जबरदस्त महत्त्व है। वस्तु की अपनी भावात्मक अभिव्यक्ति है, जो रसिक के मन को प्रभावित करने में कला के अलावा भी अपना असर रखती है। इसलिए शिल्पकला में संवेदनानुभूति के लिए वस्तु स्वयं भी भाषा का काम करती है। वस्तु की अपनी प्रभाव-शक्ति होती है। दूसरी कलाओं से शिल्प का अपना यह अतिरिक्त चरित्र है।

प्राकृतिक वस्तुएं मानवीय उपयोगिता के लिए प्राचीनतम उपकरण हैं। उनका अस्तित्व मनुष्य से भी पहले का है। पत्थर, लकड़ी, हड्डी, पहाड़ की चट्टानें इत्यादि के निर्माण में मनुष्य के श्रम की कोई दखल नहीं है। उनको अपने हित में बरतने की समझ उसकी अपनी है। अपनी आत्मरक्षा के लिए हथियार और अकृत्रिम औजारों के रूप में उसने इनका प्रयोग सबसे पहले किया था। यह प्रयोग ही उसकी प्राथमिक सभ्यता थी, विज्ञान की आदि वर्णमाला थी। आरम्भ में बिलकुल सीधा और सहज प्रयोग और तत्पश्चात् विकास के दौरान दो प्राकृतिक वस्तुओं की सहायता से तराशना, घिसना अथवा काट-छांट कर तीखा बनाना, यही उसकी कला थी, यही उसकी जीवन-समस्या थी। अतएव शिल्पकला मनुष्य की प्राचीनतम कला है, प्राचीनतम संस्कृति और प्राचीनतम विज्ञान है, जिसकी सहायता से ही स्वयं मनुष्य का अपना निर्माण हुआ है। प्राकृतिक वस्तुओं के प्रयोग ने मनुष्य के हाथ का कार्य ही बदल दिया, उसकी शक्ति ही मोड़ दी। अंगुलियों की पकड़, लचक, नये सिरे से उनका हिलना-डुलना, वस्तु को थामने की शक्ति, रोक, उठाना, फेंकना इत्यादि क्रियाओं ने मनुष्य के जीवन को ही परिवर्तित कर दिया। चलने-फिरने की क्रिया से स्वतंत्र, हाथों के नये कौशल ने ही मनुष्य को मनुष्य बनाया है। प्रारम्भ के पत्थर, लकड़ी आदि प्राकृतिक वस्तुओं के प्रयोग ने मनुष्य के हाथ की शक्ति बदली तो उसके बाद में उस बदली हुई शक्ति ने प्राकृतिक वस्तुओं की काया ही बदल दी। हाथ के कौशल द्वारा मानवीय भावना को व्यंजित करके मनुष्य ने जड़-वस्तुओं को सजीव बना दिया। हाथों के जादू भरे श्रम ने जड़ वस्तुओं में प्राण फूंक दिये। शिल्पकला में प्रकृति के गौरव और मानवीय कला का अद्‌भुत समन्वय है।

तो स्पष्ट है कि शिल्पकला का उद्‌भव प्रस्तर युग के हथियारों व औजारों से ही हुआ है। भाषा के प्रारम्भिक अर्थ-संकेत भी इन प्राकृतिक वस्तुओं से बने थे। चित्रकला का उद्‌भव भी इन प्राकृतिक वस्तुओं के प्रयोग से हुआ है। इसलिए प्रारम्भिक अवस्था में शिल्पकला और चित्रकला को जुदा भी नहीं किया जा सकता। कागज जैसी वस्तु के अभाव में प्राकृतिक वस्तुओं पर ही चित्र अंकित किये जाते थे। वस्तुओं की कुराई, खुदाई

और अंकन आदि क्रियाओं से ही चित्रकला का विकास हुआ है। प्रारम्भ में उन शिल्प-कृतियों के स्वयं अपने प्रतीक नहीं होते थे। उपयोगिता की अनगढ़ कारीगरी ही तव की कला थी। उन शिल्प-कृतियों का अस्तित्व किसी आवश्यकता का सहज और अविच्छिन्न परिणाम होता था—भले ही तव की उन आवश्यकताओं ने आज हमारे लिए कला का रूप धारण कर लिया हो। मनुष्य की अचेतन क्रिया की यंत्रवत् कारीगरी और यांत्रिक साधन ही आगे चल कर स्वतंत्र कलाओं में परिणत होते गये। अनुकरण, पुनरावृत्ति, परम्परा और अभ्यास ने उन प्राकृतिक वस्तुओं पर अंकित कुराई, खुदाई को कला के भावनात्मक प्रतीकों का रूप प्रदान किया है।

भापा व गणित के प्रतीकों को कान या आंख द्वारा सुना या पढ़ा जाने पर भी इनका सीधा संवंध इन्द्रियों से नहीं है। इसकी वोधग्राह्यता के लिए इंद्रियां तो साधन-मात्र हैं। कला के प्रतीकों का इंद्रियों से सीधा सम्वन्ध है। वोधग्राह्यता के साथ-साथ इन्द्रियों का अपना आनन्द भी है। अंधे या वहरे व्यक्ति को भाषा, विज्ञान व गणित के प्रतीकों से स्पर्श-शक्ति द्वारा अवगत कराया जा सकता है, किन्तु शिल्प, चित्र व संगीत का आभास संवंधित इन्द्रियों के अभाव में नहीं हो सकता। गणित व भाषा के प्रतीकों का विषय-वस्तु के अलावा भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। विषय-वस्तु से परे उनकी शिक्षा दी जा सकती है, किन्तु शिल्प इत्यादि कलाओं के प्रतीकों को विषय से जुदा नहीं किया जा सकता। विषय-वस्तु से विच्छिन्न प्रतीकों का अपना अस्तित्व नहीं है। गणित व भाषा में प्रतीक पहले हैं और विषय-वस्तु वाद में, किन्तु शिल्प या चित्र आदि कलाओं में कला पहले है और प्रतीक वाद में। कलात्मक व्यंजना के साथ-साथ ही प्रतीकों का निर्माण होता है। भाषा के इतने सारे शव्द-कोश उपलव्ध हैं, गणित के शव्द-कोश की तो आवश्यकता ही नहीं, किन्तु शिल्प या चित्र के शव्द-कोश की कल्पना भी असंभव है। भाषा के शव्दों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व होने के कारण दूसरी भाषा में उनका अनुवाद हो सकता है, गणित के उल्थे में तो कोई दिक्कत ही नहीं, किन्तु कला में विषय-वस्तु और प्रतीकों का अविभाज्य संवंध होने के कारण उनके अनुवाद का प्रश्न ही नहीं उठता। कलाकृतियों की नकल हो सकती है, प्रतिकृति या अनुकृति हो सकती है। कला के प्रतीकों का अपना स्वतंत्र और स्पष्ट रूप नहीं होने के कारण कलाकृति का प्रभाव रसिक के मन पर कभी एक-सा नहीं पड़ता। समझ, संस्कार, शिक्षा, मानसिक अवस्था, अभ्यास व मर्मज्ञता के विभिन्न स्तरों के कारण एक ही कलाकृति विभिन्न दृष्टाओं के लिए विभिन्न रूपों में प्रकट होती है। गणित और वाणी के प्रतीकों की शक्ति जहां समाप्त होती है—वहीं से कला के प्रतीकों का अंतहीन प्रारंभ होता है। कला के प्रतीक अपूर्ण हैं इसलिए इनकी व्यंजना-शक्ति असीम है। मनुष्य के अंतर्मन की सीमा हो तो कला के प्रतीकों की सीमा हो। मनुष्य के अंतर्मन का निगूढ़ रहस्य पूर्ण और स्पष्ट हो तो कला के प्रतीक भी पूर्ण एवं स्पष्ट हों।

कुराई, खुदाई, गहराई, उभार, अंकन आदि ये शिल्प-कला के प्रतीक हैं, किन्तु कला-कृति से इन्हें विलग नहीं किया जा सकता। शिल्पकला के प्रतीकों का प्रभाव सदैव त्रिविभात्मक होता है। गहराई और उभार की वास्तविकता के कारण शिल्पकला चित्र-

कला के बनिस्बत सच्चाई व यथार्थ के अधिक निकट है, फिर भी चित्र के रंग व रेखाओं जितना उनका व्यापक क्षेत्र नहीं है। चित्रकला से अपेक्षाकृत अधिक मूर्त होने के कारण अमूर्त भावनाओं को व्यक्त करने में शिल्पकला अपनी सीमाओं में बंध जाती है। चित्र की भांति समुद्र, पहाड़, हरियाली, वृक्ष, नदी, नाले, धोरे, बादल इत्यादि शिल्पकला के अपेक्षाकृत मूर्त प्रतीकों में नहीं ढाले जा सकते। गहराई और उभार की वास्तविकता, व्यंजना को सीमित बना देती है। फिर भी शिल्पकला का अपना महत्त्व है जो किसी भी अंश में चित्रकला द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता। किसी भी कला का मूलभूत कार्य दूसरी कला से नहीं सारा जा सकता। ००

भाषा से मनुष्य पुराना है। और मनुष्य से भी मनुष्य की मेहनत पुरानी है। मनुष्य आज जिस रूप में है, उसके इस मानव-रूप का निर्माण प्रकृति के हाथों नहीं, मेहनत के हाथों हुआ था। प्रकृति की ओर से दी हुई शारीरिक शक्ति की तुलना में अन्य जंगली, हिंस्र जानवरों की अपेक्षा मनुष्य कितना कमजोर है, कितना अशक्त है! कहां—सिंह, हाथी, सूअर, रीछ, चीता, गैंडा, जंगली भैंसा—और कहां मनुष्य? इस हिसाब से प्रकृति ने मनुष्य को अपनी ओर से बहुत कम ताकत बख्शी है। पर चलने-फिरने के काम से सर्वदा के लिए मुक्ति पाये हुए उन स्वतंत्र हाथों से जब मनुष्य ने पहली बार अपनी मुट्ठियां तान कर, कमर को सीधा करके नभ की ओर अपना सिर ऊंचा किया होगा—यदि लाक्षणिक शैली में कहना चाहें तो कहना पड़ेगा कि उसकी उस बलवती मुद्रा को देख कर स्वयं प्रकृति भी भय से कांप उठी होगी। हाथों और पैरों का वह अंतिम बंटवारा ही मनुष्य की सबसे बड़ी शक्ति बन गया। मनुष्य के ये दो हाथ, जो आज मेहनत करने के लिए शारीरिक अंग मात्र रह गये हैं, आरम्भ में स्वयं मेहनत के हाथों ही इनका निर्माण हुआ था।

मनुष्य के हाथों की कुशलता व उनकी मजबूती केवल हाथों तक ही सीमित नहीं रही। आपसी सहयोग से शरीर के हर हिस्से की योग्यता व शक्ति बढ़ती रही। मस्तिष्क की चिंतन-शक्ति भी इन्हीं हाथों की मेहनत का परिणाम है। हाथ कुशल हुए तो मस्तिष्क की विचार-शक्ति बढ़ी। मस्तिष्क की विचार-शक्ति बढ़ी तो हाथ और भी अधिक कुशल हुए। हाथ और मस्तिष्क का वह आंतरिक संबंध विकसित होता ही गया। और इस विकासक्रम में मस्तिष्क और हाथ यहां तक कुशल हो गये कि जिनकी पारस्परिक निर्भरता ने अजंता और एलोरा की गुफाओं का सृजन कर डाला। सांची और भरहुत के स्तूप का निर्माण कर डाला इन्होंने। जो हाथ एक दिन अपनी आदिम अवस्था में पत्थर का एक अनगढ़ औजार तक बनाने में अक्षम थे, उन्हीं हाथों ने आखिर ताजमहल और कोणार्क के

कविता की कहानी

विजयदान देथा

मन्दिरों का निर्माण कर सकने योग्य क्षमता हासिल कर ली।

मेहनत और हाथों के वाद मनुष्य के सांस्कृतिक व सामाजिक विकास-क्रम में जिस शक्ति का सबसे जबरदस्त योग रहा, वह है—वाणी। वाणी के रूप में मनुष्य ने एक ऐसे औजार की सृष्टि कर डाली कि उसकी शक्ति पहले से लाख गुना अधिक वलवती हो उठी। जब चलने की क्रिया से हाथ एकबारगी हमेशा के लिए स्वतंत्र हो गये तो मनुष्य को पेड़ों का निवास छोड़ कर जमीन का आश्रय ग्रहण करना पड़ा। हिंसक पशुओं का सामना करने के लिए अपने साथियों के साथ उसे समूह बना कर रहने की आवश्यकता हुई। और जब मनुष्य समूह के बीच रात-दिन अपना जीवन बिताने लगा तो एक-दूसरे को कुछ कहने की इच्छा महसूस हुई। इच्छा ने अपनी जरूरत के मुताबिक उपयुक्त उपकरण को निर्मित किया। मनुष्य की वाणी कुछ गिने-चुने संकेतों में मुखरित हुई। वाणी के साथ-साथ श्रवण-शक्ति को विकसित होना पड़ा। वाणी और श्रवण-शक्ति के मिश्रित योग से तो मस्तिष्क के विकास की सीमा ही नहीं रही।

दुनिया में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो औजारों का प्रयोग करता है, और उसकी अपनी स्वनिर्मित भाषा है। पशु और मनुष्य में इन दो विभिन्नताओं के अन्यथा सबसे महत्त्वपूर्ण एक तीसरा फर्क यह भी है कि पशु अकेला है, मनुष्य संगठित है। वह समाज बना कर रहता है। पशु केवल अपनी ही शक्ति, अपने ही निजी अनुभव और अपने ही माद्दे पर हर वस्तु का सामना करता है; लेकिन मनुष्य पिछली सारी पीढ़ी और समस्त युगों के अनुभव से फायदा उठाता है। पिछली पीढ़ी के अनुभव, ज्ञान और विकास की सीमान्त रेखा से हर नई पीढ़ी अपना जीवन आरम्भ करती है और आने वाली पीढ़ी को वह अपने अनुभवों की थाती सौंप जाती है। तो मानव समाज का इतिहास, मनुष्य के जन्म-जात प्राकृतिक तत्त्वों के विकास का ब्योरा नहीं, बल्कि उसकी सामाजिक व सांस्कृतिक शक्तियों के विकास की धारावाहिक कहानी है। संस्कृति कोई आकाश-कुसुम जैसी चीज नहीं है। वह मनुष्य के आर्थिक कार्य-व्यापारों से ही संपन्न होती है। उत्पादन के तरीकों का विकास, औजारों को प्रयोग में लाने के कौशल का विकास, भाषा, कला व विज्ञान का विकास और भवन-निर्माण का विकास—यही तो है संस्कृति, जो मनुष्य के अपने ही बलबूते पर विकसित हुई है और होती रहेगी। आर्थिक कार्य-व्यापारों का अर्थ भी रुपये या धन तक मर्यादित नहीं समझना चाहिए। रुपये या धन की महत्ता तो केवल इसलिए है कि वह जीवन की सम्पूर्ण आवश्यकताओं को खरीदने का एक सर्वमान्य साधन है। और जब तक इस साधन को किसी एक विशेष आवश्यकता में परिणत नहीं कर लिया जाता, तब तक उस में सभी आवश्यकताएं अभिनिहित रहती हैं।

आवश्यकताओं की निर्विरोध और निर्बंध पूर्ति ही मनुष्य जीवन की स्वतंत्रता है। इस स्वतंत्रता के लिए ही तो उसका यह अविराम परिश्रम है। काम, काम। दिन भर काम। फिर काम। किसी-न-किसी काम में मनुष्य व्यस्त है। बिना काम के उसे चैन नहीं। उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो भी शक्ति बाधा बन कर आयेगी, उसे हटा कर ही वह दम लेगा। वह बाधा चाहे प्रकृति के रूप में हो, चाहे समाज के रूप में। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की निर्बंध पूर्ति चाहता है। यही उसका लक्ष्य है। यही

उसकी स्वतंत्रता है। और: यह स्वतंत्रता ध्यान, कल्पना व मनन से प्राप्त नहीं की जा सकती। उसके लिए क्रिया केवल क्रिया ही अपेक्षित है। क्रिया का संचालनकर्ता है—मनुष्य। मनुष्य—जो समाज में रहता है। समाज—जो सतत गतिशील है। और मनुष्य के पास इस संचालन-कार्य के लिए साधन हैं—उसकी कला और उसका विज्ञान। कला और विज्ञान ही में मनुष्य अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति पाता है।

वस्तु और जगत से मनुष्य का जो संबंध है, उसको अभिव्यक्ति मिलती है—विज्ञान में। वस्तु और जगत का मनुष्य से जो रिश्ता है, उसकी व्यंजना होती है—कला में। प्रकृति के साथ निरंतर संघर्ष में मनुष्य अपनी स्वतंत्रता ही को खोज रहा है। संघर्ष की वाह्य वस्तु-स्थिति तो जन्म देती है—विज्ञान को। और इस संघर्ष द्वारा मनुष्य की चेतना में जो आंशिक प्रक्रिया होती है, उसकी आत्मस्थिति जन्म देती है—कला को। मेक्सिम गोर्की के शब्दों में—कला और विज्ञान दोनों एक सर्वथा नवीन ही प्रकृति का निर्माण करते हैं। विज्ञान की वह नूतन प्रकृति अपना जीवन ग्रहण करती है—वाहरी यथार्थ से। और कला की नूतन प्रकृति अपना जीवन ग्रहण करती है—मनुष्य के आंतरिक यथार्थ से। पर विज्ञान और कला इन दोनों का क्षेत्र कभी सीमित नहीं रहता। समाज का विकास निश्चित रूप से अपनी कला और अपने विज्ञान को प्रभावित करता है।

आदिम मानव के जीवन में विविधता नहीं थी, इसलिए उसकी कला और उसके विज्ञान में भी कोई वैविध्य नहीं था। आदिम मानव के लिए जो कला थी वही उसका विज्ञान भी था। धर्म भी उसका वही था। न संगीत कविता से भिन्न था और न नृत्य संगीत से। आदिम मानव के आंतरिक भाव-जगत को व्यक्त करने के लिए कविता ही काफी थी। आज की इस सभ्यता के युग में धर्म, दर्शन, मनोविज्ञान, जीव-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, उपन्यास, नाटक, कहानी आदि के साथ कविता का जो प्रचलित रूप है, वही आदिम समाज में सामूहिक प्रतिभा को व्यंजित करने का एकमात्र साधन था। सम्पूर्ण भारतीय दर्शन कविता की पंक्तियों में वद्ध है। ज्योतिष के आंकड़े भी कविता के माध्यम से व्यक्त हुए हैं। मनुस्मृति का समाज-विधान भी कविता की लय में जकड़ा हुआ है। आयुर्वेद ने अपना उपचार किया है तो वह भी कविता के सहारे। धर्म का आदेश कविता में है। राजनीति की चर्चा कविता में है। अर्थशास्त्र का लेखा-जोखा भी कविता में है। मानव-सभ्यता के आदि-ग्रन्थ वेदों का माध्यम भी कविता ही है। उपनिषदों के ब्रह्म का स्वरूप-निर्माण भी कविता ने ही किया है। आदिम समाज में सामूहिक ज्ञान की वाह्य व्यंजना के लिए सिवाय कविता के और कोई चारा ही न था। और आज की वास्त-विकता यह है कि समाज में वाहुल्य और वैविध्य के कारण कला, धर्म और विज्ञान का भिन्न रूप तो अवश्यम्भावी था ही पर कविता की एकरूपता भी स्वयं में खंडित हो गई। वर्गविभाजित समाज में उसके भी दो हिस्से हो गये। लोक-काव्य एक दूसरी चीज है, और कविता दूसरी। आदिम समाज की वह अभिन्नता ही न तो संयोग मात्र थी और न आज के युग की यह भिन्नता ही एक संयोग है। दोनों ही परिस्थितिजन्य हैं।

आज के सभ्य मानव का भाषा के साथ जो वर्ताव है, आदिम मानव का वाणी के प्रति यह वर्ताव विलकुल नहीं था। आदिम मानव जैसा अनुभव करता था, उसको ठीक उसी

रूप में सहज भाव से व्यक्त भी करता था। वाणी का प्रयोग केवल सत्य को व्यंजित करने के लिए ही किया जाता था। जो सत्य था, वही उसकी वाणी में भी था। और जो वाणी में था, वही उसका सत्य भी था। मिथ्या वात को भी व्यक्त करने की आवश्यकता होती है, आदिम मानव को इसका ज्ञान कतई नहीं था। पर आज के सभ्य मानव के लिए सत्य की अपेक्षा मिथ्या को व्यक्त करने की खातिर ही भाषा की अधिक आवश्यकता है। आज सत्य को छिपाने के लिए ही भाषा का प्रयोग है। सत्य को अभिव्यक्ति देना तो भाषा के लिए गौण हो गया है। पर आदिम मानव की जीवन-आवश्यकता ही ने वाणी को जन्म दिया था, इसलिए वाणी उसके जीवन से कोई भिन्न चीज नहीं थी। जो आदिम मानव के जीवन में नहीं थ।, वह उसकी वाणी में भी नहीं था। इसलिए आज दिन भी आदिम मानव की उस वाणी को बांचने से उसके जीवन को भी आसानी से वांचा जा सकता है।

लिपि-वद्ध भाषा से मानवीय वाणी का रूप तो प्राचीन है ही लेकिन आदिम मानव के लिए वाणी की 'जीवन आवश्यकता' को ठीक से समझ लेने पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वार्तालाप की साधारण वोली से कविता का रूप और भी प्राचीन है। कविता में लय और गति होती है। छंद होता है। गति, लय और छंद से वाणी में एक रहस्यात्मक अद्‌भुत शक्ति का प्रभाव उत्पन्न हो जाता है, जो समूह के आंतरिक भाव-जगत में तादात्म्य स्थापित करने का सहज और अकृत्रिम साधन है। आदिम समाज में वाणी एक सामूहिक उपज थी। एक सामूहिक आवश्यकता थी। और : सामूहिक आवश्यकता के लिए लय और गति-वद्ध वाणी अधिक उपयुक्त है। संगीत से जुदा होकर वाणी सामूहिक आवश्यकता को पूरा नहीं कर पाती। इसलिए आदिम-कविता और संगीत कोई दो भिन्न चीजें नहीं हैं। कविता में प्रयुक्त शब्द उसकी विषय-वस्तु को निर्मित करते थे और लय, गति व संगीत कविता की रूप-सज्जा को संवारते थे। वार्तालाप की साधारण वोली के माध्यम से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से अपने विचारों का आदान-प्रदान करता है। व्यक्ति केवल व्यक्ति से ही मिल पाता है। पर कविता की इस संगीतात्मक वाणी के माध्यम से एक सामूहिक भाव-जगत का पारस्परिक मिलन होता है। कविता एक सामूहिक माध्यम है और कथोपकथन की वोली एक वैयक्तिक साधन। कविता का संगीत-रूप सामूहिक संवेदना को उद्‌भासित करता है।

प्रश्न यह उठता है कि आदिम मानव के लिए सामूहिक संवेदना को उत्प्रेरित करने की वैसी आवश्यकता ही क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते समय हमेशा इस वात की सावधानी वरतनी चाहिए कि इस 'आवश्यकता' को आदिम मानव की जिंदगी से वाहर न टटोला जाय। आज के इस वैज्ञानिक युग में समाज के वीच रह कर भी एक व्यक्ति अकेला जी सकता है। वह निर्जन एकान्त में सुख और आनन्द की लालसा के पीछे दौड़ सकता है। और : उसके लिए यह संभव भी है। पर आदिम-मानव के लिए तो समूह ही उसकी जिन्दगी है। वह अकेला मर सकता है लेकिन अकेला जी नहीं सकता। सामूहिक जीवन की अनिवार्यता पानी, रोटी और हवा की तरह उसकी जिन्दगी और मौत की समस्या है। प्रत्येक वस्तु-स्थिति का आदिम मानव सामूहिक रूप से सामना करता है। जव कभी भूकंप, ज्वालामुखी, विजली आदि के रूप में कोई भी प्राकृतिक प्रकोप हो, या

एक कवीला दूसरे कवीले पर सहसा आक्रमण कर वैठे, या कोई हिंस्र पशु समूह के वीच घुस आये तो इस तरह के खतरनाक व भयंकर क्षणों में आदिम मानव के लिए सामूहिक प्रतिक्रिया स्वाभाविक रूप से आवश्यक हो उठती है। इस प्रतिक्रिया का रूप होता है—केवल घवराहट, भय और चिंता। कविता के रूप में सामूहिक संवेदना का प्रदर्शन ऐसी स्थिति में तो सर्वथा व्यर्थ ही है। पर इस तरह की दुर्घटनाएं हमेशा और हर समय नहीं होतीं। कभी-कभी होती हैं। लेकिन दुर्घटना के अभाव में भी उसकी संभाव्य पूर्व-कल्पना तो समूह से अगोचर नहीं रहती। उस संभाव्य दुर्घटना का सामना करने के लिए वे सामूहिक रूप से तैयारी करते हैं। इसके लिए सवसे उपयुक्त साधन है—कविता। केवल कविता। तो आदिम मानव के लिए कविता कोई मनोरंजन या उसकी जिंदगी से वाहर की चीज नहीं है। उसके जीवन-मरण की आवश्यकताओं के वीच स्वयं कविता को भी अपनी जिंदगी मिली है। इन प्राकृतिक अवसरों के अन्यथा कुछ ऐसे सामाजिक अवसर होते हैं कि जिनके लिए भी सामूहिक उद्वेग और सामूहिक तैयारी आवश्यक है। जैसे : खेत जोतना, वीज वोना, फसल काटना या खेती अंवेरना। ऐसे मौकों पर आदिम समाज में प्राकृतिक संवेगों को एक सामाजिक रूप देना जरूरी हो जाता है। इस सामूहिक संगठन के लिए एक मात्र साधन है—मानवीय वाणी। और जव वाणी द्वारा उच्चारित शव्दों में लय, गति और संगीत का संस्पर्श मिल जाता है तो उनकी आकर्षण-शक्ति समूह की आंतरिक भावनाओं को एकरूपता प्रदान कर देती है। सारे समूह की ताकत व्यक्ति में प्रवेश कर जाती है। वह संगीत में सरावोर हो जाता है। प्रत्येक लय और गति पर वह ताल देकर नाचता है। गाता है। कूदता है। यही आदिम मानव की कविता है। यही उसका संगीत है। और यही उसका नृत्य है। संगीत और नृत्य दोनों मिल कर आदिम कविता की रूप-सज्जा को निखारते हैं। खेती अंवेरना या फसल काटना इत्यादि ये सामाजिक यथार्थ इस तरह के सामूहिक उत्सवों व त्यौहारों में परिकल्पना का रूप धारण कर लेते हैं। और समय आने पर वास्तविक क्रिया के लिए समूह को वल प्रदान करते हैं। प्रेरणा देते हैं। वह मेहनत है—जो कविता को जन्म देती। और वह कविता है—जो अपने संस्पर्श से मेहनत को हलका करती है। उसे मीठा वनाती है। यह दुहरा चरित्र ही आदिम कविता की सवसे वड़ी विशेषता है।

वाणी या भाषा की तरह आदिम मानव का प्रकृति के साथ वर्ताव भी आज के सभ्य मानव से सर्वथा भिन्न था। जव तक आदिम मानव के हाथ स्वतंत्र नहीं हुए थे, तव तक वह स्वयं पूर्ण रूप से प्रकृति का ही एक अंश वना हुआ था। वह निरा पशु ही था। उस में जीव था, पर आत्म-चेतना नहीं थी। मेहनत और वाणी ने उसे पशु जगत से ऊपर उठाया। वह अपनी चेतना के प्रति कुछ-कुछ सजग हुआ। इस सजग चेतना का आदिम मानव के लिए आरंभ में वस इतना ही परिणाम हुआ कि प्रकृति के अंश-रूप में वह उस से जुड़ा नहीं रहा। वह प्रकृति से भिन्न हो गया। पर उस भिन्नता की चेतना उसे नहीं थी। इसलिए आदिम शिकारी और आदिम चरवाहा प्रकृति में अपनी आकांक्षाएं व अपनी अभिलाषाएं खोजता फिरता है। और प्रकृति ही उसकी आदिम आवश्यकताओं को पूरा करती है। वह फलों की तलाश में घूमता है। वह शिकार के पीछे भटकता है। आदिम

शिकारी को प्रकृति की वह प्रारंभिक जुदाई अखरती है। वह प्रकृति ही में वापस घुल-मिल जाना चाहता है। इसलिए आदिम शिकारी और आदिम चरवाहे की कविता भी इन्हीं प्राकृतिक उद्भावनाओं को व्यक्त करती है। शिकार करने की सामूहिक विधि और प्रकृति में घुल-मिल जाने की सामूहिक आकांक्षा ही इन कविताओं की विषय-वस्तु हुआ करती है। और उन कविताओं का रूप भी सहज, स्वाभाविक व इन्द्रिय-वोध-गम्य होता है। ऋग्वेद की कुछ ऋचाएं आदिम शिकारी के इस सामूहिक उद्वेग का परिचय देती हैं। उन में जंगल की प्रशंसा है। घास, फल, फूल, और पशुओं का वर्णन है। जैसे :

इस महावन में गौ आदि पशु बड़े आनंद के साथ घास चर रहे हैं। यह जंगल तो विल्कुल घर जैसा ही है। कोई गाड़ियां भेज रहा है। कोई गायों को आवाज दे रहा है। कोई सूखी लकड़ियां ही काट रहा है। और कोई संध्या के वढ़ते हुए अंधकार में घवरा रहा है। यदि कोई क्रूर जन्तु न हो तो यह अरण्य किसी को नहीं मारता। किसी को दखल नहीं देता। वड़ा भला है—यह अरण्य। हमें स्वादिष्ट फल खाने को देता है। कस्तूरी और फूलों की सुगन्ध देता है। विना खेती किये भी वह अन्न से हमारी झोली भर देता है। शिकार करने योग्य कितने ही पशुओं का जन्म स्थान है—यह अरण्य। कितना भला। कितना सुन्दर। प्रशंसा के योग्य।

परम्परागत अनुभव और नित्य नई आवश्यकताओं के अनुरूप पुराने औजारों का सुधार आदिम शिकारी को स्वावलम्वी बना देता है। वह शिकारी से चरवाहा और चरवाहे से कृषक बन जाता है। एक जगह ठहर कर वह अपना पेट भरने में समर्थ हो जाता है। वह अव प्रकृति से भीख नहीं मांगता। पेट भरने की तलाश में मारा-मारा नहीं फिरता। वह अपने हाथों खेत जोतता है। हल चलाता है। बीज वोता है। पानी सींचता है। धान पकाता है। अपने हाथों रोटी बनाता है। खुद खाता है। अपने साथियों को खिलाता है। वह प्रसन्न है। स्वावलम्वी है। अब वह प्रकृति के भरोसे नहीं जीता। अपनी मेहनत के वूते पर जीता है। इस वदली हुई परिस्थिति में आदिम मानव की सामूहिक आवश्यकता बदली। सामूहिक आवश्यकता के वदल जाने पर सामूहिक भावनाएं वदलीं और वदली हुई सामूहिक भावनाओं के अनुरूप कविता का रूप वदला। आदिम शिकारी स्वयं प्रकृति में घुल-मिल जाना चाहता है। और आदिम किसान प्रकृति को अपनी चेतना में सम्मिलित कर लेना चाहता है। वह अब अपने में प्रकृति का अंश नहीं खोजता, वल्कि प्रकृति में मानवीय चेतना को अनुभव करता है। समूची प्रकृति को वह अपनी चेतना का ही अंश समझता है। इसलिए आदिम किसान भी प्रकृति से भिन्न तो नहीं हो पाता परन्तु प्रकृति के साथ उसका सम्वन्ध अवश्य वदल जाता है। पहले वह प्रकृति की ओर भागता था, अव वह प्रकृति को ही अपने में समा लेना चाहता है।

आदिम मानव का यह विश्वास है कि जव प्रकृति उसकी चेतना ही का अंश है तो चेतना पर नियंत्रण करने से प्रकृति को भी नियंत्रित किया जा सकता है। अपनी आंतरिक भावनाओं के अनुकूल वह वाह्य जगत को वदल सकता है। चेतना और वाणी आदिम मानव के लिए दो भिन्न चीजें नहीं हैं। इसलिए आदिम मानव वाणी के माध्यम से प्रकृति पर अनुशासन करने की चेष्टा करता है। और इस चेष्टा की पूर्ति होती है—

कविता के सहारे। लय, गति, छंद, संगीत और नृत्य द्वारा कविता में एक रहस्यात्मक अद्भुत शक्ति उत्पन्न होती है, जो समूह के आंतरिक भाव-जगत को एक सूत्र में पिरो देती है। और उसे पूरा विश्वास हो जाता है कि प्रकृति उसकी चाहना के अनुकूल अपना कार्य निश्चित रूप से सम्पन्न करेगी। शब्दों की यह मंत्र-शक्ति आदिम कविता का मूल-भूत सत्य है। जादू-टोने और मंत्र की आदिम भावना ने ही कविता को जन्म दिया। आदिम मानव अपनी खुली आंखों से देखता है कि काले-काले बादल उमड़ कर आते हैं। बिजली चमकती है। एक गर्जन की आवाज होती है। पानी बरसता है। खेत लहलहा उठते हैं। फसल बढ़ती है। धान पकता है। इसलिए जब भी खेत को पानी की आवश्यकता होती है, आदिम मानव समूह बना कर नाचता है, गाता है और बादलों की कामना करता है। उसका विश्वास है कि कामना करने से जरूर बरसात होगी। वह पानी चाहता है तो जरूर पानी बरसेगा। उसकी कामना सिद्ध होगी। विश्वास से कार्य में उत्साह, जोश और निष्ठा उत्पन्न होती है। और : मेहनत एक अनिर्वचनीय आनन्द की वस्तु बन जाती है—सहज और मधुर। यह मन्त्र-शक्ति ही आदिम मानव का विज्ञान है। यही उसका धर्म है। यही उसकी कविता है। यही उसकी कला है। और : यही उसका जीवन है। जगत और वाणी के प्रति आदिम मानव का यह मंत्र-विश्वास ही आदिम कला की विषयवस्तु है।

वेदों की ऋचाओं में हमें इसी आदिम विश्वास की पवित्र, विशुद्ध और जीवन्त व्यंजना मिलती है। वैदिक जीवन का जिस किसी भी बाह्य पदार्थ से संबंध था, उसे वैदिक ऋचाओं में जीवन-आवश्यकता के अनुरूप सहज अभिव्यक्ति मिली है। कई बाह्य पदार्थों को उसने देवता के रूप में थापित किया है। वैदिक देव तत्कालीन जीवन की आवश्यकता विशेष ही का प्रतीक है। उसका रूप है। रंग है। आकार है। उपयोगिता है। वैदिक मानव के लिए अग्नि की बड़ी जबरदस्त उपयोगिता थी, इसीलिए अग्नि की उसने अपनी ऋचाओं में स्तुति की है। वंदना की है। उसे एक देव माना है। 'देव' शब्द अब हमारे लिए रूढ़ हो गया है। पर वैदिक मानव के लिए इसका मूल अर्थ था—प्रकाश। जो वस्तु आंखों से दिख जाती हो या जिसका मानवीय इन्द्रियों से बोध किया जा सकता हो, उसे वैदिक मानव ने 'देव' कह कर संबोधित किया है। अग्नि, वरुण, वायु, मारुत, इंद्र, सूर्य, उषा, संध्या, सोम, पर्जन्य आदि—ये ही तो हैं वैदिक देव। हर कदम पर इनकी आवश्यकता रहती थी। और वैदिक ऋचाओं में इसी आवश्यकता को दरसाया गया है। जीवन-आवश्यकताओं के जीवन्त प्रतीक ही वैदिक जीवन की देवमालाएं हैं। आदिम समाज में इन देवमालाओं के अन्यथा धर्म नाम की कोई अलग से चीज नहीं है। लय, गति, संगीत, नृत्य और छंद—आदिम कविता के रूप को निर्धारित करते हैं और उसकी विषयवस्तु का निर्माण इन पुराण-कथाओं द्वारा ही संपन्न होता है। आदिम मानव सूर्य, चन्द्र, बादल, हवा, आंधी अग्नि, उषा और संध्या आदि को सामूहिक रूप से अनुभव करता है। सारे समूह को इनकी आवश्यकता रहती है, इसलिए सामूहिक उद्वेग द्वारा ही आंतरिक भाव-जगत को अभिव्यक्ति मिलती है। जीवन-आवश्यकता से संबंधित वस्तु का आदिम कल्पना में अनुकरण किया जाता है। इसलिए आदिम कविता में अंतर्निहित कल्पना एक

सामाजिक छवि-चित्र ही का अंकन है—एक सामाजिक यथार्थ का ही बिंब है। उसकी व्यंजना में सारे समूह की चेतना व्याप्त रहती है। और पौराणिक कथाओं में तत्कालीन सामाजिक सम्बन्धों की तत्त्व-कल्पना ही को चित्रित किया गया है। देवमालाओं के अंर्तविरोधी कथा-तत्त्व ही आदिम समाज की वास्तविक सच्चाई है। एक ही पदार्थ को आदिम मानव भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न मानसिक अवस्था के कारण भिन्न-भिन्न रूपों में देखता है और उसको उसी विभिन्नता के साथ अनुभव भी करता है। पुराण-कथाओं में आदिम मानव की इन्हीं विविध अनुभूतियों का यथार्थ चित्रण है। आज के बदले हुए यथार्थ में भले ही ये पौराणिक कथाएं असंगत, अस्वाभाविक और कल्पना मात्र लगें पर आदिम मानव का जीवन-सत्य इन गाथाओं में अविकृत रूप से व्यंजित हुआ है, इस में कोई संदेह नहीं। आज इन पुराण-कथाओं के द्वारा आदिम मानव की अज्ञानता और वस्तु-जगत को ठीक से न जानने की उसकी अवैज्ञानिक वृत्ति का भले ही हम उपहास करें पर निःसंदेह इन गाथाओं में कम-से-कम आदिम मानव की वेईमानी, कृत्रिमता, और मिथ्या आडम्बर तो कहीं लक्षित नहीं होता। वह अज्ञानता ही उसकी एक मात्र सच्चाई है। क्योंकि सत्य आकाश से गिरी हुई कोई आकस्मिक चीज नहीं होती। वह तो हमेशा समाज के बीच अपनी विशिष्ट परिस्थितियों में विशिष्ट क्रम से पैदा होता है। मनुष्य और प्रकृति का व्यवस्थित और सामूहिक संघर्ष ही सत्य का सृजनहार है। वस्तु-जगत के साथ मनुष्य का जो निरन्तर संघर्ष होता रहता है उसी के बीच सत्य पनपता है। फूलता है। फलता है। सत्य यथार्थ ही का एक अंश है। और यथार्थ हमेशा बदलता रहता है। इसलिए सत्य भी हमेशा बदलता रहता है। उसका कोई चरम और अंतिम रूप नहीं होता। सत्य की सीमा है—स्वयं विश्व। सामयिक मर्यादा और सीमा के भीतर ही उसकी परख होनी चाहिए। आदिम मानव का सत्य आदिम वस्तु-जगत और आदिम यथार्थ से मर्यादित है। और आज के सत्य की सीमा आज की बदली हुई वास्तविकता है। इसलिए आज के युग में सत्य को परखने के जो मापदंड हैं, उन से आदिम यथार्थ की ठीक से नापजोख नहीं हो सकती।

और वस्तु-जगत और यथार्थ इसलिए बदलता रहता है कि इनको बदलने के लिए मानवीय साधन बदलते रहते हैं। मानवीय शक्ति बदलती रहती है। प्रकृति को अपने अनुकूल बनाने के लिए मनुष्य के अस्त्र-शस्त्र बदलते रहते हैं। इसलिए वस्तु-जगत और यथार्थ भी बदलता रहता है। मनुष्य जब समाज बना कर रहता है तो जिंदा रहने के साधन भी उसे अपने ही हाथों जुटाने पड़ते हैं। उसे खाने को धान चाहिए। शरीर ढांपने को कपड़ा चाहिए। सर्दी, गर्मी, आंधी, बरसात, हिंस्र-पशु और प्रकृति के अंध-प्रकोपों से बचने के लिए उसे एक सुरक्षित मकान चाहिए। इन जीवन-आवश्यकताओं को खाली दो नंगे हाथों तो पूरा किया नहीं जा सकता। औजारों का प्रयोग जरूरी है। निहायत जरूरी। इनके बिना तो मनुष्य कुछ भी काम नहीं कर सकता। प्रकृति को अपने अनुकूल बनाने की खातिर, बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे अपने ही हाथों निर्मित किये हुए औजारों का प्रयोग करना पड़ता है। ये औजार ही तो मनुष्य की इच्छा व आवश्यकता के अनुरूप भौतिक मूल्यों का निर्माण करते हैं। भौतिक मूल्यों को निर्मित

करने वाले इन उत्पादन-साधनों का आविष्कार तो मनुष्य स्वयं ही करता है, परन्तु आविष्कृत औजारों के अभाव में तो वह स्वयं भी अधूरा है। औजार ही मनुष्य की वास्तविक शक्ति है। लेकिन वह शक्ति स्वयं में निष्क्रिय नहीं है। मनुष्य की चेतना के परे भी वह समाज में अपना कार्य हरदम करती रहती है। मनुष्य तो अपनी बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नये उत्पादन-साधनों का आविष्कार कर लेता है—आगे के परिणामों को बिना सोचे-विचारे। पर ये उत्पादन-साधन मनुष्य के पिछले सारे सामाजिक सम्बन्धों को तोड़ डालते हैं और अपने हिसाब से नये सामाजिक संबंधों की स्थापना करते रहते हैं। ये उत्पादन-साधन समाज को कभी एक जगह रुका नहीं रहने देते, उसे विकास की ओर अग्रसर करते ही रहते हैं। तो समाज के विकास की आखिरी जिम्मेदारी भौतिक मूल्यों को निर्मित करने वाले इन उत्पादन-साधनों पर ही आकर ठहरती है। तत्कालीन समाज की उत्पादन-शक्ति, श्रम-विभाजन, वर्ग-विभाजन, उत्पादन-संबंध, कला-विज्ञान, धर्म, वैविध्य, दर्शन, साहित्य, रीति-रिवाज, सोचना, विचारना आदि सब कुछ इन्हीं औजारों व उत्पादन-साधनों पर निर्भर करता है।

आदिम औजारों के कारण ही तत्कालीन समाज के आदिम विश्वास, आदिम कला और आदिम कविता का वह आदिम रूप है। अविकसित औजारों की वजह से आदिम जीवन में वैविध्य असंभव है। इसलिए आदिम मानव के व्यवहार, उसके चिंतन, उसकी कला में भी विविधता नहीं है। सिवाय शारीरिक भिन्नता के सब कुछ समान होता है। औजारों की भिन्नता के कारण ही समाज में बढ़ई, कुम्हार, लुहार, जुलाहा, कंदोई, मोची, डॉक्टर, इंजीनियर, ड्राइवर आदि उत्पन्न होते हैं। और काम करने के तरीके व औजार भिन्न होने के कारण ही जीवन में विविधता प्रवेश करती है। जीवन की विविधता के अनुरूप चिंतन, व्यवहार, रहन-सहन, कला, विज्ञान के क्षेत्र में भी वैविध्य उत्पन्न हो जाता है। लिपिबद्ध भाषा का आविष्कार होने से पहले साहित्य की मर्यादा केवल वाणी तक ही सीमित थी। उसका आधार सर्वथा मौखिक ही था। मनुष्य का सम्पूर्ण साहित्य मनुष्य की देह के भीतर ही संचित था—स्मृति में या जिह्वा पर। वाणी द्वारा जो भी नया साहित्य मुखरित होता था उसे स्मृति के माध्यम से सुरक्षित रखना पड़ता था। और संचित किए हुए साहित्य को वाणी द्वारा वापस प्रेषित किया जाता था। कविता में लय, गति, संगीत व छन्द के सम्मिश्रण से वाणी और स्मृति के संयोग का आसानी से निवाह किया जा सकता है। इसलिए आदिम मानव की सामूहिक प्रतिभा को व्यक्त करने के लिए कविता ही पूर्ण रूप से एक उपयुक्त साधन है।

समय आगे बढ़ता रहा। फिर भला मनुष्य कैसे पीछे रहता? परंपरागत अनुभव और ज्ञान के सहारे वह समय के साथ कदम मिलाता हुआ आगे बढ़ता रहता है; क्योंकि जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने की समग्र जिम्मेदारी अब स्वयं उसीके कंधों पर आ पड़ी है। और: इस जिम्मेदारी को निवाहने के लिए उसे अपने औजारों का ही भरोसा है। इसलिए उत्पादन के साधनों में बढ़ती हुई आवश्यकताओं के अनुरूप सुधार होता रहता है। विकसित औजारों की मदद से जीवन-आवश्यकताओं को पूरा करना धीरे-धीरे आदिम मानव के लिए सुगम एवं सरल काम रह जाता है। वह पहले की अपेक्षा काफी कम समय

में अपनी जरूरतों को पूरा कर लेता है। अब उसे अन्य जीवन-समस्याओं को सोचने-विचारने के लिए भी काफी समय मिलने लगा है। उपनिषदकालीन समाज और वैदिक समाज की चिंता-धारा में यही अंतर विशेष तौर पर लक्षित होता है। उपनिषदकालीन समाज को संस्कृति व परंपरागत ज्ञान के रूप में वैदिक साहित्य मिला था। उत्पादन के साधनों को आविष्कृत करने के लिए उसे नये सिरे से संघर्ष नहीं करना पड़ा था। वैदिक साहित्य और उस में वर्णित देवमालाओं का दार्शनीकरण किया गया। आत्मा, ब्रह्म और जगत के तत्त्व-स्वरूप की व्याख्या की गई। 'वेदकालीन आर्यों का ब्रह्मन् उपनिषदकालीन दार्शनिकों से भिन्न था। वैदिक ब्रह्मन् सगुण था, और उपनिषदों का ब्रह्मन् निर्गुण। वैदिक ब्रह्मन् बाह्य सत्ता का ही एक यथार्थ था, जिसके आनन्द की प्राप्ति भौतिक परिश्रम के द्वारा ही संभव हो सकती थी। वैदिक ब्रह्मन् जीवन का आनन्द लेता था। खाता था। पीता था। नाचता था। आनन्दित होता था। समुन्नत होता था। उपनिषदों का ब्रह्मन् इन्द्रियों के परे और ज्ञान के भी परे था। उस में कोई भावना या अनुभूति नहीं थी। उसके लिए खाना, पीना, आनन्द मनाना निषिद्ध था।' पौराणिक आदिम कथाओं के साथ भी उपनिषदकालीन दार्शनिकों का वह पूर्ववत् आदिम बर्ताव नहीं रहा। उन्हें भी एक धार्मिक बाना पहना दिया गया। वे सर्वथा जड़ और निष्क्रिय हो गईं। जीवन में उनकी कोई जीवन-आवश्यकता नहीं रही। इन पुराण-कथाओं का अंत आदिम वर्गहीन समाज के अन्त का सूचक है।

तो आदिम समाज की वह सामूहिक एकरूपता हमेशा के लिए अक्षुण्ण बनी नहीं रही। प्रकृति ने समाज के भीतर प्रवेश किया तो मनुष्य और मनुष्य के बीच झगड़ा पैदा हो गया। झगड़ा भी इस तरह का जो पहले कभी नहीं था। इसके पहले भी कबीले आपस में लड़ते थे। मरते थे। मारते थे। पर मानव समाज के बीच यह आपसी वर्ग-संघर्ष अपनी तरह का एक सर्वथा नया ही संघर्ष है। प्रकृति के इस घनिष्ठ संबंध ने अखंड मानवता के बीच फूट पैदा कर दी। प्रकृति के साथ मनुष्य की लड़ाई तो हो गई गौण, और प्रधान बात हो गई मनुष्य और मनुष्य का आपसी बैर। परंपरागत अनुभव, ज्ञान और औजारों के सुधरे रूप की ताकत के सहारे मनुष्य प्रकृति से जबरदस्ती वसूल करना सीख गया। प्रकृति को ज्यों-ज्यों मनुष्य ने गहराई के साथ वेधना आरम्भ किया, हल की नोंक से ज्यों-ज्यों उसकी छाती को गहरे घावों से रौंदना शुरू किया, त्यों-त्यों वह मनुष्य की झोली में अधिक-से-अधिक धान भरने लगी। मनुष्य ने हाथ में हल क्या थामा, मानो प्रकृति की कलाई को ही उसने अपनी मुट्ठी में कस कर पकड़ लिया। बैलों की फुरणियों में नाथ क्या डाली, मानो प्रकृति को ही लगाम देकर उसने अपने वश में कर लिया।

पर प्रकृति की यह विजय मनुष्य की अपनी करारी हार बन कर रह गई। मनुष्य, मनुष्य का स्वामी हो गया। मनुष्य, मनुष्य का गुलाम हो गया। पीढ़ियों के अनुभव से आदिम मानव की समझ-बूझ विकसित होती रही। पहले वह पशुओं को मार कर अपनी उदर-पूर्ति करता था। अब वह उन्हें पाल कर, उन्हें जिन्दा रख कर अपनी आवश्यकताओं को पूरा करना चाहता है क्योंकि उन्हें मार कर खाने से घास चरा कर उन्हें जिंदा रखने से उसका फायदा ज्यादा है। पहले आदिम मानव लड़ाई में जीते हुए दास को जान से मार

डालता था। क्योंकि जिन्दा रख कर उसके द्वारा काम-काज कराने से कोई लाभ ही न था। प्रकृति की बढ़ती वसूली ने दासों की जान बचा ली। गुलाम मालिक के घर से जितना खाता है, या यों कहें कि उसे जिन्दा रखने के लिए मालिक को जितना खर्च करना पड़ता है, वह उस से दिन भर मेहनत करवा कर ज्यादा वसूल कर सकता है। फिर उसे मारने से फायदा? गुलामों को कब्जे में रख कर मालिक उनकी मेहनत के बूते पर जी सकता है। आराम की जिंदगी बसर कर सकता है। पर आराम की उस जिन्दगी को बसर करने के लिए परस्पर बड़े युद्ध करने पड़ते हैं। इसलिए शारीरिक ताकत, वीरता, बाहु-बल, शौर्य, निडरता, युद्ध-कला, रण-चातुर्य, अस्त्र-शस्त्रों की संचालन विद्या, उस समय जिन्दा रहने के लिए प्रमुख शक्ति थी। जो वीर पराक्रमी है, वही धरती भोग सकता है। निर्बल और कायर गुलाम बना लिये जाते हैं। औजार स्वयं तो कुछ उत्पन्न करने से रहे। उनको प्रयोग में लाने के लिए, धान पैदा करने के लिए आदमी चाहिए। ऐसे आदमी—जो ठीक औजार ही की तरह मालिक की व्यक्तिगत संपत्ति हों। जो सबल, वीर, साहसी होता है, वह निर्बल को गुलाम बना कर रख सकता है। व्यक्तिगत वीरता बर्बर-युग की विशेष मान्यता समझी जाती है। और तत्कालीन समय की कविता भी अपने समय की उस मान्यता को स्वीकार करती है। जब स्वयं मनुष्य वीर-पूजा करने लगा है तो कविता भी वीर-भावना को व्यंजित करने लगी। दास-युग की कविता वीर नायकों का जी भर कर बखान करती है। वीरता, शौर्य, पराक्रम का गुणगान करना उसका सामयिक उत्तरदायित्व हो जाता है। महाकाव्यों की रचना कविता की इसी सामयिक जिम्मेवारी ही का परिणाम है। आदिम वर्गहीन समाज और दास-युग के संधि-स्थल के बीच ही महाकाव्यों की सृष्टि होती है। जिनके चरित्रनायक अवतार या महा-पुरुष हुआ करते हैं। आदिम सामूहिक गान, महाकाव्य के माध्यम से अभिव्यक्ति पाते हैं। महाकाव्यों में वर्णित कथा का स्वरूप तो सामूहिक ही होता है। लेकिन एक व्यक्ति के माध्यम से सामूहिक उद्वेग को व्यंजना मिलती है। महाकाव्यों का लोकनायक अपनी वैयक्तिक वीरता व साहस का प्रदर्शन करते हुए भी सामूहिक प्रतिनिधित्व की जिम्मे-वारी से प्रतिक्षण मर्यादित रहता है। वीर-युग के आख्यान-चक्र महाकाव्यों का विशाल आकार ग्रहण कर लेते हैं। कविता में एक सामूहिक कथा ने प्रवेश किया तो वह महा-काव्य में परिणत हो गई। नृत्य में कथा ने प्रवेश किया तो उसने नाटक का रूप धारण कर लिया। पर लोक-कविता में तो नृत्य, संगीत इन तीनों की अभिन्नता आज दिन भी कायम है। किन्तु महाकाव्यों के सामूहिक गान से नृत्य और संगीत थोड़ा-थोड़ा किनारा करते रहते हैं। महाकाव्य का विषय सामूहिक कथा ही रहती है और काव्य उसका रूप। और इसी तरह प्रारम्भिक नाटकों में भी विषय-वस्तु का निर्माण सामूहिक कथा के द्वारा ही होता है। पर उसके रूप-तत्त्व की पूर्णता कविता, नृत्य और संगीत के सम्मिश्रण से ही प्राप्त होती है।

जब दास-समाज में एक ऐसी वर्ग-व्यवस्था कायम हो गई कि अधिकृत गुलामों की मेहनत के बल पर प्रभु-वर्ग बिना मेहनत किये हुए भी आराम से जिन्दा रह सकता है तो इस आराम की जिन्दगी को बसर करने के लिए एक कला-विशेष में पूर्णतया दक्ष होना

पड़ता है। वह कला है—गुलामों को अधिकार में रखने की शक्ति। इस कला-विशेष को साधने से तत्कालीन जीवन की सामयिक आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकता है। गुलाम की भौतिक देह के अलावा उसके धर्म और उसकी कला को भी मालिक अपने अधिकार में ले लेता है। तब धर्म और कला का कर्तव्य बच रहता है - ठीक गुलाम ही की तरह अपने स्वामी के आदेश का पालन करना। मालिक मेहनत से दूर रहता है। अधिकृत कविता और धर्म भी मेहनत और मेहनत करने वालों से दूर रहते हैं। केवल *आराम और विनोद की सामग्री ही में निःशेष हो जाते हैं। जब आदिम समाज की सामू*-हिक एकरूपता नष्ट हो जाती है तो कविता भी दो हिस्सों में बिखर जाती है। तब लोक-काव्य और कविता को अलग से संबोधित करना आवश्यक हो जाता है।

आदिम वर्गहीन समाज में कविता, धर्म, देवमालाएं, मंत्र, जादू-टोना, संगीत, नृत्य इत्यादि सब एक ही में सन्निहित थे। वर्ग-विभाजित समाज में धर्म कविता से जुदा हो जाता है। वह एक निश्चित 'मत' का जड़-रूप धारण कर लेता है। वर्ग-समाज में समूह की चेतना उसकी अपनी चेतना नहीं होती। वह प्रभु-वर्ग द्वारा ऊपर से थोपी हुई एक बाहर की चीज होती है। शोषितवर्ग की चेतना को अपने हिसाब से ढालने के निमित्त प्रभु-वर्ग, धर्म और साहित्य से पूरी-पूरी मदद लेता है। आरम्भ में इसका रूप उतना स्पष्ट नहीं होता। धीरे-धीरे वर्ग-संघर्ष के स्पष्ट होने पर वह स्पष्टतर होने लगता है। 'दास-युग' की सामयिक परिस्थितियों में सरदार, पंडे, पुरोहित, गुलाम, दास, स्वामी इत्यादि के रूप में समाज के भीतर वैविध्य उत्पन्न होने से उसके साहित्य में भी विविधता पैदा हो जाती है। लिपिबद्ध भाषा के अभाव में सहज व स्मृति-सुलभ होने के कारण अभि-व्यंजना का माध्यम तो कविता ही रहती है, किन्तु सामूहिक संवेदना का क्षेत्र थोड़ा-बहुत सीमित हो जाता है। पंडे, पुरोहित, सरदार, दास, और दास-स्वामियों की परिवर्तित स्वार्थ-भावना के मुताबिक उसके आदिम-चरित्र का वह व्यापक सामूहिक रूप अवश्य कुछ सिमट जाता है। उस सिमटे हुए रूप का बृहत् आकार है—महाकाव्य।

काल-देवता की गति क्षण भर के लिए भी अवरुद्ध नहीं होती। वह अविराम गति से आगे बढ़ता ही रहता है। समय बदला। परिस्थितियां बदलीं। बदली हुई परिस्थितियों में दास-युग का वह वीर, पराक्रमी सरदार राज्य-पद पर आसीन हो जाता है। आत्म-रक्षा के लिए तब युद्ध जरूरी था। राजा भी जरूरी था। जिस युद्ध-निरत कबीले के पास राजा नहीं होता था, उसकी अक्सर हार हुआ करती थी। इसलिए एक व्यक्ति को सामूहिक रक्षा और सैन्य-संचालन का भार सौंपना अनिवार्य हो गया। सामूहिक सत्ता, सामूहिक सामर्थ्य, सामूहिक शक्ति और सामूहिक संपत्ति को 'व्यक्ति' के हवाले करना पड़ा। सैन्य-संचालन और सामूहिक रक्षा की खातिर राजा को प्रजा द्वारा कर देना पड़ता था। जमीन की उपज का एक नियमित हिस्सा उसके सुपुर्द करना एक सामूहिक कर्तव्य था। पर राज्य-पद पर आसीन होने के पश्चात् व्यक्ति फिर व्यक्ति ही नहीं रहा। वह समूह से भी अधिक ताकतवर हो गया। आरम्भ में जब 'व्यक्ति' सामूहिक सत्ता पर आरूढ़ हुआ तो थोड़े-बहुत समय तक वह समूह की मान्यताओं से मर्यादित रहा, परन्तु जब राज-सत्ता व्यक्ति पर सवार हो गई तो फिर उसके 'मद' की भी कोई सीमा नहीं रही। वह अपनी

मनमानी करने लगा। स्वयं को ईश्वर का ही प्रतिरूप घोषित करने लगा। साहित्य, कला और धर्म के माध्यम से उक्त घोषणा को प्रचारित किया गया। समय के दौरान धीरे-धीरे यह घोषणा लोक-जीवन के संस्कारों में घुल-मिल कर उसकी चेतना ही का एक अंश बन जाती है। जनता राजा को ईश्वर के रूप में स्वीकार कर लेती है। उसका गुण-गान करती है। वंदना करती है। राजा के दर्शन को अपना सौभाग्य समझती है। जन-चेतना के साथ-साथ कविता ने भी अपना स्वर बदला। अपना वेश बदला। अपनी दृष्टि बदली। जनता के स्वर में वह भी अपना स्वर मिला कर राजा का गुणगान करती है। राजा की वंदना करती है। शक्ति, संपत्ति और सत्ता के पांवों में लोटने का उसने अपना स्वभाव बना लिया। मेहनत के पसीने से उसे बू आने लगी। रेत, कांटे, पानी और धूप से वह अपना दामन बचाने लगी। आराम, सुगन्ध और ऐश्वर्य की तलाश की खातिर वह राज-प्रासादों में जम कर रहने लगी। राज्याश्रित कवि बिहारी ने तो बार-बार अपनी कविता में लोक-रुचि की भर्त्सना की है। उसका मजाक उड़ाया है—कि पसीने और रेत की बदबू में जीवन भर पले हुए गांव के जाहिल इत्र की सुगन्ध को क्या खाक पहचानेंगे? ये इत्र को हथेली में भर कर चाटते हैं। मीठा-मीठा कह कर उसकी सराहना करते हैं। अजीब इनकी समझ है। अजीब इनकी रुचि है। जैसे गंवार ये, गांधी भी इन जैसा ही गंवार! न जाने किस आशा से यह मूर्ख इत्र को गांव में बेचने निकला है। राजा के 'पक्वानों' पर पलने वाले दरबारी, हवा में सांस लेकर जीने वाले 'महाकवि' बिहारी को क्या मालूम कि गांवों की जनता टहनी पर लगे हुए फूलों के वन में रहती है। वह तो केवल फूलों की सुगन्ध ही को समझती है। वह स्वयं अपनी मेहनत से, अपने हाथों से फूलों को जीवन देती है। बेचने के लिए नहीं। जिसे फूलों की सुगन्ध चाहिए, वह यहां चला आये। फूल अपनी जगह नहीं छोड़ता। यदि छोड़ भी दे तो फिर उस में वह ताजगी नहीं रहती। इत्र [कला] को बेच कर उसे रोजी कमाना नहीं आता। इत्र की खरीद-बिक्री तो राज-दरबारों में होती है। गांवों में नहीं। पर राज-कवि धोखा खा गया। इत्र [राज्याश्रित कला] का बाजार बढ़ाने के लिए वह गांव में आ भटका। जहां घर-घर में गुलाब व चमेली [लोक गीत] के फूल महक रहे हैं।

सामंती युग में जब सत्ता, संपत्ति और शक्ति को व्यक्ति की सीमा में केन्द्रित कर दिया गया तो बदले हुए वातावरण के अनुकूल कविता अपना चरित्र और अपनी प्रकृति बदलती रही। जन-समूह से वह काफी तेजी के साथ किनारा करने लगी। श्रम-निरत जन-जीवन से जी चुरा कर वह राज-महलों में आराम की सांस लेती है। राजाओं की आश्रिता बन कर वह मौज करती है। उसके अखंड राज्य की सीमा घटते-घटते सामंती परकोटे तक ही सीमित रह जाती है।

राज्य को कायम रखने के लिए, या उसका विस्तार करने के लिए सेना, मंत्री, राज्य-कर्मचारी, पुरोहित इत्यादि रूपों में समाज के भीतर वैविध्य बढ़ता रहता है। जीवन-यापन के कई नये-नये तरीकों का अस्तित्व संभव होता रहता है। जन-चेतना कई भागों में विभाजित हो जाती है। वैयक्तिक भावना पोषित होने लगती है। वैयक्तिक आव-श्यकता को उद्भासित करने के लिए भाषा का लिपिबद्ध रूप आवश्यक हो जाता है।

लिपि का प्रचलन वैयक्तिक भावना को फिर उकसाता है। दोनों ही एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। समूह और कंठ का आपस में संबंध है। इसी प्रकार व्यक्ति और लिपि भी एक-दूसरे के पूरक हैं।

सामंत युग में कविता समूचे समाज की जीवन-आवश्यकता न रह कर केवल कुछ व्यक्तियों के जीवनयापन का साधन रह जाती है। राज्याश्रित कवियों की आर्थिक-निर्भरता कवियों की स्वतंत्रता का अपहरण कर लेती है। वे अपनी इच्छा और अपनी प्रेरणा से काव्य की रचना नहीं करते। बल्कि दरबारी मान्यताएं ही कवि की प्रेरणाशक्ति को नियंत्रित किया करती हैं। कविता सामूहिक उद्भावना के स्थान पर व्यक्ति के कौशल एवं वाक्-चातुर्य पर ही पूर्णतया निर्भर हो रहती है। सामूहिक संपत्ति का अधिष्ठाता होने के कारण राजा के लिए अर्थ व धन की तो बेहद प्रचुरता रहती है। भूख, प्यास, नींद, वेश, भवन और अर्थ-संचय की भावना के श्रेष्ठतम साधन उसे उपलब्ध रहते हैं। भौतिक आवश्यकताओं के लिए उसे रंचमात्र भी चिंतित होने की आवश्यकता नहीं रहती। काम-भावना की तुष्टि के लिए विलास और नित्य-नवीन क्रीड़ाओं की विविधता ही उसके चिंतन की प्रमुख समस्या बच रहती है। और राजा या सामंत की सौंदर्य-लालसा के रंजन की जिम्मेवारी दरबारी कलाकारों पर आकर ठहरती है। राजा की समस्या कवि की अपनी समस्या बन जाती है। वह अपनी कविताओं में तरह-तरह से नारी के नख-शिख का वर्णन करता है। नायिका के चरित्र-भेदों का रहस्यमय उद्घाटन करता है। निम्न-से-निम्न कोटि का शृंगारिक वर्णन करता है। नारी के सौन्दर्य, उसके यौवन, उसके आकर्षण, उसकी चतुराई को दरसाता है। उसकी व्याख्या करता है। कभी प्रशंसा करता है तो कभी भर्त्सना करता है। संयोग और वियोग के दायरे से बाहर भी समाज का अस्तित्व है, उसके कार्यकलाप हैं, अनेकों सत्य हैं—इसकी वह कल्पना ही नहीं कर सकता। दरबारी कविता की विषय-वस्तु अधिकांशतया नारी की देह पर ही मंडराती रहती है। कभी परे भी हटती है तो सामन्तों के रौब-दाब, उनकी विलासिता, ऐश्वर्य और उनके कार्य-व्यापारों के घेरे में चक्कर काटती रहती है।

आपसी लड़ाई का खतरा सामन्ती-युग में हमेशा बना रहता है। इसलिए वैयक्तिक वीरता, साहस, निडरता ही सर्वोपरि नैतिक मान्यता समझी जाती है। लड़ाई में जो योद्धा जितने अधिक मनुष्य मार सकता है, वह उतना ही वीर है। श्रेष्ठ मनुष्य है। प्रशंसा के योग्य है। सामन्ती कविता भी अपने समय की मान्यताओं को अपनाती है। उनका प्रचार करती है। समर्थन करती है। इसलिए शृंगार और वीर रस की अतिशयोक्तिपूर्ण निराली सूझबूझ सामंती-कविता का प्रमुख चरित्र है। आभूषणों व अन्य शृंगारिक उपादानों से नारी के सौन्दर्य में वृद्धि होती है तो कोई कारण नहीं कि कविता भी अलंकारों से सुन्दर दिखलाई न दे। कवि की अचेतन समझ, कविता को अलंकारों से लाद देती है। कविता जब सामूहिक जीवन व मेहनत से दूर हट जाती है तो वह छंद, नियम, विधान, रीति-नीति और परम्परा आदि की गणित से अनुशासित होने लगती है। जो कला जीवन की आवश्यकताओं से उत्प्रेरित नहीं होती, उस में विषयगत वैविध्य का अभाव रहता है और उसके रूप-तत्त्व का कौशल ही अधिक बढ़ जाता है। विषय और रूप का तादात्म्य

नहीं रहता। कला केवल कौशल, कारीगरी,, चातुर्य के दांव-पेचों में ही निःशेष हो जाती है। थोथे पांडित्य और अहेतुक चिंतन से कविता का रूप तो तरह-तरह की शैलियों में प्रदर्शित होता रहता है, पर विषय जड़, स्थिर और निष्क्रिय हो जाता है। विषय की सक्रिय सार्थकता के माध्यम से जब तक रूप स्वयं निर्मित नहीं होता तब तक शैलीगत विविधता निष्प्राण ही रहती है।

कविता और प्रकृति का संबंध भी सामंती युग में पहले जैसा नहीं रहता। प्रकृति का चित्रण कृत्रिम और विकृत हो जाता है। सामंती संस्कारों द्वारा पोषित कवि की चेतना-दृष्टि प्रकृति में भी नारी की खोज करती है। प्रकृति के साथ रहे बिना, उसे अपने ही जीवन का अंश माने बिना, उसे सच्चे माने में चित्रित नहीं किया जा सकता। इसलिए सामंतकालीन कविता में प्रकृति की अपेक्षा दरबारी वैभव, ठाट-बाट, आडंबर, राज-प्रासादों के ऐश्वर्य व दरबारी रौब-दाब का वर्णन अधिक मिलता है। कवि का जहां और जिस से भी प्रत्यक्ष संपर्क होता है, वह उसकी कविता में स्वयमेव प्रकट हो जाता है।

आराम की तलाश में अकेली कविता ही राजा की शरण में नहीं आई थी। नृत्य और संगीत भी उसके साथ थे। लेकिन दरबारी ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा, द्वेष के उस सर्वव्यापी वातावरण में उनकी एकता कायम नहीं रह सकी। अपने अलग-अलग करतब दिखा कर वे राजा को रिझाने का प्रयत्न करते हैं। कला का उद्गम-स्थान राजा की रीझ-खीज तक ही सीमित रहता है। सामूहिक आवश्यकता के कारण ही नृत्य संगीत और कविता की पारस्परिक अभिन्नता है। कारण के दूर होने पर उसका प्रभाव भी दूर हो जाता है। फिर भला उनकी एकरूपता कैसे कायम रहती? संगीत कविता से बिछुड़ कर केवल वाद्यों में अपने को समेट लेता है। और कविता, संगीत तथा सामूहिक उद्भावना के अभाव को कृत्रिम तरीकों से पूरा करती है। अपने रूप को खूब सजाती-संवारती है। नृत्य भी कविता से जुदा होकर चुप्पी साध लेता है। गूंगा हो जाता है। पर संगीत का संग छोड़ने से तो वह एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। पंगु हो जाता है। संगीत अपने बूते पर अकेला जिंदा रह सकता है। पर नृत्य बिना संगीत के पांवों पर खड़ा नहीं हो सकता। ताल का सहारा आवश्यक है। वाद्य-संगीत—कविता के अभाव की पराकाष्ठा है तो आधुनिक गद्य-गीत संगीत के अभाव का परला किनारा है। ये तीनों कलाएं दरबारी वातावरण का अनुकूल सहयोग पाकर अपनी रूपगत शैली में खूब तरक्की करती हैं। किन्तु लोकजीवन में कविता आज भी संगीत है, नृत्य है, एक धार्मिक कृत्य है, प्रार्थना है, आनन्द है, उल्लास है और एक आवश्यकता है। सामंतकालीन जीवन में विविधता इस रूप में प्रकट नहीं होती कि जिस से कहानी और कविता के बीच विरोध पैदा हो जाय। कविता और कहानी का आपस में मेल बना रहता है। तत्कालीन कविताओं में अक्सर एक कथा विद्यमान रहती है। कहानी, विषयवस्तु को निर्मित करती है और कविता उसके रूप-तत्त्व को।

तुलसी, चण्डीदास, मीरा, कबीर और सूर ये स्वतंत्र कवि थे। किसी राजा के आश्रित नहीं थे। मन में जो भावना उठती थी केवल उसी का पालन करते थे। सत्ता का भय उन्हें नहीं था। राजा की रीझ-खीज से उन्हें कोई वास्ता न था। सत्य से डरते थे। सच्ची

बात कहना जानते थे। सामूहिक आवश्यकता को उन्होंने अपने भीतर अनुभव किया। सामूहिक उद्वेग को अपने कंठ से मुखरित किया, तभी तो हर गले में वह सहजता के साथ उतरता चला गया। चण्डीदास, मीरा, कबीर और सूर जनता के अपने कवि थे। इसलिए जनता ने उनकी वाणी को अपनी वाणी में भर लिया। वे मुक्त थे। उनकी चेतना मुक्त थी। उनकी कविता मुक्त थी।

दास-युग के अंतर्विरोधों ने राजा को ताज पहना कर सम्मानित किया था। उसे सोने के सिंहासन पर बिठाया था। उसकी पूजा की थी। और : सामंत युग के अंतर्विरोधों ने उसके सर से वापस ताज उतार लिया। उसके हाथ से सामूहिक सत्ता छीन ली। समय-देवता की चाल के ऐसे ही कदम उठा करते हैं। उनका ऐसा ही परिणाम हुआ करता है। राजमहलों के गुम्बदों से पार होता हुआ उसका अगला कदम आगे बढ़ा नहीं कि लंबी-लंबी चिमनियां उठ आईं। धान पैदा करने वाली जमीन धूआं उगलने लगी। भाप का अंजन चलने लगा। धड़ाधड़ कारखाने खुल आये। सीटियां बजने लगीं। मजदूरों का जत्था काम करने के लिए दौड़ पड़ा। प्रकृति से वसूल करने की ताकत मनुष्य ने लाखों गुना बढ़ा ली है। हर वसूली के बाद उसकी मांग बढ़ रही है। हर बढ़ी हुई मांग को प्रकृति पूरा कर रही है। मनुष्य के आगे उसका कोई जोर ही नहीं चलता। प्रकृति की जमीन से उसकी आवश्यकताओं का क्षेत्र कहीं अधिक बड़ा है। और वह तो निरन्तर फैलता ही रहता है। जमीन अपने माप में बंधी है। मनुष्य के जीने के लिए अब जमीन ही काफी नहीं है। नई आवश्यकताओं की जिम्मेवारी नये यन्त्रों पर आधारित है। भौतिक मूल्यों को निर्मित करने वाले उत्पादन-साधन सभ्यता के इस युग में बेहद बढ़े। मनुष्य की उत्पादन-शक्ति भी बेहद बढ़ी। सभ्यता के इस प्रारम्भिक काल में ही मनुष्य ने अपनी मेहनत से इतना पैदा कर लिया कि अतीत की समूची पैदावार का नापजोख भी उसके बराबर नहीं हो सकता।

किन्तु मनुष्य की इस असीम उत्पादन-शक्ति के बावजूद भी उसके साथ एक ऐसी विडम्बना लगी रही कि जिसका सम्पूर्ण समाधान अब तक नहीं हो पाया। ज्यों-ज्यों वह अपने विकसित औजारों के द्वारा अधिक-से-अधिक पैदा करने लगा त्यों-त्यों वह अपनी पैदावार से वंचित होता गया। बाजार में बेशुमार कपड़ा भरता गया और आदमी नंगा होता गया। मंडी में लाखों मन धान इकट्ठा होता गया, सड़ता गया और आदमी दाने-दाने को मोहताज होता गया। बीमारियों से न मरने देने के लिए हजारों की तादाद में नई-नई दवाइयां आविष्कृत हो रही हैं और आदमी बिना इलाज के मर रहा है क्योंकि बाजार की खूबसूरत दुकानों में दवाई बीमार को नहीं मिलती, पैसे वाले को मिलती है। हजारों नये-नये काम बढ़े। करोड़ों की तादाद में आदमी काम पर लगे और अगणित आदमी बेकाम होते गये। जीने के लिए काम चाहते हैं और उन्हें काम नहीं मिलता। ज्यों-ज्यों मनुष्य प्रकृति पर विजय करता गया त्यों-त्यों मनुष्य, मनुष्य का गुलाम बनता गया। गुलामी का रूप अवश्य बदलता रहा पर गुलामी का नाश कभी नहीं हुआ। दास-स्वामी के बाद राजा और राजा के बाद कारखाने के मालिक के मातहत मनुष्य अपनी गुलामी करता रहा और कर रहा है। पिछले युग में जो महाजन स्वयं राजा द्वारा शोषित था वह

अब राजा को हटा कर शोषक बन गया है। 'उत्पादन साधनों के इस 'मूल विधान को लेकर आधुनिक सभ्यता ने वे काम किये हैं जिनके लिए प्राचीन समाज बिलकुल अयोग्य था। लेकिन उन कामों को सभ्यता ने मनुष्य की सबसे गंदी वासनाओं और इच्छाओं को उकसा कर पूरा कराया है। उसकी अन्य शक्तियों का नाश करके उसने वासनाओं और इच्छाओं को बढ़ावा दिया। जिस दिन सभ्यता का जन्म हुआ, उस दिन से लगा कर आज तक नग्न लोभ उस सभ्यता की आत्मा बन कर उसे चलाता रहा है। धन और धन! फिर उस से भी अधिक और धन!! ऐसा धन जिस पर पूरे समाज का अधिकार नहीं बल्कि किसी हीन व्यक्ति की सेवा में लगना जिसका लक्ष्य हो। इस लक्ष्य को पूरा करने में यदि विज्ञान की नित्य नई उन्नति और नये-नये कलामय युग उसकी गोद में गिरते गये तो केवल इसीलिए कि कला और विज्ञान की सहायता के बिना धन के गुणों का उपयोग ही नहीं किया जा सकता।' आर्थिक विषमता और आपसी भेदभाव का अन्तर जितना इस आधुनिक युग में प्रकट हुआ, उतना भयंकर रूप उसका पहले कभी नहीं रहा। एक आदमी के पास तो धन इतनी प्रचुर मात्रा में है कि जिसे खर्च करना तक मुश्किल है। और एक आदमी ऐसा है जो दिन-रात मेहनत करने पर भी बड़ी मुश्किल से दो रोटी का जुगाड़ कर पाता है। धन के पीछे आदमी, आदमी को पहचानना भूल गया। मनुष्य के सारे गुण, उसकी सारी मान्यताएं धन की ताकड़ी पर तुली जाने लगीं। पैसा नहीं तो आदमी ही नहीं। फिर गुण और नैतिक मान्यताओं की बारी तो आदमी के पीछे आती है।

कारखानों की प्रचंड यांत्रिक शक्ति के आगे राजा की तोपों का वश नहीं चला। उसके सर से ताज छीन लिया गया। उसके हाथों से सत्ता बदल दी गई। राज-महलों से राज्याश्रित कला और कविता को भी बाजार में लाकर खड़ा कर दिया गया। जिसके पास पैसा हो वह इन्हें खरीद ले। और जिसे पैसा चाहिए, वह इनकी रचना करे। जब स्वयं मनुष्य बाजार में बिकने को खड़ा हो गया तो बेचारी कला की क्या बिसात? बेचारे विज्ञान का क्या जोर? आज की इस पूंजीवादी व्यवस्था में पहली बार कविता को परखने के लिए एक ऐसे मानदण्ड की स्थापना हुई जो काव्य-क्षेत्र के बाहर की वस्तु है। वह है—पैसा। सामंतकालीन कविता की सारी मान्यताएं कविता के भीतर ही निहित थीं। अलंकार है तो वह भी कविता के शब्दों में ही। रस, ध्वनि, उपमा, वक्रोक्ति, छंद आदि सभी कविता से अभिन्न नहीं हैं। काव्य के ये मानदंड कविता के रूप-तत्त्व का पोषण करते हैं। कविता से जुदा होकर अलंकार और उपमा का कोई अस्तित्व ही शेष नहीं रहता। किन्तु पैसे की, कविता के बावजूद भी अपनी स्वतंत्र सत्ता है। वह कविता से सर्वथा एक भिन्न पदार्थ है, जिस से आधुनिक कविता की परख होती है। जो कविता पैसा कमाये, वह अच्छी कविता है। जितना ज्यादा पैसा कमाये उतनी ही ज्यादा अच्छी कविता है। और : जिस कला या कविता से अर्थ-प्राप्ति न हो, वह रद्दी कला है, रद्दी कविता है।

और यह व्यवस्था कुछ इसी तरह की है कि कविता से पैसा कमाने के लिए कवि होना जरूरी नहीं। बिना कविता किये, उसे बिना समझे भी उस से पैसा कमाया जा सकता

है। आधुनिक दवाइयों का विक्रेता, केवल दवाइयों के नाम जानता है और उन से पैसा कमाता है। धान-मंडी में बनिया सभी तरह के धान वेचता है, किन्तु धान पैदा करने वाला कोई दूसरा ही है। उसे यह तक मालूम नहीं कि धान कैसे पैदा किया जाता है? इसी प्रकार आधुनिक प्रकाशक स्वयं कविता किये विना भी, उसे तिल भर समझे विना भी, कविता को वेच कर, उसका व्यवसाय कर सकता है। वह कलाकार नहीं है। लेकिन कला को वेचना वह खूब जानता है। शेक्सपियर को बिना पढ़े भी वह जिंदगी-भर शेक्सपियर को वेचने का काम कर सकता है। वह अंग्रेजी नहीं जानता और अंग्रेजी का व्यापार करता है। गुड़, शक्कर व चमड़े की दलाली न की—कला, विज्ञान और साहित्य की ही हाट सजा ली। पैसा कमाना है, चाहे जैसे भी कमाया जाय। आधुनिक वाजार स्वयं प्रकृति का रूप धारण कर लेता है। उसे अपने हिसाब से वश में रखना असंभव है।

प्रकाशक कवि से माल खरीदता है और ग्राहक को वेचता है। उसे न कवि से कोई वास्ता है और न ग्राहक से कोई सरोकार। केवल पैसे के माध्यम से वह उन्हें पहचानता है। वह एक स्वतंत्र व्यवसायी है। वह न तो अपने शौक के लिए कविता, कला या साहित्य का सौदा करता है और न समाज के भले की खातिर कला या साहित्य को वेचता है। उसे तो केवल अपने जमा-खर्च का ही ध्यान रहता है। वह वाजार से अनुशासित है। ज्यादा तादाद में किताबें प्रकाशित होती हैं तो वह उसका श्रेय नहीं, उसका स्वार्थ है। किताबों का खूब सज-धज कर प्रकाशन होता है तो उसके लिए भी वह प्रशंसा का पात्र नहीं। तरह-तरह के विषय प्रकाश में आते हैं तो इसके लिए भी वह धन्यवाद का पात्र नहीं। क्योंकि इन सबको निर्मित करने के लिए वाजार की प्रकृति का ही मुख्य हाथ रहता है। सर्दियों के दिनों में कपड़े का व्यवसायी बढ़िया-बढ़िया ऊनी कपड़े के डिजाइन मंगवा कर रखता है तो वह इसलिए नहीं कि लोगों को सर्दी से बचा कर वह उनकी सेवा करना चाहता है। यदि वह सर्दियों में ऊनी कपड़े के विविध डिजाइन नहीं रखेगा तो निश्चित है कि उसे कमाई नहीं होगी। वाजार का हुक्म उसे मानना ही पड़ता है। उसी प्रकार आज हिन्दी में धड़ल्ले के साथ नये-नये बढ़िया प्रकाशन और नये-नये विषय अपना रूप-रंग लेकर हजारों की तादाद में दिखलाई पड़ते हैं—वह इसलिए नहीं कि प्रकाशक उदार हो गया है; या उसकी रुचि परिष्कृत हो गई है। यह सब केवल इसलिए कि साहित्य का बाजार इन सबकी मांग करता है।

आधुनिक साहित्य में प्रकाशक का प्रवेश लेखक और पाठक दोनों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका सही विश्लेषण किये विना आधुनिक साहित्य को ठीक से समझा ही नहीं जा सकता। प्रकाशक के आगमन से कवि और पाठक का संबंध टूट जाता है। कवि अपने पाठक की रूपरेखा नहीं जानता। पाठक अपने कवि से मिल नहीं पाता। कुछ कह नहीं पाता। प्रकाशक को अच्छे-बुरे साहित्य की चिंता क्यों होने लगी? वह तो उसे व्यावसायिक रूप से आंकता है। वह जनता की नब्ज को विना पहचाने अपनी दुकान में कोई नई चीज ले आता है। यदि संयोग से वह चीज अधिक विक जाती है तो वह उसी को जन-रुचि समझने की भूल कर बैठता है। वह जनता की पाशविक वृत्तियों को उभारने या उत्तेजित करने का पहले तो वैसा मौका देता है और वाद में उसी को जनता का वास्तविक स्वभाव मान

वैठता है। प्रकाशक के द्वारा जन-रुचि का सही पता लग सकना मुश्किल है। क्योंकि अपनी दुकान या अपने व्यवसाय के बाहर उसका समाज से कोई भी प्रत्यक्ष संपर्क नहीं होता कि जिस से वह जन-भावना के यथार्थ रूप को समझ सके। सामंत-युग के कवि का क्षेत्र सीमित अवश्य हो गया था, लेकिन श्रोताओं से उसका संबंध विच्छेद नहीं हुआ था। क्योंकि तब कविता सुनाने के लिए कंठ और कान की पारस्परिक निर्भरता थी। यदि सुनने वाले कान सामने न हों तो कवि की वाणी अपूर्ण थी।

कविता दिन-ब-दिन वैयक्तिक होती गई। इसलिए नहीं कि छापे की मशीन ने कवि को व्यक्तिवादी बना दिया, वल्कि जिन सामयिक परिस्थितियों ने छापे की मशीन को आविष्कृत किया, उन्हीं सामाजिक परिस्थितियों ने वैयक्तिक भावना का भी पोषण किया। कविता एक सामूहिक उद्वेग और सामूहिक आवश्यकता की सहज अभिव्यक्ति है और यह व्यवस्था संपूर्ण रूप से वैयक्तिक है। जाति-विचार को भुला कर व्यक्ति को प्रधानता दी जाती है। साहित्य को जगन्नाथ का क्षेत्र समझा जाता है। जहां केवल व्यक्ति के प्रवेश को मान्य समझा जाता है। समूह यहां निरादृत होता है। व्यक्ति पनपता है। समूह के प्रति उपेक्षा वरती जाती है। इसलिए वैयक्तिकता के हाथों पड़ कर इस व्यवस्था में कविता की बड़ी दुर्गति होती है। वह चिंतन-प्रधान वन जाती है। किताबों के तथाकथित ज्ञान की उस में बू आने लगती है। दस फुट के कमरे के भीतर ही वह कैद हो जाती है। नये-नये प्रयोगों के वहाने कविता व्यक्ति के स्वर में स्वर मिला कर उसके दुःखों का रोना रोती है। निराशा के गीत गाती है। कवि अपने को सारे संसार द्वारा सताया हुआ अनुभव करता है। समाज के साथ उसे किसी भी रूप में संबंध दिखलाई नहीं पड़ता। वह सब तरफ से सताया हुआ, निराश्रित और हतभागा महसूस करता है। कविता के वहाने वह समाज को अपने व्यक्तिगत दुःखों का रोना सुनाता है। कभी खुशी या सुख होता है तो उन्हें भी दरसाता है। कवि की सारी सामाजिक चेतना काछब के पांवों की तरह उसके भीतर सिमट जाती है। मृत्यु की विभीपिका उसे हरदम छाया की तरह घेरे रहती है। हर अगले सांस के साथ वह स्वयं को मौत के समीप अनुभव करता है। पूंजीवादी कविता जिन्दगी की अपेक्षा मौत को अधिक दुलराती है। इस दुनिया से जीवन ग्रहण करते हुए भी वह एक काल्पनिक दुनिया में विचरण करता है। जिसकी कोई भौतिक या वैज्ञानिक वुनियाद नहीं होती, वह इस पार खड़ा होकर उस पार के सपने देखता है। आध्यात्मिक नाविक का ध्यान करता है। प्रेयसी, सुमुखि, सजनी, प्रियतमा आदि का काल्पनिक चिंतन उसकी कविताओं का प्रमुख विषय है। वह काल्पनिक प्यार के तराने छेड़ता है। और काल्पनिक भाव-जगत से हरदम जुड़ा रहने के कारण उसका शब्द-ज्ञान वहुत ही सीमित रह जाता है। सामाजिक सर्व-मान्य शब्दों के साथ वह वैयक्तिक खिलवाड़ करता है। समाज के साथ व्यापक संबंध, यथार्थ प्रेरणा और संघर्षमय-अनुभूति का अभाव होने के कारण उसकी कविता में विषय की ताजगी नहीं रहती। रूप-तत्त्व की प्रधानता रहती है। विषय गौण हो जाता है। उत्पादन साधनों के विकास की तरह कला की रूप-गत शैलियों का विकास तो खूब होता रहता है। होना यह चाहिए कि विषय रूप को अपने हिसाब से स्वयं निर्मित करे। लेकिन पूंजीवादी कला को अपने रूप ही की प्रथम

चिंता रहती है। रूप के हाथों विषय जैसा भी संवर जाय, वह ठीक है। वह निशाने पर गोली नहीं मारता, बल्कि जहां गोली लग जाय उसे अपना निशाना मान लेता है।

जिस प्रकार मनुष्य मकान के लिए मकान नहीं बनाता। रहने की सुविधा के लिए बनाता है। जिस प्रकार सड़क के लिए सड़क का निर्माण नहीं होता। सामाजिक सुविधा के लिए, चलने-फिरने की सुगमता के लिए उसका निर्माण होता है। रेल की खातिर जिस प्रकार रेल का आविष्कार नहीं होता। उसी प्रकार कविता के लिए कविता की बात भी ग्राह्य नहीं। कला के लिए कला की बात का कोई सामाजिक आधार नहीं है। फिर भी आधुनिक कलाकार पैसे के लिए कला की बात को मंजूर नहीं करना चाहता। उसके स्वाभिमान को चोट लगती है। तब वह कला के लिए कला का नारा बुलन्द करता है। किन्तु वास्तव में कला के लिए कला की इस बुलन्दगी का अर्थ है—पैसे के लिए कला। स्वार्थ के लिए कला।

पूंजी को ही सर्वोपरि मान्यता के रूप में स्वीकार करने वाले इस आधुनिक सभ्य युग में सारे मानवीय गुणों को बाजार में बिकने के लिए विवश होना पड़ता है। यहां ईमानदारी बिकती है। प्रतिभा बिकती है। कला बिकती है। विज्ञान बिकता है। स्नेह और प्यार बिकता है। क्रोध बिकता है। सच्चाई बिकती है। सुन्दरता बिकती है। मनुष्य को जन्म देने वाली मां तक अपने शरीर का भाव-ताव करने के लिए बाजार में बैठ जाती है ! छि: ! छि: ! छि: ! और : कला पैसे से अछूती रहेगी, इस दुर्भावना का कैसे प्रतिपादन किया जाय? डॉक्टर, कवि, वकील, इंजीनियर, अध्यापक सभी पैसा कमाने के लिए अपना-अपना पेशा अख्तियार करते हैं। डॉक्टर का सबसे निकट संबंध रोगी से है। पिता, मां, भाई, पत्नी से भी निकट। लेकिन आज का दक्ष डॉक्टर बिना फीस लिये रोगी की बात तक नहीं सुनना चाहता। समय नहीं है। उसे न तो रोग की चिंता है और न रोगी की। केवल पैसे के साथ उसका लगाव है। जब डॉक्टर तक अपने लोभ की खातिर एक जीवित मनुष्य को अपनी आंखों मरते देख सकता है तब आधुनिक कलाकार का यह दावा कि वह कला के लिए कला की सृष्टि करने बैठा है, कितना उपहासास्पद है। रुपयों की खातिर आज का प्रतिभाशाली होशियार वकील निर्दोष को फांसी दिलवा सकता है, खूनी को निर्दोष साबित करवा सकता है, तब यदि आज का कलाकार अपनी विशुद्ध कला की बात करता है तो वह आसानी से समझ में नहीं आती। डॉक्टरी के लिए डॉक्टरी और वकालत के लिए वकालत की तरह कला के लिए कला की बात भी बेबुनियाद है। डॉक्टरी, वकालत, कला और विज्ञान इस सबकी वास्तविक सार्थकता, उपादेयता पूंजी से मुक्ति पाने ही में है। मनुष्य और मनुष्य के समाज की खातिर ही कला और विज्ञान का अस्तित्व है।

पूंजीवादी व्यवस्था में कलाकार की चेतना पैसे या अपने व्यक्तिगत स्वार्थ द्वारा नियंत्रित होती है। वह परिस्थितियों का गुलाम होता है। पैसे के लिए अपनी कला की सृष्टि करता है। कला इस तरह के वातावरण में नहीं पनप सकती। श्रेष्ठ कला और श्रेष्ठ कविता की उद्‌भावना केवल स्वतंत्रता के हाथों ही संभव है। और आज का कलाकार गुलाम है। गुलामी प्रतिभा को कुण्ठित कर देती है। उसे अशक्त और प्रभावहीन

वना देती है। वैदिक लोक-साहित्य इसीलिए इतना सुन्दर, इतना उच्च और इतना हृदयग्राही है कि उसे सामूहिक उद्वेग द्वारा स्वतंत्र व्यंजना मिली है। और आदिम पुराण-कथाएं भी इसीलिए इतनी सुन्दर हैं कि उन में स्वतंत्र मानव की उन्मुक्त भाव-धार को जीवन्त अभिव्यक्ति मिली है। दास-युग में स्वामी दास की अपेक्षा अधिक स्वतंत्र है। उसकी भावनाओं का उद्भव अधिक उन्मुक्त होता है। इसलिए वर्ग-समाज के प्रारंभिक काल में जव तक प्रभु-वर्ग स्वतंत्र रहता है तव तक उच्च साहित्य की सृष्टि होती रहती है। लेकिन सर्वदा के लिए वह स्वतंत्र रह नहीं पाता। अंतर्विरोधी तत्त्वों से उत्पन्न वर्ग-संघर्ष का सामना करने के लिए वह शासन-व्यवस्था के जाल में उलझता रहता है। दिन-व-दिन वह भी परिस्थितियों का गुलाम हो जाता है। गुलाम को गुलाम वना रहने देने की व्यवस्था का गुलाम। सामंत-युग के प्रारंभिक काल में राजा काफी स्वतंत्र रहता था। उसे शासन-व्यवस्था के वाद भी वहुत-सारा समय मिल जाता था। तव वह कला और साहित्य की वात सोच सकता था। उस तरफ वैसी चेष्टा कर सकता था। उसके दरवार में कला, साहित्य और कविता की उन्नति होती रहती थी। एलोरा, अजंता और उड़ीसा के मंदिर सामंतकालीन स्वतंत्रता द्वारा रचित उच्च कलाकृतियां हैं, जिनका आज दिन भी किसी से मुकावला नहीं हो सकता। सामंत-युग में लोक-साहित्य भी साथ-साथ पनपता रहता है। और आज की पूंजीवादी व्यवस्था में भी जव तक वर्ग-विरोध अपना उग्र रूप धारण नहीं कर लेता तव तक फिर भी अपनी मर्यादा के भीतर भले साहित्य की सर्जना होती रहती है। लेकिन इस व्यवस्था के अंतिम दौर तक तो पहुंचते-पहुंचते कला और साहित्य के पतन की सीमा ही नहीं रहती। इधर पूंजीपति को अपनी पूंजी वटोरने के सिवाय किसी अन्य काम के लिए फुर्सत ही नहीं। और उधर लोक-जीवन आर्थिक संकटों में पिसता रहता है। जिंदा रहना वड़ा मुश्किल हो जाता है। तव ऐसी स्थिति में लोक-साहित्य और चिंतन-प्रधान साहित्य दोनों अपने पतन की पराकाष्ठा तक आ पहुंचते हैं। मध्य वर्ग की व्यवसायी शिक्षा, उसके अनिश्चित संस्कार और उसकी अपरिपक्व मान्यताओं पर साहित्य का ढांचा डगमगाता रहता है। और जव समाज में अनिश्चित जीवन-समस्याओं के कारण नैतिक मान्यताएं पूर्ण रूप से विकृत हो जाती हैं तो वह हीन विकृति नारी के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति पाती है। कला और साहित्य में नारी की वड़ी दुर्गति होने लगती है। उसे कहीं निस्तार नहीं मिलता। सामंत-युग की अंतिम अवस्था में कला के द्वारा नारी की यह दुर्गति आरंभ हो जाती है। और आधुनिक युग के किनारे तक तो पहुंचते-पहुंचते फिर उसकी कोई सीमा ही नहीं रहती। कोई मर्यादा ही नहीं रहती। जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति से नारी-संवंधी यह क्षुद्र वासना अपनी जघन्य पाशविकता व्यक्त करती रहती है। कवि महोदय कविता लिखने वैठेंगे तो प्रेयसी की वात गुनगुनाने के सिवाय उनके पास कोई अन्य चारा ही नहीं। विकृत संयोग और वियोग की क्षुद्र भावना कवि के मस्तिष्क को घेरे रहती है। चित्रकार कोई चित्र वनायेगा तो उसकी विकृत दृष्टि भी नारी के सिवाय और कहीं नहीं जाती। आधुनिक भारतीय सिनेमा को तो नारी के सिवाय कुछ और सूझता ही नहीं। सव कलाओं की विषय-वस्तु नारी। केवल नारी। जघन्य वासना। क्षुद्र काम-भावना। हीन। अश्लील। अमानवीय।

लोक-जीवन और लोक-साहित्य पर भी इसका बड़ा घातक असर होता है।

आर्थिक संकट और बाजार के उतरते-चढ़ते भाव किसान की जिंदगी को बड़ा अस्थिर बना देते हैं। मौत के साथ लड़ने ही में उसकी जिन्दगी बीत जाती है। सुख और जीवन के गीत गाने का उसे अधिक समय ही नहीं मिलता। लोक-साहित्य का विकास रुक जाता है।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात इस आधुनिक युग की यह है कि उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि पर एक ऐसे वर्ग का जन्म हुआ जो पहले के इतिहास में कभी नहीं था। वह है—मजूर। दो खाली नंगे हाथों के सिवाय अपनी देह को चराने के लिए उसके पास और कोई साधन नहीं। हजारों, लाखों, करोड़ों मजूर अपने-अपने खाली हाथ लेकर आधुनिक यंत्रों से उलझने को दौड़ पड़ते हैं। आधुनिक समाज में सभी भौतिक मूल्यों का निर्माण वैज्ञानिक यंत्रों के जरिये ही होता है। मजूर के खाली हाथ नये यंत्र बनाते हैं। यंत्रों का संचालन करते हैं। मजूर की मेहनत से सामाजिक उत्पादन होता है। लेकिन उसकी मेहनत से कविता पैदा नहीं होती। संगीतमय कविता अपने संस्पर्श से उसकी मेहनत को हलका और मीठा नहीं करती। कारखाने का मजूर मुंह बन्द किये गूंगा होकर काम करता है। काम पर लगने के पहले, फाटक के बाहर, मजूर की तलाशी ली जाती है। कविता को फाटक के बाहर ही रोक दिया जाता है। मजूर के साथ कविता भीतर प्रवेश नहीं कर पाती। गाने से काम में खलल पड़ने का अंदेशा है। और : सबसे महत्त्व की बात यह है कि उत्पादन सामग्री में मजूर का कतई हिस्सा नहीं रहता। उसे तो केवल सूखी देनगी मिलती है। तब वह क्यों कविता व संगीत के सहारे पैदावार बढ़ाने की चिंता करे ? वह तो स्वयं मशीन की तरह काम करता है। इसलिए मेहनत के साथ कविता का कोई संयोग नहीं रहता। जबकि उत्पादन सामाजिक रूप से होता है, लेकिन उसका वितरण सामाजिक नहीं होता। चंद मालिकों में ही बंट जाता है। इसके पहले सामंती प्रथा में किसान का जमीन के साथ पूरा-पूरा लगाव रहता है। अपने हाथों बोई हुई फसल का हिस्सा उसे मिलता है। वह अपनी फसल को मेहनत और कविता के संयोग से बढ़ाने की चेष्टा करता है। किसान की जिन्दगी और उसकी मेहनत से लोक-साहित्य का घनिष्ठ संबंध है।

यह व्यवस्था अब गिनती के सांस ले रही है। सामाजिक उत्पादन पर सारे समाज का अधिकार होगा। यह योग टल नहीं सकता। अपने हाथों पैदा की हुई पैदावार पर मजदूर का पूरा-पूरा हक होगा। वह जीवन-आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही माल पैदा करेगा, बाजार में बेचने के लिए नहीं। तब उसकी मेहनत को कविता की आवश्यकता होगी। कविता को मेहनत की अपेक्षा होगी। फाटक के भीतर मजदूर और कविता दोनों प्रवेश करेंगे। मुस्कराते हुए. गाते हुए। इस संयोग के लिए हमें वापस पीछे सरकने की आवश्यकता नहीं। इन्हीं वैज्ञानिक उत्पादन-साधनों की आधार-भूमि पर सब-कुछ व्यवस्थित करना होगा। विज्ञान और कला की समस्त सांस्कृतिक विरासत को अपनाते हुए केवल सामाजिक संबंधों को बदलना होगा।

उत्पादन-साधनों के विकसित रूप से आधुनिक समाज के भीतर वैविध्य खूब बढ़ जाता है। विविध जीवन के अनुरूप कला और विज्ञान की खूब तरक्की होती है। आधुनिक विविध परिस्थितियों के बीच सामंतयुगीन कविता और कहानी की वह एकता

नष्ट हो जाती है। दोनों की सर्वथा भिन्न सत्ता स्थापित हो जाती है। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, गद्य-गीत, रेडियो, सिनेमा, अर्थ-शास्त्र, मनोविज्ञान, जीवशास्त्र, व्यवहार-शास्त्र, नीति-शास्त्र, रसायन-शास्त्र आदि के विभिन्न रूपों में कला और विज्ञान का क्षेत्र खूब विकसित होता रहता है। लेकिन इस विविध भिन्नता की सामाजिक आधार-भूमि तो एक ही रहती है। कला और विज्ञान के इन विभिन्न उपांगों में मूलभूत सामाजिक यथार्थ तो समान रूप से विद्यमान रहता है।

आंख की सुविधा के लिए, व्यापक प्रचार के लिए केवल छापेखाने के रूप में इकतरफा ही विकास नहीं हुआ है। कान की सुविधा के लिए, निर्विलम्ब विश्वव्यापी प्रचार और समाज के हित में रेडियो, टेलिविजन, सिनेमा का आविष्कार छापेखाने से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। समूह के आंतरिक भाव-जगत का आदान-प्रदान करने के लिए छापे के निर्जीव काले अक्षरों से रेडियो का जीवन्त स्वर अधिक उपयुक्त है, लेकिन इन आविष्कारों का सामाजिक कल्याण के लिए सामूहिक उपयोग अभी शेष है। आज की वैयक्तिक आधारभूमि पर इस से अधिक संभव भी नहीं है। केवल उत्पादन-साधनों के सामूहिक अधिकार द्वारा ही इन यंत्रों का सामूहिक उपयोग संभव होगा। तब कविता और कान की व्यापक घनिष्ठता पुन: स्थापित होगी। सामूहिक उद्वेग की उपयुक्त मंगल-भावना पूर्ण स्वतंत्रता के साथ फिर मुखरित होगी। अकेला कवि भी कविता करेगा तो भी उसका रूप वैयक्तिक नहीं होगा। कवि अपनी सामूहिक जिम्मेवारी को पूरा करेगा। सामूहिक उद्वेग को ही व्यंजित करेगा।

कविता ने मनुष्य की आदिम असहाय अवस्था में दु:ख व कठिनाइयों का सामना करने के लिए उसका साथ दिया था। उसे परिस्थिति के साथ जूझने के लिए सामूहिक शक्ति का संबल दिया था। वह फिर निश्चित रूप से मनुष्य की सामूहिक जरूरत पर उसका साथ देगी। अपने साथी से अब उसका अधिक बिछोह नहीं रहेगा। अपनी लय और अपने संगीत से आधुनिक मनुष्य की ताकत को बढ़ायेगी। उसकी सामूहिक शक्ति को उत्प्रेरित करेगी।

कविता का भविष्य उज्ज्वल है। क्योंकि मेहनत का भविष्य उज्ज्वल है। मेहनत करने वालों का भविष्य उज्ज्वल है। ००

ग्रास फार्म नर्सरी, जयपुर २१ अप्रेल, १९८४

मेरे...मेरे...

समझ नहीं पड़ता—क्या कह कर संबोधित करूं। किसी भी चिर प्रचलित रिश्ते से मेरे मन की अगाध आत्मीयता दरसा नहीं सकता। जो सब रिश्तों से बड़ा रिश्ता है: क्या भाई, क्या मां, क्या बाप—ना ना, ये तो बहुत ही नगण्य रिश्ते हैं—खून के रिश्ते, परम्परागत रूढ़ियों से पले-पोषित रिश्ते; जिन से मेरे व आपके बीच की घनिष्ठता व्यक्त नहीं हो सकती। यदि भगवान में आस्था होती तो यहां तक कहने में संकोच नहीं करता कि उपस्थित अधिकांश आत्मीयजनों का मुझ से या मुझ से उनका रिश्ता राम, रहीम या अलख-निरंजन कुछ भी कहिए—सबसे बड़ा है। उसका तो बस नाम ही नाम है, अस्तित्व का भ्रम है। पर मैंने तो अनाम संबोधित मेरे अंतरंग साथियों को कानों से देखा है, आंखों से सुना है, खून से परस किया है, हर सांस के साथ उन्हें वर्षों से जिया है!

पर किसी-न-किसी संबोधन के बहाने मुझे मुक्त तो होना ही पड़ेगा। केवल 'साथी' शब्द से थोड़ा सहारा मिल सकता है।

हां, तो मेरे साथियो...!

एक बार इसी अपरिसीम आत्मीयता ने इस शब्द में सिमट कर मेक्सिम गोर्की के कानों में झंकार उत्पन्न की थी। आज मेरे कानों में उसी शब्द की अनहद गूंज फिर झंकृत हो रही है। सुख के समय शायद मैं उन्हें भूल गया होऊं, पर मेरे दुख में—कैसे भी संकट की वेला में, वे मुझे नहीं भूले। याद करते ही उन्होंने मुझे हर क्षण हवा की तरह जिलाये रखा। आज सभी को याद किया तो उन में से बहुतेरे आंखों के सामने हैं, कानों के पास हैं, चाहूं तो उन्हें छू सकता हूं। आज वे मेरी वाणी सुन रहे हैं, जिसके लिए मैं आकाशवाणी का कतई मुहताज नहीं हूं। और जो सामने नहीं हैं, वे ज्यादा नजदीक हैं; मेरे भीतर बिराजमान हैं। लेकिन आपके माध्यम से ही मैं उन्हें महसूस कर सकता हूं। आज का यह

मेरौ दरद न जानैं कोय

विजयदान देथा

प्रत्यक्ष नजारा जो मैं अपनी कमजोर आंखों से, नहीं-नहीं, अपने समूचे शरीर से देख रहा हूं, वह स्वप्न है या सच ? यदि स्वप्न है तो किसी भी सच्चाई से बढ़ कर है। यदि सच है तो किसी भी सुहाने सपन से श्रेष्ठ है।

आज मेरा 'होना' सार्थक हुआ।

पिछले दो-ढाई बरस से अपने भीतर घुमड़ता यह आर्तनाद सब साथियों के बीच सुनाना चाहता था; जिसे मैं कई वर्षों से अकेला ही अकेला सुन रहा हूं। जागते हुए, सोते हुए। पढ़ते समय, लिखते समय। यों कहूं कि जीते हुए हर क्षण जो आत्म-साक्षात्कार की अनुभूतियां मुझे हुईं; वे अपने सहयोगियों को बताना चाह रहा था और जाने-अनजाने टालता भी जा रहा था। कुछ बातें सुनाना आसान नहीं होतीं। युद्ध के प्रत्यक्ष मोर्चे से भी कहीं ज्यादा विकट होती हैं। इच्छा तो यह थी कि जो बातें मैंने मन-ही-मन वर्षों से भाषा के परे जानी हैं, उन्हें भाषा के बिना ही कह डालूं तो अच्छा रहे। पर यह सम्भव नहीं। फिर सोचा, भाषा का सहारा लेकर ही झड़ी लगा दूं। किन्तु पहली बार पता चला कि मन की घटा को झेलने के लिए भाषा का माध्यम तो कतई उपयुक्त नहीं है। न मातृ-भाषा राजस्थानी का और न राज-भाषा हिन्दी का। फिर उपस्थित कुछ साथी राजस्थानी समझ नहीं पायेंगे, इस कारण हिन्दी का ही आसरा लिया। राजस्थानी में खूब लिखा है; ढेर सारा। पर लिखने की शुरुआत तो हिन्दी से ही की थी। काफी कहानियां लिखीं। निबन्ध लिखे। आलोचना लिखी। हिन्दी के राज-पथ पर चल कर ही मुझे मातृभाषा की बगिया मिली है।

हमारे प्रान्त का दुर्भाग्य कि अपने ही घर में अपनी जबान पर बंदिश है, पर आप विश्वास रखें—बंदिश का दुराग्रह करने वाले भी अच्छी तरह जान लें—कुछ समय तक किसी प्रान्त की जबान को बांधा जा सकता है, हमेशा के लिए काटा नहीं जा सकता। स्कूल, विश्वविद्यालय और अदालतों के निर्जीव प्रांगण में मातृभाषा पर भले ही पाबन्दी रहे, पर वह खेत-खलिहानों में, घर के आंगन में, गांव की गुवाड़ में, पेड़-पौधों की हरियाली में, उत्सव-आनन्द की स्वर-लहरियों में और सुनहले सपनों में प्रति क्षण फलती रहेगी। फूलती रहेगी। हवा और धूप में घुली रहेगी।

कई दिनों तक मेरे भीतर एक सनक कसमसाती रही कि एक ऐसी झिरमिर भाषा में अपना मन बरसाऊं, जो मेरे लिए रक्त-मांस से बनी हो, अंतड़ियों से उपजी हो, पसलियों से गढ़ी हो, पर इन थोड़े-से दिनों में ऐसी भाषा ईजाद नहीं कर सका। शायद आगे कर सकूं। ठीक वैसी ही भाषा जो सूर, कबीर और मीरा ने अपनी देह से पैदा की थी—मज्जा, नाड़ियों और हड्डियों से। अक्षरों का बाना तो एक ऊपरी बाना था। उनकी अतल गहराइयों में वे आज भी जीवित हैं। अक्षर-अक्षर में, सर्वत्र बिखरे हुए।

जब वे जिन्दा थे, तब लोगों की दृष्टि में मरे हुए थे। वे तो मरने के बाद जीवित हुए हैं। हर गले में, हर आंख की पुतली में निवास है उनका।

लेकिन मैंने तो अपनी बात बताने के लिए आप सबको आमंत्रित किया है। खत्म तो कर ही दूंगा या अपने-आप ही हो जायेगी, पर शुरुआत कहां से करूं ? जन्म लेना ही मुश्किल है, फिर मौत तो जब चाहे दबोच लेती है। एक बात बीच में साफ कर दूं कि

काफी समय से मेरे भीतर धूआं-ही-धूआं घुट रहा है कि मेरे अंतरंग साथी मेरी सूरत भली-भांति पहचानते हैं, मेरा नाम जानते हैं; उन्हें यह भी पता है कि पिछले कई सालों से मैं लिखने के काम में मशगूल हूं, पढ़ने का अच्छा-खासा शौक है मुझे। पर यह तो केवल ऊपरी पहचान है, भीतर से मुझे वहुत थोड़ा जानते हैं। कसूर मेरा ही है। जानने का मौका ही नहीं दिया। खुद को छिपाने की जाने-अनजाने चेष्टा भी करता रहा हूं। पर साथियों ने कभी दुराव नहीं वरता। सहयोग में कभी कसर नहीं रखी। किन्तु मैं हमेशा इसी अपराध-वोध से सुलगता रहा कि मैं छद्म-वेश से उन्हें छल रहा हूं। मैं तो वह व्यक्ति ही नहीं, जिसे वे अपना मित्र समझ रहे हैं, वह तो कव का फरार हो गया और प्रति दिन फरार होता ही जा रहा है। परसों था वह कल नहीं। कल था सो आज नहीं। सवेरे था सो सांझ नहीं। वे तो इस रहस्य को कतई नहीं जानते, पर मैं स्वयं तो इस धोखाधड़ी से खूव परिचित हूं। आत्मग्लानि के मारे नींद उड़ी-उड़ी रहने लगी। न कहते वनता था और न छिपाये। यही मेरी सवसे वड़ी 'दुविधा' थी, 'उलझन' थी। शायद आज के वाद इस 'असमंजस' से छुटकारा पा सकूं। इसलिए एक-एक को अलग से पत्र लिख कर या प्रत्यक्ष मुलाकात करके या किसी के जिम्मे सौंप कर, हृदय के अतल आतिथ्य से उनकी अभ्यर्थना की है। न रंगीन कार्ड छपाये और न चिकने-चुपड़े। सवसे अलग-अलग संवंध हैं, सवका अलग-अलग अहसान है, किसी का आर्थिक, किसी का नैतिक और किसी का मानसिक व आध्यात्मिक। हर एक की अपनी-अपनी अस्मिता है। अपना-अपना व्यक्तित्व है। फिर एक ही तराजू से कैसे तोलूं?

इस आयोजन के वहाने मेरे मन में कई तरह की कल्पनाएं वनती रहीं, मिटती रहीं, वदलती रहीं। शुरू-शुरू में तो यह पक्का निश्चय कर लिया था कि प्रत्येक साथी का नाम वता कर सामूहिक रूप से उसके सहयोग के प्रति आभार प्रदर्शित करूंगा, तभी मेरे द्रवित मानस का बोझ हलका होगा, अन्यथा वह चरमरा कर टूट जायेगा। सहयोग देने वाला सहज ही भूल सकता है, पर ग्रहण करने वाला संवेदनशील व्यक्ति तो सोते हुए भी कांप-कांप उठता है। पर आठों पहर सोचते-विचारते आखिर इस नतीजे पर पहुंचा कि ऐसा हरगिज नहीं करूंगा। अपने साथ-साथ मैं उन्हें भी छोटा कर दूंगा। स्वयं को छोटा करने का अधिकार तो मुझे है, पर दूसरों को छोटा करने का अधिकार मुझे नहीं है। यह तो एक ऐसा अपराध होगा, जिसकी कैसी भी सजा पाकर मैं उसके दण्ड से वरी नहीं हो सकूंगा। यों अपराध के लिए अग्रसर होना मेरे लिए कोई नई वात नहीं है। विद्यार्थी-जीवन में कई छोटे-वड़े अपराध किये। पर वाहर से सामाजिक दण्ड मुझे एक भी नहीं मिला। और वही मेरे लिए सवसे वड़ी सजा हो गयी। भीतर-ही-भीतर वैयक्तिक रूप से स्वयं को इतना दंडित किया जो वड़े-से-वड़े अपराध के लिए भी कठोर होता। उस दण्ड का परिणाम है कि मैं कातिल, चोर, लुटेरा—साफ शव्दों में कहूं कि रंगा-विल्ला या गोडसे नहीं वन कर एक लेखक वन गया। अपने जीवन के प्रति निरंतर अत्याचार किये, पर अक्षर की मर्यादा को, शव्द की महिमा को, कलम की प्रतिष्ठा को और अध्ययन की पवित्रता को जाने-अनजाने कभी दूषित नहीं किया। और आज विनम्र स्वर में इतना घोषित किये वगैर मुझे मर कर भी चैन नहीं मिलेगा कि उसके श्रेय का एक-मात्र हकदार

मैं ही नहीं हूं। हकदार हैं वे सभी छोटे-बड़े साथी-सहयोगी, जिन्होंने हर संकट की घड़ी में मुझे उवारा है। जिसके परिणाम-स्वरूप दहकते अंगारों की भट्टी में वारूद की पुड़िया ज्यों-की-त्यों सुरक्षित रह गई, जैसे तिजोरी के वीच पड़ी हो। कभी-कभार अनहोनी और सहजता के वीच युद्ध छिड़ जाता है। न भट्टी ने हार मानी और न वारूद की पुड़िया ने। पराजय की तिलमिलाहट में भट्टी का रोप लपलपाता रहा और वारूद की पुड़िया चुप-चाप उसकी चुनौती स्वीकार करती रही। ठौर-ठौर काले अक्षरों में विखर कर अपनी मुस्कान छितराती रही। विश्वास रखिए, यह कवीर जैसी गहरी व मार्मिक वात नहीं है; जिसका घर, जलने के वाद ही सुरक्षित रह पाता है और सर कटने के वाद जिसका जीवन शुरू होता है।

आप सभी के सामने अभी-अभी लिखित रूप में इकरार कर चुका हू, फिर भी हठीला मन मानता ही नहीं। जीवन की एकाध घटनाएं वताने का पाप तो मुझे करना ही होगा, अन्यथा अपनी पीड़ा को आपके सामने पेश नहीं कर पाऊंगा। जैसा आज आपके सामने हूं, ठेठ से ऐसा नहीं था। यह तो समय ने मेरे साथ कलाकारी की है।

मेरे सर पर भी काले वाल थे—काफी घने। ललाट वहुत छोटा था। यह उन दिनों की वात है, जव काले वालों की प्रेरणा से काली ही वातें सूझा करती थीं।

एक वार संयोग से शरत्-वावू की 'रामेर सुमति' पढ़ते-पढ़ते ऐसी कुमति सूझी कि छत पर कपड़े सुखाते समय उन पर पत्थर रखना भूल गया। तुरता-फुरत स्नान करके गमछा लपेट कर अधूरी छूटी 'सुमति' आगे पढ़ने लगा। अक्षरों के अथाह समंदर में ऐसा डूवा कि अपने अस्तित्व का ही खयाल नहीं रहा। कहानी खत्म होने पर भी खत्म नहीं होना चाहती थी। इस आनन्द का तो स्वाद ही निराला है। जैसे रोम-रोम में पांखें उग आई हों। आकाश में निरुद्देश्य उड़ानें भरने लगा। उड़ता-उड़ता वेसुध-सा छत पर पहुंचा तो मुंडेर पर कपड़े नजर नहीं आये। मेरी तरह आकाश में कहीं निरुद्देश्य उड़ तो नहीं गये? तव तक पूरा होश नहीं लौटा था। ऊपर चारों तरफ उनकी तलाश में इधर-उधर झांका। उनकी आसन्न जरूरत से सूरज तक ओझल हो गया था। उस समय मुझे सूरज की नहीं, कपड़ों की तलाश थी। क्षण भर से भी अल्पतम समय में सारा होश ठिकाने आ गया। दो-दो सीढ़ियां फांदता घर से वाहर निकलकर, सूई की तरह कपड़े खोजे, पर न धोती नजर आई, न कमीज। दूसरा कोई फालतू कपड़ा नहीं था जिसे पहन कर सड़कों पर निकलता। घर से वाहर भटकने की आदत होते हुए भी मन मार कर गमछा लपेटे, 'सुमति' दुवारा पढ़ने के वहाने परिस्थिति को भूल जाने की वेकार कोशिश करने लगा। पर कोई भी कोशिश वेकार नहीं जाती। शरत्-वावू का जादू ऐसा सर पर चढ़ा कि सव-कुछ भूल-भाल कर, उस एक ही कहानी का वार-वार पाठ करने लगा। न समय का खयाल रहा और न अपना। जैसे हजारों-हजार कपड़े मेरी गिरफ्त में हों। पढ़ते-पढ़ते कुछ ऐसा भ्रम हुआ कि कहीं सूरज भी वेसुध होकर एक जगह अटक तो नहीं गया? देखूं, सूरज के अस्त न होने से, दुनिया में क्या नयी हलचल होती है? पर छत पर चढ़ते ही मेरा भ्रम टूट गया। सूरज आधा डूव चुका था। आधे सूरज का प्रकाश भी कुछ कम नहीं होता। कहीं कोई परिवर्तन नहीं। कौओं की पांत डूवते सूरज को शायद नोचने के लिए उधर ही उड़

रही थी। नीम के पेड़ पर चिड़ियां हमेशा की तरह वैसी ही चहक रही थीं। डूबते सूरज के इर्द-गिर्द गुलाबी सांझ घिर आई थी। रात का अंधियारा फैलते ही आकाश में टिमटिमाते तारे झांकने लगे। एक भी तारे को मेरे कपड़े खोने का गम नहीं था। दूसरे दिन भी कोई अन्तर नहीं। तीसरे और चौथे दिन भी सूरज हमेशा की तरह अपनी जगह उदय हुआ। 'राम' के साथ-साथ मेरी भी सुमति लौट आई कि प्रकृति के अपार ऐश्वर्य की प्रचुरता के बीच किसी का कैसा भी दैन्य कुछ माने नहीं रखता। समझना चाहूं तो यह समूचा वैभव मेरा ही तो है। अमावस्या की उस रात मेरे लिए एक नया ही चांद उगा, जिसके प्रकाश में मुझे अपनी राह बिलकुल साफ नजर आने लगी। पहले की सारी पगडंडियां न जाने कहां ओझल हो गईं। और उस राह पर मुझे सर्वत्र कपड़ों के ऐसे निराले थान ही थान नजर आये, जिन्हें पहन कर मैं उनके भीतर भी स्वयं को निरावृत महसूस नहीं करूंगा। गुरु की प्रत्यंचा से छूटा तीर कलेजे में इस कदर आर-पार हुआ, मानो नये प्राण मिले हों। मरम पर लगी चोट का ऐसा ही असर होता है। अपने दुख को बड़ा समझने से दूसरों के दुख का अपमान होता है। इस से बड़ा जघन्य अपराध दूसरा कोई नहीं।

काली रात का अंधियारा छंट गया था। सवेरे अपने भांजे के हाथ पत्र देकर उसे एक दोस्त के पास भेजा। नाम बताने का अपराध नहीं करूंगा। बीज अपने भीतर कितना-कुछ छिपाये रहता है। उस से कुछ तो सबक सीखना चाहिए। पर वह गुजरा हुआ जमाना हथेली की रेखाओं के समान मुझे जब-तब साफ नजर आता रहा है। कोई घड़ी भर बाद मेरी खाली मुट्ठी में दो सौ रुपये आ गये। जितने रुपये मांगे थे, उतने ही मिल गये। भांजे के हाथ ही एक धोती और एक सिला-सिलाया कमीज मंगवाया। लाश के कफन की तरह जीवन के लिए भी एक वेश काफी है। मन न ढके पर तन तो ढक ही जाता है! मन को कपड़ों की बजाय अक्षरों से ढकूंगा। बाकी रुपये लेकर सीधा 'भारतीय पुस्तक भवन' पहुंचा। शरत्-साहित्य का पूरा सेट खरीदा। जैसे हीरे-मोतियों का खजाना कौड़ियों के भाव मिल गया हो। शेष रुपयों से कुछ तो उधार चुकाया और कुछ खाने का सामान जुटाया। कुतिया का भूंकना तो बन्द हो! फिर उस मंगलमयी शुभ घड़ी से शरत्-बाबू को लीलने लगा सो निरंतर चार-पांच बरस लीलता ही गया। पर उसके बाद एक बार भी कपड़ों पर वजनी पत्थर रखना नहीं भूला। कुछ महीनों तक तो ऐसी सनक सवार हुई कि सर पर भी एक भारी पत्थर रख कर चलूं, नहीं तो न जाने कब किसी अप्रत्याशित झोंके के साथ उड़ जाऊं!

शरत्-साहित्य को बांचने का वैसा आनन्द कोई क्या लेगा? वे मेरे पहले 'सतगुरु' थे और मैं उनका न जाने कौन-सा परम-शिष्य? सारे हिन्दुस्तान में अपने जैसा अकेला ही शिष्य, जो परीक्षाओं के दौरान भी रात को और सवेरे जल्दी शरत्-साहित्य ही पढ़ता रहता था। क्या पढ़ाना चाहिए और क्या पढ़ाया जा रहा है?

उस अनिर्वचनीय आनंद के दौरान सौभाग्य का एक ऐसा ही चमत्कार और हुआ कि जोधपुर शहर की बढ़ती बहबूदी के बीच मुझे सत्रह दिन तक भूखा रहना पड़ा। पर उस भूख के वरदान-स्वरूप मानो सारी उम्र का भोजन मैंने एक साथ ही कर लिया हो। एक

ऐसा भोजन जिसके बाद मेरे पेट को—मेरा दिमाग, मेरा दिल व मेरी आत्मा—हजम करने की जरूरत ही न पड़े। और हमेशा के लिए निश्चय कर लिया कि अपनी बुद्धि से, मन से, आंखों से, हाथ, पांव और कानों से पैसा अर्जित करने का काम नहीं करूंगा। मनुष्य होकर जन्म लिया है तो रुपया ढालने की टकसाल नहीं बनूंगा। पढ़ने का जो आनंद उठाया है यदि वैसा आनन्द, मैं अपने पाठकों को कभी दे सका तो मुझ से सुखी व समृद्ध दूसरा कोई नहीं होगा। जो ऋण लिया है, उसी रूप में उसे चुकाना होगा। ऐसे ऋण की मियाद खत्म नहीं होती। उसका दावा अपनी कचहरी के अलावा और कहीं नहीं हो सकता।

तब से आज दिन तक मेरे अद्‌भुत सौभाग्य में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं हुआ। परिवर्तन की चाह भी नहीं हुई। भला ऐसा अनहद-भाग्य छोड़ कर और क्या चाहना करता! फिर उसी बात को दुहराने के लिए क्षमाप्रार्थी हूं कि अपने दृढ़-निश्चय पर अडिग रहने के श्रेय का मैं अकेला ही हकदार नहीं हूं। यदि समय-समय पर साथियों के स्नेह की गोचरी मुझे नहीं मिलती तो मैं कब का महाभारत की लड़ाई हार चुका होता। और इस बात का मुझे मन-ही-मन कम दुख नहीं है कि लेखन का यश कृपण की तरह अकेले-ही-अकेले इकट्ठा किये जा रहा हूं। आज कहने का यत्किंचित् अवसर मिला, पर बहुत-सारा पानी बह जाने के बाद। कलेजे में शूल की तरह गड़ते इस दरद को बरसों से चुपचाप सहता चला जा रहा हूं। किसे कहता? मेरे अपने कान तो यह शिकायत सुनते-सुनते बहरे हो गये थे। अपने धर्म-परायण देश में दासी मीरा का दरद समझने वाले तो भरे पड़े हैं, पर लेखक का दरद समझने वाली सहृदयता तो यहां के पानी में ही नहीं है। लेखक के लिए तो वह भी कम कठोर नहीं। उस देश में जहां व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, सूर, कबीर और मीरा जैसे अनेक सृष्टा हो चुके हैं, वहां आज जन-साधारण के सामने लाख चेष्टा करने पर भी लेखक के औचित्य को समझाया नहीं जा सकता। जहां अधनंगे ऋषि-मुनियों ने भीख मांग कर बस्ती से दूर जंगल में नदियों के पानी की तरह साहित्य की विपुल सम्पदा लुटाई है—खुले हाथों, मुक्त मन से। पर आज दुर्भाग्य से हमें तात्कालिक वर्तमान के अलावा न अतीत का कोई अहसास है और न भविष्य की कोई सुधि। मौत की सच्चाई को हम इस सीमा तक भूल चुके हैं; जैसे मृत्यु हजार-हजार बरस हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकेगी। निवृत्ति के बहु-प्रचारित आदर्श के बीच, निरर्थक संचय की अतृप्त आकांक्षा का हमें कोई ओर-छोर ही नजर नहीं आता। शायद इस विश्वास के कारण कि मरने के बाद हम सारी सम्पदा अपने साथ ले जा सकेंगे। जब कि एक कील तक साथ ले जा सकने का आज के ज्ञान-विज्ञान में कोई प्राव-धान नहीं है। किसी के भी समझाये हम यह समझने को तैयार नहीं हैं कि भोजन में नमक की गरज—हीरे-मोतियों से, सोने-चांदी से और काले धन से पूरी नहीं हो सकती। पर अनिश्चित भय की दुर्दान्त विभीषिका ने हमें ऐसा आक्रांत कर रखा है कि निहायत सहज बातें भी हमारे लिए सर्वथा दुर्बोध हो गयी हैं। मृत्यु की आसन्न घड़ी में, जो जितना ही बड़ा मायापति है, उसका दुख उतना ही बड़ा है। कितना कुछ छोड़ कर जाना पड़ता है उसे—हीरे-जवाहरात, सोना-चांदी, नोटों के अगणित बंडल, बहुमंजिली इमारतें,

कल-कारखाने, मोटर-गाड़ियां और चाकरों का लश्कर। पर मृत्यु के समय बेचारा गरीब ऐसी बेश-कीमती भारी-भरकम चिन्ताओं से सर्वथा मुक्त होता है। उसे जो विरासत में मिला, वही छोड़े जा रहा है—आटे का खाली कनस्तर, टूटी खाट, फटी गुदड़ी और बस ! ओह ! फिर वही थोथी निवृत्ति के पिटे-पिटाये प्रवचन ! पर एक भेद-भरी बात तो सुना कर ही रहूंगा, भले ही माफ न करें, लेकिन उसका अधिक प्रचार मत करियेगा कि—अभाव, संकट, दुख, क्लेश और असफल प्रेम के उर्वर अंतस्तल में ही प्रतिभा अंकुरित होती है, पल्लवित होती है, परिपुष्ट होती है। इसके विपरीत सुख और वैभव का ऐश्वर्य तो नितांत पंगु, निष्क्रिय, अरसिक व फूहड़ होता है। निरा मुर्दा। पर दुख में संजीवनी शक्ति होती है। यदि कार्ल मार्क्स अभावों से जूझता हुआ 'पूंजी' का महाकाव्य न लिख कर केवल पूंजी का संचय करता तो आज उसे कौन पहचानता ? हां, उसकी मां तो जरूर खुश होती, किन्तु आधी दुनिया पर विषाद छा जाता। सही है कि आर्थिक अभावों की उर्वर कोख से प्रतिभा का जन्म होता है, पर निर्धनता की मजबूरियां उसे रुग्ण बना कर कब मौत की गोद में सुला देती हैं, पता ही नहीं चलता। अपने अभिन्न मित्र फ्रेडरिक एंजिल्स की आत्मीयता और उसके प्रचुर धन का सहारा नहीं मिलता तो कार्ल मार्क्स की प्रतिभा का न जाने क्या हश्र होता ? छोटा भाई थियो यदि वॉन गॉग की हर जरूरत पर उसका सहयोग करने के लिए आतुर नहीं रहता तो दुनिया कितने बड़े चित्रकार से वंचित रह जाती ! पर मैं तो वॉन गॉग से भी ज्यादा भाग्यशाली हूं। उसे तो छोटे भाई के रूप में एक ही थियो मिला था, मुझे तो विभिन्न साथियों के रूप में अनेक थियो मिले हैं। केवल भाग्य की तुलना कर रहा हूं, प्रतिभा की नहीं। मार्क्स या वॉन गॉग की छाया भी मुझ से तो ज्यादा प्रतिभा-संपन्न होगी। पर मैं तो निखालिस मैं ही रहना चाहता हूं। बस, अपनी ही खोज है मुझे। शायद विगत प्रतिभाओं के पदचिह्नों पर चल कर अपने को पा सकूं। किन्तु कबीर व मीरा जैसी विरल प्रतिभाओं को तो मौत भी जिलाती है, दुलराती है। उनके चरणों में सर नवाती है।

हद तपै सो औलिया, बेहद तपै सो पीर।
हद बेहद दोनों तपै, ताकौ नांम कबीर।।

यों तो हर व्यक्ति, वनस्पति, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, पहाड़-टीले, नदियां-सरोवर, बादल-बिजली, चांद-सितारे—मतलब कि समस्त ब्रह्मांड एक लेखक या कलाकार के लिए गुरु का ही काम करता है; पर मोटे रूप में शरत्-बाबू के बाद मेरा दूसरा 'सतगुरु' है—एंटन चेखव। कितना सीखा है ? आज भी सीखता जा रहा हूं। जिसने कथा साहित्य की नदी का रुख ही नहीं मोड़ा, पहाड़ को अपनी जगह से खिसकाया है—वहां हमारे लिए आज अपने-आपको एक अंगुल भी इधर-उधर खिसकाना संभव नहीं। हां, अलबत्ता, मरने पर दूसरों के कंधों का सहारा पाकर मसान की नयी यात्रा के लिए उतना जरूर आगे बढ़ते हैं, इस में कोई सन्देह नहीं।

अब साल-भर से तीसरे परम गुरु हैं—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जो सबके गुरुदेव हैं। किन्तु नासमझी के दौर में जब लिखने का गुमान ज्यादा था, पढ़ कर अर्थ समझने का मिथ्या दंभ

था, तव उनकी कटु आलोचना भी करने का अपराध कर चुका हूं। निरन्तर प्रक्रिया की अनिवार्यता को शायद अपराध कहना उचित नहीं। यात्रा के वढ़ते चरण ही तो मंजिल के करीव पहुंचाते हैं। हर कदम की अपनी उपादेयता है, सार्थकता है। हर कदम सत्य है—पर अंतिम नहीं। सत्य का अंतिम रूप कुछ भी नहीं होता। विज्ञान के लिए भी नहीं, फिर साहित्य और कला का सत्य तो सर्वथा अंतर्मुखी है।

एक वार शरत्-वावू से, उनके मर्मज्ञ पाठकों ने अपनी राय निःसंकोच जाहिर की कि रवि-वावू की वनिस्वत उनकी रचनाएं उन्हें ज्यादा पसन्द हैं। तव उन्होंने धीर-गम्भीर स्वर में, तत्काल उत्तर दिया—हां, आप ठीक कह रहे हैं, मैं आप लोगों के लिए लिखता हूं और रवि-वावू मेरे लिए।' केवल शरत्-वावू ही वैसा निश्छल जवाव दे सकते थे। पर उस दिन तो वाकई मुझे वहुत वुरा लगा, उनकी अतिरिक्त सज्जनता पर गुस्सा भी आया था। पर मैं तो साल भर पहले से ही गुरुदेव को समझने का यत्किंचित् अधिकारी वना हूं। समय और अनुभव के द्वारा ही मानवीय सत्य चरितार्थ होता है। पुरुष और नारी के सहवास की तरह साहित्य व कला का आनन्द भी कच्ची उम्र में नहीं लिया जा सकता।

कल क्या राय वनेगी, कहना मुश्किल है। पर आज मुझे यह कहने की इजाजत दीजिए कि नोवल पुरस्कार से जहां, अन्य सभी लेखकों की प्रतिष्ठा वढ़ी है—वहां रवि-वावू के अपूर्व सृजन से स्वयं पुरस्कार का गौरव वढ़ा है। किन्तु इस वात पर आज अभिमान करने की क्षमता भी हम खो चुके हैं। नितान्त भौंड़ी व लज्जास्पद वातों पर ही आज हमारा अहंकार फूल रहा है। विडम्वना यहीं समाप्त नहीं होती, गौरव करने वाली वातों पर हमें मन-ही-मन शर्म महसूस होती है। हमारी जड़ें कट चुकी हैं। कितना ही पानी डाला जाय, सव व्यर्थ होगा। जड़ कटने पर हरियाली नहीं फूटती। और हम वांध पर वांध वनाते जा रहे हैं!

आप विश्वास करें न करें, फिलहाल जिसे गुरु वनाने का लोभ हो रहा है, उसका तो शिष्य वनने की योग्यता भी शायद हासिल न कर सकूं। वह गुरु है— दास कवीर। यह हमारी आंखों का नहीं, केवल शिक्षा का ही दोष है कि सूरज-चांद की वनिस्वत हमें कोयलों में ज्यादा चमक नजर आती है। ऊपरी अर्थ में ही हमारी शिक्षा की तो इति हो जाती है। हमारे विद्यालयों में वस विद्या ही नहीं मिलती। शिक्षा भी कहां है? मिलता है केवल शिक्षित होने का भ्रम! फिर ज्ञान का तो प्रश्न ही वेकार है। ऊपरी अर्थ से कुछ भी उपलव्धि नहीं हो सकती। उस में न सुख है, न सत्य। मर्म तक पहुंचने की कसक चाहिए। उसके विना उपनिषद व महाभारत को टटोला तो जा सकता है, समझा नहीं जा सकता। और उन्हें समझे विना, अपनी परम्पराओं से जुड़े विना, अपने ही देश में हम विदेशियों से अधिक अजनवी हैं। इस यथास्थिति में लेखक होने का दावा करना, गुस्ताखी नहीं तो और क्या है? यही अंतर्वेदना साल डेढ़-साल से मथ रही है। नींद उचटी-उचटी रहने लगी है। आप यकीन करेंगे, एक वार तो सैंतीस दिन तक नींद ही नहीं आयी। शायद मुझ से रूठ कर दूसरी ठौर सोने चली गयी हो। पत्नी की चिन्ता मिटाने के लिए कई वार नाक वजाने का नाटक करना पड़ा। पर नींद की अपनी पहचान होती है। वार-वार कारण पूछने पर भी क्या कारण वताता! लेकिन इतना जरूर जानता हूं कि नींद न

आने का अर्थ जागना नहीं है। खुली आंखों के समय तो हम और भी गहरे सोये रहते हैं! नींद में शायद थोड़ा-बहुत जगना हो तो हो!

सुखिया सब संसार है, खावै और सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै और रोवै।।

ऐसा गुरु कहां तलाश करूं जो मुझे अविनाशी गोविन्द से न मिला कर अविनाशी अक्षरों से मिलाये। शब्द-ब्रह्म से साक्षात्कार करवाये। फूल, वृक्ष, सांप, हाथी और मनुष्य की उम्र के समान ही जाति, समाज, देश और दुनिया की भी उम्र होती है। ज्ञान-विज्ञान से बौराई इस मानवीय दुनिया का विनाश अवश्यम्भावी है। वह अपनी मौत से नहीं बच सकती। सम्पत्ति, संचय, पूंजी और मुनाफे के खुले ताल में असंख्य शिकारियों के बीच बेचारी हिरनी चारों तरफ से घिर चुकी है। उसे मारने के लिए तो बस एक तीर ही काफी है। कमान से छूटने भर की देर समझिए। वह तो मरते समय आर्तनाद भी नहीं कर सकेगी।

कबिरा हिरनीं दूबरी, एउ हरियारैं तालि।
लाख अहेरी एक जिउ, केतिक टारै भालि।।

उपभोक्ता संस्कृति की भ्रामक मरीचिका के पीछे इंसान चाहे जितना भटके-डोले, वह अपने-आप से कभी नहीं मिल सकेगा। ज्ञान-विज्ञान की नित्य नयी खोज में वह स्वयं से कितना दूर होता जा रहा है! अतृप्त लालसाओं के द्वारा अपने वर्चस्व की पूर्ति वह कभी नहीं कर सकेगा। आज अपने देश में सर्वत्र फूहड़, भौंड़ी और वाहियात रुचि को देख कर कभी-कभार तो ऐसा भ्रम होता है, जैसे इस देश में साहित्य, संगीत, शिल्प या किसी भी कला की तो कभी शुरुआत ही नहीं हुई। फिर समृद्ध परम्परा तो क्या खाक होगी! परम्परा तो सांस की तरह जीवंत रहनी चाहिए।

सुन कर नाक-भौं मत सिकोड़ियेगा, काफी-कुछ सोच-विचारने के बाद यह कहने की हिम्मत जुटा पाया हूं कि कबीर जितना आज प्रासंगिक है, उतना पहले कभी नहीं रहा। विशेषकर, अमरीका और यूरोप के संदर्भ में। अपना देश तो उनकी नकल करने में ही मरा जा रहा है। धर्म और ईश्वर की बात छोड़िए, मनुष्य जिन्दा रहेगा तभी तो सुमिरन करेगा। उसका अस्तित्व ही आज खतरे में है। तब अपने को बचाने की फिक्र तो होगी उसे। पहाड़ों के बोझ से तो पृथ्वी को राहत मिलती है। वे अनगिनत नदियों का ठण्डा पानी उसे सौंपते हैं, सूखी रेत में हरियाली चित्रित करते हैं, फूल खिलाते हैं, जड़ी-बूटियों से उसके घाव धोते हैं। किन्तु सौ मंजिली इमारतों के बोझ से वह दबती जा रही है। जबकि मनुष्य को दफनाने के लिए, साढ़े-तीन हाथ की कब्र ही काफी है, कोई लम्बा हुआ तो पौने चार। जिन्दगी तो अपने-आप याद रहती है, पर मौत को भूलने से भी काम नहीं चलेगा, वह जीवन का ही अंश है। पहले मौत की अपनी अस्मिता थी, सुन्दरता थी, लेकिन अब तो स्वयं मनुष्य ही मौत का प्रतिरूप बन गया है। मौत को परास्त करके वह उसके सिंहासन पर बैठना चाहता है। पशु, पक्षी, जंगल और अपनी ही बिरादरी के

इंसानों को वह मौत से पहले ही मारने लगा है। यह न तो सभ्यता है और न विकास। सांप को दूध पिलाने से वह जहर में तब्दील हो जाता है तो उसे दूध क्यों पिलाया जाय? पर आज तो एक ऐसे संपेरे की जरूरत है जो सांप का विष स्वयं अपने गले उतार ले!

झरने की भांति निरन्तर बहने वाला ज्ञान शास्त्रों में बंध कर जड़ हो जाता है; उसे पुनः मुक्ति मिलती है साहित्य में। नये सौंदर्य-बोध की साधना का परस पाकर वह फिर से प्रवाहित होने लगता है। ज्ञान मनुष्य के लिए है, ज्ञान के लिए मनुष्य नहीं है। इस तथ्य को भूल जाना ही सब अनर्थों की जड़ है। निःसंदेह कागजों पर लिखे मंत्र, खुली आंख से अधिक प्रामाणिक नहीं होते।

तू भाखै है कागद लेखी, मैं कहता हूं आंखन देखी।

पर कबीर की तरह देखने के लिए आंखों का जोर ही काफी नहीं होता। पुतलियों में वैसी दृष्टि भी चाहिए—जो सामने दिखता है, उसके भीतर झांक सके, जो प्रत्यक्ष है, उसके परे देख सके. वर्तमान के सदृश अतीत और भविष्य को भी उतना ही स्पष्ट आंक सके। अतीत में गहरी जड़ें होंगी, तभी भविष्य के भाल पर फूल खिलेंगे। रस-भरे फल झूमेंगे। आज की रक्त-पिपासु नर-भक्षी सभ्यता के लिए कबीर और केवल कबीर का नजरिया ही अपेक्षित है। किन्तु हमें बीते हुए कबीर में समाहित नहीं होना है। हर युग को अपना-अपना कबीर चाहिए। किन्तु परम्परा से विच्छिन्न होकर, किसी भी युग में कोई कबीर पैदा नहीं हो सकता। कबीर प्रतीक है उस मानवता का जो रूढ़ियों से, कट्टर मान्यताओं से मुक्त हो। जो स्वयं जिन्दा रहने की खातिर दूसरों का शोषण न करे; जिसकी आंखें अपने स्वार्थ से आगे देख सकें। जो बीज से अंकुर, अंकुर से पौधा, पौधे से पेड़, पेड़ से फल और फल से पुनः असंख्य जीवित बीजों की निर्बाध यात्रा से जुड़ा हुआ क्षण-क्षण भविष्य के गर्भ में विकसित होता रहता है। पेड़ की प्राण-शक्ति सूखे पत्तों का संचय नहीं करती, बल्कि सर्वत्र बिखेर कर नया परिधान धारण करती है। कबीर नाम है, इसी चिन्मय परम्परा का, सतत् प्रवहमान प्रगति का।

साथियो, आज आपके सम्मुख मुझे अपना लोभ प्रकट करने में कतई झिझक महसूस नहीं होगी कि कई दिनों से कबीर-सा सृजन करने की इच्छा मन में सुगबुगा रही है। भाषा को जिस रूप में उस फकीर ने बरता, वैसी कोई नहीं बरत सका, जैसे भाषा उसकी धमनियों का सहज रक्त-प्रवाह हो, उसकी प्राण-शक्ति का उच्छ्वास हो। उसने कलम के चातुर्य और बुद्धि की निपुणता से काव्य की सृष्टि नहीं की। उसके सृजन को काव्य का नाम तो हम दे रहे हैं लेकिन वह तो उसके जीवन का ही छंद था। मां जिस तरह अपनी कोख से संतान पैदा करती है, उसी तरह उसने अपने अंतर्द्वन्द्व को जन्म दिया था; अपने संघर्ष को वाणी दी थी। जिसका मर्म शब्दों के भीतर नहीं, उनके माध्यम से चरितार्थ हुआ है। उसके प्रति डाह की होड़ करते हुए नयी कथाओं में, उपन्यासों में, आलोचनाओं में और कविताओं में वैसा ही जीवन जीना चाहता हूं। अक्षर मेरा ईश्वर हो, शब्द मेरा धर्म हो और वाक्य मेरा अनुष्ठान हो। कुछ इसी तरह के अविनाशी से अपना व्याह रचाना चाहता हूं। सच मानिए, इतने बरस तो जीने के साथ-साथ लिखने का अभ्यास

किया था। कलम मांजी थी। आपके सहयोग व आशीर्वाद से मरने के क्षण तक अपने को खोज ही लूंगा। अपनी ओर से इतना-भर विश्वास दिला दूं कि अब स्वयं से कभी पराजित नहीं हो सकूंगा। जीवन के महाभारत में यही सबसे बड़ी जीत है। बाकी दुनिया में छोटे-बड़े महायुद्ध तो होते ही रहते हैं। उनकी जीत, हार से भी गयी-गुजरी है और हार, नर्क से भी अधिक भयावह।

आज दिन तक जिस किसी लेखक को पढ़ने में आनंद आया, वे सभी मेरे गुरु हैं। किसी से कम सीखा तो किसी से ज्यादा। और जिन्हें पढ़ कर झुंझलाहट हुई, उन्होंने भी गुरु के ही समान अपना कर्तव्य निभाया है। उन से यह सीखने को मिला कि क्या नहीं लिखना चाहिए। मेरे बदले उन्होंने बदनामी का सेहरा अपने सर बांध कर मुझे सर्वथा बचा लिया। उपकृत हूं उनका भी। पर आज-कल तो लेखकों की बजाय स्वयं प्रकृति ही गुरु बनने की खातिर ज्यादा व्यग्र नजर आती है। पत्थरों के पास होकर गुजरता हूं तो वे टोक कर कहते हैं—ऐसी भी क्या हड़बड़ी है? हमारी बात भी तो सुनते जाओ। वह दिन अब दूर नहीं, जब हर पत्थर से एक अहिल्या प्रकट होगी और सारे इंसान पत्थर बन जायेंगे। आधे तो बन ही चुके हैं। बीज मुस्करा कर कहते हैं—हीरे की डिबिया में बरसों तक सुरक्षित रहना हमारी सार्थकता नहीं है—पूर्णतया विनष्ट होकर ही हम पल्लवित हो सकते हैं। अस्तित्व को सर्वथा मिटाने में ही हमारे जीवन की सिद्धि है। ना, अभी रुको, हम पर कुछ लिखने के लिए तुम्हारी कलम उतनी समर्थ नहीं हुई। भौंकते हुए कुत्ते कहते हैं—जिन्हें हम एकबारगी सूंघ लेते हैं, उन्हें कभी काटते नहीं, पर तुम तो भाई भाई का गला काट लेते हो। अपनी प्रियतमा को रिझाने में मशगूल कबूतर गुटरगूं करता है—किस हाय-तोबा में फंसे हो? सुखी होना चाहते हो तो हम से सबक लो। मेरी परेई सदा मेरे साथ रहती है। अपना घोंसला छोड़ कर मैं चुग्गे की खातिर अमरीका नहीं जाता। कुदरत ने पांखों का पट्टा दिया है मुझे। कंकर का भोजन कितना स्वादिष्ट होता है, यह कभी नहीं जान सकोगे तुम। हमें तो तुम्हारी तरह कपड़ों और जूतों की कभी जरूरत नहीं पड़ती।

तभी पास के झुरमुट में फुदकती चिड़िया मखौल उड़ाते हुए चहचहाती है—हमारी तरह अब कभी नहीं उड़ सकोगे तुम? अपने ही हाथों, अपनी पांखें कतर डालीं तो हम क्या करें? हमें मार भले ही डालो, हमारी पांखें तुम नहीं पा सकोगे। हवाई-जहाज में उड़ना, उड़ना थोड़े ही है। पत्थर रख दो तो वह भी उड़ेगा। हां, तुम्हारे ऋषि-मुनि उड़ते थे! तुम्हें तो अब घुटनों के बल चलना भी नहीं आता। अपने बाहर की तरक्की पर मत इतराओ, बहुत अधःपतन हुआ है तुम्हारा। चींटी भी कोसती है। मधुमक्खी भी ताने सुनाती है। बड़ा परेशान हूं। अपना दरद किसी को भी नहीं सुना पाता। आज सुनाने के लिए सबको आमंत्रित किया, पर लगता है, कुछ भी नहीं सुना पाऊंगा। लेकिन इस भिनभिनाहट के द्वारा आप कुछ समझ जाएं तो मेरा बोझ हलका हो। जिस तरह हंसी की कोई भाषा नही होती, फिर भी उसका मर्म कहां छिपा रहता है? जिस तरह मां अपने बच्चे का रोना सुन कर, उसके मन की सारी व्यथा समझ लेती है, कुछ उसी प्रकार आपको मेरी बकवास का मर्म समझना होगा। मैं तो बरसों से सुन-सुन कर बौरा गया

हूं। आप लोगों ने ही लुप्तप्राय डायनोसिरस को इतने बरस जिलाये रखा है तो उसका खमियाजा भी भुगतना पड़ेगा।

साथियो, तिनके की ओट में पहाड़ को छिपाया जा सकता है, इमली के कूंडे-सी दो पुतलियों को बन्द करने से सूरज का अनंत प्रकाश भी ओझल हो सकता है, ठीक उसी प्रकार वर्तमान यवनिका के परे लेखक के अस्तित्व को भी नकारा जा सकता है, लेकिन यह लेखक या कलाकार ही है, जिनकी छातियों में समूचे देश की प्रतिभा सुरक्षित रहती है। ये तथाकथित इतिहास तो निठल्ले व हिंसक शासकों के कंकालों की मंजूषा है; उस में प्राण या धड़कन कहां? नृशंस लुटेरों की बदबूदार अस्थियों के परे केवल प्रतिभाओं की कड़ियां परम्परा की शृंखला में जाने-अनजाने जुड़ती चली आती हैं, बाकी सब-कुछ झड़ जाता है। शासक झड़ जाते हैं, लुटेरे झड़ जाते हैं, मायापति झड़ जाते हैं। वह साहित्यकार ही है जो मीरा की तरह समाज के जहर को अमृत में तब्दील करता है, विषैले सर्पों को नश्वर हार में बदल देता है। वर्ना अब कौन इतिहासकार बता सकता है कि मीरा के समय किस शहर में कौन प्रतिष्ठित व्यक्ति थे, कौन सेठ-साहूकार थे, कौन चोर-उचक्के थे, कौन पहलवान थे, संपत्ति के बंटवारे की खातिर किस भाई ने किसका गला काटा और किस किसान के खेत में कितना अनाज पैदा हुआ था? कालिदास और भवभूति के समय वे कौन तीसमारखां थे जिन्होंने बड़े-बड़े शहरों में दुमंजिली या तिमंजिली हवेलियां बनवायी थी? किस बनिये की कितनी आमदनी थी? कौन कर्जदार था और कौन बोहरा था? किस राजा के दरबार में कौन कर्मचारी कितनी रिश्वत खाता था और कौन कर्मचारी ईमानदार था? और तो और, उनके वंशज भी भूल गये कि किस पूर्वज ने उनके लिए कितनी जमीन-जायदाद छोड़ी थी? वे कब मरे? कब जन्मे? जन्म लिया तो मरे ही होंगे। मरे हैं तो जरूर जन्म लिया होगा। उन्होंने किस-किसको धमकाया, कौन उन से डरते थे और वे किस से डरते थे? किसी के पास कोई लेखा-जोखा नहीं है।

इतना दूर तलाश करने की जरूरत नहीं, रवि-बाबू तो कुछेक बरस पहले ही कलकत्ता में पैदा हुए थे। आज तो हिन्दुस्तान से बाहर बहुत सारे देशों में उनका नाम फैला हुआ है, पर तत्कालीन समय के दौरान वे अकेले ही तो कलकत्ता में नहीं जन्मे थे। आज की तुलना में तो बहुत ही कम, फिर भी काफी घनी आबादी थी इस महानगर की। शायद उन में से अब कोई भी नहीं बचा। पर शहर का नाम वही है और वही रहेगा। सभी बाशिन्दों ने अपनी-अपनी आयु के बीच बड़ा हल्ला-गुल्ला मचाया होगा। परिवार चलाने के लिए, पैसा जोड़ने के लिए क्या-क्या उल्टा-सीधा नहीं किया होगा। अपनी-अपनी पत्नियों को मारा-पीटा होगा। बच्चों का दुलार किया होगा, उन्हें दुत्कारा भी होगा—जिसका जैसा स्वभाव! रिश्वत खाने वाले कर्मचारियों ने रिश्वत भी खूब ली होगी। आज जितनी आजादी तो नहीं थी, पर मौका मिलने पर मिलावट करने वाले मिलावट किये बगैर नहीं रहे होंगे। इस डर से भगवान की कचहरी में रिश्वत, नहीं-नहीं दान भी दिया होगा। कई कंगाल धनवान हो गये होंगे और कई धनवान सटोरिये एक ही दिन में अपना सब-कुछ गंवा चुके होंगे। प्रेम भी बहुतों ने किया होगा। बलात्कार भी किया होगा, एकाध खबर भी उछली होगी। तब शायद ऐसी खबरों पर विशेष तरजीह

नहीं दी जाती थी। कुछ भले नेक आदमियों ने साफ-सुथरी जिन्दगी भी जी होगी। पर आज कलकत्ते के गली-मोहल्लों में सचमुच उन्हें कोई नहीं जानता। सब-कुछ बदल गया। सड़कें बदल गयीं। इमारतें बदल गयीं। पीढ़ियां बदल गयीं। उस पीढ़ी का कोई नहीं बचा। क्या उन्हें पता था कि वे सबके सब यों मर जायेंगे और उन्हें यों बिसार दिया जायेगा! उनकी तो बिसात ही क्या थी, अंग्रेज माई-बाप से भी आज कोई नहीं डरता। पुलिस के आई. जी. पी. और एस्पियों तक को गाफिल लोग यों भूल जायेंगे, यह अनुमान तो उन्हें सपने में भी नहीं था। जो आबादी आज इस महानगर में किलबिला रही है, वे भी नहीं जानते कि इनका भी वही हश्र होगा जो उनके आसन्न पूर्वजों का हुआ है। पर बंकिम चन्द्र, रवीन्द्र नाथ, शरत् चन्द्र, नजरुल इस्लाम इत्यादि ऐसी ही कुछ हस्तियां हैं जो मरने के बाद आज भी जी रही हैं, जीती रहेंगी। अरे हां, एक खास बात तो भूल ही गया। सुन कर किसे अचरज नहीं होगा कि नोबल पुरस्कार विजेता श्री रवीन्द्र नाथ ठाकुर, इंडियन सिविल-सर्विस और बैरिस्ट्री की परीक्षा पास करने के लिए विलायत गये थे। आज तो हजारों भारतवासी एक स्वर से कहने को तैयार हैं कि देश का अहोभाग्य कि उन्हें वह ओहदा नहीं मिला। पर उन दिनों भला कौन उस ओहदे से विमुख होना चाहता था? वर्तमान के उस अभेद्य घेरे में कितनी भारी प्रतिष्ठा का पद था वह। बेचारे लेखक नाम के प्राणी को तो बाहर जूतों के पास तब भी ठौर नहीं थी, आज भी ठौर नहीं है। पर उस नासमझ बच्चे की कशमकश देखिए जो इंडियन सिविल सर्विस और बैरिस्ट्री का प्रलोभन छोड़ कर लेखक बनने के लिए आमादा हुआ था। सिकन्दर, नेपोलियन, हिटलर इत्यादि कायर योद्धाओं ने ऐसी लड़ाइयां तो क्या लड़ी होंगी। निरपराध जनता को मौत के घाट उतारने में कौन-सी वीरता है? बिना हथियार के अपने-आप से हर क्षण लड़ना, भीतर-ही-भीतर जूझना—यह कुछ पराक्रम की बात है। जो जितना ही कायर होगा, वह उसी हिसाब से दूसरों की हत्या करेगा। वीरता दूसरों को मारने मे नहीं, खुद के मरने में है कि वह किस मौत मरता है? जन्म लेने के बाद जिसने जीना ही नहीं जाना, वह क्या मरेगा? हां, चूहों को एक ही झपाटे में मारने वाली बिल्ली भी किसी शूरवीर से कम नहीं। निःसंदेह बिल्लियों ने तो अब तक न जाने कितने चूहों को मारा, हजार गणितज्ञ पूरी शताब्दी में भी जिसकी गणना नहीं कर सकेंगे। पर किसी ने, न तो आंखों से देखा और न कानों से सुना कि चूहों के जत्थे ने मिल कर किसी बिल्ली पर हमला किया हो। कुत्तों की बात दूसरी है। यह तो मैदान और मोर्चा ही अलहदा है। अप्रासंगिक है। संदर्भ केवल बिल्लियों और चूहों का ही था। बेचारी बिल्लियों का दुर्भाग्य कि उनका इतिहास लिखने के लिए कोई कर्नल टॉड जैसा समर्थ इतिहासकार पैदा नहीं हुआ।

हां, तो साथियो मैं कह रहा था कि किसी भी देश की सांस्कृतिक परम्परा उसके साहित्य, संगीत, शिल्प तथा अन्य कलाओं में सुरक्षित रहती है। वह योद्धाओं, शूरवीरों, मायापतियों व शासकों की रंचमात्र भी मुहताज नहीं—प्रतिभा और केवल प्रतिभाओं के अजर फूलों में देश की सांस्कृतिक सौरभ अक्षय रहती है। बर्तोल्ड ब्रेख्त के शब्दों में वह देश कितना अभागा है, जिसे वीर-नायकों की जरूरत है। दूसरों के मन की बात मैं नहीं

जानता, पर मुझे प्रतिभा की मौत का जितना सदमा पहुंचता है, उतना और किसी का नहीं। मेरे देखते-देखते इन चन्द वर्षों में राजस्थान की कितनी ही परिचित प्रतिभाएं ध्वस्त हो चुकीं। किसी ने दस कदम के बाद लड़खड़ा कर दम तोड़ दिया तो किसी ने सौ कदम चलने के बाद। सच कहूं तो कितने ही व्यक्तियों में मुझ से ज्यादा प्रतिभा थी, पर वे अपने अमूल्य नगीनों को पहचान न सके और कौड़ियों के भाव चुक गये। अपने भीतर की कस्तूरी को भूल कर हरे या सूखे घास की तलाश करते-करते ही भटक गये। पर इस घाटे का हिसाब रखने वाले वही-खाते ही अपने देश में नहीं हैं, तब किसे सुनाऊं अपना दरद-पुराण! सुनाना भी चाहूं, कोई क्यों सुनना चाहेगा? हर कोई अपने-अपने दायरे में बंधा है। जब मुझे अपनी लक्ष्मण रेखा के बाहर झांकने की फुर्सत नहीं, रुचि नहीं, तब किसी से यह आशा कैसे करू कि कोई मेरी ओर देखेगा! बहुत बार चेष्टा की, पर अकेले किसी को सुनाने की हिम्मत नहीं हुई। मेरी व्यक्तिगत जरूरतों पर किसी भी मित्र ने आनाकानी नहीं की, पर बिना सुनाये वे मेरे मन की पीड़ा समझ ही कैसे सकते थे! इसीलिए दो साल से डरते-घबराते मैं इस आयोजन की बात सोच रहा था, सो आज मेरी साध पूरी हुई। 'अलेखूं हिटलर' का विमोचन तो एक बहाना मात्र है। अपने समूचे शरीर से जो भी देख रहा हूं, वह स्वप्न है या सच? यदि स्वप्न है तो किसी भी सच्चाई से बढ़ कर है। यदि सच है तो किसी भी सुहाने सपन से श्रेष्ठ है। आज मेरा 'होना' सार्थक हुआ। और कोई जाने न जाने, मैं खूब अच्छी तरह जानता हूं कि अपने भीतर घुमड़ता तूफान मैं दिखला नहीं सका, पर उसकी सांय-सांय से आप जरूर मेरे मन की व्यथा समझ सकेंगे। इस चीख के साथ मैं अपना आर्तनाद समाप्त करता हूं; जो आप लोगों के लिए समझने की शुरुआत है! ००

प्रिय इरपिंदर, बोरुन्दा, १६.१२.८३

देश, काल, धरती, जाति, धर्म, कुल और परिवार इत्यादि सब-कुछ, संयोग का अखाड़ा है। अनंत और असीम अखाड़ा। जहां कल—अनादि कल, आज और भविष्य के मानुस, कठपुतलियों की तरह संयोग की अदृष्ट अंगुलियों पर खेले, खेल रहे हैं और खेलेंगे।

राजस्थान के जोधपुर जिले में, बिलाड़ा तहसील, बोरुन्दा गांव के देथा-कुल में सबलदानजी सुपुत्र जुगतीदानजी की 'हवेली' में मेरा जन्म भी संयोग का ही चमत्कार है। मेरे जीसा [पिता] सबलदानजी केवल अच्छी कविता ही नही करते थे, वे कविता को जीते थे। बातचीत में कविता, हंसी दिल्लगी में कविता, अच्छी फसल पके तो कविता, पानी बरसे तो कविता, अकाल पड़े तो कविता। बस्ती के महाजन धूल-पंचमी खेलें तो कविता, लोग दिसावर सिधाएं तो कविता, बच्चे घरौंदे बनाएं तो कविता, मतलब कि उनकी जिह्वा वाणी की अपेक्षा कविता की मर्यादा अधिक समझती थी। दाता [पितामह] भी नामजद कवि थे। जाति में प्रतिष्ठित, रजवाड़ों में चर्चित। उनके लिए कविता कमाई की कामधेनु थी। इच्छानुसार साध पूरने वाली। वित्त-माया के निमित्त खूब कल्याणकारी साबित हुई। किन्तु मैंने स्वेच्छा से तो इस घर में जन्म लिया नहीं था। नितान्त परोक्ष रूप से ही मेरा जन्म हुआ। रिश्ते, सगाई, भांवरें, 'माया' की रात अमोलक सेज और गर्भ की आशा-वासा सब कुछ संयोग के बुदबुदे हैं, इरपिंदर !

राजकमल प्रकाशन से हिन्दी अनुवाद के द्वारा दुविधा व अन्य कहानियों का प्रकाशित होना, दीपक केजरीवाल के बहाने उस पुस्तक का तुम्हारे हाथ लगना, 'दोहरी जिन्दगी' कहानी पर नाटक करने की मंशा से गांव आने का संयोग घटित होना, मंचन के दौरान आठ-दस दिनों का संसर्ग, तत्पश्चात् नाटक 'बीजां-तीजां' तैयार होने पर मेरा दिल्ली आना, तुम्हारे यहां ठहरना, 'बीजां' के अभिनय में तुम्हारे चरित्र के नये आयाम समझना,

संयोग की लीला

विजयदान देथा

दूज के नये चांद की तरह निरन्तर आत्मीय-सम्पर्क का बढ़ना—यह सब संयोग का करिश्मा नहीं तो और क्या है ? यश, वित्त सम्पत्ति या नकद-नारायण के निमित्त मेरे जीवन में दाता [पितामह] के सौभाग्य की तरह जोग-संजोग की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रंचमात्र भी मेहर-मया नहीं रही। मेरे निमित्त कर्म या सौभाग्य की खानापूर्ति विधात्री करना ही बिसर गयी, किन्तु सृजन की दृष्टि से मैं जबरदस्त भाग्यशाली हूं—जबरदस्त। समय के विद्युत प्रवाह और मेरी सृजन-बगिया में अचीते संयोग के अमोलक मोती मन-वांछित रूप से बरसते गये, अब भी बरस रहे हैं—न कोई खामी और न कोई सीमा।

तुम्हें जान कर बड़ा आश्चर्य होगा इरपिंदर कि मैंने सृजन का श्रीगणेश कविताओं से किया। ढेर सारी कविताएं लिखीं, करीब तेरह सौ—तुक में, छंद में और छूट में। तुम्हें और अधिक अचरज होगा कि मैं सन् १९६० तक हिन्दी में लिखता था। संयोग की लीला कुछ ऐसी हुई कि सन् १९४६ में अकस्मात् कविताएं छूटीं कि वापस सिलसिला ही नहीं जुड़ा। अब कविता लिखने के लिए मन फिर मचल रहा है। ठेठ प्रारंभ से अच्छी तरह कुछ विस्तार से समझाने पर पता लगेगा। और तुम्हें समझाने के बहाने, आज मैं स्वयं पहली बार अपने-आपको भी समझाना चाहता हूं।

मेरी जन्म-तिथि का सही पता मुझे भी नहीं है। घरवालों से पूछने पर केवल इतनी ही जानकारी मिली कि संवत् १९८२ के चैत्र-मास में मेरा जन्म हुआ। जन्म के दो-ढाई बरस बाद की भोली, अबोध लीला किसी के लिए भी याद रखना मुश्किल है. फिर भला मैं अपवाद कैसे हो सकता हूं ? किन्तु पांवों चल सकने के दौरान, खूब गहराई से आज याद करता हूं तो वर्षों की दबी स्मृति धीरे-धीरे उघड़ने लगती है कि मेरे जीसा उंगली पकड़ कर मुझे बकरियों के 'एवाड़े' तक साथ ले जाते। में-में की निरंतर रणकार मेरे कानों को झंकृत करती रहती। अंतस में बवंडर उठने लगता। बकरियों के तीखे-तच्च मुड़े हुए सींग, फर-फर हिलती पूंछ, यांत्रिक सांचे में ढली हुई एक जैसी मेंगनियां बहुत सुहानी लगती थीं। जीसा को गायों के समान ही बकरियों का बेहद चाव था। बकरियों के गुणकारी दूध और उनके सरल स्वभाव पर उन्होंने तीन-चारेक डिंगल गीत भी लिखे थे। पीतल के मोटे सचित्र गिलास में देशी खांड मिलाकर वे मुझे गायों का धारोष्ण दूध पिलाते थे। कविता के साथ-साथ उन्हें आयुर्वेद का भी अच्छा-खासा शौक था। वे मां को कई बार समझाते कि बारह बरस तक बच्चों को अन्न का आदी नहीं करना चाहिए। बारह बरस तक दूध चूसा हुआ कृष्ण-कन्हाई जीवन-पर्यन्त स्वस्थ रहता है। गाछ-बिरछ की नाईं उस की हड्डियां बढ़ती हैं। दूध का ही नाश्ता, दूध का ही भोजन और दूध का ही ब्यालू। हर ढलती सांझ वे दूध की स्तुति में दोहे-सोरठे सुनाते थे। गाय, बकरी, भेड़, कौआ, चिड़िया और चूहे की बातें सुनाते थे। बातों के बहाने कावड़ की भांति पशु-पक्षियों के चित्र मेरी आंखों के सामने तैरने लगते थे। बारहखड़ी और पट्टी-पहाड़ों के साथ-साथ दोहे-सोरठे बनाने के गुर भी बताते थे। मगर संयोग के गुर तो राजा-महाराजाओं का भी नियंत्रण नहीं मानते—वे स्वच्छंद जो हैं। किसी एक कलमुंही रात के सुलगते प्रभात अचीते क्रंदन की मेरे कानों में जैसे तोप दगी। घबरा कर उठ बैठा। मां की जगह सूनी

पड़ी थी। मैं भी रोता-बिसूरता जस-तस उस क्रंदन के पास पहुंचा। किसी को भी रोने के सिवाय और कुछ भी बात करने का होश नहीं था। न जाने कब और क्योंकर बड़ी देर बाद मुझे भनक पड़ी कि सामने के गांव हरियाढाणा ठिकाने के साथ खेतों की लड़ाई में जीसा सहित तीन भाई रणखेत रहे। सब से छोटे भाई तेजदानजी क्षत-विक्षत हालत में आखिरी सांस गिन रहे हैं। मगर संयोग की गोद में उनका अंतिम-सांस अब भी शेष है। रात पर रात यों ढहती है। लेकिन आखिर तो सूरज को उगना ही था। फिर भी वह वीभत्स नजारा, भुलाये नहीं भूलता। दाता के दुख-सदमे का कुछ पार था भला? लेकिन डोकरे की आंखें तक गीली नहीं हुईं। भीतर ही भीतर चुपके-से रोये हों तो भले ही, पर लोगों के सामने एक आंसू भी बाहर नहीं लाये। जलते निःश्वास को राम-जाने किस अदृष्ट गुफा में गहरा-ही-गहरा छिपा कर रखा कि किसी को कानोकान टोह नहीं लगने दी। उन दिनों सामंती-संस्कारों का पौरुष ही निराला था। उसकी पहचान ही अलग थी। पांवों पर चलते सभी पोतों को वे अपने साथ प्रोल में ले गये। बेटों को गोद में खिलाने वाले उन्हीं हाथों से उन्होंने मौत का काला पट खींचा—तीनों लड़के जमीन पर कटे हुए पड़े थे—एक ऐसी अटूट ऊंघ में जो अर्थी की आग से भी उड़ने वाली नहीं थी। तीनों भाइयों का जन्म तो तीन-तीन बरस के अंतराल से हुआ था, पर मरे एक साथ ही। क्या मौत भी ऐसी बेजा मसखरी करती है? किन्तु दाता की वज्र-छाती ने मौत की उस काली मसखरी को मसखरी की तरह ही कबूल किया। उन्होंने कन्धा देने वाले शव-यात्रियों को मनाही करने में कोई कसर नहीं रखी कि उनके लड़के अनाप-शनाप दूध-दही, मक्खन और घी पचाये हुए हैं, उनकी लाशों को मसान में जला कर क्यों बेकार नष्ट कर रहे हो? बिलाड़ा बाण-गंगा में डालने से मछलियों की खुराक तो बनेंगे। मृत्यु के उपरांत कैसा नेह, कैसा नाता? मगर एक व्यक्ति की वैसी अनहोनी बात ज्यादा व्यक्तियों के सामने पार नहीं पड़ी। दाता मना करते रहे और तीनों भाई जिन्दा मनुष्यों के कन्धों पर मसान की आदिम राह चुपचाप रवाना हो गये। मरने के पश्चात् न बेटों का कुछ वश चला और न पिता का।

जीसा के न रहने पर कौन उंगली पकड़ कर बकरियों के बाड़े में ले जाता, कौन देशी खांड मिला कर धारोष्ण दूध पिलाता? उन के जिन्दा रहते मैंने कभी भी रोटी का कौर नहीं तोड़ा, मगर उनका स्वर्गवास होने के दूसरे दिन ही रोटी खानी पड़ी। दूध के फीके स्वाद की वजह से साग-रोटी स्वादिष्ट तो जरूर लगी, पर जीसा की बात नहीं रही, जिसकी थोड़ी-बहुत गरगराहट होनी लाजिमी थी।

कहावत भी है कि आज मरे और कल दूसरा दिन! एक बार और इस कहावत को बांचना, इर्रपिंदर! आधी पंक्ति में महाकाव्य का सत भरा है कि नहीं? मरने वाले के संग मरा थोड़े ही जाता है, मगर मृत व्यक्ति को जीवित प्राणियों के दुख की रंचमात्र भी जानकारी होती तो उसे मरने के पहले सौ बार सोचना पड़ता। मौत के पहले मरना वश की बात नहीं है, इसलिए जीवन की बंदिश मंजूर करनी पड़ती है। जिन्दा रहने पर अमावस का अंधियारा भी दिखता है, पूनम का चांद और सूरज का उजियारा भी दिखता है। धीरे-धीरे कैसे भी दुख की दाह बुझने लगती है। मगर मेरी तो उस समय अबोध उम्र

ही थी। सुख-दुख, जन्म-मरण का पूरा खयाल ही कहां था ? फिर भी मां का सिंगार-विहीन हीराकसी का तम्बाकू वेश मुझे बहुत बुरा लगा।

जीसा के गुजरते ही बड़े भाई सुमेरदानजी पर घर का सारा भार हुलस पड़ा। उनकी पढ़ाई में व्यवधान उपस्थित हो गया ; इंटर पास करने के पहले ही नौकरी करनी पड़ी। हिन्दू संयुक्त-परिवार में व्यक्ति अकेला नहीं मरता, उसके साथ परिवार का बहुत-कुछ मर जाता है। उन दिनों लोग पढ़े-लिखे बहुत ही कम थे और नौकरियां ज्यादा थीं। अर्जी देने के साथ ही नौकरी पक्की हो गयी—जैतारण में फौजदारी मुंशी। नाम से संबोधित न करके सभी उन्हें 'मंछीजी-मंछीजी' कहने लगे। बरस, सवा-बरस नौकरी बजाने के बाद सुमेरजी बाभा को पढ़ाई का माहात्म्य समझ में आया और वे कुछ दृढ़ निश्चय करके गांव आये। सच इर्पिदर, मुझे तो अब भी बड़ा विस्मय होता है कि सत्रह रुपल्ली की चाकरी के बूते पर उन्होंने छोटे-बड़े सात-आठ भाइयों को पढ़ाने का विचार कैसे किया ? हम तीन सगे भाई हैं—मैं, हरदानजी बाभा और सुमेरजी बाभा। रिश्वत के दोष तो सब को साफ नजर आते हैं, पर उसके गुणों का कोई भी खुल कर बखान नहीं करता। अपने दिवालिये मुल्क हिन्दुस्तान में रिश्वत के बगैर हवा भी नहीं चलती। रिश्वत-महादेव का विष्णु से भी बड़ा आसरा है। भगवान का तो केवल नाम बड़ा है पर रिश्वत का काम बड़ा है। रिश्वत के प्रत्यक्ष ठाट-बाट को बेचारा निराकार भगवान क्या जाने ? मैं जैसा-तैसा बुरा-भला लेखक हूं, वह रिश्वत का ही प्रताप है ! सत्तर करोड़ की कुलबुलाती आबादी में अपने ढंग का मैं एक ही बावरा लेखक हूं। सहृदय पाठकों की इस धारणा से संबंधित चार-पांचेक पत्र तुम्हें बताये ही हैं।

सुरंगी जाजम से मंडित बैलगाड़ी जब प्रोल के सामने होकर निकली तो दाता ने अधिकारपूर्ण स्वर में पूछा, 'किस-किस को साथ ले जा रहा है ?'

सब भाइयों के साथ मेरा नाम भी आया तो दाता ने तनिक रोष के साथ कहा, 'बिजिये को नीचे उतार दे। यह पढ़ेगा तो सबसे ज्यादा, किन्तु इसकी पढ़ाई घर वालों के लिए लाभप्रद नहीं होगी। मेरा कहा मान, इसे साथ मत ले जा, पछतायेगा !'

मगर दाता के मना करते-करते भी वे मुझे जबरन साथ ले गये। सचमुच, मैं पढ़ा तो सबसे ज्यादा ही, आज भी पढ़ रहा हूं। असली पढ़ाई का स्वाद तो अब चखा है ! क्या तुम विश्वास करोगी इर्पिदर, कि परीक्षा के डर से मैंने छठी कक्षा के बाद पांच मिनट के लिए भी कभी नहीं पढ़ा, परन्तु नौ-दस बरस से पढ़ने की ऐसी लौ लगी है मानो अगली घड़ी में ही कोई बड़ा-भारी इम्तहान होने वाला है। जिस का परचा मैं ही छांटूंगा और मैं ही जांचूंगा। मैं ही अपने-आपको पास-फेल करूंगा। हर रोज हर घड़ी का यह इम्तहान ही सब से मुश्किल और पेचीदा है। लाखों-करोड़ों में एकाध विरला ही पास होता है। किन्तु मुझे कई बार अचंभा होता है कि मेरे इस स्वभाव की भनक दाता को पचास बरस पहले क्योंकर हुई ? यह सवाल तो बारंबार मेरे हृदय में पछाड़ें मारता है, पर जवाब का कहीं कुछ भी सुराग नहीं मिलता। स्वयं सवाल ही अंतिम शंका बन कर रह जाता है। आखिर सवाल को निरंतर छीलने से ही इसका उत्तर उघड़ेगा। कई सवालों का जवाब अलग से न होकर उनके साथ ही घुला रहता है।

पहली बार गांव से जुदा हुआ था—किसी अपरिचित अजानी राह ! गाड़ी में जुते बैल अपनी गति से चल रहे थे। पूठियों वाली गाड़ी अपनी चरर-मरर की लय में धीमी गणमण-गणमण लुढ़क रही थी। घर, गांव और तालाब का सघन-घुमेर बरगद पीछे छूट रहा था। पठार की ढलान उतरते ही गांव के सब निशान-ठिकाने ओझल हो गये। अजाने झाड़-झंखाड़ और अजाने ही रूंख-बिरछ। न मैं उन्हें पहचानता था और न वे मुझे पहचानते थे। नाम-मात्र के केर [करील], खेजड़ियां और झड़-बेर भी नजर आ रहे थे, मगर निपट बेगाने। मैं प्यासी तरसती आंखों से उनकी ओर टुकुर-टुकुर देखता पर वे मुंह फुलाये नितांत अजनबी ही बने रहे। मुझे देख कर किसी के पात-पात में मुस्कान नहीं खिली। परिचित-आत्मीय क्या इस तरह उदासीन रह सकते हैं ? अपने घर-द्वार की तरफ देख कर मुस्कराते हैं या नहीं ? चेतना के परे ही अपने-आप मुस्कराहट कौंध उठती है—दिप्-दिप्। केवल दांतों की बत्तीसी के बूते पर यह मुस्कान नहीं खिलती। सारा शरीर ही मुस्कराने लगता है—भीतर से, बाहर से।

राम-जाने जैतारण नाम की उस अजान बस्ती में हमारे रहने वाला मिलापड़ा होगा कि नहीं ? बकरियों की वैसी में-में, वैसे मोर और वैसी मलनियां होंगी कि नहीं ? वैसा चौक, वैसा फलसा, वैसा तालाब, वैसा सघन-घुमेर बरगद होगा कि नहीं ? वैसा चंदा-मामा, वैसे नवलख तारे, वैसा तेजवान सूरज, वैसी गुलाबी सांझ होगी कि नहीं ? किसी को भी अपना गांव, अपने गलियारे और अपना आंगन छोड़ने की क्या जरूरत पड़ती है ? आज तुम्हें यह पत्र लिखने के दौरान ऐसा महसूस होता है कि उस समय मेरे बाल-मन में कुछ ऐसा ही बवंडर उठा होगा। और यदि न उठा हो तो इसी तरह उठना चाहिए था।

यदि हमारे परिवार पर वैसी अचीती आपद् न घटित हुई होती, यदि दाता भाई एक ही कुवेला देवलोक न सिधाये होते तो गुमरजी बाबा को यह अचीता बोझ उठाना नहीं पड़ता ! दाता मुझे बारह बरस तक बाहर नहीं करते। हर रोज सवेरे पीतल के सचित्र मोटे ग्लास में देसी खांड मिलाकर धारोष्ण दूध पिलाते। स्वयं अपने हाथ से बारहखड़ी व पट्टी-पहाड़े सिखाते। दोहे-सोरठों की ढाळी सिखाते। कहानियां बात सुनाते। किन्तु दुरदिन, संयोग की डोर इस तरह [illegible] की [illegible] की परवाह नहीं करती। यह स्वयंभू संयोग तो अपनी इच्छा से अपनी डोरा रचता है। न किसी का लिहाज और न किसी से डाह ! नितांत निर्वैयक्तिक और तटस्थ। जानता हूं कि तुम्हारे मन में मेरी यह निरर्थक बकवास हर्गिज नहीं उतरेगी। मुझे भी कहां जरूरी थी ? कुल, गोत्र, जाति, धर्म के गोरखधंधे में फंसे इस विचित्र देश हिन्दुस्तान में संयोग की बात तो दरकिनार, स्वयं भगवान को भी कुलाकुल रखने के लिए बाध्य होना पड़े। कुल-गोत्र की भावना अंगीकार करनी पड़े, अन्यथा वह भी बिरादरी से बाहर ! संयोग की तरह जाति व धर्म की अटूट डोर से बंधी रहती है। तो क्या कुल, गोत्र, जाति, धर्म, गरीब व अमीर के संयोग भी अलग-अलग होते हैं। उन्हें भी इनके [illegible] का अनुसरण करना पड़ता है। किन्तु, [illegible] व सत्ता से ही सब तरह के संयोग बंधे हुए हैं। [illegible] संयोग की [illegible] है। [illegible] है। [illegible]

हलकी-हलकी गोधूलि बेला में हम जैतारण पहुंचे। [illegible]

फोड़ों की नाईं उभरे हुए कच्चे-पक्के घर। ईंटों से चुने हुए, केलूड़ों से छाये हुए। कई हवेलियां दो-दो मंजिल की। हाट-बाजार का अब तक नाम ही नाम सुना था, सो आज पहली बार प्रत्यक्ष, आंखों के सामने उसका नजारा मौजूद था। मनिहारों की हाट, किराने की हाट। कंदोई की दुकान और मालनियों के ओडे। ग्राहक आते हैं, भाव-तोल करते हैं, पैसों के बदले सौदा-सूत खरीद कर वापस अपने घर रवाना होते हैं। एक जगह इतने सारे एकत्रित लोगों को पहली बार ही देखा। मेला-सा लगा हुआ। परस्पर एक-दूसरे को पहचानते तो होंगे ही? इतने चेहरे और इतने नाम किस प्रकार याद रहते होंगे? सूरत पहचानने में जरूर कोई-न-कोई भूल होती होगी?

गांव की तरह वहां भी सूरज अस्त हुआ। सांझ हुई तो जरूर, पर न तो वैसी गुलाबी और न वैसी सुहानी, शायद मुझ से पर्दा करना चाहती हो। सूरज अस्त होने पर अंधियारा तो होना ही था, अनगिनत तारे प्रकट होने ही थे। पर न तो एक भी तारा मुझे पहचानता था और न मैं किसी तारे को। न अंधियारा परिचित था और न रात। शुरुआत में कौन किसका आत्मीय होता है? धीरे-धीरे अपने-आप संपर्क बढ़ता रहता है—अथाह और अटूट। मनुष्य के संपर्क का यही ढर्रा है!

सूर्योदय की मंगल बेला, वहां भी अंधियारा अंतर्धान हुआ, विभावरी विलीन हुई, अनगिन सितारे एक साथ विलुप्त हुए। मगर सूरज तालाब के बरगद की दिशा में उदय न होकर दूसरी तरफ उदित हुआ। न वैसी किरणें और न वैसा आलोक! निपट अजनबी और अनजान! केवल अग्नि का दहकता पुंज! गांव का सूरज तो मेरे रोम-रोम से परिचित था। राम-राम की गुहार के साथ मुझ से अभिवादन करता था। चिड़ियों की मधुर चहचहाहट के द्वारा मुझ से गपशप करता था!

बरबस तुम्हारे होंठों से मद-मंद मुस्कान छलक उठी है ना? तुम नहीं मानती तो मैं भी कहां मान रहा हूं कि उस समय सचमुच इन्हीं बातों के बुदबुदे मेरे अंतस में उठे होंगे। पर आज उम्र की ढलान पर किसी अदृष्ट मंत्र के जादू से वापस वही बाल्य-रूप अंगीकार करूं तो मुझे कुछ ऐसी ही भ्रांति होगी। हां, परिष्कृत शैली की सिद्धि भी कम महत्त्व नहीं रखती। यदि यह कौशल है, तो है। मेरे लिए दूसरा कोई विकल्प भी तो नहीं।

माटी के दीये की बजाय काच वाले गोले की लालटेन पहली बार देखी। बड़ा भारी अरचज हुआ। फुलड़ी [घुंडी] घुमाने के साथ-साथ ही बत्ती ऊंची-नीची होने लगी! तो क्या चांद-सूरज को भी कोई इसी तरह जलाता होगा? उन्हें ऊंचा-नीचा करता होगा? एक बार—सिर्फ एक बार, घुमाने वाले वे हाथ दिखलाई पड़ जायें तो कैसा आनंद आये! तुम शायद मुश्किल से विश्वास करोगी इर्रापिदर, कि कई बरसों के उपरांत, निश्शेष-प्राय पिंजर में फिर से वही बाल्य-जिज्ञासा पसरने लगी है कि सूरज-चांद और नवलख सितारों को प्रज्वलित करने वाले हाथ प्रत्यक्ष देखूं। यह ऐसी विचित्र तूलिका किस के हाथ में है, जो सूने आसमान में सतरंगे बादलों की छवि अंकित करता है, बिजलियों की चमक भरता है? प्रतिदिन प्रभात व सांझ की बेला अंजलियां भर-भर कर गुलाल उछालता है। असंख्य फूलों में एक साथ तरह-तरह के रंग भरता है। पत्ते-पत्ते में हरियाली घोलता है। वाकई यह किसकी अदृष्ट तूलिका है जो मनुष्य के काले बालों में

उजला रंग भरती है और किसी को पता तक नहीं चलता। रूप-यौवन से छलकती आभा को विवर्ण, मलिन और जर्जरित करने वाली यह किस की कला है, किस की क्षमता है ?

गर्मियों का करारा मौसम था। सवेरे ही हाथ-पांव और मुंह धोकर सुमेरजी वाभा के साथ भाइयों की कतार पाठशाला में भरती होने के लिए पहुंची। मैं ही एकदम से कोरा था। पहली कक्षा में भरती हुआ। हाजरी की खातिर रजिस्टर में नाम लिखा। दूसरे भाई गांव में महाजनी पढ़े हुए थे। वारहखड़ी और पहाड़े कंठस्थ थे। कोई दूसरी कक्षा में भरती हुआ, कोई तीसरी में और कोई चौथी में। जिसकी जैसी योग्यता थी, हेड मा'ट सा'व ने उसी के अनुसार सबको भरती कर लिया।

मेरा काम तो पाटी-बस्ते से ही सलट गया, मगर अन्य भाइयों की खातिर पहाड़ों की आड़ी पोथियां, सीसा पेंसिलें, दवात, कॉपियां और तिरछी कटी कलमें खरीदी गयीं। चंद वरसों के बाद शिक्षा पूरी होने पर नौकरी लगेगी। राज्य के खजाने में भागीदारी होगी। चारों तरफ डंका बजेगा—धड़िंग-धड़िंग। पढ़ा-लिखा व्यक्ति अपरबली होता है। पढ़े बिना न अध्यापक बनना संभव है, न हाकिम और न थानेदार। हाकिम, थानेदार और गुरुजी से तो भगवान की भी रूह कांपती होगी। वे चाहें तो स्वयं भगवान तक को सजा बोल दें, खटिया पर चढ़ा दें, कान उमेठ दें, धूप में खड़ा कर दें, मुरगा बना दें, स्केल से ठोले-ही-ठोले वजा दें। बेचारे यमराज का भी ऐसा निराला ठाट क्या होगा ?

उन दिनों विद्या का सर्वोपरि गुर था—मार। नंगे सर पर ठोलों की मार के विना सोयी हुई अक्ल में कोई हरकत ही पैदा नहीं होती थी। अधिकांश अध्यापक उत्तर-प्रदेश के थे। खड़ी-बोली छौंकते थे। मारवाड़ी से वेहद चिढ़ थी। चिढ़ से भी कहीं ज्यादा घिन थी। मेरी जिह्वा मातृभाषा से जुड़ी हुई थी। हिन्दी का लहजा वड़ी मुश्किल से रस बैठा। पाठशाला के प्रांगण में मारवाड़ी बोलना मानो जुर्म हो। मेरी ढीठ जबान, स्तनपान के साथ घुली हुई मातृभाषा को बड़ी मुश्किल से छोड़ पायी। सांस की तरह सहज भाव से रची-पची वाणी को भुलाने के लिए मैंने खूब सजा भोगी। शायद इसीलिए बरसों के पश्चात् मातृभाषा का स्नेह मेरे अंतस में इस तरह उमड़ा। क्यों इरपिंदर—कोई तो पिछले जन्म का वदला भी नहीं बिसरते, तब भला मैं इस जन्म का ऐसा वदला क्योंकर भूल पाता ? भीतर-ही-भीतर खौलता ज्वालामुखी भला कब तक दबा रह सकता था ?

सांवली पाटी पर वारहखड़ी के उजले अक्षर क, ख, ग, घ, ङ, ऐसे सुहाने लगते जैसे आकाश से टूटे तारों ने पाटी का आसरा लिया हो ! मार खाने पर भी ऐसा अलौकिक आनंद हाथ लगे तो भी सौदा अत्यधिक सस्ता ही समझना चाहिए। बहुत उछाह से मन लगाकर पढ़ता, पाटी पर लिखता, वारहखड़ी याद करता। गलती न होने पर भी मा'ट सा'व पिटाई किये बगैर नहीं मानते। उन्हें तो किसी-न-किसी बहाने पीटने का मौका भर चाहिए था। हाथों की खुमारी उतारनी थी। विना पिटाई किये, शायद उनकी पाचन-शक्ति काम ही नहीं करती थी। पट्टी-पहाड़ों के गुरु दूलीचंदजी और वारहखड़ी के गुरु शिवराज वहादुरजी के बीच हमेशा पिटाई की होड़ लगी रहती थी। वे प्रतिदिन कुछ-न-कुछ नयी तरकीबें सोच कर आते थे। समझ नहीं पड़ता, स्वर्ग या नरक के किसी भी निवास-स्थान में इन्हें विना पिटाई किये क्योंकर चैन मिलता होगा ?

जान-पहचान और संपर्क की घनिष्ठता बढ़ने पर यार-दोस्तों की मंडली जुड़ती गयी। विद्यालय की सीमा छोड़ने पर खत्ता-दड़ी, धुन्ना, अंटा, और लट्टू खेलने की ऐसी बान पड़ी कि दूसरी कोई भी बात अच्छी नहीं लगती थी। खाना खाते समय मन खत्ता-दड़ी के साथ गुड़कने लग जाता ; पढ़ते समय धुन्ना के डण्डों में सराबोर हो जाता। धुन्ने की जीत में कोई लकड़ियों की जीत थोड़े ही होती थी, गढ़-किलों की जीत होती थी। जीते हुए अंटों के बहाने तो मानो चमकते सितारे ही जेबों में छिपे रहते। लट्टू की गरणाटी के बहाने मेरे अंतस की सारी दुनिया ही घूमने लगती। जाग्रत अवस्था में जीती हुई लकड़ियां व काच की गोलियां तो सुरक्षित रहतीं, लेकिन नींद में जीता हुआ राज्य आंख खुलते ही वापस छिन जाता। सपने में खोये हुए अंटों और धुन्नों का वास्तविक खजाने की लूट से भी ज्यादा दुख होता।

दिन, पर्वत से ढले झरने की भांति प्रबल वेग से ढल रहे थे। रात—दिन से आगे छलांगें भर रही थी और दिन—रात से आगे चौकड़ियां भर रहा था। समझ नहीं पड़ता कि आज अंटा, धुन्ना और लट्टू खेले बिना दिन क्योंकर अस्त होता है और रात किस तरह ढलती है? उन दिनों तो इस बात के लिए भगवान के कहे का भी विश्वास नहीं करता। मगर आज तो उन बातों को बरस पचास बीत गये। घोड़ों की क्या बिसात, उन बीती हुई बातों को तो रॉकेट भी नहीं पहुंच सकता। कभी-कभार तो मन में यह संदेह होने लगता है कि पिछली सारी ख्यात-अख्यात मेरे ही जीवन में बीती या किसी और के? वह बालक क्या मैं ही था? यदि सचमुच मैं ही था तो मेरी उसी काया में वे अनगिन स्वरूप कहां लुप्त हो गये? वह बाल्य-रूप कहां दुबक गया? वह चंचल यौवन कहां ओझल हो गया? उन दिनों तो ऐसा महसूस होता था कि धुन्ना, खत्ता-दड़ी और अंटा खेलने के सिवाय मनुष्य दूसरे काम करता ही क्यों है? क्यों इधर-उधर ललचाता है और क्यों प्रपंच करता है? क्यों चाकरी करता है, क्यों व्यापार करता है और क्यों खेती करता है? किन्तु आज स्वयं मुझे ही धुन्ना, खत्ता-दड़ी, अंटा और लट्टू खेले हुए युग बीत गये! कभी भी वापस खेलने की इच्छा नहीं हुई। फकत आज तुम्हें यह पाती लिखते समय अंतस में दुबकी हुई पुरानी बातें कुलबुला उठी हैं। मेरा—मुझ से ही यह अलंघ्य फासला कैसे हो गया? क्यों हो गया? तुम्हारे माध्यम से मैं स्वयं अपने-आपसे यह सवाल कर रहा हूं! बीती हुई सारी जिन्दगी ही एक बड़ा सवाल बन गयी है, जिसका जवाब देना चाहूं तो दे नहीं सकूंगा? और मुझे यों ही जवाब देने से बेहद खीज है। परीक्षा के डर से भी जवाब देने की इच्छा नहीं होती थी। स्वयं मनुष्य ही अपने-आप में एक भरकम और अंतिम सवाल है। सवाल-दर-सवाल परस्पर गुंथे हुए हैं, जिसका कहीं भी कोई उत्तर नहीं है। मिथ्या संतोष को बहलाने की खातिर जवाब मिलता भी है तो थोड़ी देर के लिए, फिर अगले ही क्षण वह जवाब ही स्वयं एक सवाल बन कर फुफकारने लगता है!

बात कुछ भटक गयी, फिर से सीधी राह लौटता हूं। तो—गुरुओं के ठोले-घूंसों का कुछ ऐसा करिश्मा हुआ इरपिदर, कि मैं बरस गुजरने के पहले-पहले कोरी पाटी पर सन्नाट लिखने लग गया, छपी हुई पोथी फर्राट बांचने लगा। ऐसा महसूस होने लगा, जैसे उस पढ़ाई के बहाने मैं प्रकृति का अगम रहस्य खोल रहा हूं। पाटी पर अंकित

अक्षर आंखों के सामने नाचने लगते। आंखों की दृष्टि के द्वारा हृदय के भीतर प्रवेश करने वाले अक्षर अनहद घूमर की धमा-चौकड़ी मचाने लगते।

दूसरी कक्षा पास करके तीसरी में आया। अंग्रेजी राज्य की दुहाई गांव-गांव तक फैल चुकी थी। गुरुओं का मन भी अंग्रेजी सिखाने के लिए व्याकुल रहता था। मगर राम-जाने क्यों मेरे मन में अंग्रेजी का ऐसा आतंक पैदा हुआ कि याद करने के पहले ही उसे भूल जाता। अंग्रेजी की ए, बी, सी, डी, तो मेरी सीढ़ी [अर्थी] ही निकालती थी। बेइन्तहा मार खाने पर इस म्लेच्छ भाषा से ऐसा मन फटा कि अब भी अनगिन पुस्तकें बांचने के बावजूद न तो अच्छी तरह अंग्रेजी बोल सकता हूं और न लिख सकता हूं। सदा-सदैव इस से किनारा करने का आखिर यह परिणाम हुआ! अब भी किसी हिन्दुस्तानी को फर्राट अंग्रेजी बोलते सुनता हूं तो ऐसा प्रतीत होता है कि सर्कस का चतुर बंदर गिटपिट-गिटपिट नकल कर रहा है। या कोई होशियार मिट्ठू रटे-रटाये बोलों की उलटी कर रहा है।

उन दिनों अंग्रेजी का फकत यही मायना समझता था कि यह मार खाने की विद्या है। जब अंग्रेजों ने भी अपने अधीन गुलामों पर जुल्म करने में कोई कसर नहीं रखी तो उनकी भाषा क्यों हम पर रहम करेगी?

एक मर्तबा संयोग की बात ऐसी बनी कि अंग्रेजी के गुरु आनंदीलालजी ने मुझ से अंग्रेजी के किसी शब्द की स्पेलिंग पूछी। आधी-अधूरी जानता था, वह भी भूल गया। होंठों पर अंजलि का संकेत करके प्याऊ की तरफ रवाना हो गया। अपने हाथ से ही पानी पीने लगा तो पीछा करते मा'ट सा'ब आग-बबूला होकर भड़क उठे। वे केवल नाम मात्र के ही आनंदीलालजी थे, विद्यार्थियों को दुख पहुंचाने में उनका कोई जवाब नहीं था। कान उमेठ कर मुझे बुरी तरह पीटा—लातों से, घूंसों से और ठोलों से। पसली में किसी एक घूंसे की असह्य चोट से मैं मूर्च्छित हो गया। विद्या सीखने के निमित्त मार जरूरी होते हुए भी मुझे वैसी बेजा मार का सपने में भी अनुमान नहीं था। होश आते ही गुस्सा तो ऐसा भभका कि गुरुजी की लुग्धी बना दूं, मगर कुछ भी राह नहीं सूझी। फिर भी थकी हुई निर्बल देह में वैताल प्रवेश करने के बाद मुझ से सब्र नही रखा गया। गुरुजी की 'दक्षिणा' मटकियों को चुकायी। एक-एक ठोकर के साथ-ही-साथ तमाम मटकियों का सफाया हो गया। यह तो सांप्रत यमराज को चुनौती थी। फिर आनंदीलालजी पीटने के आनंद में क्यों कसर रखते? सटाक्-सटाक् बल खाती बेंत से ठौर-कुठौर सारा शरीर धुन डाला। चौड़ी नीली रेखाओं से तमाम शरीर में जाली चित्रित हो गयी। सरस्वती देवी का महाप्रसाद इसी रूप में मिलता था। तब से मेरे रोम-रोम में अंग्रेजी के प्रति भयंकर उबकाई पैठ गयी। किन्तु संयोग की ऐसी बेजा कारस्तानी हुई इर्रापिदर, कि पिछले चालीस बरस से अंग्रेजी बांचने के सिवाय दूसरा विकल्प ही नहीं है। नितनेम की तरह अंग्रेजी की पोथियों का पारायण करना पड़ता है, किन्तु उस दिन के आतंक से ऐसा कुण्ठाग्रस्त हुआ कि आज दिन भी न अंग्रेजी बोल पाता हूं और न लिख पाता हूं। मानो यह कोई चेत-अचेत कुकर्म हो। बांचने की विशेषता के लिए अंग्रेजी भाषा का कोई श्रेय नहीं। 'विलायत' की बजाय यदि हम फ्रांस या जर्मनी

के गुलाम होते तो फ्रेंच या जर्मन सीखनी पड़ती। अंग्रेजों के पहले फारसी का ऐसा ही बोलबाला था। गुलाम स्वप्न में भी आजादी का स्वाद नहीं चख सकता। इस परम पूजनीय देश की पावन धरती को परदेशियों के चरण-स्पर्श का उछाह बेशुमार है। आजादी के ये चालीस बरस ही आज पवित्र गंगा-जमुना के लिए असह्य हो गये हैं। गुलामी की मधुर स्मृति जन-मन में छटपटाने लगी है।

नौकरी करने वाले अहलकार का एक पांव घर में तो दूसरा गली में। सुमेरजी बाभा की बदली बाड़मेर हुई तो मुझे भी पढ़ने के लिए बाड़मेर जाना पड़ा। आखिर छंटते-छंटते हम तीन जने ही बाकी बचे। जैतारण में मिडल स्कूल नहीं था। इसलिए कुबेरजी बाभा को पांचवीं कक्षा के बाद बिलाड़ा जाने की खातिर मजबूर होना पड़ा। मैंने और खूमदानजी ने जैतारण की जमपुरी से टी.सी. कटायी। वे मुझ से एक क्लास आगे थे।

जोधपुर के 'बड़े-टेसण' पहली बार रेल के इंजन का आर्त्तनाद सुना। सही पता नहीं लगा कि वह आर्त्तनाद अंग्रेजी में था, हिन्दी में या मारवाड़ी में? गोरों की हिकमत से बनाये इंजन शायद अंग्रेजी में ही आर्त्तनाद करते होंगे। श्वास-प्रश्वास के साथ काले-स्याह धुएं के बगूले-ही-बगूले! भक्ख-भक्ख की कर्कश आवाज के साथ वह लोहे की पटरियों पर फिसल रहा था। दैत्य-खईस के समान वीभत्स आकृति! बेहद खौफनाक, मानो पिछले जन्म में अंग्रेजी का अध्यापक हो।

लंबी-ही-लंबी रेल के अनगिनत डिब्बों से आखिर वह इंजन जुड़ा। प्रचंड बैताल की तरह एक नथुने से काला धुआं और दूसरे नथुने से उबलती भाप! एक नथुना सर पर और दूसरा पांव तले। मेरी आंखें चकन-बकन! माथा आक-बाक! गोरों की कारीगरी का कोई तूमार है भला! सारी दुनिया पर राज्य करें तो भी कम है!

गांव की तमाम बस्ती समाये जितनी बड़ी गाड़ी। डिब्बे-ही-डिब्बे। न बैल जुते हुए और न घोड़े! किस तरह चलेगी? यह गाड़ी तो दस हाथियों से भी नहीं खिच पायेगी! गार्ड-बाबू की दूसरी या तीसरी सीटी के साथ ही इंजन ने जोर से आर्त्तनाद किया और चीखता-चिल्लाता आगे रपटने लगा। हड्डी-हड्डी मचक गयी होगी। परस्पर एक-दूसरे से गुंथे हुए डिब्बे अपनी जगह छोड़ने के साथ ही चीत्कार करते हुए गुड़कने लगे। रेल तो सचमुच रवाना हो गयी लगती है! अब किसी के रोकने पर रुकेगी थोड़े ही! धीरे-धीरे बवंडर की नाईं वेग बढ़ने लगा—खड़िद-खड़िद का डंका बजाता हुआ। मानो कोई तूफान पटरियों पर धन्नाट भागने लगा हो।

रेल को पकड़ने के लिए एक-एक झाड़-झंखाड़ उसका पीछा करने लगा, पर रेल तो रेल ही थी, किसी की पकड़ में नहीं आयी। स्टेशन आने पर अपने-आप रुकती तो रुकती, नहीं तो अप्रतिहत गति से हाहाकार मचाती हुई दौड़ रही थी। ईश्वर न करे, शैतान भी मेहर-माया रखे—यदि पटरियों से फिसल पड़ी तो धरती के टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे। यही बातें मुझे सोचनी चाहिए थीं तो मैंने शायद यही बातें सोची होंगी।

काफी देर बाद अपनी कर्कश ताल के साथ रेल ने न जाने किस तरह की लोरी सुनायी कि अत्यधिक आश्चर्य व आशंका के बावजूद मेरी आंखें स्वतः ही मुंदने लगीं

और मैं नींद की गोद में अचेत हो गया।

सुमेरजी बाभा के झिंझोड़ने पर मैंने आंखें खोलीं। कुली दनादन सामान उतार रहे थे। मेरी चेतना के परे ही बरबस बाड़मेर स्टेशन आ गया ! तो क्या हठीली रेल अपनी निरंकुश धत् में ही उड़ती जा रही थी ! थकावट मिटाने के बहाने वह तेजी से सांस खींच रही थी। दौड़ते-दौड़ते आखिर बेदम होकर हांफना पड़े तो इस में आश्चर्य की क्या बात ? सूरज से भी काफी देर बाद—घड़ी-डेढ़-घड़ी के उपरांत मेरी आंख खुली।

अपरिचित स्टेशन। अजनबी मानुस। अजाना हाट-बाजार। अजानी राह। अजाने घर। अजाने गाछ-बिरछ। अजाने कुत्ते और अजाने ही कौए। पर जानी-पहचानी-सी कांव-कांव ! मानो मेरे शुभागमन का सहर्ष स्वागत कर रहे हों। राम-जाने उन कौओं को किस तरह यह सुराग लगा कि अंग्रेजी में निपट ठोट बालक समय आने पर संयोग के चमत्कार से मातृभाषा के मर्मज्ञ पाठकों का अविस्मरणीय कथानवीस बनेगा ! इस पुस्तक की भूमिका के माध्यम से तुमने मेरी इसी सृजन-यात्रा की खातिर उत्सुकता प्रकट की थी। सचमुच, तुम्हारे उकसाने पर मैंने मुड़ कर पीछे देखा, चिर-विस्मृत यात्रा के पदचिह्नों पर नजर गड़ायी। निस्संदेह मुझे कभी इस बात की आशंका नहीं थी कि सृजन को बाद देकर मुझे उसकी कोख का हिसाब भी समझाना पड़ेगा। प्रसव के दौरान छटपटाती मां के लिए संतान को जन्म देना तो वाकई कष्टप्रद है, पर उस से भी बड़ी यातना है—प्रजनन की प्रक्रिया को अक्षरों के द्वारा व्यक्त करना। मैं आज वैसी ही गुत्थी में उलझ गया हूं।

दूसरे दिन मैं और खूमजी बाभा स्कूल में भरती होने के लिए हाव-भाव रवाना हुए तो रास्ते में सिपाहियों के साथ हथकड़ी और बेड़ियों में जकड़े सात-आठेक कैदी मिले। उन दिनों मुझे कैदियों से जबरदस्त डर लगता था। चोर, डाकू और हत्यारे ! देखते ही कंपकंपी छूटने लगती। समूचा शरीर रोमांचित हो उठता। उन कैदियों पर नजर पड़ते ही जैतारण की एक वीभत्स स्मृति का दंश मेरे हृदय में गड़ गया—खुले चौक में मोटी लकड़ियों की टिकटी जमीन के भीतर गहरी गड़ी हुई। एक कैदी के हाथ-पांव, पूरमपूर चौड़े उस टिकटी से बंधे हुए। चारों तरफ मनुष्यों की तमाशबीन भीड़। बेंतों का आदेश होते ही दो मेहतरों ने पानी में भीगी हुई कंटीली छड़ियां संभालीं। एक मेहतर ने कैदी की लटकती तहमद उठाकर कमर से बांधी। उसकी बैठक पूरमपूर उघड़ गयी ! मैं गिनती अच्छी तरह जानता था। कंटीली छड़ी के प्रहार उडने लगे—एक...दो... तीन...चार...! प्रहार-दर-प्रहार वह कैदी इस कदर जोर से चिल्लाया कि मेरा समूचा शरीर थरथर कांपने लगा। कानों में जैसे खौलता तेल रिस रहा हो। फिर भी गिनती करूं इतना होश अवश्य था—पांच...छः...सात...। मनुष्य का ऐसा दर्दनाक चीत्कार पहली बार ही सुना था, मगर आज भी याद आने पर कंपकंपी छूटने लगती है। मेरे खयाल से उस कैदी का वह चीत्कार अब भी मिटा नहीं है ! तमाशा देखने की उत्सुक भीड़ में से कुछ शूरमा जोर से हंसे। आज सोचता हूं कि हंसने वाले वे वीतराग व्यक्ति ज्यादा अपराधी थे या वह कैदी ?

पंद्रह...सोलह...सत्रह। गिनती में कतई चूक नहीं थी। मानो मेरे शरीर को

धुनते वे कंटीले प्रहार अचानक थम गये हों। कैदी को भी राहत का सांस मिला होगा। गिनती की संख्या तो अब भी काफी शेष है, मगर सजा की सीमा तो सत्रह वेंतों के उपरांत ही चुक गयी। हाकिम की मेहरबानी ! कैदी के नितंबों से खून झरने लगा। उस दिन की वह भयंकर छवि वरसों तक मुझे वेचैन करती रही। कैदी का वह हृदयविदारक चीत्कार, कंटीली वेंतों के प्रहार ! नितंबों से रिसता लहू ! हाथ-पांव वंधे हुए ! साथ-ही-साथ मुंह में ठूंजा खसोल उसका मुंह बांध देते तो वेहतर था। खाना खाते समय मुझे उबकाई तो नहीं आती।

इर्रापिदर ! आठ-दस बरस से एक सवाल मुझे निरंतर पछाड़ रहा है कि जब नेता, मंत्री, वकील, जज, डॉक्टर, साहूकार, संपादक, पंडे-पुजारी, मौलवी, प्रोफेसर, पुलिस, लेखक, आलोचक और अफसर इत्यादि—ये उजले-बुर्राक अजगर जेलों से बाहर हैं तो जेलों के भीतर कौन हैं ? ? क्यूं हैं ? ? ये श्रीमंत...ये सिरायत जेलों के बाहर गुलछर्रे उड़ा रहे हैं तो कानून के भरकम पोथों का मायना क्या है ? इन जेलों की सार्थकता क्या है ? यह वेकार इतना खर्च-खाता फिर किसलिए ? भेड़ियों के हवाले इन निरीह भेड़ों की कव तक रखवाली होगी ? जब अपराधियों के जिम्मे ही सिंहासन है तो इन्हें कौन दंडित करेगा ? ये तो दंड सुनाने वाले हैं, तब इन्हें कौन सजा सुनाये ? आजकल आठों-पहर ऐसे सवालों के चाबुक मुझ पर बरसते रहते हैं ! क्षत-विक्षत करते हैं। कहीं मेरा मग़ज तो नहीं चकरा गया ? इन सवालों का जवाब कौन गुरु जानता है ? केवल जानने मात्र से क्या होगा ? सरे-आम दहाड़ने की हिम्मत चाहिए। वह इस देश के वाशिंदों से विलकुल निःशेष हो गयी है। आजादी का छींका हाथ लगने पर वे पूरमपूर गुलाम हो गये हैं। मनुष्यों का रूप धर ढाणी-ढाणी, गांव-गांव और नगर-नगर गंडक, चीते, नाहर, जरख, बिज्जू, वन-विलाव, नाग, अजगर, चील, गिद्ध, वाज, सिकरे और कौए मौज कर रहे हैं। प्रति वर्ष इनकी नफरी बढ़ रही है—असंख्य, अपरम्पार ! बढ़ते-बढ़ते सत्तर करोड़ के आसपास इनकी आबादी फैल गयी है। जानवरों की उपमा देने पर मनुष्य बुरा मानेंगे या जानवर ? तुम्हें क्या लगता है ? तुम्हारा प्रत्युत्तर बांचने से मुझे काफी राहत मिलेगी। हमेशा की तरह देरी से जवाब न देकर, जरा जल्दी देना।

आज की बात अलहदा है। उस दिन की बात अलहदा थी। इसी एक नाम से कक्षा में हाजरी देता था और आज भी उसी नाम से मेरी पहचान है। अधिकांश मित्र—अधिकांश ही क्यों, लगभग सभी घनिष्ठ मित्र विजयदान देथा के बदले विज्जी के नाम से संबोधित करते हैं। इस कोरे-मोरे एकल संबोधन के तहत क्या मैं सदावंत एक ही व्यक्ति रहा ? आठ-दस बरसों से एक-एक क्षण में बदलता रहा हूं। कल था सो आज नहीं। आज हूं सो परसों नहीं रहूंगा, सवेरे हूं सो सांझ नहीं। सांझ हूं सो रात नहीं। रात हूं सो प्रभात नहीं। फिर भी नाम का संबोधन जीवन-पर्यन्त एक ही रहेगा। अर्जुन और कृष्ण भगवान के सहस्र नामों का मर्म अब कहीं अच्छी तरह समझ में आने लगा है।

जैतारण वाले कैदी की दारुण स्मृति में उलझा हुआ मैं स्कूल पहुंचा। मटिया निकर, मटिया कमीज। पीली टोपी ! वेहद दुबला-पतला। मरियल टांगें। डेढ़ अंगुल का

ललाट। बदसूरत काठी। खूमजी बाभा काफी-कुछ फबते और सुंदर थे। स्कूल के मनमौजी छात्रों ने मेरा हुलिया देखा तो उसी दिन से चिढ़ाने लगे। मन पूरमपूर कसैला हो उठा। पर जोर क्या करता, निपट निजोरी बात थी।

भरती होने पर कोई पांच-सातेक दिन जैसे-तैसे कट गये। एक दिन क्लास में अंग्रेजी पढ़ाते समय मा'ट सा'ब ने मुझे पाठ बांचने का आदेश किया। धूजती टांगों पर बड़ी मुश्किल से खड़ा हो सका। अंग्रेजी के नाम पर फकत बुखार ही नहीं चढ़ा। बोलना शुरू किया तो जीभ मानो चिपक गयी। आधी मूर्च्छा की हालत में दो-एक पंक्तियां बड़ी मुश्किल से पढ़ पाया कि सारी क्लास एक साथ जोर से ठहाका मारकर हंस पड़ी। उच्चारण की चार-पांचेक ऐसी ही गलतियां हो गयी थीं। रोकर नीचे बैठ गया। अंग्रेजी के लिए उस दिन बचे-खुचे उत्साह पर भी पाला पड़ गया। फांसी के तख्ते की बनिस्बत मुझे अंग्रेजी का डर ज्यादा लगता था।

न किसी दौड़ में पारंगत था और न किसी खेल में। हिन्दी, गणित और संस्कृत में काफी तर्राट था। मगर अंग्रेजी में एकदम भोट। तिस पर स्कूल में कभी खेल-कूद की प्रतियोगिता होती तो मंगते की नाईं जीतने वाले की तरफ ललचाई निगाह से देखता। इधर एक ही घर में खूमदानजी छोटी या लंबी दौड़ में एक भी इनाम नहीं छोड़ते। जिस किसी दौड़ में भाग लेते उस में अव्वल। इनाम-ही-इनाम बुहार कर लाते। अक्सर टोकरी छोटी पड़ जाती। तेल की बोतल, कांच, रेशमी रूमाल, बनियान, तौलिये इत्यादि। और मेरे पास कुछ भी नहीं। वही स्कूल का बस्ता और वही पीली टोपी। खूब ही लज्जित होता। शर्म के मारे केवल जमीन में गड़ना शेष रहता। क्या करता, जमीन फटती ही नहीं थी। अपने-आप से घिन होने लगी। सचमुच मुझे कुछ ऐसा ही महसूस होता कि सूरज का प्रकाश फकत खूमदानजी की खातिर ही चमकता है और रात का काला-गहन अंधियारा फकत मेरे लेखे घुटन फैलाता है। करवट बदलते-बदलते काफी रात ढलने पर नींद आती। नींद के सपनों में भी सब से ठगा रहता। दौड़ते-दौड़ते लड़खड़ा कर गिर पड़ता। न जगने पर शांति और न नींद में चैन। तंग आकर हिन्दी, संस्कृत व गणित से कुश्ती लड़ता। कद-काठी में सब से छोटा और दुबला होने के कारण लड़कियों के साथ बैठने की इजाजत मिल जाती थी। लड़कियों के सामने हेटी न लगे, मन-ही-मन ऐसी तरकीबें सोचता। किसी सींगे में नाम करने की खातिर मन खूब छटपटाता। आखिर मर-खप कर संस्कृत और हिन्दी में पूर्ण सफलता प्राप्त की। संस्कृत के पंडितजी ने एक बार डिक्टेशन दिया तो एक भी अशुद्धि नहीं! मैं संस्कृत में हमेशा अव्वल रहता और हेड मा'ट सा'ब की बिटिया दोयम। नाम था मृदुलता देवी। मगर हम सभी उसे देवी के नाम से ही पुकारते थे। हिन्दी में कई मर्तबा मैं अव्वल रहता और कई मर्तबा नृसिंह राजपुरोहित। मेरा सब से पुराना दोस्त। आज तक राजस्थानी साहित्य में अपनी गणित के जोर से आगे बढ़ता रहा है। पर मैं अब भी लेखक की बनिस्बत बंधु के रूप में उसका ज्यादा लिहाज रखता हूं।

संस्कृत के रूप मुझे इस तरह कंठस्थ थे, मानो पिछले जन्म से ही रट रखे हों। चारों लड़कियां मुझ से संस्कृत सीखती थीं। संस्कृत के पंडितजी ब्रह्मचारी के गुमान में

क्लास के अतिरिक्त और कहीं भी लड़कियों से बात नहीं करते थे ; इसलिए मेरा भाग्य खुल गया। पर देवी से घनिष्ठ आत्मीयता की बानगी ही निराली थी। उसकी पालर सूरत और गुलाबी होंठों की स्मित मुस्कान देखते ही पीतल के सचित्र ग्लास के धारोष्ण झाग मेरी आंखों के सामने तैरने लगते। उसकी मुस्कान वैसी ही अबोट और पावन थी। फिर भी किसी-न-किसी सीगे चर्चित होने के लिए मन खूब ही कसमसाता, पर कोई भी युक्ति पार नहीं पड़ी। हिन्दी और संस्कृत के प्रताप से मेरे नाम की फुसफुसाहट स्कूल के पत्थरों में फैलने लगी। दिन-ब-दिन परिचय का दायरा बढ़ने लगा। किसी दूसरे माध्यम से पार नहीं पड़ी तो कुबद और कुलंगों की ओर मेरा मन स्वतः ही खिचने लगा। और कुछ ही दिनों में हिन्दी व संस्कृत की अपेक्षा बदमाशी के सीगे में मेरा नाम भीतर-ही-भीतर चमकने लगा। कभी-कभार हेड मा'ट सा'ब यों ही अपनी रौ में प्रार्थना के बाद पूछ बैठते कि स्कूल में सबसे ज्यादा बदमाश कौन है?

यह सवाल सुनते ही मैं तो सर नवा कर चुपचाप खड़ा हो जाता। पर मेरे अतिरिक्त स्कूल के तमाम छोटे-बड़े विद्यार्थी एक साथ उत्साह से मेरा नाम लेते। कभी कोई दूसरा नाम भूल-चूक से भी उनकी जबान पर नहीं आया। पान चबाते हुए हेड-मा'ट सा'ब मुस्करा कर मुझे इशारा करते—'इधर आ चोट्टे...।'

मैं पूरी तरह सर झुकाये चुपचाप विनम्रतापूर्वक उनके सामने खड़ा हो जाता। वे दुलार से कान उमेठ कर हलकी-सी दो-चार थप्पड़ लगाते। वे शायद मन-ही-मन सोचते होंगे कि पिद्दी-सा हुलिया और नाम हाथी से भी भारी। सच इरपिंदर, सब के सामने मार खाने के बावजूद मैं भीतर-ही-भीतर खुशी से फूल उठता। उन दिनों स्कूल सारी दुनिया से बड़ा मालूम होता था। बुरा हो चाहे भला, मेरा नाम तो स्कूल में उफन ही रहा था। हेड मा'ट सा'ब जब भी पूछते, बदनामी के सीगे में मेरा एकछत्र नाम सब के कंठ से हुंकार मचाता। आराम से गहरी नींद आने लगी। पांखों के बिना ही रात के अंधियारे में अलंघ्य उड़ानें भरने लगा। अंधियारे में आंखें बंद कर लेने पर भी मुझे मंद-मंद उजाला दिखायी पड़ता।

उन दिनों हमारी कक्षा में एक अजीब ही विषय था—नेचर स्टडी। मूलचंदजी मा'ट सा'ब पढ़ाते थे। ओछा और धुगधुगा शरीर, कसा हुआ गोल मुंह, कायरी आंखें, छोटी गर्दन। पढ़ाते समय ज्यादातर उनकी निगाह लड़कियों के इर्द-गिर्द ही मंडराती रहती। अबोध बालक होते हुए भी मैंने उनके कुटिल अंतस की जासूसी कर ली थी। भीतर-ही-भीतर भाड़ के चने की तरह भड़कता। नेचर स्टडी में वे बिना किसी अपवाद के हमेशा देवी को सबसे ज्यादा नंबर देते थे।

एक बार उन्होंने उसे घर पर पढ़ाने का न्यौता दिया! एकल-छड़ा कुंवारा मास्टर था। पढ़ाने की मंशा का मायना मैं अच्छी तरह समझ गया। मौका मिलते ही देवी को वहां जाने की खातिर मना किया, खूब मना किया ; पर वह भोली अबोध कब्बू नहीं मानी सो नहीं मानी। उलटे मुझे ही लतेड़ सुननी पड़ी कि मैं बेकार ही वहम कर रहा हूं, यह फकत मेरे मन का ही मैल है। भला, पढ़ाने वाले पूजनीय गुरु ऐसे लंपट थोड़े ही होते हैं। सच इरपिंदर, वह वैसे ही आदर्श बाप की वैसी ही निर्मल लाडली थी,

जिनकी सूरत निहारने से तीन भव का पाप धुलता है। आज भी जी भर कर उनकी स्तुति करूं तो भी कम है। उन दिनों की नैसर्गिक छवि को कलम से आंकने की खातिर मन विदकता है।

स्कूल में इकडंकी वदमाश होने के कारण छोटी-मोटी चौकड़ी अपने-आप जुड़ गयी थी। तत्काल यार-दोस्तों को इकट्ठा किया और महाभारत की योजना सोच ली। वार-वार मना करने पर देवी नहीं मानी तो मुझे सतर्क होना पड़ा। ऐयारी का माकूल मोर्चा वनाया। समाचार मिलते ही हम सात-आठेक योद्धा मूलचंदजी मा'ट सा'व के घर के पिछवाड़े अंग्रेजी ववूलों की ओट में छिप गये। पहले से ही हाथों में अंग्रेजी ववूल की कंटीली छड़ियां थाम रखी थीं। जिस आशंका की अविकल प्रतीक्षा थी, उसकी अस्पष्ट-सी फुसफुसाहट सुनाई पडी—'मा'ट सा'व.. मा'ट सा'व...मैं तो आपकी वेटी...के समान हूं। नहीं ..मा'ट सा'व...नहीं।' जैसे सारा आकाश ही धरती पर उलट पड़ा हो। मेरा रोम-रोम विजली के सांचे में ढल गया। फटाफट हत्था लांघ कर भीतर कूदे। डरी-सहमी हिरणी की आहत निगाह से देवी ने मेरी ओर झांका। मानो अचीते देव अवतरित हुए हों। उसकी सिहरन नहीं मिटी तव तक हम गुरुजी को अंधाधुंध दक्षिणा चुकाते रहे। अंग्रेजी ववूल के कांटे इस कदर सार्थक होंगे, सपने में भी नहीं सोचा था। संज्ञा-विहीन गुरुजी ने जाने-अनजाने कोई प्रतिरोध नहीं किया। आखिर हाथों ने जवाव दिया तो हम दरवाजा उघाड़ कर देवी के साथ वाहर निकल आये। उसे तव भी विश्वास नहीं हुआ कि वह दैत्य की गुफा से वाहर आ गयी और मैं उस के साथ हूं। उस अचीते दुःस्वप्न से वह तव भी पूर्णतया मुक्त नहीं हुई थी। अनुभवों की दृष्टि से नितांत अपरिपक्व उम्र होते हुए भी यह वात विना सोचे ही मेरी समझ में आ गई कि मेरा कहा टालने के फलस्वरूप उलाहना देने का यह उचित अवसर नहीं है। फिर कोई अवांछित वकवास न करके हेड मा'ट सा'व को यह भेद वताने की राय जाहिर की तो वह तुरंत मान गयी। गढ़-किला जीतने का उत्साह लिये हम सभी देवी के साथ घर की सीढ़ियां चढ़ने लगे—वेंतों के प्रमाण सहित। हेड मा'ट सा'व ने पान चवाते हुए अत्यधिक धैर्य से हमारी अंट-शट वार्ता सुनी। न कुछ वोले और न कोई प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया दरसायी। पान की पीक के वहाने मानो कोई हलाहल जहर का घूंट गले उतारा हो। दहकती आंखों से उन्होंने मेरी पीठ थपथपायी और शावाशी दी। आज तुम्हें यह पत्र लिखते समय, वाकई ऐसा महसूस हो रहा है इरविंदर कि हेड मा'ट सा'व का वह अदृष्ट हाथ अभी-अभी मेरी पीठ थपथपा रहा है और वे अदृष्ट अधखुले होंठ मुझे वार-वार शावाशी दे रहे हैं।

देवी ठेठ सीढ़ियों तक नीचे हमें छोड़ने आयी। ऐसा महसूस हुआ कि मैं नीचे उतरने की वजाय ऊपर-ही-ऊपर चढ़ रहा हूं। उस के एक-एक कदम में मेरा एहसान मानने का पहाड़ी वोझ व्यक्त हो रहा था। चार आंखों में तीन लोक के असंख्य गीतों ने जैसे अनहद गुंजार गुनगुनायी हो। उस मांगलिक वेला के दौरान मैं दुनिया का सर्वोपरि सुखी वन्दा था।

चुटकियों की रफ्तार से तुरंत रात ढली। हजार-हजार आलोक से प्रमुदित सूरज

के बदले जैसे मैं ही उदित हुआ हूं। मेरी दुर्बल मरियल काठी में अनंत आनंद और अप्रतिम प्रकाश जगमगा रहा था। हमेशा की तरह उस दिन भी प्रार्थना का वैसा ही नितनेम हुआ। हेड मा'ट सा'ब ने खुद अपने हाथों से पेटी बजायी। चारों लड़कियों ने सदैव की भांति आगे-आगे प्रार्थना गायी। उस दिन मेरा स्वर मेरे अनजाने ही अपने-आप तेज व सुरीला हो गया था। मैंने चुपके-से झांका—हेड मा'ट सा'ब की आंखों में अंगारे दहक रहे थे।

प्रार्थना संपूर्ण होते ही हेड मा'ट सा'ब किंचित् भी संयम नहीं रख सके। नेचर स्टडी के मूलचंदजी को भद्दे संबोधन से पुकार कर पास आने के लिए हाथ का इशारा किया। तमतमाये मुंह से रक्तिम फुहार-सी छूटी। दहाड़ते हुए बोले, 'दोगले कुत्ते, इधर मर...!'

मुझे स्वप्न में भी यह विश्वास नहीं था कि हेड मा'ट सा'ब खचाखच भरी सभा में सरे-आम अपने मुंह से वह कुकर्म प्रकट कर देंगे। देवी ने एक बार भी मेरी तरफ नहीं देखा। आंखें नीची किये पांव के अंगूठे से चुपचाप धूल कुचर रही थी। आज लाख चेष्टा करने पर भी पुख्ता तौर से सही अंदाज नहीं कर पाता कि वह बायें अंगूठे से धूल कुचर रही थी या दाहिने अंगूठे से। हेड मा'ट सा'ब ने निःशंक खुले-आम मूलचंद पुराण सुनाया। फिर हाथ के इशारे से मुझे पास बुलाकर मेरी पीठ थपथपायी। पान चबाते-चबाते ही भरी सभा में मेरे प्रति आभार प्रकट करके बोले, 'इस बदमाश खोके ने मेरी बेटी और तुम्हारी देवी की लाज बचायी.. ।' काफी-कुछ बोलना चाहते थे, पर उसके बाद कुछ भी बोल नहीं सके। उस दिन शायद पहली बार यत्किंचित् आभास हुआ कि मौन की भाषा भी कम ताकतवर नहीं होती!

बेहद दुबला-पतला होने के कारण सभी विद्यार्थी मुझे 'खोका' कहकर पुकारते थे। पर इरपिंदर, उस समय बीस गामा पहलवान होते तो भी मैं उन्हें टिकने नहीं देता। एक-एक को बारी-सर ऐसा पछाड़ता कि ताजिंदगी याद रखते। सचमुच, एक ऐसा ही अपूर्व जोश मेरे रोम-रोम में बिजली की नाई चमक रहा था और आज उम्र की ढलती वेला में भी उस प्राचीन बानगी का स्वाद नहीं भूला।

उन दिनों जोधपुर रियासत में सभी विभागों के सर्वोच्च अधिकारी अंग्रेज ही होते थे। शिक्षा-विभाग का निदेशक ए.पी. कॉक्स नाम का अंग्रेज था। अत्यधिक मिलनसार, बेइन्तहा उदार। हमारे हेड मा'ट सा'ब की बहुत ही इज्जत करता था। कॉक्स साहब ने कई मर्त्तबा अपनी चौपासनी स्कूल में उनकी बदली के आदेश निकाले, मगर बाड़मेर की जनता ने उन्हें एक बार भी विदाई नहीं दी। सारा बाजार बंद। सारा कामकाज ठप्प। और उदार कॉक्स साहब ने भी जनता की मर्यादा को एक बार भी खंडित नहीं किया। तार-पर-तार खड़खड़ाने से उन्हें मन मार कर वापस तार से ही बदली रद्द करनी पड़ती। वह एक-से-एक आला चुनिंदा अध्यापक चौपासनी स्कूल में रखता था, पर हमारे हेड मा'ट सा'ब को वह नहीं बुला सका, जिसकी उसे बेइन्तहा खुशी थी। आजादी के बाद कुछ वैसे असली 'सा'ब' हम हिन्दुस्तान में रख लेते तो अच्छा रहता। अपने काले साहबों को कुछ तो नसीहत मिलती। वाकई ए.पी. कॉक्स अकृत्रिम

उदारता व निष्ठा का आदर्श पुतला था ! मरा तब तक न्यूजीलैण्ड से उसके पत्र चंद मित्रों के नाम बराबर आते रहते । अब तुम्हीं बताओ इरपिंदर, कि वह सौ टंच विशुद्ध सोना था कि नहीं ? हेड मा'ट सा'ब ने नेचर स्टडी के अध्यापक मूलचंदजी को अदेर मौकूफ करके कॉक्स सा'ब के नाम दस्ती कागज भेजा तो उन्होंने बिना जांच-पड़ताल किये उनकी बात रख ली । उन की बात से मुकरना तो न्याय व सच्चाई से मुकरना होता । ऐसे थे गर्व-गुमान के योग्य हमारे पूज्य हेड मा'ट सा'ब । देवी के चिर-अविस्मरणीय बापू ।

उस दिन वाली प्रार्थना तो जैसे मेरी ही खातिर हुई हो । मुझे ऐसा अनहद गुमान हुआ कि क्या बताऊं ? मेरा सिप्पा जमने में कोई कसर बाकी नहीं रही । तत्पश्चात् हेड मा'ट सा'ब ने तो सर्वोपरि बदमाश का नाम जानने की कभी उत्कंठा प्रकट नहीं की, पर मेरे अंतस में कहीं गहरे दबी लालसा उस सवाल की खातिर भीतर-ही-भीतर फड़फड़ा रही थी, इस में कोई संदेह नहीं । आज तुम्हारे सामने व्यर्थ के शिष्टाचार का दिखावा करूं तो सत्य की मर्यादा विकृत होगी ! यदि उस दिन हेड मा'ट सा'ब अपने मुंह से मूलचंदजी की बात सरे-आम उजागर नहीं करते तो आज मुझे लिखते समय दो बार सोचना पड़ता । किन्तु उस खांटी बन्दे ने बाप होकर जब बेटी के बुरे-भले की रंचमात्र भी चिन्ता न करके निर्भय-निःशंक सबके सामने सत्य पर पर्दा नहीं डाला तो आज किसे, कैसी जोखिम है ? जोखिम तो उस दिन थी । पर सत्य की टेक रखने वाले जवांमर्द बिरले ही जन्म लेते हैं । सुना है कि धरती बीज नहीं चुराती, किन्तु इरपिंदर, आजकल तो कुछ ऐसी आशंका खटकने लगी है कि सफेद-पोश प्रतिष्ठित चोरों के पावन चरणों का स्पर्श पाकर कहीं धरती तो चोरी करना नहीं सीख गयी ? मुझे तो अब यह पुख्ता विश्वास होने लगा है कि अपनी धरती से सत्य का बीज बिल्कुल ही नदारद हो जायेगा । हां, तो उस दिन बाल-प्रीत की निर्मल आत्मीयता के वशीभूत कल्पना के उड़न-खटोले पर राजकुमार की तरह आकाश में चक्कर काटने लगा । 'खोका' का संबोधन तब भी मेरे दिल में कहीं कांटे-सा खटक रहा था । ऐसा क्या गुल खिलाऊं कि लोग मेरे नाम का यथेष्ट सम्मान करें । मेरा नाम उच्चरित करते समय उनका मुंह भर आये ।

शनिवार की नियमित सभा में रटे-रटाये सवैये, मनहर छंद और कवित्त तो सुनाता ही था । तालियों की गड़गड़ाहट उड़ने लगी थी । आखिर सोचते-विचारते, बुझते-घुटते एक अटकल सूझी कि दूसरों की कविता नही सुना कर, खुद कविता बनाऊं तो ज्यादा धाक जमेगी । बलवती आकांक्षा के उकसाने पर नृसिंह राजपुरोहित से सलाह-मशविरा किया । वह तो जैसे इसी सुझाव की प्रतीक्षा कर रहा था । तुरंत मान गया । साधुओं के वेश में वैरगिये नाले की ओट में चोरी करने वाले तीन चोरों पर दोनों ने साथ बैठ कर कविता करने की सोची । एक-एक पंक्ति पूरी होने पर मानो इंद्रलोक का राज्य हाथ लगता । स्कूल में समय मिलता तो स्कूल में और बोर्डिंग में समय मिलता तो बोर्डिंग में नृसिंह के पास अपूर्व खुशी में उड़ कर जाता । सिकंदर को भी अपनी विजय का डंका सुनते समय ऐसा आनंद तो क्या हुआ होगा, जितना

हमें वह पहली कविता सम्पूर्ण करने पर हुआ। स्कूल के कण-कण में हमारे नाम की प्रतिध्वनि सुनायी पड़ने लगी कि मैंने व नृसिंह ने कविता बनायी है, कविता ! हां कविता !! मानो धरती पर कोई नया चांद उगा हो। उन दिनों कविता का कुछ ऐसा ही दबदबा था। कई अध्यापकों ने पूछताछ की तो मैंने अभिमान के साथ विनम्र हामी भरी। फिर तो मैंने हेकड़ी-हेकड़ी में संस्कृत के चार-पांच श्लोक भी बनाये। पंडितजी ने भरे स्कूल के सामने मेरी हिम्मत बंधायी। इतने जोर से मेरी पीठ थपथपायी कि सारे शरीर में सनसनाहट-सी फैल गयी। फिर भी दर्द की जगह आंखों में खुशी के मोती भर आये थे। उस दिन की भविष्यवाणी आज की तरह याद है कि मैं पंडितजी का होनहार विद्यार्थी समय आने पर, सारे देश में अपना नाम रौशन करूंगा। गाड़ी के नीचे चलने वाले कुत्ते की तरह मेरे मन में भी इसी गलतफहमी का ज्वार हिलोरें भरने लगा कि स्कूल की गाड़ी मेरे बूते पर ही चलती है। उन दिनों स्कूल की चहारदीवारी में ही समूची दुनिया समायी हुई थी।

हमेशा कविता करना तो हाथ की बात नहीं थी, पर हमेशा कुबद करना तो हाथ की बात थी। नामवरी का लहू तो होंठों लग चुका था। दूसरों की रटी हुई कविताओं की तुलना में मेरी अपनी कविताएं खराब लगती थीं। मगर बदमाशी में मेरी होड़ करने वाला कोई नहीं था। नामवरी का उछाह इस राह धीरे-धीरे तुष्ट होने लगा। नादान देवी समझाने की चेष्टा करती; पर निरर्थक। आखिर समझ तो अपनी ही काम देती है, इर्रपिंदर। शाहजी की सीख फलसे तक। वह कई बार नाराज होती, रूठती, पर बदमाशी की लत मुझ से नहीं छूटी। कविता की सफलता अभी काफी दूर थी। उस में नामवरी हासिल करने के लिए बरसों—बरसों तक धैर्य रखने की दरकार थी। बदमाशी के संतोष का चमत्कार तो हाथोहाथ मिलता था।

हमारे परिवार में कुबेरजी बाभा के पास कविता लिखने का अच्छा-खासा हुनर था। पढ़ाई और खेलकूद के प्रति उत्साह भी कम नहीं था। बिलाड़ा से सातवीं कक्षा पास करके वे आगे पढ़ने के लिए जोधनेर भरती हुए। मुझ से मन-पसंद कविताएं नहीं लिखी गयीं तो मैं उनकी कविताएं याद करके सुनाने लगा। सुनने वालों की आंखें ऊंची ललाट में चढ़ जातीं। पर मन से छिपी तो कोई चोरी नहीं होती, इर्रपिंदर ! मैं स्वयं तो अपना बूता जानता ही था। वैसी कविताएं लिखना मेरे वश की बात नहीं थी। एक दफा तो शनिवार की सभा में ऐसा ठाट जमा कि क्या बताऊं ! पूरी कविता तो फिलहाल याद नहीं है, पर उसकी अंतिम कड़ी भूलना चाहूं तो भी भूल नहीं सकता :

अैड़ी अंगरेजी छोड़, धारौ अंग रेजी को

काफी लम्बी कविता थी, सात-आठेक मनहर छंदों की। अंग्रेजी फैशन और अंग्रेजी भाषा की बुराई से सराबोर। मेरा मनचीता प्रतिशोध ! ऐसी मालजादी अंग्रेजी छोड़ कर सारे देशवासियो अंग रेजी धारण करो। रेजी कहते हैं हाथों से कती-बुनी खादी को। महात्मा गांधी की दुलारी खादी ! फिर क्या कसर बाकी रहती। तालियों पर

तालियों की गड़गड़ाहट ! तीसरी बार सुनने के बाद भी श्रोताओं का मन नहीं भरा। हेड मा'ट सा'ब ने अत्यधिक खुशी में छक कर मुझे शाबाशी दी। देवी के आनंद का भी वारापार नहीं था। उस रात दमकते सितारों के बीच उसका मन भी दमका होगा, जरूर दमका होगा। मुझे स्वयं भी कुछ देर के लिए यह भ्रम हुआ कि इस अथाह यश-कीर्त्ति का दावेदार मैं ही हूं। पर उस रात के सघन अंधियारे में मेरी आंखों के सामने यह स्पष्ट हो गया कि यह तो सरासर चोरी की नामवरी है। क्योंकर कबूल करूं ? किसी एक व्यक्ति को तो सच्चा भेद बताये बिना क्षण भर के लिए चैन नहीं पड़ेगा। सारी रात नींद नहीं आयी। पर सवेरे सूरज के छलछलाते उजाले में सब-कुछ फिर से अंधियारे के बीच दब गया। समय से घड़ी-डेढ़-घड़ी पहले स्कूल पहुंचा, पर सिले हुए होंठ तो खुले ही नहीं। हेड मा'ट सा'ब का घर स्कूल से एकदम सटा हुआ ही था। भीतर-ही-भीतर मन तो खूब ही छटपटाया, मगर जिसे भेद बताना था, उसे नहीं बता सका। आज पहली बार यह रहस्य उजागर कर रहा हूं। मन-ही-मन कुण्ठाग्रस्त होकर मैंने उस दिन ज्यादा बदमाशी की। पर साथ-ही-साथ यह दृढ़ संकल्प किया कि कुबेरजी वाभा जैसी कविताएं करके ही दम लूंगा। अन्यथा मनुष्य की जिंदगी पाकर धूल ही फांकी। इस तरह जीने को धिक्कार है। इसकी अपेक्षा तो मौत ज्यादा श्रेयस्कर है।

पहले ही कहा था कि सरकारी अहलकार का एक पांव दफ्तर में तो दूसरा गली में। सुमेरजी वाभा की बदली जोधपुर हो गयी। सुनते ही ऐसा लगा कि बाड़मेर छूटने के साथ मेरे प्राण भी छूट जायेंगे। इस तरह की अविच्छिन्न आत्मीय मंडली से क्योंकर दूर छिटक सकूंगा ? वियोग की दाह सुलगते ही यार-दोस्तों की घनिष्ठता का अहसास हुआ। वे कोई मित्र थोड़े ही थे, तारों का जमघट था, जमघट—नृसिंह, आसूलाल, रामजीवन, रामेश्वर, गिरधारी, हमीरसिंह, मेघसिंह इत्यादि...इत्यादि ! आखिरी नाम के आगे इत्यादि-इत्यादि की अर्गला जड़ने पर निश्चय ही तुम्हारी मुस्कान थमेगी नहीं। हरगिज नहीं थमेगी। पर वह नाम कलम की कालिख द्वारा प्रकट होते ही निर्मल प्रेम की मर्यादा भ्रष्ट हो जायेगी। बादलों के पानी में कीचड़ घुल जायेगा। बिजली की पावन दमक पर काजल की तूलिका फिर जायेगी। ऐसा महसूस हुआ कि जैसे फूलों पर मंडराती तितली की पांखें कतर ली गयी हों। तितली में पांखों के अलावा शेष बचता ही क्या है ?

नृसिंह वाली बोर्डिंग में भरती होकर वहीं पढ़ने के लिए सुमेरजी वाभा के सामने डरते-डरते मंशा प्रकट की, पर पार नहीं पड़ी। संयोग तो अपनी लीला अपने हिसाब से रचता है। जितना 'अंजल' था उतना सपना देख लिया। सपने की क्या बिसात ? टूट कर ही रहता है। आंख खुलने के साथ ही सुहाना सपना ध्वस्त हो गया। एक ही क्षण में एक साथ। आशाओं के बादल-महल की ढेरी होने में यह देर लगी, इरपिंदर !

सभी यार-दोस्त गले मिल-मिल कर खूब ही रोये, पर जाने वाले के लिए रुकना हाथ की बात नहीं थी। क्यों तो कलमुंही रेल ने इतनी दूर लाकर जोर से पछाड़ा और अब क्यों क्षत-विक्षत पिंड को सहेज कर वापस ले जा रही है ? प्रीत के घरौंदे रौंद कर

इसे क्या हाथ लगेगा ? पर जिसके निःश्वास से ही काला धुआं निकले, उस से कुछ आशा रखना ही बेकार है । आज तो अधिकांश मित्रों के नाम सोचने पर भी याद नहीं आते, पर उस दिन वाकई वियोग की दाह का कोई पार नहीं था । वैसे घनिष्ठ अंतरंग मित्र पीछे रह गये और मैं अकेला जीवित मुर्दे की तरह आधे-अधूरे होश में गाड़ी रवाना होने के साथ जुदा हो गया । उस समय नृसिंह ने जाली के धागों से गुंथी एक थैली और एक पेन मुझे सौंपा । अत्यधिक स्नेह के साथ, उछाह के साथ । वह थैली उसके हाथ से गुंथी हुई थी । चार आंखों से, एक ही सांचे में ढले मोती झार-झार बरसने लगे । पर लम्बा-ही-लम्बा अजगर फुफकारें भरता सब यात्रियों को अपनी ओजरी में समेट कर आगे रपटता ही गया, रपटता ही गया । कलेजे को मसलता हुआ, रौंदता हुआ । इत्यादि-इत्यादि बातों पर वहीं विराम-चिह्न जड़ गया । बसोले की तीखी-तच्च धार से कच्ची कदली के टुकड़े होने पर उन्हें वापस कैसे जोड़ा जा सकता है ? बदली की अशुभ खबर मिलने के बाद एक व्यक्ति से भेंट करने की हिम्मत नहीं हुई । वह तो स्वयं अपने-आप से अपना ही वियोग था, इर्रापिदर ! कोई क्योंकर सहन कर सकता है । जीवन और मृत्यु का वियोग तो समझ में आता है, पर मौत-से-मौत का वियोग तो विधात्री भी नहीं जानती । चार-पांच दिन तक किस तरह अपने-आप से छिपता रहा, आज चाहूं तो भी विश्वास नहीं होता । वैसी शूरवीरता से तो कायरता लाख गुना श्रेष्ठ है । आज दिन तक वापस उस से मिलन नहीं हुआ । उस दिन का 'खोका' और आज का 'बिज्जी' एक ही व्यक्ति है क्या ? मुझे तो ऐसा नहीं लगता । और न दो मानने के लिए ही मन राजी होता है !

कैसे स्नेहमयी है संयोग की लीला !!
कैसी निर्मम है संयोग की लीला !!!

तब का जोधपुर शहर भी बाड़मेर से बहुत बड़ा और विचित्र था । दरबार हाईस्कूल, बाड़मेर के मिडल स्कूल से अत्यधिक ठसके वाला था । हेड मास्टर सिंहल साहब के नाम के पत्थर तैरते थे । शहर का चुनिंदा स्कूल था । वैसे ही नामजद गुरु और वैसे ही कुशल विद्यार्थी ! कुएं के मेंढ़क ने जैसे विशाल सरोवर में छलांग मारी हो। कई दिन तक तो घबराया-घबराया-सा रहा । मानो अपने ठिकाने पर स्वयं खो गया हूं । किसी तरह का कोई संपट ही नहीं जुड़ पाया । जंगल की नीलगाय बस्ती में आने पर जिस तरह होश भूल जाती है, ठीक मेरी भी वही हालत हुई । पर धीरे-धीरे कविता के बूते पर आश्वस्त होने लगा । खिलाड़ी और दौड़ने वालों की पूछ काफी थी । खूमदानजी ने तो आते ही अपनी धाक जमा ली । वे फुटबाल के निहायत उम्दा खिलाड़ी थे । सौ गज की दौड़ में दांत भींचकर दौड़ते तो अव्वल नंबर में कोई खामी नहीं रहती । पर मैं तो खेल-कूद में एकदम अनाड़ी था । फिर भी नामवरी की भूख तो किसी तरह शांत होना ही नहीं चाहती थी । कुछ तो कविता ने बाजी रखी और कुछ वाद-विवाद की प्रतियोगिता ने । पर बदमाशी, कुबद व कुलंगों का पलड़ा तब भी भारी था । छठी कक्षा पास करके सातवीं में आया तब तक काफी शोहरत हासिल कर ली थी । आज तो भाषण व साक्षात्कार के नाम से कलेजा धुकधुक करने लगता है, पर उन दिनों मंच पर सामने खड़ा

होते ही जवान को जैसे पांखें लग जातीं। भिड़ते ही पहली प्रतियोगिता में वाद-विवाद का सभापति चुन लिया गया। छंदों की जोड़नी नियंत्रण में आने लगी थी। कविताओं का स्तर भी उम्र और समझ के मुताबिक हलका नहीं था। आज भले ही वे कविताएं एकदम खराब लगें, पर उन दिनों किसी को भी अपने समकक्ष ठहरने नहीं देता था। पर बाड़मेर की खुमारी भी मिटी नहीं थी। पुरानी स्मृतियां दिल में कहीं गहरे चुभ रही थीं। नामवरी की लालसा पागल कुत्ते की तरह भड़क रही थी। तत्काल नाम करने के लिए पर्चे चोरता, नकलें करता। कक्षा का मॉनीटर होने के नाते मास्टर जैसा ही मेरा दबदबा था। फिर भी नामवरी की अखूट तृष्णा में किसी तरह की कोई तब्दीली नहीं हुई। अलबत्ता मॉनीटरी के रुतबे से पर्चे चोरने में और नकल करने में मनवांछित मदद मिल जाती। कैसी भी समाज-विरोधी और अनैतिक बातें लिखने में संकोच नहीं पर दूसरों की प्रतिष्ठा के निमित्त संयम बरतना पड़ता है। किसी उपन्यास के बहाने मन की भड़ास निकालूंगा। तुम से कुछ छिपाने की कोशिश करता हूं, तो ऐसा लगता है इर्रापिंदर, कि मैं अपने-आप से ही कुछ छिपा रहा हूं। नहीं, यह बात कुछ गलत लिख गया। अपने आप से तो काफी-कुछ गोपनीय रखा, रखना ही पड़ता है। पर राम-जाने क्यों तुम्हारे सामने कुछ भी छिपा नहीं पाता। काच के निर्मल पानी में जिसका जैसा हुलिया होता है, उसी के अनुरूप प्रतिच्छवि उभरती है। नहीं उभरती तो केवल दीवार की जड़ता में, उसके रूखेपन में। प्रत्यक्ष मुख-जबानी तुम्हें कई बातें ऐसी बतायीं, जो अपने-आप से छिपा रखी थीं। पर अभी काले अक्षरों में लिखने के निमित्त बंदिश लगानी ही पड़ेगी। लाख छटपटाने पर भी 'रूसो' का अनुकरण नहीं कर सकता। चारों तरफ जैसी आंखें होती हैं, उनका थोड़ा बहुत खयाल रखना ही पड़ता है। जमीन की उर्वर क्षमता के मुताबिक ही उसकी कोख फलती है, वनस्पति उगती है। पाठकों की क्यारियों के अनुरूप ही उन में लेखक के अच्छर अंकुरित होते हैं। पानी के अभाव में गन्ने और चावल की खेती क्योंकर हो सकती है? पितामह तोलस्तोय की एक सूक्ति समय पर ठीक याद आयी कि औरतें झूठ बोलती हैं, पर अपने झूठ पर विश्वास नहीं करतीं। 'रूसो' झूठ बोला और उसने अपने झूठ पर विश्वास किया। बुड्ढे की बातें बड़ी विलक्षण होती हैं। एक 'पाजी' में तो कोई कसर नहीं थी। प्रशंसा के लिए जब शब्द पर्याप्त नहीं होते तो गाली निकालनी पड़ती है!

सस्ती नामवरी का आखिर वही अंजाम हुआ जो होना था। नवमी कक्षा पार करते समय पर्चों की चोरी सामने आ गयी। सिंहल सा'ब की रंजिश को बड़ी मुश्किल से सुराग मिला था। काफी समय से वे मुझ पर खफा थे। एक खराब लत के वे अभ्यस्त हो गये थे। एकाध-मित्रों को उनके चंगुल से बचाने के लिए उनसे भिड़ना पड़ा। समंदर में रह कर मगरमच्छ से बैर का बदला तो देर-सवेर मिलना ही था। सरे-आम प्रार्थना के बाद दूसरी बेंत सड़काते ही उसे छीन कर भागा सो पीछे मुड़ कर भी नहीं देखा।

दरबार-स्कूल की उच्छृंखलताओं व बदमाशियों का पुराण बहुत ही लंबा है; पर विवश होकर छोटा करना ही पड़ेगा। भूमिका के पन्ने समाप्तप्राय हैं। अभी तो सवा मन में पाव ही नहीं पीसा गया। सिंहल साहब को बड़ी मुश्किल से यह स्वर्ण-अवसर

मिला था, फिर कसर क्यों रखते ? ऐसा बुरा प्रमाण-पत्र दिया कि राजस्थान के किसी स्कूल के सामने मुंह ही नहीं कर सकता था। चरित्र के खाने में पूरी कालिख पोतने की वेला क्या उन्हें अपने चरित्र का रंचमात्र भी खयाल नहीं आया ? मनुष्य के लिए यही स्वाभाविक है। अपने-आप से दूर-दूर चरे विना यह पाखण्ड नहीं रचा जा सकता। अपने लिए स्वयं को अंधा और वहरा होना ही पड़ता है। मेरी चालाकी का यह एक ही प्रमाण काफी है कि घर पर अपनी किसी भी रामायण का सुराग नहीं लगने दिया। न वाड़मेर की रामायण का और न दरवार-स्कूल की।

पिलानी स्कूल की अत्यधिक प्रशंसा सुनने पर सुमेरजी वाभा ने वहां पढ़ने की आज्ञा दे दी। उत्तम प्रमाण-पत्र के सहारे भरती हो गया। जैसे-तैसे ही मिथ्या प्रमाण-पत्र का जुगाड़ विठा लिया था। वह भी बड़ा रुचिकर उपाख्यान है, पर फिलहाल नियंत्रण रखूंगा। केवल प्रमाण-पत्र ही उत्तम था, मेरे स्वभाव में तो परिवर्तन कहां हुआ ? इसलिए दूसरे पखवाड़े वहां भी रेस्टीकेट होना पड़ा। नकल की खातिर तो शायद माफी मिल जाती, पर हॉस्टल के प्रॉक्टर का उजला-बुर्राक पैंट विना मिर्च की विस्वादी दाल उछालने के कारण गंदा हो गया तो फिर माफी मिलने की कोई टेढ़ी-मेढ़ी राह नहीं वची। वज्रपात शायद ऐसे ही दुर्योग को कहा जाता है ! घर भी छूटा, घाट भी छूटा। आखिर सर खपाते-खपाते जोवनेर जाने का पुख्ता विचार कर लिया। वहां कुवेरजी वाभा के यश की छांव तले मेरा वसेरा हो जायेगा।

उन दिनों जोवनेर स्टेशन नहीं था। किसी एक नजदीक के स्टेशन पर ऊंट किराये पर किया। चौमासे की शुरुआत का जवरदस्त आडंग था। धूप के वहाने सचमुच आग की लपटें ही वरस रही थीं। कपड़े व पोथियों की एक ही काली पेटी थी। ऊंट पर वैठा पुरानी स्मृतियों के वातचक्र में गरणाटी खा रहा था। एक आंख में वाड़मेर की स्मृति कौंध रही थी और दूसरी आंख में दरवार स्कूल की। रंग-विरंगी कावड़ का कहीं कोई अंत नहीं था। मगर अकस्मात् वीच मार्ग में ही यात्रा का अंत आ गया। चारों दिशाओं में एक साथ कजरारे वादल उमड़ पड़े। हजारों-हजार सिंह-गर्जना से भी वढ़ कर जोर-से विजली कड़की। ऊंट भी चौंका। वड़ी-वड़ी वूंदों का मूसलाधार मेह वरसा। ऐसा घनघोर कि विजलियां वारंवार उसे देखने का लोभ संवरण नहीं कर पा रही थीं। देखते-देखते मार्ग में ऊंट के घुटनों तक पानी वहने लगा। रुकने के लिए कहीं कैसी भी ओट नजर नहीं आयी तो मार्ग से हट कर एक ऊंचे टीले पर वचाव का रास्ता निकाला। सारी वरसात ऊपर ही वरसी। पूरे वरस का अग्रिम स्नान हो गया। भीगने से कंवल तो भारी होता ही है, पर स्मृति भी वोझिल हो जाती है, उस दिन भीगने पर पहली वार इस मर्म का पता चला। उस असह्य वोझ को झेलना वहुत मुश्किल काम था, फिर भी स्मृति का परित्याग करने की किंचित् भी इच्छा नहीं हुई। वड़ी विचित्र वात है कि स्मृति का दुख भी विलक्षण होता है और सुख भी।

आखिर वादल फटने पर ही वरसात रुकी। मगर धरती का पानी तव तक समाप्त नहीं हुआ था। घड़ी-डेढ़-घड़ी के उपरांत वार-वार उकसाने पर वड़ी मुश्किल से ओठी आगे चलने के लिए तैयार हुआ। स्मृतियों को चहकने के लिए वैसा परिवेश और कव

मिलता ? चारों दिशाओं में शांति का एकछत्र साम्राज्य। परितृप्त धरती। धुला हुआ पारदर्शी नील गगन। सद्यःस्नात बसुन्धरा। आनंद में किलोल करते गाछ-बिरछ।

झेंकते ऊंट के अरड़ाट से हठात् स्मृति का तांता टूटा। हॉस्टल के बाहर कई विद्यार्थी उत्सुकतावश एकत्र हो गये। पूछ-ताछ करने पर पता-ठिकाना बताया। कुबेरजी बाभा का रिश्ता सुनते ही सब विद्यार्थी दूसरे ही क्षण परम आत्मीय बन गये, जैसे बरसों की घनिष्ठता हो। उनका रोम-रोम आत्मीयता से सराबोर हो गया। किसी ने पेटी उठायी, किसी ने किराया चुकाया तो किसी ने कपड़े बदलने की ताकीद की। ऐसा निर्मल नेह और अकृत्रिम उछाह न तो अन्यत्र देखा, न सुना। कुबेरजी बाभा को स्कूल छोड़े तीन बरस हो चुके थे, फिर भी उनकी कीर्त्ति वैसी ही अखूट बनी हुई थी। रसोइये ने अपनी अतिरिक्त आत्मीयता दरसाने के लिए चकाचक चूरमा बनाया। परांठे बनाये। दाल छौंकी।

बातों-बातों में रात फिसल गई। सवेरे दसवीं कक्षा में भरती होने के लिए पेटी संभाली तो प्रमाण-पत्र नहीं मिला। अचानक खयाल आते ही इस जन्म की बात तो दूर, मेरे पिछले जन्म का भी होश उड़ गया। खूंटी पर टंगे कुरते की जेबें संभाली तो लुगदी बने प्रमाण-पत्र के तमाम अक्षर धुल गये। 'नंदकिशोर-स्याही' इस सीमा तक कच्ची निकलेगी, इस दुःस्वप्न की तो कल्पना भी नहीं की थी। रोम-रोम में अगणित बिच्छुओं के दंश की एक साथ पीड़ा कसक उठी। सद्य-मित्रों के साथ हेड मा'ट सा'ब ने भी पूर्णतया आश्वस्त किया कि उनकी चिट्ठी पहुंचते ही दूसरा प्रमाण-पत्र आ जायेगा, इस में चिंता की क्या बात ! पर मेरी चिंता तो मैं ही जानता था कि प्रमाण-पत्र जाली है। सिंहल साहब के दस्तखत जाली हैं। मगर आंतों में उलझी हुई बात किस के सामने दरसाता ? दूसरे दिन ही असली बात छिपा कर, किसी दूसरे बहाने वहां से कूच कर गया। कुबेरजी बाभा के यश की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रखना मेरी पढ़ाई की बनिस्वत ज्यादा जरूरी था।

तीन सौ साठ दिन का बरस बचाने के लोभ से पंजाब-मैट्रिक करने के अलावा दूसरा कोई विकल्प नहीं था। संयोग की लीला के अदृष्ट न्यौते पर सोजती-गेट के बाहर पीलू बाबूजी की पॉयनियर कोचिंग इन्स्टीट्यूट में भरती होने का योग भला क्योंकर टलता ? उस मांगलिक वेला के शुभ मुहूर्त में मेरे निमित्त संयोग की नई लीला प्रकट हुई। मेरे खयाल से मृत्यु के बाद भी यह लीला सम्पूर्ण नहीं होगी ! किसी दूसरी इन्स्टीट्यूट के आश्रय से लेखक के बदले राम-जाने क्या होता इर्यादर—डकैत, हत्यारा, आतंकवादी या फितरती चोर। पीलू बाबूजी बंगाली थे। उनके स्कूल में लड़कों की कक्षा अलग थी। पांच-सात लड़कियों की कक्षा न्यारी थी। मीरा उसी कक्षा में पढ़ती थी ! सब से पहली झांकी में चार आंखें होते ही मुझे अपनी काया का स्वरूप बदलता-सा महसूस हुआ।

पीलू बाबूजी का लड़का प्रफुल्ल शंकर सेन मेरे साथ पढ़ता था। हम उसे शंकर के नाम से पुकारते थे। कहानियां लिखने की उस में नैसर्गिक प्रतिभा थी। 'माया' में उस की तीन-चार कथाएं छपीं। भविष्य में प्रसिद्ध लेखक बनने के लिए इस से बढ़िया श्रीगणेश

और क्या होता ? लिखने के समान गुण के परिणाम-स्वरूप उसके साथ अनजाने ही गाढ़ी मित्रता होने लगी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर व शरत्‌चंद्र चट्टोपाध्याय का नाम तो सुना ही था, मगर पहली बार उनकी रचनावलियां मीरा के घर देखीं। उस समय बंगाली में पारंगत होना तो चांद के लिए हाथ पसारना था। मीरा के मुंह से उनकी प्रशंसा सुन कर उन अपूर्व लेखकों की रचनाएं हिन्दी में बांचने का सौभाग्य फला, जैसे कोई गड़ा हुआ खजाना हाथ आ गया हो—अमोलक व अखूट खजाना ! 'देवदास' की 'पारो' केवल देवदास को ही मार कर शांत नहीं हुई, उसने कितने प्रेमियों का कत्ले-आम किया, जिसकी जानकारी स्वयं उसे भी नहीं है। उन असंख्य मरने वालों की नफरी में, फिलहाल मैं अकेला ही जिन्दा हूं।

शरत्-बाबू की रचनाओं के प्रताप से प्रीत या प्रेम का एक नया ही आयाम उभर कर सामने आया। प्रेम की रचनाएं पढ़ कर प्रस्फुटित होने वाला प्रेम, पहले वाली अबोध प्रीत से नितांत भिन्न था, जिसे व्यक्त करने की खातिर प्रपंच करूं तो सात समंद की मसि और समूची धरती का कागज भी कम पड़ेगा ! बेहद लंबे बांस के द्वारा बादलों को फोड़ कर पानी बरसाना संभव हो तो मेरी प्रीत को शब्दों में व्यक्त करना संभव हो। फिर बेकार मशक्कत करने में क्या तुक ? मगर तुम्हें तो कई बार छुट-पुट आख्यान बताने में कहां संकोच बरता ? अब भी अत्यधिक अचरज होता है कि शरत्-बाबू को इतने बरस पहले मेरी प्रीत की भनक पड़ी ही क्यों कर ? वे त्रिलोक-दृष्टा तो नहीं थे ? शायद इसीलिए एक बार पारायण करने से उनकी रचनाएं सम्पूर्ण नहीं होती थीं। तत्काल वापस बांचना अनिवार्य हो जाता। ठेठ से। आखर-दर-आखर। मानो उन अजर अक्षरों में मेरे ही अंतस का अगम भेद छिपा हो। एक ही पुस्तक दिन में तीन-तीन या चार-चार बार पढ़ता। रोने के पावन संगम पर स्वत: ही आंसू बरसने लगते। अमिट अक्षरों के अवगुंठन में छिपा मर्म धुंधला पड़ जाता। बार-बार आंखें पोंछनी पड़तीं। पोंछने से काम नहीं सरता तो ठण्डे पानी से धोनी पड़तीं। शरत्-बाबू की रचनाए, नहीं-नहीं उनके उपनिषद् बांचते समय राम-झारा या लोटा पास में रखना पड़ता था। आंखें पोंछते-पोंछते कुरते की चाल भीग जाती। मानिक-मोतियों से भी महंगे थे वे आंसू ! आज भी शरत्-बाबू के अच्छर बांचने पर मेरी तो वही हालत होती है। कहीं आंखें ही इसकी आदी तो नहीं हो गयीं ? लिखना-पढ़ना तो शरत्-बाबू का। गुरुदेव का। नहीं तो बेकार कलम-घिसाई करनी। 'आंख की किरकिरी' खटकने की बजाय कितनी सुहाती थी ! उनकी रचनाओं का संयोग नहीं जुड़ने पर बहुत संभव है 'शंकर' की संगति से कहानियां लिखने की कोशिश करता, पर बाद में वैसी हिम्मत ही नहीं हुई। और तो और, कविता लिखने की बान भी कुम्हलाने लगी। बरगद का गहन-घुमेर फैलाव देखने पर बेचारे कुकुरमुत्ते का हौसला पस्त होना लाजिमी था !

शरत्-बाबू के उपनिषद् बांचते-बांचते, रोते-बिसूरते किसी तरह पंजाब मैट्रिक पास की। उन दिनों हिन्दी का कोई लेखक भूल-चूक से भी छूटा नहीं था—देवकी-नंदन खत्री, भारतेंदु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, प्रसाद, रामचंद्र शुक्ल, बालमुकुंद गुप्त, राहुल, जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, इलाचंद्र, महादेवी, बच्चन, पंत, निराला इत्यादि।

पुस्तकें पढ़ने के अतिरिक्त कोई काम अच्छा नहीं लगता था। पर शरत्-बाबू और रवीबाबू का स्वाद चखने के बाद हिन्दी की रचनाएं फीकी लगतीं। खीर हाथ नहीं लगे, तब तक छाछ से ही काम चलाना पड़ता है !

जस-तस नकल के जोर से जसवंत कॉलेज में भरती होने के बावजूद भी बड़ी मुश्किल से विश्वास हुआ कि मैं सचमुच भरती हो गया हूं। कॉलेज में पढ़ने की तो रंगत ही न्यारी, संगत ही न्यारी ! उछाह भी न्यारा। इंद्रलोक की सैर करने के समान। मेरी कक्षा में एक-दो नहीं पूरी तेरह लड़कियां पढ़ती थीं। एक-से-एक बढ़ कर। लड़कियों का तो नाम भी आकर्षक होता है। उनकी तो छाया भी गोरी दिखती है। जब झाड़-झंखाड़ पर गिरा लाल कपड़ा तक सुहाना लगता है, तब वे तो प्रत्यक्ष जीती-जागती, चलती-फिरती, बोलती-चहकती, हंसती-मुस्कराती रहस्यमयी अप्सराएं थीं। किसी अदृष्ट लोक से पढ़ने की खातिर आतीं और सांझ के पहले-पहले पढ़ाई निबटा कर ओझल हो जातीं। कक्षा में हाजरी लेते समय सबके नाम पुकारे जाते और वे सचमुच हामी भरतीं। खुली आंखों का जंजाल ऐसा ही होता है ! फिर आसानी से क्योंकर विश्वास होता ? मगर प्रतिदिन निश्चित समय पर वही जंजाल बार-बार देखने पर भरोसा करना ही पड़ा कि सपना नहीं सच है ! मैं स्वयं कॉलेज में पढ़ता हूं और मेरे साथ पूरी तेरह अप्सराओं की मंडली पढ़ती है !! सभी 'पारो' की अवतार जान पड़तीं, पर देवदास कहीं भी नजर नहीं आता ! यदि भूल-चूक से नजर भी आ जाता तो उसे देवदास मानने के लिए मन राजी नहीं होता। देवदास है तो स्वस्थ, सुडौल व हृष्ट-पुष्ट क्यों है ? देवदास का महात्म्य तो मरने में है, दुख भोगने में है, सुख का परित्याग करने में है। देवदास तो मरने के बाद ही जिन्दा होता है।

पढ़ाई—पढ़ाई तो कॉलेज की। सारी उम्र ही पढ़ते जाओ। न मन संतुष्ट होता है और न तृष्णा मिटती है। केवल एक बात की शिकायत थी कि इतनी देर से क्यों कक्षाएं शुरू होती हैं ? इतनी जल्दी क्यों छुट्टी होती है ? छुट्टी वाले दिन तो मानो कड़ी सजा ही काटनी पड़ती। पुस्तकों के सांवले अक्षर सरकाते-सरकाते आंखें क्लांत हो जातीं। न जाने कितनी-कितनी देर बाद दिन अस्त होता और कितनी देर बाद रात ढलती ! सचमुच इरपिंदर, उन दिनों कुछ ऐसा महसूस होता कि जो कॉलेज में नहीं पढ़ता, वह हतभागा जीता ही क्यों है ? बड़ी दया आती थी बेचारे पर। आज मुझे भी कॉलेज छोड़े बरस बत्तीस या तैंतीस बीत गये। फिर भी जीवित हूं ? पूर्णतया सानंद और स्वस्थ। मुझ पर भी किसी को दया आती होगी ! जान कर अपनी मंशा से बार-बार फेल हुआ, पर आखिर कॉलेज छोड़ने के लिए मजबूर होना ही पड़ा। सबसे पहले कॉलेज आता और सबसे पीछे जुदा होता। अकेला ही बावरे की भांति इधर-उधर चक्कर काटता। छुट्टी के दिन भी आम सड़क छोड़ कर कॉलेज के प्रांगण से लम्बे रास्ते चलता। पांव अपने-आप ही मनवांछित रास्ते पर मुड़ जाते। कॉलेज के वियोग, छुट्टी के काले-दिवस, आधे-अधूरे होश में मार कविताएं लिखता। एक बार छटपटा कर सांझ के पहले-पहले छोटी-बड़ी त्रेपन कविताएं लिख मारीं। उस दिन तो जैसे संज्ञा-विहीन होकर हाल में आ गया होऊं। पढ़ने के नाम पर केवल शरत्-साहित्य पढ़ता।

लिखने के नाम पर केवल कविताएं लिखता। रात को बिस्तर पर लेटने के पहले यही आशा रहती कि सोने पर नींद में काला अंधियारा जल्द समाप्त हो जायेगा और मैं जल्द कॉलेज के स्वर्णिम चौक में पहुंच जाऊंगा। उन दिनों तो कॉलेज की धूल, कॉलेज के पत्थर और कॉलेज के रूंख-विरछ भी अच्छे लगते थे। पवित्र करने वाली आंखों के स्पर्श से वे पूरमपूर पवित्र हो चुके थे।

ग्यारहवीं कक्षा पास करने के दुख का ऐसा सदमा लगा कि मानो एक सुनहरा बरस कम हो गया हो। एम. ए. पास करने के उपरांत तो कॉलेज छोड़ना पड़ेगा। नौकरी करनी पड़ेगी। तुच्छ नौकरी के निमित्त कालेज की शिक्षा का माहात्म्य थोड़े ही है। लो—अनहद सुख की अमूल्य घड़ियों से एक बरस कट गया!

संयोग की लीला का ऐसा करिश्मा हुआ इरपिदर कि सैकिंड इयर के पहले दिन ही किसी एक 'धर्म-बहिन' के 'धर्म-भाई' ने मुझे एक दूसरी लड़की से छेड़खानी करने के लिए बार-बार उकसाया। ठेठ से टेढ़ी बुद्धि थी मेरी। मैंने उलटे उसकी धर्म-बहिन से ही छेड़खानी की। छेड़ने के साथ ही वह काफी गर्म हुई तो एक नया ही स्वाद आया। फिर तो वह घड़ी और वह दिन था कि मैं लड़कियों से छेड़खानी करने का कोई भी स्वर्ण-अवसर हाथ से नहीं जाने देता। हर बार नयी मसखरी व नये मखौल के लिए जी छटपटाता। कुबद और कुलंगों के लेखे पहले से ही पारंगत था। नये गुर सीखने की कोई जरूरत नहीं थी। लड़कियों के साथ-साथ प्रोफेसरों को भी तंग करने में कोई कमी नहीं रखी। हिन्दी के एक तत्कालीन प्राध्यापक के कारनामे तो इस पुस्तक में उजागर हैं—'ख्यात एक प्रोफेसर की' कथा में। उच्छृंखलता के लिए मैं अकेला ही जरूरत से ज्यादा था। एक बार दुर्योग से मुझे प्लूरिसी हो गयी। काफी दिनों तक महात्मा गांधी अस्पताल में भरती रहा। करीब-करीब कॉलेज की सब लड़कियों ने मेरी मृत्यु के लिए मानता बोली। किन्तु उनकी दुराशिष के बावजूद अभी तक जिन्दा हूं। साले के साथ दो-तीन गालियां निकाल कर वे भी अन्त में स्वीकार करतीं कि मैं परवर्टेड जीनियस हूं।

नमूने के तौर पर केवल एक आख्यान बता कर ही सब्र करना चाहूंगा। मेरे साथ पढ़ती एक अप्सरा [नाम मिलने पर बताऊंगा]—एक दफा सफेद सलवार, सफेद कुरते पर हरा दुपट्टा डाल कर आयी। मंगलचंद गुलेच्छा मेरा बहुत घनिष्ठ मित्र था। उसे सुनाते हुए मैंने जोर से कहा, 'देख रे मंगल, यह मूली का सिंगार करके आयी है—नीचे सफेद और ऊपर हरी—कोई नमक लगाकर खा गया तो...!' उसने पलट कर गुस्से में मुझे दुत्कार पिलाई—बद्तमीज कुत्ते कहीं के। उसके इस कदर नाराज होने पर बहुत मजा आया। छेड़ना सार्थक हो गया।

तत्पश्चात् हवा की तरह कॉलेज के बाहर तक उसका नया नामकरण हो गया—मिस मूली, मिस मूली। उस दिन के बाद उसने वह वेश फिर कभी नहीं पहना!

दूसरे दिन भिड़ते ही अंग्रेजी की क्लास थी। चंचू मा'ट सा'ब [यह उचित नामकरण मैंने ही किया था] ने दरवाजे पर पांव रखा तो उन्हें दवातों के खाली छिद्रों में, प्रत्येक डेस्क पर मूलियां-ही-मूलियां नजर आयीं। नीचे मूली और ऊपर हरे पत्ते। पहले

तो वे मंद-मंद मुस्कराये। फिर राम-जाने क्या सोच कर उन्होंने पूछा, 'यह क्या माजरा है?'

हाजिर-जवाबी में भी मेरा कोई जवाब नहीं था। अविलंब शालीन विनम्रता से उत्तर दिया, 'आज मेरा जन्म-दिवस है गुरुवर, इसलिए क्लास की सजावट की है।'

उन्होंने मुंह बना कर कहा, 'ये ही खूबसूरत फूल मिले तुम्हें?'

'वेजा क्या है? सस्ते और टिकाऊ!'

हर विद्यार्थी की हंसी से क्लास में उजाला छिटक गया। पर एक व्यक्ति का मुंह काला-स्याह हो गया, जैसे इंजन का धुआं पुता हो। दिल में एक साथ हजार शूलों की चुभन पैदा हुई। फिर भी दांतों लगे लहू के हिंस्र नागपाश से मुक्त कहां हो सका?

आठ या दस दिन के अंतराल से क्लास में डाकिया उसके नाम एक पार्सल लेकर आया। मखमल के आकर्षक डिब्बे पर सब की आंखें गड़ गयीं। खोला तो भीतर मूलियां। गुस्से में भभक कर उसने पार्सल बाहर फेंक दिया। जलते अंगारों की दृष्टि से उसने पीछे मुड़ कर मेरी ओर देखा। मैं शरत्-बाबू का 'विप्रदास' पढ़ने में मशगूल था।

कोई माने न माने, मगर आज उस गोपनीय-भेद को प्रकट किये बिना मुझे चैन नहीं मिलेगा, इरपिंदर, कि मैं लड़कियों के बहाने अपने-आपको छेड़ता था। अत्यधिक नामवरी की छटपटाहट ने मेरे कलेजे को मसल डाला था। सच, उन्हें छेड़ने के दर्द ने मुझे भीतर से कम लहूलुहान नहीं किया। रात के सांवले परदे में मुंह छिपा कर कई वार अकेला इतना रोया हूं कि तारों को भी मुझ पर तरस आ जाता। लेकिन सवेरे सूरज की ज्वाला में सब-कुछ जल कर भस्म हो जाता और मेरे आहत अंतस पर चेत-अचेत कालिख-ही-कालिख पुत जाती। लड़कियों व प्रोफेसरों को छेड़ने के अलावा प्रसिद्धि का कोई दूसरा उपाय समझ में नहीं आता था। कब शरत् बाबू जैसा लेखक बनूं और कब मेरा नाम उजागर हो, इतने असह्य धीरज का बूता नहीं था और मैं तो सूर्योदय के साथ ही चमकना चाहता था। यदि मैं भरपूर लंबा, खूबसूरत या अद्वितीय खिलाड़ी होता तो बहुत संभव है उस नृशंस उच्छृङ्खलता के कुपथ पर एक कदम भी आगे न बढ़ता। यदि मैं लेखक नहीं होता तो रंगा-बिल्ला बनता, कोई बैंक लूटता, किसी बड़े नेता या उद्योगपति की हत्या करता। बड़े-से-बड़ा खतरा झेल कर मुझे किसी भी कीमत पर अपना नाम रौशन करना था। मगर संयोग से शरत्-बाबू की रचनाओं ने मुझे उबार लिया। इसलिए आज यश का सेहरा मेरे माथे पर नहीं, शरत्-बाबू के सर पर बंधना चाहिए। यदि दुर्योग से नाथूराम प्रेमी द्वारा हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बंबई से शरत्-साहित्य प्रकाशित नहीं होता तो मेरी कैसी सद्गति होती? कल्पना कर सकती हो? बाइरन, शेली, पुश्किन व अलेक्जेंडर ब्लॉक कितने खूबसूरत थे! सात-समंदर पार तलाश करने की क्या जरूरत है— अपने गुरुदेव का व्यक्तित्व कैसा बेजोड़ था—साक्षात् कामदेव के ही अवतार। फिर भी सृजन के निमित्त उन्होंने क्या कसर रखी? पर मैं तो केवल अपना ही भेद जानता हूं, दूसरों के उदाहरण से मेरे गणित की गुत्थी नहीं सुलझ सकती।

मूलियों का पार्सल भेजने से भी मेरे बर्बर संतोष का अंत नहीं हुआ तो मैंने प्रफुल्ल

शंकर से बार-बार आग्रह किया कि वह 'मिस मूली' के कथानक पर एक उम्दा कहानी लिखे। उसने कहानी लिखी तो जरूर पर मुझे पसंद नहीं आयी। दूसरी बार लिखी, तीसरी बार लिखी, फिर भी मन-वांछित बात बनी नहीं। आखिर हैरान होकर मैंने स्वयं लिखने का फैसला किया। सबसे पहले 'मिस मूली' के लिए हिम्मत नहीं हुई तो कलम मांजने की मंशा से 'कुली' नामक पहली कहानी लिखी, जिस से मन की झिझक मिट गयी। शंकर ने दाद दी, बार-बार प्रशंसा की तो दूसरे दिन सवेरे ही मैं उसके पास उड़ कर पहुंचा। 'मिस-मूली' का पाठ संपूर्ण होते ही उसके दांतों तले अंगुली ऐसी दबी कि फिर उसके बाद कहानियों के लिए उसकी कलम ही नहीं चली। लिखना ही सर्वथा बंद हो गया। और उस मांगलिक या अमांगलिक संयोग के उपरांत मेरी कविताएं ऐसी छूटीं कि आज दिन भी छूटी हुई हैं। अब फिर से कविताएं लिखने के लिए मन में बुदबुदे उठ रहे हैं, देखो संयोग की लीला किस रूप में प्रकट होती है? 'मिस मूली' से पहले मैंने कितनी कविताएं लिखीं—अंतर्ध्वनि, विश्व-सुंदरी, नाविक और ऊषा के नाम से पूरी कृतियां। विश्व-सुंदरी के विशेषण से मैंने मौत को संबोधित किया था। मृत्यु-रहित संसार जीने के योग्य ही नहीं रहता। जन्म से बेशी मृत्यु का माहात्म्य है। 'विश्व-सुंदरी' की प्रशस्ति में सौ सवा-सौ कविताएं लिखीं। पर मृत्यु के समान ही उनका अंत हुआ। फिर कभी विस्तार से बताऊंगा!

मेरे क्लास में ऊषा पाठक नाम की एक अप्सरा पढ़ती थी। आज के हुलिये का तो मुझे भी पता नहीं है। समय की उच्छृङ्खलता ने जरूर अपनी असलियत प्रकट की होगी, पर उन दिनों शरीर की आभा से गुलाल छिटक-छिटक पड़ता था; चांदनी बरसती थी। उसे चिढ़ाने के लिए उसके नाम की पूरी पुस्तक ही छपा दी—ऊषा! प्राकृतिक ऊषा के विविध काव्य-चित्र। तब तो सारी कविताएं कंठस्थ थीं, पर आज विस्मृति के गर्भ में दबी पड़ी हैं। बानगी-स्वरूप एक कविता की पहली पंक्ति याद है—'ऊषे! तेरी याद लिये नयनों में रात बिता दूंगा।' रात का अथाह अंधियारा नष्ट होने पर ही सूर्योदय की वेला ऊषा दिखती है। क्यों इरपिंदर, उच्छृङ्खल तो मैं अव्वल दर्जे का था न? लड़कियां ठीक ही कहती थीं—परवर्टेड जीनियस। नामवरी के वैताल के वशीभूत, मैं पूर्णतया लाचार था। निरंतर अपने-आप से दूर-ही-दूर भटकता गया। दो हिस्सों में बंटा हुआ—विनाश और सृजन के हिस्सों में। योग-संयोग के अदृष्ट धागों से बंधी कठपुतली। नचाये जैसे ही नाचना पड़ता।

तो 'मिस मूली' की कथा बांचने की व्यग्रता के उछाह में कॉलेज के अधिकांश विद्यार्थी बेसब्र हो रहे थे, मगर मेरे पास तो हाथ से लिखी एक ही प्रति थी। हाथोंहाथ घूमने लगी। किसी नीम की छांव-तले एक मित्र जोर से पारायण करता और चारों तरफ आस-पास खड़ी भीड़ कान नवा कर सुनती रहती। हंसी के फव्वारे छूटते। नीम के नीचे जहां-कहीं भी भीड़ होती, सब कोई मन-ही-मन समझ जाते कि 'मिस मूली' का पाठ हो रहा है। संयोग से हाथोंहाथ घूमती वह प्रति 'मिस मूली' के भाई के हत्थे चढ़ी तो उसने उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। शायद अंत में जला भी दिये।

सुन कर वाकई मेरा कलेजा ठंडा हुआ, पर यार-दोस्तों के उकसाने पर तीन दिन और तीन रात समाधिस्थ होकर बैठा तो एक उपन्यास तैयार हो गया—ढाई-सौ पृष्ठों का। मंगलचंद गुलेच्छा ने छपाने की जिम्मेदारी ली तो अदेर एक पर्चा निकाला : 'खुशखबरी...खुशखबरी/शीघ्र/प्रकाशित हो रही है/मिस मूली/कॉलेज के रोमांटिक जीवन की अपूर्व कहानी/अपनी प्रति आरक्षित करवा लीजिये/लेखक : विजय बंधु/प्रकाशक : कोमल कोठारी।'

पर्चा बांटने पर नामवरी के वैताल का मन तुष्ट हुआ तो सिनेमा की स्लाइड्स बनवायीं। पोस्टर चिपकाये। एक दोस्त राजेन्द्र सिंह धनोदा की तिकड़म से प्रशिक्षण लेते पॉयलट द्वारा कॉलेज के प्रांगण में पर्चों की बरसात करवायी। इस कदर 'मिस मूली' का बवंडर जमेगा मुझे वैसी कल्पना नहीं थी। सच इर्रापिंदर, उसके संताप-क्लेश से कहीं बेशी मेरी उत्तप्त जलन थी, दुःख और पश्चात्ताप का अंत नहीं था। उन दिनों के खौलते अंतर्द्वन्द्व का भोक्ता व साक्षी मैं अकेला ही था। पर आज मुझे स्वयं विश्वास नहीं होता कि नामवरी का वैताल इस कदर अजेय होता है! कैसे भी वज्र-माथे को चकराने में कुछ देर नहीं लगती। स्वयं अपने पर भी मेरा अपना कोई वश नहीं चला। मेरा, मुझ से ही अलंघ्य फासला हो गया था। पर जिसके घुमड़ते अंतस में खलबली मचनी थी सो भला क्यों कर टलती? पत्थर की मूरत के लिए भी वह सब सहना संभव नहीं था। ऐसी ही किसी त्रासदी की वेला मौत की अविकल चाहना होती होगी! फिर भी अतुलनीय अपवाद की मिसाल—कि उसने हिम्मत नहीं हारी। राम-जाने उसे किसी ने सुमति सुझायी या उसे स्वतः सूझी कि एक दिन अचीते स्वप्न की तरह अकस्मात् मुझे कुछेक अप्सराओं ने घेर लिया। बचने का कोई उपाय नहीं सूझा तो मैंने उससे आंखें चुराने की निरर्थक चेष्टा की। नितांत अंधा होने पर भी मैं उस नजर को साफ देख सकता था। ऐन सामने खड़ी होकर उसने मेरी तरफ देखा—उसकी सूनी आंखों में हजार-हजार हिरणियों का मौन आर्त्तनाद छिपा हुआ था। औरत की आंखें इस पीड़ा के लिए नहीं बनीं! मौन के वे दुर्दान्त क्षण शायद मौत के लिए भी असह्य थे। तब अपनी निःशेष शक्ति को जस-तस बटोर कर वह थोड़ी-सी मुस्करायी—जैसे दांतों पर असीम अग्नि-शिखा धधक उठी हो। फिर भी मेरे लिखे पर विश्वास करो इर्रापिंदर, कि वाकई वह मुस्कान ही थी। अंतस में उबलते आक्रोश को न जाने क्यों कर संयत करके उसने सहज भाव से पूछा, 'आप कवि हैं?'

कैसे भी नृशंस राक्षस का हृदय पिघल जाता, पर मैं तो उस समय अपनी जगह उपस्थित ही कहां था? न जाने कौन हिटलर मेरा मुंह उधार लेकर बोला, 'इस में क्या संदेह है? कवि तो हूं ही, कौन नहीं जानता?'

उसने कोई प्रतिवाद नहीं किया। उसी लौ की मुस्कराहट के साथ बोली, 'तो जरूर कल्पना की होगी कि मेरे पिछले पंद्रह दिन किस तरह बीते हैं?'

'बुरे ही बीते होंगे। मगर 'बद्तमीज कुत्ते' से वैसी आशा भी नहीं रखनी चाहिए।'

फिर भी उसने अपनी आशा नहीं तजी। ऐसा कौन-सा विश्वास था जिसने उसे इतना संबल दिया? अत्यधिक पश्चात्ताप के स्वर में उसने माफी मांगते हुए कहा, 'यह किताब छपना मेरे लिए बहुत ही घातक होगा। मैं नहीं चाहती कि यह किताब छपे।'

इन शब्दों का जैसा असर होना चाहिए था, वैसा हुआ नहीं। मेरा कलेजा क्यों कर छलनी होने से बच गया? न चाहने पर भी मेरे मुंह से निकल पड़ा, 'प्रेस में ढाई सौ रुपये पेशगी...।'

मेरे अपने ही कानों में जैसे तोप दगी हो। आगे की बात वहीं कट कर रह गयी। शब्दों के बदले मेरी जीभ कट जाती तो अच्छा था। न वे शब्द मेरे थे और न वह जीभ मेरी थी। लेकिन उसका तो सब-कुछ अपना था। आंख झुका कर धीरे से बोली, 'वह मैं दे दूंगी!' उसने तनिक-सा झांक कर भी मेरी ओर नहीं देखा, जैसे मेरी निर्लज्जता को देख सकने का अपने मन में साहस ही नहीं जुटा पा रही हो।

सच इरपिंदर, इतनी देर बाद मेरे मुंह से मेरे ही शब्द निकले, 'गलती हो गयी सो हो गयी, उसके लिए माफी मांगना तो और बड़ी गलती होगी। अब न तो यह पुस्तक छपेगी और न आपसे कभी छेड़खानी करूंगा। कर सकेंगी ऐसा विश्वास?'

उसने कुछ भी जवाब नहीं दिया। नहीं-नहीं, इरपिंदर, इस तरह के जवाब की खातिर न मनुष्य का मुंह पर्याप्त है और न मनुष्य की वाणी! बार-बार सोचने पर भी, कुछ समझ नहीं पड़ता कि शरत्-साहित्य की किंचित् मर्यादा न रख कर, मेरे मुंह से वे जघन्य बोल निकले तो निकले ही क्यों कर? सांप तक की जीभ कट जाती। तो क्या वह मुंह मेरा नहीं था, या वे शब्द मेरे नहीं थे। निश्चित रूप से वह वैताल कोई और ही था! और ये बोल भी उसी के थे! मेरी इस बर्बर सच्चाई पर आज कौन विश्वास करना चाहेगा? मगर उसने विश्वास किया। दूसरे विश्वास की न तब जरूरत थी और न आज जरूरत है। मेरे सृजन की प्रतिष्ठा रह गयी। शरत्-बाबू को बांचने की मर्यादा रह गयी!

मित्रों ने बहुत प्रतिवाद किया, मुझे उकसाया! चुपचाप सुनने के अलावा मेरे पास दूसरा चारा ही क्या था! तत्पश्चात् कॉलेज में पढ़ा तब तक मैं अपनी बात पर अटल रहा। उस से मेरी वह पहली और अंतिम मुलाकात थी। दोनों ही अंधे नहीं थे, इस कारण देखने से बचना तो संभव कहां था, पर वापस उलाहना जैसी बात सपने में भी नहीं की। किंतु दूसरी लड़कियों को छेड़ने की बान नहीं छूटी सो नहीं छूटी।

तुम्हारे मन में फुफकारते इस सवाल की भनक मुझे गांव बैठे ही साफ सुनायी दे रही है—यदि आज के सृजन की बानगी का मुझे थोड़ा-बहुत भी इल्म होता तो मैं लड़कियों को छेड़ने का यह नृशंस काम करता या नहीं? सर्वोदयी नेता की तरह पाखण्डी हुए बिना मर कर भी पश्चात्ताप नहीं कर सकता कि मैं यह काम हर्गिज नहीं करता। यदि आज किसी दैविक या वैज्ञानिक चमत्कार के बल पर मुझे ठेठ बचपन से वही जिंदगी जीने का वरदान फले तो मैं हू-ब-हू उसी जीवन को बखुशी दुहराऊंगा। किसी काम से कतराने की जाने-अनजाने कोई चेष्टा नहीं करूंगा। ये ही तो असली

पदचिह्न हैं, जिनके सहारे मैं इस गन्तव्य पर पहुंचा। और यह सृजन उन तमाम खोटी-खरी कारस्तानियों की ही परिणति है। यह वरदान उसी बीज और बिरछ का फल है। बीज से इंकार करना तो बिरछ से इंकार करना है। इस फल के माहात्म्य की गरिमा के लिए वह बीज तो अपनाना ही पड़ेगा। अपनी ही दृष्टि से अपना काला स्वरूप देखे बगैर सृजन का प्रकाश प्रतिभासित नहीं होता। उम्र के मुताबिक समय के फेर से मेरी नजर तो अवश्य कमजोर हुई, पर दृष्टि की तासीर भी सर्वथा बदल गयी, इरपिंदर। आज-कल कबूतर में कौआ, कौए में कबूतर, हरिण में सिंह, सिंह में हरिण, महात्मा गांधी में गोडसे और गोडसे में गांधी की छवि नजर आती है। मेरी कथाओं के काले व उजले मानुस का दिग्दर्शन मुझे अपने ही आंतरिक तोशाखाने में हुआ। ये सब मेरी काया के ही अंश हैं। खलनायक भी मैं हूं; उदात्त नायक भी मैं हूं। यदि मैं कुबद-कुलंगों के पद-चिह्नों पर इस गन्तव्य पर नहीं पहुंचता तो सात वज्र-तालों के भीतर छिपे हुए मेरे नंग-तड़ंग स्वरूप का मुझे साक्षात्कार क्यों कर होता? अपनी निगाह से छिपा हुआ लेखक चाहे हजार-हजार महंगे-सस्ते पेन घिसे तो शौक से, वह अच्छा लेखक नहीं बन सकता। अपने आप का लिहाज रखने की जोखिम कोई कलावंत नहीं झेल सकता। आज मैं किसी से भी क्षमा-याचना नहीं करना चाहता कि मैंने कोई खराब काम किया। अलबत्ता एक तीखा शूल अंतस में खटक रहा है कि मेरी रचनाएं मेरे साथ पढ़ती सब लड़कियों के हाथ लगें और वे उन्हें उछाह से बांचें। अब तो वे भी मेरी तरह उम्र की ढलान पर पहुंच गयी होंगी। रूप, रूप के ठिकाने लगा होगा। जवानी, जवानी का उफान पार कर गयी होगी। मगर अपने सृजन के निमित्त मैं एक-एक अप्सरा का आभारी हूं। उनके प्रताप का संबल पाकर ही मैं इस पद पर पहुंचा हूं। अब भी दुराशिष दें तो उनकी मरजी, मैं मना करने की धृष्टता नहीं करूंगा। तुम्हीं बताओ इरपिंदर, यदि मैं एक-एक उच्छृङ्खलता के बहाने 'मिस मूली' की 'फड़' तक नहीं पहुंचता तो कोमल से मुलाकात क्यों कर होती? और इस जीवन में कोमल से घनिष्ठता न होने पर, न मेरी कुछ गति होती और न उसकी। जिंदा रहते दोनों की ही 'अगति' होती। मरणोपरांत दुर्गति या सद्गति का किसे पता चलता है? यदि दरबार स्कूल की बदमाशियों के परिणाम-स्वरूप रेस्टीकेट होकर पंजाब मैट्रिक के निमित्त पीलू बाबूजी की पॉयनियर कोचिंग इंस्टीट्यूट में भरती होने का वरदान नहीं फलता तो मीरा से संपर्क...अरे, यह बात तो मैं पहले ही प्रकट कर चुका हूं, अब और दोहराने से क्या मतलब?

सेकंड इयर में दो मर्त्तबा फेल होने के बाद तीसरी बार दृढ़ निश्चय किया तो पास होना ही था, अन्यथा कॉलेज छोड़ना पड़ता। मौत से पहले मरना पड़ता। तेरहवीं क्लास में आते ही एक भारी काण्ड किया, जिस का दायरा कॉलेज की चहार-दीवारी से दूर था—बहुत दूर। आलोचना की पुस्तक लिखने के उछाह में, कॉलेज के एक खास नीम की छांह तले धूनी रमायी। सात दिन तक तो मानो समाधिस्थ ही हो गया हूं। शायद लड़कियों का कलेजा धड़कने लगा होगा कि मूली के उपरांत किसी गाजर या शकरकन्द के अचार की तैयारी हो रही है! पर उस बार वह अचार लड़कियों के बदले—

'बच्चन, पंत और नरेन्द्र शर्मा' का था। बापू की हत्या का क्रंदन ही समाप्त नहीं हुआ, उसके पहले ही कविता की तीन पुस्तकें प्रकाशित होकर हाट-बाजार में बिकने आ गयीं—खादी के फूल, सूत की माला, रक्त-चंदन। और इन घिनौनी पुस्तकों के व्यावसायिक कवियों को मैंने बापू के असली हत्यारे घोषित किया। मति-भ्रष्ट गोडसे तो गांधीजी का प्रत्यक्ष पिंजर गंगा पहुंचाने के लिए निमित्त बना, पर बापू के वर्चस्व की ओट में उनकी मृत्यु को भुनाने वाले ही बापू के असली कंस हैं। इसी दृष्टि से पुस्तक का नाम रखा—बापू के तीन हत्यारे। मेरे पास फकत एक ही प्रति बची है। अगली बार दिल्ली आया तो तुम्हें अपनी इस बदमाशी का मुआयना करवाऊंगा। ये तीनों उपहार—फूल, माला व चंदन मुझे उस दिन की तरह आज भी अस्पृश्य लगते हैं, पर मेरी आलोचना का स्तर भी ठीक कहां था? आलोचना के बहाने उच्छृङ्खल पाठक का प्रलाप ही समझो। कोमल ने तब भी छपवाने के लिए मनाही की थी। पर मुझे तो अपनी बान बहलाने का स्वर्ण-अवसर मिला था। मन की भड़ास निकालनी थी। लड़कियों की ठौर तीन प्रसिद्ध कवि क्या बुरे थे! नामवरी का वैताल भक्ष्य-अभक्ष्य कुछ भी नहीं सोचता, उसे कभी तृप्ति नहीं होती! किन्तु बरसों से भुक्त-भोगी पाठकों ने कई पत्र देकर मेरी दिलेरी का समर्थन किया। हिम्मत की सराहना की। दो-एक पत्रों में उलाहने की दुत्कार भी थी। जम कर कोसा भी था।

पुलिस की नौकरी में फंसने पर कुबेरजी बाभा की कविताएं छूट गयीं तो वे मेरी सृजन-शक्ति को मन-ही-मन दुलारने लगे। रुपये मांगने पर उन्होंने मुझे कभी इंकार किया हो, याद नहीं पड़ता। 'बापू के तीन हत्यारे' की लागत उन्होंने ही सहर्ष ओढ़ी थी। यही तो संयोग की अद्भुत लीला है इरपिंदर, कि अपने काव्य-कौशल के बूते पर सारे हिन्दुस्तान में नाम करने वाले कवि की प्रतिभा पुलिस की वर्दी और उसके तमगों को सहेजने में तिरोहित हो गयी और उनकी छांह तले ही मैं ऐसा काबिल लेखक बना जिसके पाठक दर्शनों की व्याकुलता महसूस करते हैं। कब सोने का सूरज उगे कि वे अपनी आंखों अपने प्रिय लेखक को एकटक निहार सकें। और कब अपने अबोध बच्चों के पवित्र हाथों मेरे चरणों का स्पर्श करा कर मुझ से आशीर्वाद ले सकें। इस अद्वितीय संयोग के चमत्कार से उद्वेलित होकर जब मैं उनके पत्र पढ़ता हूं तो सचमुच लज्जा का कोहरा मुझे अन्दर-बाहर से घेर लेता है। उन की पवित्र-भावना का परस पाकर मैं द्रवीभूत हो जाता हूं; इसलिए तुम्हारे सामने मेरे बीते जीवन का कच्चा चिट्ठा प्रस्तुत है। जैसा हूं, उसी रूप में पाठकों के सामने हाजिर होना चाहता हूं, जिस से उन के मन में भ्रान्ति का बीज अंकुरित न हो। उन्होंने तो केवल मेरे सृजन की स्वतंत्र इयत्ता ही देखी-परखी है, मुझे कतई नहीं जानते। न जाने वे मेरी छवि किस रूप में आंकते होंगे? किस तरह की सतरंगिनी कल्पनाएं उनके सामने तैर रही होंगी। इस मंशा से अपनी सृजन प्रक्रिया पर हवाई विद्वत्ता का मुलम्मा न चढ़ा कर, बीती हुई जिन्दगी के कुछ प्रसंग उनके न्यायालय में प्रेषित कर रहा हूं—वे सहज भाव से जो भी फैसला करेंगे, वह मुझे सर्वथा मान्य होगा। 'दुविधा' और 'उलझन' के सहृदय पाठकों के प्रति अत्यधिक आभारी हूं कि उन्होंने मुझे उन्मुक्त स्नेह व सम्मान से आप्लावित किया। मानो बरसों की व्याकुल भूख

से व्यग्र होकर उन्होंने अपने थाल में परसे व्यंजन को सौम्य-भाव से समादृत किया हो। पर इरपिंदर, एक बात सूरज के उजाले की तरह साफ है कि फकत कलम के कौशल व बुद्धि के चातुर्य से मैंने कथाओं का निर्माण नहीं किया, पुरुष की योनि पाकर भी इन कथाओं की प्रसव-पीड़ा भोगी है। कोख के रक्त-स्राव की दारुण यंत्रणा में एक-एक अक्षर को जन्म दिया है।

'बीजां-तीजां' नाटक की मांगलिक प्रस्तुति के दौरान तुम्हारी वह हार्दिक मनुहार क्या मरने के बाद भी भुलायी जा सकती है कि दिल्ली पड़ाव के समय मैं तुम्हारे सिवाय कहीं अन्यत्र न ठहरूं। मुझे पुख्ता विश्वास है कि मेरा कच्चा चिट्ठा जानने के बाद भी तुम्हारी मनुहार में कोई व्यवधान उपस्थित नहीं होता। इसलिए कि तुम्हें स्वयं अपने-आप पर पूर्ण विश्वास है। ऐसे विश्वास की बानगी आज-कल कहीं नजर भी तो नहीं आती। गर्व-गुमान के साथ मैं बढ़-बढ़ कर यह बात अंगीकार करता हूं कि तुम्हारे संपर्क के बाद ही मुझे पहली बार यह अनुभूति हुई कि औरत—रूप, यौवन व शरीर के परे भी जीती है। मुस्कराती है। काया का अन्त होने पर भी उस से स्नेह किया जा सकता है, उस के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया जा सकता है। रूप-यौवन तो निमित्त है, निमित्त। हाड़, मांस, मज्जा व सूरत के सांचे में ढली देह के परे ही औरत की असली पहचान है। इस पावन रहस्य को पहचानने के परिणामस्वरूप मेरी कथाओं का ताना-बाना ही बदल गया। लेकिन मेरे साथ पढ़ती लड़कियों के लिए [जो निश्चित रूप से अब महिलाएं हो गयी होंगी] ज्ञान का यह कड़ुवा काढ़ा गले उतारना मुश्किल होगा। मगर इरपिंदर, इस तथ्य की गुत्थी मैं कभी सुलझा नहीं सकूंगा कि जिसे मुझ पर सर्वाधिक विश्वास करना चाहिए, उसे बिलकुल ही विश्वास नहीं है। बहुत संभव है अपने प्रति अविश्वास की वजह से ही उस की यह धारणा बनी हो। या तो मेरी किस्मत ही खराब है या उस की बुद्धि नितांत गयी-गुजरी है। नाम बताये बगैर भी तुम तो अदेर समझ जाओगी, पर वह इस जीवन में तो क्या, अगले पांच-सात जीवन तक भी मुझे समझ नहीं सकेगी। क्या पता मेरे समझाने में ही कोई भूल रही हो या उसके समझने में कोई भारी कसर। या तुम्हारी तरह उसे अपने चरित्र का एतबार नहीं है। संयोग की लीला के भी अनेकों रंग हैं।

तो इरपिंदर, सबको मेरी तरह संयोग का यह अचीता वरदान फले कि 'मिस मूली' का श्री-गणेश होने के उपरांत कथाओं का तांता ऐसा पसरा कि क्या बताऊं! बेचारी कविता का तो वापस कुशल-क्षेम ही नहीं पूछा। मैं आठों पहर जिन पुस्तकों का पारायण करता—शरत् बाबू की, रवि-बाबू की, अंतोन चेखोव की, तोलस्तोय की, मक्सिम गोर्की की, उन में से तो इम्तिहान में एक भी प्रश्न नहीं पूछा जाता और जिन पाठ्य-पुस्तकों को अछूत समझता, उन में से प्रश्नों का चयन होता। तब भला मैं एक भी प्रश्न का उत्तर क्योंकर दे पाता? और न मुझे उत्तर देने की कोई खास जरूरत ही महसूस होती। पास-फेल से मुझे कोई वास्ता ही नहीं था। न फेल होने पर रंज होता और न पास होने पर खुशी। बार-बार प्रश्नों की गहराई में उतर कर कई बार कॉपी में यह बात लिखता कि संसार में सबसे आसान काम है—उत्तर देना और सब से मुश्किल काम

है—प्रश्न पूछना। आपके प्रश्नों में कोई दम नहीं है, इस कारण मैं इनका उत्तर देना कतई जरूरी नहीं समझता। पहले प्रश्न पूछने की तमीज सीख कर आइये, फिर उत्तर की अपेक्षा कीजिये। और कई वार कॉपियों में प्रेम-पत्र लिखता; खाली पन्नों का कुछ तो उपयोग होना चाहिए। इसी तरह की उच्छृङ्खल वातों के वीच मेरी हिन्दी का डंका वजता रहा। और संयोग के वशीभूत मैं 'ज्वाला', 'रियासती' इत्यादि साप्ताहिक पत्रों में निर्वाध कलम-घिसाई करता रहा। नामवरी के वैताल की महत्त्वाकांक्षाएं तुष्ट होती रहीं। प्रति सप्ताह व्लिट्ज साइज के सोलह पृष्ठों का पूरा पत्र मुझे ही लिखना पड़ता। इस तरह जुड़ते-जुड़ते करीव तीन-सौ कथाओं का जखीरा इकट्ठा हो गया। कॉलेज की पढ़ाई चालू थी। 'वापू के तीन हत्यारे' की छपाई के दौरान कोमल से दिन-व-दिन आत्मीयता वढ़ती गयी। उसकी संगति के वरदान-स्वरूप ही अंग्रेजी की पुस्तकें वांचने का चस्का लगा सो आज भी उसी तरह कायम है। उसने ही तो मुझ से सर्वप्रथम विक्टर ह्यूगो का 'ल मिजरेवल्स' वांचने का आग्रह किया। एक-एक अक्षर में अणुशक्ति का ओज भरा था। लगातार तीन मर्त्तवा वांची। माथा ही चकरा गया। चकराना ही था। तव से वह स्वर्णिम दिन व सुनहरी घड़ी है कि कोमल की राय से—वाल्तेयर, वालजक, विक्टर ह्यूगो, एमिल जोला, मोपासां, ड्यूमा, अनातोले फ्रांस, रोमां-रोलां, सार्त्र, कामू, आंद्रे जीद, हार्डी, डिकेंस, थेकरे, एच.जी. वेल्स, वर्नर्ड शॉ, शिलर, नीत्शे, स्टिफेन ज्वाइग, थॉमस मान, हरमन हेस, काफ्का, पुश्किन, तुर्गनेव, तोलस्तोय, गोर्की, गोगोल, दोस्तोयवस्की और मेरे तीसरे गुरुदेव—अन्तोन चेखोव। शरत्-वावू और रवि-वावू के वाद—अन्तोन चेखोव। कोमल के पास अमरीका और यूरोप के साहित्य की अनगिन पुस्तकें थीं। न उसे देने में कभी हिचकिचाहट हुई और न मुझे लेने में। फिर साम्यवादी विचारों का जादू—हीगल, मार्क्स, एंजिल्स, लेनिन, स्तालिन, माओ, क्रिस्टोफर कॉडवेल, व्रेख्त, लूकाच, फिशर, वाल्टर वेंजमिन इत्यादि लेखकों की जादुई रचनाएं! कितने नाम गिनाऊं—न श्रेष्ठ लेखकों का पार और न श्रेष्ठ पुस्तकों का। कोमल के साहचर्य से मेरी जिंदगी ही वदल गयी।

मार्च १९५३ में 'प्रेरणा' मासिक का ऐसा अप्रत्याशित ढोल वजा कि कोमल और मेरा नाम हिन्दी-जगत में कुछ-कुछ उजागर होने लगा। 'प्रेरणा' के नौ अंकों तक हमने काम किया, जिस में दो विशेषांक थे। एक विशेषांक था—कालिदास के मेघदूत का राजस्थानी अनुवाद। ऐसा शानदार अनुवाद हुआ, जैसे कालिदास ने दुवारा जन्म लेकर राजस्थानी में मेघदूत की रचना की हो। अनुवादक नारायणसिंह भाटी की अपेक्षा मेरी सूझ-वूझ व मेहनत ज्यादा थी। फिर भी मैं अपने तईं स्वतंत्र रूप से उसका अनुवाद कभी न कर पाता। अनुवाद की नैसर्गिक प्रतिभा नारायणसिंह भाटी में गजव की थी। किन्तु साथ में यह भी सही है कि मेरे सहयोग के विना वह अनुवाद कभी संभव नहीं होता। राजस्थानी के आधुनिक साहित्य में मुझ से सम्वन्धित इस तरह के कई गोपनीय अध्याय हैं—फिर कभी अलग से उन पर कलम उठाऊंगा। दूसरा विशेषांक था—'प्रेमचंद के पात्र' हम दोनों के साथ प्रयाग राज मेहता के जुड़ने से हमारा त्रिकोण सम्पूर्ण हुआ। उसकी प्रतिभा से उस विशेषांक में नयी प्राण-प्रतिष्ठा हुई। भाई

अमृतराय का कहना शत-प्रतिशत सही है कि प्रेमचंद पर वैसा काम अब तक हिन्दी में नहीं हुआ। तिस पर भयंकर आर्थिक संकट! अन्यथा उस से चौगुना बड़ा अंक होता! आज फिर से जान कर तुम्हें क्या, मुझे भी कम अचरज नहीं है कि वह ऐतिहासिक संयोग १ जनवरी १६५४ को घटित हुआ था—करीब बत्तीस बरस पहले।

'प्रेरणा' का अंजल खूटने पर एक अंक 'रूपम' का निकाला। वह वाकई अपूर्व प्रयोग था। धर्मवीर भारती की मौखिक राय जान कर आज कोई विश्वास नहीं करेगा, इसलिए उसे दुहराने में मुझे भी दुविधा हो रही है। तत्पश्चात् 'परंपरा' नामक त्रैमासिक की ज्योति जगायी। जिसका पहला विशेषांक था—'लोक गीत'। दूसरा—'गोरा हट जा'। और तीसरा—'जेठवै रा सोरठा'। उन तीन विशेषांकों तक मैंने और कोमल ने इस निष्ठा व जी-जान से काम संभाला कि जिसकी चर्चा करते भी आज रूह कांपती है। फिर कभी। इसी आशय से चंद 'गोपनीय अध्याय' की ओर संकेत किया था। फिलहाल इस विषाक्त अंगारक वायु से 'रूंख' को प्रदूषित नहीं करूंगा। यह मेरे लिए भी शोभनीय नहीं है। पर उस दुर्योग के दौरान ही मेरे संत्रस्त जीवन में संयोग का वरदान ऐसा फला कि जिस से निर्बन्ध बहती गंगा का रुख ही बदल गया। न जाने कैसे मेरे अंतस में यह तथ्य कुंडली मार कर जम गया कि मातृभाषा राजस्थानी में लिखे बिना मेरे लेखकीय जीवन की मृत्यु भी बिगड़ेगी। हिन्दी में तेरह सौ कविताएं, लगभग तीन-सौ कहानियां तथा 'साहित्य और समाज' जैसी आलोचनात्मक पुस्तक लिखने के बाद राजस्थानी में लिखने का प्रण सचमुच आत्महत्या के समान था। मां के दूध के साथ गले उतरी वाणी तो जैतारण की राह, पीछे गांव में ही छूट गयी थी। आगे पढ़ाई के निमित्त राजस्थानी से कोई संपट ही नहीं जुड़ पाया। अलबत्ता मन की बातचीत उसी के द्वारा संपन्न होती रही थी। कविता और काव्य में राजस्थानी का ठाट-बाट तो निराला ही है, पर गद्य के लेखे कोई खास विरासत नहीं है। तब तमाम शैक्षणिक जीवन के दौरान हिन्दी-अंग्रेजी की मशक्कत के उपरांत मातृभाषा का मोह कितनी दूर चल पायेगा? पर इर्रापिदर, बात इस कदर मन में घर कर गयी कि फिर एक कदम भी पीछे हट नहीं सका। और आज मातृभाषा राजस्थानी की आशिष से इतनी मंजिल पार कर गया हूं। बाबासा गोवर्धनलालजी काबरा के सामने राजस्थानी में लिखने का 'बालहठ' प्रकट किया। उनके अथाह ज्ञान व विपुल अनुभव की तुलना में हम वाकई बच्चे ही थे। पहले तो उन्होंने समझाया कि मैं यह पागलपन छोड़ दूं। शायद वे मेरी आंतरिक दृढ़ता की टोह लेना चाहते थे। आश्वस्त होने पर आशिष के साथ उन्होंने पहला सुझाव दिया कि मैं जोधपुर शहर छोड़ कर वापस अपने गांव लौट जाऊं। वहीं धूनी रमा कर राजस्थानी में लोक-कथाएं लिखूं। मनचीती मंजिल स्वयं पांवों चल कर सामने आयेगी। और इर्रापिदर, उस आशिष व सुझाव का नतीजा तुम्हारे सामने है—'वांणी' और 'लोक-संस्कृति' नामक मासिक पत्रिकाओं के माध्यम से 'बातां री फुलवाड़ी' की चौदह क्यारियों में ये भांति-भांति के अजर फूल, यह अपूर्व महक, यह अलौकिक मुस्कान। न वे फूल कभी कुम्हलायेंगे, न उनकी महक समाप्त होगी और न उनकी मुस्कान। राजकमल द्वारा प्रकाशित 'दुविधा' और 'उलझन' में तो केवल उन्तालीस कथाओं की

छिट-पुट वानगी हिन्दी-पाठकों के हाथ लगी और उन्होंने मुझे अत्यधिक प्यार के साथ गले लगाया। कृतघ्न नहीं हूं तो वावासा का एहसान सपने में भी बिसर नहीं सकूंगा कि उनकी सीख व आशिष के संयोग से मैंने गांव आकर धूनी जगायी और वह सदैव जगमगाती रहेगी।

'वांणी', 'लोक-संस्कृति' और 'वातां री फुलवाड़ी' के माध्यम से लोक-कथाएं तो खूब ही लिखीं। हजार के आस-पास। मैं तो 'वातां री फुलवाड़ी' का मौलिक कथाओं से भी ज्यादा सम्मान करता हूं। किसी चित्र, भाव या कथानक को अंतस की नस-नस में सरावोर रखने का नाम ही मौलिकता है। अन्यथा नये अथवा मौलिक का अपना कोई अस्तित्व ही नहीं होता। मगर 'दीठ' के संपादक श्री तेजसिंह जोधा ने वार-वार आग्रह किया तो उनका लिहाज रख कर 'अनेकों हिटलर', 'राजीनामा', और 'फाटक' शीर्षक से ये तीन कथाएं, उनके दृष्टिकोण से मौलिक लिखीं। पर मेरी नजर में तथाकथित मौलिकता के प्रति मोह नहीं है। इन कथाओं के पहले तो मैं कदीमी लोक-कथाओं को ही नये रूप में ढालने की सतत प्रक्रिया में मशगूल था। स्वर्गीय सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की मांग पर 'कमेड़ी और सांप' को दोवारा लिखा। 'काक-मुनि' की सृष्टि उनके स्नेह का ही फल है। 'अलेखूं हिटलर' की शेष अधिकांश कथाओं का सृजन राजकमल प्रकाशन के मोहन गुप्त की गहरी आत्मीयता का सांयोगिक परिणाम है। उनकी वात रखने का संयोग नहीं जुड़ता तो सन् १९४८-४९ में प्रकाशित साप्ताहिक 'ज्वाला' और 'आग' के जर्जरित फटे पन्ने सपने में भी नहीं टटोलता। कदीमी लोक-कथाओं की तरह, अपनी ही कलम से लिखी पुरानी कहानियों को फिर से लिखा। दूसरी बार लिखते समय मैं वह लेखक ही नहीं रहा तो फिर वे कथाएं क्योंकर नहीं वदलतीं। श्रीमती शारदा जैन के शब्दों में कथानक एक होने पर भी कथाएं भिन्न हैं। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए ही अंतरपुट [परिशिष्ट] में तीन पुरानी कथाएं उद्धृत हैं। 'डायरी का पृष्ठ' तथा 'कमेड़ी और सांप' के दो मसविदे। 'रोजनामचा', 'डायरी का पृष्ठ' की नयी वानगी है; तथा 'काक मुनि', 'कमेड़ी और सांप' की! कथानक समान होते हुए भी कथाएं एक नहीं हैं। एक ही वीज के फल इस प्रकार नया वैविध्य लेकर प्रस्फुटित हुए। जिसके लिए श्री मोहन गुप्त और सर्वेश्वर भाई का एहसान क्यों कर भुलाया जा सकता है? परिशिष्ट में 'वातों का पंचांग' में सारा हवाला स्पष्ट है कि किस पुरानी कथा का कौन-सा नया स्वरूप है। ध्यान से पढ़ कर अपनी राय लिखना। 'कुली' नामक सर्वप्रथम कहानी को फिर से लिखने वैठा तो वह दो सौ पृष्ठ का उपन्यास वन गया। वह कहानी तो फकत सातेक पृष्ठों की थी। इस नये प्रयोग से प्रेरित होकर अंतस में ऐसा उत्साह छलक रहा है, इरपिंदर, कि 'वातां री फुलवाड़ी' सहित तमाम पुरानी कथाओं को फिर से लिखूं। एक वार धत झिलने पर पीछे नहीं हटता, यह मेरी पुरानी आदत है। देखो, संयोग की लीला का क्या करिश्मा होता है? अंतस में कहीं गहरे दवी वात को तुम्हारे सामने प्रकट कर रहा हूं कि इतने वरस तो लिखने के प्रशिक्षण हेतु सृजन का अभ्यास किया था, मनवांछित अक्षर तो अव जड़ूंगा। शरत्-वावू, रवि-वावू, तोलस्तोय, दोस्तोयेवस्की, गोर्की और अन्तोन चेखोव जिस राह चले, उसकी स्पष्ट खोज मुझे अव हुई है। आखिर इतने वरस

भटकने के उपरांत मैं स्वयं को तलाश नहीं कर पाता तो सृजन की यह राह मैं स्वप्न में भी नहीं खोज पाता। और इस संयोग के वरदान स्वरूप मेरे घनिष्ठ मित्रों के सहयोग से मेरी आन रह गयी, अन्यथा कब का ही ध्वस्त हो गया होता। जीवन की गुजर-बसर ही जहां मुश्किल थी, वहां सृजन का पोषण क्योंकर संभव होता? मेरे इकलौते सामर्थ्य की तो बिसात ही क्या थी? लपलपाती भट्ठी के दहकते अंगारों में बारूद की पुड़िया अभी तक सुरक्षित रख पाया, वह केवल मेरे बूते पर नहीं, घनिष्ठ मित्रों के बल पर। वे भले ही न जानें, पर मैं तो खूब जानता हूं। तुम्हारे नाम की ओट में अपने पूज्य पाठकों को यह समाचार पहुंचा देना चाहता हूं कि वे जिस अमोलक सम्मान के द्वारा मुझे समादृत कर रहे हैं, उस श्रेय का अधिकारी मैं अकेला ही नहीं हूं। अनगिन आत्मीय-जनों के सहयोग से मैं आज इस योग्य बना हूं।

मुखड़ा [भूमिका] के बहाने तुम्हारे नाम यह पत्र लिखते समय, अभी-अभी मेरे अंतस में संदेह का यह बुदबुदा उठा कि छेड़खानी की वह कुलत आज भी छूटी नहीं है। आच्छादित पुरानी राख में अब भी आंच सुरक्षित है। तुम्हें क्या महसूस हो रहा है? निस्संकोच जवाब देना। हां, इस गूढ़ रहस्य का मायना मेरे बताये बिना भी तुम निश्चित रूप से समझ जाओगी कि मेरी 'फुलवाड़ी' में औरतों के लिए इस कदर अपरम्पार आदर-सम्मान क्यों महक रहा है?

तुम्हारा
बिज्जी

संपूरण : २, अधूरी चिट्ठी

विजयदान देथा

प्रिय दम्मूजी !

अप्रेल का महीना सचमुच प्रारंभ हो गया है। एक-एक पल समाप्त होते हुए, आज चार तारीख भी हो गयी। समय एक जगह गड़ा नहीं रहा तो इक्कीस अप्रेल भी आ जायेगी। जहां एक-एक क्षण बिताना भारी पड़ रहा था...पूरा वर्ष उलट गया ! किन्तु विश्वास नहीं होता, कैसे उलट गया ? क्योंकर उलट गया ? मेरे सपनों को रौंदता, कुचलता उलट गया ! इतनी क्षमता, साहस व धैर्य मुझ में कहां से आ गया ? क्षमता तो थी, साहस भी पर्याप्त था, मगर इतना धैर्य ! सोच-सोच कर हैरान हूं। यह छूत की वीमारी शायद आप ही से लगी है। 'आपका' संवोधन कभी-कभार अखरता भी है। क्योंकि आप मुझ से वहुत छोटे हैं। मगर सम्पर्क की शुरुआत ऐसी ही चल पड़ी। अब तो वान पड़ गयी। छोड़ते हुए झिझक होती है। अपराध-वोध-सा महसूस होता है। मनुष्य के जीवन में संस्कारों का ऐसा ही दखल हुआ करता है। व्यक्ति के जीवन में सामाजिक मान्यताओं की जाने-अनजाने अमिट दीक्षा इसी तरह घुलती रहती है। जिसका देह के साथ ही अंत होता है।

काफी समय से आपको यह लम्बा पत्र लिखने की उधेड़-बुन में था। आप भी कव से प्रतीक्षा कर रहे हैं। जानकर ही टालता रहा, टालता रहा। क्योंकि आप के एहसानों का भार वहन करने की मेरी क्षमता अव चुक गयी है। शायद सहन-शक्ति की सीमा लांघने के बाद यह दृढ़ निर्णय करना पड़ा कि अब आप से आर्थिक सहयोग कम-से-कम लूंगा। एक वार पुख्ता निर्णय कर लेने पर उसे निवाह लेता हूं।

आंपको पत्र लिखने का विचार करते ही आंखें छलछलाने को आतुर हो रही हैं। यह दूसरी वार मैं इन निजोरी आंखों पर अंकुश नहीं रख पाया। पहली वार—कौशल्या की शादी के दौरान। शादी से करीव महीना-डेढ़-महीना पहले। मेरी बेटी का नाम है—कौशल्या। एक ही बिटिया है—चार भाइयों के बीच। स्वस्थ रही, जिन्दा रही तो उसकी विवाह काबिल उम्र भी हो गयी, होनी ही थी। यह सन् १९७९ के नववंर की वात है। कद में छोटी है, हुलिया भी एकदम साधारण है। दो भाई-बहन इसी कद-काठी के हैं। प्रेम और कौशल्या। बाकी तीन लड़के, मुझ से काफी लम्वे हैं। दिखने में भी ठीक हैं। ननिहाल का असर आ गया इन पर। काश ! कौशल्या में भी यह असर आता ! तव मुझे उतना चिंतित होने की बात नहीं थी। हमारी चारण जाति, याचक जाति है। कंगली। मनवांछित टीका व दहेज के बिना वेटे का बाप, चाचा व भाई मानते ही नहीं। तव उसे खूव पढ़ाने का विचार किया। गांव से बाहर राणी भेजा। पर उस ओर उसकी रंचमात्र भी रुचि नहीं थी। फिर मेरी चेष्टा कैसे पार पड़ती ? जात से हटकर विवाह करने की सामाजिक स्थिति नहीं थी और न पारिवारिक। ठिगना कद होने से मेरे लिए सबसे लाभप्रद यह बात हुई कि वह बीस वर्ष की होने तक पंद्रह-सोलह से अधिक नहीं लगती थी। पर जन्म देने वाली मां तो सही हिसाब जानती थी। उसकी हिसावी आंखों में धूल झोंकना आसान नहीं था।

आप तो जानते ही हैं कि मुझे किताबों के अलावा कुछ भी खरीदने का चाव नहीं है। तब दहेज की खातिर एक सूई या कटोरी भी कैसे इकट्ठी होती ? उसकी मां के पास पीहर का बीस-पच्चीस मोहर सोना था, जिसे मैं बिल्ले लगा गया। वचनदान के मुकदमे में, उसकी बीमारी में और रहा-सहा विजय-कृषि फार्म में । चचेरा भाई होते हुए भी मुझे यह सब करने को बखुशी आतुर होना पड़ा । उसे मजबूरी आज भी नहीं कहना चाहता। मेरे लिखे हुए शब्दों की प्रतिष्ठा तो शायद ऐसी नहीं है—या मुझे वैसी समझ नहीं पड़ती। किन्तु शरत्-बाबू, गुरुदेव, अन्तोन चेखोव, तोलस्तोय व गोर्की इत्यादि के वज्र-अक्षरों तथा पावनतम कला की प्रतिष्ठा को चाहने पर भी ठेस लगाने की हिम्मत नहीं कर सका। सो उस प्रतिष्ठा की सार-संभाल में पत्नी का सोना स्वाहा हो गया। आज भी जिसका पश्चात्ताप मेरे मन में नहीं है। यदि धर्मपत्नी रात-दिन धर्मयुद्ध नहीं करती तो मुझे कौशल्या के विवाह का खयाल ही नहीं आता। खयाल का अर्थ आप जानते ही हैं। कम-से-कम साठ-सत्तर हजार रुपये। जिनकी कल्पना तक मेरे लिए संभव नहीं थी। अपने देश भारतवर्ष में लेखक बनना आसान नहीं है। उसकी मर्यादा निबाहना तो एक तरह से असंभव ही है। मगर मित्रों के सहयोग से मैं इस असंभव कार्य को क्योंकर संभव बना सका, यह मर कर भी भूल नहीं सकूंगा।

अपनी रचनाओं में मैंने विभिन्न कल्पनाओं की खूब उड़ानें भरी हैं, किन्तु धन या रुपयों की कल्पना के लिए मेरा दिमाग व मानस दोनों एकदम ठस हैं। पर जिंदगी की वास्तविकताएं तो अपने हिसाब से चलती हैं। और मैं उस हिसाब में था एकदम ठोठ, जड़ और ढंगी। दो-तीन वर्ष घर में खूब झिक-झिक रही। मित्रों के सहयोग के अतिरिक्त मेरे पास अन्य कोई चारा नहीं था। और मित्र लोग सहयोग की खातिर तैयार भी थे। पुष्पराज ने तो बार-बार आग्रह किया था कि कौशल्या की शादी वही संपन्न करवायेगा। ठाट से। मुझे परेशान होने की कतई आवश्यकता नहीं। पर मेरी चिंता थी, जो मुझे भीतर-ही-भीतर खाये जा रही थी। दम्मूजी, देना तो बहुत आसान है, लेना निहायत मुश्किल है। यह जानते-बूझते भी मैं इस मुश्किल काम की खातिर स्वयं को कैसे तैयार करता रहा, पूरा मैं भी नहीं जानता। लेकिन इस बात का दृढ़ निश्चय कर लिया कि इस शादी के लिए हिन्दुस्तान की सीमा में रहने वाले मित्रों से सहयोग नहीं लूंगा। यों ही उनका एहसान बहुत है, जिसे ढोने की शक्ति निरंतर कम होती जा रही थी। ऐसा महसूस होने लगा कि यह एक और बोझा लाद कर मैं सहज भाव से सर उठा नहीं सकूंगा। तब विदेश में बसने वाले मित्रों को पत्र लिखने के अलावा दूसरा कोई विकल्प नहीं था। आखिर वे पत्र मुझ से क्योंकर लिखे गये, आज भी याद करता हूं तो मन सिहर-सिहर उठता है। पांच पत्र तो आंसुओं की टप-टप बरसात से भीगने पर रद्द करने पड़े। फिर तो जैसे-तैसे जब्त करके तीन अजीज मित्रों को पत्र डाल ही दिये। न्यूयार्क में कांतिरूप राय को। जिसे पट्टू कह कर हम सम्बोधित करते हैं। दूसरा हम्बुर्ग में बहादुर सिंह जी को और तीसरा डॉक्टर रावत साहब को, इराक में। सबको साफ-साफ लिखा कि 'दूजौ कबीर' जैसी कहानी लिखना मेरे लिए जितना ही आसान है, उतना ही दुश्वार है मेरे लिए कौशल्या का ब्याह रचाना । ये रुपये मैं लौटा नहीं सकूंगा । दम्मूजी, पत्र लिखने में देर हुई सो

हुई, मगर उन्हें रुपये भिजवाने में तनिक भी देर नहीं लगी। उस प्राप्ति से मुझे खुशी अधिक हुई या दुःख, दावे के साथ कुछ भी नहीं कह सकता। शायद वह ऐसा सुख था, जो दुःख की सीमा में अतिक्रमण कर गया। या वह ऐसा दुःख था जो सुख की सीमा में घुसपैठ कर गया।

पुष्पराज को मैंने शादी की सूचना तो अवश्य भिजवा दी थी, पर आने के लिए बिलकुल मना कर दिया। उसकी तब प्रेक्टिस थी—पांच-सात हजार रुपये प्रति-दिन। नाहक तीन दिन खराब होते। लेकिन उसकी समझ में मेरी बात नहीं आयी। वह टैक्सी लेकर अरुणाजी के साथ गांव आ धमका। काफी नाराज हुआ मुझ पर। जल्दी-जल्दी में केवल चालीस हजार रुपये ही ला सका था, बाकी जो भी खर्च हो, दिल्ली जाकर भेज देगा। मैंने पूरी व्यवस्था हो जाने की बात बतायी तो बड़ी मुश्किल से विश्वास कर सका। फिर भी काफी देर हील-हुज्जत के बाद पुष्पू से इक्कीस सौ रुपये व मरुधर से ग्यारह सौ रुपये मन मारकर कबूल करने ही पड़े। मेरी प्रतिष्ठा से उनकी प्रतिष्ठा बड़ी थी। उसे ठेस पहुंचाना मुझे गवारा नहीं हुआ। आखिर रात-भर रोते-सुबकते शादी संपन्न हो गयी। पर उन अमोलक आंसुओं का आज दिन तक मेरे आलावा किसी को भी पता नहीं है। उनके सामने तो हरदम हंसता-मुस्कराता ही रहा था।

आज फिर आपको यह पत्र लिखते समय आंखें नम हो रही हैं। पर आंसू जो हैं कि आंखों का पावन स्थल छोड़कर बाहर निकलना ही नहीं चाहते। वे भी अब खूब सयाने हो गये हैं। मेरी परिस्थितियां उन्होंने अच्छी तरह भांप ली हैं। लेकिन वास्तव में इन आंसुओं की नियामत मेरे पास ऐसी अखूट है कि जिनके सहारे मैंने जाने-अनजाने किसी संपदा की चाह नहीं की। ये आंसू वही थे जो पुस्तकों के जगमगाते अक्षरों की दमक से उमड़ पड़ते थे। बिड़ला परिवार ने अपने जीवन में बेशुमार माया अर्जित की है। भगवान के नाम पर जगह-जगह बिड़ला-मंदिर भी बनाये हैं, मगर मुझ जैसे आंसुओं की एक बूंद भी वे अर्जित नहीं कर पाये होंगे। ऐसे मित्रों का वरदान किसी भाग्यशाली को ही फलता है!

मन का यह दर्द—वर्षों से भीतर-ही-भीतर टीस रहा यह दर्द बताने के लिए ही ग्रास-फार्म नर्सरी में उस आयोजन के बहाने विवश होकर समझौता किया था। २१ अप्रैल १९८४ को। वह तिथि मेरे लिए जन्म दिवस या बड़े-से-बड़े पुरस्कार की तुलना में भी बड़ी है—बहुत बड़ी है। जन्म-तिथि की तो मुझे आज भी सही जानकारी नहीं है। होनी भी नहीं चाहिए। अपनी बात कहते हुए मुझे मन-ही-मन काफी संकोच हो रहा है, मगर अब यह बोध पुख्ता हो गया है कि शरत्-बाबू, गुरुदेव, चेखोव तथा तोलस्तोय जैसी विराट प्रतिभाओं का जन्म होता ही नहीं। प्रति क्षण मौत की गोद में झूमते हुए वे अमर हो जाते हैं। उन्हें केवल मौत ही दुलराती है। जीवन बिचारे की क्या औकात कि वैसी विरल प्रतिभाओं का पोषण कर सके!

जैसे-तैसे आज साहस जुटा कर यह पत्र शुरू तो कर दिया, पर इसे वर्षों लिख कर भी समाप्त नहीं कर सकूंगा। समाप्त तो आप ही को करना होगा। उगना ही मुश्किल है। अस्त होना तो उसकी सहज नियति है। अस्त होने के बाद फिर से उगना

और अस्त होना। यह अनादि यात्रा कभी संपूर्ण नहीं होती।

आज का मंगल'प्रभात मेरे लिए कितना मांगलिक है कि इतने बड़े मुश्किल काम की आखिर शुरुआत मेरे द्वारा हो ही गयी। हजारों पृष्ठ लिखने पर भी यह चिट्ठी सदा-सदैव अधूरी ही रहेगी। इसे संपन्न करने का सामर्थ्य मुझ में नहीं है। मेरी सीमित जानकारी में केवल दो ही व्यक्ति हैं, जो कभी इस अधूरे पत्र को पूरा कर सकते हैं। उनकी क्षमता पर जितना मुझे विश्वास है, उतना उन्हें स्वयं भी नहीं। एक व्यक्ति हैं—दामोदर थानवी, जिसे आप नहीं जानते, मैं जानता हूं और दूसरे व्यक्ति हैं मित्तल साहव। जिन्हें आप भली-भांति जानते हैं, मैं नहीं जानता। आपकी जानकारी पर मुझे कुछ अधिक ही भरोसा है। और आप वार-वार एक ही नाम की रट लगाये रहे कि मित्तल साहव के अलावा ऐसा कोई व्यक्ति आप की नजर में नहीं जो मेरी प्रतिष्ठा के अनुरूप शोभनीय सहयोग दे सके। और आपकी उसी नजर में जितना वड़ा मैं लेखक हूं—शायद आपको यह पूरा पता नहीं कि मैं लेखक से भी वड़ा भिखारी हूं। अपने प्राचीन ऋषि-मुनियों जैसा भिखारी, जो मांग कर अपना जीवन वसर करते थे। भोजन के नाम पर रूखी-सूखी रोटी। कंद-मूल। निवास के लिए नदियों के तट पर कच्चा आश्रम। कुछ पेड़-लताएं। मृग-शावक। वस्त्र के नाम पर वल्कल। इतना अकिंचन ग्रहण करके दुनिया को उन्होंने कितना-कुछ दिया है! सूरज के अस्त होने पर भी वह ज्ञान कभी अस्त नहीं होगा। हम भारतवासी तो अपने पूर्वजों के अपूर्व ज्ञान की उस अखंड ज्योति को देखने के लिए नितांत अंधे हो चुके हैं। अपने ही देश में ऐसे शरणार्थी तो अन्यत्र कहीं खोजे नहीं मिलेंगे!

उन ऋषि-मुनियों की होड़ तो मुझ-जैसी हजार-हजार प्रतिभाएं मिल कर भी नहीं कर सकतीं। मगर मुझ में जैसी-तैसी अकिंचन प्रतिभा है, उसे जाने-अनजाने बिक्री की वस्तु वनाने की न स्वप्न में कभी लालसा की और न सोते-जगते कभी करूंगा। अपने द्वारा सृजित अक्षरों के अलावा अपने जाये-जन्मे तीन लड़के—कैलाश, सत्यदेव व महेन्द्र के द्वारा भी यह नहीं चाहता कि वे कुछ भी कमाई करें। शरीर के अलावा इन में प्रतिभा की कुछ ऐसी मज्जा है, जो हर किसी को जन्म के साथ उपलब्ध नहीं होती। पर इन अभागों को इसका पूरा भान नहीं है।

कस्तूरी कुंडल वसै, मृग ढूंढ़ै वन मांहि।

सच, जन्मजात प्रतिभा की पूंजी, मुझ से कहीं ज्यादा इन में है। आज केवल आप ही क्या, कोई भी इस पर विश्वास नहीं करेगा। कमी है तो केवल इतनी ही कि इन्हें अपनी नैसर्गिक कुव्वत का न तो पूरा अहसास है और न उस पर विश्वास। अहसास और विश्वास के अभाव में वांछित मेहनत करने का हौसला नहीं कर पाते। मुझ जैसी निष्ठा व आस्था भी नहीं है। यही उनके जीवन की विकट त्रासदी है। वे कुछ भी कमाई न करें, मुझे कोई शिकायत नहीं, चाहना भी नहीं। मुझे आर्थिक सहयोग दें, ऐसी रंचमात्र भी मंशा नहीं। हालांकि मेरा आर्थिक-संघर्ष आप से छिपा नहीं है। प्रतिभा की इस मरीचिका की भूलभुलैया में वे प्रतिक्षण प्यास से छटपटा रहे हैं। घुट रहे हैं। दूसरी कमाई का मैं

कोई जुगाड़ बिठाना नहीं चाहता। वैसा कोई विकल्प आने पर उन्हें निराश ही करता हूं। जिस का खमियाजा भी मुझे कम नहीं भुगतना पड़ता। किन्तु जिस मनःस्थिति से तीनों कस्तूरी-मृग गुजर रहे हैं, उसकी वेदना या दुख भी मुझे मौत से ज्यादा है। मेरी दृष्टि में मरी लाश से जिंदा लाश अधिक कष्टप्रद होती है। लाश भौतिक देह की नहीं, देह के भीतर छटपटाती प्रतिभा की।

हम चारों के अलावा, अदृष्ट में मेरी जानकारी के परे, अपने प्रांत राजस्थान और समस्त भारतवर्ष के सुदूर कोनों में जरूर अनगिनत प्रतिभाएं सिसक रही होंगी। आपको जानकर अचरज भी होगा, शायद मुझ पर खीज भी आये कि पांवों जलती आग को अनदेखा करके एक अजानी काल्पनिक आग की दुश्चिता में सुलग रहा हूं। और यह जानकर तो आप और भी ज्यादा झुंझलायेंगे कि इन अपरिचित प्रतिभाओं के निवारण की क्षमता केवल दो व्यक्तियों में है। एक आप में, जिन्हें मैं अच्छी तरह जानता हूं। दूसरे व्यक्ति हैं—मित्तल साहब। जिन्हें आप काफी पहचानते हैं। मेरा तो केवल तीन-चार घड़ी का संपर्क है। मेरे बार-बार प्रस्ताव करने पर आप इसीलिए शायद एक ही बात दोहराते रहे कि सिवाय उनके और कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जो मेरी मर्यादा के अनुरूप वैसा शोभनीय सहयोग कर सके।

आपकी क्षमता का कूता करते समय मेरे दिमाग में एक बात बिलकुल साफ है कि पद व धन की क्षमता का मेरी दृष्टि में उतना महत्त्व नहीं है, जितना मानवीय गुणों का है।

अब अपने संपर्क के इतिहास में बहुत दूर पैठना होगा। भाऊ [मोहन] के राजनैतिक जीवन की चरम सिद्धि थी—मंत्री होना। उसकी राजनीति का अथ भी यही था, इति भी यही थी। मेरी नजर में उसकी सर्वोपरि क्षति - जिसके सामने मंत्रीपद भी निहायत गौण था— यह थी कि अपने स्वार्थ के वशीभूत वह आपको पहचान नहीं सका। इस 'मित्रद्रोह' का घाटा वह कभी पूरा नहीं कर सकेगा। शायद इस क्षति का उसे कभी आभास तक नहीं होगा। अपनी-अपनी समझ और अपना-अपना नजरिया! आसानी से जिसकी कभी अदला-बदली नहीं हो सकती। यदि स्वर्ग की कल्पना में कुछ भी सत्य का अंश है तो वह स्वयं मरे बिना हासिल नहीं हो सकता। उसी प्रकार अपने स्वार्थ का दायरा छोड़े बिना दूसरों की सही पहचान नहीं हो सकती।

और भाऊ के संपर्क की मेरी सबसे बड़ी उपलब्धि हैं—आप। केवल इसी खातिर उसकी अनेक त्रुटियों के बावजूद भी मैं उसका आजन्म आभारी रहूंगा। मेरी जाब्ता फौजदारी में कृतघ्नता से बड़ा अपराध न हत्या है और न डकैती। न लूट-खसोट, न मिलावट और न नकबजनी। मनुष्य में सबसे बड़ा दुर्गुण कोई है तो वह कृतघ्नता और कुछ भी वंदनीय है तो प्रतिभा व सृजन। सृजन-कला व साहित्य का। मेरे मापदण्ड से भौतिक बहबूदी की ज्यादा अहमियत नहीं है। बस, भौंकती कुतिया खामोश भर हो जाये और वह सुमिरन में किसी तरह का व्यवधान उपस्थित न करे।

कबिरा क्षुधा है कूकरी, करत भजन में भंग।
याकौ टुकरा डारिकै, सुमिरन करो निसंग॥

दैनिक जरूरतों की न्यूनतम पूर्ति व शारीरिक गुजर-वसर के उपरांत मनुष्य जिस किसी काम में निश्चित होकर ध्यान लगाये, जिस में खोया रहे—वही उस का भजन है, सुमिरन है। चाहे ताश व गुल्ली-डण्डा ही क्यूं न हो! धर्म व ईश्वर की साधना से मेरी दृष्टि में साहित्य व कला की साधना का कहीं ज्यादा महत्त्व है। साहित्य व कला का सुमिरन ज्यादा कल्याणकारी है—समाज के लिए, देश के लिए और समस्त विश्व के लिए। भौतिक ऐश्वर्य तो मनुष्य की निरर्थक महत्त्वाकांक्षा है। उसकी असली पहचान, वर्चस्व तथा अस्मिता तो साहित्य व कला के माध्यम से ही चरितार्थ होती है। और जिस की अहमियत पहचानने और जिसका मूल्यांकन करने की क्षमता भी आप में व मित्तल साहव में ज्यादा है—मेरी जानकारी के दायरे में। साहित्य की मात्र सराहना करना उसकी पहचान नहीं है, उसके लिए परित्याग करना ही गहरी पहचान की परख है।

भाऊ के उत्कर्ष काल में आप से केवल मुंह-देखी पहचान थी। शारीरिक पहचान के अलावा न मैं आप को जानता था और न आप मुझे। भीतर की पहचान का मौका दिया शुभकरण ने। इसी वजह से उसका भी ऋणी हूं। कोई सात-आठ साल पहले—अच्छी तरह याद नहीं कि वास्तव में कितने वर्ष हो गये? तिथियां महत्त्वपूर्ण नहीं होतीं, तथ्य महत्त्वपूर्ण होते हैं। मर्म की महत्ता है, काल की नहीं। जहां तक वन पड़े उसकी जरूरत पर मुझे अपनी जैसी ही चिंता हो जाती है। भरसक पूरा करने की चेष्टा करता हूं। हां, तो शायद सात-आठ वर्ष पहले उसे विजली का विल भरने के लिए दस हजार रुपयों की जरूरत पड़ी। मुझ से मांग की। वह खुद अच्छी तरह जानता था कि मेरे पास रुपये नहीं हैं। फिर भी उसे पूरा यकीन था कि किसी अंतरंग मित्र से मांग कर मैं उसकी जरूरत पूरी कर दूंगा। सभी आत्मीय मित्रों से कई वार रुपये ले चुका था। और वापस लौटाया भी उसी चिंता से। मगर लौटाने मात्र से ऋण नहीं चुकता, इसे मैं अच्छी तरह जानता हूं। रुपयों का भुगतान करने से मित्रों का एहसान घटता नहीं, उलटा बढ़ता ही है। ऐसे मौकों पर मेरी अन्तःप्रज्ञा बड़ा साथ देती है। अनायास आपका ध्यान आया। मैंने इस अधिकारपूर्ण स्वर में आप से रुपये मांगे जैसे वर्षों का लेन-देन हो। आप ने अत्यंत विनम्रता से एक दिन की मोहलत मांगी। तत्पश्चात् शुभकरण से आपको मिला दिया। रुपयों की रसीद का जिक्र करने पर आप ने थोड़ी-सी नाराजी प्रकट की। भाभा-पंथी लहजे में कहा कि रसीद देकर रुपये लेने हैं तो कहीं और तलाश करें। 'विज्जी के भाई से रसीद लूं, ऐसा वेवकूफ मैं नहीं हूं।' रुपये तो शुभकरण को हाथ लगे, उसके काम आये, किन्तु उन शब्दों से मेरे दिल पर हमेशा के लिए अरावली पर्वत-सा वोझ ढह पड़ा। जव अपने ही प्रांत में काफी पहाड़ हैं तो हिमालय का उदाहरण क्यूं दूं? उस वोझ के लिए तो दोनों का भार समान ही है।

यदि उस वक्त अपने लिए जरूरत होती तो आप को कभी नहीं कहता। शायद आप का खयाल भी नहीं आता। मगर एक वार सुराग लग गया तो फिर छोड़ने वाला मैं भी नहीं। और मुझे तो बहुधा ऐसी जरूरतें पड़ती ही रहती हैं, पड़ती ही रहेंगी। तीस वर्षों का ढर्रा अब शायद ही बदले। लिखने-पढ़ने की तरह यह भी एक वान-सी पड़ गयी

है। शायद लिखने-पढ़ने के लिए यह अनिवार्य हो। वाकई लेन-देन के इस कार्य-व्यापार से जितना कुछ मुझे सीखने-समझने को मिला, उतना पोथियों से नहीं। इसी ने मेरे लिए बोधि-वृक्ष का काम किया है। यह ऐसा ऋण है जो साहूकार की वही व समझ से परे है। कभी आत्म-जीवनी लिखने की चाह जगी तो इस आत्म-बोध को दरसाने में हजारों-हजार पन्ने भी कम होंगे। ऐसा आत्मज्ञान शायद ही किसी को हुआ हो !

हां, तो आपके व्यक्तित्व से उस सुराग की 'खोज' होने पर वक्त-जरूरत मैंने उधार मांगने की जब कभी जरूरत समझी तो आपने कभी मना नहीं किया। कभी वादे पर अदायगी कर सका और कभी देर भी हो गयी। फिर तो संपर्क की घनिष्ठता इस कदर बढ़ने लगी कि आप ने मेरी जरूरतों को ठीक अपनी ही जरूरतें समझ कर, शायद और अधिक प्राथमिकता देकर पूर्ति करना संगत समझा। और न मुझे ही कभी यह खयाल आया कि वह रुपया मेरा नहीं है। कैलाश को भी जितनी बार जरूरत पड़ी तो आप ने बखुशी भरपूर सहयोग दिया।

और २१ अप्रैल १९८४ को ग्रास फार्म नर्सरी का वह आयोजन तो जैसे आपका ही हो। अन्य मित्रों की तरह मैं खुद भी तो मेहमान की तरह शामिल हुआ था। हालांकि सारे मित्रगण मेरे निमंत्रण पर ही उपस्थित हुए थे। मुझे तो अब तक पूरा पता नहीं कि उस आयोजन पर कितना खर्च हुआ ? उसी दौरान आपकी धर्मपत्नी के व्यक्तित्व की विशेष पहचान हुई। थोड़ी देर के लिए मान लूं कि आपने तो मेरे गुण, सृजन व प्रतिभा के कारण यह सब सहयोग किया, पर उनके पास तो ऐसा कोई आधार नहीं था। फिर भी जो सामान घर में उपलब्ध था—आटा, नमक, मिर्च-मसाले, केर-सांगरी इत्यादि उसे बाजार से खरीदने की नौबत नहीं आयी। सब घर से मिल गया। अपनी पत्नी का गहना तो मैं लड़-झगड़ कर ले सका, पर घर के बर्तनों में रखा ऐसा सामान शायद मुश्किल से ही ले सकूं। फिर आप की धर्म-पत्नी तो उस आयोजन में रसोई से बाहर तक नहीं झांक सकीं। आप भी ज्यादातर वहीं मशगूल रहे। पास होते हुए भी कितनी दूर ! दूर होते हुए भी कितने पास ! क्योंकि मित्रगण आशा से कुछ अधिक ही आये थे। तीन सौ के बजाय करीब साढ़े-चार सौ। अपना कैसा भी काम छोड़ कर जिसे भी निमंत्रण मिला, उस ने आने की मेहरबानी की। पांव छूने पर भी न आया तो केवल भाऊ। जिसकी चुभन मेरे मन से कभी नहीं मिट पायेगी।

उक्त आयोजन के उपलक्ष्य में 'अलेखूं हिटलर' का विमोचन तो एक बहाना भर था। अंदरूनी मंशा बस यही थी कि जिन मित्रों ने सहज भाव से मुझे अपना कर जो सहयोग दिया, जिसके फलस्वरूप मैं जिंदा रह सका, सृजन कर सका, इसका श्रेय मुझ से ज्यादा उन सभी मित्रों को है। किसी सामूहिक मजमे में नाम सहित हवाला दिये बिना मैं इस घुटन से मुक्त नहीं हो सकूंगा। किंतु उस अवसर पर भी मेरी इच्छा पूरी नहीं हो सकी। चार-पांच मित्रों ने साफ झटक दिया कि मैं ऐसी नादानी करूंगा तो वे इस आयोजन में हरगिज शरीक नहीं होंगे। बड़ी दुविधा-जनक स्थिति हो गयी मेरी। हाथ से लिखी ढेरों चिट्ठियां जा चुकी थीं। उन्हें रद्द करने की थोड़ी-बहुत गुंजाइश बाकी नहीं रही। सच, इस तरह के औपचारिक आयोजनों से मुझे सख्त चिढ़ है। पुष्पू को तो अंत तक विश्वास

नहीं हुआ कि मैं अपनी नादानी से शायद ही बाज आऊं। उसी से पूछ कर शनिवार का दिन तय किया था और वही पेशी का बहाना बना कर अरुणाजी सहित वापस दिल्ली लौट गया। उसे रोक नहीं सका।

कुछ समय बाद दुनिया से कूच करने पर भी मैं उसे कहां रोक पाया? हर काम में जल्दबाजी करने की आदत तो मेरी है। पर इस मामले में पुष्पू मुझे मात कर गया। मुझ से चार साल छोटा होने पर भी, इस अनहोनी में लाजवाब फुर्ती दिखा दी। शरीर की गठन ऐसी कि कैलाश का हमउम्र लगता था। काले-स्याह चिकने बाल। तरोताजा स्वास्थ्य। मुंह पर सवेरे के गुलाब-सी ललाई। सूरत देख कर मुझे तो रह-रह कर यही महसूस हो रहा था कि वह सारी मालाएं झटक कर अभी उठ बैठेगा। मगर चिता की लपलपाती आंच से भी उस के मुंह पर कहां शिकन आयी? उस दिन कितनी गहराई से पहली बार यह इल्म हुआ कि मृत्यु की सहन शक्ति जीवन से हजार गुना बढ़ कर होती है। नीति-बाग का मकान अधूरा छोड़ कर वह किस अदृष्ट निवास के लोभ में चुपचाप खिसक गया? अरुणा, सिद्धू, पंकज और संध्या के प्रति छलछलाते स्नेह को समेट कर किस अनजाने कुटुंब में रहने को चल दिया? क्या उसे गोवर्धन, मरुधर व मुझ से घनिष्ठ मित्र वहां मिल जायेंगे? अपनी एक भी विशेषता पीछे नहीं छोड़ गया। न हंसी और न मित्रों के प्रति अपना अगाध स्नेह! जोधपुर की अंतरंग मंडली में ही वह पूर्णतया मुक्त हो पाता था।

जब पुष्पू की स्मृति इस कदर विगलित करने लगी है तो एक घटना बताने का लोभ संवरण नहीं कर सकता। नीति बाग में अपना मकान बनाने के निर्णय के कुछ दिन पूर्व मुझे गांव में उसका अर्जेंट तार मिला कि मैं तत्काल दिल्ली पहुंचूं। शीघ्र पहुंचने के अतिरिक्त दूसरा कोई हवाला न होने पर भी मैं समझ गया कि मकान खातिर उसे मजबूरन रुपयों का तकाजा मुझ से करना ही पड़ेगा। शायद यही बात वह मुझे विनम्रतापूर्वक अच्छी तरह समझायेगा, ताकि मैं बुरा न मानूं। करीब बीसेक हजार रुपये उधार लिये हुए बाकी रह गये थे। जिन्हें लौटाने का मैंने वादा किया था। पुस्तकों की खरीद के लिए वक्त जरूरत उस से कितनी बार रुपये लिये हैं। पर उन्हें चुकाने की दोनों के मन में कभी कोई दुविधा नहीं रही। मुझे लेने का अधिकार था, इसलिए उसे देने का भी अधिकार था। मेरी अपनी निराली मान्यता के लिए पहले लेने का अधिकार होना चाहिए, देने के अधिकार का प्रश्न तो बाद में खड़ा होता है। तार के दौरान, मैं तो एक भी रुपया चुका सकने की स्थिति में नहीं था। फिर भी तार आने पर न जाऊं, ऐसा मेरा स्वभाव नहीं। मौत की यात्रा तो उस यातना के सामने कुछ भी नहीं होगी। पढ़ने का इतना चस्का होते हुए भी मैं उस यात्रा में एक पंक्ति भी पूरी नहीं पढ़ सका। वाकई उस दिन मौत की जबरदस्त चाह हुई थी मुझे। बस, आत्महत्या ही नहीं कर सका। लिखने-पढ़ने की तमन्ना नहीं होती तो उस दिन मैं बखुशी रेल के पहियों को जीवन अर्पित कर देता। आन्ना कारेनिना की आत्म-हत्या ने मरने का यह रास्ता बता ही दिया था। पर वैसा कर नहीं सका। इसी कारण तो मौत से बड़ी यातना को मैं सह गया।

पुष्पू के घर में किस तरह अपनी जिंदा लाश लेकर घुसा, उसका ब्योरा बताने की

क्षमता किसी भाषा में नहीं है। उस से मिलते ही मैंने बात करने की पहल की, 'पुप्पू, तार मिलते ही रवाना तो हो गया, पर खाली हाथ। अभी एक पैसा भी लौटा नहीं सकूंगा।'

जोर से अट्टहास की हंसी बरसाते हुए वह कहने लगा—जैसी कि उसके चरित्र की अपनी विशेषता थी—'बिज्जी प्यारे, इस जिंदगी में तुझे कभी अक्ल नहीं आने की। अरे बेवकूफ, क्या रुपयों का तकाजा करने के लिए तुझे तार दिया। अपने सिवाय तू सब को अहमक समझता है न? तेरी भूलने की बड़ी आदत है! पर हम तो भूलना अफोर्ड नहीं कर सकते। तूने दो-तीन बार प्रेस लगाने का जिक्र किया था न! भूल गया? नीति बाग में एक मकान का सौदा हो रहा है। यदि उस में रुपये फंस गये तो तू प्रेस नहीं लगा सकेगा।'

पहले ही एक बार संकेत कर चुका हूं कि मेरे आंसू मुझ से ज्यादा सयाने और प्रबुद्ध हो चुके हैं। उस अग्नि परीक्षा की वेला उन्होंने मेरी लाज रख ली। उम्र भर के लिए उन्होंने मुझे अपना गुलाम बना लिया। आंखों से नहीं बरस कर वे होंठों से मुस्कान का रूप धरकर फूट पड़े। वह आगे कहने लगा, 'सोचा, एक बार तुझे बुला कर राय तो ले लूं—पहले प्रेस लगायें या मकान बनायें? मैंने अरुणा को समझा दिया कि बिज्जी का फैसला ही फाइनल होगा। शी इज ए वण्डरफुल लेडी! मकान का क्या, दो-तीन साल बाद बन जाये तो क्या हर्ज है? पर तेरा प्रेस न लगने में सारे देश को क्षति होगी। माई डियर लेखक महोदय, तू नहीं समझेगा इस बात को।' फिर वही अट्टहास। हंसते-हंसते कहने लगा, 'कोई जल्दबाजी का मसला नहीं है। कल तक सोच कर बता देना। माई डियर, यू आर ए ग्रेट राइटर, वेरी ग्रेट। हम दोस्त लोग तो यही सेवा कर सकते हैं।'

कितना ही बड़ा या ग्रेट राइटर क्यूं न होऊं, वैसी सेवा कबूल करने की हिमाकत कैसे कर सकता था। भाड़ में जाय साहित्य और उसका सृजन। मानवीय मूल्य व नैतिकता का माहात्म्य सृजन से कहीं उत्कृष्ट है। इन्हें अनदेखा और अनसुना करने वाला लेखक क्या खाक सृजन करेगा? मेरे जीवन का अधिकांश समय इन्हीं के पोषण में खर्च हुआ है। लेखक की मर्यादा से कहीं ऊंची मैंने मनुष्य की मर्यादा मानी है। इस कारण स्वेच्छा से उठाया हुआ दुख मुझे बड़े-से-बड़े भौतिक सुख की तुलना में सदा-सर्वदा श्रेष्ठ लगता है। लेखन की प्रक्रिया ने मेरे भीतर के इंसान को समृद्ध किया और बदले में मेरी मनुष्यता ने मेरे लेखन का परिष्कार किया। मनुष्य की देह पाकर ही कोई मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं हो जाता। लेखक बनने की अपेक्षा मनुष्य बनना बहुत कठिन है। और इस कठिन साधना को आपने सहज भाव से आत्मसात कर लिया है। कम-से-कम मेरी धारणा तो आपके बारे में यही है।

हां, तो पुप्पू ने सच्चे और अकृत्रिम मन से काफी जिद की, मगर मेरा फैसला ही अंतिम रहा। न्यायाधीश न होते हुए भी मुझे वह फैसला करने की विडंबना भुगतनी पड़ी। कौन विश्वास करेगा कि पुप्पू ने निष्कपट भाव से मेरी खातिर प्रेस के निमित्त पंद्रह लाख रुपये लगाने का बार-बार आग्रह किया था। जो मेरे जीवन का सर्वोपरि स्वप्न था। उस

अपूर्व आग्रह के सामने मैं क्योंकर जब्त कर पाया, अपने भीतर वैसे शौर्य की तो मुझे कल्पना भी नहीं थी। किंतु रात भर मैं एक पल के लिए भी सो नहीं सका। चुपचाप रोता रहा। झार-झार आंसू बहाता रहा, फिर भी वे नहीं खूटे। शायद मेरी आंखों को भी उन आंसुओं का इल्म न हो! किंतु आंसुओं की ऐसी झील मेरे अंतस में कहां छिपी थी? इतना तो शरत्-बाबू की सुखद रचनाएं पढ़ कर भी नहीं रोया। क्या आंखों से बहने वाली हर तरलता को आंसू ही कहेंगे? मानवीय भाषा की यह जबरदस्त सीमा है। उन्हें मानवीय वाणी द्वारा संबोधित करके भ्रष्ट न किया जाय तो अच्छा है।

और वही पुष्पू मेरी आंखों के सामने चिर-निद्रा में सो गया। मेरा कुछ भी वश नहीं चला। पढ़ना-लिखना व सृजन सब व्यर्थ हो गया। नीति-बाग का मकान अधूरा छोड़कर उसे अन्यत्र निवास करने की ऐसी क्या जरूरत आ पड़ी? यदि मेरे सृजन में कुछ भी शक्ति होती तो उसे जिन्दा नहीं कर देता? भोंदू की तरह अविश्वसनीय निगाहों से टुक-टुक देखता रहा और अग्नि उसकी काया को सब मित्रों व परिजनों के बीच लील गयी और मैं किस लोभ में आज दिन तक जिन्दा बच रहा? साहित्य की खातिर? सृजन की खातिर? मरने का भय था, इसलिए बच गया। यह आत्मीयता, ये नाते-रिश्ते, यह घनिष्ठता--सब-कुछ ढोंग है। पाखण्ड है। कहां साथ निबाह सका? मैत्री ऐसी होती है क्या? अभिन्नता का कैसा फूहड़ मखौल? उसका तो सांस तक छूट गया और मैं पानी पी रहा हूं। हंस रहा हूं। अल्ल-सवेरे उठकर पढ़ता हूं। लिखने के बारे में विचार करता हूं। विभिन्न योजनाओं की कल्पना में खोया रहता हूं...।

...लेकिन मौत की इस सच्चाई से हट कर एक दूसरे सत्य की बिजली आंखों के सामने कौंध-कौंध उठती है कि मौत को जीवन से विच्छिन्न मानना तो मात्र अज्ञान है। सकल ब्रह्माण्ड से अलग-थलग, स्वतंत्र या कटा हुआ, भिन्न मानने से ही क्लेश, दुख या पीड़ा होती है। ब्रह्माण्ड एक है। अद्वैत है। यदि संसार में मौत नहीं होती तो जिन्दगी जीने काबिल ही नहीं रहती। मौत है, इसीलिए जीवन की सार्थकता है। जीवन है इसीलिए मौत अवश्यम्भावी है। मृत्यु की अजर कोख से जीवन पैदा होता है और जीवन की कोख से मृत्यु। एक ही यथार्थ के दो नाम हैं...!

...तब से पुष्पू की जिद्द और मेरा सपना, जो चार-पांच साल से वैसा ही चल रहा है, उसे पूरा किये बिना न मुझे शांति मिलेगी और न ही पुष्पू की आत्मा को। मगर मेरी विवशता है कि केवल अपने ही बूते पर मैं उसे पूरा नहीं कर सकता। और न मुझे बाद देकर दुनिया के किसी मायापति से यह पूरा हो सकता है। अपन तीनों के संयोग से ही यह संपन्न होगा। आपकी भावना, मित्तल साहब का सहयोग और मेरी प्रतिभा से यह करिश्मा हो सकेगा। मेरे सृजन की जहां सीमा है—वहीं से धन की सार्थकता प्रारंभ होती है। जहां धन की सीमा है—वहीं से सृजन की महत्ता शुरू होती है! और आपकी भावना ही इन दोनों सीमाओं का सम्मिलन करवायेगी। किसी भी एक के अभाव में यह चरम सिद्धि सफल नहीं हो सकती।

गुरु गोविन्द दोऊ खड़ै, काकै लागूं पाय !
बलिहारी गुरु देव की, जो गोविंद दियौ बताय !!

गुरु पद की जिम्मेवारी तो आपने बखूबी निहायत शालीनता के साथ निबाही पर शेष दोनों में गोविंद कौन है ? मेरे खयाल से दोनों ही । मेरे लिए गोविन्द हैं—मित्तल साहब और मित्तल साहब के लिए गोविन्द हूं—मैं ! यदि अब भी जीते जी मुक्ति न हो तो इसे केवल अपना ही घोर दुर्भाग्य समझूंगा । किसी को दोष नहीं दूंगा । आपने अब तक जो किया —वह क्षमता से परे था । आपकी ओर से अब भी मनाही नहीं है, पर मैं आपका इतना बोझ उठा नहीं सकता । मेरी क्षमता जवाब दे गयी है ।

मेरे इस सपने का बीजांकुर कब हुआ ? जरा इसका ब्यौरा बताना भी जरूरी है । सांगानेर स्कूल के उद्‌घाटन पर राजस्थान के कुछेक उद्योगपति आपने आमंत्रित किये थे । एक प्रेस-कान्फ्रेंस ली थी उन्होंने । संयोग से वेद के साथ मैं भी उस में शरीक हुआ था । तब आपके साथ उन साहूकारों का जो सहज, शालीन व समान व्यवहार देखा तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई । और उस प्रसन्नता की उर्वर क्यारी में मेरे सपने का अंकुर प्रस्फुटित हुआ । फिर तो आपके साहचर्य से वह निरंतर पल्लवित होता रहा । मेरे संपर्क से काफी पहले भी जगन्नाथ जी जाजू व उन के भाई इत्यादि के साथ आप लोगों ने राजस्थानी साहित्य, संस्कृति के प्रचार-प्रसार हेतु योजना बनायी थी। दस-बारह लाख की लागत से काम शुरू करने की इच्छा थी । धीरे-धीरे आपका व मेरा संबंध और भी घनिष्ठ होता रहा । एक-दूसरे को समझने की आधार-भूमि जुड़ने लगी । मैं जब कभी आपसे उस योजना की बात करता—राशि एकत्र करने का आग्रह करता ; तब न मालूम मुझे क्या समझ कर, मेरे बारे में क्या धारणा बना कर आप एक ही जवाब देते —'मित्तल साहब के अलावा कोई भी उद्योगपति आपकी मर्यादा के योग्य नहीं है । होंठ ही खोलूंगा तो केवल उसी व्यक्ति के सामने, जो होंठ खुलने की मर्यादा समझे ।'

उस बीच आप मेरी रचनाएं पढ़ते रहे । मुझ से साहित्य की चर्चा करते रहे । वृक्षों के अलावा साहित्य में भी आपकी रुचि निरंतर बढ़ने लगी । जयपुर में मेरा रुकना-ठहरना आप ही के यहां होता रहा । नीचे वाले हॉल में साहित्य के प्रकाशन की कई योजनाएं बनती रहीं । मेरा सपना अजाने भीतर-ही-भीतर पोषित होने लगा । फिर आया २१ अप्रैल का आयोजन । मैंने लिखित भाषण प्रकाशित करवा कर सब को बांटा । दो खास कमजोरियां हैं मुझ में । एक तो बिना पढ़े भाषण नहीं दे सकता, दूसरी कमजोरी कि कैमरे का सामना नहीं कर सकता । माइक व कैमरे का डर तोप जितना लगता है । मित्तल साहब को भी उस दिन आना था । पर अकस्मात् बीमार होने के कारण वे आ नहीं सके । उस आयोजन के पूर्व—जैसी कि मेरी आदत है—मैंने कई मित्रों को प्रेस व प्रकाशन के बहाने अपना स्वप्न साकार होने की बातें बता दीं । लेकिन आप तो मित्तल साहब के अलावा किसी से भी चर्चा नहीं करना चाहते थे । उस आयोजन के कुछ दिन बाद तक मुझे प्रकाशन की योजना टलने की बात अखरी पर ज्यों-ज्यों दिन गुजरते गये, मेरा दिमाग भी सुलझता गया कि जो कुछ भी हो रहा है,

अच्छा ही है। यही होना था। जोग-संजोग टल नहीं सकता। इतनी बड़ी योजना के अनुरूप अपने को समर्थ बनाने के लिए खूब पढ़ने लगा। नये-नये विचारों पर चिन्तन करता रहा। २१ अप्रैल १९८४ के बाद अब तक न मेरे आत्म-संघर्ष की सीमा रही, न आशाओं की और न निराशाओं की। पर साथ-ही-साथ सीखने की भी सीमा न रही।

इस दौरान मेरी रचनाओं के मर्मज्ञ पाठकों की प्रशंसा भी निरंतर आती रही। नाट्य-रूपांतर भी धड़ल्ले से होने लगे। टी.वी. फिल्मों की मांग भी उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। कुछेक कथाओं के अंग्रेजी अनुवाद भी छपे। आठ-दसेक भावुक पाठक तो मुझे शरत्-बाबू, रवि-बाबू, चेखोव व तोलस्तोय के समकक्ष मानने लगे। मेरा संकोच भीतर-ही-भीतर बढ़ने लगा। अनायास ध्यान बंधा कि पाठकों की सराहना के योग्य मुझे अपनी जिम्मेवारी और ज्यादा निवाहनी पड़ेगी। यदि एक भी पाठक को मैंने तनिक-सा भी हताश कर दिया तो उस से ज्यादा क्षति मुझे और कुछ नहीं होगी। यही तो मेरा ऐश्वर्य है, वैभव है और है अखूट खजाना। अन्यथा भौतिक सम्पदा की तो मैंने तिनके जितनी भी कद्र नहीं की थी।

जिस प्रकार आपकी पुरानी बैठक नयी मरम्मत के बाद लम्बे-चौड़े हॉल में तब्दील हो गयी, उसी प्रकार उस हॉल में न जाने कितनी-कितनी छोटी योजनाएं बड़ा आकार ग्रहण करती रहीं। 'वाणीपुरम्' की योजना बनी, 'रूंख' नामक पत्रिका की योजना बनी। 'असमंजस' व मेरी सम्पूर्ण रचनावली की योजना बनी। प्रारंभ में मुद्रण की सारी मशीनें गांव लगाने का मेरा पुरजोर आग्रह था। फिर मैंने ही यह कह कर दूसरा प्रस्ताव रखा कि मशीनें जयपुर ही लगनी चाहिएं। जिस से मेरी मगजमारी एकदम कम हो जायेगी, आप जयपुर में सारा काम संभाल लेंगे। वक्त पर पांडुलिपियां न आयें तो आप छपाई का दूसरा काम लेकर मशीनें चालू रख देंगे। इसी बैठक के एक कोने में फोटो-कंपोज मशीन लगने का न्यूनतम सुझाव भी था। तत्पश्चात् दोनों की सहमति से इस नतीजे पर पहुंचे कि मशीनों से अपन सीधी मगजमारी क्यूं करें, रुपये और पाण्डुलिपियां तैयार हों तो दिल्ली-बम्बई कहीं से तुरता-फुरत छपवा लेंगे। मशीनों के झंझट से मेरे सृजन में व्यवधान उपस्थित होगा। यह बात भी आपकी दृष्टि से पूर्णतया मुनासिब थी। 'रूंख' की योजना एक बार पूरे उफान पर आयी, फिर थोड़ी ठण्डी पड़ गयी। जिसकी अधिकांश जिम्मेवारी मुझ पर ही है। आपने तो काफी विज्ञापनों का आश्वासन ले लिया था। किन्तु दुर्योग कुछ ऐसा घटित हुआ कि निरंतर कुछ प्रतिकूल परिस्थितियां एक-के-बाद-एक सर पर ढहती रहीं। बच्ची का ऑपरेशन। करीब तीन महीने चौपट हो गये। बचनदान की लम्बी बीमारी। फिर संसद और विधान-सभा के चुनाव। जिन में अपन दोनों ही पूरे सक्रिय थे। मैं एक समय एक ही काम में जुटा रह सकता हूं। साहित्य की अलग-अलग विधाओं के अलावा दूसरा काम एक ही कर सकता हूं। यह मेरी एक और कमजोरी है। फिर इस दौरान शायद ढाई-तीन महीने पूर्व मित्तल साहब ने 'मेरौ दरद न जानैं कोय' पढ़कर मेरे प्रच्छन्न दर्द का काफी-कुछ पता लगा लिया। आप से टेलीफोन पर इस मुतल्लिक चर्चा हुई थी। उसके कुछ दिन बाद ही अमरीका जाने के पूर्व मित्तल साहब से आपकी खुलासा बात हो गयी, जिसकी आपके पत्रों से मुझे जानकारी मिल

चुकी है। तत्पश्चात् जयपुर में आपसे दो बार मुलाकात भी हो गयी। अप्रैल के पहले सप्ताह में अपन तीनों—आप, मैं और मित्तल साहब—का मिलना भी तय था, यदि कुछ ऐसी-वैसी वात न हो जाये। इस शुभ मुलाकात के पूर्व मैं विस्तार से आपको लम्वा पत्र लिखना चाहता था, जिसका जिक्र भी मैंने आप से किया था। और आप भी मेरे इस लम्वे पत्र की प्रतीक्षा में हैं।

आगे सारी योजना का छुट-पुट ब्यौरा दूं, उसके पहले एक वात पुख्ता तौर पर स्पष्ट कर दूं कि मेरे जीवन में अब तक आप का जो आत्मीय सहयोग रहा उसका वदला या एहसान भी मैं जीवन-पर्यन्त चुका नहीं सकूंगा। उस ऋण से ही मेरा उऋण होना मुश्किल है। तब आगे कुछ हो चाहे न हो मुझे कभी कोई शिकायत नहीं होगी, मानसिक क्लेश जरूर हो सकता है—निराशा का क्लेश। पर अनिश्चय की मन:स्थिति दोनों के लिए घातक है। कुछ भी करने की बाध्यता के लिए मैं नैतिक रूप से न आपको बांधना चाहता हूं और न मित्तल साहब को। आप दोनों का हजार प्रतिशत सहयोग व परित्याग होने पर भी होगा वही, जो होना है। जो मेरे भाग्य में है, मेरे अदृष्ट में है, वही प्रकट होगा। लेकिन किसी योजना को सुनियोजित ढंग से क्रियान्वित करना चाहें तो उस पर सब पहलुओं से पूरा विचार होना चाहिए, इस बात को आप दोनों मुझ से ज्यादा समझते हैं। मैं तो इस में एकदम भोट व कोरा हूं। आर्थिक या भौतिक राह पर एक कदम भी नहीं चला और न सोचा, तब सफल-असफल होने का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता।

अब तक के मंथन से जो योजनाएं मेरे दिमाग में कौंधीं और जिनकी कुछ-कुछ चर्चा आपके साथ हो भी चुकी है; पर लिखित रूप में पहली बार ही आधे-अधूरे मसविदे की ओर संकेत भर कर रहा हूं, ताकि आपको मेरे 'फितूर' की यत्किंचित् जानकारी तो हो जाय। और यों आप दो-तीन बार 'रूंख' पत्रिका की विस्तृत रूपरेखा भेजने का मुझ से आग्रह कर चुके हैं। यह सम्पूर्ण रूप से मेरी ही भूल रही कि मैंने अब तक वह रूपरेखा आपको नहीं भेजी। अनिश्चय की धुंध में कुछ भी मैं स्पष्ट निर्णय नहीं कर सकता।

सर्वप्रथम 'रूंख' का बीज ही वोना चाहूंगा। और कामना करना चाहूंगा कि वह उस शुभ-मूहूर्त्त में अंकुरित हो कि उसका सुविस्तृत फैलाव सब दिशाओं व आकाश की तरफ बढ़े, फैले। शुरुआत में मेरी योजना थी कि साहित्य की अन्य पांच-छह पत्रिकाओं के साथ 'रूंख' का भी प्रकाशन हो, जो सिर्फ वनस्पति, वृक्ष, जड़ी-बूटियां, पर्यावरण तथा इकोलोजी इत्यादि पर ही पूर्णतया केंद्रित हो। कथा, कविता, आलोचना, नाटक व पत्र इत्यादि साहित्यिक विधाओं की अपनी-अपनी पत्रिकाएं हों। भारतीय प्रतिभाओं की विदेशों में सही पहचान हो, उस के लिए अंग्रेजी के एक पत्र की योजना भी मस्तिष्क में उबल रही थी। फिर बाद में सोचते-विचारते, गहराई से मनन करने पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि सब पत्रिकाओं को मेरी रुचि व स्तर के अनुकूल संभालना फिलहाल कठिन होगा, इस कारण 'रूंख' नाम की एक ही पत्रिका से सब पत्रिकाओं की कमी पूरी कर लूं। प्रारंभिक स्थिति में यही व्यावहारिक रहेगा।

हमारे जमाने की तात्कालिक विभीषिका यही है कि हमारा सब कुछ विच्छिन्न होता

जा रहा है। अलग-थलग। कटा हुआ। हम विचारों व तत्त्वचिंतन में बाहरी समग्रता से अलहदा होकर टुकड़ों-टुकड़ों में कट गये हैं। जबकि ब्रह्माण्ड की समूची विभिन्नताएं समग्र एकता में आबद्ध हैं। बीसवीं सदी के प्रारंभ में वैज्ञानिक धारणाओं ने ही विभिन्न प्रस्थापनाओं द्वारा इस विच्छिन्नता की उद्घोषणा की थी। अब बीसवीं शताब्दी की ढलान पर गुड़कते ही विज्ञान ने समस्त विच्छिन्नताओं की समग्र एकता पुनःप्रस्थापित की है। निर्जीव, सजीव प्रत्येक इकाई समग्र ब्रह्मांड का हिस्सा है। मानवीय इंद्रियों से दिखने वाली विभिन्नताएं तत्त्वतः एक ही विराट सच्चाई के अंश हैं। कुछ भी स्वतंत्र व विच्छिन्न नहीं है, सब एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। 'रूंख' के द्वारा हमें इसी अद्वैत प्रस्थापना को प्रतिष्ठित करना है। साहित्य, दर्शन, विज्ञान, कला व भाषा का समष्टि रूप में एक ही स्वरूप है। सभी एक दूसरे से प्राण ग्रहण करते रहते हैं और प्राण सौंपते रहते हैं। क्योंकि इनके अधिष्ठाता मनुष्य का मानस एक ही है—अविच्छिन्न। जिस प्रकार पेड़ के सम्पूर्ण विकास के लिए जमीन, पानी, हवा, धूप और वातावरण अनिवार्य है, उसी प्रकार शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक परिष्कार के लिए साहित्य, दर्शन, विज्ञान, कला व संस्कृति सभी अनिवार्य हैं। साहित्य की परिमार्जित शैली में मनुष्य से संबंधित सारी विधाएं 'रूंख' के अंतर्गत होंगी, जिन में मर्मज्ञ की मार्मिक रुचि हो, कलात्मक सौंदर्य का वांछित व्यंजन हो। प्रांत, राष्ट्र व विदेशों का जो भी सर्वश्रेष्ठ साहित्य, कला, विज्ञान व दर्शन है वह 'रूंख' में प्रस्फुटित होगा।

'रूंख' की शुरुआत हिन्दी से होगी। फिर राजस्थानी व अंग्रेजी में, नाम 'रूंख' ही रहेगा। त्रैमासिक अंतराल के उपरांत ज्यों-ज्यों परिस्थितियां सुधरती जायेंगी वह द्वैमासिक, मासिक तत्पश्चात् पाक्षिक रूप में नियमित प्रकाशित होगा। ऐसे अंक निकलेंगे कि जो देखे वही रश्क करे।

'रूंख' के बाद 'असमंजस' नाम से तीसरा कथा-संग्रह हिंदी में। और इस सब के बाद मेरी रचनावली का प्रकाशन हिंदी, फिर राजस्थानी व अंग्रेजी में। मेरे जिम्मे फिलहाल इतना ही काम है। फिर आपके इच्छानुसार मेरी रचनावली का विभिन्न प्रांतीय भाषाओं में अनुवाद—बंगला, असमिया, पंजाबी, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम इत्यादि भाषाओं में। जहां तक मेरे हित का सवाल है, वह आपके और मित्तल साहब के हाथों पूर्णतया आरक्षित है। कर्ज भी सारा उतर जायेगा, रचनावली भी छप जायेगी। देर-सवेर अनुवाद भी अपनी गति पकड़ लेंगे—यदि मेरे सृजन में दम हुआ तो ! निस्संदेह आपका और मित्तल साहब का मुझे भरपूर सहयोग रहेगा। पर दम्मूजी, कुछ समय से रह-रह कर मेरे मन में एक प्रश्न दहाड़ रहा है—कि मुझे तो दम्मूजी व मित्तल साहब का अंतरंग सहयोग मिल गया, मेरी प्रतिभा का सौरभ पूरे राष्ट्र में फैल जायेगा, संभव हुआ तो दूर-दराज विदेशों में भी महक उठेगी। पर जिसे न कुबेरदानजी, न पुष्पू, न पट्टू, न बहादुरसिंहजी, न बालसिंहजी, न मरुधर, न वीरमसिंहजी, न रावत साहब इत्यादि मिले और अंत में न दम्मूजी व मित्तल साहब ही मिले, उनकी प्रतिभा का क्या हश्र होगा ? बहुत संभव है मुझ से अधिक प्रतिभा के धनी होते हुए भी वे क्या पता अब तक अंकुरित भी नहीं हुए होंगे। जिस प्रकार वे मुझे नहीं

जानते, उन्हें भी कोई न जाने, मैं भी न जानूं। प्रतिभा की भ्रूण-हत्या या अकाल मौत से भयंकर क्षति और कुछ नहीं होती। सही है कि पैसों के जोर पर प्रतिभा निर्मित नहीं हो सकती, तब तो सभी मायापति प्रतिभा के नाम पर सारे संसार में छाये रहते। हिन्दुस्तान के सारे उद्योगपति मिलकर भी शरत्-बाबू जैसी अमर कृतियों का निर्माण नहीं कर सकते। गुरुदेव तक पहुंचना तो चांद को तिजोरी में बंद करने जैसा असंभव है, असंभव। पर निस्संदेह इस तथ्य का दूसरा पहलू भी इतना ही सच है कि पैसों के अभाव में अधिकांश प्रतिभाएं सिसक-सिसक कर दम अवश्य तोड़ दिया करती हैं। फ्रेडरिक एंजिल्स का आर्थिक सहयोग नहीं होता तो मार्क्स की प्रतिभा इतनी उजागर नहीं होती। सूर्य जैसी प्रतिभा को ग्रहण लग जाता! वॉन गॉग को उसका छोटा भाई थियो वक्त जरूरत पर्याप्त सहयोग नहीं करता तो विश्व के कितने बेजोड़ चित्र बिना अंकित हुए रह जाते। दूर क्यूं तलाश करूं, यदि मेरे साथियों का मुझे समय-समय पर साथ नहीं मिलता तो कब का विक्षिप्त हो गया होता या मर गया होता।

अपनी कलम से लिखे साहित्य को बट्टा लगे, मुझे किसी भी कीमत पर गवारा नहीं था। अब तो साथियों की पेशकश से परिपक्व होकर वज्र के समान अटूट हो गया हूं। मगर आज से लगभग पच्चीस वर्ष पहले ११ मार्च १९६० को 'साहित्य और समाज' नाम की पुस्तक में अनजाने ही यह प्रलाप कर गया था—'एक लेखक के नाते मेरी सबसे पहली और आखिरी तमन्ना यही है कि मेरा मगज मेरे पेट की खुराक न बने। शरीर का राजा मस्तिष्क मेरे पेट का गुलाम न बने। जरूरत पड़ने पर शरीर का गोश्त नोच-नोच कर पेट की अंतड़ियों के हवाले कर दूं, पर किसी भी कीमत पर अपने अक्षरों व अपनी कलम को गिरवी न रखूं। कमर झुक जाये पर मेरी कलम नहीं झुके। मेरे अक्षरों को धन की लालसा न हो, मेरे शब्दों को सत्ता का भय नहीं हो, मेरी रचना में यश की बू नहीं हो —एक लेखक का सबसे बड़ा श्रेय यही है। बात बहुत बड़ी है—मेरा हौसला बहुत छोटा है। मेरी क्षमता बहुत नगण्य है। अपने सुने हुए और पढ़े हुए हर शब्द से यह आशीर्वाद चाहता हूं कि वे मेरी यह टेक निभायें। बड़ा लेखक न बन सकूं, न सही। अच्छा नहीं लिख सकूं, न सही। ज्यादा नहीं लिख सकूं, न सही। पर लेखक की मर्यादा को न तोड़ूं, शब्दों के गौरव को लांछित न करूं, बस इतनी भर ख्वाहिश है। आज की तमन्ना तो यही है—कल का भरोसा नहीं। किन्तु जिस दिन भी मेरा यह भरोसा टूटे तो मेरे अक्षरो, तुम उसी क्षण मेरा गला घोंट देना। यदि इस में ढील हो गयी तो मेरी बदली हुई हैवानियत तुम्हारा ही गला घोंट डालेगी। तुम्हारे गौरव को बेच कर मैं अपना गुजारा नहीं करना चाहता। तुम्हारी हत्या करके मैं अपनी जिन्दगी बसर नहीं करना चाहता। मुझे लेखक नहीं बनना है, लेखक की मर्यादा का पालन करना है।

'मेरे गाये गायेगा तो खत्ता घणेरा खायेगा।
मेरे खोजे खोजेगा तो तीन लोक को सोजेगा॥'

कबीर की इस अमर वाणी के साथ मैं अपनी भूमिका समाप्त करता हूं। और कवि

की इस एक मात्र सीख को गांठ बांध कर साहित्यकार के जीवन का प्रारंभ करता हूं। अब तक तो उसकी तैयारी में लगा था।'

न जाने किस बहक के प्रभाव में यह अवचेतन प्रलाप मेरी कलम से चू पड़ा। फिर भी आश्चर्य की बात कि मेरे अक्षरों ने और मेरे मित्रों ने मेरी कैसी टेक निबाही! हिन्दी में काफी दूर यात्रा करने के बाद मैंने उक्त पुस्तक 'साहित्य और समाज' की समाप्ति पर मातृभाषा राजस्थानी में लिखना आरंभ किया। जो कुछ भी लिखा वह आपकी आंखों के सामने है—बातां री फुलवाड़ी—तेरह भाग। दो भागों की कथाएं 'लोक-संस्कृति' मासिक पत्रिका में छपी पड़ी हैं। सही गिनती तो नहीं की, मगर अब तक हजार कथाओं के लगभग लिख चुका हूं। 'सांठ-गांठ' के बिना ही लेखक के रूप में काफी मर्मज्ञ पाठकों के दिल में मान्यता प्राप्त कर चुका हूं। मुझे तो संगीत नाटक अकादमी, जोधपुर के अध्यक्ष मंगल सक्सेना ने कुछ रोज पहले हिसाब करके बताया कि सारे देश के कथाकारों के सब मिलाकर भी उनकी कथाओं पर इतने नाट्य व फिल्म-रूपांतर नहीं हुए जितने मुझ अकेले की कथाओं पर हुए हैं। मैं खुले मन से स्वीकृति प्रदान करता तो अब तक चौगुनी संख्या बढ़ जाती। मनाही की वजह केवल इतनी ही थी की अब तक एक भी नाटक मेरी रुचि के अनुकूल मंचित नहीं हुआ और न एक भी टी.वी. फिल्म। मुझे तो कथाओं का पारिश्रमिक मिलता ही था, पर भोंडे प्रदर्शनों के बाद मुझे मन मार कर आगे के लिए बराबर इंकार करना पड़ा। अब तो बेइंतहा मांग बढ़ती जा रही है। समझ नहीं पड़ता क्या करूं? फूहड़ स्तर के कारण न स्वीकृति के लिए जी करता है और न नये कलाकार का मनाही के द्वारा दिल तोड़ने का मन करता है। अजीबोगरीब धर्म-संकट में उलझा रहता हूं।

पच्चीस बरस की उस विकट यात्रा के बाद २१ अप्रैल, १९८४ की सांझ ग्रास फार्म नर्सरी, जयपुर, के पड़ाव में दृढ़ विश्वास के साथ उसी बात को दूसरे शब्दों में फिर दोहराया कि—'अक्षर मेरा ईश्वर हो, शब्द मेरा धर्म हो और वाक्य मेरा अनुष्ठान हो। कुछ इसी तरह के अविनाशी से अपना ब्याह रचाना चाहता हूं। सच मानिये, इतने बरस तो जीने के साथ-साथ लिखने का अभ्यास किया था। कलम मांजी थी। आपके सहयोग व आशीर्वाद से मरने के क्षण तक अपने को खोज ही लूंगा।'

यह खोज ही सृजन, दर्शन और कला की सबसे बड़ी खोज है। पच्चीस वर्ष पहले भी सृजन के अभ्यास की बात कही थी। और पच्चीस वर्ष बाद भी उसी तथ्य को दोहराया है। शायद कुछ वर्ष पश्चात यही बात पुरजोर शब्दों में फिर इकरार करनी पड़े। यही तो सृजन की सिद्धि है। जिस क्षण अभ्यास का अहसास समाप्त हो जायेगा, सृजन का अंत ही समझिये।

दम्मूजी, एक बात गांठ बांध रखिये कि मेरे लिए यहां तक पहुंचना ही असंभव था। यही यात्रा बेइन्तहा दुर्बोध थी। किन्तु साथियों के निरंतर सहयोग से मैं टिका रहा। मेरी टेक निभ गयी। चार-पांच साल से आप यथाशक्ति सहारा देते मुझे घसीट रहे हैं। अब तो डगमगाते समय मित्तल साहब ने हाथ थाम लिया है। कह नहीं सकता कितना आगे बढ़ सकूंगा? यदि अब तक नष्ट हो गया होता तो मित्तल साहब किसका हाथ थामते?

यह मेरी क्षति होती या उनकी ? कौन मुनीम इसका सही हिसाब बता सकेगा...?

समाज के वीच रहने वाले व्यक्ति के तीन स्वरूप हुआ करते हैं। एक वह स्वरूप जो व्यक्ति से परिचित विभिन्न आदमी उसके बारे में अपनी पहचान रखते हैं। और पहचान रखने वाले हर आदमी का भिन्न स्वभाव, भिन्न समझ, भिन्न धारणा तथा भिन्न कसौटी के फलस्वरूप संबंधित व्यक्ति के नाना स्वरूप होते हैं। परिचित व्यक्तियों के मानस में एक ही व्यक्ति की विभिन्न छवि अंकित रहती है। एकदम अलग-थलग और कई वार विरोधी भी। दूसरा स्वरूप—हर व्यक्ति की अपनी नजर में परिचित आदमियों की नाना छवियों के अलावा अपनी अंतरंग समझ के सांचे में ढला एक अलग ही रूप होता है, जो किसी से मेल नहीं खाता। और तीसरा स्वरूप जो अपनी व दूसरों की राय से सर्वथा स्वतंत्र और वास्तविक रूप है, जिसे न व्यक्ति जानता है और न कोई अन्य परिचित। शायद ठीक तरह स्पष्ट नहीं कर पाया, जरा ध्यान से दुबारा पढ़कर सोचियेगा। बात सूक्ष्म व गहरी है।

उपर्युक्त धारणा के अनुसार तीन गुण या विशेषताओं के बूते पर मैं अपने-आप को वड़ा शूरमा समझता था। इंसानियत को लेकर, प्यार करने की निर्बंध क्षमता व असीम परित्याग को लेकर और तीसरा गुण जो सभी जानते हैं—सृजन व अध्ययन की निःस्वार्थ प्रतिभा को लेकर। इंसानियत के पहले गुण का मुगालता तो आपने दूर कर दिया और प्यार के दूसरे गुण का मुगालता साफ कर दिया मालती ने। वस. .अव मात्र एक मुगालता शेष है। यदि इस में भी मुझे कोई मात दे दे तो सचमुच मेरा जीवन सार्थक हो जाये। उस अपरिचित विजेता की खोज में हूं। शायद 'वाणीपुरम्' के अखाड़े में उस से मुलाकात हो जाये। इस तरह की हार का परम-सौभाग्य पाकर स्वयं को धन्य समझूंगा। यह ऐसी हार है कि दुनिया की कोई भी जीत उसका मुकाबला नहीं कर सकती। वर्षों से चले आ रहे दोनों मुगालतों की आपसे व मालती से शिकस्त खाकर मुझे कितनी खुशी हुई, जतला नहीं सकता। काश, ऐसी ही खुशी मुझे तीसरे मुगालते की पराजय से हो।

कभी-कभार विधात्री व्यक्तियों को काया और भाग्य सौंप कर ही संतुष्ट नहीं होती। साहित्यकारों की तरह अपनी रौ में व्यक्तियों के माध्यम से कविता भी रचती है, कथा व उपन्यास भी लिखती है। आप वैसी ही जीवन्त कविता हैं। कुछेक वर्षों के परिचय से आपके बारे में मेरी यह राय बनी है, जिसे मौखिक रूप में कई वार व्यक्त भी कर चुका हूं।

आप से एकदम भिन्न कोटि का दूसरा विरल व्यक्तित्व है—विनय जैन का। उसी को देखकर रत्नगर्भा का सही अर्थ पहली बार समझ में आया। विधात्री ने बुद्ध तथा महावीर की तरह वीतराग, निस्पृह इकाई की शायद तीसरी वार रचना की है। जिसके प्रकाश की कौंध शायद ही बाहर झिलमिलाये। उसके बारे में मेरी ऐसी ही धारणा है। गोद में छोरा और नगर में ढिंढोरा वाली कहावत ही समझिये। हिन्दुस्तान तो वहुत वड़ा देश है, मात्र एक जीवन में उसे देखा-परखा भी नहीं जा सकता। और अपने ही शहर जयपुर में, परिचितों के वीच यह छिपा रत्न नजर आ गया—मेरी वहुचर्चित कहानी का पात्र 'दूजौ कवीर।' क्या मुझे स्वप्न में भी ऐसी कल्पना थी कि अपने

पात्र को यों प्रत्यक्ष देख सकूंगा ? कैसी विरल प्रतिभा का धनी है — यह विनय। कोई भी चीज कैसे छपे, उसके वारे में कितनी निराली सूझ है उसकी। छपाई की कला में विरल प्रतिभा की पहचान हुई मुझे। स्वयं अपना आधुनिकतम प्रेस हुए विना उसकी प्रतिभा कैसे उजागर होगी ? सच मानिये मेरे सृजन में भी प्राण, शक्ति, ऊर्जा व गति आ जायेगी। इसके सहयोग से जव भी अपना पहला प्रकाशन उदित होगा, तव पता चलेगा कि छपाई की निर्जीव मशीनों के द्वारा भी ऐसी जीवन्त कला प्रकट हो सकती है ! क्या इस तरह हर छोटे-वड़े महानगर या कस्वे में ऐसी लाजवाव प्रतिभाएं नहीं मिल सकतीं ? मैं वोरुन्दा जैसे छोटे गांव में हूं ही। अपने देश में सर्वत्र ही सूर्य जगमगाता है। कहीं-न-कहीं कोई तो उस जैसा आलोक छितराने की ख्वाहिश रखता होगा ? मुझे भी कुछेक परिचितों के अलावा कौन जानता है ? वेइन्तहा घनी आवादी से अपना देश भरा-तरा है। इन सत्तर-करोड़ किलविलाते कीड़ों में क्या विनय जैसी विरल प्रतिभा से दमकते एक सौ आठ मोती नहीं मिल सकेंगे, जिन्हें एक स्वर्णिम धागे में पिरोकर अद्वितीय माला वनायी जा सके ?

'वाणीपुरम्' के वहाने ऐसे ही कुछेक छिपे नगीने एकजुट होकर जुड़ जायें तो साहित्य के सींगे में पुनर्जागरण हो सकता है। मुझे अपने वारे में कुछ ऐसा ही भ्रामक विश्वास है। एक वार अग्नि-परीक्षा तो लेकर देखिये। जव मित्तल साहव का साथ जुड़ गया है तो अव 'श्रीगणेश' में देर न करें। सारे देश के समृद्ध साहूकार अपनी पूंजी के वूते पर यह काम नहीं कर सकते, जो केवल मेरे ही माध्यम से संभव है। और यह विश्वास जगा है आप दोनों के संपर्क से। यह छोटे मुंह वड़ी वात नहीं, वड़े मुंह छोटी वात है। अव आपके सम्मुख यह घोषित करने में न 'दुविधा' है, न 'उलझन' और न 'असमंजस'। त्रिपुरा के महाराजा की सहायता से जव कलकत्ता में 'वसु विज्ञान मंदिर' की मांगलिक स्थापना हो गयी तो क्या वोरुन्दा में 'वाणीपुरम्' की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती ? इस स्वर्ण-अवसर को हाथ से मत गंवाइये। मेरा यही पुरजोर आग्रह है।

मर्मज्ञ पाठकों की कल्पनातीत प्रशंसा से अवगत होकर मैंने अभी वीसेक रोज पहले अपनी अधिकांश रचनाएं फिर से पढ़ीं, जिन्हें एक तरह से भूल ही गया था। वाणीपुरम् की कल्पना ने मुझे ऐसा ही संज्ञाहीन कर दिया है। सच दम्मूजी, इन रचनाओं को पढ़कर मेरे मन में पहली प्रतिक्रिया यह हुई कि क्या वास्तव में इन कथाओं का मैं ही रचयिता हूं ? ऐसी क्षमता और प्रतिभा का तो मुझे अव तक भान ही नहीं था। फिर यह कौन मायावी मेरे माध्यम से यह सव-कुछ लिख गया ? कौन—कौन है यह अदृष्ट मायावी जो अपनी सिद्धि के लिए मुझे वरत रहा है ? और स्वयं अपना नाम तक जाहिर नहीं करना चाहता। आज नहीं, कल नहीं—वर्षों वाद भावी पाठक - मर्मज्ञ पाठक अवाक् होकर विस्मय से निहारेंगे कि मैं अपने गुरुओं की पांत में खड़ा हूं—शरत्-वावू, रवीन्द्रनाथ, चेखोव, तोलस्तोय, गोर्की और कवीर इत्यादि से सट कर। अपने वर्चस्व की अलग ही पहचान लेकर। नया कुछ भी लिखने की जरूरत नहीं है। जो लिखा है, वही पर्याप्त है, यदि वह अनुवादों के द्वारा मर्मज्ञ पाठकों के हाथों पहुंच भर जाये। पर मेरे संतोष की सीमा—आगे है, वहुत आगे। असीम। पर एक और वात खुले शब्दों में प्रकट

करना चाहूंगा कि सृजन की इस प्रतिभा के अलावा मुझ में एक अनोखी खूबी है—दूसरों की प्रतिभा को पहचानना और उसे पल्लवित होने के लिए, खिलने के लिए वैसी क्यारियां सौंपना। उनकी बागबानी करना। अपनी 'फुलवारी' तो मैंने काफी संवार ली, आगे भी संवार लूंगा। पर अब अजानी प्रतिभाओं की कई विभिन्न फुलवारियां देखना चाहता हूं। उनकी महक सूंघना चाहता हूं। अपनी कमजोरियां भी बखूबी पहचानता हूं। परंपरा, कला और संस्कृति का पुनर्जागरण कर सकूं, ऐसी मेरी औकात नहीं है, पर साहित्य के क्षेत्र में आपके साथ मित्तल साहब का यथाशक्ति सहयोग जुड़ जाय तो निश्चित रूप से अपूर्व नजारा प्रस्तुत कर सकता हूं। साहित्य के पुनर्जागरण का नजारा, जिसे तात्कालिक प्रकाशकों ने, संपादकों ने, प्राध्यापकों ने वैयक्तिक लोभ व स्वार्थ की होड़ में सर्वथा भ्रष्ट कर रखा है। और इस भ्रष्टता व गंदगी को व्यापक रूप से महामारी का रूप दे रहे हैं—सिनेमा, रेडियो, टेलिविजन, अखबार और विश्वविद्यालय। 'मास-मीडिया' की आधुनिक तकनीक और निरंकुश विकास किस सीमा तक घातक हो सकता है, उसका पुख्ता अनुमान किसी भी राजनेता, संपादक, लेखक, दार्शनिक, शिक्षाविद व साहूकार को नहीं है कि अपना देश किस तीव्र गति से रसातल की ओर जा रहा है। अब मैं अपने ही स्वार्थ के सीमित दायरे से ऊपर उठ कर देश की समग्र प्रतिभाओं को गले लगाना चाहता हूं। यह आजादी की लड़ाई से ज्यादा बड़ी और कारगर लड़ाई है। इसीलिए तो हमें आजादी की लड़ाइयां निरंतर लड़नी पड़ीं। क्या उसका यही हश्र होना चाहिए था? शायद ही किसी देश में आजादी इस कदर निरर्थक साबित हुई हो! आजादी का औचित्य है—रवि-बाबू, शरत्-बाबू, जगदीशचन्द्र बसु, आचार्य पी.सी. राय, सी.वी. रमण इत्यादि। ये सभी गुलाम भारत के आलोक पुंज थे। क्या आजादी का दिवाला इस सीमा तक पिट जायेगा कि जिस में टाटा-बिड़लाओं की बहबूदी के अलावा वैसी एक भी प्रतिभा प्रस्फुटित न हो? यदि अपने उत्तराधिकारियों को वसीयत ही सौंपनी है तो कुछ ऐसी ही सौंपिये जो कभी क्षीण न हो, जिसका विनाश न हो। इस वसीयत के अभाव में अपना सारा आर्थिक विकास, यह तथाकथित हरित व धवल क्रांति अमिट कालिख बन कर ही रह जायेगी।

अपनी समृद्धि व उदारता को उजागर करने वाले कई प्रवासी राजस्थानी अपने-अपने प्रांत, राजधानियों और अपनी-अपनी मातृभूमि में बड़े-बड़े मंदिर, विद्यालय, अस्पताल, धर्मशालाओं का निष्प्राण निर्माण करवाते हैं, क्या इन में कुछ ऐसे सिरफिरे लक्ष्मीपति नहीं मिलेंगे जो सरस्वती की आराधना में लीन हो जायें? ज्यादा नहीं, सिर्फ एक सौ आठ, जिनसे दूसरी माला पिरोयी जा सके। दोनों हाथों की शोभा व सार्थकता के लिए दो मालाएं! ठीक मंदिरों की तरह 'वाणीपुरम्' भी क्या बिना मुनाफे की लालसा के प्रतिष्ठित नहीं हो सकता? हर क्षेत्र में समूचा वातावरण प्रदूषित हो रहा है। प्राणघाती बदबू के मारे सांस लेना तक दूभर हो गया है। इसीलिए विषाक्त पर्यावरण को कल्याणकारी बनाने के लिए ताजी हवा और अकलुषित धूप की तरह श्रेष्ठ पुस्तकें भी सहज-सुलभ होनी चाहिएं। ऐसी मेरी सनक है जो तभी क्रियान्वित होगी जब आप दोनों इस काम में अंधे होकर पिल पड़ें। ऐसी दिव्य दृष्टि केवल अंधेपन में ही घुली रहती है!

पुष्टि के लिए इस वर्ष के पंद्रह मार्च को प्रकाशित 'इंडिया टुडे' के एक अविश्वसनीय समाचार की प्रतिलिपि भिजवा रहा हूं। गौर से पढ़ियेगा। साहित्य के क्षेत्र में क्या ऐसा व्यावसायिक चमत्कार भी हो सकता है? जब कि शरत्-बाबू की रचनाओं के कॉपीराइट की अवधि केवल तीन वर्ष ही शेष है। और मैं तो अभी जिन्दा हूं। मरने के पचास वर्ष बाद तक कॉपी राइट का अधिकार लेखक या प्रकाशक का रहता है। मैं तो व्यावसायिक दृष्टि से श्रेष्ठ रचनाओं को निरर्थक ही समझ रहा था। इस समाचार ने आंखें खोल दीं। लेकिन इस घिनौनी सच्चाई को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता कि इन्हीं चमत्कारिक रचनाओं के बावजूद शरत्-बाबू ने अपने जीवन-काल में क्या-क्या कठिनाइयां नहीं झेलीं? फकत जीवन को ही भौतिक सुविधाओं की जरूरत होती है, अन्यथा मौत की दृष्टि में कंकर भी निरर्थक, कोहनूर भी निरर्थक। जीवन याचक है और मौत निस्संग, निस्पृह। यदि मृत्यु, गुरु पीठ से अपने शिष्य को पाठ पढ़ाने लग जाय तो फिर ज्ञान की भ्रामक लालसा के लिए कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता। गौतम-बुद्ध को इसी अपूर्व गुरु के हाथों दीक्षा मिली थी। शताब्दियों के बाद अनगिन-असंख्य व्यक्तियों में केवल एक हस्ती इस दीक्षा के उपयुक्त होती है।

टेलीफोन पर आपकी मित्तल साहब से जो बात हुई 'मेरौ दरद न जानैं कोय' के मुतल्लिक—जिसे पढ़कर वे कितने द्रवित हुए? जिन अजीज साथियों से वर्षों का परिचय है, जिनसे हर जरूरत पर यथाशक्ति सहयोग लेता रहा हूं, उन्होंने मेरे दरद को नहीं समझा, पर मित्तल साहब इतने अल्प संपर्क के बावजूद भी मेरा दरद जान गये, यही मेरे लिए सबसे बड़ी खुशी, सर्वोच्च पुरस्कार है, जो मुझे प्राप्त हो गया। उसके बाद आपके ३१ जनवरी और १० फरवरी के पत्र मिले। उन में आर्थिक सहयोग की राशि का आपने खुलासा किया और मित्तल साहब के सहयोग से मेरे प्रकाशन के संदर्भ में जो चर्चा की, मेरे अपने हित व कल्याण के लिए इस से बड़ी बात और क्या हो सकती है? एक मुश्त ऐसा कल्पनातीत सहयोग मुझे कभी नहीं मिला। पर सच दम्मूजी, इस शुभ समाचार से मुझे पर्याप्त खुशी नही हुई, जितनी मेरे 'दरद' के आभास की बात जान कर हुई। आज-कल अपनी वैयक्तिक-सोच के बहुत परे है—मेरा मनन, मेरा ध्यान और मेरा चिंतन। अब तो केवल एक ही सपना रह गया है—वाणीपुरम्। जिसके क्षितिज से देश की जानी-अजानी श्रेष्ठतम प्रतिभाएं, प्रतिदिन सूरज निकलने के पूर्व आलोकित हों। जिनकी दिव्य-ज्योति से सूरज की आंखें भी चौंधिया जायें। जिस प्रकार सूर्योदय में नागा नहीं होता, उसी प्रकार साहित्य के सृजन व प्रकाशन में भी किसी रोज नागा न हो। बड़ा विकट सपना है। बड़ा सरल सपना है। उम्र की इस ढलान पर भी मुझ में यह क्षमता, यह हौसला और यह जीवट शेष है! मुझे स्वयं इस पर कम आश्चर्य नहीं। केवल साधनों के अभाव में इस क्षमता को ग्रहण लगा है, अन्यथा आकाश के सूर्य से इसका प्रकाश कम नहीं है।

अब एक-एक पल भी मेरे लिए शताब्दी से लम्बा हो रहा है। पर एक बात निश्चित तौर पर हमेशा के लिए याद रखियेगा कि आपके किसी काम से मुझे इस जीवन में कभी कोई शिकायत नहीं होगी, केवल अपने मन का 'दरद' वैद्य के सामने उजागर कर रहा

हूं। जरा सोचिये—एक दिन सूरज न उगे तो...! बस आगे की चिट्ठी आप दोनों को सम्पूर्ण करनी है। इस से कम शब्दों में अपना दरद दरसाने के लिए असमर्थ था। आशा है मेरी विवशता को आप क्षमा करेंगे।

अब तक तो दूसरों को लिखे पत्र की सारी प्रतिलिपियां नियमित रूप से आपको भिजवाता रहा हूं और आज आपको लिखा यह पहला पत्र है, जिसकी प्रतिलिपि मित्तल साहब को भेजने की इच्छा हो रही है। उचित समझें तो भेज दीजियेगा। उनके नाम का लिफाफा संलग्न है। जिस लम्बे पत्र का आपको बहुत दिनों से इंतजार था, वाकई मुझे यह मालूम नहीं था कि वह इतना छोटा होगा। शेष अपन तीनों की मुलाकात के मांगलिक क्षणों में...!

अब इसके मुतल्लिक मैं कभी चर्चा नहीं करूंगा। आपको व मित्तल साहब को ही पहल करनी होगी। जानता हूं, इस पत्र से आपका मन बेइन्तहा द्रवित होगा, मन में भयंकर झंझावात छिड़ेगा, थोड़ी-बहुत ठेस भी लगेगी, मगर इसके लिए क्षमा-याचना नहीं करूंगा। केवल इतनी भर कामना करता रहूंगा—मन की अतल गहराइयों से प्रतिक्षण, प्रतिपल कि मेरे समस्त मित्रगण, आप और मित्तल साहब खूब दीर्घायु हों, पूर्णतया स्वस्थ रहें। यदि मेरे अक्षरों में कुछ भी प्राण-शक्ति है तो यह कामना फलेगी और जरूर फलेगी ! अंत में इतना भर याद दिला दूं कि अपने तीनों में से कोई भी अमर नहीं है। बिजली की क्षणिक कौंध में ही मोती-दर-मोती पिरोने हैं। एक क्षण का विलम्ब भी समूचे देश के लिए घातक होगा। बस, छोटी-सी बात आप दोनों जान लें तो मेरे लिए काफी है।

आपका
बिज्जी

श्री दामोदर थानवी
६, हाथी बाबू का बाग
कांति नगर, जयपुर

प्रतिलिपि : डॉक्टर इंद्रसेन मित्तल
२६/२ के.एस. रोड
बंगलोर-५७

संलग्न : १५ मार्च के 'इंडिया टुडे' में प्रकाशित
शरत् बाबू से संबंधित समाचार की नकल।

मणि कौल प्रॉडक्शन्स
२१ मई, १६७२

प्रिय श्री विजयदान—बिज्जी !

सच तुम तो छुपे हुए ही ठीक हो । न जाने क्यों आज लगा कि तुम्हारी कहानियां शहरी जानवरों तक पहुंच गयीं तो वे कुत्तों की तरह टूट पड़ेंगे । गिद्ध हैं—नोच खायेंगे । तुम्हारी नम्रता है कि तुमने अपने रत्नों को गांव की झीनी धूल में ढक कर रखा है । धूल भी नजर आती है ; रत्न भी । कल रात से आज दिन तक तीनों कहानियां बिना रुके पढ़ चुका हूं—'असमांन जोगी', 'नागण थारौ वंस वधै' और 'मिनख-जमारौ' । कहानियों का विश्लेषण करना तो आंधी के बाद बिखरी चीजों को फिर-से समेटना-सा लगता है । और विश्लेषण करना भी तो नहीं आता । मन में आया सो लिखा, समझना ।

'नागण थारौ बंस बधै' पढ़ कर मैं कुछ हैरान-सा हो गया । खास तौर से 'वीलिया-खवास' के अंतिम शब्दों में तो कमाल कर दिया तुमने । सच, गांव-चौधरी तो बात समझा-न-समझा, मैं भी बात समझ न पाया । किन्तु उसका जितना एब्स्ट्रेक्टेड सार था, पूरा समझ गया । किसी कहानी को उसके स्थूल घेरे में बिना फंसाये [यानी उसके स्थूल अर्थ से परे रह कर] कहानी को मांसल शरीर का आभास दे देना—और उसकी अनुभूति को शब्दों में साफ-साफ व्यक्त कर देने पर भी अनुभूति को मरने न देना तो जैसे असंभव काम है । तुम्हारी इस कहानी का रूप तो किसी गणित की पहेली का स्वरूप है । गणित में प्रश्नों का उत्तर नहीं हुआ करता, उनका हल होता है और वह हल अपने-आप में किसी प्रकार का विचार नहीं होता—उसका कर्म तो केवल उन साधनों की ओर संबोधित करने का है, जिन से वह गणित-प्रश्न सुलझा । जो शेष रह गया उसमें उलझने से ही तो गांव-चौधरी

और मेरी हालत कहानी के अंत में एक-सी हो गयी।

याद आया। क्लॉद लेवि-स्त्रॉस नाम एक एंथ्रोपोलोजिस्ट ने अपने स्ट्रक्चरल मेथड्स के बारे में चर्चा करते समय बताया कि कभी-कभी किसी मिथ को सुलझाने में ला ऑफ इन्वर्शन लगाना पड़ता है। यानी मिथ द्वारा जो भी प्रश्न पैदा होते हैं उन्हें बिलकुल इंवर्ट कर देना। उसका उदाहरण देता हूं। मानो एक स्टेटमेंट है—देयर इज ए क्वेश्चन टु विच देयर इज नो आन्सर, अब उस उत्तर को प्राप्त करने का कोई साधन नहीं है। और हम लोग तो इस चक्कर में खास फंसे ही रहते हैं, तुम्हारी कहानियों में तो इसका कोई पार ही नहीं, कई ऐसी समस्याएं तुमने प्रस्तुत की हैं। तो ऐसे स्टेटमेंट का केवल एक ही हल है कि उसे बिलकुल इन्वर्ट कर दिया जाय, यानी : देयर इज एन आन्सर टु विच देयर इज नो क्वेश्चन, यही अनुभूति की सही प्रकृति है। जिसे तुमने पा लिया।...'जिण अजोगती बात सूं थांनै इत्तौ इचरज व्हियौ, उणरौ औ म्यांनौ है। समझ परवांण इण में सार लावैला।' [वातां री फुलवाड़ी, भाग १०, नागण थारौ वंस वधै, पृष्ठ १५६] तुम्हारी खोज उस उत्तर के लिए, तुम्हारी कहानियों में जगह-जगह उभर आती है, जो पैदा हुए प्रश्नों का जवाब नहीं देती, किंतु साथ-साथ ऐसे फूलों की फुलवाड़ी पैदा कर देती है जिसके सामने उन प्रश्नों का 'मरम' फीका पड़ जाता है। जिंदगी को उन प्रश्नों की जरूरत नहीं रहती। हर बार 'वीलिया-खवास' कहानी सुनाने के बाद बदलता जाता है। हर बार हम जैसे कहानी सुनने वाले बदलते जाते हैं। हो सकता है ये फूटे शहरी लेखक ऐसे प्रश्नों को सामने ला दें जिनका वास्तविकता से कोई संबंध हो और इसी बहाने उस में उलझे रहें। किंतु तुम्हें तो इन प्रश्नों से क्या लेना-देना ? तुम्हारे सामने, तुम्हारे उत्तरों के सामने इन प्रश्नों में सार ही क्या ? उनकी 'जिनात' ही क्या ?

आज तुम्हें 'तुम' कहने में आनंद आ रहा है, निकटता लग रही है। इसीलिए हिम्मत कर ली। 'विज्जी' लिख कर संबोधित किया। 'असमांन जोगी' में कुम्हारी के लड़के की भांति तुम्हारी कहानियां और तुम निर्मल हो। कुम्हारी के लड़के का भोलापन ही कैद में फंसे हम सब के चित्त को छुटकारा दे सकता है। 'असमांन जोगी' जब विचलित हो जाता है और उसे यह पहली बार लगता है कि वह किसी औरत के लिए उतावला नहीं हो रहा, उसे कुछ और परेशान कर रहा है। बालपने की सहजता और तब का निर्मल-स्वरूप ही तो फिर लौटता है, जो जिगर को फाड़ देता है— जो इतना निर्मल, भोला व सुकुमार होते हुए भी तड़पा देता है। फिर तुमने एक दूसरे पैंतरे से कमाल किया। अलग चाल से पहेली सुलझा दी। संतुलन रखा। बात को इतना फंतासी रूप देकर उसके खास मतलब को बराबर साफ जाहिर करते गये। बात को कुछ ऐसा बुना जाये कि जब सीधा ताना चले, यानी किस्सों का ताना, तो आड़ा, जो कभी नजर से दूर न हो पाये, यानी मतलब का ताना—और जब आड़ा चले तो सीधा हर समय मौजूद। जैसे कोई कपड़ा बुना जा रहा हो। सीधा भी, आड़ा भी। कहानी पढ़ने के बाद लगा कि मैं खुद असमांन जोगी भी हूं और कुम्हारी का लड़का भी। तुम चरित्रों को अलग-अलग निभा जाते हो किंतु उन सब की पूर्ण इकाई से नजर गिरने नहीं देते। अंत में जब ये शब्द आये...'साच

मांनणिया कुम्हारी रै बेटा री गळाई सुखी व्हैला। गाजां-बाजां मन चायौ व्याव व्हैला। अर अभरोसौ करणिया मर्यां उपरांत ठौड़-ठौड़ आक-धतूरौ वणनै ऊगैला।' [वातां री फुलवाड़ी, भाग १०, असमांन जोगी, पृष्ठ २४६] मैं यह तय नहीं कर पाया कि मेरा क्या होगा ? हां, चूंकि गाजे-बाजे से विवाह हो चुका है, शायद कुम्हारी के लड़के की योनि पहले से प्राप्त है।

कल रात देर तक इस कहानी ने तो सोने ही नहीं दिया। सुलझन का चैन और दोषों की चुभन, दोनों बराबर जाग्रत थी।

'मनुष्य की जिंदगी' [मिनख-जमारौ] के बारे में लिखना-कहना नहीं चाहता। दोष मेरा ही है। शायद दो कहानियों के नशे में तीसरी कहानी शुरू करना ही बेवकूफी है। फिर से कभी पढ़ूंगा तो लिखूंगा। शायद डर गया इस कहानी से। फिर एक बार देखूंगा कि इतना झेलने का जिगर है या नहीं।

चित्र और शब्दों के बारे में तुम ने जो लिखा, मुझे बिलकुल सही लगा। किंतु पूर्णतया कोख से स्वतंत्र हो जाने के लिए तो कितने वर्ष चाहिए ! कोशिश पूरी कर रहा हूं। उस में मैंने क्या-क्या तरीके निकाले हैं, उस पर तो एक पूरी किताब लिख सकता हूं। पढ़ेगा कौन ? यहां तो कोख तक भी बहुत कम पहुंचे हैं—गुड्डा-गुड्डी से खेल रहे हैं, ऐसा लगता है। उनके लिए कहानी वाकई एक खेल-सा है। खेलते हैं। रोते हैं। हंसते हैं। उसका सही संबंध अब तक इसीलिए स्थापित नहीं हो पाया क्योंकि कहानी को एक पूर्ण रूप नहीं दिया गया, बल्कि उसे एक तरह से यूज करते हैं। और यूज का रिश्ता तो एक अजीब तरीके से स्वयं अपनी ही स्वतंत्रता छीन लेता है। मैं किसी को यूज करूं तो मेरा उस पर निर्भर होना स्वाभाविक है ; फिर स्वतंत्रता कहां ? मुझे समय तो लगेगा। लगना भी चाहिए—इन फिल्मी जादूगरों की तरकीबों का भंडा फोड़ते। वर्षों हो गये सालों को उन्हीं तरकीबों में रिसते। बदलते भी हैं तो बेचने का नया तरीका पैदा करके। चाहता हूं 'नागण थारौ बंस बधै' और 'असमांन जोगी' पर फिल्म मैं ही बनाऊं कभी।

मनुष्य हूं, इतने सारे रत्नों का उघड़ा हुआ ढेर देख कर दो-दो बांस उछल रहा हूं। आस-पास कोई नहीं। संभव है, सारी माया मेरे ही हाथ लगे।

तुम्हारा
मणि

केन्द्रीय साहित्य अकादमी से पुरस्कार प्राप्त विजयदान देथा की कहानियां पढ़कर निराशा ही हुई। वैसे भी हिन्दी के संदर्भ में साहित्य अकादमी का पुरस्कार श्रेष्ठता का प्रमाण तो नहीं है। श्री देथा की इन कहानियों के बारे में प्रकाशक ने लिखा है कि इन में 'लोक कथाओं की शैली—अभिप्राय, कथावस्तु, रूढ़ियों और घटनाओं के बीज-तत्त्वों का ही समाहार किया गया है।' इसलिए ये लोक कथाओं से एकदम भिन्न व्यक्तित्व रखती हैं। अत: लोक कथाओं की दृष्टि से इन कहानियों पर विचार नहीं किया जा सकता, नहीं किया जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में एक ही मापदंड है—आज की हिन्दी कहानी के संदर्भ में यह अर्थपूर्ण सृजनात्मक प्रस्तुति कहां ठहरती है? संक्षेप में इस प्रश्न का उत्तर है, ज्यादा-से-ज्यादा इन्हें गंवई किस्से माना जा सकता है। 'केंचुली', 'न्यारी-न्यारी मर्यादा', 'दोहरी जिन्दगी', 'खोजी', 'लजवंती', 'कागपंथ', तथा 'दुविधा' यौन-विकृति के किस्से हैं—जो अत्यधिक फूहड़ हैं। उसी प्रकार 'बेदाग चिकनाहट', 'बीरबल के किस्सों का पुनर्लेखन' तथा 'रैनादे का रूसना' में पुराण कथा से खिलवाड़ किया गया है। 'दबदबा', 'अनेकों हिटलर', 'फाटक' और 'दूजौ कबीर' तथा 'अहेरी' सामान्य किस्से हैं। इन रचनाओं में लघु कथाओं का चित्र मिलता है, जो आकर्षक नहीं है। श्री विजयदान देथा की इन रचनाओं में मानव-मूल्य, यथार्थबोध, सामाजिक चेतना, कथा-विस्तार, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आदि खोजना निरर्थक है! यौन-विकृति की हर किस्म इन किस्सों में सहज ही मिल जाती है। यह निश्चय ही राजस्थान की लोक संस्कृति नहीं है। राजस्थान की लोक-संस्कृति पर प्रश्नचिह्न अवश्य लगाती है।

कैलाश कबीर का अनुवाद उत्तम है। पुस्तक का प्रस्तुतिकरण बढ़िया है। पुस्तक के फ्लैप पर मणि कौल की टिप्पणी है। जिस में कहा गया है 'ये कहानियां शहरी जानवरों तक पहुंच गयीं तो वे कुत्तों की तरह टूट पड़ेंगे।' मणि कौल यह लिख कर क्या कहना चाहते हैं, पता नहीं। पर यदि चौंकाना ही उनका लक्ष्य है तो बात दीगर है।

दुविधा तथा अन्य (गंवई) कहानियां

महेन्द्र कार्तिकेय

सम्पादक
नवभारत टाइम्स, नयी दिल्ली

३ विश्वविद्यालय मार्ग
जोधपुर : अप्रैल १६, १६८०

महोदय,

विजयदान देथा की 'दुविधा व अन्य कहानियां' पर महेन्द्र कार्तिकेय की समीक्षा [न.भा.टा. अप्रेल ६, १६८०] पढ़ी। समीक्षक के पूर्वग्रह युक्त संकीर्ण मस्तिष्क की झलक शीर्षक में उनकी अपनी तरफ से जोड़े गये [गंवई] से ही मिल जाती है, फिर तो, समूची समीक्षा ही जैसे धारोष्ण दूध को नासमझ [शहरी] द्वारा डिटरजेंट के मेलिये झाग समझ कर, गंदी नाली में बहा देने जैसा है। बप्रसंग मणिकौल, इस कथन पर भी कार्तिकेय शायद चौंकें तब तो, वे चेखोव, बादलेयर आदि की रचनाओं के कई स्थलों पर भी चौंकते व इन्हें विकृति के रूप में देखते रहे होंगे। सदाचार का तावीज जो वे धारण किये हुए हैं। 'सरिता', 'मुक्ता' में ऐसी समीक्षा छपती तो बात भिन्न थी; किन्तु न.भा. टाइम्स में समीक्षा का यह स्तर हो... दयनीय है।

देथा की कहानियों को मूल राजस्थानी में पढ़ता रहा हूं व इस अनुवाद को भी पढ़ा है, इसीलिए यह लिख रहा हूं, समीक्षा में कार्तिकेय ने देथा के कथाकार की सामर्थ्य व सीमाओं का सम्यक् लेखा-जोखा किया होता तो कुछ बात भी बनती।

कार्तिकेय की समीक्षा पर क्या टिप्पणी दूं...!

लिख्तम्वर्ग का एक प्रासंगिक कथन याद आ गया :

'ए बुक इज ए मिरर; इफ एन एस पियर्स इनटू इट, यू कांट एक्स्पेक्ट एनी अपोसल टू पियर आउट।'

सादर,
गोपाल भारद्वाज

प्रतिवाद : १

गोपाल भारद्वाज

नवभारत टाइम्स

२५ अप्रैल १६८०

महोदय,

श्री विजयदान देथा की पुस्तक पर श्री महेन्द्र कार्तिकेय की समीक्षा उपयुक्त नहीं थी, यह बात मुझे कई और पाठकों ने भी लिखी है।

भविष्य में पुस्तकों की समीक्षा के लिए उपयुक्त आलोचकों की तलाश की जायेगी, जिस से लेखकों के प्रति न्याय हो सके।

सधन्यवाद।

भवदीय,
आनन्द जैन

श्री गोपाल भारद्वाज,
३ विश्वविद्यालय मार्ग
जोधपुर

प्रत्युत्तर

आनंद जैन

उदयपुर
११-५-१९८०

प्रिय भाई आनन्दजी,

नवभारत टाइम्स में श्री विजयदान देथा की पुस्तक 'दुविधा एवं अन्य कहानियां' की समीक्षा देखने को मिली। मैं उनकी कहानियों का प्रारम्भ से ही पाठक रहा हूं, इसलिए इस पत्र द्वारा व्यक्तिगत रूप से कुछ निवेदन करना चाहता हूं, जिसे प्रकाशित करने की कतई आवश्यकता नहीं है। यह बात इसलिए लिख रहा हूं कि दुर्भाग्य से इस देश में 'नवभारत टाइम्स' जैसे अखबारों को भी व्यापक रूप से पढ़ा जाता है। यह हमारे यहां की मजबूरी है। लोग भूख की दाह मिटाने के लिए जिस तरह भूसा भी खा लेते हैं, उसी तरह उच्चस्तरीय प्रकाशन सामग्री के अभाव में ऐसे पत्र भी पढ़ लिया करते हैं।

आप के पत्र में जो समीक्षा प्रकाशित हुई, वह न केवल घटिया बुद्धि और समझ के अभाव को प्रदर्शित करती है, बल्कि लोक-संस्कृति के प्रति अज्ञानता को भी उद्घाटित करती है। इसी संग्रह में छपी 'दुविधा', 'दबदबा' और 'अनेकों हिटलर' जैसी सशक्त कहानियों को गंवई कहानियां कहा गया है। इस से मेरी यह धारणा बनी है कि आधुनिकता के नाम पर शहरी संस्कृति में रचे-पचे लेखकों और समीक्षकों की दुनिया बहुत ही संकीर्ण तथा सीमित है। वास्तव में ये लोग अव्वल दर्जे के गंवार हैं, जो इस सांस्कृतिक निधि को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं।

सम्पादक महोदय, मैं आपसे समीक्षक के बारे में शिकायत करके उस नासमझ का मान नहीं बढ़ाना चाहता, आप से यह निवेदन करना चाहता हूं कि ऐसे उच्च कोटि के साहित्य की समीक्षा करने के लिए किसी उपयुक्त पारखी को अगर यह काम सौंपा जाता तो उत्तम रहता। मेरी ऐसी धारणा है कि इतनी बड़ी दिल्ली में शायद एक-दो बुद्धिमान

प्रतिवाद : २

वेददान सुधीर

आदमी जरूर होंगे, क्योंकि अभी धरती ने वीज खोया नहीं है। वैसे हर पुस्तक की समीक्षा जरूरी नहीं है। आप एक वड़े अखवार के सम्पादक हैं और उस तंत्र को चलाने के लिए सामग्री भी ढूंढ़ते हैं। आप में लोगों को टुकड़ा डालने की भी भारी क्षमता है।

इसका अर्थ यह तो नहीं होता कि आप जिसकी चाहें टोपी उतरवा लें। क्या सम्पादक होने मात्र से आप किसी की इज्जत लूट सकते हैं? आप इस वात से भली-भांति परिचित हैं कि लोक-साहित्य, दर्शन और संस्कृति के प्रसंग वड़े झीने होते हैं, उनकी शैली, भाषा तथा भंगिमा को समझना हिन्दी-लेखक के वश की वात नहीं है। यह वही व्यक्ति समझ सकता है जो समूचे परिवेश को समझता हो अथवा उस दुनिया में जीता हो।

श्री विजयदान देथा पिछले पच्चीस वर्षों से उस भट्टी की आग में तप रहे हैं। जिन लोगों ने उनकी कहानियां सुनी हैं अथवा पढ़ी हैं, वे केवल इस आनन्द की अनुभूति महसूस करते हैं, उसके वारे में लिखने का साहस नहीं करते। आपको एक सुझाव देता हूं। कभी आप उदयपुर पधारें और मुझ से वे कहानियां सुनें। फिर आप ही अपनी राय वना कर लिखें तो ज्यादा उचित होगा।

जहां तक मैं समझ पाया हूं, ये कहानियां इस देश की जन-संस्कृति की प्रतिनिधि कहानियां हैं। और दूसरे शब्दों में हमारे सम्पूर्ण जीवन का दर्पण भी हैं। सत्ता, शोषण, राजनीति, स्तरीकरण, शाश्वत मूल्य और जीवन के अन्य पहलुओं को वड़े नाजुक तरीके से स्पर्श करती हैं। उन्हें विना पढ़े और समझे अखवार में फतवे-वाजी करना अपनी अज्ञानता का पर्दा फाश करना है। इस से पहले भी एक जनसंघी पत्रकार ने राजनीति की एक पुस्तक पर समीक्षा प्रकाशित की थी। मेरी यह धारणा वनती जा रही है कि आपके अखवार में मूर्ख, दम्भी और अनपढ़ समीक्षकों का ही सम्मान है जो केवल भूमिका पढ़ कर लिखने को आमादा हो जाते हैं।

लोक-संस्कृति से संवंधित श्रेष्ठ साहित्य पर इस तरह की सम्मति आपके अखवार की प्रतिष्ठा घटाती है। इतना ही नहीं, यह हम वुद्धिजीवियों की रुचि और रुझान का स्तर भी इंगित करती है। हम जीते जी किसी चेखोव, गोर्की या प्रेमचन्द का सम्मान नहीं करते, यह हमारी परम्परागत आदत है, लेकिन उसे अपनी नासमझी के वाणों से घायल करें, यह कहां का न्याय है?

मुझे पूर्ण आशा है आप इस समूचे प्रसंग पर गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगे और भविष्य में किसी अन्य लेखक के साथ ऐसा अन्याय नहीं होने देंगे, जो श्री देथा के साथ हुआ है।

आपका
वेद दान सुधीर
प्राध्यापक, राजनीति शास्त्र,
रूरल इन्स्टीट्यूट, उदयपुर

विजयदान देथा अपने-आप में एक पूरी संस्था ही नहीं, राजस्थानी भाषा के ऐसे विरले कथाकार भी हैं, जिन्हें युगनिर्माता कहा जा सकता है। वह कहानियां सुनाते हैं और सैंकड़ों की संख्या में बैठ कर लोग उन से सुनते हैं। जिन्होंने उनके मुख से मूल राजस्थानी में उनकी कहानियां सुनी हैं, वे राजस्थानी भाषा के सौंदर्य और अद्वितीय प्रवाह के साक्षी हैं। 'वातां री फुलवाड़ी' नाम से सात सौ कहानियों का संग्रह तेरह खण्डों में संयोजित है। उन में से चुनी हुई कहानियों का हिन्दी रूपांतर राजकमल प्रकाशन से चार खंडों में प्रकाशित हो रहा है। 'दुविधा और अन्य कहानियां' पहला खंड है।

ढाई सौ पृष्ठों के इस पहले खंड में कोई इक्कीस कहानियां हैं। एक-से-एक निराली और एक सांस में पढ़ी जाने योग्य। दुविधा पर मणि कौल ने एक फिल्म भी बनायी है। आज तमाम लिखी जाने वाली कहानियों में इन कहानियों का पढ़ना एक अनूठा, दुर्लभ अनुभव ही नहीं, इस बात का सूचक भी है कि समसामयिक कहानियों का एक रास्ता इधर से भी जाता है—जो साफ, चिकना और बेहद आकर्षक है। यह आकर्षण रोचकता का ही आकर्षण नहीं, बल्कि मूल में ऐसे चिंतन का भी आकर्षण है, जो मध्ययुगीन सामंती मूल्यों पर चोट करता है, सत्ता-व्यवस्था और उसके चाटुकारों को नंगा करता है, स्त्री और पुरुष के संबंधों की असमानता पर नश्तर लगाता है। इस तरह ये कहानियां लोक-कथाओं की बुनावट रखते हुए भी आधुनिक तेवर रखती हैं। यानी पाठक राजे-रजवाड़ों की गलियों में घूमते हुए भी आज के नेताओं और मंत्रियों से साक्षात् करता है और अपने पैरों में लगी सामंती-व्यवस्था की धूल को आज की लोकतंत्री व्यवस्था की कीचड़ में बदला हुआ देखता है।

इस मामले में विजयदान देथा का शिल्प अनूठा है। कहानी विचारों और विवरण के इतने सघन गुंफन में शुरू होती है कि पंक्तियां अक्सर कविता में ढल जाती हैं—'सत्ता के मद की अपनी प्यास, सत्ता के भय की अपनी रास। सब रंगों की काली छाया। राव रंक

देथा की देन

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

की अपनी माया। यह बरसों जूनी बात। जैसे तारों छायी रात। कि किसी वक्त के कगार पर बादशाह का एक खास मरजीदान काजी रहता था...' और फिर कहानी में भाषा जो तुकों के कारण उछाल-उछाल कर चलायी गयी थी, कलकलाती हुई वह निकलती है—वेगवती धारा में बदल जाती है, जिस में एक-से-एक सुन्दर बिंब, प्रतीक, भंवर खाते मिलते हैं, एक-से-एक सुंदर कहावतें और लोकोक्तियां तैरती हुई दिखती हैं। लोक-अभिप्राय अपना रंग बदलते हैं और भाषा की ऐसी निराली छटा दिखती है जो आज कथा साहित्य में दूभर है। विजयदान देथा की भाषा अनुभव की भाषा है—तपे हुए अनुभव की। वह सूक्तियां गढ़ते चलते हैं और कहावतों तथा लोकोक्तियों को बीच-बीच में मोती की तरह टांकते जाते हैं। उनकी कथाओं में निरंतर कुछ घटित होता रहता है और वह क्यों घट रहा है, इस की तफसील वह खुद नहीं देते। पाठकों की विचारशक्ति पर छोड़ देते हैं। जबकि तथाकथित आधुनिक कथाकार मनःस्थिति की कथा लिखते हैं और दावा करते हैं कि वह मनोवैज्ञानिक गुत्थी सुलझा रहे हैं। विजयदान देथा यह भ्रम नहीं पालते। 'अनेकों हिटलर' कहानी में जो आज की भावभूमि से सीधे जुड़ी है, यह साफ देखा जा सकता है, जहां पांच भाई जो किसानी करते हैं, ट्रेक्टर खरीदने शहर जाते हैं और लौटते समय होड़ लेते एक साइकिल सवार को जान-बूझकर कुचल देते हैं। वर्णन की अद्भुत क्षमता विजयदान देथा में है।

उनकी कहानियां आज की कहानी-यात्रा पर नये तरह से सोचने को विवश करती हैं और इतना तो संकेत करती ही हैं कि कथा के पुराने उपकरण इतने बेजान नहीं हो गये हैं, जितना कि समझा जाता है। यदि उनका सही, सधा, दक्षतापूर्ण इस्तेमाल किया जाये तो कहानी को नयी ताकत मिलेगी और वह ताकत ऐसी होगी जो हर तरह के पाठक को बांधने में समर्थ होगी। आगे आने वाली कहानी का रास्ता इन लोक-कथाओं और लोक-अभिप्रायों से होकर है। बशर्ते लेखक की दृष्टि आधुनिक और समसामयिक हो। विजयदान देथा की इन कहानियों से नये कहानी लेखक बहुत-कुछ सीख सकते हैं और पाठकों के लिए तो यह अनमोल खजाना है। संग्रह की सभी कहानियां एक-से-एक बढ़कर हैं इसलिए कुछ को छांट कर उनका अलग से जिक्र यहां नहीं किया जा रहा है। हर कहानी एक नये लोक में ले जाती है। अनुवाद पर यदि और मेहनत की गयी होती तो ज्यादा अच्छा था। फिर भी यह संग्रह बार-बार पठनीय और संग्रहणीय है। हिन्दी जगत में इसका स्वागत होना चाहिए। ००

जयपुर में आयोजित प्रगतिशील लेखक संघ के तीसरे राष्ट्रीय अधिवेशन में [जो कि २५, २६, २७ दिसंबर १९८२ को सम्पन्न हुआ] भाग लेने के लिए जब मैं चला था, तब सम्मेलन के अलावा जो सबसे बड़ी ललक मेरे दिल में थी कि वहां विजयदान देथा से मिल पाऊंगा। देथा, जिन्हें प्यार से राजस्थानी लोग 'बिज्जी' कहते हैं, से हिन्दी के पाठक हाल ही में परिचित हुए, जबकि उन की कहानियों के अनुवाद के दो संग्रह राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित हुए हैं। इन दो संग्रहों, जिनके नाम क्रमशः 'दुविधा और अन्य कहानियां' तथा 'उलझन' हैं, में बिज्जी की उनतालीस कहानियां और एक लघु उपन्यास संकलित है, जो उनकी लगभग हजार कहानियों में से बानगी के तौर पर हैं। बिज्जी मूलतः राजस्थानी भाषा के लेखक हैं।

मैंने पटना के राजकमल प्रकाशन में और दिल्ली में कुछ मित्रों से विजयदान देथा का पता जानने की कोशिश की थी, किन्तु कुछ पता नहीं चला। दिल्ली से जयपुर तक की यात्रा मैंने बस से तय की थी और सोचता रहा था कि शायद उनसे मुलाकात नहीं हो पायेगी। केवल इस अहसास से मैं काफी उदास था। हमारी बस जब हरियाणा की सीमा को छोड़ कर राजस्थानी क्षेत्र में आ गयी तब मैं उझक-उझक कर सड़क के किनारों को देखने लगा और उन दृश्यों को खोजने लगा जो उनकी कहानियों में वर्णित हैं। खास कर 'दुविधा' कहानी का सर्वांगपूर्ण चित्र मेरे मन में उमड़ने लगा और लाल-लाल ढालुओं के लिए मेरी आंखें तरसने लगीं। झाड़ियों-झुरमुटों और खेजड़ियों पर मेरा मन बार-बार अटकने लगा और मेरे मन की दुलहन सयानी होने लगी। सच कहूं तो सारे रास्ते मेरे मन में बिज्जी की कहानियों के चित्र बनते-मिटते रहे।

आपको शायद लग सकता है कि बिज्जी पर इस तरह फिदा होने का आखिर कारण क्या है? मैं स्वयं नहीं जानता कि क्या कारण है! मैं तो बस, उनकी कहानियों पर फिदा हूं, इतना ही जानता हूं। कुछ दिन पहले साप्ताहिक हिन्दुस्तान में उनके दूसरे कहानी

बिज्जी के साथ दो दिन

प्रेमकुमार मणि

संग्रह 'उलझन' पर योगेश गुप्त की समीक्षा देखी थी जिस में उन्होंने लिखा है—' उलझन पढ़ने के बाद बहुत समय तक कुछ पढ़ा नहीं गया। मन-ही-मन लेखक को कोसता रहा। ऐसा कोई क्यों लिखे कि पाठक कुछ और पढ़ ही न सके।' मुझे लगा कि गुप्त जी को एक चिट्ठी डाल दूं कि कृपया अपने स्वर में मेरा स्वर भी शामिल कर लें।

तो मैं जयपुर पहुंचा, मैं जरा विलम्ब से पहुंचा था। सम्मेलन-स्थल तक पहुंचा तब शाम की सुरहुरी फैल चुकी थी। शरद की सिम-सिम सांझ। व्यवस्थापकों से मिल कर और रहने की व्यवस्था करके मैं सभाकक्ष आया। कुछ ही देर बाद शाम की गोष्ठी खतम हो गयी थी। मुझे बिज्जी की चिन्ता लगी थी। उनके बारे में कुछ जानना चाहता था। मैंने सोचा व्यवस्थापक राजस्थानी लोग ही हैं, वे उनके बारे में शायद बता सकेंगे। इसी विश्वास से मैंने पूछा। एक अधेड़ उमर के राजस्थानी सज्जन ने बताया कि विजयदान देथा तो यहां उपस्थित हैं। मेरा मन-कमल अचानक खिल गया। रास्ते की थकान मिट गयी, मैंने सज्जन से निवेदन किया कि कृपया मुझ से उन्हें मिलवायें। मैं उन्हें पहचानता भी नहीं हूं। सज्जन ने आश्वासन दिया और खोजने निकल पड़े। लेकिन बिज्जी उस रोज नहीं मिले। वे कहीं निकल गये थे।

मैं दूसरे दिन का इन्तजार करने लगा। सुबह हुई और सूरज आकाश चढ़ने लगा। हम लोग आठ बजते-बजते अपने आवास-स्थल से सम्मेलन-स्थल तक चले आये थे। गुनगुनी सुबह थी। मैं विगत रात के सांस्कृतिक कार्यक्रम में भाग लेने वाले लोक-कलाकारों से मिल रहा था कि एक कार आकर रुकी। उस में से कोई चार व्यक्ति बाहर आये। एक लोक-कलाकार ने हल्की मुस्कान से एक व्यक्ति को नमस्कार किया। 'बिज्जी नमस्ते' मैंने नजर घुमायी तो देखा, एक छोटे कद का आदमी, कुरते-धोती में, चश्मा पहने। चौंका। तो क्या यही हैं विजयदान देथा! मैंने पास खड़े उसी लोक-कलाकार से धीरे से पूछा। 'हां' कहते हुए उसने कहा—'ये बिहार से आये हैं और आप से मिलना चाहते हैं।' मैंने मुग्ध होकर नमस्कार किया। और बिज्जी ने मुझे गले लगा लिया।

मैं भावातिरेक में क्या-क्या कहता रहा, कुछ ज्यादा खयाल नहीं है। मैं उन से केवल यही जानता रहा कि वह कहां रहते हैं, कैसे रहते हैं, कैसे लिखते हैं और लेखन के अलावा क्या करते हैं।

मैं नहीं समझता था कि बिज्जी इतने प्यारे आदमी होंगे। मेरी हर बात का वह जवाब देते गये और वह भी विस्तार से। पास का मैदान हरी दूब से भरा पड़ा था। हम लोग उसी पर सुहावन धूप का मजा लेने बैठ गये। बिज्जी ने बतलाया कि वह गांव में रहते हैं, जो कि जोधपुर जिले में अवस्थित है। गांव का नाम है बोरुंदा। उन्होंने अब तक लगभग हजार कहानियां लिखी हैं जो 'बातां री फुलवाड़ी' शीर्षक से कई भागों में प्रकाशित हुई हैं। इसके अलावा उन्होंने उपन्यास और आलोचना भी लिखी है। उनकी दर्जन भर कहानियों पर फिल्म और वृत्त-चित्र बन चुके हैं।

बिज्जी देखने से ग्रामीण की तरह साफ-सादे लगते हैं। कहीं कोई लाग-लपेट नहीं। न पहनाव-ओढ़ाव में, न बातचीत में। धोती-कुरता और पांवों में राजस्थानी जूता।

मुझ से वह हिन्दी में बात कर रहे थे और बात के दौरान कभी-कभी कोई राजस्थानी मुहावरा या कोई गल्प-संवाद राजस्थानी में कह जाते थे। उनकी बातों में किसान की-सी सादगी और बच्चों की-सी मृदुलता भरी थी।

बिज्जी व्यक्तित्व के तौर पर कबीर के और कला के तौर पर चेखोव और शरत् के प्रशंसक हैं। उनकी एक कहानी है 'दूजौ कबीर', इस में कबीर के व्यक्तित्व को उन्होंने जिस शानदार, शौर्यपूर्ण ढंग से रखा है उस से पता चलना है कि बिज्जी के दिल में कबीर का क्या स्थान है और कबीर पर उनकी कितनी पकड़ है।

अपनी कहानियों में बिज्जी सेठ-श्रीमंतों की बखिया उधेड़ते हैं और बनजारों की जिन्दगी में उतर कर मानवीयता को रेखांकित करते हैं। चेखोव की तरह, अपने को समर्थ और समझदार समझने वाले लोगों की मूर्खता रेखांकित करने में भी बिज्जी माहिर हैं। अपनी कहानियों में वह सेठ-श्रीमंतों और राजे-रजवाड़ों की ऐयाशी का ऐसा खाका तैयार करते हैं कि उस में राजे-रजवाड़े भी कराहने लगते हैं। उनकी एक कहानी 'खोजी' में एक सेठ का बेटा ऐयाशी से ऊब कर चोर के जीवन को श्रेष्ठ समझने लगता है कि चोर बैठे-ठाले नहीं खाता। अपनी समझ और शरीर का कुछ उपयोग करता है। सेठ का बेटा अपनी अकूत दौलत पर लात मार कर चोर बन जाता है। एक दूसरी कहानी 'दोहरी जिन्दगी' में बीजां और तीजां, दो सखियां पुरुषों और पैसों के द्वारा बने हुए समाज से विद्रोह करके प्रेत-बाड़े में आ बसती हैं और वहां जब एक सौ अट्ठाइस भूतों का सरदार उन से पूछता है कि भूतों से तुम लोगों को डर नहीं लगता? तब सखियां कहती हैं—'डर तो मनुष्यों से लगता है। भूतों से कैसा डर!'

बिज्जी पुरुषों के इकतरफा स्वार्थ पर खड़े समाज पर बार-बार चोट करते हैं। पैसे और प्रतिष्ठा पर आधृत इमारतों में सेंध लगाते हैं और वहां के घिनौने जीवन की शल्य-चिकित्सा करते हैं। सामन्ती-समाज की हील-हुज्जत करते हुए वह बतलाते हैं कि उस व्यवस्था को खतम होना आखिर क्यों जरूरी था। मरता हुआ सामंतवाद अपनी प्रेतात्माएं छोड़ता जा रहा है। इन प्रेतात्माओं पर भी बिज्जी की पैनी पकड़ है और उसे अपनी कहानियों में वह नंगा करते हैं।

वह पूरा दिन बिज्जी के साथ बीता। अपने तईं वे चाय-कॉफी ज्यादा नहीं लेते, लेकिन दूसरों को पिलाने में उन्हें आनन्द आता है। राजस्थान के बहुत से युवक उन्हें बराबर घेरे रहे और वह उन से बराबर हंसते-बोलते रहे। बीच-बीच में उनका मन उचटता और धीमे से कहते—अब कुछ चाय-कॉफी ली जा सकती है न?

वह जैसे महान लेखक हैं वैसे ही महान इंसान भी हैं। उन के दिल में हमेशा दुनिया की बातें कुलबुलाती रहती हैं। उन्होंने विस्तार से बिहार की आर्थिक-सामाजिक स्थिति के बारे में पूछा और हरिजनों की हालत पर विचलित होते रहे। बिहारी लोगों के रहने-सहने के ढंग और उनके सोच के भूगोल पर भी वह बहुत-कुछ जानते रहे।

बिज्जी लोक जीवन में पूरी तरह डूबे हुए इंसान हैं। कहानियों की लोक-शैली और ग्रामीण तर्ज की बुनावट में मुझे हैरानी होती थी कि इस हद तक कोई कलाकार कैसे उतर आता है। यह भ्रम बिज्जी से मिलने पर दूर हो गया। वह एक तरफ आधुनिक

जीवन की विसंगतियों को देखते हैं तो दूसरी तरफ उसके आधारभूत कारणों को जिन में सामंती व्यवस्था की कीचड़ मौजूद है। और इसका सूक्ष्मान्वेषण उन्होंने ग्रामीण-जीवन को स्वयं जी कर किया है। उन्होंने गांव की कला और उसके शिल्प को वारीकी से पहचाना है और उसे आधुनिक तमीज के साथ खड़ा किया है, परवान चढ़ाया है।

जनता की सांस्कृतिक विरासत को कायम रखने के लिए उन्होंने 'रूपायन' नाम की एक संस्था वना रखी है जिस से लोक-जीवन के सैकड़ों कलाकार जुड़े हुए हैं। विज्जी इस संस्था को परिवार की तरह प्यार करते हैं। उनके लेखकीय कसीदे में लोक-शैली की आभा यूं ही नहीं फूट पड़ी है। लोक-जीवन में गहरी पैंठ ही इसका कारण है।

दूसरे दिन विज्जी दुनिया भर की वहुत-वहुत-सी प्यारी मनभावन वातें करते रहे। उन्होंने वार-वार मनुष्य की आजादी के सवाल को उकेरा और इसी क्रम में चेखोव की कहानी 'शर्त' सुनायी कि कैसे एक आदमी वीस लाख मुद्रा के लोभ में वीस साल की कैद काटने को तैयार हो गया था। वीसवें साल के अन्तिम दिन कुल पांच घण्टे पहले उस आदमी ने शर्त तोड़ कर रुपया लेने से इंकार कर दिया। वह कम-से-कम कुछ घण्टे आजादी की हवा में सांस लेना चाहता था। आजादी की कीमत का उसे अव भान हुआ था। उसे वीस लाख न लेने का तनिक भी अफसोस नहीं था। वह पांच घण्टे आजाद रहने की कल्पना से खुश था।

विज्जी यह कहानी कहते-कहते विभोर हो उठे। आदमी के प्रति उनके दिल में कैसा नेह था, इसका अन्दाजा हमें उनके विभोर भाव से लगता था।

दूसरे दिन हम लोग सम्मेलन में साथ-साथ ही रहे। उस दिन प्रस्ताव किये जा रहे थे। विज्जी ने मुझ से वहुत धीमे से कहा—'मैं चाहता हूं, एक प्रस्ताव चांद पर हो। हम दुनिया भर के लेखक चांद से प्रेरणा लेते हैं। चांद हम सभी को वहुत प्यारा लगता है। हम दुनिया के देशों को इसके लिए कहें कि वहां जाकर मनुष्य प्रकृति-विरोधी कोई हरकत न करे। मैंने सुना है कि लोग वहां परमाणु-विस्फोट-परीक्षण की सोच रहे हैं।' और फिर वे कुछ सोचने लगे।

सम्मेलन के एक प्रस्ताव में अल्पसंख्यकों की चर्चा थी। उसे सुन कर वह अल्पसंख्यकों के सवाल पर वात करने लगे। सांप्रदायिकता के सवाल भी क्रम से उठे। वह इस वात से नाराज थे कि लोग हिन्दू सांप्रदायिकता की तो वात करते हैं, किन्तु मुस्लिम सांप्रदायिकता के वारे में सोचते भी नहीं। उस संसद में आर.एस.एस. पर प्रतिवन्ध लगाने की वात करते हैं जिस में मुस्लिम लीग के मेम्वर वैठे होते हैं। आर.एस.एस. को गाली देते हैं और मुस्लिम लीग से समझौता करके सरकार वनाते हैं। यह सव आखिर क्या हो रहा है?

हम लोग जव वाहर निकले तव मैदान में आसन्न शाम की धूप पसरी थी। कुछ परिन्दे फुदक रहे थे। विज्जी परिन्दों के खेल देखने में व्यस्त हो गये। उनके चेहरे पर बच्चों जैसी आभा निखरी हुई थी और होंठ दिल के मीठे स्फुरण से स्पंदित हो रहे थे। वच्चों जैसी सरलता से उन्होंने कहा, 'मान लो पुनर्जन्म की बात सही है तो मैं अगले जन्म में परिन्दा बनना चाहूंगा।'

चुप तो मैं था ही, चुप ही रहा मुग्ध मन।

ऐसी ही कुछ वातों के बीच मैंने उनके साथ दो दिन गुजारे। विदा होते समय मेरे उदास मन में उनकी कहानियों के सतरंगे चित्र उभर रहे थे। खेजड़ियां और उन पर वितान चढ़ा रही लतिकाएं, पहाड़ियां और उस पर बारिश के बीच घूमरें लेती तरुणियां, वीरान जंगल में वाद्य बजाता बनजारा और लाल-लाल ढालुओं के लिए बैलों के रथ से कूद कर आयी नर्म-नाजुक दुल्हन। कितने-कितने चित्र गिनाऊं।हां, मन के इन सारे चित्रों के बीच पता नहीं कहां की एक नवरंगी चिड़िया फुदक रही थी। उसकी फुदफुदाहट से मेरा दिल आहिस्ता अंदाज में स्पंदित हो रहा था। ००

कौन-सी किताब पहले पढ़ूं? अज्ञेय की 'स्मृति-लेखा', 'धार और किनारे', विज्जी की 'उलझन', मीनाक्षी पुरी की 'सात फेरे अधूरे', मुद्राराक्षस का 'हम सब मंसाराम', गार्डन रोडरमल की 'हिन्दी कहानी : अलगाव का दर्शन' और जोशी जी [मनोहर श्याम] का वृहद उपन्यास 'कसप'। विज्जी [विजयदान देथा] की 'उलझन' की कहानियां लोक-कथाओं में से सुंती हुई और लोक-कथाएं भी राजस्थान की। नितांत आधुनिक दृष्टिकोण और अपने चारों तरफ के सामंतवादी समाज व संस्कृति के ढहते कंगूरों की गहरी पहचान और सब से बड़ी बात कि 'पब्लिसिटी मेनिया' से दूर अपना काम करने वाला एक कला-साधक—विज्जी। अपने समाज के बहुआयामीय यथार्थ और अपने दर्शन व संस्कृति के नैरंतर्य और द्वन्द्वात्मकता की कितनी गहरी पकड़ है, विज्जी में; मैं सोचने के लिए बाध्य हुआ और यह भी कि यह उपलब्धि शायद लोक-कथाओं के माध्यम से ही हो सकती थी! विज्जी राजाओं की कहानियां नहीं लिखता, लोक-मानस को अपने पूरे रंगों में चित्रित करता है।

'उलझन' पढ़ने के बाद बहुत समय तक कुछ नहीं पढ़ा गया। मन-ही-मन लेखक को कोसता रहा। ऐसा कोई क्यों लिखे कि पाठक कुछ और पढ़ ही न सके? पर पढ़ना तो है ही। किताबें ले जो आये हैं। ००

एक अपूर्व अनुभूति

योगेश गुप्त

...पर किसान और मजदूर जीवन की कहानियों के मामले में हम दरिद्रता की सीमा-रेखा के आसपास ही हैं। इस दरिद्रता से मुक्ति दिलाने वाला प्रेमचंद जैसा कोई मसीहा-कथाकार समकालीन हिंदी-कथा-परिदृश्य में दूर-दूर तक फिलहाल तो दिखता नहीं है। वेबस मन को त्राण मिलता है, तो सिर्फ राजस्थानी के प्रेमचंद कहे जानेवाले तपस्वी कथाकार विजयदान देथा उर्फ बिज्जी की कहानियों में। बिज्जी की कथा-संपदा इतनी विपुल है कि वे कथा के कुबेर लगते हैं। लोक-कथा के रूप में बुनावट ऐसी कि बावरा मन बलिहार जाये, तेवर ऐसे कि जेटयुगीन आधुनिकता को शर्म आने लगे और प्रहार की क्षमता ऐसी कि अच्छी-से-अच्छी व्यंग्य-रचना भी धूल चाट जाये। बातें हों राजा-रानी, देवी-देवता और सेठ-साहूकारों की, पर कलई खुले आज के मंत्रियों, सांसदों, विधायकों और सचिवों की। पठनीयता का आकर्षण ऐसा कि लगने लगे कि कहानी नीरस हो ही नहीं सकती। भारतीय जन-जीवन में पैठ इतनी गहरी कि भारतीय दर्शन और संस्कृति हाथ जोड़ते नजर आयें। कुल मिलाकर आलम यह कि बिज्जी की कहानियों के हाथ में लोकतत्त्व की ऐसी लगाम है कि वे पाठकों को किसी भी दिशा में किसी भी गति से दौड़ा दें। समकालीन हिन्दी कहानियों की नीरसता के संदर्भ में बिज्जी की कहानियां मार्गदर्शक की भूमिका निभा सकती हैं।

राजस्थानी में विजयदान देथा की लगभग सात सौ कहानियां प्रकाशित हो चुकी हैं, जिन में से अनेक का हिन्दी में अनुवाद, नाट्य रूपान्तर और सफल मंचन हो चुका है। कुछ रचनाओं पर फिल्में भी बनी हैं। राजकमल प्रकाशन ने इनकी कहानियों के दो संग्रह 'दुविधा' तथा 'उलझन' प्रकाशित किये हैं। पहले खंड 'दुविधा' में जहां इक्कीस कहानियां हैं, वहीं दूसरे खंड में अठारह कहानियां तथा एक लघु उपन्यास। विजयदान देथा की ये कहानियां गंभीर और सामान्य पाठकों को कहीं गहरे तक प्रभावित कर जहां सस्ते फुटपाथी साहित्य से जंग कर सकने का माद्दा रखती हैं, वहां हिन्दी के नये-पुराने

बिज्जी की कहानियां

बलराम

कथाकारों को यह बताने में भी सफल होती हैं कि कहानी में गंभीरता और पठनीयता का गुण एक साथ कैसे लाया जा सकता है? अपनी बहुचर्चित कहानी 'उलझन' में वे लिखते हैं—'आदमी, आदमी होता है, कोई ताकतवर, कोई कमजोर। कोई अमीर, कोई गरीब। कोई चतुर, कोई अबूझ। सब माहौल और सोहबत का असर है।' बनजारिन की यह बात सुन कर कोई तीर जैसे बनजारे के कलेजे के पार हो गया। हैरानी से आंखें सिकोड़ कर वह कड़कती आवाज में बोला, 'माहौल! सोहबत! मेरी पत्नी होकर तू ऐसी बातें करती है? भला पुरखों का कहा कभी गलत हो सकता है! जैसा बीज, वैसा दरख्त, आक के आक ही लगेगा, आम नहीं। खानदानी तासीर को कैसे झुठलाया जा सकता है!'

इस तरह के विचारों के नहले पर दहले से पगी हुई विजयदान देथा की ये कहानियां पढ़ने के बाद पाठक कई दिनों तक उनके प्रभाव में यों बहता है कि कुछ और पढ़ने की इच्छा तक नहीं होती। कहानियों का एक-एक शब्द, कहावत और मुहावरा अपनी सार्थकता प्रमाणित करता है। हिंदी का पाठक इन कहानियों को पढ़ कर एकबारगी यह सोचने को बाध्य होता है कि समकालीन हिंदी कहानी के पास एक भी विजयदान देथा क्यों नहीं है? ○○

समकालीन कथा-साहित्य की जबरदस्त भीड़ में इस संग्रह से गुजरना वास्तव में एक दिलचस्प अनुभव है। कथाकार का अनुभव-संसार बहुत व्यापक है, लेकिन उस से बेहतर है उसकी साफगोई और कथा पेश करने का लहजा। लगता है जैसे कोई सहृदय या दिलचस्प वुजुर्ग बैठ कर हमें जीवन के मीठे, तिक्त, कटु और कड़वे अनुभवों के बीच विभिन्न पात्रों के माध्यम से लिये जा रहा हो और हम जिन्दगी के एकदम नये-नये रसीले एवं घिनौने दृश्यों से वाकिफ हो रहे हों। कहने का ऐसा सम्मोहन और जिज्ञासा-सूत्रों का ऐसा गुम्फन कि हर अनुभव अलग-अलग खण्डों में महसूस करते हुए भी समग्रता में एक अखण्ड प्रभाव छोड़ता है। इस संग्रह में छोटी-वड़ी अट्ठारह कहानियां हैं और एक उपन्यास भी।

विजयदान देथा एक ऐसे समर्थ रचनाकार का नाम है कि उसकी कहानियां नाटक भी हैं और वहुत सरलता से मंच पर अभिनेय वन जाती हैं। यह प्रश्न आसानी से उत्तर नहीं पा सकता कि इन कहानियों में ग्राम्य-जीवन को उकेरा गया है या महानगरों की आपा-धापी को? आदिम मनुष्य को पेश किया गया है या सामन्ती परिवेश को। इस में ठगों और हत्यारों की नृशंसता चित्रित है यानी कि अपराध जगत् का बोलवाला है अथवा राजा-रानी या परियों का आकर्षक संसार बसा है? दरअसल ये कहानियां हर जगह मनुष्य के मनोवैज्ञानिक, मनोविश्लेषणात्मक, ऐतिहासिक और आर्थिक पहलू से जुड़ी हुई हैं। कहानी में आये बिम्ब और प्रतीक, फन्तासी और घटनाचक्र राजनीतिक, सांस्कृतिक और अन्तर्द्वन्द्व के स्तर पर मनुष्य की सम्पूर्ण अस्मिता की तलाश करते जान पड़ते हैं। जीवन के उलझाव, महाभारत के सूत्र, अपनी हैसियत का अहसास, प्रदर्शन की होड़, आशाओं की मृगमरीचिका, नाहरगढ़ की आतंकमयी चेतावनी, आदमी की बदलती तस्वीरें, प्रलोभन की भयंकरता, गरीबी का गुनाह और आदमजाद के विभिन्न चेहरे—सब कुछ अपने मूल अर्थों में इस कहानी संग्रह में वेनकाब हुए हैं।

कहानियों में जीवन के व्यापक अनुभव अपनी गहन सूत्रात्मकता में इस तरह सशक्त

एक दिलचस्प अनुभव

डॉ० संतोष तिवारी

अभिव्यक्ति पा गये हैं कि उनकी अर्थवत्ता पूरे परिवेश को और मानव नियति को रूपायित करने में समर्थ है। जैसे—'हुकूमत के नाम का तिनका भी तलवार से अधिक कारगर होता है...चोरी-डाका जुर्म नहीं, जुर्म है गरीबी।...सत्ता के आगे सांच की ताकत कब तक ठहरती।...दरबारों में इन्सानों के बहाने सियार, कुत्ते और कव्वे बोलते हैं।...कुदरत की पोथी में सारा ज्ञान भरा पड़ा है।...पति का घर छोड़ने पर तो मौत भी साथ छोड़ देती है।...औरत को रोकने के लिए पैसों का नहीं, जांघों का जोर चाहिए।...सुनो, इस देश में लेखन से गुजारा नहीं होता, एक गठरी मुझे दे जाओ, तुम्हारी जीवनी लिख दूंगा...!'

जाहिर है कि कथाकार ने इन्सान का बारीक अध्ययन किया है और उसे इसके सारे कारनामों के बारे में यह कहते हुए जरा भी संकोच नहीं है कि 'सब जानवरों की मक्कारी, बुराइयां और दरिन्दगी इस अकेले इन्सान में है।' बावजूद इसके, कथाकार की नजर मनुष्य की महती सम्भावनाओं को पहचानती है और उस में एक कल्याण-कामना भीतर-ही-भीतर पनपती दिखाई देती है—'क्या समझ का सिरमौर यह इन्सान, अपने दो पैरों के बल पर हमेशा कुपथ पर ही चलेगा? अपने हाथों की गयी भूल सपने में भी सुधारी नहीं जा सकती?'

कहानियों का अनुवाद बहुत जानदार है—एकदम प्रवाहमयी ताजगी देने वाली शब्दावली, लेकिन कुछ बातें खटकती हैं—जैसे—पिरासचित [प्रायश्चित्त], परतख [प्रत्यक्ष], मुगति [मुक्ति], सरधा [श्रद्धा], सकति [शक्ति], सास्तर [शास्त्र] आदि अनेक शब्दों का प्रयोग। लगता है कि अनुवादक ने जान-बूझ कर लिखा हो किसी अंचल विशेष की शब्दावली को, फिर भी भाषा के सूत्रात्मक कसाव और प्रवाह में ये प्रयोग ठीक नहीं बैठते। इसी तरह अदेर, अदीठ, अचीते आदि शब्दों से अनुवादक को विशेष मोह है और इनके जरूरत से ज्यादा दुहराव भाषा की सामर्थ्य कम करते हैं।

कुल मिला कर कहानीकार के रचना-संसार को इतना वैविध्यपूर्ण, सारगर्भित, सम्मोहक और मौलिकतापूर्ण देख कर सहज प्रसन्नता होती है और जाहिर है कि इस संग्रह की हैसियत और अहमियत आज के कथा-साहित्य के बीच अपनी अलग पहचान बनाती प्रतीत होती है, क्योंकि इस में हर जगह मानवीय साक्षात्कार की सजग चेष्टा है। ००

राजस्थानी के प्रसिद्ध लेखक बिज्जी [विजयदान देथा] की कहानियों पर कुछ लिखना कितना कठिन कार्य है, इसका अन्दाज वही लगा सकता है जो इन कहानियों का सतत् प्रभावग्राही पाठक रहा हो। इसका अर्थ यह भी है कि इन कहानियों पर कई कोणों से कितना कुछ लिखा जा सकता है! बिज्जी की कहानियों से पहला परिचय सन् साठ के दशक के मध्य में कभी हुआ था। 'वातां री फुलवाड़ी' के तीन या चार भाग प्रकाशित हो चुके थे। यों लोक-कथाओं को सुनने या इन्हें लेखबद्ध रूप में पढ़ने के अवसर पहले भी आते रहे, किन्तु बिज्जी की लेखनी से उभरे इनके कथा-कहानी के रूप से साक्षात्कार का तो अनुभव ही काफी भिन्न था। एक शब्द में कहें तो—विलक्षण! तब से लेकर आज तक बिज्जी की लिखी शायद ही कोई कहानी पढ़ने से छूटी हो। बिज्जी भी अपनी कथा-यात्रा में अब तक लगभग हजार कथा-कहानियों का प्रणयन कर चुके हैं जो प्रमुखतः 'वातां री फुलवाड़ी' के तेरह भागों में प्रकाशित हो चुकी हैं। इसी से बिज्जी राजस्थानी भाषा व साहित्य की एक महती उपलब्धि भी बन गये हैं। फिर भी लगता है, बिज्जी का न तो एक व्यापक पाठक वर्ग बन पाया है और न विभिन्न दृष्टियों से इनकी कहानियों के अध्ययन की तरफ ही किसी का ध्यान गया है। पठन व अध्ययन की बौद्धिक रुझान का अभाव ही जहां एक समूचे समय की स्थिति बनती चली जाय तो उंगली भी किस पर उठायी जा सकती है?

बिज्जी की कहानियां स्वयं इतनी समर्थ हैं कि इन्हें किसी भी तरह से खेमाई-प्रचार, पक्ष-पोषण या बैसाखियों की कतई जरूरत नहीं हो सकती। तब भी, एक सवाल है कि इन कहानियों तक खोजी-पारखी नजर की अपेक्षित पहुंच क्यूं नहीं हो पायी, या कि यह पहुंच रूपांतरित माध्यम—जैसे फिल्म, नाटक, या अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, हिन्दी आदि में अनुवाद से ही क्यूं होती रही है? क्या राजस्थानी भाषा और साहित्य में पठन-पाठन या अध्ययन-शोध की अपनी कोई संचेतना ही विकसित नहीं हो पायी? क्या साहित्य के जरिये

बिज्जी का कथालोक

गोपाल भारद्वाज

इतिहास व समाज-विज्ञान विषयों को अन्तर्दृष्टिपूर्ण योगदान देने की यहां कोई प्रवृत्ति या पद्धति ही नहीं हो सकती ? हो सकता है कि ये प्रश्न, किसी अंश तक, अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य पर भी लागू हों ! विज्जी की कहानियां किसी नवप्रतिष्ठ यूरोपीय भाषा में होतीं तो इनकी गति ही सचमुच भिन्न होती। अमरीका में होतीं तो 'वेस्ट सेलिंग' के रिकार्ड वनातीं। विज्जी की कहानियों के संदर्भ में ऐसा भी मैं महसूस करता रहा हूं।

विज्जी की कहानियों के वारे में कई वातें दावे के साथ कही जा सकती हैं :

ये कहानियां राजस्थानी गद्य के उत्कृष्टतम रूप व स्तर की मिसाल हैं। राजस्थानी गद्य की समृद्धि व विपुल संभावनाएं इन से अभिव्यक्त होती हैं। स्थिति व अनुभव के कैसे ही भेद या वैविध्य हों, विज्जी की कलम से उभर कर ये प्रस्तुति व शैली के वेजोड़ उदाहरण वन जाते हैं। शब्द की शक्ति व संगति की भारतीय शास्त्रीय या मार्क्सवादी वैचारिकी को भी कोई विज्जी की शैली के सहारे समझे ! शब्दों का शैली-रचाव विज्जी में इतना सहज और कथ्य इतना सशक्त व समानुपातिक है कि पाठक शुरू से एक मंत्रमुग्धी प्रभाव में वंधा चलता है। इसी शिल्पसर्जना में, यथास्थान, लोकोक्ति प्रयोगों और सूक्त-रचनाओं के माध्यम से विज्जी की शैली में मणि-कांचन जड़ाव होता चलता है और काव्यात्मकता एवं चित्रात्मकता भी ग्रहण कर लेता है।

विज्जी की कहानियां सच्चे माने में 'कथा' या 'वात' हैं। घटना प्रधानता, रोचकता, प्रवाह तथा पाठक या श्रोता से तादात्म्य-स्थापन जैसे तत्त्वों का सम्यक् निर्वाह इन में मिलता है। कहने या लिखने में 'वातपोशी' की संप्रेषण-क्षमता के विना किसी भी घटना, अनुभव या कल्पना को कथा-कहानी का रूप दिया ही कैसे जा सकता है ? 'स्टोरी' या 'स्टोरी टेलिंग' आज पश्चिमी कथा-साहित्य का एक प्रमुख तत्त्व माना जाने लगा है और यही 'वेस्ट सेलिंग' की एक कसौटी भी वन गया है। आधुनिक जीवन की स्थूल यथार्थताओं व जटिलताओं को 'स्टोरी' का रूप देकर प्रस्तुत करने की नयी कथा-शैली पश्चिम में चल पड़ी है। यही स्टोरी या स्टोरी टेलिंग अपनी मौलिकता सहित जीवंत और प्रचुर रूप-राशि में विज्जी की कहानियों में विद्यमान है। कथ्य के विवरण व विम्व-विधान को पारदर्शी वनाने, भाषा को मुंहवोली रखने और संवादों को भावानुसार कोमल-कठोर सांचों में ढालने व संघर्ष को तार्किक तराश देने में विज्जी का कोई जोड़ नहीं। इसी से विज्जी की कहानियां साहित्य व संप्रेषण के स्तरों पर अनूठी कथा कृतियां वन गयी हैं।

विज्जी की कहानियां राजस्थान के पारंपरिक समाज का समग्र व प्रतिनिधि चित्र प्रस्तुत करती हैं। गांवों का परिवेश, जाति-वर्ण की समाज-संरचना और सामंती-व्यवस्था व संस्कार के विविध पक्षों से इनका ताना-वाना बुना गया है, सवर्णता, सामंती-सत्ता और पुरुष-प्रभुता से जुड़े हुए अहं, स्वार्थ, असमानता, शोषण और पाखण्ड तथा अन्य मानवीय गुण-दोषों या विकृतियों को उजागर करने में विज्जी सिद्धहस्त हैं। सभी तरह की स्थितियों व पात्रों का इन में समावेश है और जिजीविषा व द्वन्द्व की सहज, सटीक व संघर्षपूर्ण प्रस्तुति इन में हुई है। इसीलिए ये कहानियां साहित्य होने के साथ-साथ सामाजिकी भी हैं और इस रूप में इन की ऐतिहासिक एवं समाज-वैज्ञानिक अर्थवत्ता व महत्ता भी किसी तरह कम नहीं है।

अपने स्थूल या मूर्त्त रूप के मूल में विज्जी की कहानियां मानव-जीवन के मौलिक अस्तित्वीय एवं सनातन प्रश्नों से जुड़ी हुई हैं। ये मनुष्य को सच्ची-खरी मानुसी-प्रतिष्ठा देती हैं। अपनी अंतिम परिणति में ये कहानियां काल, स्थान और पात्रों की नामीय-पदीय पहचान से मुक्त होकर मनुष्य के वास्तविक प्रकृत-संस्कृत विकास और इसकी द्वन्द्वात्मकता व रागात्मकता की सृष्टि करती हैं। पर यह सृष्टि न तो अमूर्त्त होने की बौद्धिकता से बोझिल है और न आदर्श की मूल्य-सापेक्षता से परिसीमित। इसे विज्जी जन-जन की समझ की सतह पर रच सके हैं। और उसके अहसास व सांस-सांस के साथ सन्निष्ठ कर सके हैं। विज्जी की कहानियां मनुष्य की नियति से जुड़े हुए विपर्ययों के बीच संघर्ष-जनित समेक्य—सिंथेसिस—की स्थापना की कोशिश हैं। विज्जी कहीं भी इतर आधारों पर समझौते नहीं कराते, बल्कि टकराव व तर्क के हाथों परिस्थितियों व पात्रों का फैसला होने देते हैं। इसीलिए बिज्जी की कहानियों का मूल स्वर एक ही साथ त्रासद-कामद को आत्मसात् करने जैसा है, कीचड़ में कमल खिलने जैसा, और 'पोइटिक जस्टिस' जैसा भी। बिना संस्कारी हुए, बिना नारा लगाये और बिना वैचारिक पक्षधरता का पुट दिये मनुष्य का ऐसा मुखरण बिज्जी की प्रबुद्ध प्रतिभा व मानवी संवेदना का ही कमाल है। इसी स्तर पर विज्जी को तोलस्तोय, चेखोव व प्रेमचंद की परंपरा में तथा विज्जी की कहानियों को 'क्लासिक' की श्रेणी में रख कर देखा-परखा जा सकता है।

विज्जी की कहानियों की तरफ मार्क्सवादियों-समाजवादियों का ध्यान नहीं गया, अन्यथा वे शायद इन्हें जनवादी चेतना, वर्ग-संघर्ष व प्रगतिशीलता के प्रतिनिधि दस्तावेज मानने लग जाते, शहरियत से जुड़ी स्त्रियों का ध्यान नहीं गया, नहीं तो वे शायद इन्हें 'महिला मुक्ति आंदोलन' के घोषणा-पत्र के रूप में ग्रहण कर लेतीं, विश्व-विद्यालयी प्रोफेसरों का ध्यान नहीं गया, नहीं तो शायद उनका प्रोजेक्टी या पी.एच.डीयाई कारोबार काफ़ी अच्छा चल निकलता! हां, नेता, अफसर, सेठ, ठाकुर और पंडित-पाखंडियों का पता नहीं कि वे इन कहानियों में अपनी करतूतों व कारगुजारियों की कैसी छवियां पाते और इन पर रीझते या खीझते! खैर, इन सभी से परे, लोक या हर आम आदमी, बच्चे, जवान, बूढ़े के चेहरे पर इन कहानियों को पढ़-सुनकर चमक अवश्य आती है। ये इनका अनुरंजन मात्र नहीं करतीं, बल्कि इन्हें अन्दर तक झकझोर देती हैं। इन से वैचारिक छूत लग सकती है, चेतना-सान पर चढ़ कर तीखी धारें पा सकती है। इन से दिल-दिमाग को खुराक मिल सकती है—इंसान के रूप में बरकरारी, और बढ़त की भी। शायद प्रकृति, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी आदि भी यह रूहानी अहसास कर सकते हों कि विज्जी की कहानियों में उनकी मौजूदगी मनुष्य को उसकी असली व पूरी-पूरी पहचान कराने का एक माध्यम भी है। विज्जी की कहानियों को पढ़ कर लगता है कि लोक परंपरा को पुरातन-अधुनातन, दकियानूसी-प्रगतिशील, सार्थक-निरर्थक जैसी विभाजक रेखाएं खींच कर समझना दुर्बोध ही नहीं, किसी रूढ़ धारणा का अंधानुकरण भी है। पर, लगता है, साहित्य से अब ऐसा सरोकार ही कौन रख रहा है कि इन प्रश्नों पर सर खपाये? और सरोकार भी है तो औपचारिक, साहित्येतर वाद-विवादी या कारोबारी ही अधिक। यही चलन में है। अब साहित्य और साहित्यकार उतने नहीं चलते जितने चलाने वालों के इन

पर मंच-प्रपंच या समारोही धंधे चलते हैं। तुलसी, सूर, प्रेमचंद आदि भी अब जयंतियों... शतियों में सिमट कर ही तो रह गये हैं।

कला फिल्मों के निर्देशक मणि कौल ने विज्जी की कुछ कहानियां पढ़ कर लिखा—'सच, तुम तो छुपे हुए ही ठीक हो। न जाने क्यों आज लगा कि तुम्हारी कहानियां शहरी जानवरों तक पहुंच गयीं तो वे कुत्तों की तरह टूट पड़ेंगे। गिद्ध हैं—नोच खायेंगे। तुम्हारी नम्रता है कि तुमने अपने रत्नों को गांव की झीनी धूल में ढक रखा है। धूल भी नजर आती है, रत्न भी।' यह मणि की सदाशयता है, आत्मिक लगाव व मासूमियत का एक्सप्रेशन है। झीनी धूल के परतीले रत्न भी मणि को खूब दिखे। पर विज्जी मणि को छुपे हुए ही ठीक क्यूं लगे, और शहरी कुत्तों-गिद्धों से वे विज्जी की कहानियों को क्यूं बचाना चाहते हैं? ऐसी किसी भी तजवीज को मैं ठीक नहीं समझता जो विज्जी की कहानियों को किसी रुचि-विशेष के एकाधिकार का विषय या अजायबघर की वस्तु बना देना चाहे। उलटा, मैं तो यह भी चाहता हूं कि भले ही लोग इन कहानियों पर टूट पड़ें और इन्हें नोच खायें! काश, ऐसा कोई दिन भी आये तो!

यहीं एक और बात खयाल में आती है। इसे स्फूर्त-सृष्टि कहूं या ऑब्सेशन, पर, नारी विज्जी की कहानियों की एक खासियत है। नारी की विवशता और स्वायत्तता के ओर-छोर के बीच की नाना छवियों को विज्जी ने अपनी कहानियों में उभारा है। इन में सेक्स है...भरपूर...पर महज सेक्स नहीं, बल्कि इस से जुड़े-उपजे वैचारिक स्थायी भाव व संचेतना से साक्षात्कार भी हैं। तब भी, सदाचार का तावीज बांध कर जीने वालों की भी कमी नहीं है और, पता नहीं, इन कहानियों को पढ़ कर वे किस तरह की प्राइवेट या पब्लिक प्रतिक्रिया करेंगे?

एक साहित्यकर्मी प्रतिक्रिया ऐसी भी है जो लोक-कथाओं को 'घर की मुर्गी' जैसी मान कर विज्जी की साहित्यिक स्थिति को समझने के लिए अपने आपको तैयार नहीं कर पायी है। व्यक्तिगत आग्रह-दुराग्रह सहित, यह बहस का विषय हो सकता है कि लोक-कथाओं के सृजनीय पुनर्लेखन की साहित्यिकता का निर्धारण कैसे हो और इन में कथा व लेखक की स्वतंत्र एवं तुलनीय महत्ता को कैसे समझा जाये? यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि सृजन संप्रेषण की प्रतिभा के बिना कोई भी ऐसी कथा अपनी प्रस्तुति एवं अपना प्रभाव ग्रहण नहीं कर सकती। इसी कसौटी पर विज्जी की साहित्यिक परख होनी चाहिए। यहां यह भी नहीं भूल जाना चाहिए कि मौखिक लोक परंपरा से ही साहित्य की कथा-कहानी बनने की रचना-प्रक्रिया एक शास्त्रीय पद्धति रही है। हिन्दू पुराण व महाकाव्य और क्रिश्चियन ओल्ड व न्यू टेस्टामेण्ट [बाईबल] भी अपने मूल रूप में लोक परंपरा की कथाएं पुरा-कथाएं ही थीं। ये पुराण, महाकाव्य या बाईबल बन सकीं तो इसलिए कि प्रखर प्रतिभाओं की लेखनी से उनका संस्कारण-सृजन हो सका था। प्रश्न है कि कथा की उपलब्धि-मात्र ही क्या इसे साहित्यिक कृति बना देने की गारण्टी हो सकती है? 'कोई कवि बन जाये सहज संभाव्य है'—क्या सचमुच संभव है? कथाकार की दृष्टि व सृष्टि के महत्त्व का क्या न्यूनांकन किया जा सकता है? इस बिन्दु पर फिलहाल इतना ही।

राजस्थान व राजस्थानी भाषा साहित्य वालों के लिए बिज्जी भले ही किसी-न-किसी अंश तक 'घर का जोगी' ही रह गये हों, किन्तु बाहर जिन हिन्दी भाषियों, अन्य भारतीय भाषा-भाषियों, विदेशी भाषा-भाषियों और रंग कर्म व मीडिया वालों की पहुंच बिज्जी के कथा-लोक तक हुई है, वे तो सचमुच 'टूट पड़ने' की-सी स्थिति में हैं और अभिभूत होने की हद तक इस से प्रभावित हैं। बिज्जी की कहानियों की पकड़ ही कुछ ऐसी है कि इन्हें ज्यादा-से-ज्यादा और बार-बार पढ़ने की चाह बनी रहती है तथा विविध भाषाओं व विधाओं में अनुसृजनकारी प्रतिभाएं भी सहज ही इनसे अभिप्रेरित हो जाती हैं। जो भी हो, बिज्जी के कथा-लेखन एवं इनकी 'बातां री फुलवाड़ी' की कहानियों का आस्वाद जिन्हें सुलभ नहीं वे भी इन्हीं में से संजोये कुछ फूलों के अनुकृतित्व मात्र से ही परिपूर्ण रसगंध पाने से नहीं चूक रहे हैं और बिज्जी की कथा वाटिका की एक झलक भी अवश्य प्राप्त कर रहे हैं। समर्थ सृजन के लिए 'स्थान' व समय की सीमाएं टूटने की प्रक्रिया कुछ ऐसी ही तो होती है ! ००

विजयदान देथा का नाम हिन्दी में अब अपरिचित नहीं है। बल्कि प्रायः उन्हें हिन्दी का न मानना मुश्किल लगता है। वैसे वे राजस्थानी के कहानीकार हैं और उन्होंने जितनी कहानियां लिखी हैं [सात सौ से ज्यादा ही] उतनी शायद ही किसी अन्य भारतीय कहानीकार ने लिखी हों।

हिन्दी में उनके दो कहानी-संग्रह उपलब्ध हैं 'दुविधा' और 'उलझन'। 'उलझन' राजकमल प्रकाशन ने पिछले साल प्रकाशित की है। जिस में अठारह कहानियां तथा एक छोटा उपन्यास है। एक नजर में ये कहानियां लोक-कथाओं का भाषाई रूपान्तर लगती हैं जैसे देथा ने रामनरेश त्रिपाठी के लोक गीतों के संग्रह की तरह लोक-कथाओं का संग्रह किया हो। लेकिन ठीक यहीं ये कहानियां चकमा देती हैं और 'उलझन' पैदा करती हैं। देथा यह बताना भी नहीं चाहते कि वे कहानियां लिख रहे हैं। वे तो जो कुछ मौखिक, वाचिक और निजंधरी है, उसे लिपिवद्ध कर रहे हैं—यथावत तथा उसी भाषा में।

लेकिन क्या देथा केवल यही करना चाहते हैं और ये कहानियां क्या महज यही तथा इतनी ही हैं? क्योंकि देथा का 'लेखक' बिल्कुल गायब रहता है और केवल 'संग्रहकर्ता' सामने होता है, एक 'ऑडियो विजुअल' यंत्र के साथ—सब कुछ अंकित और चित्रित करता हुआ।

मेरी समझ में यह क्षमता हिन्दी में या किसी भी अन्य भारतीय भाषा में केवल देथा के पास है या एक बहुत बड़े पैमाने पर बोर्खेस ने इसे उपलब्ध किया है। दरअसल यह मनुष्य के मस्तिष्क का बहुत बड़ा चमत्कार है, उसकी कार्यप्रणाली की मौलिक विशेषता। रचनाकार को केवल इसे समझना तथा उपयोग में लाना होता है। कमोबेश हर रचनाकार यही करता भी है। हर देखे हुए, सुने हुए, यहां तक कि लिखे हुए को भी दुबारा लिखता है और बन जाती है 'रचना'। क्योंकि हम किसी भी आख्यान को दुबारा हू-ब-हू ठीक वैसा ही प्रस्तुत नहीं कर सकते। यह मानव-मस्तिष्क की बुनियादी संरचना

सब-कुछ नया और अपूर्व

विजयमोहन सिंह

तथा कार्यप्रणाली के विरुद्ध है।

देथा इसे जानते हैं और यही करते हैं। वे सब कुछ यथावत् रख देते हैं और उस में अपने-आप नयी अर्थ-छवियां, नये संकेत, नयी व्याख्याएं उभरने लगती हैं। चूंकि यहां लेखकीय दबाव लगभग शून्य होता है, इसलिए यह सब बहुआयामिता लिये हुए ऐसा विराट रूप धारण कर लेता है कि आप बार-बार उन से नये अर्थ तथा नये संकेतसूत्र प्राप्त करते रहते हैं। क्या यह चमत्कार नहीं है कि जहां कुछ भी नया नहीं है, वहीं सब कुछ 'नया' तथा 'अपूर्व' प्राप्त हो जाता है?

देथा की कहानियों को लेकर यहां इस रचनात्मक चमत्कार को समझाने का अवकाश नहीं है। लेकिन 'उलझन' कहानी से ही भाषा का एक उदाहरण देकर बताया जा सकता है कि कैसे कहानी की भाषा ही चुपके से मध्ययुग से आधुनिक युग के अत्यंत समृद्ध गद्य में ढल जाती है। नायिका 'बनजारिन' की मन:स्थिति से एकात्मक होकर प्रकृति उसके व्यक्तित्व की लय बन जाती है। 'धीरे-धीरे अंधेरा होने लगा। उस सुनसान जंगल का एक-एक दरख्त गोया अदीठ अंजलि से समूचा उजाला पी रहा हो। और हरेक दरख्त के लिए जैसे अलग-अलग रात उतरी हो।...सहसा आकाश की कोख फाड़कर गुलाल का एक पिण्ड बाहर दिखा।...किसी पंछी की तेज कुरलाट गूंज उठी...!'

यह भाषा जितनी भिन्न है, उतनी ही अटूट भी, क्योंकि यह कहानी के लोक-कथात्मक परिवेश में पैवंद नहीं लगाती। बल्कि उसी को मथकर उत्पन्न हुई है, पूरी कहानी में अर्थान्तरण उपस्थित करती हुई। विजयदान देथा की कहानियां हमेशा यह कर पाती हैं। अपनी संपूर्णता में इस से भी कुछ बहुत ज्यादा। मध्ययुग के अंधेरे जंगलों, ठगों-लुटेरों, अंधविश्वासों, रूढ़ियों, स्त्री-पुरुष, राजा-रिआया के संबंधों, धन और यौन की लिप्सा से युक्त प्राणियों—इन सब के बीच से ये कहानियां बिना बताये और बिना कुछ जाहिर किये आधुनिक भावबोध के उन सभी स्तरों का उद्‌घाटन कर जाती हैं, जिन के किसी एक पहलू का स्पर्श प्राप्त करने के लिए भी उनके आधुनिकतावादी रचनाकारों को न जाने कितने 'द्रविड़ प्राणायाम' करने पड़ते हैं। वैसे भी थोड़ा गौर करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि देथा को आधुनिक कला प्रवृत्तियों, विचारधाराओं की जैसी सघन जानकारी है और उनकी अभिव्यक्ति के वे सारे कौशल हासिल हैं, जो किसी नये, सक्षम तथा चौकन्ने रचनाकार को भी शायद ही हों। ००

'बादल बरसात और चांदनी की तरह कहानियां भी कभी पुरानी नहीं होतीं। अनेकों बरस पुरानी होते हुए भी नित नयी हैं।' [उलझन, पृ. ७०]। लोक-कथा की कालातीत निरन्तरता मौखिक और आधुनिक यांत्रिक सभ्यता के फलस्वरूप विकसित पाठकीय परम्परा के बीच की खाई को समझने के लिए पूरी जटिल प्रक्रिया है। साहित्य के दैनिक अखबार की खबरों की तरह बासी होते समय में यह समझ कई तरीके के खतरों से आगाह करती है, साथ ही अनेक ऐसे प्रश्न उठाती है, जिन से जूझे बिना निस्तार नहीं और यों तो 'सबते भले हैं मूढ़...।' सभ्यता के विकास की विभिन्न सरणियों से गुजरते हुए मानव समूहों ने सृजनात्मक कल्पना द्वारा जिन कथाओं-गीतों को रचा, वे परम्परा के प्रवाह में विभिन्न रूप ग्रहण करते रहे, अपनी मूल भावनाओं और कल्पनाओं को सुरक्षित रखते हुए। प्रस्तुतियों और कथन की शैलियों के अनुरूप आकार ग्रहण की हुई ये कथाएं इसी रूप में परम्परा से जुड़ी रहीं और मौलिक भी बनी रहीं। सृष्टि के विकास और उसके रहस्यों के बारे में मानव की अद्‌भुत कल्पनाओं से सम्पृक्त ये कहानियां किसी देश और काल-विशेष की धरोहर न रहकर किस तरह रूप बदलती रही हैं, यह जानना कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हो सकता है। लोक-कथाओं की यही कालातीत निरन्तरता विश्वस्तर पर मानव-समाज और सभ्यता के विकास के बीच अन्तर्निहित समानता और विभिन्नता के सूत्र जोड़े हुए है, जो विचित्र ऐतिहासिक परिणामों तक ही नहीं पहुंचाते, मानवीय संरचना को नया अर्थ देते हैं। मिथकीय लोक की ये कथाएं मानव सभ्यता के अन्तः-बाह्य विकास की रूपरेखा के साथ समाज में व्यवस्था, तंत्र और नैतिकता की भावना के विकास का खाका भी पेश करती हैं। इनकी प्रासंगिकता और जीवन्तता का यह मूल कारण है। इसीलिए शिल्प और तकनीक की दृष्टि से वर्तमान का विकसित कथा-साहित्य चाहे जितना आगे हो, लोक-कथाओं के असाधारण महत्त्व को किसी भी दृष्टि से नकारा नहीं जा सकता। ००

जीवंत लोकानुभव का कलात्मक संस्पर्श

मूलचंद गौतम

डाइनोसौर की तरह विलुप्त होती लोक-कथाओं के अनाम समुद्र में से विजयदान देथा द्वारा 'वातां री फुलवाड़ी' के चौदह खण्डों में संकलित राजस्थानी लोक-कथाओं से सगृहीत, सम्पादित और अनुवादित—हिन्दी में चार खण्डों में प्रकाशन की योजना में 'दुविधा और अन्य कहानियां' तथा 'उलझन' खण्ड की कहानियां, इनकी जीवन्त लोकानुभव की शक्ति के साथ देथाजी की कलात्मक क्षमता को पूरी तरह सामने लाती हैं। अन्य भारतीय भाषाओं की लोक-कथाओं की तुलना में इनकी समानता, विभिन्नता का अध्ययन बेहद दिलचस्प होगा। घुमन्तू बनजारों के आत्मतुष्ट, स्वाभिमान और सत्य के लिए समर्पित जीवन की प्रारंभिक सामाजिक स्थिति से लेकर रजवाड़ों, भाटों, कारिन्दों, सैनिकों, व्यापारियों, धनवानों, बारहठों और दरबारी मुसाहबों के वैविध्यपूर्ण मध्ययुगीन सामन्ती जीवन की संस्कृतियों और विकृतियों को समग्र रूप से प्रस्तुत करने वाली ये कथाएं, वर्त्तमान व्यवस्था और तंत्र में मौजूद परिवर्तित तत्त्वों के सामने भी वही प्रश्न खड़े करती हैं, जिन्हें पहले सामूहिक-सार्वजनिक रूप में श्रोताओं के बीच उठाती थीं। नीति-कथाओं वाले इस सीधे संवादी कथारूप में श्रोता की सहानुभूति और चुनाव की प्राथमिकता का जोखिम कम-से-कम इधर या उधर होने के निर्णय के रूप में जरूर उभरता था। 'डॉन क्विग्जोट' की तरह ये कथाएं मध्ययुगीन सामन्ती मान-मूल्यों, धर्म, न्याय, ईश्वर, सत्य, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में उत्पन्न विकृतियों, आडम्बरों पर पूरे तीखेपन के साथ चोट करती हैं। रनिवासों में चलने वाले वासना के व्यापारों, जी-हजूरी के माहौल, सत्ता के व्यक्ति की चेतना पर पड़ने वाले दबावों के प्रभाव के परिणामों का इतना खुलासा करने वाली ये कथाएं, केवल मनोरंजन का माध्यम होती थीं, ऐसा मानना इन में निहित प्रगतिशील सामाजिक-राजनीतिक तत्त्वों, अभिप्रायों की जान-बूझकर उपेक्षा करना है। धर्म, नैतिकता, स्वार्थ, ईर्ष्या, अहंकार, धन और सत्ता के अवांछित हस्तक्षेप के कारण व्यक्ति के अस्तित्व पर कई तरह के संकट आये, जिनकी वजह से अक्सर ताकतवर की मनमानी को बल मिला। इन कहानियों में विकास की यह प्रक्रिया अपनी पूरी जटिलता में अभिव्यक्त हुई है। 'किसी समय की गोद में एक सुखी व संतोषी गांव बसा हुआ था। अपने-अपने घर और अपने-अपने दरवाजे होते हुए भी गांव की चौपाल एक थी। सभी घरों के बुजुर्ग और नौजवान ब्यालू से निबटते ही अलाव के चारों तरफ बैठकर घरेलू बातें करते थे। पुरानी बातों के झपाटे उड़ते थे। हंसने की बात सुनकर हंसते थे। दुख की बात सुन कर आहें भरते थे। किसी का भी मुंह झूठ व छल-कपट की वाणी सीखा हुआ नहीं था। सच्ची बात कहते थे और सच्ची बात सुनते थे। घर-घर चूल्हे में मन्द-मन्द आंच तो जलती थी, मगर किसी भी कोने में आग लगी हुई नहीं थी।' [दुविधा, पृ. १७८] यही हालत क्रमशः बदतर होती गयी 'उस सुखी और सन्तोषी गांव की जमी हुई चौपाल उठ गयी। घर-घर आग की लपटें लपलपाने लगीं। भगवान जाने, वह आग बुझेगी कि नहीं। [वही, पृ. १८४] इसी फर्क के बीच की कशमकश का साक्ष्य हैं—ये लोक-कथाएं और इसी दरार की दीवारों की फटती चिन्ता से जन्म लेती हैं—खुद विजयदान देथा की कहानियां। यही परम्परा और नवीनता का 'टर्निंग प्वाइंट' या मिलन-बिन्दु है, जहां प्रवाह की निरन्तरता बनी रहती है। इस लिहाज से लोक-कथाओं और देथाजी की कहानियों का

शिल्प-वैभिन्न्य उन्हें जोड़ कर भी अलग करता है। देथाजी के मौलिक कथाकार और कलाकार के कलात्मक संस्पर्श से लोक-कथाओं की इस मूल्यवान थाती का महत्त्व बढ़ा है, कोरे एकेडेमिक दृष्टिकोण से संयोजन के फलस्वरूप ये जीवन्त और रोचक कथाएं वेजान ही हो जातीं, जो इनके साथ अन्याय होता।

जीवन की व्यापकता और वैविध्य के अनेक पहलुओं को समेटे ये लोक-कथाएं थोड़े फेर-वदल के साथ प्रायः सुनी हुई हैं और प्रचलित हैं। यही वजह है कि इन्हें किन्हीं कृत्रिम सोचों में फिट करके नहीं देखा जाना चाहिए। इस दुनिया में केवल मनुष्य न होकर पशु-पक्षी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रों तक का व्यापक संसार है। यहां रैनादे सारी दुनिया का ध्यान रखने वाले अपने प्रियतम सूर्य को उलाहना देकर परीक्षा ले सकती है। 'अहेरी' की भोली हिरनी की वचनवद्धता और हिरन और वच्चों द्वारा उसके साथ ही प्राण त्याग देने की निश्छलता का सत्य, अपने मारने वाले की ताकत को नैतिक रूप से पंगु वना देते हैं। 'पंचतन्त्र' तथा इसी तरह की अन्य कथाओं के अनुरूप यहां कुत्ते, हंस, कौवे, सियार इत्यादि जानवरों को प्रवृत्तियों के प्रतीक रूप में इस्तेमाल किया गया है, जिस से इन कथाओं का अर्थ वहुत गंभीर हो गया है। 'सावचेती' के सियार-सियारनी की शेखी और सांकेतिक प्रेम-कथा हो या 'नाहरगढ़' के सेठ द्वारा चोरी हो जाने के कारण निकाले गये कुत्ते, नाहर की निरंकुश चुनौतीहीन राज्य की महत्त्वाकांक्षा, किसी तरह भी मानव जीवन में घटित घटनाओं से अलग नहीं हैं। 'एकच्छत्र राज्य की वदौलत जरूरी तौर पर पैदा होने वाली' खामियों के फलस्वरूप विगड़ती घरेलू हालत से वचने के लिए काल्पनिक शत्रु से होशियार रहने की हिदायतें मौजूदा राजनीति की तिकड़में हैं। इन सब चालों को तर्क से निरस्त करने वाले हेलिया और उसके साथियों की हत्या की साजिश, उन पर रैयत को भड़काने और गुमराह करने के आरोप—विश्व राजनीति में दिन-प्रतिदिन होने वाली घटनाएं हैं। सत्ता और शक्तिशाली वर्ग के साथ जिस तरह चापलूस दरवारी वर्ग पैदा होकर ईमानदार-स्वाभिमानी, सत्यनिष्ठ व्यक्तियों का जीना हराम कर देता है, यह सामन्ती और पूंजीवादी शासनों की वास्तविक अनिवार्यता है। 'दूजौ कवीर', 'अनमोल खजाना', 'दवदवा', 'वेदाग चिकनाहट', 'फितरती चोर' कहानियां शासक-वर्ग और मुसाहवों की गलतफहमी के परिणामों और प्रभावों को पूरी तफसील में उभारती हैं। स्वाभिमानी कलाकार कवीर द्वारा गांव के ठाकुर या राजा के सामने न झुकने और अपनी कला को विक्रय की वस्तु न वनाने की जिद का परिणाम, कला के विनाश में देखने को मिलता है। अपने व्यक्तित्व और कला से राजकुमारी को आकर्षित करने की सामर्थ्य रखने वाले इस कलाकार द्वारा राजा को दिये गये निडर उत्तर, कला की प्रक्रिया ही नहीं उसके उद्देश्य और जीवन की वास्तविक आकांक्षा को प्रकट करते हैं। लोभ-लालच के कारण वात न वदलने वाले कलाकार द्वारा धर्म और पथों के वहाने मरे हुए अवतारों द्वारा जिन्दा इन्सानों पर शासन करने को घृणित वतलाना और उस समाज की कल्पना करना जव किसी इन्सान को यह हक नहीं होगा कि 'अपनी सत्ता के वल पर, तलवार की ताकत के जोर से, अपने आदेश के जरिये किसी की कारीगरी के टुकड़े-टुकड़े करवा डाले' [दुविधा, पृ. ५२] आज भी प्रासंगिक है। दूसरों की दुनियावी नजरों में, पीड़ित-

दुखी जीवों की मदद करने वाला बेवकूफ गड़रिया अपनी प्रकृति-प्रदत्त मस्ती और ईमानदारी से राजा को प्रभावित करता है। फलस्वरूप राजा द्वारा राज्यभार, गुप्त खजाना सौंप दिये जाने पर पुराने हरामखोर दरबारियों की चुगली और बेईमानी की शंका के कारण उसे मोहभंग की नियति से गुजरना पड़ता है। यह विडम्बनापूर्ण स्थिति किसी तरह भी अपनी प्रतिज्ञाओं को भंग न करके हर लालच को ठुकराने वाले सत्यवादी 'फितरती चोर' की हत्या से कम नहीं है। यह कहानी गुरु के आडम्बर और शिष्य चोर की खरी निष्ठा की खाई और परिणामों के द्वारा बहुत सही तथ्य पर उंगली रखती है कि 'चोरी-डाका जुर्म नहीं, जुर्म है गरीबी। गरीबी सबसे बड़ा गुनाह है'। [उलझन, पृ. ८६] राजदरबारों में चापलूसी और जी-हजूरी की हास्यास्पद चरम सीमा को आज भी राजनीति में ज्यों-का-त्यों देखा जा सकता है। 'दबदबा' और 'बेदाग चिकनाहट' कहानियों के काजी और राजा जीते-जागते यथार्थ थे और हैं। स्वार्थियों द्वारा काजी की कुतिया तक की प्रशंसा और मृत्यु के बाद दिया गया अभूतपूर्व सम्मान खुद काजी की मौत पर उसकी बेतरह उपेक्षा और नये काजी की चापलूसी में बदल जाता है। 'हुजूर के इच्छानुसार चलने को ही' अपना धर्म मानने वाले बारहठ जी की विडम्बना, उन्हें हर सही-गलत की संगति और औचित्य सिद्ध करने को विवश करती है। प्रश्न उठता है कि राजा या सत्ताप्राप्त व्यक्ति इस हद तक सनकी और मूर्ख क्यों हो उठते हैं कि उन में असहमति या आलोचना बर्दाश्त करने की सहनशीलता ही नहीं रह जाती। इसी अविवेक की निरंकुशता के चलते गलतियां भी न्याय मानकर बरदाश्त की जाती रहती हैं। इसी वजह से क्या हमारी मौजूदा व्यवस्था भी राजतंत्र के इन्हीं सामन्ती खयालों से ग्रस्त नहीं है? 'रियायत' का दण्डविधान क्या आज भी लागू नहीं है? यही अन्धेर नगरी, स्वतंत्रता के बाद देश में पनपे नवधनिक वर्ग की विशेषता है। 'अनेकों हिटलर' कहानी के ट्रेक्टर वाले पांच भाइयों द्वारा तेज साइकिल-सवार की जबरन हत्या यह कहती है कि 'दूसरे प्राणियों से अलग और ऊंचा समझने की गलतफहमी में इन्सान की बेहद बर्बादी हुई है और होती ही जा रही है। [दुविधा, पृ. ५१]

स्वार्थ, लालच, अकारण शत्रुता, ईर्ष्या, दूसरों के नुक्सान से मिली खुशी, झूठी मर्यादा और हर हालत में खुद को सही और श्रेष्ठ साबित करने की मनुष्य की कोशिश पूरे समाज को पतन के गर्त्त में ले जाती है। इन कथाओं में मानवीय अविवेक के अनेक पहलू और उसके दुष्परिणाम अभिव्यक्त हुए हैं। 'तृणभारत', 'अदीठ लिबास', 'आदमखोर', 'समय अनमोल', 'मूजी सूरमा', 'आखिरी कसर', 'दोहरी जिन्दगी', 'झूठी आस' कहानियां लालच, कंजूसी, अविवेक और ईर्ष्या को अपनी जान की कीमत देकर भी निभाने वाले लोगों के अन्दरूनी पशुत्व की प्रवृत्तियों की विभिन्नता को प्रकट करती हैं। गुड़ पर चिपके तिनके के पीछे लगी घटनाओं की वजह से आपस में मर-कटे बनजारे, व्यापारी और राजपूत क्रोध और अहं की करामात के उदाहरण बन जाते हैं। इसी तरह की कथाएं अपने परिणामों से यह संकेत करती हैं कि ना-कुछ-सी बात बढ़ जाने पर कितना घातक रूप ग्रहण कर लेती है। भले ही वह 'अदीठ लिबास' के राजा की, कपड़ों पर राजकोष का पैसा बहाने की सनक हो, या 'मूजी सूरमा' की किसी को कुछ न दे सकने की आत्म-

घाती कंजूसी, आखिर में उन्हें अपनी इस सनक की कितनी भी कीमत क्यों न चुकानी पड़े। 'इस्तीफा' के देवताओं की मूर्त्तियां लादने वाले गधे की स्वागत-सत्कार की गलतफहमी—पिटाई, ठोकरों और डाम से दूर होते देर नहीं लगती। 'झूठी आस' के ढोली की अतृप्त आकांक्षाओं से उपजे अविवेक का परिणाम भी उसे ठाकुर की पिटाई में भोगना पड़ता है, वाद में उसे यह ज्ञान भले हो जाय कि 'फकत मांगने से कभी कुछ नहीं मिलता'। [उलझन, पृ. ४८] 'आदमखोर' के पुजारी और 'समय अनमोल', कहानियों के भगत को देवी के मनचाहे वरदान और पारस की प्राप्ति से भी, अविवेक और मूर्खता-पूर्ण ईर्ष्या के कारण खाली हाथ रह जाना पड़ता है। राजा मिदास की तरह पुजारी सोने के महलों का अकेला भोक्ता वनकर रह जाता है और भगत आखिरी समय तक तय नहीं कर पाता कि पारस से कितना सोना वना ले कि उसकी आगामी पीढ़ियों का उद्धार हो जाये। 'सीमा' के सेठ और सेठानी दौलत और ज्ञान की चरम सीमा पर पहुंच कर भी कोरे रह जाते हैं। सेठानी आत्म हत्या करके और सेठ अपने घिनौने पुनर्जन्म की चिन्ता में वर्तमान सुख को दुःख में परिणत कर लेते हैं। 'आखिरी कसर' में भौंकने का सुख लेता हुआ ब्राह्मण युवक, कुत्ते के साथ प्रतिस्पर्द्धा में छोटे भाइयों को खाना पहुंचाना तक भूल जाता है। सुख-दुख की यह सापेक्षता और वास्तविकता 'अपनी-अपनी खुशवू' कहानी में भी बहुत ही सांकेतिक ढंग से अभिव्यक्त हुई है। राजा के वाग की खुशबू की अभ्यस्त मालन और मछलियों की खुशवू की अभ्यस्त मछुवन जहां एक दूसरी को बरदाश्त नहीं कर पातीं, वहां अपने परिवेश में उन से सुखी कोई नहीं। कई वार लालच के कारण आदमी वड़े-से-वड़ा जोखिम मोल लेने से भी नहीं घवराता। 'दोहरी जिन्दगी' कहानी के सेठ द्वारा लालच और मोटे दहेज की आकांक्षा में मित्र को अपनी लड़की के बदले लड़का बताकर उसकी लड़की से शादी तय कर देना और अन्त तक इस रहस्य पर जान-बूझकर पर्दा डाले रहना, दोनों लड़कियों के जीवन से खिलवाड़ में बदल जाता है। भूतों का प्रसंग इस में थोड़ा-सा सुखान्त भले ला देता हो, लालच के दुष्परिणाम से उन्हें अन्त तक नहीं वचा पाता। 'राजीनामा' का नायक भी अपने भीतर के ईमानदार निश्छल पक्ष को जबरदस्ती कुचल कर ही समृद्धि के शिखर पर पहुंच पाता है। व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व को यह कहानी पूरी सूक्ष्मता और कलात्मकता से प्रकट करती है।

समाज में प्रारंभिक वर्ग-विहीन स्थिति से व्यक्तिगत सम्पत्ति और उसके उत्तराधिकार को लेकर चलने वाले संघर्षों तक आते-आते मनुष्य मनुष्य के वीच एक खाई पैदा हो गयी थी, जो आज तक नहीं पाटी जा सकी है। 'समय-समय की हवा', 'खोजी', 'निन्यानवे का फेर', 'वढ़े सो पाये', 'निगरानी' कथाएं और 'आदमजाद' उपन्यास धन-सम्पत्ति के कारण होने वाले खून-खरावे, ठगी, झगड़े, हत्या, रिश्वत, भ्रष्टाचार, कंजूसी और आखिर में कुछ साथ न ले जा पाने की विवशता के सत्य को रेखांकित करते हैं। ये कथाएं अर्थ की निरर्थकता को ही सब कुछ न मानकर उसके सही उपयोग और व्यक्ति के परिश्रम की गरिमा पर जोर देती हैं। झटके का माल स्थायी न होकर अन्याय की रक्षा में संलग्न होकर झटके में ही जाता है। न्याय को अपने पक्ष में करने की कोशिशों से ही रिश्वत और भ्रष्टाचार का जन्म होता है, जिस में विजयश्री अधिक धनवान और ताकतवर को

ही मिलती है। इसीलिए 'खोजी' कहानी में समृद्ध परिवार का इकलौता ईमानदार युवक समाज में चोरी, न्याय और दण्ड के सामने प्रश्न चिह्न लगा जाता है, और आत्महत्या द्वारा अपने व्यक्तित्व की सार्थकता और बिना श्रम के जोड़े गये अटूट ऐश्वर्य की निरर्थकता साबित कर जाता है। 'आदमजाद' उपन्यास के ठग के करिश्मे, निर्दोष स्त्री की, उसका धन ऐंठ कर और पुत्र की हत्या, फिर पुत्र की घृणा और तथाकथित मां-बाप के नाक-कान काट लेने के दण्ड में बदल जाती है। अतृप्त महत्त्वाकांक्षाओं और झटके की सम्पत्ति को लेकर बनाया गया लुटेरों का गिरोह भी परस्पर अविश्वास के कारण एक-दूसरे की हत्या में बदल जाता है। मौजूदा राजनीति के शतरंजी कूटनीतिक दांव-पेच और कैसे भी सम्पत्ति हड़प लेने के दुश्चक्र जिस समाज का आधार बनाते हैं, उस में यह सब अनिवार्य बन जाता है और इनके बिना ईमानदार मनुष्य की नियति उपेक्षा, आत्महत्या या एकांत निर्वासन में है। इसीलिए ये कथाएं अपने भीतर से एक बेहतर समाज के लिए होने वाले संघर्ष से रहित नहीं हैं।

स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को वैवाहिक नियमों के कटघरे में बन्द कर देने पर भी समाज में धन और शक्ति के अनुरूप इनका समीकरण बदलता रहा है। पुरुष-प्रधान समाज में पुरुष और स्त्री के सम्बन्धों में दोहरी नैतिकता के मानदण्ड अक्सर बन्धन और उल्लंघन का नैतिक अधिकार देते रहे हैं। इन नियमों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि स्त्रियों के लिए ये जितने कठोर हैं, पुरुषों के लिए उतने ही उदार। इस असंतुलन और विषमीकरण के कारण पुरुष और स्त्री दोनों को ही मानसिक आघात सहना पड़ा है, जो कभी विवशता में और कभी विद्रोह में बदल गया है। इन में भी स्त्री को शासित, और शूद्र वर्ग में समझने के कारण उसे ज्यादा संकटों का सामना करना पड़ा है और सामाजिक नियमों के अंधे और लम्पट ठेकेदारों ने उसे जिस रूप में वेश्या बनने तक को मजबूर किया है, फिर इन ठेकेदारों में उसके पति, पिता, सास-ससुर भी क्यों न रहे हों। 'केंचुली', 'न्यारी-न्यारी मर्यादा', 'कागपंथ', 'दुविधा' और 'उलझन' कथाएं समाज में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के विविध रूपों, समस्याओं और जटिलताओं को लेकर व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों में उत्पन्न विकृतियों को सामने रखती हैं। लाछी गूजरी का पति गांव के ठाकुर और भोजा कनवारिये के डर की वजह से सब कुछ जानते हुए भी जीते जी मक्खी निगलने को मजबूर होता है। लाछी, ठाकुर और भोजा की कुदृष्टि का सामना करते हुए भी विभिन्न तरीकों से विवाहित पति के स्वाभिमान को उकसाने की कोशिश करती है, लेकिन बार-बार असफल रहती है। उसकी यह असफलता तब अनन्त विडम्बना में बदल जाती है, जब वह अपने निरीह पति को छोड़ने का जोखिम लेकर भी भोजा को अन्यत्र अनुरक्त देख लेती है। इस तरह के सम्बन्धों की दुविधा और संस्कारों की केंचुल में फंसी लाछी जिन तर्कों तक पहुंचती है कि 'ज्यों-त्यों करके जीना ही इन्सान का धर्म बन गया है। घर-गृहस्थी की गुजर-बसर से बड़ी कोई नैतिकता नहीं रह गयी है। इन्सान के लिए यही इतिहास का दूध है, यही ज्ञान का दही और यही धर्म का मक्खन! बाकी सभी छाछ और धोवन।' [दुविधा, पृ. ७२] वे इनकी विडम्बना को ही उजागर करते हैं। 'न्यारी-न्यारी मर्यादा' के राजा-रानी, राज-व्यास, पंडिताइन, मेहतरानी और उसकी

लड़की, बारहठ, ठकुरानी और हालिक व साईस के आपसी वैध-अवैध सम्बन्ध, विवाह की दिखावटी और खोखली नैतिकता की असलियत का पर्दा फाश करते हैं। 'लाजवंती' कहानी स्त्री के ऊपरी नाटकीय आदर्श और भीतरी आकांक्षा की मानसिकता के जटिल अन्तर्द्वन्द्व का खूबसूरत खाका है। औरत को दिन के उजाले में ज्यादा मुंह लगाने को बुरा मानने वाले बारहठ जी द्वारा मर्यादा के उल्लंघन के बदले दो पत्नियों की गला घोंटकर की गयी हत्या तथा औरत और हलुए की समानता की बातें उनकी ही नहीं समाज के प्रतिष्ठित कागपंथियों की करतूतों का नमूना बन जाती हैं। झूठी इज्जत के इन दीवानों का खोखला भरम तोड़ने के लिए ही रानी पुरुषों द्वारा निर्मित मर्यादा के नियमों को चुनौती देती है। भरे दरबार में रानी द्वारा राजा और बारहठ के अवैध, किन्तु पतित पुत्रों को शारीरिक सम्बन्धों के बदले सिंहासन पर बैठा दिया जाता है। हुकूमत के इस तरह के निरंकुश वासनापूर्ण रहस्यों को इस से बहुत गहरा आघात पहुंचता है।

अपने व्यापार, पूंजी और अहंकार के मुकाबले पत्नी को बेकार की निर्जीव वस्तु मानने वाले पुरुष द्वारा किसी तरह भी उसकी भावनाओं का आदर करने की जरूरत महसूस नहीं होती। ये कथाएं व्यवस्था के इन दोहरे मानदंडों की विकृति के परिणामों द्वारा एक समान नैतिकता की जरूरत पर जोर देती हैं। स्त्री की वफादारी, सेवा, प्रेम और त्याग के बदले मिलने वाली उपेक्षा क्रमशः उसे भावहीन जड़ता की ओर ले जाती है। 'कागपंथ' की निर्दोष सेठानी, 'दुविधा' के सेठ की बहू और 'उलझन' की बनजारी के समान 'दुनिया की तमाम औरतों की फकत एक ही रामायण है—मर्द के हाथों ठगा जाना और उस ठगाई का उम्र भर खमियाजा भुगतना।' [दुविधा, पृ. २४२] इन कथाओं में निर्दोष स्त्रियों की निश्छलता को हंस, भूत आदि कथा-रूढ़ियों द्वारा तर्कसिद्ध करके भले पेश किया गया हो, असलियत इस से अलग नहीं है। इन्सानों के बहाने कौवे की करतूतों वाले दूध के धुले लोगों के आरोपों की वजह से घर, माता-पिता, पति द्वारा ठुकराई हुई सेठानी न्याय के ठेकेदार राजा और उस के दीवान द्वारा वेश्या को बेच दी जाती है। लक्खू वेश्या का अनुभव सेठानी के जीवन के बिलकुल समान्तर है कि 'दुनिया के तमाम विद्वान, ऋषि-मुनि, अवतार, तीर्थंकर, साधु-सन्त वगैरह एक से बढ़कर एक कागपंथी हैं।' [दुविधा, पृ. २४३] इसीलिए वह सेठानी को बड़ी-से-बड़ी जिल्लत व घृणा बरदाश्त करने की खातिर तैयार कर लेती है। पंचों के अन्याय के आगे सभी कुछ कह कर विरोध प्रकट नहीं कर सकती, क्योंकि, 'औरतों की अपनी मरजी होती ही कहां है? मसान न पहुंचे तब तक रनिवास और रनिवास छूटने पर सीधी मसान।' [दुविधा, पृ. २७२] यहां तक कि बनजारी को मात्र इसी वजह से जंगल में गहनों और पत्नीत्व से हाथ धोना पड़ता है कि उसने पति की हां में हां क्यों नहीं मिलायी। लेकिन जिस वनमानुस को लेकर वह पूर्व पति से अपमानित हुई उसी सियारों में पले राजकुमार को इन्सान बनाकर भी बनजारी को फिर पिछली यातनाओं से गुजरने को मजबूर होना पड़ता है। राजा बनते ही पुराने वनमानुस की हविस इतनी बढ़ जाती है कि वह बनजारी के सारे प्रेम, सेवा को ठुकराने में क्षण भी नहीं लगाता। अनन्त विलास का सिलसिला उसे मात्र दया का पात्र बनाकर छोड़ जाता है। मातृत्व की आशा को लेकर बुने सपनों

की उलझन में भी वह कौन-सा समाधान खोज पाती है ?

ये कथाएं प्रायः किन्हीं बने-बनाये परिणामों पर न पहुंचकर कलात्मक दृष्टि से प्रवहमान यथार्थ को बहुत ही सांकेतिक अन्त पर छोड़ जाती हैं। बहुमत के बल पर चलने वाले युग में अल्पमत या एक व्यक्ति के शुद्ध अन्तःकरण का मूल्य स्थापित नहीं किया जा सकता, तब क्या भेड़चाल या कागपंथ को ही सच मान लिया जाय, इस पर प्रश्न चिह्न लगाना जरूरी है, चाहे यह किसी तरह भी हो। क्योंकि एकांगी और सीमित नजरिये को पूरे समाज पर थोपा नहीं जा सकता। कर्म और चिन्तन के बीच की दूरी जितनी बढ़ती जायेगी, मानव का खण्डित व्यक्तित्व या तो 'समझदार की मौत' की तरह मूढ़ होता जायेगा या 'आश्वासन' कहानी की तरह कोरा बातूनी और या 'दारू का करिश्मा' की तरह एक ही लाठी से सबको हांकने वाला। अपने समय और समाज ही नहीं भावी मनुष्य की शंकाओं और ज्वलंत प्रश्नों को समेटे होने के कारण ही लोक कथाएं लम्बे समय तक नवीन बनी रहेंगी, भले ही इनके भौतिक कलेवर में थोड़ा फेर बदल हो जाय। ००

हालांकि राजनीतिक और धार्मिक संकीर्णता तथा उन्माद के इस दौर में ऐसी छोटी पत्रिकाओं की जरूरत बढ़ गयी है जो इस माहौल से लड़ सकें, मगर छोटी पत्रिकाओं का आन्दोलन अब इतना कुंद पड़ गया है कि वह कोई आन्दोलन भी रह गया है, यह कहना कठिन है। अभी भी कई छोटी पत्रिकाएं निकल रही हैं और कुछ तो बरसों से अबाध निकल कर स्वयं अपना प्रतिमान बन गयी हैं, मगर अब उनके ज्यादातर सम्पादकों में वह नैतिक उत्साह, अच्छी चीजों के प्रति पक्षधरता और दृष्टि के प्रति वैसी दृढ़ता नहीं दिखाई देती, जो दस बरस पहले तक भी थी। अब ज्यादातर ऐसी पत्रिकाएं एक सुरक्षित लीक पर चल रही हैं और उनमें दृष्टि की स्पष्टता के अभाव में सर्वसमन्वयवाद दिखाई पड़ता है। ऐसे में छोटी कही जा सकने वाली मगर सरकार से बेहद सीमित स्वायत्तता प्राप्त साहित्यिक संस्थान से निकलने वाली पत्रिका में विजयदान देथा की कहानी 'प्रिय मृणाल' का उचित महत्त्व के साथ प्रकाशन एक सुखद आश्चर्य है। देथाजी की यह कहानी मध्यप्रदेश साहित्य परिषद की पत्रिका 'साक्षात्कार' के इकसठवें अंक में प्रकाशित हुई है।

विजयदान देथा की कहानीकार के रूप में हिन्दी में ख्याति एक दशक से ज्यादा पुरानी नहीं, हालांकि वह एक लम्बे अर्से से लेखन से जुड़े रहे हैं। उन्होंने मूलतः अपनी कहानियां राजस्थानी में लिखी हैं और हिन्दी में उनका पहला कहानी-संग्रह 'दुविधा' है। १९८२ में उनका दूसरा कहानी संग्रह 'उलझन' भी आ चुका है और तीसरा संग्रह 'असमंजस' प्रकाश्य है। राजस्थानी कथा-संग्रह 'बातां री फुलवाड़ी' के १४ खंडों में प्रकाशित कहानियों से चुन कर ये संग्रह तैयार किये गये हैं।

इन दो महत्त्वपूर्ण हिन्दी कहानी संग्रहों के बावजूद विजयदान देथा की चर्चा करते हुए कथा-आलोचकों को संकोच होता है। इसके कई कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि उन्होंने राजस्थानी में लिखने का 'दुस्साहस' किया है तो 'हिन्दीवाले' कैसे उन्हें रेणु,

कथा यह हमारे समय की

विष्णु नागर

अमरकांत, निर्मल वर्मा, भीष्म साहनी, ज्ञानरंजन की बिरादरी में रख कर देखें और पहचानें कि उनका कद इन से बड़ा है, बराबर है या छोटा है। फिर देथाजी की पहचान राजस्थानी लोक-कथाओं के संग्राहक के रूप में की गयी है, कहानीकार के रूप में नहीं, इसलिए संग्राहक को, 'कहानीकार' का दर्जा कैसे दें? जबकि वास्तविकता यह है कि देथाजी उस अर्थ में 'संग्राहक' भी नहीं हैं जिस रूप में अभी तक हम ऐसे लोगों को पहचानते आये हैं। उनके बारे में यह कहना अधिक सही होगा कि राजस्थानी लोक-कथा और जीवन उनकी कहानियों का प्रेरक तत्त्व रहा है और वह भी बहुत स्थूल अर्थ में नहीं। वह अपनी कहानियों के माध्यम से मनुष्य की कुछ मूलभूत वृत्तियों—ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, स्वाभिमान के बारे में अपनी 'दुविधा', 'उलझन', 'असमंजस' व्यक्त करते रहे हैं। जो उनका अपना मौलिक योगदान है। लेकिन इन तथ्यों की उपेक्षा करना कहानी की राजनीति के पूर्वनिर्धारित समीकरणों के लिए सुविधाजनक है, इसलिए देथाजी को देख कर अनदेखा करने की प्रवृत्ति आम है। फिर देथाजी कुछ मामलों में अभी भी 'ग्रामीण' हैं। उन में बौद्धिक और नैतिक सामर्थ्य है लेकिन उसके प्रदर्शन का अंदाजे-बयां नहीं। वे अपने गांव बोरुंदा से दिल्ली आते हैं, मगर जनसम्पर्क बढ़ाने नहीं, अपने मित्रों-प्रशंसकों-प्रेमियों से मिलने। उनके लिए व्यक्तिगत पसन्द-नापसन्द बहुत मतलब रखती है। इसलिए नगरीय कथाकारों के सामने उनकी क्या बिसात...!

देथाजी की उम्र, सर्जनात्मक काम के प्रति उनकी निष्ठा और व्याकुलता के आड़े नहीं आती। पिछले दिनों यह हिन्दी में एक पत्रिका 'रूंख' निकालने की बात कर रहे थे। अगर वह तमाम भव-बाधाओं के बावजूद उसे निकाल पाये [जिनसे निबटने की भरपूर सामर्थ्य उन में है] तो वह मानवीय ज्ञान की श्रेष्ठ उपलब्धियों में होगी।

ऊपर जिस निष्ठा और व्याकुलता की बात की गयी है, वह देथाजी की सारी कहानियों में अलग से दिखाई पड़ती है—खासकर उनकी 'प्रिय मृणाल' कहानी में। वह पूरे 'पैशन' के साथ लिखी गयी कहानी है और इसलिए वह बहुत स्मरणीय कहानी बन पड़ी है। शायद यह कहना ज्यादती न हो कि बरसों बाद हिन्दी में कोई इतनी अच्छी कहानी आयी है।

यह 'प्रिय मृणाल' कौन है? मृणाल, रवीन्द्रनाथ की हिन्दी में 'पत्नी का पत्र' नाम से प्रकाशित एक कहानी की पात्र है और वह क्या है, उसकी कहानी क्या है, इसका उल्लेख कहानीकार ने अपनी टिप्पणी में किया है। रवीन्द्रनाथ के इस चरित्र ने देथाजी को कितना मथा है, इसे कहानी में बार-बार आये उल्लेखों से जाना जा सकता है। बल्कि यह कहानी एक पत्र के रूप में, जो 'पत्नी का पत्र' की ही शैली है, 'मृणाल' को ही सम्बोधित है। जिस सम्मान और भावुकता के साथ देथाजी ने रवीन्द्रनाथ की इस कहानी का उल्लेख किया है, उसके बाद अगर आपने वह कहानी न पढ़ी हो, तो पढ़ने की व्याकुलता पैदा हो जाती है। सचमुच 'पत्नी का पत्र' रवीन्द्रनाथ की अद्भुत कहानियों में से है। स्त्री की व्यथा और व्याकुलता के बारे में ऐसी कहानी भारतीय लेखिकाओं ने भी शायद ही लिखी हो। वह स्त्री के प्रति पूजा या दया की कहानी नहीं है, वह व्यथा और उस से मुक्ति की ऐसी चुनौती भरी कहानी है, जिसके आगे कई आधुनिक कहानियां छूछी

लगती हैं। आजकल रवीन्द्रनाथ और शरत्‌चन्द्र के लेखन की वात करने का फैशन क्या इसलिए नहीं है कि स्त्री के वारे में उस 'विजन' को सहने की सामर्थ्य भी हम में नहीं है जो इनके पास था? यह रवीन्द्रनाथ की मृणाल ही कह सकती थी कि 'मैं रूपवती हूं, इस वात को भूलने में तुम्हें वहुत दिन लगे। लेकिन मुझ में वुद्धि भी है, यह वात तुम लोगों को पल-पल पर याद करनी पड़ी—मेरी इस वुद्धि से मां वड़ी चिंतित रहती थी। नारी के लिए यह तो एक वला ही है।' या 'अगर तुम लोगों की व्यवस्था यही है कि नारी को दुख पाना ही होगा तो फिर जहां तक हो, उसे अनादर में रहना ही ठीक है। आदर से दुख की व्यथा और वढ़ जाती है।' या 'वंगाल की वेटी वात-वात में मरना चाहती है।...हम लोगों के लिए मरना इतना आसान है कि मरते लज्जा आती है।' ऐसे अनेक उद्धरण इस कहानी में हैं लेकिन यह कहानी, उद्धरणों में नहीं है। यह कहानी तीन औरतों—मृणाल, वड़ी जेठानी और विन्दु की कहानी है। ये तीनों आन्तरिक सहानुभूति और प्रेम से जुड़ी हुई हैं और तीनों अपनी-अपनी व्यथा का हिस्सा पा रही हैं। लेकिन मृणाल अपनी वुद्धि के कारण इस व्यथा का जैसा और जितना प्रतिकार करती है वह देथाजी को उद्वेलित करता है।

वह सचमुच उसे एक जीवित व्यक्ति की तरह सम्वोधित करते हैं। उसे वहाना नहीं मानते। शायद इसीलिए यह अद्‌भुत कहानी लिखने का श्रेय रवीन्द्रनाथ को देने की वजाय वह कहते हैं: 'कितने अभागे और दिवालिये हैं, वे लोग, जिन्होंने तुम्हारी चिट्‌ठी नहीं वांची। मेरे ख्याल से तो उनका जीवन ही व्यर्थ हुआ।' हालांकि 'हम लोग', 'यह जो है जिन्दगी', 'खानदान' आदि के दूरदर्शनी युग में कौन इस चेतावनी को सुनने-समझने को तैयार है?

वहरहाल 'प्रिय मृणाल' कथा के पात्र की व्यथा ही इस वात से शुरू होती है कि वह डीलक्स वस में जयपुर की यात्रा करते हुए मृणाल के इस पत्र में एक वार फिर डुवकी लगाना चाहता है, तभी कंडक्टर का क्रुद्ध स्वर सुनाई पड़ता है: 'यह सूटकेस तुम्हारा है? कव से चिल्ला रहा हूं। वहरे हो क्या?' लेकिन मृणाल के पत्र के नशे में गर्क यह पात्र कभी व्यंग्य करके, कभी पढ़ने का वहाना करके, कभी उपेक्षा करके कंडक्टर की उत्तेजना का जवाव देता है। अंत में कंडक्टर 'ताण' पर से वह सूटकेस फेंक देता है। इसके वाद वह इस पात्र से, जो काफी-कुछ विजयदान देथा का ही प्रतिरूप दिखाई पड़ता है, वह उस से सीट भी छोड़ने को कहता है। कंडक्टर इसके लिए व्यंग्य और कटुता का सहारा लेता है। यात्री भी कंडक्टर का ही साथ देते हैं और ऐसी हंसी हंसते हैं जो 'न क्रूर, न हिंसक, न नृशंस और न घिनौनी है, ये ऐसी हंसी हंसते हैं जो केवल मनुष्य ही हंस सकता है। सांप या शैतान भी नहीं।' वहरहाल हमारा पात्र कई तरह के उद्वेलनों से आलोड़ित होता हुआ अपनी वात पर दृढ़ रहता है और 'जेव से टिकट के वदले मानो कलेजा निकाल कर' वताता है कि वह सही जगह पर वैठा है। पर 'सच्चाई मानने में जमीन-आसमान का फर्क है। वताने से सच्चाई किसे नजर आती है?' कंडक्टर मानता नहीं और हमारा पात्र 'मनुष्य होकर कुत्तों-सी लड़ाई', लड़ने को वाध्य नहीं होता क्योंकि 'वात वहुत छोटी है, वात वहुत वड़ी है।' फिर ड्राइवर कंडक्टर के व्यंग्यों, एक-दो यात्रियों की मनुहारों का

सिलसिला शुरू होता है और यह पात्र इतना उद्वेलित होता है कि उस से तो अच्छा था कि हमारी नवेली बस किसी भयंकर दुर्घटना में चूर-चूर हो जाती।' बहरहाल यह पात्र वह सीट खाली कर देता है, मगर दूसरी सीट पर न बैठ कर चुपचाप नीचे पड़े अपने सूटकेस पर बैठ जाता है। इसी तरह जयपुर आते-आते तक यह द्वंद्व चलता रहता है और यह तब और तीव्र हो जाता है जब दूदू से कीमती सूट पहने, अच्छी-खासी हैसियत का एक आदमी उसी सीट पर आकर बैठ जाता है।

पात्र सोचता है कि अब उसे भी जलील होना पड़ेगा मगर कंडक्टर उसके साथ अतिरिक्त शालीनता बरतता है। उस से न केवल कुछ नहीं कहता, वरन् खुद ड्राइवर के पास जाकर इंजन पर बैठ जाता है। इस से इस पात्र के अन्दर बढ़ते तनाव का अन्दाजा इन शब्दों से लगाया जा सकता है: 'गाड़ी तेजी से चल रही थी, फासले की पट्टियां भी एक के बाद एक बढ़ रही थीं, किन्तु मुझे ऐसी आशंका महसूस हो रही थी कि आज जयपुर आयेगा ही नहीं। समय और दूरी का अविच्छिन्न तालमेल मेरी जानकारी में शायद पहली बार ध्वस्त हुआ हो।' गाड़ी लेकिन जयपुर पहुंचती ही है। यह पात्र निश्चय करता है कि 'बस के अंदर कंडक्टर ने मनमानी की तो बाहर मैं मनमानी करूंगा। कुचले हुए सांप की तरह मेरा मन बार-बार मुझे डंस रहा था।'

यह पात्र राजस्थान परिवहन निगम के अध्यक्ष भवानीमल माथुर के घर पहुंचता है, जो इसकी कहानियों के प्रशंसक हैं और जो आज सुबह से ही उसकी कहानियां पढ़ रहे थे। पात्र अपनी सारी तकलीफ सुनाता है। भवानीमलजी उस कंडक्टर को फौरन अपने घर बुलवाने का आदेश देते हैं और उसके आने के बाद जो होता है वह इतना 'अविश्वसनीय' है कि 'यदि किसी दूसरे लेखक की रचना का ऐसा भोंडा अन्त पढ़ता तो फाड़ डालता उसे। मगर सच्चाई कागज या कपड़े की तरह फाड़ फेंकने की चीज नहीं है।' बेहतर है इस कहानी के अन्त की चर्चा इस टिप्पणी के साथ अधूरी छोड़ दी जाये।

यह कहानी रवीन्द्रनाथ को अनूठी श्रद्धांजलि है। मृणाल को सम्बोधित होकर यह कहानी एकालाप होने से भी बच गयी है, जो इस कहानी की बहुत बड़ी असफलता होती। इस में जैसा आवेग है, वह तो हिन्दी की दुनिया में लगभग दुर्लभ ही है। इस कहानी का पात्र अन्ततः उस कंडक्टर के साथ जाकर खड़ा होता है जिस से भारी द्वंद्व चल रहा था। लेकिन यह कहानी इस पात्र का क्रोध शांत होने और कंडक्टर के दया की भीख मांगने की कहानी नहीं है जैसा कि इसे पढ़े बिना इसका अन्त नजर आता दिखाई देता है। खुद कथाकार कहता है: 'मृणाल, यदि मैं इस आख्यान के अन्त का चश्मदीद गवाह नहीं होता, तो किसी भी कीमत पर ऐसी फूहड़ कल्पना करके यह कहानी लिखने का दुष्कर्म नहीं करता।'

यह कहानी दरअसल 'मृणाल' के नाम एक अपील है—एक मार्मिक निवेदन—एक गुफ्तगू भी। जब भी इस पात्र पर चोट पड़ती है वह तुरन्त मृणाल को संबोधित हो जाता है। 'सच कहूं मृणाल, गुस्से को मैं पी जरूर गया था, किन्तु उसे मिटा नहीं पाया...।' 'सान्त्वना के लिए तुम्हें सूचित करना जरूरी समझता हूं।.. वे तुम्हारी आंखें ही थीं, जो बिन्दु की सच्चाई को समझ सकीं। हमारी मानवीय दुनिया में इसका मर्म समझने वाला

कोई नहीं—पर एक बात साफ है मृणाल, कि वक्त गुजरने के बाद कंडक्टर को मैंने मन से माफ कर दूंगा, मगर बस के यात्रियों को माफ नहीं कर सकूंगा। उनका अपराध ईसा-मसीह के लिए भी अक्षम्य है।'

इस निवेदन, इस अपील, इस गुफ्तगू ने इस कहानी को एक असाधारण ऊंचाई दे दी है, जिसने दैनिक जीवन में तरह-तरह के अपमान झेलते आदमी की तकलीफ की पार्थिवता को पारदर्शी और सूक्ष्म विवरणों में बचाया भी है और उसे हमारी पूरी सामाजिक संरचना में छिपी तकलीफ से जोड़ा भी है। इसलिए यह कहानी भयावह अकेलेपन को उजागर करने के बावजूद हमें कमजोर नहीं बनाती या हमें खुश नहीं करती कि हाय, यही तो हमारी सच्चाई है।

हम साफ देख सकते हैं कि 'प्रिय मृणाल' में वर्णित अनुभव ने कथाकार को एक उच्चतर मनुष्य बनाया है और यह कहानी हमें भी इसके लिए आमंत्रित करती है। जबकि ज्यादातर लेखन अपनी सफलता इस बात में मानता है कि उसने अनुभव के किसी नये क्षेत्र के बारे में हमें सूचित कर दिया है।

इस कहानी में साम्प्रदायिकता से लड़ने का कोई उपदेश नहीं है लेकिन भारत विभाजन के तत्काल बाद के दौर में शायद ही साम्प्रदायिकता-विरोधी कोई ऐसी कहानी लिखी गयी हो। जो लोग रचना को उसके सामाजिक उद्देश्यों से अलग मानते हैं, जो कला से नैतिकता के सवाल पूछना नहीं चाहते, उन्हें 'पत्नी का पत्र' और 'प्रिय मृणाल' जैसी कहानियां जरूर पढ़नी चाहिएं और बाकी लोगों को तो इसे पढ़ना ही चाहिए। और हां, वे आलोचक इसे जरूर पढ़ें जो अपनी सुविधा के लिए विजयदान देथा को लोक-कथा संग्राहक मानकर अपने आलोचकीय दायित्व को निभाने से बचना चाहते हैं। ○○

...गगन : अमृताजी, आपको क्या लगता है, हमारी पंजाबी कहानी को, हर चीज का अंश होने के बाद कौन-सी बात बिलकुल साधारण बना देती है? खासकर जब हम उसे भारतीय कहानी के सामने रखकर देखते हैं, तब? अक्सर ऐसा होता है कि जो कहानी हमें मूल में बहुत प्रभावित करती है, अनूदित होते ही एकाएक अपनी कोई बहुत कोमल चीज खोकर सीमित हो जाती है...।

अमृताजी : शायद इसीलिए कि उसमें कला के, या सोच के पहलू से, विशाल अनुभव नहीं हैं। राजस्थानी के लेखक हैं—विजयदान देथा। वह लोक-कहानियों की सूरत में कहानी बयान करते हैं और बीच में कहीं एक स्तर पर वह ऐसी बात कह जाते हैं कि कहानी का सारा आयाम ही बदल जाता है। वह एकदम आज की कहानी हो जाती है। यह उनके पास बहुत खूबसूरत क्राफ्ट है, और यह सिर्फ क्राफ्ट ही नहीं है। इसके पीछे एक पूरी विचार धारा है, जो पुरानी बात कहते हुए भी उस कहानी को शाश्वत कर देती है—सारे समयों के लिए सच!

...गगन : अपने समकालीनों में आपको कौन-कौन से लेखक उस सच को छू सकने वाले लगे, जो आपका अपना था?

अमृताजी : अगर जबान की और स्थान की सरहद पर पांव रखकर लांघ जाऊं, तो सभी मेरे अपने हैं, जिन्होंने उस सच को छुआ है। मुझे आयन रैंड के किरदार कभी नहीं भूलेंगे। मुझे कजान जाकिस के किरदार नहीं भूल सकते। बहुत जगहों पर विजयदान देथा के भी नहीं। ००

एक बातचीत का अंश

अमृता प्रीतम

१७-१२-१९८५

आदरणीय अमृता प्रीतम,

वक्त तो वाकई काफी गुजर गया, आपको पत्र लिखे हुए, पर याद कभी-कभार आ जाती है। दिल्ली आने पर सम्पर्क भी तो नहीं किया, बस एक बार की मधुर स्मृति हिये में संजोये रखी है; जिस दिन इमरोज भाई के साथ आपके घर का कोना-कोना आंखें फाड़ कर स्वप्न की भांति देखा था। तत्पश्चात् कई बार उसी की जुगाली करके तृप्त हो गया हूं। सुरुचिपूर्ण प्रकाशन देखे, 'नागमणि' के अंक देखे। काफी समय तक मित्रों से उस मुलाकात की चर्चा करता रहा। धीरे-धीरे मैं अपने ताने-बाने की चदरिया बुनता रहा और आप 'रसीदी टिकट' से शेष यात्रा करती रहीं। आज पश्चात्ताप की कोई सीमा नहीं है कि कई बार दिल्ली पड़ाव के दौरान, आ की प्रबल इच्छा होते हुए भी आपके घर क्यूं नहीं आया? अब ऐसी भूल नहीं होगी।

फिर एक बार आकाशवाणी जयपुर के समारोह में मित्रों ने आग्रहपूर्वक आपके भाषण की टेप सुनायी। आपने मेरे लिए शुरुआत में कुछ पंक्तियां कही थीं। मैंने सोचा शिष्टाचार के नाते आपने मेरी प्रशंसा कर दी है। किसी प्रांत की धरती पर सांस लेते समय वहां के किसी एक साहित्यकार का बखान करना शिष्टाचार का तकाजा है। मैंने उसे भी गंभीरतापूर्वक नहीं लिया। हाड़, मांस व रक्त-मज्जा से बना है मेरा पुतला, लाख लेखक की मर्यादा का निवाह करूं, अपनी प्रशंसा से खुशी तो होती ही है, पर उसका प्रदर्शन करने, उसे भुनाने का मन नहीं करता।

किन्तु 'समकालीन भारतीय-साहित्य' के बाईसवें अंक में आपका गगन गिल के साथ साक्षात्कार पढ़ कर तो आश्चर्य-चकित रह गया। ऐसा लगा कि मेरी मुर्दा देह में पांखें उग आयी हों। गांव से जोधपुर बस में जा रहा था। बहुत ही उदास व गमगीन। आर्थिक

आभार

विज्जी

संकट के पाटों से कुचला हुआ। ऐसा हताश मैं कभी नहीं हुआ था। हालांकि तीस-पैंतीस साल से आर्थिक संकट का ऐसा ही ढर्रा चल रहा है। पर इस बार कुछ बोझ असह्य-सा हो उठा था। दूसरे साहित्यकारों व कलाकारों की विपदा से तुलना करके अपनी विपदा को अधिक विषम समझना, मुझे अपराध-सा महसूस होता है, पर इतना जरूर कह सकता हूं कि सृजन की भयावह राह पर मुझे भी कम सहन नहीं करना पड़ा। मैंने एक-एक अक्षर को विपदाओं की कोख से जन्म दिया है। किसी पर एहसान नहीं है, मेरे जीवन का अर्थ यही था, मैं इसके अलावा कुछ भी अन्य कर सकने के लिए अक्षम था। अपना रोना भी अच्छा नहीं लगता। यही तो सृजन की उर्वरा कोख है। पर उस दिन मायूसी नितांत असह्य होती जा रही थी। संकट की उस त्रासदी में आपकी पंक्तियों ने जैसे मेरे अंतस को अमृत से सराबोर कर दिया हो। दूसरे ही पल सारा क्लेश हवा हो गया। लगा कि हवा मेरी ही उड़ान का अनुकरण कर रही है। मुर्दे में प्राण फूंकने का मायना अच्छी तरह समझ में आया। यह अप्रत्याशित जीवन-दान मैं कभी बिसर नहीं सकूंगा। सूखते पौधे पर जैसे बादल ही फूट पड़ा हो। अभेद्य अंधकार से भरा अंतस अविलम्ब जगमगा उठा। आप से मिलने के लिए मन बार-बार अबोध बच्चे की नाईं मचल उठा। यदि दो दिन बाद ही बीमार न हो गया होता तो अब तक आप से मिलने का उत्साह साकार हो गया होता। पत्र न लिख कर स्वयं उपस्थित होता। पंद्रह दिन बाद कल चलने-फिरने लायक हुआ हूं। सर्दी की प्रीत सीने में दुबक कर ऐसी बैठी कि पस्त ही कर डाला।

हिन्दी के अधिकांश बड़े लेखक नितांत व्यवसायी हैं। जब तक मुनाफे का सौदा नहीं होता, वे किसी साथी लेखक की प्रशंसा नहीं कर सकते। अपनी ही देह में दुबके रहते हैं। अपने सृजन की तुलना में उन्हें सारी दुनिया ही छोटी नजर आती है। उन्हें दोष नहीं देता, उनके संस्कार ही ऐसे हैं। अपने स्वार्थ के अलावा उन्हें चांद-सूरज भी नजर नहीं आते। फिर भी इने-गिने सामान्य लेखकों ने, [नामवरी की दृष्टि से सामान्य] मर्मज्ञ पाठकों ने मुझे अपने हृदय में उछाह से स्थान दिया है, और वही मेरी एक-मात्र अखूट पूंजी है। सूखे तृषित गले को आपने अपने स्तन से जो अमृत-पान कराया है—उस की शुभ-सूचना तो आपके पास पहुंचा दूं—यत्किंचित् कृतज्ञता तो प्रकट कर दूं। मेरे लिए आपकी यह सहज आत्मीय सराहना सर्वोच्च पुरस्कार है। जिस से मुझ में सौ हाथियों जितना बल संचरित हो गया। मेरा यह निश्छल आभार आपको अंगीकार करना ही होगा। शायद मुलाकात के समय मेरी वाणी इतनी मुखर नहीं हो पाती।

इमरोज भाई से कहें, मेरा यह आभार संभाल कर रखें।

आपका
विज्जी

...इस विशेषांक में भीष्म साहनी, काशीनाथ सिंह, गिरिराज किशोर, कामतानाथ, स्वयं प्रकाश, असगर वजाहत, पंकज विष्ट, उदय प्रकाश आदि इस दौर के अनेक महत्त्वपूर्ण कहानीकारों की कहानियां हैं। लेकिन यह एक विचित्र स्थिति है कि अंक की सबसे अच्छी कहानी वह है जो बुजुर्ग राजस्थानी लेखक की है—यानी विजयदान देथा की 'अलगाव'। वैसे देथा की कहानियों से हिन्दी का पाठक अब इस कदर आत्मीय हो गया है कि वे हिन्दी के ही लेखक लगते हैं। 'अलगाव' को पढ़ते हुए देथा इतने करीब हो जाते हैं कि लगता है, हम कहानी नहीं पढ़ रहे हैं। एक जीती-जागती जिन्दगी से साक्षात्कार कर रहे हैं। बुढ़िया 'हंजा माऊ' के चरित्र को लेखक ने इतनी शिद्दत से उभारा है कि कहानी अपने समग्र प्रभाव में बहुत जीवंत हो गयी है। कहानी में जिस सुगंध की जरूरत महसूस होती है, वह यहां उन्मुक्त भाव से उड़ती है। ००

'अलगाव' पर टिप्पणी

अब्दुल बिस्मिल्लाह

कदाचित् कोई प्रयास अभी तक ऐसा नहीं हुआ कि विजयदान देथा की कहानियों को हिन्दी कथा-परम्परा के संदर्भ में देखा जाता या देथा की कहानियों के संदर्भ में पिछले दशक से चर्चित हिन्दी कहानी के गतिरोध की जांच-पड़ताल की जाती।

यह एक दिलचस्प संयोग है कि जिस तरह मुक्तिबोध अपनी कहानियों में प्रेमचंदीय आधार पर वह कड़ी रचते रहे जो आगे अमरकांत-ज्ञानरंजन की सफलतम कहानियों का उत्स बनी, उसी तरह विजयदान देथा हिन्दी कहानी के गतिरोध में बरबस ऐसी कहानियां लिखते रहे जिन में हिन्दी कहानी की मूल परम्परा का विस्तार हुआ। और जिस तरह कथाकार मुक्तिबोध 'नई कहानी' की चकाचौंध में खो गये थे, उसी तरह देथा अभी हिन्दी कहानी के दरवाजे पर खड़े हैं। उन्हें भीतर लाने पर हिन्दी कहानी के गतिरोध का अंधेरा भाग जाता है और आंगन के उजाले में बहुत-सी चालू छायाएं नजर आने लगती हैं।

कहना न होगा कि सत्तर के दशक में हिन्दी कहानी का चेहरा सतही और इकहरे जनवाद तथा व्यावसायिकता के पाटों के बीच खो गया। हिन्दी कहानी सहसा इतनी सरल और आसान हो गयी जितनी शायद पहले कभी नहीं हुई थी, जबकि होना बिल्कुल उल्टा चाहिए था। इस नये, जटिल ऐतिहासिक बिन्दु से अपनी सम्पूर्ण सभ्यता को परखना था और अपनी नियति का प्रयास करना था। विजयदान देथा राजस्थानी में बिल्कुल यही कर रहे थे। सन् ७५ में उन्होंने एक कहानी लिखी : 'नाहरगढ़'। यह कहानी आदमी और कुत्ते के रिश्ते को रूपक बनाकर लिखी गयी शोषण, मुक्ति और मुक्ति की विडम्बना की गाथा है। नाहर जिस सेठ का कुत्ता है, उसका लड़का चोरी करता है और तोहमत स्वाभाविक नाहर के सिर लगती है। भूखे नाहर के मन में प्रतिशोध जागता है।

'जुग-जुगान्तर से कुत्ते इन्सान की सेवा करते आये हैं। पर इसके बदले में हमें क्या मिला? दुत्कार, गालियां और ठोकरें। हम चुपचाप सारा अपमान पीते रहे। सारे जुल्म

जिंदगी के अंधेरे-उजालों का बखान

रवीन्द्र वर्मा

बर्दाश्त करते रहे। पर बेकसूर होने पर भी आपकी गालियां और ठोकरें मेरे दिल में नश्तर की तरह चुभीं।'

उक्त उद्घोषणा की पहली पंक्ति में 'कुत्ते' की जगह किसी भी शोषित वर्ग का नाम लिख दें, मूल कहानी उसी तरह आगे बढ़ जायेगी। लोक-रूप से यह सटीक प्रतीकात्मकता देथा की संश्लिष्ट रचनात्मक ऊर्जा है जो यथार्थ को सरलीकृत नहीं करती, बल्कि उसे उसकी सम्पूर्ण जटिलता में ग्रहण करने का प्रयास करती है।

मुक्ति के पश्चात् कुत्तों के नेता नाहर का अहंकार और दर्प जागता है और नाहरगढ़ में तानाशाह का उदय हो जाता है, जो हर जगह खतरा देखता है और हर खतरे का एक ही उपाय उसके हाथ में है—सत्ता का केन्द्रीकरण। 'ज्यों-ज्यों नाहरगढ़ की घरेलू हालत बिगड़ती गयी, त्यों-त्यों होशियार रखने की हिदायत बढ़ती गयी। तानाशाह भींटोराभरी गाड़ी में भरा खतरा देखने जाता है और उसकी छाया में चलता हुआ सोचता है कि गाड़ी उसी की वजह से चल रही है। जब 'हेलिया' उसके गाड़ी-चालन में शंका प्रकट करता है तो उसे और उसके साथियों को तत्काल जनता के हित में मार दिया जाता है। यह कहानी अक्तूबर, ७५ में लिखी गयी थी।

नाहरगढ़ की विस्तृत चर्चा के पीछे एक उद्देश्य यह भी था कि हम विजयदान देथा की रचना-प्रक्रिया को समझने का प्रयास करें। देथा बहुधा किसी लोक-कथा की पुनर्रचना करते लगते हैं। उनकी रचनात्मकता की भट्टी में एक राजस्थानी लोक-कथा मौजूदा भारतीय स्थिति का मिथक कैसे बनती है, यह हमने 'नाहरगढ़' में देखा। यह गौरतलब है कि ये खास राजस्थानी लोक-मुहावरे में लिखी कहानियां ऐसे शुरू होती हैं : 'एक वक्त की ढलान पर हवा और धूप के किनारे या जमीन और आकाश के दरमियान, किसी पहाड़ी पर' आदि-आदि। लोक-कथा की इस शैली में एक स्वायत्तता और सात्विकता अपने-आप विकसित होती है। कहना न होगा कि इस सार्वजनीनता को सम्भव बनाती है—लेखक की व्यापक और गहरी जीवन-दृष्टि।

देथा के मन में हमारी ग्रामीण तरलता की अंतःसलिला बहती है। लेकिन उनकी मूल रचनात्मक संवेदना बिल्कुल आधुनिक है, व्यंग्य की तिरछी मुस्कान लिये, जो कहानियों में इधर-उधर उजागर हुए बिना नहीं रहती। इस तरह देथा यथार्थ के हर भाव को उसकी हर भंगिमा के साथ अपनी निर्मम, वस्तुपरक संवेदना के पटल पर ग्रहण करते हैं। और लोक-मुहावरे को अपनी संवेदना के साथ ढालते हुए, बदलते हुए, एक बिल्कुल नया मुहावरा रचते हैं—जिस में लोक-जीवन के भाव हैं, भावुकता नहीं। भावुकता की जगह आधुनिक संवेदना का व्यंग्य है।

देथा ने राजस्थानी में ७०० से ऊपर कहानियों की रचना की है। हिन्दी के दोनों संग्रहों में कुल ३९ कहानियां हैं। यह निबन्ध केवल ३९ कहानियों के पाठ पर आधारित है। लेकिन इन ३९ कहानियों में भी जो वैविध्य हमें दिखाई देता है, वह इधर की हिन्दी कहानी में दुर्लभ है। प्रेमचन्द याद आते हैं। यह विविधता मुक्त दृष्टि से अपने यथार्थ के बहुपक्षीय कोणों को देखने का परिणाम है।

इधर की हिन्दी कहानी में गतिरोध का मुख्य कारण सम्भवतः उसका सीमित और

सरलीकृत हो जाना है। 'नाहरगढ़' में हमने देखा कि इधर की हिन्दी कहानी के एक आम मुद्दे को देथा, किन गहरे और व्यापक आयामों तक ले जाते हैं। 'अनेकों हिटलर' में वे कहते हैं :

'देश की आजादी के बाद बड़े किसानों के पौ-बारह हो गये हैं। आंखें मूंदकर धूल में बीज डालते हैं और दोनों हाथों से कमाई बीनते हैं।'

यह सीधा-सादा समाजशास्त्रीय विश्लेषण हमें प्रेमचन्द की कहानी 'कफन' में कामचोरी के समाजशास्त्रीय विश्लेषण की याद दिलाता है। ये बड़े किसान सत्तर के दशक में तथाकथित हरित-क्रांति के फलस्वरूप गांवों में एक नृशंस नव-धनाढ्य वर्ग के रूप में विकसित हुए। देश के कृषि-विकास को हड़पते हुए वे हिटलर हो गये, इन्सान नहीं रहे। हिटलर यानी आततायी कायर। कहानी के पांचों भाई नये खरीदे ट्रैक्टर से एक नवयुवक साइकिल सवार को इसलिए कुचल देते हैं क्योंकि वह साइकिल ट्रैक्टर से आगे भगाने का दम रखता है। क्या हमारे आजाद देश में पूंजीवादी विकास इन्सान को मार रहा है और वर्बर नपुंसक पैदा कर रहा है? देथा कहानी के अन्त में यही प्रश्न छोड़ते हैं।

लोक-मुहावरे से लोक-रूढ़ियों पर प्रहार देथा बखूबी करते हैं। 'झूठी आस' में ठाकुर और ढोली के रिश्ते के विकास में वे सामंती भावुकता पर गहरी चोट करते हैं। और ढोली के सामंती ढांचे में इस क्रांतिकारी निष्कर्ष पर हमें पहुंचाते हैं कि 'फकत मांगने से कुछ नहीं मिलता।' यह शोषण के सामंती आधार पर सीधा हमला है। यही काम 'दूजौ-कबीर' में दूसरी तरह से होता है। कहानी की शुरुआत देखिये :

'ये भारी-भरकम पोथे, कबिरा जाने कितने थोथे! ये धरम-करम के पथ सारे, मल-कीचड़ के ही गलियारे। ये तीरथ बरत के धाम, जिन से अल्लाह बचाये राम। यह भाग-भरम की शोभा, तोबा रे बापू तोबा। ये ऊंच-नीच की बातें, अनंत कजियारी रातें। ये राव-रंक के जाले, सरासर झूठे और काले।'

ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे कहानी समाज से सारी सामाजिक और आर्थिक रूढ़ियां दफन करने की प्रतिज्ञा से ही शुरू होती है। कबीर एक कलाकार है जो अपनी कृति न बेचता है, न भेंट करता है। कुपित राजा उसके शाल और कम्बल नष्ट करा देता है। फिर उसे हीरों का लालच देता है। कवीर कहता है कि जब उसके हाथ का बना कम्बल किसी ठिठुरते इन्सान को गर्मी पहुंचाये, तब मेरी कारीगरी सार्थक होगी। उसे क्रोध भी नहीं आता क्योंकि 'एक आदमी के क्रोध से कुछ नहीं हो सकता। वो तो खुदकशी के समान है। जिस दिन मेरे क्रोध की छूत जन-जन के हृदय में खुदवुदायेगी, उस दिन इन्सानों की दुनिया में न तो कोई राजा होगा और न कोई रंक।' यह है कलाकार की सामाजिक भूमिका।

देथा की आधुनिक संवेदना जनवादी चेतना से वद्धमूल रूप में जुड़ी है, जिसे कभी अपना एलान करने की जरूरतें नहीं होतीं। उदाहरण के लिए हम देथा की प्रसिद्ध कहानी 'फितरती चोर' को ले सकते हैं। एक भगवाभेषी महात्मा अपना चेला-प्रपंच फैला रहे हैं। एक चोर उनका चेला बनने की जिद करता है और कुछ असम्भव-सी वातों को छोड़ने का प्रण कर लेता है। यही वातें एक-एक करके कहानी के दौरान सच होती जाती

हैं। लेकिन चोर अपनी कोई प्रतिज्ञा नहीं तोड़ता—जिस में झूठ न बोलने की प्रतिज्ञा भी शामिल है—और अंत में मारा जाता है। इस तरह यह एक छोटे आदमी की विडम्बनात्मक जीवन-यात्रा की कहानी है जो हर कदम पर सामाजिक विडम्बनाओं को खोलती जाती है। चोर जब चोर था तो पेट नहीं भर पाता था। और पिटता था। दौलतमन्द हो जाने पर उसकी चोरी-चोरी नहीं होती, अदा हो जाती है। 'अब मालूम हुआ कि चोरी-डाका कोई जुर्म नहीं है, जुर्म है गरीबी। और चोर तो गरीब होते हैं।...बड़े डाकू-लुटेरे राजा कहलाते है। उन्हें डाकू कौन कहे? जो कहे, उसका सर कलम न कर दें।' कहानी का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि चोर जो छोटा आदमी है शुरू से आखिर तक सच्चा और नैतिक है। मगर सत्ता चाहे वह रानी के रूप में राजनीतिक हो या महात्मा के रूप में धार्मिक—झूठी और मक्कार है।

'अदीठ लिबास' में भी लोक-कथा का रूप कहीं नहीं टूटता। बच्चा कहां जो भ्रम तोड़े, राजा कहानी भर उसी नफीस कपड़े के भ्रम में रहता है जो दिखाई नहीं देता—और राजा का खजाना खाली होता रहता है। राजा सच्चाई का सामना इसलिए नहीं कर सकता क्योंकि उसे हरामी और मूर्ख करार दिये जाने का डर है—और नंगे राजा की सवारी शहर-भर घूम जाती है।

देथा अपनी कल्पना के राम-राज का खाका 'समय-समय की हवा' में देते हैं। किसी समय की गोद में एक सुखी व संतोषी गांव है, जहां जमींदार ने अपनी जमीन एक किसान को खेती के लिए दे रखी है। गौर करें: 'किसान ने लगान देने की खातिर बहुत मिन्नतें कीं, लेकिन जमींदार किसी भी कीमत पर राजी नहीं हुआ।' उसने कहा, 'जोतो, बोओ, कमाओ और खाओ।' बात में ध्वनि यही है। राम-राज में नाटकीय स्थिति पैदा हो जाती है जब किसान को मोहरों-भरे सात कलश खेत में पड़े मिलते हैं। कलश किसके हैं? किसान जमींदार को देना चाहता है, जमींदार कहता है कि किसान को मेहनत करते खेत में मिले हैं, कलश उसी के हैं। पंचायत भी यही कहती है। राजा भी यही। हार कर किसान कलश खेत में फिर गाड़ देता है, क्योंकि कलश उसके किसी काम के नहीं। राम-राज खत्म। फिर ठोस यथार्थ अगली पीढ़ी के बहाने नमूदार होता है और कलश हड़पने के लिए अगली पीढ़ी को घूस दी जाती है। तीसरी पीढ़ी में दौलत के लिए जमींदार और किसान दोनों की हत्या हो जाती है। इस तरह राम-राज के आईने में हम व्यवस्था का पतन, हिंसा और शोषण देखते हैं।

ऐसा लगता है जैसे मस्तक में आधुनिक संवेदना की मणि लिये हुए देथा लोक-कथाओं की खान में जाते हैं और पुराने-सुराने धूल-धूसरित किसी पत्थर को उठाकर, उसे घिस-चमका कर एक आधुनिक कथा की आभा और आब दे देते हैं, जिस में खान और धरती का इतिहास भी बोलता है। लेखक की संवेदना ऐसे समाज में रचनारत है जो एक ओर सामंती रूढ़ियों से जकड़ा है यथा दूसरी ओर पूंजीवादी पतनशील मूल्य उसे कतर रहे हैं। लेखक बढ़ती हुई पतनशीलता के सन्दर्भ में बनिये और कामगार का कृत्रिम विभाजन स्वीकार नहीं करता। 'मूजी सूरमा' में विद्रूप की हदों तक कंजूसी को ले जाता हुआ एक सेठ है जबकि एक धुनकर भी 'निन्यानवे के फेर' में पड़ जाता है। धुनकर के आदर्शीकरण

का कोई प्रयास नहीं है।

'दुविधा और अन्य कहानियां' तथा 'उलझन' में संगृहीत ३६ कहानियों में जो सफल-तम कहानियां हैं, उन में अधिकांश स्त्री-पुरुष सम्बन्धों पर आधारित हैं। स्त्री-पुरुष संबंधों पर आधारित महत्त्वपूर्ण कहानियां, प्रेम-कहानियां हैं, लेकिन वे सिर्फ प्रेम-कहानियां नहीं हैं। वे हमारे समाज में औरत की त्रासदी और विडम्बना की कहानियां हैं। दर-असल ये केवल औरत की त्रासदी की भी कहानियां नहीं हैं। इन कहानियों में हमारी सामाजिक-आर्थिक विडम्बनाएं, धार्मिक जड़ता और संस्कारगत रूढ़ियां बोलती हैं—इस सामंती प्रपंच के बीच में एक औरत है, जो गुलाम है और मुक्तिकामी है। ऐसा लगता है जैसे इन कहानियों में केवल स्त्री ही मुक्ति की कामना नहीं कर रही, कहानियों का सम्पूर्ण संसार मुक्ति के लिए छटपटा रहा है : 'चिड़िया उड़े तो पिंजरा और आकाश सब मुक्त हो।' ये महत्त्वपूर्ण कहानियां हैं : 'दुविधा', 'कागपन्थ', 'दोहरी जिन्दगी', 'न्यारी-न्यारी मर्यादा', 'उलझन' और 'केंचुली।' 'दुविधा' में नायिका पर पांच साल के विरह का कहर बरपा करने वाला तंत्र यह है : 'जो पति की इच्छा, वही उसकी इच्छा। जो बापू की इच्छा, वही बेटे की इच्छा। जो लक्ष्मी की इच्छा, वही बापू की इच्छा और जो लालच की इच्छा, वही लक्ष्मी की इच्छा।'

इस तंत्र के नीचे नायिका की अस्मिता दबी है, जिस से उसके मन का भूत पैदा होता है—जिसे वह नहीं जानती कि स्वीकारे या नहीं। भूत कहता है, 'तुम्हारा शील खरा है क्योंकि मेरी प्रीत सच्ची है। मण्डप के असली पति की प्रीत झूठी है।' यानी विवाह की संस्था पर सीधा प्रहार होता है, जहां वह औरत के पैरों में बेड़ी है।

दूसरी दुविधा नायिका के सामने तब पैदा होती है जब कुछ बूढ़ी औरतें सौरी में उस से ढालुओं वाली बात पूछती हैं ताकि असली पति की शिनाख्त हो सके। जवाब देखें : 'कोई मर्द यह बात पूछता तो उसे 'हां' या 'ना' का जवाब भी देती। पर औरतों का दिल रखकर भी तुम यह बात पूछने की हिम्मत कैसे जुटा पायीं?' फिर वृद्धाओं का कथन : 'ऐसी बातों में औरतें सच नहीं बोलतीं।' क्यों, पुरुषों की भाषा में इसे ही त्रियाचरित्र कहा जाता है? लेकिन यह दुविधा स्त्री के अस्तित्व के साथ ही जुड़ी है।

इस दुविधा से मुक्ति की कोशिश हर कहानी में होती है। दुविधा में मुक्ति का दूत जो भूत बनकर आया था, छागल में बन्द कर नदी में बहा दिया जाता है। 'न्यारी-न्यारी मर्यादा' में राज-क्रांति के बाद साईस के राजा बनते ही उसके मन में रानी के लिए 'पुरुषोचित' संदेह पैदा होता है। और राजा कहता है; 'सारा कसूर मेरा नहीं है। ज्यादा कसूर इस हुकूमत का है।' मानो राजा पुरुषों की दुनिया का प्रतिनिधित्व करता है। देथा की संश्लिष्ट दृष्टि कहानी को एक ओर एक और गहरा आयाम देती है, दूसरी ओर उसे फिर एक विडम्बना पर छोड़ देती है, जैसे पूरा चक्र पुनः दोहराया जायेगा।

'कागपन्थ' में मुक्ति की विडम्बना एक विद्रूप में परिणत हो जाती है। या कहें, प्रति-शोध में—जब सेठानी पुरुष के समाज में ठुकराई जाने के बाद वेश्यावृत्ति स्वीकार करती है और अपनी आंत के बेटे को प्रेमी के रूप में स्वीकार करती है। कौवे की स्वार्थपरता की प्रतीकात्मकता पर आधारित यह कहानी एक प्रश्न हवा में उछालती है : क्या हमारे समाज

में वेश्या की निर्मम व्यावसायिकता ही एकमात्र अस्त्र बचा है जिस से औरत आदमी की खुदगर्जी का सामना कर सके ? क्या औरत अमानवीकृत होकर ही जी सकती है ?

लोक-कथा का रूप और देथा की संश्लिष्ट दृष्टि 'दोहरी जिंदगी' को भी बहु-आयामी कहानी बना देते हैं जिस में औरत की त्रासदी सेठ-बाप की कंजूसी और दौलत के लोभ से शुरू होती है। लेकिन औरत होकर औरत से शादी हो जाने के बाद भी बीजां भूतों के सरदार की कृपा से जब पुरुष बनती है तो 'पुरखों का कदीमी और अधम मार्ग' यानी पुरुष का 'मैं' जागता है जो औरत को दासी मानता है। बीजां का मोह-भंग होता है, वह फिर औरत हो जाती है। हिन्दी कथा-परम्परा के सन्दर्भ में यह एक अत्यन्त साहसिक कहानी है जो सृष्टि को चुनौती देती है।

देथा की कहानियों में स्त्री की 'विडम्बना का बहु-आयामी बहुकोणीय बखान' हमारा ध्यान समाज की पहली इकाई-परिवार में चल रहे शोषण की ओर खींचता है। सभ्यता के इतिहास में मातृसत्तात्मक युग के बाद पुरुष के समाज में बुनियादी विषमता और अन्याय यही है। यही नहीं, समाज के ताने-बाने में जहां भी विषमता, अन्याय और शोषण है, देथा की नजर से चूक नहीं होती। इसीलिए चाहे 'दुविधा' हो, 'दूजौ कबीर' हो या 'उलझन' हो या कोई और महत्त्वपूर्ण कहानी हो—उसके जटिल विधान को रचते हुए एक औपन्यासिक दृष्टि है जो सब-कुछ देखती है, चाहे थोड़ा-कुछ कहे। यह, सब-कुछ क्या है? यह हमारी सभ्यता की मुक्ति की कामना है और यह केवल आर्थिक मुक्ति नहीं है—जो दृष्टि की सीमा इधर की अधिकांश हिन्दी कहानियों में दिखाई देती है—जिसे बोर्खेस ने 'अधम अर्थवाद' [सॉडिक इकोनामिज्म] कहा है। यह सम्पूर्ण समाज के जड़वादी अंधेरे से समतामूलक उजाले में निकलने की कामना है—जहां औरतें आदमी के बराबर हों और आदमी-आदमी के बराबर।

लोक-कथाओं के रूप में उपर्युक्त समतावादी स्वप्न उकेरना आसान नहीं है क्योंकि उन रूपों में हमारे समाज की जड़ों का सामंती अंधेरा अत्यन्त जटिल है। देथा की संवेदना समाज की जड़ों में ही क्रियाशील होती है। फिर वे लोक-रूपों में आधुनिक रंग भरते हैं। लोक-कथा की प्रतीकात्मकता, सांकेतिकता, जानवरों के मानवीयकरण, भूतों के मिथक, फंतासी और महाकाव्यात्मक मुहावरे आदि का अनूठा इस्तेमाल आधुनिक मूल्यों के औजार से एक नयी कहानी रचने के लिए करते हैं। जिस में हमारा समय अपनी ऐतिहासिकता के साथ मुखर है। यदि देथा को हिन्दी कथा-परम्परा का लेखक मानें तो गतिरोध काफूर हो जायेगा और हिन्दी कहानी को एक नयी दृष्टि और स्फूर्ति मिलेगी। ००

'बादल, बरसात और चांदनी की तरह कहानियां भी कभी पुरानी नहीं होतीं। अनेकों बरस पुरानी होते हुए भी नित नयी होती हैं।' राजस्थानी के वर्चस्वी कथाकार विजयदान देथा ने ऐसी ही पुरानी कहानियों को फिर से कागज पर उतार कर और भी नया बना दिया है। धरती और आसमान के बीच किसी वक्त की ढलान पर हवा और धूप के किनारे बसे किसी गांव के गूजरों और सेठों की कहानी, बारहठ और अहेरियों की कहानी, नितनेमी इन्सानों की जिन्दगी के 'कागपन्थ' की कहानी को देथा ने नये अर्थों से भरा है। उन्होंने ये कहानियां राजस्थानी में लिखी हैं। हिन्दी में उनका अनुवाद किया है कैलाश कबीर ने। इन कहानियों के जरिये हिन्दी को एक बिल्कुल नयी आभा मिली है। राजस्थानी जीवन के मुहावरे हिन्दी में ही इस तरह एकरस हो गये हैं कि विश्वास करना मुश्किल है कि यह अनुवाद है।

इन कहानियों को सिर्फ पढ़ने, पढ़ते जाने का अपना मजा है। 'खूब रस से भरा हुआ।' यहां 'बातपोशी' का मजा है। 'बतरस' है। लोकभाषा से आविष्ट होकर हिन्दी भाषा के सीप में यह नया मोती पड़ा है। जैसे-जैसे लोकभाषाओं और दूसरे प्रान्तों की भाषाओं की शक्ति हिन्दी में ढलेगी, वैसे-वैसे हिन्दी के और भी रूप बनेंगे।

लोक-कथाओं पर आधारित इन कहानियों को पढ़ते हुए बार-बार यह लगता है कि तमाम ऐतिहासिक परिवर्तनों और भिन्नताओं के बावजूद कुछ विषय ऐसे हैं जो प्राचीन लोक-कथाओं से लेकर आज तक के मनुष्य को उद्वेलित करते हैं। राजस्थान की ढाणियों में रात-रात-भर चलने वाली इन कथाओं में स्त्री-पुरुष संबधों की पूरी जटिलता को बिना किसी संकोच अथवा लिप्सा के उघारा गया है। यौन-प्रसंगों के कुछ बहुत ही सुन्दर चित्र हैं, नैसर्गिक और अक्षत। धन की महिमा, माया का पुण्य-प्रताप और सत्ता के मद की प्यास—सब की बड़े सटीक ढंग से व्याख्या की गयी है। और सबसे ऊपर है मानव जाति के अब तक के इतिहास के 'कागपंथ' की व्याख्या—'सच है तो फकत कागपंथ। दुनिया के

बीज जितनी पुरानी, फल जितनी नयी

अरुण कमल

तमाम विद्वान, ऋषि-मुनि, अवतार, तीर्थंकर, साधु-सन्त वगैरह एक से बढ़ कर एक कागपंथी हैं। अपना स्वार्थ ही सब से बड़ा है। बाकी सब छल-कपट और लफड़े हैं। कौवे के फरेब का जहर समूची दुनिया में फूटता है।' [दुविधा, पृ. २४३]

इन दो संग्रहों ['दुविधा और अन्य कहानियां' तथा 'उलझन'] की सर्वोत्तम कहानियां अधिकांशतः स्त्री-पुरुष संबंधों को लेकर लिखी गयी हैं। यह एक ऐसी दुनिया है जहां स्त्री-पुरुष के बीच का स्वाभाविक संबंध नष्ट हो चुका है। सारे संबंध, विवाह और परिवार अनैतिक हैं, क्योंकि वहां प्रेम नहीं है। यहां स्त्री-पुरुष संबंधों को तय करनेवाली शक्ति है—पैसा और सत्ता। एक सेठ सिर्फ पैसे के लोभ में अपनी बेटी की शादी नपुंसक से कर सकता है और एक जमींदार अपनी ताकत के बूते हर औरत के साथ सो सकता है। स्त्री सिर्फ एक वस्तु है और पुरुष उपभोक्ता, जिसके चलते समूची मानव-जाति पतन की ओर बढ़ रही है।

'दुविधा' कहानी में एक धनी सेठ का बेटा शादी के तुरंत बाद ठीक तीज के दिन शुभ मुहूर्त्त की वेला व्यापार के लिए दिसावर जाना चाहता है। उसके लिए पैसा ही सब-कुछ है, नयी-नयी व्याहता दुल्हन का कोई मोल नहीं। दुल्हन सोचती है—'सोने का माहात्म्य बड़ा है या काया का! सांस का माहात्म्य बड़ा है या माया का? इस सवाल के जवाब में ही जीवन के सारे अर्थ पिरोये हुए हैं।' सेठ का बेटा दुल्हन के यौवन से मुंह फिरा कर दिसावर की राह चल पड़ा। उधर एक भूत, जिसकी खेजड़ी के पास थोड़ी देर के लिए दुल्हन का डोला रुका था, दुल्हन के प्रेम में बेचैन हो गया है। 'उसके मन में छल-कपट के मैल की जगह धारोष्ण दूध ने ले ली है।' उसकी मुलाकात सेठ के बेटे से होती है और सारा हाल जान कर ठीक सेठ के बेटे का वेश धारण कर वह सेठ की हवेली जा पहुंचा। सेठ को रोज पांच मोहरें देने का वादा करके वह दो घड़ी रात ढलने पर रनिवास में आकर सो गया। दुल्हन खुश-खुश आयी कि उसका पति आखिर लौट आया। समूचे रनिवास में इत्र-फुलेल की खुशबू छा गयी। लेकिन भूत ने दुल्हन को सब कुछ सच-सच बता दिया। दुल्हन को दुविधा हुई—'अगर वो सच्चा पति होता तो व्यापार के लालच में औरत की यह माया छोड़ सकता था? और फिर भूत होकर भी इसने सच्ची प्रीत की।' दोनों पति-पत्नी की तरह रहने लगे। समय आने पर दुल्हन की कोख उघड़ी। बधावा बजा। और उधर सेठ का असली बेटा हाजिर हुआ। सवाल है, सच्चा पति कौन है? यह कहानी परिवार के मूल आधार, स्त्री-पुरुष-संबंधों की नैतिकता का प्रश्न उठाती है। 'फकत विवाह से क्या होता है! विवाह की दुहाई उम्र-भर नहीं चल सकती। व्यापार वस्तुओं का होता है, प्रीत का नहीं!' यह एक अत्यंत शक्तिशाली कहानी है जो विवाह-संबंधों के लिए नये नैतिक मूल्यों की मांग करती है। जहां सम्पत्ति ही सब-कुछ है, वहां प्रेम संभव नहीं। सिर्फ पैसे के नाम पर नपुंसक आदमी से औरत की शादी कर दी जाती है। 'ससुर और जेठ की मनमानी से वह कितने दिन बची रह सकती थी? चीते की मांद में भेड़ की जान कब बची है?' [दुविधा, 'दोहरी जिन्दगी', पृ. १६८-६९] पुरुषों की अपनी मर्यादा है जो औरतों पर लागू नहीं। 'न्यारी-न्यारी मर्यादा' में बारहठजी, राजव्यासजी और राजा सबके सब दासियों की कोख से जनमी ही लड़कियों के साथ मुंह

काला करते हैं और उनकी पत्नियां भी यही करना चाहती हैं तो उनके लिए दूसरी ही मर्यादा पेश करते हैं। यह है हमारे समाज की दशा, यह है भारतीय परिवार। परिवार नाम की संस्था के भीतर चलने वाले पाखंड और गंदगी को देथा ने खुलकर सामने रक्खा हैं। 'दुविधा' कहानी की दुल्हन अब सात फेरों वाले पति के इन्तजार में सेज पर बैठी है, भूत मारा जा चुका है, बगल में भूत के संयोग से पैदा हुई बेटी लेटी है। दुल्हन सोचती है—'इस एक ही रनिवास में राम जाने उसे कितने जीवन भोगने पड़ेंगे? पर आंचल से दूधपीती यह बच्ची, बड़ी होकर औरत का ऐसा जीवन न भोगे तो मां की सारी तकलीफें सार्थक हो जायें। इस तरह तो जानवर भी आसानी से अपनी मर्जी के खिलाफ इस्तेमाल नहीं किये जाते। एक दफा तो सर हिलाते ही हैं। पर औरतों की अपनी मरजी होती ही कहां है? मसान न पहुंचे तब तक रनिवास और रनिवास छूटने पर सीधी मसान!' ['दुविधा', पृ. २७२] यही है औरत की जिन्दगी जहां कोई आजादी नहीं, जहां प्रेम के लिए कोई स्थान नहीं, वह सिर्फ एक वस्तु है जिस पर किसी-न-किसी का अधिकार होता है। 'काग-पन्थ' की सेठानी को पति, परिवार, मां-बाप सबने छोड़ दिया, उस पर तोहमत लगायी, सच और 'पवित्र' होते हुए भी उसे घर से बाहर कर दिया। वह वेश्या बनने को मजबूर होती है और तब उसे खुद अपने ही बिछुड़े बेटे के साथ सोना पड़ता है। यह है औरत की जिन्दगी—'दुनिया की तमाम औरतों की फकत एक ही रामायण है—मर्द के हाथों ठगा जाना और उस ठगाई का उम्र-भर खमियाजा भुगतना। घर-गृहस्थी की गुजर-बसर से बड़ी कोई नैतिकता नहीं रह गयी है। इंसान के लिए यही इतिहास का दूध है, यही ज्ञान का दही और यही धर्म का मक्खन! बाकी सब छाछ और धोवन! यही केंचुली सबसे बड़ा बन्धन है जिसमें औरत कैद है। इस से मुक्त हुए बिना मुक्ति नहीं।' [दुविधा, 'केंचुली', पृ. ७२] केंचुली, कहानी की तेज-तर्रार गूजरी लाछो गांव के जमींदार से अन्त तक लड़ती है, लेकिन उसका पति सिर्फ जोखिम के डर से जानकर भी चुप लगाये रहता है। हार कर लाछो 'परिवार की केंचुली' छोड़ देना चाहती है, लेकिन फिर संभलती है और देथा कहानी का अन्त करते हैं—'पेट में अमर आस लिये वह अभी तक ब्रह्माण्ड में निर्वसना घूम रही है! न कहीं मुकाम और न विश्राम!' [वही, पृ. ८६]।

लेकिन इसका क्या उपाय है? औरतों की मुक्ति कैसे संभव है? देथा इन सवालों पर भी विचार करते हैं। क्या औरतें भी मर्द बदलना शुरू कर दें ['न्यारी-न्यारी मर्यादा'] या दो औरतें बिना किसी मर्द की सहायता के अकेले रहने लगें? ['दोहरी जिंदगी'] 'न्यारी-न्यारी मर्यादा' की रानी अपने साईस से सहवास करती है और उसे ही राजा घोषित कर देती है, लेकिन राजा बनते ही साईस का व्यवहार बदल जाता है, वह अपनी शक्ति का प्रदर्शन शुरू कर देता है। बाद में वह खुद कबूल करता है—'अगन-देवता की ओर हाथ करके कहता हूं कि मेरा ज्यादा कसूर नहीं है। बहुत कुछ कसूर तो इस मुकुट और सिंहासन का है।...ज्यादा कसूर इस हुकूमत का है।' [दुविधा, पृ. १३५] बहुत ही सावधानी से इन कहानियों में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की पूरी अनैतिकता को पैसे और सत्ता से जोड़ा गया है। जब तक पैसे का राज है, जब तक सत्ता सिर्फ पुरुष के हाथ में है, तब तक औरत की मुक्ति नहीं, तब तक समाज में नैतिकता नहीं। 'पुरुष-वर्ग द्वारा स्त्रियों पर

अत्याचार की शुरुआत के साथ ही...इतिहास के पहले वर्ग-अंतर्विरोध शुरू होते हैं।' [एंजिल्स, परिवार का जन्म, पृ. ६६] और यह अत्याचार दिन-ब-दिन बढ़ता ही गया। देथा ने बहुत दिल से औरतों की पीड़ा को रक्खा है। ये कहानियां परिवार और समाज में व्याप्त अनैतिकता के जबर्दस्त विरोध की कहानियां हैं, क्योंकि 'सिर्फ वे ही संबंध नैतिक होते हैं जो प्रेम पर आधारित हों।' [वही, पृ. ८२] बाकी सब कुछ अनैतिक और पापग्रस्त है।

पैसा और ताकत न सिर्फ स्त्री-पुरुष-संबंधों को बल्कि सभी मानव-संबंधों, पूरे समाज को नष्ट करते हैं। 'दुविधा' संग्रह की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कहानी है—'अनेकों हिटलर'। पिछले वर्षों में भारतीय ग्राम-जीवन में जो परिवर्तन आये हैं और सामन्तवाद तथा पूंजीवाद का गंठजोड़ अपनी तमाम नृशंसता के साथ विकसित हुआ है, उसका बहुत ही सशक्त अंकन इस कहानी ने किया। पांच भाई ट्रैक्टर खरीद कर लौट रहे हैं। पैसे वाले हैं। नया-नया ट्रैक्टर खरीदा है, दनदनाये गांव की पक्की सड़क पर चले आ रहे हैं। तभी देखते क्या हैं कि एक साइकिल सवार उन से आगे निकला जा रहा है। यह तो बर्दाश्त के बाहर की बात थी। सो ट्रैक्टर साइकिल से भिड़ा और 'पिछले टायर ने नंगे सिर का कचूमर निकाल दिया।' 'मां का खसम, ट्रैक्टर से आगे निकलने की जुर्रत कर रहा था।' विजयदान देथा लिखते हैं—'पर...पर दोनों महायुद्धों के चित्र, हिरोशिमा-नागासाकी के चित्र, वियतनाम के चित्र, बंगला देश के चित्र...इस नाकुछ चित्र से बहुत-बहुत बड़े थे।...यह चित्र उनका मुकाबला तो नहीं कर सकता था, पर गंवार हाथों से बना यह चित्र भी कोई खास बुरा नहीं था।' [दुविधा, पृ. २४] हिटलर मर गया, लेकिन अनेकों हिटलर अभी भी जिंदा हैं, जो पूरे समाज को चला रहे हैं। घर की खाट से लेकर ऊपर तक एक ही चीज है जो राज कर रही है। वह है पैसा और पैसे की ताकत।

देथा की इन कहानियों में वह पीड़ा या लगाव है, जिसके बिना रचना संभव नहीं। विजयदान देथा ने गहरे प्रेम और सहानुभूति से औरतों की पीड़ा को अंकित किया है, औरतों की पीड़ा और औरतों के सम्पूर्ण दैहिक और आत्मिक ऐश्वर्य को। जो दबे-कुचले लोग हैं, उनका पक्ष लिया है। यह लोक-जीवन की स्वतःस्फूर्त पक्षधरता है, जो इन लोक-कथाओं के माध्यम से सदा-सर्वदा हमारे जातीय जीवन में प्रवाहित रही है। और साथ-साथ धन के प्रति नफरत, धन को सभी विकृतियों की जड़ मानने वाली लोक-भावना भी यहां पूरी ताकत से व्यक्त हुई है। यहां भूत-प्रेत भी हैं, असंभव लगने वाली घटनाएं हैं, यथार्थ और फन्तासी का उलट-फेर है; लेकिन लूकाच के शब्दों में 'इस इन्द्रजाल के माध्यम से यथार्थ की सारभूत शक्तियों को प्रकट किया गया है।'

लेकिन कभी-कभी इन रचनाओं में एक तरह का 'सिनिसिज्म' भी मिलता है जो आमतौर पर लोक-कथाओं में नहीं पाया जाता। कभी-कभी ऐसा लगता है कि देथा मूल मानव-स्वभाव को ही, 'आदमजाद' को ही दूषित मानते हैं, जिसके चलते वह इतना क्रूर, हिंस्र व्यवहार करता है। 'उलझन' कहानी में चौपाया बनमानुष से 'मनुष्य' बने व्यक्ति के बारे में देथा लिखते हैं—जरा-सी कोशिश से वो चौपाया बनमानुस उसके देखते-देखते यहां तक पहुंचा, पर अब लाख जतन करके भी लौटाया नहीं जा सकता। क्या समझ का सिरमौर यह इंसान अपने दो पैरों के बल पर हमेशा कुपथ पर ही चलेगा?' [उलझन,

पृ. २७]। इसी पुस्तक में संकलित 'आदमजाद' नाम के छोटे उपन्यास में मनुष्य की निर्ममता और हिंस्र पशुओं से भी बदतर प्रकृति का भयावना रूप देखने को मिलता है। मनुष्य के इन रूपों से गुजरने के बाद किसी का भी विश्वास मनुष्यमात्र में डिग जा सकता है। इन पुस्तकों में मानव-जीवन के अनेक ठेठ [क्रूर] रूप अपनी सम्पूर्ण शोभा और वीभत्सता के साथ उपस्थित हैं। ये कहानियां अपने सीधेपन और सादगी के बावजूद मानव प्रकृति और जीवन की जटिलता को उद्घाटित करती हैं।

इन कहानियों की सफलता का रहस्य शायद यह है कि—हालांकि ऐसा कहने में गलत समझे जाने का खतरा बहुत ज्यादा है—इन कहानियों में कविता विराजती है। इन कहानियों में वही गहन ऐन्द्रिकता है, जो कविताओं की और लोक-कथाओं, लोक-गीतों की आधार-भूमि है। कविता तो अंदाजेबयां में ही है। लोक-जीवन और लोक-साहित्य में जो स्वाभाविक 'कविता' होती है उसका लाभ अनायास ही लेखक को मिलता है। 'कहीं सूखा तो कहीं बाढ़। कहीं बूंदाबांदी तो कहीं मूसलाधार। कहीं नदियां तो कहीं नाले-रेले। कहीं फुहार तो कहीं उसका भी तुठार...न आक-धतूरा, न आम। न फूल, न कांटे। न घास, न पत्थर। न टीले; न तलैया। काली घटाओं में चमकते उजाले के लिए कौन चोर और कौन साहूकार! कौन राजा और कौन रंक! तो भगवान भले को भले और बुरे को भले दिन दे कि किसी भादों में ठगों की एक बस्ती पर लगातार पांच दिन तक बरसात होती रही।' [उलझन, पृ. १३६] इस तरह अनेक जीवन-खण्डों को एक साथ जोड़कर, अनुकूल भूमिका के साथ जो आगामी का संकेत भी करती है, कहानी शुरू होती है। लेकिन हर डेग पर, हर प्रसंग में अंतर्निहित सौंदर्य को उघारते चलने के लिए जिस तीव्र ऐन्द्रिकता की दरकार होती है, वह भी यहां अपनी सम्पूर्ण प्रभा के साथ मौजूद है। काफी नीचे उड़ते बगुलों की कतार निकलती है और देथा लिखते हैं—'उनके डैनों की हवा ठेठ जमीन तक आयी।'

अन्त में मैं देथा के ही इन वाक्यों को दुहराना चाहता हूं—'इस पर भी तुम जानना चाहो तो यह कहानी बीज जितनी पुरानी और फल जितनी नयी है। समन्दर जितनी पुरानी और बादलों जितनी नयी है। डूबते सूरज जितनी पुरानी और उगते सूरज जितनी नयी है।' [उलझन, 'आदमजाद', पृ. १३७] ○○

शीर्षकों को हमने 'रूंख' की जड़ का प्रतीक माना है। जड़ स्वभावतः नीचे होती है।

ग्रन्थों की योजनाएं :

'गुरुदक्षिणा' शीर्षक के अन्तर्गत, विज्जी उन रचनाओं को केन्द्र वनाकर २५-३० कहानियों का एक गुच्छ रचना चाहते हैं, जिन से उनका सृजन प्रणोदित है। उस क्रम की दो कहानियां—'गुरुदक्षिणा-१ : प्रिय मृणाल', रवि बाबू के 'स्त्रीर पत्र' पर आधृत और, 'गुरुदक्षिणा-२ : अदीठ' पितामह तोलस्तोय की मानस-पुत्री 'आन्ना कारेनिना' पर केन्द्रित, यहां प्रस्तुत हैं।

भाषा और संस्कृति ; अनुवाद के आयाम ; जैन कथाओं की दार्शनिक पृष्ठभूमि, और स्त्रीर पत्र की समीक्षा—इन चारों पर विज्जी सम्पूर्ण ग्रन्थ रचने में प्रवृत्त हैं। चारों के प्रथम अध्याय यहां प्रस्तुत हैं।

कुछ शीर्षकों के विषय में :

जैसे अंग्रेजी में लैटिन, ग्रीक, फ्रेंच, इतालवी आदि भाषाओं के शीर्षक लोकप्रिय हैं, वैसे ही हिन्दी में भी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं और सभी अर्वाचीन भाषाओं के शीर्षकों की संख्या वढ़नी चाहिए। अभी इनके छुट-पुट उदाहरण ही, कभी-कभी, कहीं-कहीं दिख जाते हैं, जैसे—'अथातो सौन्दर्य-जिज्ञासा', 'वयं रक्षामः', 'एपार वांग्ला, ओपार वांग्ला' आदि।

इस प्रथम सम्भार में वांग्ला के चार शीर्षक : 'स्त्रीर पत्र', 'आमार जगत', 'रोगीर नववर्ष' और 'छविर अंग' इसी दृष्टि से अपनाये गये हैं। वांग्ला की 'र' विभक्ति 'का', 'की', 'के' तीनों का काम देती है, मृदु और छोटी है। इसे अपनाने से भाषा और भाव दोनों की मधुरिमा वढ़ी है।

एक व्याकरणिक पहलू :

हिन्दी में सम्वन्ध कारक की विभक्तियां 'का, की, के' तो हैं ही, किन्तु हमारे पूर्व पुरुषों ने परम उदारतापूर्वक चार प्रमुख सर्वनामों के लिए 'रा, री, रे' विभक्ति अपना कर मार्ग प्रशस्त कर दिया है। 'मेरा, मेरी, मेरे', 'हमारा, हमारी, हमारे', 'तुम्हारा, तुम्हारी, तुम्हारे' और 'तेरा, तेरी, तेरे' हम सवके सुपरिचित हैं। इस मार्ग पर आगे भी प्रगति हो सकती है और होनी चाहिए।

लोकभाषाओं की अभिव्यक्तियां मशीनी नहीं, जीवित और प्राणवन्त हैं। उन्हें अधिक-से-अधिक उदारतापूर्वक अपनाने वाले सर्जकों के हाथ अधिकतर रत्न लगने की आशा है। कृत्रिम सीमाओं का संकोच व्यर्थ है, उसे त्याग देने से ही वीज अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होगा। परिनिष्ठित, शुद्ध भाषा का शल्क सुरक्षित तो है, किन्तु विराट् सम्भावना का मार्ग उस से अवरुद्ध है। उस में प्राण है भी तो सोया-सोया ; दमित। ००

[पृष्ठ ५३१ की अन्तिम पंक्तियों में उल्लिखित संलग्नक—'इंडिया टुडे,' मार्च १५, १९८५ की रपट' का अंग्रेजी से अविकल अनुवाद]

सैंतालीस वर्ष पहले दिवंगत होकर—अब, बांग्ला उपन्यासकार शरत् चन्द्र चट्टोपाध्याय, भारतीय पुस्तक-प्रकाशन के इतिहास की, सिक्के ढालने वाली सबसे बड़ी टकसालों में से एक, सिद्ध हो रहे हैं। पिछले पखवारे में कलकत्ता के आनन्द पब्लिशर्स उनके समग्र साहित्य की दो लाख प्रतियां छापने की अपनी योजना में जोर-शोर से जुट गये। इस योजना में प्रकाशक को केवल रॉयल्टी [लेखकीय-अंश] की मद में चालीस लाख रुपयों की लागत आने जा रही है। अब तक किसी अकेले लेखक को मिलने वाली रॉयल्टी का, देश में, यह सबसे बड़ा सौदा है। शरत् बाबू की समग्र रचनाओं की बिक्री से—यदि प्रत्येक प्रति का मूल्य सौ ही रुपया हुआ तो—कुल दो करोड़ रुपयों की भारी रकम उतरने की उम्मीद है। 'चाहे जिस भाव पड़े,' आनन्द पब्लिशर्स के बादल बोस का कहना है, 'हम लेखकीय स्वत्वाधिकार-धारक को चालीस लाख रुपयों का भुगतान करने को वचनबद्ध हैं। उस राशि में इस से कोई अन्तर नहीं पड़ेगा कि हम वास्तव में कितनी प्रतियां छाप या बेच पाते हैं।'

चूंकि शरत् बाबू की रचनाओं की मांग बहुत अधिक है अतः प्रत्यक्षतः यह अच्छा, पक्का सौदा है। एक दशक पूर्व, एक ऐसी संस्था द्वारा उनकी समस्त रचनाएं प्रकाशित की गयी थीं, जिसका गठन केवल उनकी जन्मशती मनाने के लिए हुआ था। उस संस्करण की सारी प्रतियां, पुस्तक के वस्तुतः छपने के पूर्व ही खरीदी जा चुकी थीं। पहली पचास हजार प्रतियों की अग्रिम बुकिंग लगभग चार मास में ही पूर्ण हो गयी थी, और, सन् १९७८ ई. में, जब सारे ग्राहकों तक पुस्तकें पहुंचायी गयीं, तब तक जन्मशती-समिति ने पचास हजार प्रतियां और छापने का निर्णय कर लिया—और, वे सब प्रतियां भी बिक गयीं।

'उपन्यासकार के रूप में तो शरत् बाबू रवि बाबू से भी बढ़कर लोकप्रिय हैं। बुद्धि-

परिशिष्ट: १

शरत् बाबू की विलक्षण लोकप्रियता

जीवियों को यह तथ्य चाहे जितना अग्राह्य लगे, कोई बात नहीं।' यह घोषणा बांग्ला के सबसे अधिक बिकने वाले आधुनिक उपन्यासकार मणिशंकर मुखर्जी करते हैं, जो 'शंकर' के छद्मनाम से लिखते हैं। शंकर के इस दावे का खण्डन या मण्डन—दोनों दुष्कर है। विश्वभारती विश्वविद्यालय नोबुलजयी साहित्यकार रवि बाबू की सारी रचनाओं के एकाधिकारी प्रकाशक हैं। वहां प्रकाशन और विक्रय संबंधी सभी अभिलेख संरक्षित हैं। उन अभिलेखों के आधार पर रवि बाबू के अलग-अलग उपन्यासों की कुल मिलाकर ग्यारह लाख बीस हजार प्रतियां बिक चुकी हैं। उनके एक दर्जन उपन्यासों में से दो—'राजश्री' और 'शेषेर कविता' की छह लाख से अधिक प्रतियां बिक चुकी हैं, जबकि शेष प्रत्येक उपन्यास की बिक्री का औसत पचास-पचास हजार प्रतियों का है।

शरत् बाबू की रचनाओं के दो निजी प्रकाशकों—'एम.सी. सरकार ऐण्ड सन्स' और 'द इण्डियन एसोशियेटेड प्रेस कम्पनी' ने तुलनीय अभिलेख सुरक्षित नहीं रखे हैं। आनन्द पब्लिशर्स के हाथ बेचने के पूर्व शरत् बाबू की समस्त रचनाओं के सर्वाधिकार, जिस एम.सी. सरकार ऐण्ड सन्स के पास थे, उसके अधिष्ठाता सुप्रिय सरकार का दावा है कि शरत् बाबू के तेरह अलग-अलग उपन्यासों में से प्रत्येक की तत्काल पैंतीस-पैंतीस हजार प्रतियां प्रति वर्ष बिकती हैं। 'पांच वर्ष पूर्व प्रत्येक उपन्यास की लगभग बीस-बीस हजार प्रतियां प्रति वर्ष बिका करती थीं, इस से पता चलता है कि अब इनकी मांग बढ़ रही है।' सरकार महोदय की राय है। वे दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि उन्होंने पिछले पचास वर्षों में शरत् बाबू के उपन्यासों की दस-दस लाख से अधिक प्रतियां बेच डाली हैं। आनन्द पब्लिशर्स 'शरत् साहित्य समग्र' का अपना संस्करण उन लालायित ग्रामीण पाठकों के हाथ बेचने का लक्ष्य लेकर चले हैं जो समस्त शरत् साहित्य खरीदने में आर्थिक अक्षमता के कारण, मन मसोस कर रह जाते थे। एम.सी. सरकार ऐण्ड सन्स ने जो सम्पूर्ण शरत् साहित्य छाप रक्खा है, उसका मूल्य साढ़े चार सौ रुपये है। वे इस संस्करण की मात्र पचास हजार प्रतियां बेच पाये हैं। इस संस्करण की तुलना में आनन्द पब्लिशर्स अपने 'शरत् साहित्य समग्र' का मूल्य केवल सौ रुपये रखने जा रहे हैं।

आनन्द पब्लिशर्स और सरकार—दोनों की नीयत यह है कि सन् १९८८ ई. में प्रतिलिप्यधिकार [कॉपीराइट] की समाप्ति के पूर्व शरत् बाबू की लोकप्रियता से अधिकाधिक लाभ कमा लें। उसके बाद तो कोई भी प्रकाशक, बिना किसी की अनुमति लिये, उनकी रचनाएं छापने को स्वतंत्र होगा और किसी को, किसी प्रकार की रॉयल्टी भी नहीं देनी पड़ेगी। 'चूंकि हम लोग पहले ही शरत् बाबू की रचनाएं प्रकाशित करना शुरू कर चुके हैं, अतः जब प्रतिलिप्यधिकार समाप्त हो जायेंगे तब भी हम लोग अपने प्रतिस्पर्द्धियों से आगे रहेंगे।' बादल बसु अपनी योजना की इस प्रकार व्याख्या करते हैं। सूचनाओं के अनुसार सुप्रिय सरकार ने शरत् बाबू के भतीजे की पत्नी मोनिका चटर्जी को मोटी रकम चुकाकर समस्त रचनाओं के प्रतिलिप्यधिकार प्राप्त किये थे।

रूपा ऐण्ड कम्पनी के एन.डी. मेहरा जैसे प्रकाशकों को आनन्द पब्लिशर्स द्वारा निर्धारित किये गये विक्रय के ऊंचे लक्ष्य की पूर्त्ति में सन्देह है। मेहरा जी कहते हैं—'सिवाय शेक्सपियर के, किसी भी अन्य लेखक की सम्पूर्ण रचनाओं के एक अकेले संस्करण की एक

लाख प्रतियों से अधिक बिकने की घटना, मुझे तो याद नहीं आती।' किन्तु कलकत्ता के बड़े खुदरा पुस्तक-विक्रेताओं का दावा है कि बांग्ला उपन्यास और हिन्दी के पेपरबैक्स [अजिल्द कथा-साहित्य] देश में सर्वाधिक बिकते हैं। सत्यजित राय, समरेश बसु और शंकर के उपन्यासों की कई लाख रुपये की बिक्री होती है—जबकि, निरपवाद रूप से इन लोगों की पुस्तकें केवल सजिल्द रूप में ही छपती हैं। वस्तुतः बाजार कितना अधिक बड़ा है इसका ठीक अनुमान इस तथ्य के आधार पर किया जा सकता है कि शंकर के तीन उपन्यासों के समेकित संस्करण ने एक लाख चालीस हजार प्रतियों की बिक्री का कीर्त्तिमान स्थापित किया। हिन्दी के अजिल्द कथा-साहित्य [पेपरबैक] का मूल्य सामान्यतः दस रुपये प्रति के अन्दर ही होता है जबकि बांग्ला के तुल्य सजिल्द उपन्यासों का मूल्य बीस रुपये से निश्चय ही ऊपर हुआ करता है।

'शरत् चन्द्र को उनके जीवन-काल में उस प्रकार की मान-प्रतिष्ठा और लोकप्रियता का सुख नहीं मिला जो रवीन्द्रनाथ ठाकुर और बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय को सहज-सुलभ था।' शंकर रोना रोते हैं। शरत् बाबू के उपन्यास अपनी शैलीगत अकृत्रिमता और सामाजिक कथावस्तु के कारण अतीत में, और बहुत बड़ी हद तक आज भी 'साहित्यिक विषय-वस्तु विहीन' समझे जाते हैं। 'उन्होंने जिस प्रकार की ख्याति के मजे लिये वह 'बुद्धिजीवी व्यवस्था-पक्ष और निजी जीवन' दोनों में सन्देहास्पद अर्थात् बदनाम व्यक्ति के रूप में थी।'—ऐसा सरकार महोदय का मत है। उनके पिता, सुदूर अतीत में—अर्थात् सन् १९१३ ई. में, शरत् बाबू के प्रथम प्रकाशक थे। चूंकि उन्हें किसी भी प्रकार के संस्थान-प्रतिष्ठान का पृष्ठपोषण प्राप्त नहीं था, अतः शरत् बाबू के उपन्यास, उनके देहान्त के उपरान्त 'ऐसे लोगों ने प्रकाशित किये जिन्होंने अच्छी छपाई और श्रेष्ठ उत्पादन के सरदर्द मोल नहीं लिये। इस प्रकार उनकी पुस्तकों की बिक्री में बहुत मन्दी आ गयी।' —यह शंकर का तर्क है।

कैसी विडम्बना और कितना क्रूर व्यंग्य है कि सन् १९३८ ई. में जब शरत् बाबू का देहान्त हुआ, तो—बताया जाता है कि, लगभग पचीस निकटतम व्यक्ति-मात्र उनके घर शोकोद्‌गार-श्रद्धांजलि आदि अर्पित करने गये। लेकिन आज उनके सहस्रों भक्त पाठक, राज्य भर में, उनके समग्र-साहित्य का अग्रिम मूल्य चुकाने को, कतार में घण्टों खड़े दिख रहे हैं।

व्यातव्य : इन्द्रानिल बनर्जी की यह रपट 'इंडिया टुडे' के मार्च १५, १९८५ अंक में प्रकाशित हुई। 'रूंख' की यह प्रति प्रकाशित होते-होते भविष्य और सम्भावना की बहुत-सी बातें अतीत और इतिहास का अंग बन चुकीं।

अब शरत् बाबू के निधन [१६.१.१९३८ ई.] का ४९वां वर्ष पूरा हो चुका है।

फरवरी ८५ के अन्तिम पक्ष में जिस योजना का सूत्रपात हुआ था अब वह योजना सफल होकर कीर्त्तिमान बन चुकी है। 'शरत् साहित्य समग्र' का सुकुमार सेन द्वारा सम्पादित प्रथम अखण्ड संकलन, आनन्द पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड द्वारा बंगाब्द १३९२ [१९८५ ई०] में, रथयात्रा के अवसर पर, प्रकाशित हो चुका है। इसके प्रत्येक पृष्ठ की

नाप लम्बाई में २६.५ सेमी. और चौड़ाई में १६.५ सेमी. है। इस ग्रन्थ-रत्न की कुल पृष्ठ संख्या २२५६ है, और इस में राइस पेपर प्रयुक्त है। अग्रिम भुगतान करने वालों के लिए ६० रुपये की एक प्रति थी ; फिर १२० रुपये मात्र प्रत्येक प्रति का मूल्य निर्धारित हुआ। पुनर्मुद्रित होने पर मात्र १२५ रु. प्रत्येक प्रति का मूल्य हो गया। इस में शरत् वावू के पत्रों को छोड़ कर उनकी सभी रचनाएं— उपन्यास, कहानियां, नाटक, निवन्ध, प्रकीर्ण लेख आदि—समाविष्ट हैं।

इस रपट में शरत् वावू की जिस असाधारण जनप्रियता का संकेत है उसका क्षेत्र केवल पश्चिमी वंगाल प्रदेश और वंगभाषी जनता तक ही सीमित है। शरत् वावू के अ-वांग्ला-भाषी भक्तों की दशा इस का विषय नहीं है। अतः शरत् वावू के अनुवादों की यहां तनिक भी चर्चा नहीं। शंकालुजन की यह धारणा—कि शेक्सपियर के अतिरिक्त किसी अन्य लेखक की समस्त रचनाओं के किसी एक संस्करण की एक लाख से अधिक प्रतियां विक पाना अश्रुतपूर्व है—पूर्णतः निर्मूल सिद्ध हो चुकी है।—रूंख ००

पृष्ठ १९९, पंक्ति १८, २०५, ५; ३४३, २२ एवं ३४४, १
यदिदम् किंच जगत् सर्वम् प्राण एजति निःसृतम् ।
अर्थात्, जब यह, और यही क्या, सारा जगत् ही प्राण के शक्ति-संचालन से निःसृत है ।

पृष्ठ ३४३, २२
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः ।
आकाश में [ऊपर ही ऊपर उठता हुआ] एक वृक्ष भी [उसी महाविस्मय से] स्तब्ध खड़ा है !

मूल श्लोक

हिन्दी रूपान्तर पृष्ठ ३४६ :
नानाकवीन्द्रवचनानि मनोहराणि
संख्यावतां परमकण्ठविभूषणानि ।
अकम्पकानि शिरसश्च महाकवीनां
तेषां समुच्चयमनर्घमहं विधास्ये ।

हिन्दी रूपान्तर पृष्ठ ३४७ [पहला]
प्रीतिं पल्लवयन्तु कर्णकलसीमापूरयन्तुश्चिरं
मज्जन्तः परिशीलयन्तु रसिकाः पंचप्रवाहानिह ।।
—सदुक्तिकर्णामृत, प्रस्ताव, श्लोक ४

परिशिष्ट: २

अर्थ, सन्दर्भ और उद्धरण

पृष्ठ ३४७, अनुच्छेद तीन की अन्तिम तीन पंक्तियों में वर्णित अचितदेव का मूल-वचन :
उपपत्तिभिरम्लाना नोपदेशैः कदर्थिताः।
स्वसंवेदनसंवेद्यसाराः सहृदयोक्तयः।।
—सुभाषितावलिः, कविकाव्यप्रशंसा, श्लोक सं. १४२, पृष्ठ २३

हिन्दी रूपान्तर पृष्ठ ३४७ [दूसरा]
अनपेक्षितगुरुवचना सर्वान्ग्रन्थीन्विभेदयति सम्यक्।
प्रकटयति पररहस्यं विमर्शशक्तिर्निजा जयति।।
—सुभाषितावलिः, श्लोक सं. २, पृष्ठ १

हिन्दी रूपान्तर पृष्ठ ३४६
दृष्टं किंचिददृष्टमन्यदपरं वाचालवार्त्तार्पितं
भूयस्तुंग पुराणतः परिणतं किंचिच्च शास्त्रश्रुतम्।
सक्त्या वस्तु यदत्र चित्ररचनं तत्काव्यमव्याहेतं
रत्नस्येव न तस्य जन्म जलधेर्नोरोहणाद्वा गिरेः।।
—काव्य मीमांसा, कवि रहस्ये षष्ठोऽध्यायः, गायकवाड़ संस्करण, पृ० २५

हिन्दी रूपान्तर, पृष्ठ ३५५
अन्योयस्य लयं भयादिव महाभूतेषु यातेष्वलं
कल्पान्ते परमेक एव स तरुः स्कन्धोच्चयैर्जृम्भते।
विन्यस्य त्रिजगन्ति कुक्षिकुहरे देवेन यस्यास्यते
शाखाग्रे शिशुनेव सेवित जलक्रीडाविलासलासम्।।
—त्रिविक्रमभट्ट, सुभाषितावलिः, छन्द १०२६, पृष्ठ १७१

पृष्ठ ४३७ की अन्तिम पंक्ति से पृष्ठ ४३८ की आठवीं पंक्ति तक
इल्यूजन ऐण्ड रिअलिटी, क्रिस्टॉफर कॉडवेल कृत, पृष्ठ २३

पृष्ठ ४३६ पंक्ति ८ से १५
ऋग्वेद १०/१४६/१-६

पृष्ठ ४४३, पंक्ति ६ से १३
भारत ; श्रीपाद अमृत डांगे, पृष्ठ ५८

पृष्ठ ४४६, पंक्ति १४ से १६
कर फुलेल कौ आचमन, मीठौ कहत सराहि।
गन्धी गन्ध-गंवार कौ, अतर दिखावत काहि ?
कर लै सूंघि सराहि कै, सबै रहै गहि मौन।
गन्धी गन्ध गुलाब कौ, गंवई गाहक कौन ?—विहारी

पृष्ठ ४५०, पंक्ति १ से ११
'परिवार, सम्पत्ति और राज-सत्ता की उत्पत्ति' ; फ्रेडरिक एंजिल्स ; पृष्ठ १५१-१५२

पृष्ठ ४५२, पंक्ति ११ से १३ : 'जाति विचार को भुलाकर व्यक्ति को प्रधानता दी जाती है। साहित्य को जगन्नाथ का क्षेत्र समझा जाता है। जहां केवल व्यक्ति के प्रवेश को मान्य समझा जाता है।'

—साहित्य के पथ पर, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, पृष्ठ ७२-७३

यहां इसी प्रथम संभार से चुनिन्दा शब्दों की थाती वर्णानुक्रम से संजोयी हुई है।

ज्ञान हो या बोध, सूझ हो या समझ, प्रेम हो या घृणा, संकोच हो या आशंका—अर्थात् हर सद्भावना-दुर्भावना-उद्भावना—प्रत्येक भावावेग, अभिव्यक्ति के लिए आकुल होता है। अनुभूति के गहरे क्षणों में वाणी का तार अवरुद्ध हो जाता है। जाने-पहचाने शब्द भी विमुख हो जाते हैं। शब्द मानो होते ही नहीं!

ऐसे क्षणों में सटीक अभिव्यक्ति मिल जाने से कोई कांटा कढ़ जाता है। वैसे ही क्षणों में टटोलने की है यह—मंजूषा! हो सकता है इसी में से सही अभिव्यक्ति निकल आये—यह भी हो सकता है कि तादात्म्य और साहचर्य के नियमों के अनुसार सटीक अभिव्यक्ति कौंध जाये। इसकी उपयोगिता प्रयोग से ही अनुभूत होने की है।

भगवान् पतञ्जलि के 'महाभाष्य' की यह प्रस्तावना इस विषय में पूर्ण प्रासंगिक है: 'एक: शब्द: सम्यगधीत: सम्यक् प्रयुक्त: स्वर्गेलोके कामधुग्भवति'—अर्थात् 'यदि एक शब्द का भी सम्यक् रूप से अध्ययन कर लिया जाये और उसका ठीक-सटीक उपयोग हो जाये तो स्वर्ग में—और इस लोक में भी कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं।' इसीलिए 'शब्द' ब्रह्म—सतत् वर्द्धनशील! इसी कारणवश 'शब्द गुण आकाश'—अर्थात् शब्द की पहुंच सारे अस्तित्व में है।

परिशिष्ट: ३

मंजूषा

अंकित अंकुर अंकुरित अंग अंगीकार अंजलि अंजाम अंत:पुर अंत:प्रकृति अंत:प्रज्ञा अंत:स्वर्ग अंतरंग अंतरतम अंतरात्मा अंतराल अंतरिक्ष अंतर्यामी अंतर्वेदना अंतर्हित अंतश्चेतना अंतस अंदाज अंध-अविश्वास अंधविश्वास अंधानुकरण अंवार

अकलुषित अकस्मात् अकल्पनीय अकाट्य अकातर अकारथ अकिंचन अकुंठित अकूत अक्रन्दित अक्षत अक्षम अक्षम्य अक्षय अक्षुण्ण अख्यात अगण्य अगम्य अगाध अगोचर अग्नि-शिखा अग्रणीय अचंचल अचिन्त्य अचीन्हा अचेतन अछोर अजर अजस्र अजीज अजीव अट्टहास अणु अतल अतिक्रमण अतिक्रमित अतिरंजित अतिरेक अतुल अतृप्त अत्युक्ति अथच अदम्य अदृश्य अद्भुत अद्वितीय अद्वैत अधिकृत अधिष्ठाता अधिष्ठान अधिष्ठित अधुनातन अधोरेखा अनन्त अनन्य अनर्गल अनहद अनादर अनादृत अनाम अनायास अनावृष्टि अनासृष्टि अनिच्छा अनित्य अनिन्द्य अनियंत्रित अनिर्वचनीय अनिर्वापित अनुगुम्फित अनुपम अनुप्रविष्ट अनुप्राणित अनुप्रेरित अनुबन्धित अनुभव अनुभूति अनुरंजन अनुरणन अनुराग अनुष्ठान अनुशासन अनुशीलन अनुसंधान अनुसृजन अन्तराय अन्तर्दृष्टि अन्तर्द्वन्द्व अन्यमनस्क अन्योक्ति अन्वेषित अपकर्ष अपकृत्य अपमान अपरंच अपरम्पार अपराह्न अपरिचित अपरिसीम अपरिस्फुट अपरीक्षित अपरूप अपलक अपवाद अपसारित अपूर्व अपेक्षा अपेक्षित अपौरुषेय अप्रतिभ अप्रतिम अप्रतिहत अप्रत्याशित अप्रस्तुत अप्रासंगिक अबोध अभाव अभिज्ञान अभिभाषण अभिनन्दनीय अभिनय अभिनिहित अभिप्राय अभिप्रेत अभिप्रेरित अभिभावक अभिभूत अभिमत अभिशप्त अभिसारिका अभियोग अभिरुचि अभिव्यंजना अभीप्सित अभीष्ट अभेद्य अभ्यन्तर अभ्यर्थना अभ्यागत अभ्युदय अभ्रभेदी अमूर्त्त अमृतकर अयाचित अरक्षणीया अरमान अरसिक अर्घ्य अर्जन-वर्जन अर्थच्छवि अर्थच्छटा अर्थवत्ता अर्द्धांगिनी अलंघ्य अलगाव अलमस्ती अलीक अलौकिक अल्फाज अवगत अवगुंठन अवचेतन अवचेतना अवतरित अवतारणा अवतीर्ण अवबोधन अवमानना अवयव अवयवी अवरुद्ध अवरोध अवरोह अवलम्बन अवश्यंभावी अवसन्न अवसाद अवसादित अवसान अवस्थित अवांछित अवाक् अवाच्य अवान्तर अवारित अविकल अविचल अविच्छिन्न अविच्छेद्य अविद्या अविनाशी अविनश्वर अविभाज्य अविलम्ब अविरल अविराम अव्यवहित अशन-वसन अशिष्ट अश्रुपात असंगत असंतुलन असंपृक्त असह्य असीम

अस्त अस्थिर अस्मिता अस्फुट अहदी अहम्मन्यता अहमियत अहर्निश
अहसास अहेतुक

आंतरिक आकंठ आकर्षण आकुंचन आकुंचित अकुल आक्रान्त आख्यान
आगामी आगाह आगोश आचार आच्छन्न आच्छादित आतंक आत्मघाती
आत्मतुष्ट आत्मप्रकाश आत्मबोध आत्ममुखर आत्मयंत्रणा आत्मविस्मृत
आत्मसम्मान आत्मसात आत्मिक आत्मीय आधिपत्य आधृत आध्यात्मिक
आनन-फानन आनन्दलोक आनुषंगिक आपात आपात-दृष्टि आप्तवचन
आप्लावित आबद्ध आभास आभिजात्य आभ्यंतरिक आमादा आमूल-चूल
आमोद आयत आयतन आयाम आरक्त आरक्षित आरण्यक आरोपित आरोह
आर्त्तनाद आर्य-मर्म आर्य-शब्द आर्य-सत्य आलम आला आलोक आलोक-पुंज
आलोड़न आलोड़ित आवरण आविष्कृत आविष्ट आवेग आवेश आवेष्टित
आवर्जना आवर्त्त आवह आवि आशातीत आशान्वित आश्वस्त आश्रय
आसन्न आस्वाद आहत आहरण आहिस्ता आहूत आह्निक

इकरार इजहार इतर-विशेष इनायत इन्द्रजाल इफरात इयत्ता इल्तजा
इल्म

ईर्ष्या

उक्त उचित उच्चरित उच्चारित उच्चाश्रय उच्छ्वास उच्छिष्ट उछाह
उजागर उत्कट उत्खनन उत्खनित उत्तप्त उत्तराधिकार उत्तरायण उत्ताप
उत्तापित उत्तीर्ण उत्तेजना उत्तोलित उत्थित उत्पीड़न उत्प्रेरक उत्प्रेरित
उत्फुल्ल उत्स उत्सरित उदयाचल उदात्त उदार उदारचेता उदित उद्दंड
उद्दाम उद्दीपन उद्दीप्त उद्धृत उद्भावना उद्भावित उद्भासित उद्भिज
उद्भूत उद्भ्रान्त उद्यत उद्रेक उद्विग्न उद्वेग उद्वेलित उधेड़-बुन उनींदा
उन्मथित उन्माद उन्मुक्त उन्मेष उपकरण उपकृत उपचार उपचारी
उपनीत उपपत्ति उपरान्त उपलखण्ड उपलब्ध उपसर्ग उपादान उपेक्षा उर्वरा
उर्वर उल्लंघन उल्लास

ऊर्जा ऊर्ध्वगामी ऊर्ध्वगति ऊर्ध्वरेखा ऊष्णमण्डल

ऋत

एकात्म्य एकान्त एतबार एलान एहतियात

ऐन्द्रिय ऐन्द्रिक

ओज ओत-प्रोत

औचित्य

कंठस्थ कजरारी कद्दावर कनौती कन्यादाय कमसिन कम्पायमान करतव
करारा करिश्मा करीना करुणा कर्कश कर्मठ कर्मप्रचेष्टा कर्णभेदी कलमवन्द
कलंक कलरव कलश कलहंस कलावन्त कलुषित कल्पतरु कल्याण कल्याणी
कशमकश कसक कहर कापुरुष कामोत्तेजना कारस्तानी काल-प्रान्तर
कालातीत कालिमा काव्यमयी किंचित किसलय कुण्ठाग्रस्त कुत्सित कुन्द
कुमति कुलटा कुल कुविचार कुव्वत कृतज्ञता कृत्रिम क्रन्दन क्रमागत
क्रियान्वित क्लान्त क्लिष्ट क्षुद्र क्षुधातुर क्षुधित

खमियाजा खमीर खलिहान खिन्नता खुर्दबीन ख्यात

गणिका गति गनीमत गन्तव्य गन्धी गर्जवान ग्रहचक्र गलीज गवारा
गवेषणा गागर गाज गाछ गाफिल गुंजन गिरफ्त गुनगुना गुप्तचर गुमसुम
गुमराह गुम्फन गुम्फित गुमान गोपनीय गौरव गौरवमयी ग्रसित ग्रस्त

घनघोर घनिष्ठ घनीभूत घामड़ घूर्ण्यमान

चकत्ता चतुर्दिक चन्द्रातप चमत्कार चरितार्थ चाक्षुष चापल्य चित्रित
चिन्तन चिन्मय चिरन्तन चिर चीत्कार चेष्टा चौकसी चौपाल

छतनार छद्म छप्पर छवि छिन्न

जंजाल जगदीश्वर जघन्य जच्चा जठराग्नि जड़वत् जमदूत जयपताका
जर्जरित जलाशय जलील जवांमर्द जायजा जालिम जाहिर जिगर
जिजीविषा जिज्ञासा जिरहवख्तर जिल्लत जीवतत्त्व जीर्ण जीर्णशीर्ण जीव
जीवचक्र जीवन्त जोम ज्योतिर्मय ज्वलन्त

झंकृत झन्नाट झमेला झांझर झिरमिर झिलमिली झुरमुट

टकसाल टेहरी

तकरार तड़िताघात तत्पश्चात् तत्त्वचिन्तन तप्त तफसील तब्दील तमाल
तमाशबीन तमीज तरंग तरंगाहत तरजीह तराश तरोताजा तर्कानल

तर्ज-अदा तर्जो-अदा तलव तलाश तहस-नहस ताजिन्दगी तादात्म्य ताप तामझाम तारिका तासीर तिक्त तिरस्कार तिरोहित तुनुकमिजाज तुरताफुरत तुष्ठमान तेवर तैश तोशाखाना तोहमत तौहीन त्रासदी त्रिविभात्मक त्वरित

दक्ष दग्ध दन्तुर दमित दरकिनार दरियाफ्त दर्दीला दस्तावेज दस्तूर दहशत दांभिक दावानल दास्तान दावेदार दिगन्त दिगन्तराल दिगन्तव्यापी दिप-दिप दिवास्वप्न दिव्यास्त्र दिशाभ्रमित दिसावर दीगर दीर्घ दीदार दुःखान्तिका दुराशा दुराशिप दुत्कार दुर्गति दुर्दान्त दुर्धर्प दुर्भाग्य दुर्भावना दुर्वाक्य दुश्चक्र दुश्वार दुष्कर्म दुस्सह दृष्टान्त दृष्टि दौरान द्युलोक द्योतक द्रविड़ द्रवित द्रवीभूत द्रष्टा द्वन्द्व

धमाल धवल धर्मज्ञान धर्मसंकट धर्मावतार धाकड़ धारणागम्य धारणातीत धारोष्ण धावित धेय ध्रुवत्व ध्वस्त

नजरिया नजात नफरी नफीस नभस्थल नमूदार नर-भक्षी नवनवोन्मेप नवप्रतिष्ठ नवेली नश्तर नष्ट नसवार नसीव नाद नागपाश नागवार निःशव्द निःशेप निःश्वास निःसंग निक्षिप्त निक्षेप निखालिस निखिल निगूढ़ निचुल निजंधरी नितम्ब नितान्त नित्य नित्यकर्म निदारुण निनाद निन्दक निपट निपुण निवद्ध निवद्धित निभृत निमज्जित निमित्त निमिष नियंत्रित नियमित नियामत निरन्तर निरपेक्ष निरभ्र निरर्थक निरस्त निराकार निरानन्द निरावृत निराश्रिता निरासक्त निरीह निरुपाय निरूपित निर्झर निर्दिष्ट निर्द्वन्द्व निर्धारित निर्निमेष निर्वन्ध निर्वाध निर्वोध निर्मम निर्मित निर्मुक्त निर्मूढ़ निर्वसन निर्वसित निर्वाक निर्वाण निर्वासिन निर्वासित निर्विकार निर्वीर्य निर्वैयक्तिक निवारण निवारित निविड़ निवृत्ति निशीथ निश्चेष्ट निपिद्ध निष्कर्ष निष्कलंक निष्कासित निष्कृति निष्ठा निष्ठारत निष्ठाविहीन निष्ठुर निष्णात निष्पादित निष्प्राण निसर्ग निस्तव्ध निस्तार निस्तेज निस्पन्दित निःस्पृह निस्संग निस्सरण निहायत नीरद नीहारिका नुक्ताचीनी नूतन नृशंसता नैपुण्य नैवेद्य नैसर्गिक

पंगु पंछी पक्षधर पगहा पगार पटवन्ध पटल पटवसन पड़ताल पड़ाव पत्रमूल पदार्पण परंपरागत परजीवी परतीला परलोक परवरिश परवान परवर्ती पराक्रम पराभव पराभूत परास्त पराहत परिकल्पना परिचारक

परिचित परिजन परिणति परिणेता परितृप्त परित्याग परित्राण परिदृष्टि
परिधान परिपक्व परिपुष्ट परिपूर्ण परिपूर्णता परिपोषक परिभाषित
परिमार्जित परिलक्षित परिवेश परिवेष्टित परिव्यक्ति परिव्याप्त परिशुद्ध
परिष्कृत परिसीमित परिस्फुट परिहार परिहास परीक्षक पर्यावरण पल्लव
पल्लवित पश्चात्ताप पाकाशय पाती पारंगत पारदर्शी पार्थक्य पार्थिव
पार्थिवता पार्श्वचर पार्श्वस्थ पाश पिंजर पिंड पितृवंश पिपासु पिशाच
पिष्टपेषण पीताम्बर पुंज पुआल पुनर्जागरण पुनर्जीवन पुरजोर पुष्पानुरूप
पूरमपूर पूर्ववर्ती पेशकश प्रकट प्रकाण्ड प्रकृत प्रकृति प्रकृतिस्थ प्रकोष्ठ
प्रक्रिया प्रखर प्रगति प्रगल्भ प्रगाढ़ प्रचण्ड प्रचेष्टा प्रच्छन्न प्रजाति
प्रजापति प्रज्वलित प्रणत प्रणयन प्रणोदित प्रतारित प्रतिकार प्रतिकृति
प्रतिक्रिया प्रतिच्छवि प्रतिदान प्रतिपक्ष प्रतिपन्न प्रतिपादन प्रतिफलित
प्रतिविम्व प्रतिभा प्रतिभासित प्रतिमान प्रतिमूर्त्ति प्रतिरूप प्रतिरोध प्रतिवाद
प्रतिवेशिनी प्रतिशोध प्रतिश्रुत प्रतिष्ठा प्रतिष्ठान प्रतिष्ठित प्रतिहत प्रतिहार
प्रतीक प्रतीति प्रत्यंचा प्रत्यक्ष प्रत्यक्षीकरण प्रत्यय प्रत्याख्यात प्रत्याख्यान
प्रत्याशा प्रत्यावर्तन प्रथा प्रदक्षिणा प्रदत्त प्रदर्शित प्रदीक्षित प्रदूषित प्रपंच
प्रबुद्ध प्रभामण्डल प्रभारी प्रभूत प्रभृति प्रभेद प्रमाद प्रमुदित प्रमोद प्रयाण
प्रयोजन प्रयोजनीय प्ररोचना प्रलाप प्रलुब्ध प्रवंचित प्रवक्ता प्रवचन प्रवर्त्तक
प्रवर्त्तन प्रवासी प्रवेश प्रशमित प्रशस्त प्रशान्त प्रशिक्षण प्रशिक्षित प्रश्रय
प्रसंग प्रस्तर-युग प्रस्ताव प्रस्तुति प्रस्थापना प्रस्थापित प्रस्फुटित प्रांगण
प्रांजल प्रांतर प्राचुर्य प्राणघाती प्राणपण प्राणवन्त प्राणायाम प्राणेश्वरी
प्राप्य प्रायश्चित्त प्रारम्भिक प्रावधान प्रासंगिक प्रासादिक प्रियतमा प्रीत
प्रेतात्मा प्रैति प्रोल

फंतासी फलक फलस्वरूप फितूर फीरोजी

वंदोवस्त बख्शिश वछिया वद्-सुर वपौती वयार वरखा वरसगांठ
वलात्कार वलिष्ठ ववण्डर वसन्त वहवूदी वहिर्भूत वहुत्व वहूरानी वाधित
वानगी वारम्वार वारिश वासन विरादरी विसात वियावान वीजांकुर वूता
वूचा वृहदाकार वेइन्तहा वेगुनाह वेतहाशा वेनकाव वेवाक वेवफाई वेशुमार
वोधिवृक्ष वोधिसत्त्व वौछार वौद्ध-सत्य व्रह्मज्ञान व्रह्मज्योति व्रह्मसत्य

भड़ास भव्य भाग्य भाव भावबोध भावभूमि भावातिरेक भावविह्वल
भीषण भूमा भूमिष्ठ भृत्य भेषज भ्रामक भ्रूक्षेप भ्रूण

मंजूषा मंडप मंत्रद्रष्टा मंत्रपाश मंथन मंथर मंद्र मंशा मकबरा मकसद मगरूर मटरगश्ती मणिकांचन मदहोशी मद्धिम मनीषी मनहूस मनोमन्दिर मनोवांछित ममता मरकत मरघट मरण-आक्षेप मरीचिका मर्तबा मर्मान्तिक मरुत मरुथल मशक्कत मसविदा मसलन मसान महक महत्त्व महनीया महरूम महसूस महाकाश महाज्योतिर्मय महायोग महाशून्य महासुन्दर महिमान्वित मांगलिक माकूल माणिक्य मातृत्व मादक माद्दा मानदण्ड मायावी मसान मार्मिक मासूमियत माहिर मीनाकशी मीमांसा मुकुलित मुक्तिकामी मुखर मुखरण मुखरित मुन्हसर मुफीद मुमूर्षु मुल्तवी मुसाहिब मुस्तैद मुहूर्त्त मुह्यमान मूर्त्तिम्लान मूर्त्तिवत् मृतप्राय मेघमन्द्र मेघमाला मेजमान मेहर मोक्ष मोतबर मौकूफ म्लेच्छ

यंत्रणा यंत्रवत यकृत यति यत्किंचित यत्न यथार्थ यथावत् यथासम्भव यमक यश याचक याचना

रंचमात्र रक्त रक्त-पिपासु रचना-रत रज रनिवास रश्क रसातल रासायनिक राहत रीता रुझान रूपवती रूपान्तरित रूपसी रूपायित रूहानी रेखापात रोमांचित रोप रौ

लक्षित लतीफा लम्पट ललाट लवलेश लवाजमा लश्कर लांछना लावास्रोत लिप्सा लिबास लेशमात्र लोकालय

वंचित वंदनीय वक्रीभूत वज्र वज्रपात वज्रशिखा वर्चस्व वर्जित वजूद वरेण्य वर्णपात वर्णिका वर्धमान वलय वशीभूत वसीयत वसुन्धरा वहमी वाग्जाल वाचाल वाचिक वाटिका वातचक्र वातास वायवाकार वायु-राशि वारापार वास्तुविद् वाहन विकर्षण विकल्प विकीर्ण विकृत विकृति विक्षिप्त विक्षेप विगलित विग्रह विचक्षण विचलित विच्छेद विजयश्री विजयोल्लास विज्ञापित विडम्बना वितंडावाद वितरण वितान विदग्ध विदीर्ण विद्यमान विद्रूप विधाता विधृत विनम्रता विन्यास विपथगामी विपद्ग्रस्त विपन्न विपर्यय विपुल विभावरी विभीषिका विभेद विभोर विभ्रम विमत विमर्श विमर्ष विमुक्त विमोचन विरक्त विरल विराजमान विराट विरासत विरोधाभास विलक्षण विलुप्त विवर्ण विवश विवृत विवेक विव्रत विशद विशाल विशालकाय विशिष्ट विश्लिष्ट विश्वकर्मी विश्वस्त विश्वासन विषण्ण विषम विषाक्त विषाद विसर्जन विस्तारित विस्तीर्ण विस्तृत विस्फारण विस्फारित विस्मय विस्मयकारी विह्वल वीतराग वीरान वेदना

वेष्टित वैगुण्य वैताल वैभव वैविध्य वैषम्य व्यंजन व्यंजना व्यक्त व्यग्र व्यतीत व्यथित व्यवधान व्यवस्था व्यस्तता व्यवहृत व्याकुल व्याप्त व्याहत व्योम

शऊर शान्त शालीन शाश्वत शिखा शिद्दत शीर्ण शुचिकर शुभ्र शृंखला शैत्य शैल शैवाल शोहरत शौर्य श्यामल श्रवणातीत श्रमण श्रमनिरत श्रान्त श्रावक श्रुतिगोचर श्रेय श्रेष्ठ श्लथ

संकट संकीर्ण संकोच संकोचन संग संगम संघटित संघर्ष संचेतना संज्ञाविहीन संतप्त संतुलन संत्रस्त संदिग्ध संदर्भ संदेह संधान संपदा संपन्न संपृक्त संपूर्ण संप्रति संप्रेरित संप्रेषण संप्रेपणीयता संबोधन संभार संभावना संभाषण संयत संरचना संलिप्त संवरण संवर्द्धन संवर्द्धित संविदित संवृद्ध संवृद्धि संवेदनशील संशय संश्लिष्ट संसार संस्कार संस्थापित संस्पर्श संस्रव संहत संहरण सकल सघन सजग सजल सजीव सटीक सतरंगिनी सतीत्व सत्ता सदय सदाशयता सदृश सनातन सन्नाटा सन्निपात सन्निविष्ट सन्निवेश सन्निवेशित सन्निष्ठ सन्निहित सप्ततितम समकक्ष समक्रिया समग्र समग्रता समभाव समन्वय समन्वित समवेत समस्त समस्या समष्टि समाच्छन्न समाजच्युत समाजीकरण समादृत समाधान समाधिस्थ समावेश समाहित समीकरण सम्भाषण सम्मिश्रण सम्मोहन सम्यक् सरगना सरणी सर्ग सर्पिल सर्वज्ञ सर्वत्र सर्वथा सर्वांग सर्वोत्तम सरावोर सरोकार सलीका सलोनी सल्तनत सव्यसाचिता सशक्त सहज सहमत सहवास सहृदयता सांत्वना सांप्रत सांवेगिक साकार साक्षात्कार सात्विकता साधारणीकरण सान सान्निध्य सापेक्षता सामर्थ्य सार्वभौमिक साहचर्य साहस सिद्धान्त सिरमौर सुगम्भीर सुतराम् सुदीर्घ सुधापात्र सुनिपुण सुनियत सुबुद्धि सुमति सुरमई सुरहुरी सुराग सुविपुल सुपमा सूत्रच्छिन्न सौन्दर्य सौजन्य सौम्य सौषम्य सौष्ठव स्खलन स्तम्भित स्तनपान स्तब्ध स्तूप स्त्रैण स्थिति स्नानाहार स्नायुविहीन स्नेह स्नेहशीला स्पन्दनशील स्पन्दनहीन स्पर्धा स्पर्शमणि स्पर्श स्पष्टीकरण स्फटिक स्फुरण स्मित स्मृति स्वगत स्वप्नचारी स्वर स्वरलहरी स्वरूप स्वाती स्वलिखित स्वायत्तता

हंगामा हठात् हतप्रभ हतभागा हतशून्य हताश हस्तक्षेप ह्रस्व हादसा हिंडोला हिकारत हिमाकत हीनमन्यता हुक्मराना हुज्जत हृत्पिण्ड हृद्स्पन्दन हृदयंगम हृदयविदारक हेकड़ी हैरत

मंजूषा : अर्थ सहित

'जो एक ही वस्तु सजीवों से अधिक जानदार, निर्जीवों से कहीं ज्यादा जड़, सारी औषधियों मे बढ़ कर प्राण-बलदायक, हर विष से कई गुना मारक-अवसादक ; सभी प्रेरकों से बड़ा प्रेरक, हर रोधक मे महान् अवरोधक ; शहद से मीठा और नीम मे कड़वा ; जल से शीतल और आग से दाहक है—वह है क्या ?' वह एक वस्तु है—हर मनुष्य की मातृभाषा, उसकी अपनी बोली का सुमधुर शब्द ।

यहां वर्णानुक्रम में सजे हुए थोड़े-से शब्द अर्थ-सहित प्रस्तुत हैं। इन में से अधिकतर तो राजस्थानी के ही सुप्रचलित, सुललित, जीवन्त शब्द हैं परन्तु इसी में बांग्ला और कुछ अन्य लोक-भाषाओं के भी शब्द हैं। ताजा, नये खून की ये बूंदें राष्ट्रभाषा के रक्तप्रवाह में संचरित होकर उसे नयी आभा दे सकेंगी ।

हमारी पक्की राय है कि केवल इतने ही नहीं, देश की सभी बोलियों—तीन सौ के लगभग भाषिक नदियों, ताल-तलैयों की सुमधुर धाराएं आ-आकर राष्ट्रभाषा के महानद में सम्मिलित होनी चाहिएं। जो लोग राष्ट्रभाषा को किसी सीमित ढांचे में ही बांध कर रखना चाहते हैं वे महानद के स्थान पर इसे सड़े डबरे में परिणत करना चाहते हैं। भाषाएं इच्छाओं का ऐसा नियंत्रण नहीं मानतीं ।

अंजल : अन्नजल ; दाना-पानी ।
अंटी : धोती का कमर पर मुड़कर बंधने वाला सिरा, जिस में रुपया-पैसा रख लेने का रिवाज है। उसी का नाम 'टेंट' और पूर्वांचल में 'फेंटा' भी है।
अंवेरना : सहेजना ।
अखूट : अक्षय ।
अचीता : अप्रत्याशित ।
अचीन्हा : अपरिचित ।
अटंग : बिल्कुल नया, अछूता ।
अठ पहरी : आठों पहर काम आने वाला ।
अदीठ : अदृश्य ।
अदेर : अविलम्ब ।
अबेर : कुसमय । विलम्ब से ।
अबोट : विशुद्ध ।
अमोलक : अमूल्य ।
अरड़ाट : चिल्लाहट ।
अरदास : प्रार्थना ।
अलीक : बेलीक, परम्परा से हट कर।
असाड़ : प्रतिक्रिया-शून्य ।
आंटी : पूला ।
आक-बाक : चकित, भ्रमित, अप्रतिभ ।
आड़ंग : उमस भरी गर्मी ।
आमार जगत : हमारी दुनिया ।
आड़ष्ट : स्थिर, स्तब्ध, निस्पन्द ।
इकडंकी : सर्वोपरि ।

आस बुझना : सतृष्ण आशा पूर्ण होना।
उजान : विपरीत।
उजास : उजाला।
उझकना : गर्दन उठा कर या पंजों के बल उचक कर आड़ का दृश्य देखने का प्रयास करना।
उथलना : उलट-पुलट जाना।
उबकना : फूट पड़ना; रोक न मान कर निकल पड़ना।
एकटा : एक संख्यक।
एवाड़ा : भेड़ों या बकरियों का विश्राम स्थल, उनका वाड़ा।
ओजरी, ओझरी : जीवों के शरीर का पाचन-तन्त्र।
ओठी : ऊंट हांकने वाला।
ओडा : डलिया।
कंदोई : हलवाई।
कथीर : जस्ता
कवाड़ना : आहरण।
कब्बू : कबूतरी।
करोत : आरा।
कसूमल : अरुणिम लाल।
काछब : कश्यप, कछुआ।
कायरी : करंजी।
कावड़ : एक मन्दिर जैसी काठ की बनी आकृति। इसके द्वार के बहुत से मोड़ होते हैं। हर मोड़ पर देवताओं या महापुरुषों की आकृतियां चित्रित होती हैं। 'कावड़' अनुष्ठान-पूर्वक दिखाये जाते हैं और कावड़ दिखाते समय परिचयात्मक कविताएं सुनायी जाती हैं। पट जब पूरी तरह खुल जाता है तो सबसे भीतरी गर्भ-गृह में देवताओं के दर्शन होते हैं।
कुंकुम-कन्या : विनयवश एवं आर्थिक अयोग्यता दर्शाने के लिए केवल कन्या देने की चर्चा; उसके साथ और कुछ देने का सामर्थ्य नहीं—यह दर्शाना। 'स्त्रीर पत्र' की विन्दु वस्तुतः [विनयवश नहीं] 'कुंकुम-कन्या' थी।
कुंकुम-पत्रिका : विवाह का निमन्त्रण-पत्र।
कुबद : दुर्बुद्धि, धूर्त्तता।
कुरलाट : चीत्कार।
कुराई : खुदाई।
कुलंग : धूर्त्तता, बदमाशी।
कुव्वत : कूवत, सामर्थ्य।
कूंघा : इमली का बीज।
कूटा : कागज की लुग्दी।
केदारा : चौका, रसोईघर।
केर : सब्जी के रूप में प्रयुक्त करील के कच्चे फल।
केलूड़ा : छत-छाजन के लिए पकी हुई मिट्टी के 'खपड़ा-नरिया' जैसे राजस्थानी उपकरण।
खईस : खबीस, दुष्टात्मा।

खड़ : खर ; अनाज की वह डंठलें जो पशुओं का खाद्य हैं।

खत्ता : धक्का।

खसखसाहट : कागज या कपड़े सरकने की ध्वनि।

खसोलना : ठूंसना।

खिलापटा : पत्थर के स्थायी पायों पर, जो धरती में गड़े होते हैं ६ या ८ फीट चौड़े और ८ या १० फीट लम्बे पत्थर बिछा कर बनाया हुआ चबूतरे जैसा बैठने का स्थान। आवश्यकतानुसार बिछाने वाला पत्थर हटा दिया जाता है।

खीज निथरना : क्रोध शान्त होना।

खूटना : चुक जाना।

खेजड़ी : शमी वृक्ष।

खोका : शमी की फली, खोखला, पतला-दुबला।

गण्डक : कुत्ता।

'गधे का गोश्त बिना मैला डाले कहीं सींझता है भला ?'—लोकोक्ति : कुसंस्कारी व्यक्ति दुर्व्यवहार की भाषा ही समझता है।

गरगराहट : चुभन।

गरणाटी : चक्कर खाना, एक ही स्थान पर लट्टू की तरह नाचना।

गहर-घुमेर : सघन वृक्ष।

गिलगिली : गुदगुदी।

गुड़कना : लुढ़कना।

गुवाड़ : चौक, मैदान जहां विभिन्न दिशाओं से आ कर लोग एकत्र हों।

गुस्से का पारा सप्तम को छूने लगना।—लोकोक्ति : चरम सीमा तक क्रोध चढ़ आना।

गोठ : भोजन की गोष्ठी।

गोरी-निछोर : निर्दोष गौर-गुलाबी वर्ण की स्त्री।

घणेरा : घना ; अत्यधिक।

घीया-बेल : एक बंगाली सब्जी।

घूमर : नृत्य।

घेटा : भेड़ा।

चकन-बकन : विस्मय-विस्फारित।

चसमस : प्रसव-पीड़ा।

चाल : दामन।

चिगदना : कुचलना।

चिगलना : चबाना।

चिट्टू अंगुली : कनिष्ठिका।

चितारना : याद करना।

चीस : दर्द।

चोपड़ी : बही, पुस्तक।

छाक : जून।

छूनना : छोटे टुकड़े काटना।

जरख : लकड़बग्घा।

जलजलाना : गर्मी से उत्तप्त होना।

जाफरी : बांस का टट्टर ; बांस की पट्टियां थोड़ी दूरी छोड़ कर बांधते हैं और द्वार के रूप में बरामदे में लगाते हैं।

जोध-जवान : सैनिक सेवा के योग्य पुष्ट गठीला जवान।

झन्नाट : झनझनाहट।
झपाझप : तेजी से।
झबझब करना : टिमटिमाना; [कसक के साथ] रह-रह कर टीस होना।
झार-झार रोना : अविरल आंसू बहाना।
झिम-झिम करना : सर चकराना; दुर्बलता-बोध होना।
झेकना : ऊंट को बैठाना।
टमकारना : झपकाना [पलकें]।
टसकना : टीस की अनुभूति।
टांचना : धोखे से किसी की वस्तु हड़प लेना।
टीबा : टीला; रेगिस्तानी पहाड़ी।
टोंच : चोंच।
टेहरी : चोटी।
ठसा रखना : दिखावे के लिए पहनना।
ठेठ : आदि या अन्त का चरम।
ठोले बजाना : दण्डस्वरूप बच्चों के सर पर उंगली की गांठ से मारना।
डाम : तप्त धातु से दागना।
डूंजा : कार्क, ढक्कन [या कपड़ा ठूंस कर] मुंह बन्द करना।
डेग : पग। [पूर्वांचल में]
डोकरा : वयोवृद्ध, बुजुर्ग।
डोलियाना : खोद कर जगह बनाना।
ढंगी : खेल या दौड़ में पिछड़ा हुआ, पराजित।
ढाणी : दूर [दुर्गम स्थलों की भी] छोटी [दो-चार घर की] बस्ती।
ढालू : करील का पका फल।
तगतगाना : हाथ पकड़ कर चलाने के लिए खींचना।
तफरी : तफरीह, मनोरंजन।
तर्राट : तेज़। पूछते ही बेझिझक बोल पड़ने वाला।
ताकड़ी : तुला, तराजू।
ताण : ऊपर सामान रखने के लिए बना स्थान, मचान।
तीखा-तच्च : तीक्ष्ण, तेज़।
तुठार : अभाव।
थटाथट : ठट्ठ, ठसाठस [भीड़]।
थरहर : थर-थर।
दरीखाना : दरबार, बारादरी।
दाझ : दाह, जलन।
दाता : पितामह।
दातारी : दानशीलता।
दिप-दिप : जुगनू-जैसा जलना-बुझना। [नृत्य] ठुमक-ठुमक कर नाचना।
देवल : देवालय; मन्दिर।
धत झिलना : ज़िद सवार होना।
धींगड़ा : स्वस्थ किशोर।
धुगधुगा : नाटा-मोटा।
धूजना : अशक्ति, भय या संकोच से कांपना।
धोरा : टीला, ढूह।
नंग-तर्तिगड़ : नग्न, सर्वथा निरावरण।

नागडसी पीड़ा : ऐसी असह्य पीड़ा जिस में मौत का अनुभव हो।
निजंधरी : स्वतः धारित, आख्यानक।
निपट ठोट : नितान्त मूर्ख।
नींव लग जाना : नींव डालने का कार्यारम्भ।
नीरना : पशुओं को खिलाना-पिलाना।
पटु : पट्टू ; एक प्रकार का ऊनी वस्त्र।
परेई : परेवा [पक्षी] की मादा।
परोटना : उपयोग करना।
पाडर : पाटल।
पालर : वर्षा का जल ; शुद्ध, निर्मल।
पूठियां : लकड़ी की ज्याएं [वृत्त-खण्ड] जोड़ कर वनाये पहिये।
पासवान : रखेल।
फदाफद : हाथ-पैर उछालते हुए नाचना-कूदना।
फलसा : सीमा।
फर्राट : विना अटके, तेजी से [वांचना]।
फुरणी : नथुना।
वमचकरी : द्रुतगति से [लट्टू की तरह] नाचना।
वरसाली : वरामदा।
वांटा : पशुओं की ऐसी सानी जिस में खली-विनौला आदि अनेक दुग्ध-वर्धक पदार्थ मिले हों।
वात : कथा-वार्त्ता।
वातपोशी : कथा कहने की कला।
वारीसर : वारी-वारी से।
विल्ले लगाना : व्यर्थ, विन विचारे व्यय कर देना।
वीड़ : एक मिश्रधातु।
वूचा : नग्न।
वोरटी : वेर का पेड़।
भमंक : कालेपन का चरम द्योतक विशेषण।
भाभापन्थी लहजा : अत्यधिक अधिकार-आग्रहपूर्ण स्वर।
भींटोरा : झरवेरी की एक जगह वंधी वहुत सी कांटेदार डालें ; वाड़ वनाने का उपकरण!
मन्त्र सारना : मन्त्र सिद्ध करना।
मजूस : लकड़ी का वड़ा सन्दूक जिस में सभी घरेलू सामान—वर्तन, विस्तर आदि रखे जाते हैं।
माईत : मां-वाप।
मुंह मस्कोरना : व्यंग्य-मुद्रा में मुंह सिकोड़ना। कुछ मुस्कुराहट का-सा आभास देना।
मुलमुलाना : विना आवाज निकाले होंठों को गति देना।
मेलिया : गन्दा, मैल-भरा।
मेहर : कृपा।
रस वैठना : स्वीकृत होना, राजी होना, मन से तैयार होना।
रामझारा : एक जलपात्र।

रुजगार : रोजगार।

रुंधना : संलग्न होना।

लमछड़ : लम्बा-दुबला।

लम्बा-लरक : असाधारणतः लम्बा।

लाडेसर : लाडले।

लिकलिक : व्यर्थ चपड़-चपड़ करना।

वसोला : लकड़ी छीलने का औज़ार, वसूला।

वाभा : वड़े भाई का सम्बोधन।

शाहजी की सीख फलसे तक—लोकोक्ति : उधार ज्ञान व्यर्थ होता है, समय पर अपनी ही बुद्धि काम देती है। तुल्य लोकोक्ति—'सिखाये पूत दरबार नहीं जाते।'

सटीड़ : कोड़े की मार के क्षत।

सन्नाट : द्रुतगति से [लिखना]।

सवा मन में पाव नहीं पीसा गया : वहुत वड़े काम का छोटा-सा अंश भी पूरा नहीं हुआ।

सांगरी : खेजड़ी की कच्ची फली—सब्जी के उपयोग की।

सानी : इशारा, संकेत।

सरना / सारना : इष्ट सिद्ध होना / करना।

सिप्पा जमना : सिक्का जमना; विश्वसनीयता स्थापित होना।

सिमसिम सांझ : वड़ते अँधेरे की, आर्द्र-सन्ध्या।

सिरस : शिरीष।

सीधा सतर खड़ा होना : तनकर, 'सावधान' मुद्रा में खड़ा होना।

सुरमा सारना : आंखों में सुरमा डालना।

सुरहुरी : अंधेरे और ठण्डक दोनों का धीरे-धीरे बढ़ना।

सौ टंच विशुद्ध सोना : विल्कुल खरा।

हाव-गाव : हक्का-वक्का।

हीराकसी का तम्बाकू वेश : विधवाओं का गाढ़े कत्थई रंग का वेश। [संस्कृत में 'कात्यायनी']।

हुलस पड़ा [घर का सारा भार] : भार कितना है इस पर ध्यान दिये विना उल्लासपूर्वक उसे स्वीकार किया।

कुछ दुरूह शब्दार्थ

शब्द	पृष्ठ	पंक्ति	अर्थ
आयत	१०६	२६	आयु-सीमा।
आयतन	११२	१५	घेरा, चौखटा।
आवर्त	२२६	६	घनी आबादी।
आवह	३५४	१०	सम्पूर्ण वर्ग।
आवि	१२१	१८	प्रकट करने वाला, प्रकाश।
आह्निक	११४	१८	दैनिक, नित्य का।
इयत्ता	५०२	३०	'इतना ही' होना, सीमा।
उत्तरायण	३४४	१८	घर का पिछवाड़ा।
उपसर्ग	१४१	२८	उपराग, साधन।
जघन्य	२७६	२६	अन्तिम ; सबसे बुरा, हेय।
झांझर	३६४	२२	पैरों का गहना, झांझ।
धेय	३४६	५	प्रयोज्य।
प्रणोदित	१६४ २५८	११ १४	जिससे प्रेरणा मिली हो।
प्रतारित	१६४	१२	ठगा गया।
भद्र दस्तूरी	१६	३०	भद्र, शिष्ट-जनोचित रीति-नीति।
मुमूर्षु	१५७	५	मरने का इच्छुक, मरणासन्न।
मुह्यमान	१८२	१४	मूर्च्छित होता हुआ।
विमर्श	३४७	२६	तर्कना, चिन्तना।
विमर्ष	१५७	४	उद्वेग, व्याकुलता, क्षोभ।
विव्रत	७	१४	व्रत से विचलित ; व्याकुल, विह्वल।
सव्यसाचिता	२३५	८	दो विरोधी तत्त्वों को समतुल्य, समवेग से धारण करना।

००

स्त्रीर पत्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर पृष्ठ १

रचना : श्रावण १३२१ बंगाब्द [लगभग जुलाई, १९१५ ई.] पुस्तक रूप में सर्वप्रथम प्रकाशित : 'गल्पगुच्छ' नामक कहानी संग्रह में। 'गल्पगुच्छ' के प्रथम खंड का प्रथम प्रकाशन १ अश्विन, १३०७ बंगाब्द [११ अक्तूबर, सन् १९०० ई.] को हुआ; दूसरा खण्ड उसी वंग संवत् किन्तु अगले ईस्वी सन् अर्थात् सन् १९०१ ई. में प्रकाशित हो गया। उसके दो अगले खण्ड भी छपे। यह कहानी किस खण्ड में सर्वप्रथम छपी इसका निश्चय नहीं हो सका; प्रस्तुत अनुवाद रवीन्द्र रचनावली, खण्ड २३ से किया गया है।

तोता कहानी श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर पृष्ठ १४

प्रथम प्रकाशन : 'सबुज पत्र' नामक पत्रिका में माघ १३२२ बंगाब्द [लगभग जनवरी १९१६ ई.] पुस्तकाकार प्रथम प्रकाशन 'लिपिका' नामक कहानी संग्रह में, जिसका प्रथम प्रकाशन अगस्त, १९२२ ई. में हुआ। प्रस्तुत अनुवाद रवीन्द्र रचनावली, खण्ड २६ से।

महेश श्री शरत् चन्द्र चट्टोपाध्याय पृष्ठ १८

प्रथम प्रकाशन : 'वंगवाणी' पत्रिका, अश्विन १३२९ वंग संवत् [लगभग सितम्बर १९२३ ई.] में। पुस्तकाकार प्रथम प्रकाशन 'हरिलक्ष्मी' नामक कहानी-संग्रह में, चैत्र, १३३२ बंगाब्द, दिनांक १३ मार्च १९२६ ई. को। प्रस्तुत अनुवाद : 'शरत् साहित्य समग्र' से।

आपद् अन्तोन चेखोव पृष्ठ २८

रचना वर्ष : १८८६ ई.। अंग्रेजी से अनुवाद। शीर्षक 'कैलामिटी' : द पोर्टेब्ल चेखोव ; वाईकिंग प्रेस ; न्यूयार्क १९४७ ई.।

परिशिष्ट : ४

रचनाओं की जन्मपत्री

अल्योशा लेव तोलस्तोय पृष्ठ ४२

रचना : १६०५ ई.। लेखक के जीवन-काल में अप्रकाशित। उनके देहान्त [१६१० ई.] के बाद १६११ ई. में सर्वप्रथम प्रकाशित। अंग्रेजी से अनुवाद। लेव तोलस्तोय : लघु कथाएं [शॉर्ट स्टोरीज २ खण्ड], चयन और परिचय : अर्नेस्ट जे. साइमन्स द्वारा ; प्रथम मॉडर्न लाइब्रेरी एडीशन, १६६५ ई., रैण्डम हाउस इनकॉर्पोरेटेड, न्यूयार्क [संयुक्त राज्य अमरीका] से प्रकाशित।

आत्मा की मुक्ति के लिए रॉवर्टो ब्राको पृष्ठ ४६

सर जे. ए. हैम्मरटन द्वारा सम्पादित 'द मास्टर पीस लाइब्रेरी ऑफ शॉर्ट स्टोरीज' नामक कहानी-संग्रह के दूसरे, इतालवी कहानी-विषयक खण्ड के पृष्ठ सं. ७३६ से ७३६ तक से अनूदित। यह कहानी संग्रह 'द एजुकेशनल बुक कम्पनी लिमिटेड, लन्दन' ने छापा था। प्रकाशन-वर्ष पुस्तक में कहीं दिया हुआ नहीं है।

प्रिय मृणाल विजयदान देथा पृष्ठ ५४

प्रथम रचना : २६.६.१६८४ ; मध्य प्रदेश साहित्य परिषद् की पत्रिका 'साक्षात्कार' के ६१वें अंक में प्रथम प्रकाशित। पुनर्लेखन : २६ ५.१६८५।

अदीठ विजयदान देथा पृष्ठ ८०

प्रथम रचना : सितम्बर, १६५० ; हिन्दी में। 'प्रेरणा' [हिन्दी मासिक] के जुलाई, १६५४ अंक में 'दांत का दर्द' शीर्षक से छपी। ७ मई १६८३ को 'अदीठ' के नाम से राजस्थानी में पुर्नलिखित। 'अलेखूं हिटलर' नामक राजस्थानी कहानी-संग्रह में सम्मिलित, १६८४ में प्रकाशित। प्रस्तुत रूप में १.६.१६८५ को राजस्थानी से हिन्दी में अनूदित।

आमार जगत रवीन्द्रनाथ ठाकुर पृष्ठ १०६

रचना : १३२१ वंगाब्द [लगभग १६१४ ई.], 'संचय' नामक निवन्ध-संग्रह में प्रथम प्रकाशित। रवीन्द्र रचनावली, खण्ड १८ से प्रस्तुत अनुवाद।

आत्मबोध रवीन्द्रनाथ ठाकुर पृष्ठ ११४

'शान्तिनिकेतन' संग्रह में प्रथम प्रकाशित। रवीन्द्र रचनावली खण्ड १६ से प्रस्तुत अनुवाद।

रोगीर नव वर्ष रवीन्द्रनाथ ठाकुर पृष्ठ १३०

प्रथम रचना १३१८ वंगाब्द [लगभग १६११ ई.], 'संचय' नामक निवन्ध-संग्रह में प्रथम प्रकाशित। रवीन्द्र रचनावली खण्ड १८ से प्रस्तुत अनुवाद।

छविर अंग रवीन्द्रनाथ ठाकुर पृष्ठ १३५

प्रथम रचना १३२२ वंगाब्द ; 'परिचय' नामक निवन्ध-संग्रह में प्रथम प्रकाशित। रवीन्द्र रचनावली, खण्ड १८ से प्रस्तुत अनुवाद।

विरछ की वात   जगदीशचन्द्र वसु   पृष्ठ १४३

बच्चों के सचित्र मासिक 'मुकुल' के आषाढ़, १३०२ [लगभग जून, १८९५ ई.] में प्रथम प्रकाशित। आचार्य वसु के शिष्य श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय द्वारा 'मुकुल' के लेखों का प्रथम पुस्तकाकार संकलन 'प्रबन्धावली [१३४० बंगाब्द, १९३३ ई.] 'अव्यक्त' [प्रथम संस्करण अश्विन १३२८, सितम्बर १९२१ ई.] के शत वार्षिक संस्करण दिनांक ३० नवम्बर १९५८ ई. से प्रस्तुत अनुवाद।

उद्भिज का जन्म और मृत्यु   जगदीशचन्द्र वसु   पृष्ठ १४६

उपर्युक्त 'मुकुल' भाद्र, १३०२ बंगाब्द [लगभग अगस्त, १८२५ ई.] अंक में प्रथम प्रकाशित। 'प्रबन्धावली', में संकलित। फिर 'अव्यक्त' में प्रकाशित। उपर्युक्त शतवार्षिक संस्करण से प्रस्तुत अनुवाद।

उद्भिज का हृद्स्पन्दन   जगदीशचन्द्र वसु   पृष्ठ १४९

प्रथम प्रकाशन 'प्रवासी' के पौष, १३३२ बंगाब्द [लगभग दिसम्बर, १९२५ ई.] अंक में। 'वसु विज्ञान मन्दिर' के पिछले वर्ष के प्रयोगों और अध्ययन का निष्कर्ष। श्री दिवाकर सेन द्वारा सम्पादित-संकलित 'किशोर रचना समग्र' [प्रथम प्रकाशन: प्रथम वैशाख, १३९१ बंगाब्द—लगभग अप्रेल, १९८४] से प्रस्तुत अनुवाद।

आहत उद्भिज   जगदीशचन्द्र वसु   पृष्ठ १५५

'प्रवासी' के वैशाख, १३२६ बंगाब्द [लगभग अप्रेल, १९१९ ई.] के अंक में प्रथम प्रकाशित। 'अव्यक्त' में संकलित। उसी के उपर्युक्त संस्करण से प्रस्तुत अनुवाद।

निर्वाक् जीवन   जगदीशचन्द्र वसु   पृष्ठ १६४

'नवीन ओ प्रवीण' नामक साहित्य परिषद् पत्रिका के २४वें खण्ड, चतुर्थ संख्या, बंगाब्द १३२४ [लगभग १९१७ ई.] में प्रथम प्रकाशित। 'अव्यक्त' में संकलित। उसी के पूर्व वर्णित संस्करण से प्रस्तुत अनुवाद।

वृक्ष की अंग-भंगिमा   जगदीशचन्द्र वसु   पृष्ठ १७१

'प्रवासी' के ज्येष्ठ १३२९ [लगभग मई, १९२२] अंक में प्रथम प्रकाशित। 'अव्यक्त' में संकलित। उसी के पूर्व वर्णित संस्करण से प्रस्तुत अनुवाद।

आकाश-स्पन्दन व आकाश-सम्भव-जगत्   जगदीशचन्द्र वसु   पृष्ठ १७५

'साहित्य' के वैशाख १३०२ अंक [लगभग अप्रिल, १८९५ ई.] में प्रथम प्रकाशित। 'अव्यक्त' में संकलित। पूर्व वर्णन के अनुसार उसी से अनूदित।

स्नायु-सूत्र का उत्तेजना-प्रवाह   जगदीशचन्द्र वसु   पृष्ठ १८१

'प्रवासी' के वैशाख १३२६ अंक [लगभग अप्रिल, १९१९ ई.] में प्रथम प्रकाशित। 'अव्यक्त' में संकलित। पूर्वानुसार अनूदित।

एक अभिभाषण जगदीशचन्द्र वसु पृष्ठ १८७

६.१२.१९२७ को वसु विज्ञान मन्दिर में 'ट्रॉपिकल मेडिसिन कांग्रेस' के प्रतिनिधियों और वैज्ञानिकों के सामने एक लोकरंजक वक्तृता। आनन्द बाजार पत्रिका दिनांक ७.१२.१९२७ में प्रकाशित। 'किशोर रचना समग्र' में संकलित। उसी से प्रस्तुत रूप में अनूदित।

हाजिर जगदीशचन्द्र वसु पृष्ठ १९१

'अव्यक्त' प्रथम संस्करण अश्विन, १३२८ वंगाब्द [लगभग सितम्बर १९२१ ई.] में सर्व प्रथम प्रकाशित। उसके शतवार्षिक संस्करण दिनांक ३० नवम्बर १९५८ ई. से प्रस्तुत अनुवाद।

प्रश्नोत्तर जगदीशचन्द्र वसु पृष्ठ १९४

भाण्डार [यह पत्रिका १३१२ से १३१४ तक चली] के सम्पादक के रूप में अपने १६.५.१९०५ के पत्र के अनुसार श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने प्रश्न किये। यह प्रश्नोत्तर 'भाण्डार' के ज्येष्ठ, १३१२ अंक [मई, १९०५ ई.] में प्रथम प्रकाशित। चिठि-पत्र, षष्ठ खण्ड [मई, १९५७ में प्रथम प्रकाशित] के चौथे परिशिष्ट के रूप में श्री पुलिन विहारी सेन द्वारा संकलित। उसी से प्रस्तुत अनुवाद।

आचार्य जगदीशचन्द्र की जयवार्ता रवीन्द्रनाथ ठाकुर पृष्ठ १९६

१८९६-९७ में आचार्य वसु ने वैज्ञानिक के रूप में यूरोप की पहली यात्रा की थी। उसी का परिचय देते हुए यह लेख लिखा गया था। उपर्युक्त चिठि-पत्र षष्ठ खण्ड के द्वितीय परिशिष्ट के रूप में यह लेख 'रवीन्द्रनाथेर निवन्ध' शीर्षक के अन्तर्गत संकलित है। उसी से प्रस्तुत अनुवाद। इस पर रचना तिथि १३०८ [१९०१ ई.] अंकित है।

आविर्भाव रवीन्द्रनाथ ठाकुर पृष्ठ २०२

उपर्युक्त से ही अनूदित। इस पर रचना तिथि १३०५ [१८९८ ई.] अंकित है। 'प्रदीप' के पौष १३०५ [दिसम्बर १८९८ ई.] के अंक में प्रकाशित रवि वाबू के 'मन्दिराभिमुखे' शीर्षक लेख का यह एक अंश है। एक दरिद्र छात्र ने एक नारी मूर्त्ति की रचना कर उसे 'मन्दिराभिमुखे' नाम दिया था। उसी प्रसंग में रवि बाबू ने सम्पूर्ण लेख लिखा था। उपर्युक्त चिठि-पत्र, षष्ठ खण्ड, द्वितीय परिशिष्ट में इतना ही अंश संकलित है।

जगदीशचन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर पृष्ठ २०४

रचना-तिथि १३४४ वंगाब्द [१९३७], उपर्युक्त चिठि-पत्र, षष्ठ खण्ड, द्वितीय परिशिष्ट।

जड़ क्या सजीव है ? रवीन्द्रनाथ ठाकुर पृष्ठ २०७

रचना-तिथि १३०८ वंगाब्द [१९०१ ई.]; उपर्युक्त चिठि-पत्र, षष्ठ खण्ड, द्वितीय परिशिष्ट।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पत्र   जगदीचन्द्र वसु के नाम।   पृष्ठ २१३-२३३
उपर्युक्त चिठि-पत्र, षष्ठ खण्ड।

पत्र-परिचय   रवीन्द्रनाथ ठाकुर   पृष्ठ २३५
उपर्युक्त चिठि-पत्र, षष्ठ खण्ड; द्वितीय परिशिष्ट। रचना-तिथि २२ चैत्र, १३३२ वंगाब्द [लगभग अप्रिल १९२५ ई.]

अवला वसु के नाम   रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पत्र   पृष्ठ २३७-२४०
उपर्युक्त चिठि-पत्र, षष्ठ खण्ड।

महाराजा त्रिपुरा के नाम   रवीन्द्रनाथ ठाकुर का पत्र   पृष्ठ २४१-२४२
उपर्युक्त चिठि-पत्र, षष्ठ खण्ड।

जगदीशचन्द्र वसु के पत्र   रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाम   पृष्ठ २४५-२६२
उपर्युक्त चिठि-पत्र, षष्ठ खण्ड।

श्रद्धा अर्घ   जगदीशचन्द्र वसु   पृष्ठ २६३
रवि बाबू की सत्तरवीं जन्म-तिथि मनाने के लिए रवीन्द्र-जयन्ती उत्सव-परिषद् के सभापति रूप में आचार्य वसु ने यह श्रद्धाञ्जलि लिखी और पढ़ी थी। इसे 'वसुधारा' पत्रिका ने अपने वर्ष २, खण्ड २, सं. २, अग्रहायण, १३६५ वंगाब्द [लगभग नवम्बर, १९५८ अंक] में पुनः प्रकाशित किया। प्रस्तुत अनुवाद उसी का है।

भगिनी निवेदिता के पत्र   रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाम   पृष्ठ २६७
रमेशचन्द्र दत्त का पत्र   रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाम   पृष्ठ २७२

ये तीनों पत्र भी उपर्युक्त चिठि-पत्र, षष्ठ खण्ड से अनूदित हैं। ये उक्त चिठि-पत्र के परिशिष्ट ५ के रूप में समाविष्ट हैं। तीनों मूल-पत्र अंग्रेजी में हैं।

अन्तोन चेखोव   मक्सिम गोर्की   पृष्ठ २७५
'लाइब्रेरी ऑफ सोवियत लिट्रेचर' के अन्तर्गत प्रगति प्रकाशन, मास्को से प्रकाशित मक्सिम गोर्की के 'लिट्रेरी पोर्टरेट्स' से यह संस्मरण अनूदित है।

ज़ेन बोध कथाएं   पृष्ठ २९७-३११
'ज़ेन फ्लेश, ज़ेन बोन्स' शीर्षक के अन्तर्गत पॉल रेप्स द्वारा संकलित सम्पादित और न्योगेन मेनजाकी और पॉल रेप्स द्वारा अनूदित, पेंगुइन के १९८० संस्करण से प्रस्तुत कथाएं चुनी और अनुवाद की गयी हैं।

वृक्षांजलि   पृष्ठ ३१३-३४१
वल्लभदेव द्वारा संगृहीत 'सुभाषितावलिः', डॉक्टर पीटर पीटर्सन एवं पण्डित दुर्गाप्रसाद द्वारा सम्पादित [प्रथम संस्करण, सन् १८८६ ई.] एवं द्वितीय संस्करण [सन् १९६१ ई.] पण्डित रघुनाथ दामोदर करमरकर द्वारा संशोधित-संपादित, भाण्डारकर प्राच्य विद्या संशोधन मन्दिर, पुणे से मुद्रित-प्रकाशित। 'रूंख' की इस सम्यक् रचनावली में वृक्षांजलि के अन्तर्गत संगृहीत पृष्ठ संख्या, एवं मूल छन्द तथा ग्रन्थ पृष्ठ संख्या—

शीर्षक	रूख पृष्ठ	कवि	छन्द सं.	मूल पृष्ठ
अछूत	३१३	नरेन्द्र	८०१	१२८
आकांक्षा	३१४	अज्ञात	८३१	१३४
मदान्ध	३१५	अज्ञात	८३०	१३४
प्रतिदान ?	३१६	प्रकाशवर्ष	७६७	१२८
फलें-फूलें	३१७	अज्ञात	८२४	१३३
अतुल्यदानी	३२०	अज्ञात	८२३	१३३
स्वाभिमान	३२५	अज्ञात	७८८	१२७
वन्दनीय	३२६	अज्ञात	८२५	१३३

श्रीधरदास द्वारा संगृहीत 'सदुक्तिकर्णामृत', सुरेशचन्द्र वैनर्जी द्वारा सम्पादित, कलकत्ता मे मुद्रित-प्रकाशित संस्करण सन् १६६५ ई.

सहनशक्ति	३१८	अज्ञात	१६२०	५२१
अभिशाप	३१६	सोढगोविन्द	१६२४	५२२
ओछे साथी	३२१	अभिनन्द	१८८१	५१०-११
भलाई ?	३२३	गदाधर	१६२५	५२२-२३
अकिंचन आश्रय	३२४	पुरुसेन	१६१७	५२०
आभास	३२८	मधुरशील	१२६२	३३८
वरगद	३३०	उमापतिधर	१८६८	५१५
वड़प्पन	३३१	शालिकनाथ	१६२६	५२३
विवशता	३३२	वैद्यगदाधर	१६२१	५२१
मोह	३३४	राजशेखर	१२३१	३२६
विन्ध्याचल के जंगल	३३५	योगेश्वर	२०३६	५५४
नि:संग योगिनी	३३६	वीर्यमित्र	४३७	११५

विद्याकर द्वारा संगृहीत 'सुभाषितरत्नकोष', कोसाम्वी और गोखले द्वारा सम्पादित, हारवर्ड से मुद्रित-प्रकाशित संस्करण सन् १६५७ ई.

मुरला नदी को	३२२	विद्या	८०६	१४६
उच्चाश्रय ?	३३३	कविराज	१०३८	१८८
गगनवट	३३६	दक्ष	२५६	४८
सिरस	३३७	वागुर	२१०	४०
निर्बन्ध-प्रवाह	३४०	अज्ञात	१६५६	२८६
हतभाग्य	३४१	अज्ञात	१३४३	२३५

कुमारदास विरचित जानकीहरणम्, परनवितान और गोदकुम्बुर द्वारा सम्पादित, श्रीलंका से मुद्रित-प्रकाशित संस्करण १९६७ ई.

शीर्षक	रूंख पृष्ठ	कवि	छन्द सं.	मूल पृष्ठ
कनेर	३२७	कुमारदास	सर्ग-३ श्लोक-८	२६
चांदनी का जाल	३२९	कुमारदास	सर्ग-८ श्लोक-७९	८९

बिल्हण विरचित विक्रमांकदेवचरित, खण्ड-१, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्रकाशित

मलय-पवन	३३८	बिल्हण	सर्ग-७ श्लोक-७१	४६३

वनवाणी रवीन्द्रनाथ ठाकुर पृष्ठ ३४३

होटल इम्पीरियल, वियना में २२ अक्तूबर १९२६ ई. को रवि बाबू ने अपनी पुस्तक 'वनवाणी' की भूमिका के रूप में इसे लिखा। अश्विन, १३३८ बंगाब्द [लगभग सितम्बर १९३१ ई.] में इसका पुस्तक रूप में प्रकाशन हुआ। प्रस्तुत अनुवाद रवीन्द्र रचनावली के पन्द्रहवें खण्ड से किया गया है।

वृक्षांजलि के सन्दर्भ में डॉक्टर मुकुन्द लाठ पृष्ठ ३४५

विशेषतः 'रूंख' के इस प्रथम सम्भार के लिए ही जून, १९८६ ई. में लिखा गया।

ज़ेन बोध-कथाओं की दार्शनिक पृष्ठभूमि विजयदान देथा पृष्ठ ३५९

रचना दिनांक ६.७.१९८६ ई.। सर्वप्रथम इसी प्रथम सम्भार में समाविष्ट। एक सम्पूर्ण ग्रन्थ-योजना का प्रथम अध्याय।

भाषा और संस्कृति-१ :

विश्व-मानव से मुठभेड़ : एक संवाद विजयदान देथा पृष्ठ ३६७

रचना दिनांक ७-७-१९८६ ई.। सर्वप्रथम इसी प्रथम सम्भार में। सम्पूर्ण ग्रन्थ-योजना का प्रथम अध्याय।

अनुवाद के आयाम-१ :

अनुवाद की अनिवार्यता विजयदान देथा पृष्ठ ३८५

रचना दिनांक ११.७.१९८६ ई.। सर्व प्रथम इसी प्रथम सम्भार में। सम्पूर्ण ग्रन्थ-योजना का प्रथम अध्याय।

प्रिय अरुणा : स्त्रीर पत्र की समीक्षा विजयदान देथा पृष्ठ ३९४

रचना दिनांक २३.८.१९८६। सर्वप्रथम इसी प्रथम सम्भार में। सम्पूर्ण ग्रन्थ-योजना का प्रथम अध्याय मात्र।

सम्पूरण-१
मेरे सृजन का परिवेश

मौलिकता का प्रश्न विजयदान देथा पृष्ठ ४११

राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी, जोधपुर द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'साहित्य और समाज' की भूमिका। रचना तिथि ११ मार्च, १९६० ई.।

सौन्दर्य-बोध की समस्या विजयदान देथा पृष्ठ ४१९

'रूपम' नामक हिन्दी त्रैमासिक के एकमात्र अंक दिनांक १५ अगस्त १९५८ में 'सौन्दर्य-बोध की गत्यात्मक मर्यादा' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित। अगस्त, १९५८ की रचना। उपर्युक्त 'साहित्य और समाज' के रूप में पुस्तकाकार संकलित-प्रकाशित।

शब्द और यथार्थ विजयदान देथा पृष्ठ ४२३

उपर्युक्त 'रूपम' के लिए लिखित एवं 'साहित्य और समाज' में समाविष्ट।

विषयवस्तु और भाषा विजयदान देथा पृष्ठ ४२७

उपर्युक्तानुसार।

शिल्प की भाषा विजयदान देथा पृष्ठ ४३०

उपर्युक्तानुसार। 'रूपम' में लेखक के नाम के स्थान पर 'विजय बन्धु' का प्रयोग।

कविता की कहानी पृष्ठ ४३४

रचना तिथि अप्रिल, १९५६। 'साहित्य और समाज' में समाविष्ट।

मेरो दरद न जानें कोय विजयदान देथा पृष्ठ ४५७

निर्दिष्ट स्थान और तिथि का मुद्रित अभिभाषण। उस समय यह अभिभाषण सीमित संख्या में छपकर उपस्थित समुदाय में बांटा गया था। पुस्तक रूप में सर्वप्रथम यहां संकलित-समाविष्ट।

संयोग की लीला विजयदान देथा पृष्ठ ४७१

मूलतः राजस्थानी में 'मुखड़ौ : संजोग री रांमत' के शीर्षक से 'अलेखूं हिटलर' की भूमिका के रूप में मुद्रित। 'अलेखूं हिटलर' : देथा जी की राजस्थानी कहानियों का, राजकमल प्रकाशन द्वारा १९८४ में प्रकाशित संग्रह.। स्वयं लेखक द्वारा हिन्दी में पुनः रचित।

सम्पूरण-२

अधूरी चिट्ठी विजयदान देथा पृष्ठ ५११

वस्तुतः पत्र, उसकी प्रतिलिपि और अनुलग्नक सम्बन्धी सभी विवरण शुद्ध यथातथ्य हैं। इसका अनुलग्नक पृष्ठ ५९३-५९६ पर परिशिष्ट १ में दिया हुआ है।

एक बातचीत का अंश   अमृता प्रीतम   ५७५

चर्चा, समकालीन भारतीय साहित्य, अंक २२ पृष्ठ १४६ एवं १४७-१४८

आभार   बिज्जी   ५७६

निजी पत्र, बोरुन्दा, १७ दिसम्बर, १९८५

'अलगाव' पर टिप्पणी   अब्दुल बिस्मिल्लाह   ५७८

'पहल', जबलपुर [अंक, २७-२८] कहानी अंक की समीक्षा जनसत्ता, दिल्ली, १ दिसम्बर, १९८५

जिन्दगी के अंधेरे-उजालों का बखान   रवीन्द्र वर्मा   ५७९

समीक्षा, नवभारत टाइम्स, रविवार्ता, साहित्य-चर्चा, ८ दिसम्बर, १९८५

बीज जितनी पुरानी, फल जितनी नयी   अरुण कमल   ५८५

समीक्षा, आलोचना त्रैमासिक, जनवरी-मार्च, १९८६

००

इस उद्देश्य के लिए मुख्य-पाठ्यांश हम पृ. सं. ४०८ तक ही मानते हैं। सम्पूरण आदि शाखाएं-प्रशाखाएं हैं। उनके कृतिकारों का परिचय विस्तार-भय से छोड़ना पड़ रहा है। जिस क्रम से मूल पाठ में रचनाएं आयी हैं उसी क्रम से कृतिकारों का परिचय यहां रखा गया है।

यहां लेखकों के जीवन की मुख्य घटनाएं हमने उल्लिखित करने का प्रयास किया है। प्रस्तुत कृतियों की गुणवत्ता पर एक भी शब्द न आने पाये इसका विशेषत: ध्यान रखा है। देश-देशान्तर में यह सूक्ति प्रचलित है कि 'कस्तूरी की सुवास स्वयं उसका परिचय है, गन्धी के बताने को कुछ बचता ही नहीं।' हां, यथासम्भव जिनके विषय में सूचनाएं मिल गयी हैं उनकी समस्त कृतियों का नामोल्लेख अवश्य कर दिया गया है।

हमने लेखकों का परिचय देते समय जन्म-तिथि और जन्म स्थान, अवसान-तिथि और स्थान भी, तथा उनके माता-पिता का नाम बताना आवश्यक समझा है। पुत्रों का सृजन जननियों के रक्त-मांस से होता है अत: माताओं के नाम को प्रमुखता दी गयी है। कहीं-कहीं पितृसत्तात्मक समाज द्वारा मातृजाति की घोर उपेक्षा के कारण हमें जननियों के नाम उपलब्ध नहीं हो पाये। भविष्य में यह कमी हम अवश्य पूरी करना चाहेंगे।

इसी खण्ड में चारों अनुवादकों का परिचय भी दे दिया गया है, क्योंकि उनका श्रम-सहयोग उपलब्ध न होने पर इस प्रथम सम्भार का अस्तित्व ही न होता।

परिशिष्ट: ५

कृतिकार और कृतियां

रवीन्द्रनाथ ठाकुर पृष्ठ १-१७, १०६-१४०, १९६-२४२, ३४३-३४४

जन्म : ६ मई, १८६१ ई. जोड़ासांको, कलकत्ता।
निधन : ७ अगस्त १९४१ ई.
माता : श्रीमती शारदा देवी [निधन : मार्च, १८७६ ई.]
पिता : महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर [निधन : १९ जनवरी १९०५ ई., कलकत्ता]

रवि बाबू प्रिंस द्वारकानाथ ठाकुर के पौत्र थे। इनका जन्म अपने माता-पिता की कनिष्ठ-तम—चौदहवीं सन्तान के रूप में हुआ था। कठोर अनुशासनबद्ध घरेलू जीवन था, जिस में घर से बाहर निकलने की कल्पना तक नहीं की जाती थी। घर ही पर हर विषय के श्रेष्ठ गुरु आकर कठोरता से प्रत्येक विषय सिखाते थे।

कानून का अध्ययन करने के लिए १८७७ ई. में उन्हें इंग्लैण्ड भेजा गया किन्तु उस में उनकी अभिरुचि नहीं थी।

हां, सोलह वर्ष की आयु में ही वे कवि-रूप में प्रतिष्ठित होने लगे। वैसे उन्होंने 'भारत' शीर्षक अपनी पहली कविता ११ फरवरी १८७५ को जन-समूह में सुना दी थी। इनकी पहली प्रकाशित कविता 'अभिलाष' थी जो नवम्बर-दिसम्बर १८७४ की तत्त्वबोधिनी पत्रिका में छपी थी, किन्तु कविता के साथ कवि का नाम नहीं छपा था। 'भारत' जब इन्होंने जन-समूह में पढ़ी तो इन से कविता लेकर नामोल्लेखपूर्वक 'अमृत बाजार पत्रिका' में छापी गयी।

१९०१ में इन्होंने शान्ति निकेतन स्थापित कर दिया। उसके लिए उन्हें विश्वभ्रमण भी करना पड़ा। उस समय विश्व का शायद ही कोई महत्त्वपूर्ण स्थान बचा हो जहां वे न गये हों।

३० जून १९३९ को उनकी सम्पूर्ण रचनावली का प्रथम खण्ड प्रकाशित हुआ। अब तक रचनावली के ३० विशाल खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। कुछ पत्र और अभिभाषण फिर भी अलग हैं। विभिन्न विषयों पर, छोटी-बड़ी, उनकी कुल २६४ पुस्तकें अलग-अलग प्रकाशित हैं। विषयानुसार—५ धर्म, १ विज्ञान, ४८ कविता-संग्रह, २३ नाटक-संग्रह, ९ काव्य-नाट्य, १२ उपन्यास, ८ कहानी-संग्रह, ८ भाषा एवं साहित्य विषयक, प्रबन्ध १५ विविध विषयों के निबन्ध, १६ पत्र-संकलन, ३८ संगीत विषयक, ८ भ्रमण विषयक १० जीवनियां ८ शिशु-साहित्य और २५ पाठ्य पुस्तकें हैं। इनके द्वारा सृजित चित्र अलग से उल्लेखनीय हैं।

अपनी रचनावली के प्रत्येक खण्ड के उन्होंने चार मुख्य शीर्षक निर्धारित कर दिये थे : सबसे पहले 'कविता ओ गान', उसके बाद क्रमशः 'नाटक ओ प्रहसन', 'उपन्यास ओ गल्प' और अन्त में 'प्रबन्ध'। रचनावली के प्रत्येक खण्ड में ये चारों मुख्य शीर्षक अवश्य हैं। दृष्टिकोण सम्भवतः यह था कि रचनावली का चाहे जो खण्ड पढ़ने का अवसर मिले हर प्रकार के आस्वाद मिल जायें।

रवि बाबू की 'गीतांजलि' पर नोबुल पुरस्कार मिलने की सूचना १५ नवम्बर १९१३ को मिली। आठ हजार पाउण्ड, [पन्द्रह रुपये का एक पाउण्ड], अर्थात् एक लाख बीस

हजार रुपये की सारी राशि उन्होंने शान्ति निकेतन के निर्माण में व्यय की।

लगभग अट्ठारह हजार पृष्ठों में उनका सम्पूर्ण साहित्य है। विश्वस्तर पर कोई महत्त्वपूर्ण व्यक्त ऐसा नहीं रह गया था जिससे उनका किसी-न-किसी प्रकार का सम्पर्क न हो। रोम्यां रोलां, तोलस्तोय, विल ड्यूरां, शॉ आदि पाश्चात्य साहित्यकारों से उनका निकटतम सम्पर्क था। 'विश्वभारती', शान्ति निकेतन में उनसे सम्वद्ध सव कुछ सुरक्षित है। उनकी प्रत्येक रचना के सर्वाधिकार विश्वभारती के पास ही हैं।

अपनी पुस्तकों के समर्पण को वे 'उत्सर्ग' कहते थे। अपनी हर कृति उन्होंने समाज-साहित्य-कला आदि के किसी-न-किसी मूर्द्धन्य व्यक्ति के नाम उत्सर्ग की है। खण्ड-७ में संकलित उनकी 'कथा' नामक काव्य-कृति का उत्सर्ग 'सुहृद्वर श्री जगदीशचन्द्र वसु, विज्ञानाचार्य के कर कमलों में' है।

शरत् चन्द्र चट्टोपाध्याय पृष्ठ १८ से २७

जन्म : १५ सितम्वर, १८७६ ग्राम देवनन्दपुर, जिला हुगली, वंगाल।
निधन : रविवार ; १६ जनवरी, १९३८ ई., कलकत्ता
माता : श्रीमती भुवनेश्वरी देवी [निधन : १८९५]
पिता : श्री मतिलाल चट्टोपाध्याय [निधन : १९०२]

प्रारम्भिक रचनाएं जो नष्ट हो गयीं : वासा, प्रथम कृति, दूसरा उपन्यास : अभिमान। भागलपुर से 'शिशु' नामक पत्रिका के कुछ अंक। एक हस्तलिखित पत्रिका: 'आलो' [प्रकाश] एक ही अंक निकलते-निकले संस्थापक सतीश वावू का देहान्त हो गया तो नाम वदल कर 'छाया' कर दिया। वर्मा जाकर सौ रुपये की क्लर्क की नौकरी की और वहां गायक के रूप में परिचित हुए। हिरण्यमयी देवी इनकी पत्नी थीं। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने 'जगत्तारणी पदक' और ढाका विश्वविद्यालय ने इन्हें मानद डी. लिट्. दी। इन की जीवनी के रूप में श्री विष्णु प्रभाकर का 'आवारा मसीहा' सुविख्यात है।

'शरत् साहित्य समग्र' के आधार पर समस्त रचनाएं

उपन्यास : वड़दिदि, विराज वौ, परिणीता, पण्डितमशाइ, पल्ली-समाज, चन्द्रनाथ, वैंकुण्ठेर विल, अरक्षणीया, श्रीकान्त, देवदास, निष्कृति, चरित्रहीन, स्वामी, एकादशी, वैरागी, दत्ता, गृहदाह, वामुनेर मेये, देना-पावना, नव-विधान, पथेर दावी, शेष प्रश्न, विप्रदास, शुभदा।

गल्प [कहानियां] : विन्दुर छेले, रामेर सुमति, पथ-निर्देश, मेजदिदि, दर्पचूर्ण, आंधारे आलो, काशीनाथ, आलो ओ छाया, मन्दिर, वोझा, अनुपमार प्रेम, वाल्य स्मृति, हरिचरण, छवि, विलासी, मामलार फल, हरिलक्ष्मी, महेश, अभागीर स्वर्ग, अनुराधा, सती, परेश, छेले वेलार गल्प, लालू १, छेले धरा, लालू २, वछर पंचाश पूर्वे एकटा दिनेर काहिनी, लालू ३, देवघरेर स्मृति।

नाटक : पोडशी, रमा, विजया।

प्रवन्ध : नारीर मूल्य, तरुणेर विद्रोह, स्वदेश ओ साहित्य।

प्रकीर्ण : शेषेर परिचय, [पुस्तकाकार अप्रकाशित रचनाएं] :—क्षुद्रेर गौरव, नारीर-लेखा, कानकाटा, समाजधर्मेर मूल्य, आसार आशाय, सधवार एकादशी, सत्य ओ मिथ्या, महात्माजी, आत्म कथा, दिनकयेकेर भ्रमण-काहिनी, जागरण, वर्तमान हिन्दू-मुसलमान समस्या, रस-से वायेत, सत्याश्रयी, युव-संघ, नूतन प्रोग्राम, रस चक्र, रवीन्द्र जयन्ती उपलक्षे मान पत्र, वेतार-संगीत, वाल्य-स्मृति, साहित्येर-मात्रा, साहित्य-सम्मिलनेर रूप, जलधर संवधर्ना, वांग्ला-नाटक, वर्तमान राजनीतिक प्रसंग, शुभेच्छा, आगामी-काल, भाग्य-विडम्वित लेखक सम्प्रदाय, वांग्ला वइयेर दुःख, साहित्येर आर एकटा दिक, साम्प्रदायिक वांटोयारा [एक]-[दूई], मुस्लिम साहित्य-समाज, महात्मार पदत्याग, अप्रकाशित खण्ड रचना।

अज्ञात रचना : कोरेल, विचार, अन्तर्यामी, वारोयारी उपन्यास, 'वामूनेरमेये' नाट्य रूप, मातृभाषा एवं साहित्य, देश-सेवा, 'नारीरमूल्य'र भूमिका, दूटि असमाप्त प्रवन्ध; एकटि असमाप्त गल्प, 'श्रीकान्त'र परित्यक्त अंश, 'शेषेर परिचय'-एर अप्रकाशित अंश, 'विप्रदास'-एर परित्यक्त एक पृष्ठ, दूटी आवेदन, भालमन्द, ५७तम जन्मदिन प्रतिभाषण।

अन्तोन चेख़ोव पृष्ठ २८-४१

पूरा नाम : अन्तोन पाव्लोविच चेखोव
जन्म : १७ जनवरी १८६० तागनरॉग [दक्षिणी रूस]
निधन : २ जुलाई, १९०४, वादेन वाइलर
अंत्येष्टि : ९ जुलाई, १९०४, नोवोदेविची मोनास्ट्री सिमिट्री, मास्को
माता : येवगेन्या याकोव्लेवना
पिता : पावेल येगोरोविच चेखोव

एक छोटे दुकानदार के सव से छोटे, दुर्वल पुत्र के रूप में चेखोव ने जीवन आरम्भ किया। दुकानदारी, प्रार्थना, घरेलू काम-काज और पढ़ाई के साथ संगीत के अभ्यास के कठिन कार्य अत्यन्त कड़ाई के साथ उनके जीवन के नित्य नियम वनाये गये। मध्यवर्गीय कृत्रिमता और वनावट, अत्याचार, पाखण्ड और मिथ्याचार के साथ वस्तुतः दयनीय दुर्दशा के सारे अनुभव उन्हें वचपन ही में प्राप्त हो गये थे। इन सारे कटु अनुभवों से विषाक्त होने से वचने के लिए उपहास-व्यंग्य-विनोद का अमृत उन्होंने तभी आविष्कार कर लिया था।

गांव के ग्रामर स्कूल की शिक्षा लेकर उन्हें डॉक्टरी की पढ़ाई के लिए मास्को जाना पड़ा। लेकिन पढ़ाई पूरी करने के पूर्व ही उन्होंने लिखना आरम्भ कर दिया। 'लेटर फ्रॉम ए डॉन लैण्ड ओनर' १८८० की उनकी सर्व प्रथम रचना है।

१८८० से १८८८ के मध्य चेखोव ने अत्यधिक लिखा। नाटक और कहानियां—दोनों। इन्हीं आठ वर्षों में उन्हें रूसी भाषा का सवसे मौलिक गद्यकार मान लिया गया।

रानाल्ड हिंग्ले द्वारा सम्पादित एवं अनूदित, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क द्वारा

नौ खण्डों में चेखोव का साहित्य प्रस्तुत किया गया है। प्रथम तीन खण्डों में नाटक हैं और शेष छह खण्डों में कालक्रमानुसार कहानियां। किन्तु १८८८ से १९०४ के बीच की कहानियां ही इस रचनावली में दी गयी हैं। चेखोव के सृजन की दृष्टि से सबसे समृद्ध आठ वर्षों की विपुल रचनाओं में से चुनाव करने—या सब-का-सब प्रस्तुत कर देने का निर्णय विद्वान सम्पादक अभी नहीं कर पाये हैं।

उपर्युक्त खण्ड-१ में चेखोव की सभी लघु नाटिकाएं और प्रहसन हैं। खण्ड-२ में 'प्लातोनोव', 'इवानोव' और 'सी गल' नामक नाटक हैं। तीसरे खण्ड में चार नाटक हैं—'अंकिल वान्या', 'थ्री सिस्टर्स', 'द चेरी आर्चर्ड' और 'द उड डेमन'। शेष छह खण्डों में काल-क्रमानुसार कहानियां हैं—खण्ड-४ में १८८८-८९ की, खण्ड-५ में ८९-९१ की, खण्ड-६ में ९२-९३, खण्ड-७ में ९३-९५, खण्ड-८ में ९५-९७ और नवें खण्ड में १८९८ से १९०४ के बीच रचित कहानियों का, सारी आवश्यक आनकारियों के साथ समावेश है।

लेव तोलस्तोय पृष्ठ ४२-४८

जन्म : ९ सितंबर १८२८ यास्नाया पोल्याना
निधन : २० नवम्बर १९१०, आस्तोपोवो में, यास्नाया पोल्याना में दफ़न
माता : मारिया तोलस्तोया [१७९०-१८३०]
पिता : काउण्ट निकोलाई तोलस्तोय [१७९४-१८३७]

रूस में क्रान्ति के पूर्व तक जूलियन कैलेण्डर व्यवहार में था। विश्वस्तर पर ग्रेगोरियन कैलेण्डर का प्रचलन हो चुका था। अतः सभी तिथियां ग्रेगोरियन कैलेण्डर के अनुसार आवश्यक १२ या १३ दिन जोड़ कर दी गयी हैं।

बड़े जमींदार-जागीरदार परिवार में जन्म होने के कारण घर पर ही जर्मन शिक्षकों द्वारा शिक्षा व्यवस्था। १८४४ में स्वेच्छा से इन्होंने पूर्वी भाषा विभाग, कजान विश्वविद्यालय में नाम लिखाया। फिर १८४५ में कानून विभाग में चले गये। पीतर्सबर्ग विश्वविद्यालय से बी. ए. की परीक्षा दी। दो विषयों में उत्तीर्ण भी हुए, फिर शिक्षा से विमुख हो गये। १८५४ में इन्होने नॉन-कमीशण्ड ऑफिसर की परीक्षा में सफलता पा ली। १८५४ में 'इनसाइन' के रूप में पदोन्नत हुए और क्रीमिया में नियुक्त हुए। १८५६ में लेफ्टिनेण्ट के रूप में दूसरी पदोन्नति मिली किन्तु नौकरी से इस्तीफा देकर गांव लौट आये। मां के देहान्त के बाद इनका परिवार निवास के लिए मास्को गया। १८४१ में इनके कानूनी संरक्षक आस्तेन साकेन भी चल बसे तब ये अपने भाई-बहनों के साथ कजान चले गये। १८४७ में विश्वविद्यालय छोड़ कर ये गांव चले आये। १८५१ में इन्होंने अपने भाई निकोलस के साथ काकेशिया की यात्रा की। १८५५ में पीतर्सबर्ग की यात्रा की और साहित्यकारों से मिल कर असन्तुष्ट लौटे। १८५७ में फ्रांस, जर्मनी और स्विट्जरलैण्ड की यात्रा की। ११ अगस्त १८५७ को पीतर्सबर्ग भी गये किन्तु फिर यास्नाया पोल्याना लौट गये। १८५६ ई. में किसानों के बच्चों को शिक्षा देना आरम्भ किया। १३ जुलाई १८६० को फिर यूरप की यात्रा पर निकले। लन्दन में हर्जेन से भेंट हुई। २४ अप्रिल १८६१ को

पीतर्सवर्ग लौट आये। यास्नाया पोल्याना में ही स्थायी निवास का निश्चय कर लिया। ४ अक्तूवर १८६२ को सोफ्या वेह्र से विवाह किया जिन से उन्हें तेरह वच्चे हुए। १८६२ में जव 'सर्फ' कृपक जागीरदारी प्रथा से मुक्त किये गये तो इन्होंने मध्यस्थ के रूप में उनके झगड़े सुलझाने का काम किया। जायदाद खरीदने के उद्देश्य से १८६९ में एक यात्रा की जिसके सिलसिले में एक रात अर्जामा में ठहरे। १८७१-७५ की अवधि में भाषा-शिक्षा विषय पर गांव रह कर काम किया और प्राइमर तथा चार पाठ्य पुस्तकें भाषा सिखाने के लिए लिखीं। खामोव्निकी [मास्को] में मकान खरीदा। १८९१ में लेखकीय अधिकार अस्वीकार कर दिये। १८९१-९३ रयाजान प्रान्त में अकाल ग्रस्तों की सेवा की। १८९२ में पत्नी और वच्चों में सारी जायदाद वांट दी। १९०१ में पुरातन पन्थी चर्च ने वहिष्कार कर दिया। क्रीमिया में काम किया। १० जुलाई १९०२ को गांव लौट गये। १९०८ में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इनका जन्म दिन मनाया गया। १० अक्तूवर १९१० को गांव से निकले। फिर कभी नहीं लौटे।

१८५२ में 'द रेड' लिखी, द कण्टेम्परारी के नवें अंक में 'चाइल्ड हुड' नाम के उनके वचपन के संस्मरण छपने शुरू हुए। 'ए रशन लैण्ड ओनर' [अपूर्ण] 'व्वायहुड' [लड़कपन] की शुरुआत की जो १८५४ में पूर्ण हुआ। १८५३ में 'कजाक्स' आरम्भ किया जो १८६२ में पूर्ण हुआ। 'नोट्स ऑफ ए विलियर्ड मार्कर' लिख डाले। 'यूथ' [यौवन काल] १८५५ में आरम्भ कर १८५६ में पूर्ण किया। सेवास्तोपोल इन दिसम्वर, सेवास्तोपोल इन मे, सेवास्तोपोल इन अगस्त १८५५ में लिख डाले। 'द स्नो स्टॉर्म' [वर्फ का तूफान] और 'टू हुसर्स' १८५६ में पूर्ण किये। १८५७ में 'लुकर्न' लिख डाला और 'कल्वर्ट' आरम्भ किया जो १८५८ में पूरा हुआ। 'थ्री डेथ्स' १८५८ में, १८५९ में 'फेमिली हैप्पीनेस'। 'दिसम्वरिस्ट' १८६१ में शुरू किया [अपूर्ण], 'पोलिकुश्का' १८६२ में पूर्ण। १८६२ में 'खोल्सतोमर' पर काम आरम्भ किया जो १८८५ में पूर्ण हुआ। १८६३ से ६९ की अवधि में 'वार ऐण्ड पीस' रच डाला। 'डायरी आफ ए मैडमैन' १८६९ में। रूसी सम्राट् पीटर महान् के युग पर एक उपन्यास शुरू किया पर अपूर्ण छोड़ना पड़ा। १८७३ से ७७ के वीच 'आन्ना कारेनिना' लिखी। 'निकोलस-१' के युग पर एक उपन्यास १८७८-७९ में आरम्भ किया पर वह अपूर्ण रहा। १८७९-८० में 'कन्फेशन्स' [स्वीकारोक्तियां]और 'क्रीटीक ऑफ डॉग्मेटिक थियोलॉजी' नामक कट्टर धर्मवाद की आलोचना लिख डाली। १८८१ में 'व्हाट मेन लिव वाई' [लोग किसके सहारे जीते हैं] पूर्ण की। १८८५-८६ में वी.जी. चर्तकोव से मैत्री हुई तो उनके 'इण्टरमीडियरी' के लिए कहानियां रचीं। १८८६ में 'डेथ ऑफ इवान इलिच' लिखी। इसी वर्ष 'द पावर ऑफ डार्कनेस' रची जिसे सरकार ने सेन्सर कर दिया। 'फ्रूट्स ऑफ इनलाइटेनमेण्ट' और 'द क्रूत्जर सोनाटा' लिखी जिनके प्रकाशन की अनुमति केवल संकलित रचनाओं के लिए मिल पायी। १८९० में 'फादर सर्जियस' आरम्भ किया जो १८९८ में पूर्ण हुआ। १८९९ में 'रिज़रक्शन' [पुनर्जीवित] रचा। १८९४-९५ में 'मास्टर ऐण्ड मैन' लिख डाली। १८९६ में 'हाजी मुराद' आरम्भ की जो १९०४ में पूरी हुई। १८९८ में 'व्हाट इज़ आर्ट' लिख डाली। १९०० में 'द लिविंग कॉर्प्स' [जीवित लाश] और 'दाउ शैल्ट नाट किल' [तुझे हत्या नहीं करनी चाहिए] लिखीं। इसी काल में गोर्की

से मैत्री। १८९९ में दुखोवर लोगों को कनाडा ले जाने के लिए 'रिज़रक्शन'. प्रकाशित करायी। १९०३ में 'रेमिनिसेन्सेज़' [स्मृतियां] आरम्भ कीं। 'ऑफ्टर द वॉल' पूरी की। 'द फोर्ज्ड कूपन' पर काम किया। 'शेक्सपियर ऐण्ड द ड्रामा' लिख डाली।

रॉबर्टो ब्राको पृष्ठ ४९-५३

जन्म : १८६२ ई. [इतालिया : इटली]

ये नेप्ल्स नगर में रहते थे और कवि, नाटककार एवं कहानीकार थे।

परिशिष्ट-५ में वर्णित 'द मास्टरपीस लाइब्रेरी ऑफ़ शॉर्ट स्टोरीज़' के अन्तर्गत प्रकाशित 'प्रत्येक देश और प्रत्येक काल की हजार सर्वश्रेष्ठ कहानियां' नामक सर जे. ए. हैम्मरटन द्वारा सम्पादित कहानी संग्रह के पृष्ठ ४०० पर इनका मात्र इतना-सा उल्लेख है: 'रॉबर्टो ब्राको चरित्रों की जटिलता में विशेष रस लेते हैं और वे व्यंग्य प्रधान साहित्यिक धारा से सम्बद्ध हैं।'

इनका दूसरा उल्लेख विश्वभारती, कलकत्ता द्वारा सितम्बर, १९४५ ई. में प्रकाशित पुस्तक—'रोलां ऐण्ड टैगोर' के पृष्ठ ६७ पर मिला। रोम्यां रोलां ने अपने पत्र क्रमांक १७, दिनांक ११ नवम्बर १९२६ में रवि बाबू को पत्र के अन्त में 'पुनश्च' के रूप में जोड़कर इतालिया [इटली] के पाशविक फ़ासिस्ट दंगों का 'गुप्त' समाचार देते हुए यह भी लिखा है कि 'नेप्ल्स में सुविख्यात नाटककार रॉबर्टो ब्राको के घर पर भी फ़ासिस्ट दंगाइयों ने आक्रमण किया।' इसी पुस्तक के परिशिष्ट के पृष्ठ १३ पर यह सूचना अंकित है कि रॉबर्टो ब्राको इतालवी कवि और नाटककार थे और उनका जन्म १८६२ ई. में हुआ था।

और कहीं से रॉबर्टो ब्राको विषयक कोई जानकारी हमें नहीं मिल पायी। तत्काल हमें उनकी कोई और रचना भी उपलब्ध नहीं हो पायी। अतः इन अत्यन्त अपर्याप्त सूचनाओं पर ही सन्तोष करना पड़ा।

विजयदान देथा पृष्ठ तेरह-छियालीस, ५४-१०५; ३५९-५३१, ५७६-५७७

प्रचलित नाम : विज्जी

जन्म : ग्राम बोरुन्दा, जिला जोधपुर [राजस्थान], दिनांक १ दिसम्बर, १९२६ ई.

शिक्षा : एम.ए. [प्रथम खण्ड] तक।

माता—सिरूं कंवर [१८९६-१९४६]

पिता—सबलदानजी देथा [१८८९-१९३०]

बाल्यकाल एवं सृजन के उन्मेष आदि के लिए देखिये पृष्ठ ४७१-५०७।

सम्पादन—[१] प्रेरणा [हिन्दी मासिक] १९५३-५५; [२] रूपम [हिन्दी त्रैमासिक] [३] परम्परा [राजस्थानी-साहित्य की शोध-पत्रिका] प्रत्येक अंक में एक विशेष विषय—[क] लोक गीत [राजस्थान के परम्परागत लोक गीतों का समाजशास्त्रीय अध्ययन] [ख] गोरा हट जा [राजस्थान में—सन् १८०० से १९०० ई. के बीच रचित ब्रिटिश-विरोधी कविताओं का ऐतिहासिक मूल्यांकन]; [ग] जेठवे रा सोरठा [राजस्थान के

प्रचलित प्रेमाख्यान का विवेचन]। [४] 'वाणी' और 'लोक संस्कृति' [श्री कोमल कोठारी के साथ संयुक्त रूप से।]

सृजन एवं संचयन—[१] वातां री फुलवाड़ी [राजस्थानी]: १४ खण्ड : लोक-कथाओं पर आधृत लगभग १००० कहानियां, सभी संगृहीत कथाएं स्वतंत्र एवं मौलिक रीति से, लोक-कथाओं को भाषा एवं साहित्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बनाने के उद्देश्य से विरचित। [२] राजस्थानी-हिन्दी कहावत कोश : तेरह हजार संगृहीत लोकोक्तियों में से चुनकर वर्णानुक्रम से प्रारम्भिक ३३०० कहावतें हिन्दी में लिपिबद्ध एवं उनकी विभिन्न अर्थच्छटाओं की हिन्दी में विवृति। यथासम्भव कहावतों में निहित कथाओं का भी समावेश। [३] साहित्य और समाज—लोक-कथा, लोक-गीत, भाषा एवं साहित्यिक समालोचना विषयक हिन्दी निबन्ध। [४] प्रेमचन्द के पात्र—पूर्वोक्त 'प्रेरणा' के एक विशेषांक पर आधृत संयुक्त लेखन में रचित पुस्तक। [५] दुविधा और अन्य कहानियां—'वातां री फुलवाड़ी' की कुछ कथाओं का हिन्दी अनुवाद। राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित। [६] उलझन [हिन्दी] समकालीन परिस्थितियों पर आधृत कुछ पारम्परिक और कुछ मौलिक कथाएं जिनमें आधुनिक सन्देश और ग्राम्य-जीवन के गहरे अनुभवों की छटाएं हैं। [७] अलेखूं हिटलर [राजस्थानी की आधुनिक कथाएं] परम्परागत शैली का आधुनिक सन्दर्भों तक विकास। [८] 'रूंख' की यह सम्यक् रचनावली।

फिल्में—[१] दुविधा, मणि कौल द्वारा निर्देशित, राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कारों से समादृत। [२] चरणदास चोर, श्याम बेनेगल द्वारा निर्देशित। [३] श्री रैना द्वारा निर्देशित एवं उपग्रहीय दूरदर्शन द्वारा निर्मित, फुलवाड़ी की विभिन्न कहानियों पर आधृत आठ लघु-फिल्में। [४] इमेज इण्डिया फिल्म्स के स्वर्गीय शान्ति पी. चौधरी द्वारा निर्मित-निर्देशित छह दूरदर्शन-फिल्में। [५] प्रकाश झा द्वारा निर्मित-निर्देशित आगामी फिल्म 'परिणति'। [६] उलझन, दूजौ कबीर आदि कहानियों के आधार पर अनेक फिल्मों की निर्माण-प्रक्रिया अभी चल रही है।

नाटक—राष्ट्रीय महत्त्व के अनेक नाटककारों की एक बड़ी संख्या ने इनकी कहानियों का नाट्य रूपान्तर कर उन्हें देश के महत्त्वपूर्ण नगरों में मंचित किया है। कुछ का संक्षिप्त विवरण–[१] चरणदास चोर 'फ़ितरती चोर' नाम से हिन्दी में अनूदित राजस्थानी कथा को छत्तीस गढ़ी लोक-नाट्य-शैली में रूपान्तरित कर श्री हबीब तनवीर द्वारा निर्देशित। यह नाटक लगभग हजार बार खेला जा चुका है और इसे विदेशों में अनेक सम्मान प्राप्त हुए हैं। [२] पृथ्वीपाल सिंह : उगमराज खिलाड़ी की विख्यात नाट्य मण्डली के साथ राजस्थानी लोक-नाट्य-शैली में हबीब तनवीर द्वारा निर्देशित। [३] बीजां-तीजां : दिल्ली में दीपक केजरीवाल और इरपिन्दर के. पुरी द्वारा निर्देशित मंचित। [४] अलेखूं हिटलर', 'राजीनामा', 'खोजी', 'रोजनामचा' आदि दिल्ली में देवेन्द्र अंकुर द्वारा प्रस्तुत। [५] प्रसन्ना द्वारा प्रस्तुत 'दुविधा'। [६] असगर वजाहत द्वारा मंचित 'वीर गति'। [७] मृणाल पाण्डेय द्वारा प्रस्तुत 'राम रचि राखा'।

पुरस्कार—भारतीय राष्ट्रीय साहित्य अकादमी द्वारा 'वातां री फुलवाड़ी' के दशम खण्ड पर राष्ट्रीय पुरस्कार। राष्ट्रीय साहित्य अकादमी ने राजस्थानी भाषा के कृतित्व

पर यही सर्वप्रथम पुरस्कार दिया है।

सम्प्रति—रूपायन संस्थान [राजस्थानी लोक-संस्कृति की संस्था], बोरुन्दा के सचिव के रूप में कार्यरत। राजस्थान में लोक-साहित्य के अभिलेखन एवं संरक्षण की दिशा में यह संस्था सर्वप्रथम अग्रसर है। इस संस्था का मुख्य कार्यक्षेत्र अग्रांकित तत्त्वों के संरक्षण एवं संचयन से सम्बद्ध है : लोकगीत, लोककथाएं, लोक-महाकाव्य, लोकनाट्य, राजस्थानी भाषा की लोकोक्तियां, पदबन्ध और मुहावरे, पारम्परिक समाज की सामाजिक संरचना, लोक दृश्य-कलाएं, वंशावलियां और उनके संरक्षकों के विवरण; लोक-चित्रांकन, लोक-मूर्तिकला, लोक-परिधान एवं आभूषण तथा लोक-देवता और लोक देवियां आदि। लोक-संस्कृति के पूर्वोक्त सभी उपादानों को यथा स्थान नियत कर उनका सम्यक् अध्ययन इत्यादि।

जगदीशचन्द्र बसु पृष्ठ १४३-१६५ एवं २४५-२६३

जन्म : ३० नवम्बर १८५८, मैमन सिंह [ढाका, पूर्वी बंगाल]
निधन : २३ नवम्बर १९३७ ई. गिरिडीह, बिहार
२४ नवम्बर १९३७ ई. को कलकत्ता में अन्त्येष्टि
माता : श्रीमती वामा सुन्दरी देवी ; [निधन : १८६४ ई.]
पिता : श्री भगवान चन्द्र बसु ; [निधन : १८९२ ई.]

ठेठ बचपन में दादी मां से रामायण-महाभारत की कथाएं सुनना, प्रकृति का अवलोकन और पेड़-पौधों, जीव-जन्तुओं से प्रेम के रूप में शिक्षा का नैसर्गिक आरम्भ हुआ। पांच वर्ष की आयु में फरीदपुर के बांग्ला स्कूल में औपचारिक शिक्षा। १८६९ ई. में कलकत्ते के हेयर स्कूल में, फिर तीन माह बाद १८७० में अंग्रेजी माध्यम के सेण्ट जेवियर स्कूल में भेज दिये गये। ग्राम्य परिवेश में पले जगदीशचन्द्र को आरम्भ में थोड़ा संघर्ष अनुभव हुआ, फिर पेड़-पौधों, जीव-जन्तुओं की संगति की मनपसन्द व्यवस्था बन गयी। १८७५ में प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण कर सेण्ट जेवियर्स कॉलेज में बी. ए. करने तक रहे। १८८० में उच्चतर शिक्षा के लिए इंगलैण्ड गये। पहले एक वर्ष तक लन्दन में उन्होंने औषधि-विज्ञान पढ़ा फिर कैम्ब्रिज के क्राइस्ट कॉलेज में चले गये और १८८४ में प्राकृत विज्ञान में बी. एस-सी. ट्राइपॉस किया। १८८५ में प्रेसिडेन्सी कॉलेज कलकत्ता में कार्यकारी प्राध्यापक नियुक्त हुए। १८८७ में अबला दास से विवाह हुआ जो विवाहोपरान्त अबला बसु हो गयीं। १८९४ में नौकरी स्थायी हो गयी, सम्मानार्थ उन्हें १८८८ से ही स्थायी मानने का आदेश हुआ। उसी समय से वे शोध और आविष्कार में उल्लेखनीय हुए। १८९६-९७ में पहली बार वैज्ञानिक के रूप में यूरोप की यात्रा की। फिर तो दस बार ऐसी यात्राएं हुईं। आरम्भ के तीन-चार वर्ष विरोध हुए, फिर १९०१-२ तक उन्हें मान्यता मिल गयी। १९०३ में सी. आई. ई. और १९१२ में सी. एस. आई के खिताब मिले। १९१३ में दो वर्ष के लिए कार्यावधि बढ़ी। १९१५ में उन्हें आजीवन पूरे वेतन पर 'एमिरिटस प्रोफेसर' [आज के 'राष्ट्रीय प्रोफेसर' जैसा] बना दिया गया। १९१६ में उन्हें

'सर' का खिताब मिला। फिर तो उन्हें राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय असंख्य सम्मान प्राप्त हुए।

उनकी कुल दस वैज्ञानिक पुस्तकें प्रकाशित हुईं, सबके प्रकाशक लांगमैन ग्रीन ऐण्ड कम्पनी, लन्दन थे। उनके अतिरिक्त १९१६ ई. में 'ट्रांजैक्शन्स ऑफ बोस इन्स्टीट्यूट' का पहला खण्ड प्रकाशित हुआ। १९३६ तक उसके कुल ग्यारह खण्ड प्रकाशित हुए। जिस में उनकी खोजों के परिणाम प्रकाशित हुआ करते थे।

१९१९ में उनके बांग्ला निबन्धों का संग्रह 'अव्यक्त' प्रकाशित हुआ। १९८४ ई. में श्री दिवाकर सेन ने 'किशोर रचना' समग्र' के नाम से बच्चों के लिए लिखे गये उनके सभी बांग्ला लेख संकलित एवं सम्पादित करके शैव्या प्रकाशन विभाग, ८६/१, महात्मा गांधी रोड, कलकत्ता-९ से प्रकाशित करा दिये। यहां अधिकतर इन्हीं दोनों बांग्ला पुस्तकों के अनुवाद प्रस्तुत किये गये हैं।

उनके सभी भाषणों आदि का संकलन भी अलग से प्रकाशित हो चुका है। और महत्त्वपूर्ण पत्र भी अलग से छप चुके हैं।

भगिनी निवेदिता पृष्ठ २६७-२७१

पूरा नाम : मार्गरेट एलिजाबेथ नोबल।

जन्म : २८ अक्तूबर, १८६७ ई. डंगानन, काउण्टी टाइरोन, आयरलैण्ड। ब्रह्मचर्य-दीक्षा और 'निवेदिता' नामकरण : कलकत्ता, २५ मार्च १८९८ ई.।

निधन : १३ अक्तूबर, १९११, दार्जिलिंग।

माता : मेरी इसाबेल

पिता : सेमुअल रिचमण्ड नोबल

इनके पूर्व पुरुषों की जन्मभूमि स्कॉटलैण्ड थी जहां से पांच सौ वर्ष पूर्व आकर वे लोग आयरलैण्ड में बस गये थे। यह अपने माता-पिता की सबसे बड़ी सन्तान थीं। इनके पितामह जॉन नोबल उत्तरी आयरलैण्ड के वेस्लियन चर्च के एक अधिकारी थे। इनके मातामह रिचर्ड हैमिल्टन आयरलैण्ड के स्वतन्त्रता-सेनानी थे। इनके पिता सेमुअल रिचमण्ड डेवनशॉयर के ग्रेट टॉरिण्टन में काम करते थे और वेस्लियन चर्च के धर्मशास्त्र के विद्यार्थी थे। केवल चौंतीस वर्ष की आयु में उनका देहान्त हो गया तो इनकी मां इनकी छोटी बहन मे, छोटे भाई रिचमण्ड और उन्हें साथ लेकर आयरलैण्ड लौट आयीं।

कांग्रिगेशनलिस्ट चर्च के चैप्टर द्वारा संचालित हैलिफैक्स कॉलेज में इनकी शिक्षा हुई और इन्होंने अध्यापन का पेशा अपनाया। १८८४ ई. में इन्होंने केस्विक, १८८६ में रेक्सहैम और १८८९ में चेस्टर में काम किया। पेस्टलॉज़ी और फ्रोबेल के 'नवीन शिक्षा सिद्धान्त' से यह बहुत प्रभावित हुईं और १८९२ में इन्होंने 'रस्किन स्कूल' नामक अपना स्कूल खोला। अपनी असाधारण बौद्धिक क्षमता और प्रतिभा के कारण वे लन्दन के उच्चवर्गीय समाज के 'सीसेम क्लब' के सदस्यों में बड़ी लोकप्रिय हुईं।

बचपन ही से ईसाई धर्म-सिद्धान्त इन्हें घुट्टी में पिलाये गये थे किन्तु सत्य की खोज की तीव्रता और मुमुक्षा इन में इतनी प्रबल थी कि अन्ततः यह वेदान्त दर्शन और स्वामी

विवेकानन्द के सम्पर्क में १८९५-९६ में आ गयीं। यही मुमुक्षा इन्हें २८ जनवरी १८९८ को कलकत्ता ले आयी। जहां २५ मार्च को इनकी विधिवत् दीक्षा हुई।

नवम्बर १८९८ ई. इन्होंने हिन्दू बच्चियों के लिए किण्डरगार्टेन स्कूल खोला। रामकृष्ण मिशन की ओर से १८९९ ई. में प्लेग की महामारी में राहत कार्य किये। 'सहायता के लिए रामकृष्ण गिल्ड' की अमरीका में स्थापना की और जुलाई १९०० ई. में अपने स्कूल के लिए राशि एकत्र करने के लिए पश्चिम की यात्रा की। स्वामी विवेकानन्द जब धर्मों के इतिहास की कांग्रेस के सम्मेलन में पेरिस गये तो यह भी उनके साथ थीं। सितम्बर १९०० में अकेली इंगलैण्ड गयीं और फरवरी १९०२ में भारत लौटीं।

जुलाई १९०२ में स्वामी विवेकानन्द का गोलोकवास हो गया तो भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता-विषय में अत्यधिक रुचि लेने के कारण उन्हें शुद्ध आध्यात्मिक रामकृष्ण आश्रम से इस्तीफा भी देना पड़ा, यद्यपि आदि से अन्त तक वे रामकृष्ण मिशन के कार्यों में सक्रिय रहीं। पवित्र मां शारदादेवी [परमहंसदेव की धर्म पत्नी] से सर्वदा इनका घनिष्ठ सम्पर्क था। सितम्बर १९०२ से १९०४ तक इन्होंने सारे भारत की यात्रा कर राष्ट्रीय चेतना जगाने के लिए भाषण दिये। १९०५ में बंगाल के जनहित के कार्यों में ये पूर्ण सक्रियतापूर्वक संलग्न थीं। १९०६ में पूर्वी बंगाल के बाढ़ और अकाल पीड़ितों के राहत कार्य में वे ऐसी तन्मय हुईं कि स्वयं उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया। अगस्त १९०७ में उन्होंने फिर यूरोप और अमेरिका की यात्रा की और भारतीय संस्कृति के पक्ष में बहुत सारे काम किये। वे अप्रेल, १९११ में भारत लौटीं। अक्तूबर १९११ में वे स्वास्थ्य-सुधार की दृष्टि से दार्जिलिंग गयीं किन्तु वहीं पेचिश के भीषण प्रकोपवश १३ अक्तूबर १९११ को उनका गोलोकवास हो गया।

भारत आने के पूर्व ही उन्होंने 'न्यालास' और 'डब्ल्यू. नाइलस' के छद्मनामों से पत्रिकाओं में अपनी रचनाएं छपवानी शुरू कर दी थीं। भारत में वे अपने हस्ताक्षर 'रामकृष्ण-विवेकानन्द के प्रति निवेदिता' के रूप में करती थीं। 'रिव्यू ऑफ रिव्यूज़', 'प्रबुद्ध भारत', 'माडर्न रिव्यू' आदि में उनकी बहुतेरी रचनाएं छपा करती थीं। उनकी पहली पुस्तक 'काली द मदर' [माता महाकाली] १९०० में प्रकाशित हुई। 'द वेब ऑफ इण्डियन लाइफ़' [भारतीय जीवन का ताना-बाना] उनकी १९०४ में प्रकाशित प्रधान कृति है जिसमें उन्होंने पाश्चात्य आलोचनाओं का उत्तर देते हुए भारत का भव्य रूप प्रस्तुत किया है। 'मास्टर ऐज़ आई सा हिम' [मेरे गुरुदेव, जैसा मैंने उन्हें देखा] सन् १९१० ई. में प्रकाशित हुई जिस में उन्होंने विवेकानन्द के जीवन और शिक्षाओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। 'क्रैड्ल ऑफ टेल्स ऑफ हिन्दुइज्म', 'रेलिजन ऐण्ड धर्म' आदि उनके अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। 'मिथ्स ऑफ द हिन्दूज़ ऐण्ड बुद्धिस्ट्स' को अपूर्ण छोड़कर वे चल बसीं तो आनन्द के. कुमारस्वामी ने उसे १९१३ में पूर्ण कर जार्ज जी. हैरप ऐण्ड कम्पनी से प्रकाशित कराया। रामकृष्ण-शारदा मिशन सिस्टर निवेदिता गर्ल्स स्कूल, कलकत्ता ने १९६७ ई. में उनकी सम्पूर्ण ग्रन्थावली चार खण्डों में प्रकाशित कर दी है।

उनका सबसे प्रधान लक्ष्य यह था कि भारत एक सशक्त सुदृढ़ राष्ट्र के रूप में उभरे। १८९८ में उनकी इच्छा यह थी कि भारत और इंगलैण्ड में प्रगाढ़ प्रेम विकसित हो किन्तु

वाद में अंग्रेज शासकों के रवैये के कारण उनका भ्रमभंग हो गया और उनका रुख उग्र राष्ट्रीयता की ओर हो गया। प्रिन्स क्रोपात्किन के विचारों से उनकी राजनैतिक दृष्टि वहुत प्रभावित थी। १९०२ से वे ब्रिटिश नीतियों का खुल्लम-खुल्ला विरोध करने लगीं। उन्होंने १९०४ के विश्वविद्यालय कानून, १९०५ के वंग-भंग और लॉर्ड कर्जन द्वारा सारे भारतीयों को मिथ्यावादी कहने पर उनका खूव डटकर विरोध किया। वे भारत के आर्थिक दुःख-दैन्य का कारण ब्रिटिश साम्राज्यवाद को समझती थीं। उस युग के नर्म नेता अंग्रेजी शासन के साथ जो याचना-प्रार्थना की नीति ग्रहण किये हुए थे उस से उनका खुला विरोध था। फिर भी उस समय के मुख्य राष्ट्रीय नेता विपिनचन्द्र पाल, गोपाल कृष्ण गोखले आदि से उनके मैत्री के सम्वन्ध थे। युवा क्रान्ति-मार्गियों—तारकनाथ दास सरीखे लोगों को वे प्रोत्साहित करती थीं। 'डॉन सोसाइटी' और 'अनुशीलन समिति' जैसी देशभक्त संस्थाओं की वे वड़ी मदद करती थीं। श्री अरविन्द घोष द्वारा संस्थापित कार्यकारिणी की केन्द्रीय काउन्सिल की वे सदस्य थीं और श्री अरविन्द को जव ब्रिटिश-शासित भारत से वाहर निकलना पड़ा तो वे ही 'कर्मयोगी' की सम्पादक थीं।

वे सम्पूर्ण राष्ट्रीय शिक्षा की पक्षधर थीं। वैज्ञानिक शिक्षा और अनुसन्धान को प्रोत्साहन देती थीं और उन्होंने आचार्य जगदीशचन्द्र वसु की वहुत सहायता की थी। उनकी मान्यता थी कि भारतीय कलाओं का पुनरुज्जीवन भारतीय नवजागरण के लिए अनिवार्य है। अतः भारतीय कलाओं पर यूनान के हेलेनिक प्रभाव की मिथ्या धारणाओं का उन्होंने समग्र वल से खण्डन किया और अवनीन्द्रनाथ ठाकुर आदि तत्कालीन कलाकारों को भारतीय कलाओं का महत्त्व समझा कर सृजन के लिए प्रेरित किया। उन्होंने विभिन्न कलाओं की भारतीय शैली के कार्यों और सम्भावनाओं को परिभाषित किया।

वीसवीं सदी के आरम्भ के राष्ट्रीय आन्दोलन की आकाश गंगा में भगिनी निवेदिता को अत्यन्त देदीप्यमान नक्षत्र और अग्रणी माना जाता है। रवि वावू आदि तत्कालीन महा-पुरुष उनके कार्य के महत्त्व से आकर्षित हुए थे। लेडी मिण्टो और रैमजे मैक्डोनल्ड जैसे विदेशियों को भी उनकी प्रशंसा करनी पड़ी थी।

भगिनी निवेदिता ने एक तपस्विनी का सरल एवं पवित्र जीवन अपनाया था और अपनी समस्त ऊर्जा भारत और हिन्दुत्व के अभ्युत्थानार्थ अर्पित कर दी थी जिस पर पाश्चात्य जगत् ने वेहद कीचड़ उछाल रखा था। स्वामी विवेकानन्द उन्हें 'सचमुच की सिंहिनी' कहते थे। रविबाबू ने उन्हें 'लोकमाता' कहा था और श्री अरविन्द घोष उन्हें 'अग्निशिखा' कहते थे। इंगलैण्ड में उन्हें 'भारतीयता की प्रधान पक्षधर' माना जाता था। किन्तु भारतीय जनता के लिए वे स्नेहपूर्ण वहन—भगिनी थीं।

भारतीय राष्ट्रीय जागरण में उनका अंशदान अपरिमेय है। 'मेरा काम राष्ट्र को जगाना है', वे अपने जीवन-उद्देश्य के रूप में ऐसी उद्घोषणा करती थीं। उनका स्वप्न यह था कि भारत में धर्म पूर्णतः संस्थापित हो जाये!

रमेशचन्द्र दत्त पृष्ठ २७१-२७२

जन्म : कलकत्ता, १३ अगस्त १८४८
निधन : १९०९ ई.
पिता—ईशानचन्द्र दत्त

इनका जन्म एक विद्या-प्रेमी, प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। इन के एक चाचा रसमय दत्त कलकत्ता के संस्कृत कॉलेज के सर्वप्रथम प्रिंसिपल थे। उनके दूसरे चाचा शशिचन्द्र दत्त अपने अंग्रजी लेखन के लिए ख्याति प्राप्त थे। उनकी चचेरी वहन तरुदत्त की अंग्रेजी और फ्रांसीसी कविताएं तो आज तक स्मरणीय हैं।

कलकत्ता के बंगाली स्कूलों और बंगाल के अन्य जिला मुख्यालयों में शिक्षा प्राप्त कर कलकत्ता के विख्यात हेयर स्कूल में वे १८६१ ई. में गये। १८६४ में में उन्होंने प्रवेशिका परीक्षा में सफल होकर कलकत्ता विश्वविद्यालय की छात्रवृत्ति प्राप्त की। १६ वर्ष की आयु में मातङ्गिनी बोस से उनका विवाह हुआ। १८६६ में उन्होंने प्रेसिडेन्सी कॉलेज से कला की प्रथम परीक्षा पास की और वरिष्ठता क्रम में दूसरा स्थान प्राप्त कर छात्रवृत्ति पायी। अभी वे बी. ए. के छात्र ही थे कि उच्चतर शिक्षा के लिए इंगलैण्ड भेज दिये गये। इण्डियन सिविल सर्विस की खुली प्रतियोगिता में सफल होकर अगले वर्ष इन्होंने अपनी योग्यता प्रमाणित कर दी। उन्होंने भारत लौटने के पहले वकालत भी पढ़ी।

१८८१ में वे भारतीय जन-जीवन और इण्डियन सिविल सर्विस दोनों में गण्यमान्य व्यक्ति मान लिये गये। उन्होंने प्रोवेशनर असिस्टेण्ट मजिस्ट्रेट के रूप में नौकरी शुरू की और केवल दस वर्ष में इतनी उन्नति की कि वे ऐसे पहले भारतीय अफसर हुए जिन्हें पूरे जिले का दायित्व सौंपा गया। १८९४ में वे सर्वप्रथम भारतीय डिवीजनल कमिश्नर हुए, जिन्हें बर्दवान डिवीज़न का सम्पूर्ण राजस्व सौंपा गया।

अपेक्षाकृत कम उम्र में—अर्थात् केवल ४९ वर्ष की आयु में जव वे उड़ीसा के कमिश्नर थे, वे इण्डियन सिविल सर्विस से सेवा-निवृत्त हुए।

प्रशासकीय सेवा के लिए उन्हें लेफ्टिनेण्ट गवर्नरों और गवर्नर जनरलों की लगातार प्रशंसा प्राप्त हुई। सेवा-निवृत्त होने के उपरान्त ही उन्हें देश-सेवा के लिए अपना समस्त समय अर्पित करने का अवसर मिला। किन्तु नौकरी करते हुए भी वे प्रथम कोटि के वक्ता के रूप में प्रतिष्ठित हुए और उसी समय उन्हें ऐसा व्यक्ति माना जाने लगा जो अपने स्वतन्त्र विचार व्यक्त करने में सर्वथा निर्भीक था। भारतीय दरिद्रता के कारण, प्रशासकीय समस्याओं और विवादग्रस्त इल्वर्ट विल के मामले में उनके विचार सरकारी नीति के विरुद्ध थे।

१८९९ में वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष हुए और उस समय के पढ़े-लिखे लोगों ने यह माना कि वे उनके सर्वाधिक प्रभावशाली प्रवक्ता हैं।

सिविल सर्विस से सेवा-मुक्त होने के बाद उन्हें भारतीय इतिहास के प्राध्यापक के रूप में लन्दन विश्वविद्यालय में नियुक्ति मिल गयी। वे वड़ौदा राज्य के राजस्व मन्त्री के रूप में नियुक्त होकर १९०४ में तीन वर्ष के लिए भारत लौटे। १९०८ में उन्हें विकेन्द्रीकरण

कमीशन के सदस्य रूप में फिर भारत आना पड़ा। इस सारी अवधि में उन्होंने अर्थशास्त्र, आर्थिक इतिहास और प्राचीन भारतीय सभ्यता पर मूल्यवान ग्रन्थ लिखे। उन्होंने उस युग के कुछ सर्वोत्कृष्ट बांग्ला उपन्यासों की भी रचना की है।

किसानों की आर्थिक समस्याओं पर १८७५ में रचित उनकी पहली पुस्तक 'पीजेण्ट्री ऑफ बंगाल' थी। उन में वर्णित विचार पूर्णत: पल्लवित होकर उनके १९०० में प्रकाशित ग्रन्थ 'फेमिन्स इन इण्डिया' [भारत में अकाल] में व्यक्त हुए। 'ब्रिटिश शासन में भारत १७५७-१८३७' इस विषय में उनका सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जो १९०१ में प्रकाशित हुआ। उसी क्रम में उन्होंने १९०२ में 'विक्टोरिया के युग में भारत का आर्थिक इतिहास' भी लिखा। आज तक ये दोनों ग्रन्थ भारतीय आर्थिक इतिहास के सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ माने जाते हैं। उन्होंने राजस्व के आधिक्य पर लार्ड कर्जन को खुली चिट्ठियां लिखी थीं जिनका उत्तर सरकारी तौर पर १९०२ के प्रस्तावों के रूप में प्राप्त हुआ।

रमेशचन्द्र दत्त ने भारतीय इतिहास पर कई पाठ्य पुस्तकें लिखी थीं लेकिन तीन खण्डों में प्रकाशित १८९९ का उनका ग्रन्थ 'प्राचीन भारत में सभ्यता का इतिहास' बहुत प्रसिद्ध है। उन्होंने महाभारत, रामायण एवं अन्य संस्कृत ग्रन्थों का अंग्रेजी में और महाभारत, रामायण तथा ऋग्वेद का बांग्ला में भी अनुवाद किया था। उनका देश-प्रेम उनके बांग्ला के ऐतिहासिक उपन्यासों में व्यक्त हुआ था, जिन पर उनके मित्र बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। वे हैं—'बंग-विजेता' [१८७४], 'माधवी कंकण' [१८७७], 'महाराष्ट्र जीवन-प्रभात' [१८७८] और 'राजपूत-जीवन-सन्ध्या' [१८७९], इसी प्रकार उनके सामाजिक उपन्यासों में पाश्चात्य-आधुनिक मूल्यों और प्राचीन भारतीय संस्कारों का संघर्ष व्यक्त हुआ है।

इतना ही नहीं, उन्होंने भारतीय मुद्रा पर जांच करने वाली फाउलर कमीटी [१८९८] के समक्ष जो साक्ष्य दिया था वह मौद्रिक इतिहास का एक बहुमूल्य दस्तावेज है।

१८९७ में प्रकाशित उनकी पुस्तक 'इंग्लैण्ड ऐण्ड इण्डिया' में उन्नीसवीं सदी के प्रशासनिक ढर्रे की गहरी मीमांसा है। इनके अतिरिक्त उनके असंख्य लेख, भाषण और लघु पुस्तिकाएं आदि हैं जिन में उनका बहुमूल्य कृतित्व बिखरा पड़ा है। वे अपनी पीढ़ी के बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न महापुरुष थे। खेद है कि आधुनिक भारतीय पीढ़ी को उनके विषय में कम-से-कम जानकारी है। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर अत्यन्त विस्तारपूर्वक गम्भीर शोधकार्य की अपेक्षा है जिस से नयी पीढ़ी की प्रेरणा के अनेक स्रोत निकल सकते हैं।

मक्सिम गोर्की पृष्ठ २७५-२९३

जन्म : २८ मार्च १८६८, 'निजनी नोवरोगोरोद' में। जिसका नाम क्रान्ति के बाद उन्हीं के नाम पर 'गोर्की' रख दिया गया।

निधन : १८ जून, १९३६ ; मास्को के निकटस्थ गोर्की में। २० जून को उन्हें क्रेमलिन की दीवार के पास मास्को के लाल चौक में दफन किया गया।

माता—वी. वी. काशीरिना

पिता—एम. एस. पेशकोव

असल नाम अलेक्सेई मक्सिमोविच पेशकोव। सात वर्ष की आयु में पितृहीन हुए और नवें वर्ष से आजीविका के लिए आत्मनिर्भर हो गये। बारह वर्ष की आयु में वे अपने निष्करुण सम्वन्धियों को छोड़ भागे।

उनकी पहली कहानी 'माकर चुद्रा' १२ सितम्वर, १८९२ ई. को प्रकाशित हुई। वी. जी. कोरोलेंको ने साहित्य में प्रतिष्ठित होने में उन से सहयोग किया। इन्होंने अधिकतर कहानी, उपन्यास और नाटक लिखे। वैसे, तीन खण्डों में उनकी आत्मकथा को 'औपन्यासिक आत्मकथा' अथवा 'आत्मकथ्यात्मक उपन्यास' कहा जाता है। उनके जीवन-परिचय के लिए वही द्रष्टव्य है।

संयुक्त सोवियत सोशलिस्ट गणराज्य, रूस की विज्ञान-अकादमी के विश्व साहित्य संस्थान ने उनकी शताव्दी मनाते हुए उनकी समग्र रचनावली प्रकाशित की। प्रगति प्रकाशन, मास्को, रूस ने उसी पर आधृत दस खण्डों में उनकी सम्पूर्ण रचनाएं १९७८ से १९८२ के मध्य प्रकाशित कीं। प्रथम खण्ड : चुनी हुई कहानियां। द्वितीय खण्ड : फोमा गोर्देयेव। तृतीय खण्ड : मां। चतुर्थ खण्ड : नाटक। पंचम खण्ड : मातवेई कोजेम्याकिन का जीवन-चरित। पष्ठ खण्ड : इतालिया की कहानियां और 'मेरा वचपन'। सप्तम खण्ड : 'मेरी छात्रावस्था' और 'मेरे विश्वविद्यालय'। अष्टम खण्ड : आर्त्तामोनोव लोग। नवम खण्ड : साहित्यिक संस्मरण। दशम खण्ड : साहित्य-विषयक उनके विचार।

मुकुन्द लाठ पृष्ठ ३१३-३४१, ३४५-३५६

जन्म : ८ अक्तूवर, १९३७ ई., कलकत्ता।

माता—श्रीमती ज्ञानवती लाठ।

पिता—स्वर्गीय मोहन लाल जी लाठ [देहान्त ६३ वर्ष की अवस्था में]

शिक्षा : सेण्ट जेम्स स्कूल, कलकत्ता से १९५१ में सीनियर कैम्ब्रिज, अंग्रेजी साहित्य में दिल्ली विश्वविद्यालय से वी.ए. ऑनर्स ; संस्कृत में, जादवपुर विश्वविद्यालय, कलकत्ता से, १९६५ ई. में एम. ए.।

इण्टरनेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ कम्पेयरेटिव म्यूजिक स्टडीज ऐण्ड डॉक्युमेण्टेशन, पश्चिमी वर्लिन में इन्होंने संस्कृत स्कॉलर के रूप में कार्य किया। उन्हें 'दत्तिलम् का अध्ययन' विपय पर १९७६ ई. में दिल्ली विश्वविद्यालय से पी-एच. डी. प्राप्त हुई।

१९५१ ई. से ही इन्होंने भारतीय शास्त्रीय संगीत की शिक्षा ग्रहण करनी आरम्भ कर दी। इनके संगीत के गुरुजन में मुख्य भारतीय गायकगण—पण्डित मणिरामजी, श्री रमेश चन्द्र चक्रवर्त्ती महाशय और पंडित जसराजजी प्रभृति विशिष्टजन हैं। वे निरन्तर अभ्यास कर रहे हैं और उन्होंने शास्त्रीय गायन एवं संगीत की सूक्ष्मताओं एवं जटिलताओं की सिद्धियां प्राप्त कर ली हैं।

फिलहाल १९७३ से डॉक्टर मुकुन्द लाठ शोध-सहकारी एवं प्रवक्ता के रूप में राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के जैन शोध-केन्द्र तथा इतिहास और भारतीय संस्कृति विभाग से एक साथ सम्वद्ध हैं। वे अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय मानक पत्र-पत्रिकाओं में

संगीत, इतिहास, संस्कृत और प्राकृत के अध्ययन के परिणामों पर आधारित अपने लेखन से ज्ञान का क्षितिज-विस्तार कर रहे हैं।

हिन्दी में इनका केवल एक ग्रन्थ है—'संगीत और रस-सिद्धान्त' : [भारतीय-कलादृष्टि में एक समस्या।] जो श्री सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' द्वारा सम्पादित होकर विगत १९८५ में प्रभात प्रकाशन, नयी दिल्ली से प्रकाशित हुआ है; किन्तु अंग्रेज़ी में सात विशाल ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

भगवान् जिनेन्द्र महावीर का प्राचीन-चरित्र 'कल्पसूत्र' और मध्ययुगीन आत्म-कथात्मक ऐतिहासिक ग्रन्थ 'अर्द्धकथानक' इनके शोधपूर्ण अंग्रेजी अनुवाद एवं व्याख्यात्मक टिप्पणियों से समन्वित होकर क्रमशः १९७७ और १९८१ में राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर से प्रकाशित हो चुके हैं। 'दत्तिलम् के अध्ययन' पर इनका शोध-प्रवन्ध विब्लिया इम्पेक्स प्रा. लि., नयी दिल्ली १९७८ में प्रकाशित कर चुका है। इनके अतिरिक्त 'जैन कला एवं स्थापत्य में राग-चित्रांकन के आरम्भिक इतिहास पर कुछ विचार', अंग्रेजी में जैन अध्ययन केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से १९८० में प्रकाशित हुआ। नेहरू म्यूजियम लाइब्रेरी, नयी दिल्ली ने १९८३ में सुरेशचन्द्र द्वारा सम्पादित इनका अंग्रेजी ग्रन्थ 'रूपान्तरण, सृजन के रूप में' [सृजनात्मक कल्पना और सामाजिक रूपान्तरण] प्रकाशित कर चुका है। इनके अलावा नामदेव के पदों के सांगीतिक, भाषिक एवं भक्ति-विषयक अध्ययन पर आधारित इनके दो गम्भीर ग्रन्थ बर्लिन और बेल्जियम से प्रकाशित हो चुके हैं।

भारतीय संगीत विषयक इनकी एक सुगम्भीर रचना यूनेस्को के वहुभाषिक मुख-पत्र में पेरिस से विवेक दत्त के सहलेखन में प्रकाशित हो चुकी है। 'राग-समय की धारणा पर इनके इतिहास के प्रकाश में एक खोज' नामक इन का शोधपत्र कनाडा की संगीत-शोध-विषयक पत्रिका 'वांसुरी' के अप्रेल १९८४ अंक में, कैलगरी, कनाडा से प्रकाशित हुआ।

इनके अनेक गम्भीर निवन्ध राष्ट्रीय शोध-पत्रों 'शाश्वत वाणी', 'जिज्ञासा' आदि में प्रकाशित हो चुके हैं।

गम्भीर ग्रन्थों पर शोधपूर्ण समीक्षाएं भी ये लिखते रहते हैं।

जापान, वेल्जियम, ऑक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज आदि के विश्वविद्यालयों में भारतीय संगीत आदि विषयों पर ये अनेक वक्तृताएं दे चुके हैं। वोन विश्वविद्यालय, पश्चिमी जर्मनी में भरत मुनि के नाट्यशास्त्र पर जुलाई, १९८५ के आरम्भ में इन्होंने प्रकाश डाला था।

इस प्रकार इनके सुगम्भीर कृतित्व से अभी वहुत-सी आशाएं हैं।

प्रथम सम्भार के अनुवादक

शंकर सेन पृष्ठ १०६-२६३, ३४३-३४४

जन्म : वृन्दावन [उ. प्र.] मातामह का आवास ; १२ सितम्वर १९२७
शिक्षा : एम. ए. [हिन्दी] १९५१, एम. ए. [१९६३-६४ अंग्रेजी] वी. एड. ; [१९५३]
आजीविका : शिक्षण-कर्म; प्रिंसिपल, उ. माध्यमिक विद्यालय के पद से सेवा-निवृत्त।
माता—श्रीमती प्रतिभा सेन
पिता—श्री प्रह्लाद चन्द सेन

सरकारी प्रमाण-पत्रों में इनका नाम 'प्रफुल्ल शंकर सेन' है। इनके मातामह डॉक्टर हरिपद सेनगुप्त चौदह भाषाओं के प्रकाण्ड विद्वान थे। उन्होंने विख्यात स्वतंत्रता सेनानी राजा महेन्द्रप्रताप के साथ प्रथम राष्ट्रीय तकनीकी महाविद्यालय के रूप में वृन्दावन का 'प्रेम महाविद्यालय' स्थापित किया था। इन्हें साहित्यिक संस्कार अपनी मातामही श्रीमती सुवासिनी देवी से प्राप्त हुए थे। उन्हीं की प्रेरणा से इन्होंने कहानी, कविता, गजल, गीत आदि रचने का अभ्यास किया।

इनके पितामह डॉक्टर प्रियनाथ सेन महाराजा जोधपुर श्री सरदार सिंह जी के निजी चिकित्सक थे। इनका परिवार वंगाल के वैद्य-ब्राह्मणों का है।

साहित्य के अतिरिक्त खेल-कूद, समाज-सेवा और सांस्कृतिक कार्यक्रमों में भी इन्हें रुचि थी। गायन में इन्हें कई पदक प्राप्त हुए थे। देश-विभाजन के समय इन्होंने शरणार्थी शिविरों का संचालन किया और कॉलेज छात्र संघ की ओर से अनेक सेवा-कार्यों में भाग लिया।

उम्मेद हाई स्कूल, जोधपुर में स्कूल पत्रिका, तथा तीन वर्षों तक जसवन्त कॉलेज मैगजीन का सम्पादन भी इनके द्वारा हुआ। 'स्वामी विवेकानन्द' नामक फिल्म के चार गीत इन्होंने रचे।

'उषा' नामक जम्मू की पत्रिका में ग्यारह वर्ष की आयु में रचित इनकी 'अभागा' शीर्षक कहानी छपी थी जिसके आधार पर इनके सुन्दर साहित्यिक भविष्य की वड़ी-वड़ी कल्पनाएं की गयी थीं। कॉलेज जीवन में इन्होंने 'दिवास्वप्न' नामक एक लघु उपन्यास भी लिखा था। 'सुवह-शाम', 'छोटा-स्टेशन', 'उपहार', 'जीने की प्यास' आदि सौ से अधिक कहानियां इन्होंने लिखीं।

तीन वर्षों तक इन्होंने वी. टी. सी. कॉलेज, शिवपुरी [मध्य प्रदेश] में भी शिक्षण-कार्य सम्पन्न किया। सेवा-निवृत्ति के उपरान्त इन्होंने सुवोध कॉलेज, उच्च माध्यमिक विद्यालय, टैगोर पब्लिक स्कूल आदि में भी शिक्षण कार्य किये।

प्रोफेसर प्रमथनाथ विशी 'प्रणवी' के वांग्ला नाटक 'ऋणम् कृत्वा घृतं पिवेत, यावज्जीवेत सुखं जीवेत' का हिन्दी रूपान्तर इन्होंने किया था जिसे जोधपुर के एयर स्टॉफ ने मंचित किया।

कैलाश कबीर १-२७, २७५-२९३

जन्म : बोरुन्दा, जनवरी, १९५७ ; शिक्षा : एम. काम. पर्यन्त ।
माता—श्रीमती सायर कंवर
पिता—श्री विजयदान देथा ।

राजस्थानी, बांग्ला, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं के समर्थ अनुवादक हैं। 'उलझन', 'दुविधा और अन्य कहानियां', 'प्रतिशोध' आदि के अनुवादक के रूप में पर्याप्त ख्याति और प्रतिष्ठा अर्जित कर चुके हैं। स्वतंत्र-लेखन और अनुवाद-कार्य में संलग्न हैं।

सदेव १-२७, १०६-२३६, ३४३-३४४

प्रचलित नाम : सत्यदेव
जन्म : बोरुन्दा, मई, १९६० ; शिक्षा : प्रवेशिका स्तर तक।
माता—श्रीमती सायर कंवर
पिता—श्री विजयदान देथा

बांग्ला, राजस्थानी, गुजराती आदि अनेक भाषाओं के अनुवाद एवं पुस्तक-सम्पादन संबंधी कार्यों के अभ्यासी हैं।

सम्प्रति अनुवाद एवं पुस्तक-सम्पादन के साथ फिल्मों के निर्देशन-विषय पर भी अध्ययन और अभ्यास कर रहे हैं।

महेन्द्र देथा २८-५३, २६८-२७३, २९७-३१२

जन्म : बोरुन्दा, नवम्बर, १९६२ ; शिक्षा बी.ए. स्तर तक।
माता—श्रीमती सायर कंवर
पिता—श्री विजयदान देथा

अंग्रेजी भाषा से अनुवाद के अभ्यास में विशेष रुचि। सामाजिक और नृतात्त्विक अध्ययन-अनुशीलन तथा लोक-तत्त्वों की शोध-प्रवृत्ति बहुत गहरी। शोध तथा स्वतंत्र-लेखन में अभिरुचि। ००

इस नाम-निर्देशिका के सात खण्ड हैं :

विशिष्ट नाम : ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, साहित्यिक, राजनीतिक या सामाजिक हस्तियां।

घरेलू नाम : लेखकों से निजी सम्वन्ध के कारण जिनकी चर्चा आ गयी है और जिनका आत्मकथात्मक अथवा संस्मरणात्मक महत्त्व हो सकता है।

ग्रन्थों आदि के नाम : कहानियों के शीर्षक अथवा विचारधाराएं, प्रवृत्तियां, शास्त्र और भाषाएं।

संस्थाओं के नाम।

पत्र-पत्रिकाओं के नाम।

पात्रों के नाम।

स्थानों के नाम।

सभी नाम वर्णानुक्रम से दिये गये हैं। यथासम्भव 'रूख' में उल्लिखित नाम या नामांश यथावत्, सवसे पहले दे दिये गये हैं, उसके वाद उनका पूरा रूप यदि उपलव्ध हो सका है तो दर्ज कर दिया गया है। कुल या जाति-वाचक नामों को प्रचलित रीति के अनुसार प्रधानता नहीं दी गयी है। जैसे—'राय, अमृत' नहीं, 'अमृत राय' रखना हमें अधिक उचित प्रतीत हुआ है। डॉक्टर, 'सर' आदि उपाधियां अवश्य अन्त ही में दी गयी हैं। जिन व्यक्तित्त्वों की ओर विशेषणों से इंगित किया गया है, उन्हें मूल नाम के वाद दे दिया गया है—जैसे, रवि वावू के लिए 'गुरुदेव', तोलस्तोय के लिए 'वूढ़े वावा', जगदीशचन्द्र वसु के लिए 'अध्यापक महोदय', 'डॉक्टर' या 'प्रोफेसर वोस' आदि। नामों के संक्षिप्त रूप को वर्णानुक्रम में ही रक्खा गया है।

परिशिष्ट: ६

नाम निर्देशिका

विशिष्ट नाम

घरेलू नाम

ग्रन्थ आदि के नाम

संस्थाएं

पत्र-पत्रिकाएं

नाम निकार्देशि

पात्र

स्थान आदि

अपेक्षित टिप्पणियों को अनेक वर्गों में बांटा जा सकता था—जैसे, परम्परागत किन्तु अब लुप्तप्राय जानकारियां, उन्हें विशेषतः यहां अभिलिखित कर देना हमें आवश्यक प्रतीत हुआ। पारिभषिक शब्द। महान लेखकों की विशेष अभिव्यक्तियां। शंकाओं के समाधान, आदि। अन्ततः सभी प्रकार की टिप्पणियां हमने वर्णानुक्रम से एक ही साथ रखना अधिक श्रेयस्कर समझा। यहां हमने सुविधा के विचार से सम्बद्ध अभिव्यक्तियों की पृष्ठ संख्या और पंक्ति संख्या भी लिख दी है। पहला अंक पृष्ठसूचक है, दूसरा—अर्द्धविराम के बाद, पंक्तिसूचक। कहीं-कहीं कुछ विचारणीय विषयों की ओर भी संकेत कर दिया गया है। मुख्यतः ध्यान रखा गया है कि सम्बद्ध अभिव्यक्तियों का मूल-पाठ में जहां प्रयोग हुआ है उनकी अर्थच्छटा के सभी पक्ष स्पष्ट हो जायें।

[अंगारक वायु : पृ. १४७, पंक्ति ११] कार्बन डाइ-ऑक्साइड के लिए आचार्य जगदीशचन्द्र बसु का पारिभाषिक।

[अंटा : ४७८, २] कांच की गोलियों से खेला जाने वाला बच्चों का प्रसिद्ध खेल।

[अंडमान : १५७, २९] अंग्रेजी राज में अण्डमन एवं निकोबार द्वीप समूहों का उपयोग भयावह यंत्रणागृहों या कारागारों के रूप में होता था। यहां या तो मृत्यु-दण्ड के भागी हत्यारे भेजे जाते थे या राजद्रोही देशभक्त। देश से स्थायी निर्वासन के रूप में इसका विशेष आतंक था।

[अंध-अविश्वासी : ३९८, २] अंधविश्वासी के पास तो विचार-शक्ति नहीं होती, या सुप्त अवस्था में होती है जिसे जगाया जा सकता है। किन्तु अन्ध-अविश्वासी उन से कहीं बड़ा मूढ़ होता है। बौद्धिक, चेतन व्यक्ति तो वह है, जो न बिना जांचे-परखे माने, न ठीक से शोध किये बिना इनकार करे। अन्धविश्वासी परम्परागत हैं और अंध-अविश्वासी आधुनिक।

[अग्नि : ४२३, १९ एवं ४४०, २६] वैदिक देवता। मनुष्य का सम्भवतः सबसे पहला महत्त्वपूर्ण आविष्कार। इस पर जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएं और उसकी मौलिक सुरक्षा इतनी निर्भर थी कि उसे अग्नि में दैवी अंश दिखाई दिये। लगभग सभी प्राचीन सभ्यताओं में अग्नि का दैवी रूप स्वीकार किया गया है अर्थात् अग्नि को देवता मानने का सम्वन्ध मनुष्य के 'समष्टि अचेतन' से है।

[अजन्ता की गुफा : ३९५, २३; ४०३, ५; ४०६, ११; ४६४, २०; ४५४, १३] महाराष्ट्र के जिला औरंगावाद का एक गांव, जिसकी अद्भुत वौद्ध गुफाओं में कलाकृतियां सुरक्षित हैं। दिल्ली-वम्वई मुख्य रेलवे लाइन पर वम्वई से ५८ मील—लगभग ९३ कि. मी. पर स्थित जलगांव से अजन्ता जाया जाता है। मनमाड-सिकन्दरावाद रेलवे लाइन से औरंगावाद जाकर भी अजन्ता पहुंचा जाता है। इस मार्ग से दूरी ६६ मील—लगभग १०५ कि. मी. है। गुफाएं गांव से लगभग ३.५ मील—५.५ कि.मी. दूर, जंगल-झाड़ से भरी संकरी, ऊवड़-खावड़ घाटी में स्थित हैं। यह घाटी वागुरा नदी की है, जो ताप्ती की सहायक नदी है। यह नदी पूर्व में सामने से सीधी खड़ी चट्टान पर गिर कर मार्ग में कई प्रपात वनाती हुई आती है। घाटी की खड़ी चट्टान के दक्षिण पहाड़ काट कर तीस गुफाएं वनायी गयी हैं। इन गुफाओं में से कुछ तो चैत्य हैं, जिन में भिक्षु लोगों का मिलना-जुलना होता रहा होगा और अधिकतर विहार हैं, जिन में एकान्त साधनाएं की जाती थीं। विहारों का रूप-आकार सम्पूर्ण देश में एक-सा है। इसके मध्य में वर्गाकार हॉलनुमा कमरा होता है, जिसके सामने वरामदा और शेष तीन ओर छोटे कमरे होते हैं। पिछली दीवार के पास समाधि होती है और उसी का आकार सारे निर्माण पर छाया हुआ होता है। चैत्य आयताकार होते हैं किन्तु इनके दोनों सिरे अर्द्धचन्द्राकार होते हैं और इन की पार्श्व-वीथियों में स्तम्भ होते हैं। अर्द्ध वृत्ताकार आले में स्तूप अथवा समाधि-स्मारक वना हुआ होता है। इन गुफाओं में से जो सवसे पुरानी निर्धारित की गयी हैं उनके निर्माण-काल का अनुमान ईसा पूर्व पहली सदी से तीसरी सदी ईस्वी तक का है। इन गुफाओं का दूसरा महत्त्वपूर्ण समूह छठी-सातवीं सदी ईस्वी में वना होगा। दूसरे समूह में वरार के वाकाटक राजवंश के शिलालेख मिलते हैं। वाकाटक राजवंश गुप्त राजवंश का समकालीन माना जाता है। भित्ति-चित्रों की दृष्टि से ये गुफाएं भारत में अद्वितीय हैं। भित्तिचित्रों में से अधिकतर छठी-सातवीं सदी ईस्वी में ही वने होंगे। इन्हें सर्वांशतः भित्तिचित्र मानने में भी विशेषज्ञों को संकोच है, क्योंकि दीवारों को पहले गोवर से लीप कर खड़िया मिट्टी चढ़ायी गयी है और उसी पर सारे चित्रांकन हैं। उनमें से वहुत से चित्र मिट चले हैं किन्तु अव पुरातत्त्व विभाग उन्हें सुरक्षित रखने के समुचित उपाय कर रहा है। इन भित्तिचित्रों से भारतीय मध्यकालीन जीवन और संस्कृति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यह मशीन-पूर्व मानवीय कला-कौशल के अत्यन्त ज्वलन्त उदाहरणों में से एक है।

[अज्ञात आभ्यन्तरिक जीवन प्रणाली : १५०, १३-१४] जव तक ऐसे यंत्र का आविष्कार नहीं हुआ था जो वृक्ष की प्रतिक्रियाएं अभिलिखित कर सके, तव तक उन वृक्षों के अभ्यन्तर में सदा से चलने वाली जीवन-प्रणाली का मनुष्य को प्रामाणिक ज्ञान नहीं था।

[अदृश्य वैद्युतिक रश्मि : १४०; १] यह लेख पौष, बंगाव्द १३३२ [दिसम्बर, १९२५ ई.] में प्रकाशित हुआ था। आचार्य इससे ३२ वर्ष पूर्व, लगभग १८९३ ई. में ही अदृश्य प्रकाश तरंगों और उनके वैद्युतिक गुणों का आभास पा गये थे। उन्होंने गवेषणा आरम्भ कर दी थी। अब ऐसी बहुत सी अल्फा, गामा, बीटा आदि किरणों की जानकारी हो चुकी है। आचार्य ऐसी किरणों की सहायता से वनस्पतियों के हृदय-स्पन्दन की जानकारियां प्राप्त करना चाहते थे। संसाधनों के घोर अभाव में भी उन्हें भौतिक जगत् के निगूढ़ रहस्य प्रज्ञा से ज्ञात हो जाते थे। खेद है कि उन्हें अपनी ऐसी सूझ को प्रामाणिक रूप देने के साधन उस समय उपलब्ध नहीं हो पाये।

[अननुभूति समय : १६६, १०-११] आघात लगने और उसकी प्रतिक्रिया होने के बीच सेकण्ड के सौवें भाग के बराबर जो अन्तराल [लेटेण्ट पीरियड] होता है।

[अनहद नाद : ३०७, ८] सामान्यतः हर आवाज, वायु में कम्पन से उत्पन्न होती है। यह कम्पन कहीं-न-कहीं, कुछ-न-कुछ टकराने से ही होता है। ऐसी हर ध्वनि जो टकराने से हो उसका पारिभाषिक नाम 'आहत नाद' है। भारतीय मनीषियों की अनुभूति है कि एक ध्वनि ही सृष्टि का मूल है। वह ध्वनि किसी टक्कर से, प्रकम्पनवश नहीं आरम्भ हुई। वह सीधे—अस्तित्व की आवाज है। उसे ही 'अनाहत नाद'—बिना द्वन्द्व या टक्कर की ध्वनि भी कहते हैं। 'एक हाथ की ताली' भी उसी अनाहत नाद का एक नाम है। 'अनाहत' शब्द ही कबीर साहब के यहां सरल होकर 'अनहद' बन गया।

[अनुवाद के आयाम : १ ३८५-३९३] इस विषय पर सम्पूर्ण ग्रन्थ की योजना है। उसका मात्र आरम्भिक अंश इस प्रथम सम्भार में दिया जा रहा है।

[अभिधा : ३५५, ११] वाच्यार्थ प्रकट करने वाली शब्द-शक्ति। दो और शब्द शक्तियां 'लक्षणा' और 'व्यंजना' हैं। प्रस्तुत प्रसंग में अभिप्राय यह है कि जब विषय या प्रतीक अत्यधिक प्रचलन के कारण रूढ़ हो जाते हैं तो अन्योक्ति की व्यंजना भी सरल अभिधा बन जाती है।

[अमेरिकन मक्का : २१५, २५] अपने मुहल्ले के विकास की योजना बनाकर रवि बाबू ने १८९९ ई. में रेशम उद्योग, अमेरिकन मक्के के बीज और मद्रासी ढंग से पतले धान का रोपण अदि गृह-उद्योग विकसित रूप में आरम्भ किये थे। उनका प्रयोग सफल भी था। किन्तु समुचित व्यवस्था न बन पाने के कारण उन्हें यह योजना छोड़नी पड़ी।

[अम्लशूल : २, ७] पाचन-तंत्र की अम्लीयता बढ़ने से असंख्य पीड़ाएं होती हैं। उन दिनों बंगाल में तिल्ली, यकृत और अम्लशूल के रोगों का प्रकोप बहुत था। प्रस्तुत प्रसंग में रोगों के साथ लड़की की चर्चा में यह संकेत है कि समाज में स्त्रियों का कितना अवमूल्यन और अनादर हो रहा था। एक ओर समाज के पाखण्डी कर्णधार 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' [जहां नारियों का पूजन होता है वहीं देवता लोग रमते हैं।] और 'कन्यारत्नम् दुष्कुलादपि' [कन्या तो रत्न है, चाहे उसका कुल निन्दनीय ही क्यों न हो।] जैसी सूक्तियां

और शास्त्र-वचन दुहराते नहीं थकते ; मातृ-शक्ति को पूजते हैं और आचरण ठीक विपरीत —कथा की मूल-वस्तु यही है, इसीलिए यह अभिव्यक्ति अत्यन्त मार्मिक हो गयी है।

[अम्हौरी : ५, २९] गर्मी और पसीने के कारण होने वाला त्वचा का सामान्य कष्ट। इसे गर्मीदाने, अंधौरी, अलाई, गुम्हौरी, धर्मराजिका आदि अनेक नामों से स्थान-स्थान पर जाना जाता है। इसे कोई रोग ही नहीं माना जाता। चूंकि मृणाल के घर वाले वेचारी विन्दु को रखना ही नहीं चाहते थे इसलिए उनकी घृणा ने, प्रक्षेपित होकर, विन्दु की अम्हौरियों को भीषण चेचक का रूप दे दिया। इसी भाव को अन्य उदाहरणों से भी सिद्ध कलाकार ने प्रतिफलित किया है।

[अरक्षणीया : २१४, १६] न रखने योग्य। इस प्रसंग में तात्पर्य उन पुराण-कथाओं से है जिन्हें लिखकर रवि वावू जनता तक पहुंचाना चाहते थे। इन्हें ही उन्होंने पहले 'कन्यादाय' कहा है। परन्तु यह शास्त्रानुसार एक पारिभाषिक है—७ या ५ वर्ष तक किसी वच्ची का विवाह नहीं हो सकता। ८ या ६ वर्षीया को 'गौरी', ९ या ७ वर्षा को 'रोहिणी' तथा—१० या ८ वर्षीया 'कन्या' होती है—इन तीनों के दान को महापुण्य कहा है। इसके वाद 'वृषली' अर्थात् पुष्पवती [रजस्वला] होती है, 'वृषली' दान महापाप है। स्थानीय जलवायु के भेद से पुष्पवती होने के समय में अन्तर है इसीलिए परिभाषाओं में मतभेद है। 'वृषली' 'अरक्षणीया' हो जाती है—न रखने योग्य, क्योंकि स्मृतिकार उन्हें 'स्वयंवर' का अधिकार देते हैं। विचारणीय यह है कि तिलक-दहेज की कुत्सित समस्याओं पर चिन्तित होने वाले भारतीयता-प्रेमी लोग 'स्वयंवर' का अधिकार फिर से देने पर क्यों नहीं विचारते? 'अरक्षणीया' के कारण दारुण सामाजिक समस्याएं तो तव पैदा होने लगीं जव यह अधिकार छीना गया। सती-प्रथा और वालविवाह के विरोध और विधवा-विवाह के प्रश्न पर जव आन्दोलन चले तो लोग कहने लगे कि गौरी-रोहिणी-कन्यादान के नियम तो वौद्ध काल में भिक्षुणियां होने से वचाने के लिए वने थे या विदेशी आक्रमणों से रक्षा के लिए उनका प्रचलन हुआ था। किन्तु स्वयंवर...?

[अवयव : ३५०, १४] अंश। तर्कसंगत युक्ति या अनुमान के ५ घटकों—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन—में से कोई।

अवयवी : पूर्ण। अनुमान-वाक्य या कोई तर्क-संगत सन्धि।

[अशोक : ३३३, कविता में] इस प्रसिद्ध वृक्ष में छाया तो है किन्तु फूल-फल का अभाव है इसलिए आश्रय तो दे सकता है किन्तु किसी हारे-थके यात्री को फलों से तृप्त नहीं कर सकता। यहां 'अशोक' उन तथाकथित 'वड़ों' का प्रतीक है जो मनुष्य की आदिम और मौलिक आवश्यकता 'भूख' दूर करने के प्रयास को अपना दायित्व ही नहीं मानते।

[अष्टधातु : ४३१, ३] परम्परागत शास्त्रों में आठ मुख्य धातुएं ये मानी जाती हैं—सोना, चांदी, तांवा, रांगा, जस्ता, सीसा, लोहा और पारा।

[असाड़ : १६५, ३१] संज्ञाहीन, निष्कम्प, अचेतन, अनुभूतिशून्य, स्पर्शज्ञान-हीन आदि। वृक्षों की प्रतिक्रिया के सन्दर्भ में आचार्य वसु का पारिभाषिक।

[ऑइस्टर : १५६, ७ एवं २८४, २४] शुक्ति, कस्तूरा। घोंघा जाति का एक जीव जिसका मांस वलवीर्यवर्द्धक समझकर पश्चिम के मांसाहारी वहुत पसन्द करते हैं।

[आपकी अधसुनी कथा : २१३, १५] स्वाभाविक जिज्ञासा है कि जगदीशचन्द्र की अधसुनी कथा कौन-सी थी ? विश्वभारती से मई, १९५१ ई. में प्रकाशित एवं श्रीपुलिनविहारी सेन द्वारा सम्पादित-संकलित 'चिठिपत्र' के पत्र २ पर पृष्ठ १५८ में इस विषय पर अनुमान लगाया गया है कि वह कथा 'चोखेरवालि' अर्थात् 'आंख की किरकिरी' हो सकती है क्योंकि एक और पत्र में रवि वावू ने उसकी नायिका विनोदिनी के चरित्र के धीरे-धीरे विकसित होने की चर्चा की है। दूसरी सम्भावना 'चिरकुमार सभा' की है जो उन्हीं दिनों 'भारती' नामक पत्रिका में धारावाहिक रूप से छप रही थी। यह अनुमान अधिक प्रवल है।

[ऑप्टिकल लीवर : १५२, ८] आचार्य वसु द्वारा आविष्कृत वह यंत्र जिसकी सहायता से उन्होंने 'स्ट्रासवर्गर' का सिद्धान्त गलत सिद्ध किया था। खेद है कि इसके विषय में आचार्य द्वारा लेख में दिये गये विवरण के अतिरिक्त कोई जानकारी उपलब्ध नहीं।

[आप्तवचन : ३५९, १८] आप्तवाक्य, देववाक्य, स्क्रिप्चर अथवा अल्लाह का कलाम—स्मृतियों आदि शास्त्रों के वचन भी इसी कोटि के माने जाते हैं जिन पर आंख मूंद कर विश्वास करना ही है—उनका परीक्षण नहीं किया जा सकता। वस्तुत: ऐसा कुछ भी नहीं है जिसकी पूरी जांच न की जानी हो। जांच-परख से जो सत्य है उसकी कोई क्षति नहीं होती, हां असत्य का भेद अवश्य खुल जाता है। ऐसे प्रमाण-वाक्यों की आड़ में मनुष्य से वहुत दिनों तक दासता करायी जा चुकी है। इनका आतंक सर्वथा समाप्त होना चाहिए। जैन दर्शन में केवल स्वयं-प्राप्त अनुभव का मूल्य है। ऐसा प्रत्येक उधार ज्ञान कूड़ा-कचरा माना जाता है।

[आभ्यन्तरिक प्राण : १५१, १०] जव तक आचार्य वसु ने वनस्पतियों को सजीव नहीं सिद्ध कर लिया तव तक यही मान कर उन्हें अपनी खोज चलानी पड़ी कि जीवन के वाह्य लक्षण यदि वनस्पति में नहीं हैं तो न सही ; उनके अभ्यन्तर में, भीतर की गहराई में तो प्राण अवश्य हैं।

['आमन' धान : २१६, २१] वंगाल में धान की तीन फसलें होती हैं। वर्षा के समय तैयार होने वाला 'भदई धान' 'आउस' कहा जाता है, हेमन्त वाला 'अगहनी' धान 'आमन' होता है और ग्रीष्म में तैयार होने वाले धान को 'वोरो' कहते हैं। 'आउस' धान लक्ष्मी का वाहन और अधिक स्वादिष्ट समझा जाता है।

[आरण्यक ऋषि : ३४३, २१] वेदांग सवसे पहले 'ब्राह्मण' और 'आरण्यक' दो भेदों में विभाजित हुआ। ब्राह्मणों के ऋषि अपेक्षाकृत गृहस्थों और राजाओं से अधिक निकट थे अत: लौकिक आचार-व्यवहार पर उनका अधिक काम उपलब्ध है। आरण्यकों के ऋषि लोक से

न्यूनतम सम्पर्क रखते थे और विशुद्ध ज्ञान के साधक थे। वृक्षों के सन्देश सबसे पहले प्रकृति से अधिक निकटता के कारण उन्होंने ही सुने।

[आसन्न अनुवर्त्तन निर्देश : २०४, ८-९] २३ नवम्बर १९३७ ई. को आचार्य वसु चल बसे, उसी शोक-सभा में रवि बाबू ने शोक-विह्वल होकर कहा कि वे अपने पीछे-पीछे आने का उन्हें निर्देश दे गये हैं। आचार्य के प्रेमवश उन्हें लगा कि यदि मरना ही है तो आचार्य के पीछे-पीछे ही क्यों न चला जाये? किन्तु यह अपने अधिकार में तो है नहीं। निर्देश के बावजूद वे उनके आसन्न अनुवर्ती नहीं हो सके। लगभग चार वर्ष बाद ७ अगस्त १९४१ को उनका अवसान हुआ।

[इजिप्ट : २०२, १६] मिस्र, जो आज पिछड़े भू-भागों में से एक है किन्तु रवि बाबू, काल के उस शुभ प्रभात की याद कर रहे हैं जब ईसा पूर्व ४००० के लगभग यहां 'नील घाटी' की सुसमृद्ध प्राचीन सभ्यता विकसित हुई थी।

[इन्द्र : ४२३, १८ और ४४०,२६] वैदिक देवताओं में सबसे प्रधान। ऋग्वेद संहिता २०।१२।१ और अथर्ववेद संहिता २०।३४।२ में कहा गया है : 'जिसने कांपती हुई, अस्थिर पृथ्वी दृढ़ की, प्रकुपित पर्वतों को शान्त सुस्थिर बनाया, विस्तीर्ण अन्तरिक्ष को व्यवस्थापित किया, जिसने द्युलोक को धारण किया, ऐ मनुष्यो! वह इन्द्र है।' दिक्पालों में से एक। पुराणकाल में इनका आदर घट गया और तपस्या का उत्कर्ष देख कर जलने वाले ईर्ष्यालु व्यक्ति के रूप में इन्हें प्रस्तुत किया गया। वस्तुतः यह प्रकृति की सबसे महान् कार्यशक्ति के प्रतीक थे।

[इन्द्रजाल : १५१, २१] हाथ की सफाई, चालाकी या बाज़ीगरी से असम्भव काम कर दिखाना, जादू। वैज्ञानिक परीक्षण के सामने इन्द्रजाल कभी नहीं ठहर पाया। यहां आचार्य वसु का कथ्य यह है कि जो 'इन्द्रजाल' के लिए भी असम्भव है वह भी मनुष्य की मानसिक-वैचारिक शक्ति से साध्य है। दूसरे महायुद्ध के पूर्व मनुष्य की सारी आस्था धर्म आदि सभी पुराने केन्द्रों से हटकर एकमात्र विज्ञान पर केन्द्रित हो गयी थी। विज्ञान की विभीषिका तब तक प्रकट नहीं हुई थी। आचार्य वसु के ऐसे विचार उनकी अपनी खोज के परिणाम नहीं, केवल युग की प्रतिध्वनि हैं। विज्ञान उतना बड़ा देवता सिद्ध नहीं हुआ जितना बड़ा राक्षस बन गया। ऐसी बातों को युग-धर्म की ध्वनि समझना चाहिए। इन्हें उतना महत्त्व नहीं दिया जा सकता जितना आचार्य की अपनी प्रेरणा से उत्पन्न विचारों को दिया जाना चाहिए।

[इलेक्ट्रो-फ़िज़ियोलॉजी : २५८, २०] भौतिक विज्ञान की यह शाखा 'वैद्युतिकी' [इलेक्ट्रॉनिक्स] के रूप में सुविकसित हो चुकी है। जिस कुचक्र की चर्चा आचार्य वसु ने की है उसका युग अब बीत चुका है।

[ईति : सैंतीस] उन उपद्रवों का नाम है जिन में से कई या कोई एक सारी पैदावार नष्ट कर डालती हैं। प्राचीन शास्त्रों में अधिकतर छह ईतियों का उल्लेख है—१. अति-

वृष्टि अर्थात् वाढ़ की स्थिति। २. अनावृष्टि अर्थात् सूखा। ३. चूहे लगना; जो खेतों के अन्दर छिपे-छिपे फसल नष्ट कर देते हैं। अधिक व्यापक रूप में देखा जाये तो आन्तरिक शत्रु। ४. शलभ अर्थात् टिड्डियां या अन्य कीड़े लगना अर्थात् उत्पादन के वाहरी शत्रु। ५. तोते आदि अन्य पक्षी जो आकाश मार्ग से आकर फसल नष्ट करते हैं। ६. राजा की फौज या उसके कर्मचारियों के कारण फसल नष्ट होना। पहले यह दो प्रकार से होता था। फौजें खेतों को रौंदती चली जाती थीं या उनके घोड़े फसल चर जाते थे। दूसरी रीति यह थी कि राज-कर्मचारी वलपूर्वक फसल छीन लेते थे। कुछ आचार्यों ने दो और ईतियों—७. स्वचक्र और ८. परचक्र का भी उल्लेख किया है। 'स्वचक्र' के अन्तर्गत पारिवारिक झंझट, आपसी फूट, झगड़े, रोग-शोक आदि आते हैं और 'परचक्र' वाहरी शत्रु की नाशक कार्यवाही को कहते हैं। ईतियां केवल कृषि के साथ ही रूढ़ नहीं की जानी चाहिएं। प्रत्येक उत्पादन पर थोड़े से रूप-भेद से ईतियों का प्रकोप होता है। यहां तक कि साहित्यिक-सांस्कृतिक सृजन पर भी ईतियों का प्रकोप होता है। आवश्यकता इसकी है कि प्रत्येक क्षेत्र की ईतियों को ठीक-ठीक पहचाना जाये और उनके निरोध का समुचित उपाय हो। अच्छा समय और अच्छी व्यवस्था का सुखी समाज वही होता है जव हर प्रकार की ईति पर सचेत नियंत्रण रखा जाये।

[इलेक्ट्रिशियन : २०८,११] जगदीशचन्द्र वसु ने रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की ओर से, कलकत्ते के टाउन हाल में सन् १८९४ ई. में वंगाल के तत्कालीन गवर्नर, लार्ड मैकेनजी एवं अन्य गण्यमान्य विद्वानों—डॉ. ए. एफ. रुडॉल्फ हॉर्नले, एलेक्जेण्डर पेडलर, प्रफुल्लचन्द्र राय आदि के समक्ष अदृश्य आलोक के चमत्कार पर अपना शोध-पत्र पढ़ा और उसका प्रदर्शन किया था। उस समय तक रोण्टजन के एक्सरे का कोई पता नहीं था। वह पत्र लार्ड रेले के पास भेजा गया और कई अन्य शोध पत्र भी उन्हीं के माध्यम से भेजे गये। इंगलैण्ड के विद्युत् विषयक पत्र 'इलेक्ट्रिशियन' ने ही सर्वप्रथम उन्हें प्रकाशित किया। उसी से इंग्लैण्ड में आचार्य वसु जाने-पहचाने गये और रॉयल सोसाइटी ने उन्हें आमन्त्रित किया। वाद में तो आचार्य वसु के लेख 'इलेक्ट्रिशियन' में अक्सर छपे।

[उत्तरगोगृह : १३९,७] उद्योग पर्व के ठीक पहले महाभारत में विराट् पर्व है जिस में पाण्डवों के अज्ञातवास की कथा है। कौरवों को जव कीचक-वध का समाचार मिला तो उन्होंने राजा विराट् के मत्स्य देश पर आक्रमण किया और उनकी गायें हंका ले गये। प्रस्तुत प्रसंग में इस रूपक का तात्पर्य यह है कि विराट् की गायें चुराना और उद्योग पर्व के अन्य परिश्रम वस्तुतः महाभारत का महायुद्ध जीतने के लिए हुए थे, मुख्य उद्देश्य गायें चुराना नहीं था। ठीक उसी प्रकार कलाकार मात्र वास्तविकता की अनुकृति करने के लिए कला-साधना नहीं करता। उसे सत्य के अपने प्राणों में वसे रूप को व्यक्त करना होता है। सत्य के इस युद्ध में सफल होने के लिए ही वह कला के सारे वाहरी उपादानों का सहारा लेता है।

[उत्तराधिकार-सूत्र : १५१, ४] जीन-संश्लेषण सम्बन्धी डॉ. हरगोविन्द खुराना की

खोजों के बाद आनुवंशिकी [जेनेटिक्स] ने एक सम्पूर्ण शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है। पहले इसका अध्ययन जीव-विज्ञान के अन्तर्गत ही होता था। प्रस्तुत प्रसंग में आचार्य वसु जैविक उत्तराधिकार-सूत्र की चर्चा न करके यह व्यक्त करना चाहते हैं कि एकता के सूत्र ढूंढ़ना दूसरों की अपेक्षा भारतीयों के लिए अधिक सरल होता है क्योंकि भारतीय जाति के पारदर्शी ज्ञान की परम्परा उनके आनुवंशिकता सूत्र में ही मिली होती है। विश्व के सभी राष्ट्र भेद-बुद्धि से अपनी पहचान करते हैं। उन्हें यदि एकता दिखती भी है तो वह उसकी अवहेलना करते हैं क्योंकि उन्हें अपना विशिष्ट और अलग अस्तित्व ही खतरे में पड़ता दिखता है। भारतीयों की तो घुट्टी में ही अस्तित्वमात्र की एकमेवता का सूत्र पड़ा हुआ है।

[उद्‌भिज परिवर्द्धन की धारा : १५०,२३] डॉक्टर नॉर्मन वोर्लो ने बहुत बाद में, बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इस तथ्य का सफल उपयोग किया और सीमित भूमि में ही अधिक-से-अधिक पैदावार प्राप्त करने की प्रविधियां ढूंढ़ निकालीं। आचार्य वसु ने इनकी सम्भावना बहुत पहले देख ली थी। उनके विषय में 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' में ठीक ही उल्लेख है कि वे अपने समय से बहुत अधिक आगे थे।

[उद्योग पर्व : १३९,६] महाभारत नामक महाग्रन्थ का पंचम पर्व, जिस में दोनों पक्षों द्वारा युद्ध की तैयारियों का वर्णन है। प्रस्तुत प्रसंग में इसका तात्पर्य यह है कि कलाकार जब चित्र अथवा मूर्त्ति के बाह्य अथवा आन्तरिक अंगों-उपांगों का ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुसार कला सिद्ध करना चाहते हैं तो वस्तुत: वे उद्योग-पर्व जैसा अत्यन्त महान् उपक्रम करते हैं। यदि केवल अनुकृति उद्देश्य हो तो फ़ोटो कैमरे पर्याप्त हैं, किसी कलात्मक अध्ययन या श्रम की आवश्यकता ही नहीं है।

[उल्लू की इकहरी आवाज़ : ३०६,३३] एक हाथ की ताली अर्थात् अनाहत नाद की खोज में बहुत-सी ध्वनियों की ओर ध्यान जाता है। जैसे ही ध्वनि की चर्चा होती है, मनुष्य उसे अपने से बाहर कहीं से पकड़ना चाहता है। यहीं असल भटकाव है। अनाहत नाद केवल अपने अन्तरतम में डूब कर ही सुना जा सकता है। उल्लू अपने मुंह से अनेक प्रकार की आवाजें निकालते हैं। उल्लू की एक आवाज़ इतनी इकहरी होती है कि उस पर एक हाथ की ताली या अनाहत नाद का सन्देह हो जाना सम्भव है।

[उषा : ४२३,१९ और ४४०,२६] वेद में इसकी चर्चा भी देवी के रूप में हुई है। वस्तुत: उषा कोई स्वतन्त्र प्राकृतिक उपादान नहीं, इसका आभास प्रकाश के प्रत्यावर्तन से होता है। शायद इसी आधार पर धीरे-धीरे उषा देवी का महत्त्व गौण होकर लुप्त हो गया। बाद में वामन अवतार वाले पातालपति बलि के बेटे बाणासुर की पुत्री उषा और श्रीकृष्ण के पुत्र अनिरुद्ध का प्रेमाख्यान मिलता है।

[...उस तृण को भी नहीं। ३९६,२५] स्वाभाविक शंका होती है—कौन-सा तृण? अनेक मतों के प्रभावों से ग्रस्त हमारा मन—यही है वह क्षुद्र तृण, जिसकी ओट में छिप

गया है महान्—विराट् ! कैसी व्यर्थता है हमारी दृष्टि की—कि हमें वह तृण, वह मन तक नहीं दिखता कि उसकी ओट हटाकर हम बाहर निकलें और विराट् के साक्षात्कार का प्रयत्न करें। दिखे कैसे ? हम तो अपनी स्मृतियों के पुंजमात्र, चंचल कचरे को ही अपनी वास्तविक चेतना—अपना सच्चा अस्तित्व मान बैठे हैं। असल तृण यह तादात्म्य ही है। यह तादात्म्य टूटे तब हमें अपने शुद्ध, निराकार, वास्तविक बुद्ध स्वरूप, असल चेतन रूप का पता चले।

[उस प्रथम-प्राण प्रैति...महामुक्ति और कहां है ? ३४४,४ से ६ तक]—इस एक वाक्य में कई बातें एक साथ कह दी गयी हैं, इन्हें अलग-अलग स्पष्ट समझ लेना चाहिए : १—कभी-न-कभी, अनादि काल में, सबसे पहले जीवन का जो उन्मेष हुआ, वह अत्यन्त वेगपूर्वक हुआ था। इस धारणा की तुलना आधुनिक 'बिग बैंग' से हो सकती है। २—उसी के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण सृष्टि में जीवन के अनेक रूप स्फुरित हो रहे हैं। इसका अनादि से अनन्त तक एक सतत् प्रवाह है। ३—आदमी चाहे तो उस वेग को अपने चेतन-अचेतन की गहराइयों में—समष्टि चेतन और समष्टि अचेतन में डूबकर, विशुद्ध रूप से अनुभव कर सकता है ; क्योंकि समस्त अस्तित्व उस समष्टि चेतन एवं समष्टि अचेतन द्वारा सदा से जुड़ा हुआ है। ४—केवल वह अनुभव न होने के कारण ही मनुष्य हीनता, क्षुद्रता, नश्वरता आदि के महान् भयों से पीड़ित होकर अज्ञानवश नित्य नये-नये बन्धनों में फंसता जाता है। ५—अत: विशुद्ध रूप से, स्वयं अपने अन्दर वह अनुभव जगा लेने से मनुष्य अपने आपको उसी सतत प्रवाहित महान् शक्ति के रूप में वस्तुत: जान जाता है। वही महामुक्ति है। स्वयं को वास्तविक रूप में इस तरह पहचाने बिना उसे पाने का कोई उपाय नहीं।

[उष्ण-मण्डल-वासी : २०२,११]—उष्णकटिबन्ध के निवासी। विषुवत रेखा से २२.५ अंश उत्तर और दक्षिण—अर्थात् कर्क और मकर रेखाओं के मध्यवर्ती भूभाग को 'उष्ण-मण्डल' कहते हैं। ऑस्ट्रेलिया का उत्तरी खण्ड, इन्दोनेशिया, ईरियन, न्यूगिनी, फ़िजी आदि द्वीप, मलयेशिया, बर्मा, भारत का दक्षिणवर्ती अधिकांश, अरव, उत्तरी अफ्रीका के थोड़े-से अंश को छोड़ कर सारा अफ्रीका, सारा दक्षिणी अमेरिका और मेक्सिको का कुछ दक्षिणवर्ती अंश मिल कर यह मण्डल बनता है। अट्ठारहवीं शती से वीसवीं शती के मध्य तक उपनिवेशवादी महाशक्तियों का भयावह शोषण तन्त्र इसी क्षेत्र में सक्रिय था। रवि वावू ने इस प्रसंग में उसी की चर्चा की है।

[ऊर्मि को खर्व करना : १४६,४] प्रकाश-तरंग को सूक्ष्म तथा ह्रस्व रूप देना।

[ऋत : ३५३,१६] संसृति में व्याप्त जो नियम कभी, किसी कारणवश नहीं वदलते। भारतीय दृष्टि से स्थिर और निश्चित नियम ही धर्म का आधार हो सकते थे। 'ऋत' मूल है—इसीलिए 'पवित्र प्रथा,' 'दिव्य नियम', 'उचित', 'ईमानदार' और 'सच्चा' भी इसका अर्थ है।

[एलोरा : ४३४,२० और ४५४,१३] यन्त्रपूर्व मानवीय दक्षता का अद्भुत नमूना।

सम्भवत: ७५६ ई. से ७७३ ई. के मध्य राष्ट्रकूट शासक प्रथम कृष्ण के राज्यकाल में इनके अनूठे कैलासनाथ मन्दिर का निर्माण हुआ था। खड़ी चट्टान पर नहीं, पूरी पहाड़ी को ही तराश कर यह आश्चर्यजनक नमूना वनाया गया है। सिकन्दरावाद-वम्वई मुख्य लाइन पर महाराष्ट्र के औरंगावाद जिले में दौलतावाद से ६ मील—लगभग ९ कि.मी. उत्तर-पश्चिम ये गुफाएं एक मील तक फैली हुई हैं। एक ही जगह इन गुफाओं में भारतीय संस्कृति की सभी मुख्य धाराएं दिखती हैं। १५ गुफाएं वौद्ध परम्परा से सम्वद्ध हैं जो छठीं-सातवीं सदी ईस्वी के वीच वनी थीं। १४ गुफाएं सातवीं से वारहवीं सदी के वीच की रामाश्रयी वैष्णव एवं शैव धारा से सम्वद्ध हैं और ५ गुफाएं जैन धारा की प्रतिनिधि हैं। इनके वृहदाकार निर्माण और इनकी सूक्ष्म कलात्मकता विस्मयजनक हैं।

[ऐथरिक वार्त्ता-प्रेषण प्रणाली : २०९,२७] सम्प्रेपण के लिए ईथर का उपयोग वेतार अर्थात् रेडियो द्वारा उन्हीं दिनों नया-नया आरम्भ हुआ था। सम्प्रेषण विज्ञान के वे अत्यन्त आरम्भिक दिन थे। रवि वावू को इसीलिए आशा थी कि 'कृत्रिम चक्षु' के आविष्कार से अद्भुत प्रगति होगी। खेद है कि 'कृत्रिम चक्षु' आदि आचार्य वसु के आविष्कारों के विपय में वस उतना ही ज्ञात है जितना उनके लेखों में मिलता है।

[कराधीन : २०२,१७] 'कर' सूर्य-किरण का नाम है। इसका 'हाथ' वाला अर्थ यहां अभीष्ट नहीं। अर्थ हुआ 'सूर्य की किरणों के अधीन' अर्थात् उष्ण कटिवन्धीय क्षेत्र। यही धरती का सवसे गर्म भाग है। यहीं सौर-ऊर्जा की सर्वाधिक वर्पा होती है और शायद यही भूभाग मनुष्य की सवसे पुरानी कर्मभूमि है।

[कर्ण : २४५,८] महाभारत का प्रसिद्ध पात्र, जिसका जीवन तिरस्कार, अपमान, उपेक्षा और उच्च आदर्श एवं सद्गुणों के मेल से वहुत अर्थों में आधुनिक मनुष्यों के लिए अधिक प्रासंगिक है। आचार्य वसु ने रवि वावू को इस विपय में लिखने का सुझाव दिया था और रवि वावू ने अपने प्रिय मित्र की फरमाइश नौ महीने के अन्दर 'कर्ण-कुन्ती संवाद' नामक नाटक लिखकर पूरी भी की। २६ फरवरी १९०० ई. को इसकी रचना हुई और 'काहिनी' में इसका प्रथम प्रकाशन हुआ।

[कल्याणी : २५६, १३] नारी के लिए इस सम्वोधन का अधिकार परिचित-अपरिचित सव को है। नारी जाति को सर्वथा कल्याण रूप घोपित कर उसकी अधिकतम प्रतिष्ठा हमारे प्राचीन शास्त्रों में की गयी है। निश्चय ही यह अभिव्यक्ति किसी और शव्द में नहीं आ सकती। आज जव नारी की स्वतन्त्रता की चर्चा वहुत होती है तव भी उसका कल्याणी पद उसे वापस नहीं मिला है।

[कायलाना : ९९, ४] जोधपुर के पास एक पिकनिक-स्थल जहां पहाड़ों के वीच एक कृत्रिम झील है।

[काली का पदक्षेप : १४०, २५] वांग्ला में स्याही—लिखने, अंकन करने वाले पदार्थ को 'काली' कहते हैं। उसकी पदचाप—अर्थात् चित्र लेखन या चित्रांकन। इस अभिव्यक्ति

में श्लेप भी है। शाक्त मत से विश्व का सृजन और विसर्जन दोनों ही महाकाली के पद-क्षेप से होता है। चित्र का सृजन महाकाली के पदक्षेप का प्रत्यक्ष उदाहरण है।

[कालिदास का शिरीप-कुसुम : २२६, ५] कविकुलगुरु कालिदास ने शिरीप के फूल को प्रकृत सुकुमारता का चरम माना है। 'शिरीप पुष्पाधिकसौकुमार्यो वाहूतदीयाविति मे वितर्कः। पराजितेनापि कृतौ हरस्य यौकण्ठपाशौ मकरध्वजेन ॥'—मेरे विचार से तो देवी पार्वतीजी की भुजाएं शिरीप के फूल से भी अधिक कोमल थीं इसीलिए कामदेव जव भगवान् शिव से हार गये तो उन्होंने इन भुजाओं का फन्दा उनके गले में डाल दिया।—कुमारसम्भवम्, प्रथम सर्ग, श्लोक ४१। 'मनीपिताः सन्ति गृहेपु देवास्तपः क्व वत्से क्व च तावकं वपुः। पदं सहेत भ्रमरस्यपेलवं शिरीपपुष्पं न पुनः पतत्रिणः ॥—वत्से ! तुम्हारे घर ही में ऐसे-ऐसे देवता हैं कि तुम जो चाहो उनसे मांग लो, कहां तुम और तुम्हारी कोमल काया; कहां यह कठिन तपश्चर्या ! शिरीप का फूल कोमल-से भौंरे का वैठना सह ले तो सह ले ; अगर कोई पक्षी उस पर आ वैठे तो भला वह कोमल नन्हा फूल क्या सहसा झर ही न पड़ेगा ?—कुमारसम्भवम्, पंचम सर्ग, श्लोक ४। इसी प्रकार रघुवंशम् के सोलहवें सर्ग के अड़तालीसवें श्लोक और मेघदूतम्; उत्तर मेघ के दूसरे श्लोक से पता चलता है कि कुलवधुएं शृंगार प्रसाधन के रूप में कानों पर डण्ठल सहित शिरीप के फूल रखती थीं। शिरीप के फूलों को चरम कोमलता का प्रतीक मान कर कालिदास अपनी नायिकाओं को उन से भी कोमल सिद्ध करते थे। रवि वावू ने आश्रम के वृक्षों से चुन कर शिरीप के फूलों का उपहार आचार्य वसु को भेजते हुए इन्हें 'कालिदास का शिरीप-कुसुम' कह कर उनके प्रति अपनी कोमल भावनाएं दर्शायी हैं।

[काशी करवत : १०२, ४] हिन्दी में 'काशी करवट'। काशी के अन्तर्गत एक तीर्थ स्थल था जहां आरे से कट कर वृद्धों का दो टुकड़े होना—उनके सद्गति पा जाने का प्रमाण माना जाता था। प्रस्तुत प्रसंग में अपने ही अन्दर दो टूक हो जाने—घोर अन्तर्द्वन्द्व के प्रतीक रूप में इस दर्दनाक रीति का विल्कुल नया और विलक्षण उपयोग हुआ है। यहां एक अप्रासंगिक, किन्तु वड़ी गम्भीर वात—पश्चिम के अकेले पड़े, समाज द्वारा परित्यक्त वूढ़ों की दशाओं का रोमांचकारी वर्णन पढ़ते समय, हम लोग वड़े सन्तुष्ट दिखते हैं कि हमारे यहां के वूढ़े किसी 'ओल्ड होम' में असंग जीने को नहीं छोड़े जाते। किन्तु काशी, हरिद्वार और वृन्दावन में परलोक सुधारते वूढ़े-वूढ़ियां ; माघ की प्रचण्ड शीत में प्रयाग के संगम की रेती पर 'कल्पवास' करते वृद्ध और 'काशी करवत' जैसी विधियां क्या हमें यह अनुभव करने पर विवश नहीं करतीं कि छद्मवेश में, पाखण्डपूर्वक हम भी अपने वूढ़ों को उतना ही उपेक्षित करते हैं, वल्कि उस से कहीं अधिक हृदयहीनता का वरताव करते हैं ?

[कविता का प्राण, ध्वनि होती है। : ३५६, ११] नवीं शती ईस्वी के आचार्य आनन्द-वर्द्धन इस मत के प्रवर्त्तक थे। दसवीं शती ई. के आचार्य अभिनवगुप्त ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया। किन्तु भट्टनायक और महिमभट्ट इसके प्रवल विरोधी हो गये। वह तो दसवीं शती के ही, वाग्देवता के अवतार मम्मट थे, जिन्होंने अपने 'काव्य प्रकाश' में

भरतमुनि से भोजराज तक के १२०० वर्षों के सम्पूर्ण काव्य-शास्त्र-चिन्तन को एकत्र समेट लिया। इन्होंने ध्वनिसिद्धान्त का ऐसा प्रवल समर्थन किया कि वे 'ध्वनि-प्रस्थापन परमाचार्य' कहे जाते हैं।

['केन्द्रानुगता' और 'केन्द्रातिगता' : ११६, २-३] शक्ति का वृत्त में दुतरफा प्रवाह होता है। परिधि से केन्द्र की ओर और केन्द्र से परिधि की ओर।

[कोआन : ३६३, १] इसका शव्दार्थ 'वोध-कथा' और 'पहेली' दोनों है। 'कोआन' ज़ेन-सद्गुरुओं के एक उपकरण जैसे थे। 'कोआन' शिष्यों को परीक्षा के प्रश्नपत्र की तरह देकर वे उनकी परीक्षा लिया करते थे।

[कोणार्क : ४३४, २२] उड़ीसा के पुरी जिले में स्थित प्रख्यात सूर्य मन्दिर, जो अव भग्नावशेष मात्र है। यह सारे संसार में, कम से कम वाह्य रूप में, सवसे अधिक सुअलंकृत इमारत है। यह सम्भवतः मध्य तेरहवीं शती ई. में निर्मित हुआ। इसका एक मीनार १८० फीट ऊंचा था और उसके सामने १४० फीट ऊंचा द्वार-मण्डप था। इस पर सिंहों, हाथियों और घोड़ों की मूर्त्तियां यन्त्रपूर्व मानव के महानतम कौशल के प्रमाण स्वरूप वनी हुई हैं।

[क्रैस्कोग्राफ : १५०, २४] श्री जगदीशचन्द्र वसु द्वारा आविष्कृत वह यन्त्र जिसकी सहायता से उन्होंने 'उद्भिज परिवर्द्धन की धारा' देखी। यह आधुनिक इलेक्ट्रन-सूक्ष्मदर्शी की तुलना में वहुत कम जटिल और वहुत सस्ता था ; फिर भी इस से वस्तु अपनी असली नाप से दस करोड़ गुनी वड़ी दिखती थी। खेद है कि इसके विषय में भी अधिक जानकारी का अभाव है।

[क्लासिक : १३८, २२] ऐसी अमर कृतियां जो चाहे जव और जहां रची गयी हों— प्रत्येक देश-काल में अपने सत्य, सौन्दर्य, ज्ञान और कौशल के कारण पसन्द की जाती रहती हैं। ऐसी कृतियों का मानव-मन और वुद्धि के विकास में वही महत्त्व माना जाता है जो सूर्य के प्रकाश का वनस्पतियों के लिए है।

[क्षिति, अप, तेज, मरुत्, व्योम : १७५, १] प्राचीन मान्यता के पंचमहाभूत— पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। आचार्य वसु वैज्ञानिक दृष्टि से तारतम्य वैठाते हैं। केवल तीन भौतिक अवस्थाएं होती हैं—ठोस, द्रव और गैस। पृथ्वी, जल और वायु के ये रूप हुए। हर भौतिक अस्तित्व ऊर्जा से संचालित है, वह अग्नि रूप है। सारा अस्तित्व अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश में है। इस प्रकार वैज्ञानिक दृष्टि से भी पंचमहाभूत प्रमाणित हो जाते हैं।

[खत्तादड़ी : ४७८, २] : वच्चों का वह खेल जिस में कपड़े लपेट कर वनायी हुई गेंद को हॉकी की तरह थोड़ी मुड़ी हुई लकड़ी से खेलते हैं।

[खुदवा कर प्रकाशित करने की इच्छा : २२३, १०]उन दिनों लकड़ी या धातु पर चित्र

खोद कर [इंग्रेव करके] छापने की प्रविधि ही उपयोग की जाती थी, आज की तरह कैमरे के सहारे चित्र लेकर ब्लॉक बनाने की प्रविधि विकसित ही नहीं हुई थी।

[गजमुक्ता : १०७, २५] हाथी के मस्तक से प्राप्त होने वाले मोती। हमारी पुराण-कथाओं में, कवि-समयानुसार। प्रस्तुत प्रसंग में यह अभिव्यक्ति अपूर्वता व्यक्त करने के लिए है।

[गाज : ३६४, २१] प्रस्तुत प्रसंग में वज्रपात से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। यहां यह बताया गया है कि दूर के ढोल सुहाने होते नहीं, केवल लगते हैं। उनकी ओर कोई ध्यान न देकर 'पांव तले की चेतना का अनहद मौन सुनना'—सरल-सीधी वर्तमान की वास्तविकता पर ही दृष्टि रखना—ज़ेन शिक्षा का सार है।

[गाड़ी के नीचे चलने वाला कुत्ता : ४८८, ९-१०] एक लोकोक्ति के अनुसार गाड़ी के नीचे चलने वाले कुत्ते को यह भ्रम होता है कि गाड़ी उसी के बूते पर चलती है। मनुष्य में आत्म प्रवंचनार्थ जो अकारण श्रेय लेने की प्रवृत्ति है, उसी की ओर संकेत है। बिज्जी की कहानी 'नाहरगढ़' इस सिलसिले में द्रष्टव्य है।

[गाव : ६, २२] एक वनस्पति, जिसका कसैला रस बड़ा गुणकारी होता है। इसका संस्कृत नाम 'दीर्घपत्रक' है। इसे हिन्दी में 'तेन्दु' या 'तेन्दू' कहते हैं। वानस्पतिकी का शास्त्रीय नाम 'डायोस्पाइरस मेलानॉक्सिलॉन' है।

[ग्रह-चक्र : २३२, २७] शून्य या अन्तरिक्ष में, जिसके विस्तार का कोई माप सम्भव नहीं, अपने-अपने अक्ष पर ग्रह, नक्षत्र, सौर-मण्डल सभी चले जा रहे हैं। जीव भी इसी तरह अपने अक्ष पर भ्रमण कर रहे हैं। सब के अपने-अपने चक्र हैं। इन सब के बाहर शून्य है। उसी शून्य की ओर वापसी—सारे चक्रों से छूट कर पुनः स्रोत पर जाना, रवि बाबू के अनुसार, शान्ति है।

[ग्रीस : २०२, १६] यवन-देश या यूनान, सभ्यता के प्राचीन गह्वरों में से एक। ईसा पूर्व १६०० में ही यहां ज्ञान-विज्ञान का विकास होने लगा था। आधुनिक संसार में इसका कोई उल्लेखनीय महत्त्व नहीं है।

[गोहाट / गोहट्टी : २१, ६ एवं २२, ३३] पशुओं का ऐसा बाजार जिन में लावारिस, बूढ़े, बेकार पशु बिकने जाते थे। मवेशीखाने से पशु जब बहुत दिनों तक नहीं छुड़ाये जाते तो उन्हें गोहाट में नीलाम कर दिया जाता था। गोहाट से प्रायः कसाई ही ऐसे पशु खरीद कर उनका मांस बेच डालते थे। इसीलिए 'भद्रलोग' 'गोहाट' या 'गोहट्टी' को बहुत निन्द्य समझते थे। 'गोहट्टी' अर्थात् 'गोहत्ती' यानी 'गायों की हत्या का स्थान'।

[घास : २७, २९ ; १०९, २७, २९ एवं ३०; ४७०, ६] हिन्दी व्याकरण के अनुसार स्त्रीलिंग है—फिर भी 'रूंख' में सर्वत्र पुल्लिग प्रयोग हुआ है। [पृष्ठ १०९ की तीसवीं पंक्ति में 'जाती' भूल से हो गया, उसे 'जाता' होना चाहिए।] वैसे जान-बूझ कर अशुद्ध

प्रयोग एक अलंकार है, किन्तु हमें यह लिंग-निर्णय गम्भीरतापूर्वक त्रुटिपूर्ण लगता है। किसी शब्द के स्त्रीलिंग होने का सब से तर्कसम्मत आधार 'पराश्रय' है। भला घास किसके सहारे जीता है ? इसके सहारे तो असंख्य जीव-जन्तु, कीट-पतंग जीवन-यापन करते प्रत्यक्ष ही दिखते हैं। मनुष्य अपने पैरों के नीचे घास उगने नहीं देना चाहता—फिर भी घास को सर्वथा निर्मूल कौन कर सका है ? बमों से झुलसी भूमि पर वर्षा की पहली छींटें पाते ही घास के तुच्छ तिनके ही हरियाली और जीवन का झण्डा फहराते सब से पहले उगते हैं। जो 'प्रभंजन' महावृक्षों को तोड़-मरोड़ डालता है—घास उसका प्रहार भी धरती से अपनी निकटता के कारण आसानी से झेल लेता है। नकचढ़ा, पतनोन्मुख, मरणासन्न आभिजात्य; घास के अवमान के लिए इसे स्त्रीलिंग निर्धारित करे और 'व्यर्थ' समझे—परन्तु उसके बगीचों के सुरक्षित सुकुमार पौधे जीवन के असली व्याकरण द्वारा निश्चय ही नष्ट हो जाने वाले हैं। पौरुष का पुंजीभूत प्रतीक, सामान्यजन का प्रतिनिधि 'घास' ही हरियाली का सन्देश लेकर विजय पाने वाला है। 'घास' का प्रबल पौरुष नकली आभिजात्य को खुली चुनौती है।

[चन्द्रातप : १३२, १७] 'आतप' यानी 'धूप'। 'चांद' की धूप यानी 'चांदनी'। कवि-समयानुसार वियोगियों के लिए प्रखर चांदनी धूप से अधिक कष्टकर होती है। प्रस्तुत प्रसंग में रवि बाबू बिना किसी नीति-नियम के प्रकृति से सहज रूप में आनन्दित होने की चर्चा कर रहे हैं, इसीलिए लोक-कथाओं में वर्णित चांदनी से मोतियों की झालर झूलने का उन्होंने इनकार किया है।

[चाक्षुष-प्रत्यक्ष : ३५३, ३३] 'अक्ष' आंख का मूल संस्कृत रूप ; 'प्रति' अर्थात् सामने, 'प्रत्यक्ष' अर्थात् आंखों के सामने। 'चाक्षुष' अर्थात् 'आंखों से सम्बद्ध'। प्रसंग यही है कि जागती आंखों के सामने बहुत कुछ आ ही नहीं सकता। स्वप्न या कल्पना में भी 'प्रत्यक्षा-भास' होता है किन्तु वह चर्म-चक्षुओं के सामने—भौतिक रूप में नहीं होता। बहुत-सा काम 'मानस-प्रत्यक्ष' से चलता है। इसीलिए 'चाक्षुष-प्रत्यक्ष'—वस्तुतः, आमने-सामने देखने का भाव व्यक्त करता है।

[चारणों वाली खुशामद : ३७१, १३] चारण लोग जाति के रूप में उद्बोधन के लिए प्रतिष्ठित हुए थे। किन्तु राज्याश्रय में कुछ लोगों के गर्हित चरित्र और उनकी सुख-समृद्धि से ईर्ष्या रखने वालों की निन्दा ने 'चारण' शब्द में 'खुशामदी' का भाव भी स्थापित कर दिया।

[चौदह मई १९८४ ई. की रात : ३९९, २९] वह ऐतिहासिक दिन जब विज्जी को 'स्त्रीर पत्र' के दिव्य पारायण से रवि बाबू का अभिज्ञान हुआ।

[चौंसठ भूत : ११३, ५] गरुड़ पुराण के 'वास्तुयागविधि' अध्याय के १९वें श्लोक में 'चतुष्षष्टिपदावास्तुः प्रसादादौ प्रपूजितः' कह कर गृह, प्रासाद, ग्राम आदि से सम्बद्ध जो चर्चा है सम्भवतः रवि बाबू का संकेत उसी की ओर है। इसका विशेष विवेचन तत्काल

आवश्यक नहीं है। इसकी व्याख्या के लिए कृपया 'पंचभूत' देख लें तो बात पूरी तरह स्पष्ट हो जायेगी। रवि बाबू ने इसका निषेध कर दिया है अतः चौंसठ भूत कौन-कौन से हैं इसका विवेचन आवश्यक नहीं रह गया है।

[छबिर अंग : १३४, शीर्षक] छवि—चित्र, मूर्त्ति आदि प्रत्येक दृश्य कलाकृति का कह सकते हैं। उसके छह अंगों या उपादानों का वर्णन लेख में आया है।

[छिन्नशाखा-वृक्ष : १६३, ६] ऐसा वृक्ष जिसकी शाखाएं कट चुकी हों।

[छुई-मुई : १७२, २० एवं १८३, १९] इसका नाम लज्जावती, लजवन्ती, लजालू आदि है। इसका वानस्पतिक नाम 'मिमोज़ा प्यूडिका' है।

[जगझम्प : १६, ४] इसके विषय में खोज-पूछ से पता चला कि यह 'ढाक'-विशेष है। इसका अंग्रेजी नाम 'केट्ल ड्रम' ज्ञात हुआ जो 'ताशा' और 'नक्कारा' दोनों को कह सकते हैं। 'ताशा' या 'तासा' चौड़े मुंह के, चमड़े से मढ़े हुए उस बाजे को कहते है जिसे लकड़ियों की सधी हुई चोट से बजाते हैं। 'नक्कारा' या 'नगाड़ा' डुगडुगी की शक्ल का एक बड़ा बाजा होता है। इसका प्रयोग नौटंकियों में खूब होता था। इसकी आवाज दूर-दूर सुनायी पड़ती है। प्रस्तुत सन्दर्भ में यह दोनों ही सर्वथा अप्रासंगिक हैं क्योंकि इसी वाक्य में 'ढाक, ढोल, तासे', और 'तुरही, नगाड़े, कांसे' की चर्चा आ चुकी। 'झम्प' शब्द का अर्थ है 'उछल पड़ना, अचानक छलांग लगाना' अतः यहां 'जगझम्प' किसी बाजे का नहीं, एक या अनेक बाजों के उस प्रभाव का नाम है जिसे आस-पास का जड़-जगत भी उछलता—छलांगें लगाने को उद्यत होता दिखायी देता है।

[जड़-जगत : ११६, ३३] आधुनिक पारिभाषिक शब्दावली में इसे 'भौतिक जगत्' कहते हैं। पहले 'जड़' कह कर प्राण-चेतनाहीनता की ओर संकेत किया जाता था। अब 'जैविक' और 'भौतिक' लक्षण अलग-अलग पहचाने जा चुके हैं। कार्बनिक और अकार्बनिक तत्त्वों का अध्ययन बहुत बड़े पैमाने पर किया जा चुका है। इसी प्रकार पृष्ठ १५१, पंक्ति ३२ में 'जड़ शक्ति' से तात्पर्य भौतिक शक्ति है और इसी पृष्ठ की अन्तिम पंक्ति के 'जड़-विज्ञान' का अर्थ 'भौतिकी' है।

[जीव-चक्र : २३२, २७] कृपया 'ग्रह-चक्र' देखें।

[जीव-तत्त्वविद्गण : २००, ४] आधुनिक पारिभापिक शब्दावली में इन्हें 'जीव-विज्ञानी' कहते हैं।

[ज्ञान-चक्षु : २४, १४] यह शरत् बाबू की अद्भुत अभिव्यक्ति है। न स्वयं तर्करत्न महाशय की वास्तविक आंखें खुलीं कि उन्हें प्रत्यक्ष सत्य दिखायी दे और उन में मानवीय समवेदना जगे—न उनके श्रोताओं की! खुले भी तो व्यर्थ के 'ज्ञान-चक्षु'। किसी को 'गफूर' और 'महेश' की वास्तविक दशा देख कर अपना कर्त्तव्य नहीं सूझा। समाज स्वार्थों में लिप्त होकर ऐसा निष्करुण, ऐसा काठ-कठोर हो गया कि उसके पास देखने वाली आंखें शायद रह ही नहीं गयीं, केवल पाखण्ड के 'ज्ञान-चक्षु' बचे!

[ज्ञान-स्पृहा : २०१, ४] जानने की इच्छा।

[तड़िताघात : १८६, ३६] विजली का झटका या इलेक्ट्रिकल शॉक, जिसकी वृक्ष पर प्रतिक्रिया अंकित करके आचार्य वसु ने वनस्पति जगत् को सजीव सिद्ध किया था। आचार्य वसु अपने प्रयोग में विजली का नियंत्रित और कम-से-कम झटका ही वृक्ष को देते थे। कहीं ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि गलती से अधिक वोल्ट का झटका दे दिया हो। उनकी मशीन में वोल्टेज नियंत्रित रखने की समुचित व्यवस्था थी।

[तन्नष्टम् यन्न दीयते : १३६, २६] जो देता नहीं—कृपणतापूर्वक रोक रखना चाहता है—वह नष्ट हुआ!

[तरु-लिपि : १६५, १२] आचार्य वसु ने वृक्षों की प्रतिक्रिया उनके कम्पन, संकोच एवं प्रसार द्वारा ही अंकित कर लेने की व्यवस्था की थी। आजकल हृदय रोग-विशेषज्ञ जिस प्रकार हृदय की छन्दोवद्ध गति को 'इलेक्ट्रो कार्डियोग्राफ' द्वारा अभिलिखित कर लेते हैं, आचार्य वसु का प्रवन्ध कुछ उसी प्रकार का था।

[तर्जे-अदा : ४१५,३२] व्यक्त करने का ढंग, शैली और रीति।

[तर्ज़ो-अदा : ४१५,२७] शैली और भंगिमा—दोनों।

[ताजमहल : ४३४,२२] सन् १६१२ ई. में शाहज़ादा खुर्रम का विवाह अर्जुमन्द वानू वेगम से हुआ। १६२७ में मुगलवंश के पांचवें शहंशाह के रूप में खुर्रम 'शाहजहां' वन गया। अर्जुमन्द को 'मुम्ताज़े-महल' अर्थात् 'अन्तःपुर में प्रमुख' के रूप में जाना जाता है। १६३१ में प्रसव की चसमस चीस महारानी के लिए प्राणान्तक हो गयी। विवाह के उपरान्त पहली वार महावियोग का क्षण आया। शोक से तनिक उवरते ही शाहजहां ने १६३२ ई. में संगमरमर की विशाल कविता में अपनी प्रेयसी पत्नी को अमर करने का संकल्प लिया। देश-विदेश के प्रवीण वास्तुविद् वुलाये गये। सैंकड़ों नक्शों में से ईरान या तुर्की से आये उस्ताद ईसा का नक्शा शाहजहां की धारणा के अनुकूल सिद्ध हुआ। देश-विदेश से निर्माण-सामग्री मंगवायी और कुशल कारीगर वुलाये गये। सम्राट् स्वयं देखरेख करते थे और वीस हजार कुशल कारीगर दत्तचित होकर निर्माण करते थे। तत्कालीन ऐतिहासिक दस्तावेजों में उल्लेख है कि अन्य कारीगरों के पहले शाहजहां निर्माणस्थल पर पहुंचते थे और सारे कारीगरों के निवृत्त हो जाने के वाद वहां से हटते थे। इस प्रकार ११ वर्ष में अर्थात् १६४३ ई. में ताज का मकवरे वाला मुख्य खण्ड तैयार हो गया किन्तु सम्पूर्ण ताजमहल २२ वर्ष के अथक श्रम और चार करोड़ शाहजहानी रुपयों की लागत से तैयार हुआ। आज के मूल्य के अनुसार कम-से-कम चालीस अरव रुपये। इतने श्रम और साधनों से संगमरमर की वनी यह अद्भुत कविता तैयार हुई जो यन्त्रपूर्व मानव के असाधारण कौशल का ज्वलंत प्रमाण है।

[तीतर पंखी वादली : ३८५,२०] आकाश पर तीतर के पंखों का आभास देने वाले

बादल प्रकृति की अनोखी कलाकारी के अद्भुत नमूने होते हैं। इस प्रकार के बादलों के बिन बरसे कभी न जाने की धारणा लोक में रूढ़ है।

[तेलाधार पात्र कि पात्राधार तेल : १६०,२८] अब यह व्यर्थ बुद्धि-कौशल दिखाने के लिए किये जाने वाले निराधार विवाद की द्योतक लोकोक्ति बन गयी है। न्याय शास्त्र में इसकी गूढ़ विवेचना मिलती है किन्तु लोकोक्ति में इसका अभिप्राय बहुत गहरा नहीं है। विवादियों के उपहास के लिए ही इसका प्रयोग अधिक मिलता है।

[दृष्टि के बहिर्भूत जीवन : १५१,१८] इस अभिव्यक्ति का भाव यह है कि जीवन का स्वरूप केवल उतना ही-सा नहीं है जितने को हम देख पाते हैं। जीवन के अनन्त रूप हमारी दृष्टि-क्षमता के बाहर भी हैं। उन दिनों इलेक्ट्रन सूक्ष्मदर्शी का प्रयोग आरम्भ नहीं हुआ था और प्रचलित सूक्ष्मदर्शियों की क्षमता बहुत कम थी। अब तो बैक्टेरिया, वायरस आदि जीवन के असंख्य रूप—सूक्ष्म से सूक्ष्म—देखे, पहचाने और अध्ययन के विषय बनाये जा रहे हैं।

[दुर्गा : २,९] महाशक्ति, महामाया, काली आदि असंख्य नामों से बंगाल, आसाम आदि की विशेषतः और सभी शाक्तों की सामान्यतः आराध्य देवी। परमात्मा की प्रतीक। मौलाना अबुलकलाम 'आज़ाद' ने लिखा है कि 'पिता के रूप में परमात्मा की यहूदी-ईसाई कल्पना की तुलना में मातृ-शक्ति के रूप में भारतीय कल्पना अधिक तथ्य-सम्मत, सुसंस्कृत एवं हृदयग्राही है।'

[...'देओ, देओ, देओ !...सब का सब दे डाला।' : २४६,५ से ८] समुद्र यात्रा के पहले अनुभव में जब जहाज समुद्र की उत्ताल तरंगों पर डोलता और उछलता है तो अधिकतर लोगों को वमन का भयंकर कष्ट होने लगता है। इस पत्र में आचार्य बसु ने इस समुद्र-पीड़ा का बड़ा ही सुन्दर और सजीव वर्णन किया है।

[देहविद्गण : २०८,३६] मानव शारीरिकी के वेत्ता।

[देह-पदार्थ : २०८,३६] शरीर-संरचना के कार्बनिक-रासायनिक घटक।

[देह-विद्या : २०९,२५] मानव-शारीरिकी।

[धन्योऽहम् कृतकृत्योऽहम : २२२,४] 'मैं धन्य हूं, मैं कृतकृत्य हूं, मेरा मनोरथ सफल हुआ' आचार्य बसु की सफलता का समाचार पाकर रवि बाबू ने ऐसा हर्ष व्यक्त किया है मानो स्वयं उन्हें अष्ट सिद्धि, नौ निधि के सुख मिल गये हों। यह पत्र रवि बाबू के प्रेम की अद्भुत अभिव्यक्तियों से अतीव रसमय बन गया है।

[धातव-पदार्थ : १९७,१५] भौतिक-रासायनिक विज्ञान का वह विभाग जिस में धातु-कर्म एवं सम्बद्ध प्रविधियों का अध्ययन किया जाता है। 'मेटलर्जी'।

[धुन्ना : ४७८,२] वह खेल जिसमें धरती पर लकीर खींचकर लकड़ियां रख देते हैं। थोड़ी दूर से लकड़ी को मारकर लकीर के पार निकाल लेने वाले विजेता होते हैं।

[धूल-पंचमी : ४७१,८] राजस्थान में होली की धूम फाल्गुन पूर्णिमा से चैत्र कृष्ण सप्तमी तक मची रहती है। विशेषतः वैश्य वर्ग द्वारा पंचमी वहुत उल्लासपूर्वक मनायी जाती है।

[ध्यान : ३६१,११] संस्कृत की साहित्यिक परम्परा में इस शव्द का अर्थ होता है—मनन, विमर्श, चिन्तन, विचार; सूक्ष्मचिन्तन, धार्मिक चिन्तन, दिव्य अन्तर्ज्ञान या अन्तर्विवेक। सवसे प्रसिद्ध अर्थ है: 'किसी देवता की व्यक्तिगत उपाधियों का मानसिक चिन्तन!' किन्तु ज़ेन के सन्दर्भ में ये सभी अर्थ सर्वथा अप्रासंगिक हैं। ये सभी क्रियाएं तो मन की ही हैं। 'मन' संचित स्मृतियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। अहंकार, चित्त और वुद्धि की तुलना में मन सव से निचली सीढ़ी है। मन के ऊपर का तल वुद्धि का, वुद्धि से भी ऊपर चित्त का तल है, जहां चेतना का आलोक कुछ-कुछ झलकने लगता है। अहंकार इन में सवसे ऊपर का तल है। उसके पार ही ध्यान की गति है। यह ढाई हजार वर्षों के वौद्ध-चिन्तन से विकसित एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक है। शुद्ध चेतना का नाम 'आत्मा' [आत्ता] है। चेतना पर स्मृतियों, संस्कारों आदि की धूल जमा होती रहती है। तर्क, विचार, ऊहापोह—यह सव चेतना की कज्जल-निर्मल झील को अशान्त; उसके दर्पण को धुंधला और उसके आकाश को मेघाच्छन्न किये रहते हैं। जव मन के इस खेल को समझकर मनुष्य की चेतना शुद्ध स्तर पर पहुंचती है तो मन के सारे उद्वेग मिट जाते हैं, स्मृतियों, संस्कारों, रागों से मुक्ति मिलती है। तव खिलता है ध्यान का फूल। उस ध्यान में चेतना की शुद्ध झील में डुवकी लगती है। तभी 'आत्म वोध' घटित होता है। मन—यह विचार ही तो सवसे वड़ा पाश है। इसे विदा करने पर ही 'अ-मनी' दशा घटती है। निर्द्वन्द्व, अद्वैत में मनुष्य निर्ग्रन्थ हो जाता है। उसी समय अनाहत नाद गूंजने लगता है। ज़ेन उसी अवस्था की ओर वुलावा है। उस ध्यान में वाह्य, नकली, उधार, सुना-सुनाया कुछ भी, किसी काम का नहीं होता। वाहर के प्रकाश तो केवल छाया उत्पन्न करते हैं। चेतना का आलोक दशों दिशाओं में होता है। योग शास्त्र भी इसी ध्यान की वात करता है। पृष्ठ ३६६ की २४ वीं पंक्ति से पृष्ठ ३६७ की प्रारंभिक चार पंक्तियों तक रवि वावू ने इसी ध्यान की चर्चा की है।

[ध्यान योग : ३१०,२] उपर्युक्त ध्यान को प्राप्त करने की विधियां-प्रविधियां—ये असंख्य और अनन्त हैं।

[नक्षत्र-चक्र : २३२,२७] देखिये ग्रह चक्र।

[नवनवोन्मेपशालिनी वुद्धि : १३८,३२] वह वुद्धि जो नये-नये रूपों का उन्मेष किया करती है।

[नवनवोन्मेपशालिनी सृष्टि : ३४४,५] वह सृष्टि जो नित्य नूतन रूपों में अपने को प्रकट किया करती है।

[नागपाशी : १२,३६]असुरों द्वारा प्रयुक्त एक विशेप अस्त्र नागपाश—जिसका प्रयोग

हो जाने पर सबसे भयावह बन्धन में प्रतिद्वन्द्वी जकड़ जाया करता था । पुराण-कथाओं में
नागपाश काटने के लिए सदा गरुड़ बुलाये जाते थे। प्रस्तुत प्रसंग में रवि बाबू ने दुःख-
दैन्य में फंसे मनुष्य को नागपाशी बन्धन में जकड़ा हुआ दिखा कर यह शंका प्रकट की है
कि क्या अन्तिम जीत इन्हीं बन्धनों की होने वाली है ? इस प्रश्न से ही उन्होंने बड़ी
कुशलता से इस आशा का संचार कर दिया है कि अन्तिम जीत इसकी नहीं हो सकती !

[नाड़ी : ४०६,१८] नाल, वह प्राकृत नली जिसके द्वारा नाभिस्थल से गर्भ में बच्चे
का पोषण होता है । बच्चा उसी के द्वारा मां से जुड़ा हुआ होता है । जन्म लेने के उपरान्त
प्रत्येक बच्चे की नाल काट दी जाती है ।

[निगोड़ी बुद्धि का पंगु विवेक : ३६१,२५] सामान्यतः प्रचलित कोशों में 'निगोड़ी'
शब्द का अर्थ 'अभागी, निराश्रित, दुष्ट' आदि मिलता है । पूर्वांचल में प्रचलित इस शब्द
में एक भाव है 'बिना पैर की' । 'गोड़' ठीक 'पैर' के लिए पूर्वांचल में बहुत अधिक बोला
जाता है । 'बुद्धि' में चेतना का अंश मन से निश्चय ही अधिक होता है लेकिन उसकी गति
लाभ-हानि, उचित-अनुचित आदि की फलाकांक्षा रूपी बैसाखियों के बिना नहीं होती । यह
अर्थ दृष्टिगत रहे तो इस उक्ति का असली, चामत्कारिक अर्थ प्रकट होता है । यश या पुण्य
कमाने के लिए नहीं, प्रेम और करुणावश ही बुद्ध-चेतना का प्रकाश फैलाते हुए बोधिधर्म ने
दुष्पार हिमालय की महान् बाधा को तृणवत् मूल्य भी नहीं दिया और चीन तक जा
पहुंचे ! यह करुणा--शब्द की नहीं, निश्शब्द की, विचार की नहीं, निर्विचार की है । बुद्धि
और विवेक के सहारे कोई इतना बड़ा दुस्साहस नहीं कर सकता ।

[निचुल : ३२२, अनुवाद पंक्ति ३, मूल श्लोक पंक्ति ४] निचुल, निचोल, हिज्जल,
इज्जल और अम्बुज ये सब नाम भानुजि दीक्षित के अनुसार 'स्थल वेंत' के हैं। किन्तु
क्षीरस्वामी और महेश्वर के अनुसार ये नाम 'जलबेंत' के हैं, वैसे कुछ लोग इन्हें 'समुद्रफल'
भी कहते हैं। प्रासंगिक अर्थ केवल 'जल वेंत' है ! नदी के किनारे-किनारे जल वेंत ही ऐसा
एकान्त कुंज बनाते हैं जहां 'खुल खेलने' के सुअवसर उत्पन्न होते हैं।

[निदर्शक : १५२,३] प्रमाण, साक्ष्य, उदाहरण । प्रस्तुत प्रसंग यह है कि वृक्ष को सजीव
नहीं माना जाता था । फिर उसके पत्तों तक रस कैसे पहुंचता है ?—यह स्वाभाविक प्रश्न
था । रस-संचालन वस्तुतः कैसे होता है यदि इसे ध्यानपूर्वक जानने का प्रयास किया जाता
तो वृक्ष में जीवन का प्रमाण मिल कर रहता । किन्तु उस समय के यूरोपीय वैज्ञानिक वृक्ष
को पूर्वाग्रहवश जड़ ही मानने पर अड़े थे । फिर वे तरह-तरह के कुतर्क वृक्ष की जड़ता के
लिए देते थे, किन्तु, कोई सचमुच का प्रमाण निकालने का प्रयास तक नहीं करते थे ।

['निवेदिता के कल्याण से एक जापानी के साथ मेरी मित्रता हुई है' : २३८,१३-१४]
अर्थात् निवेदिता के द्वारा मेरा यह कल्याण हुआ कि उसने एक जापानी से मैत्री करा दी ।

[निसर्ग-सौन्दर्य : ४१६,१] प्राकृतिक, स्वाभाविक सौन्दर्य । जिस में किसी भी प्रकार
के साज-शृंगार का उपयोग न हो ।

[पंच भूत : ११३,५] भूमि, जल, वायु, अग्नि और आकाश—इन्हीं पांच तत्त्वों से सारा अस्तित्व बन गया है। इसका विशद विवरण उपलब्ध है कि किन मूल तत्त्वों से क्या-क्या बनकर तैयार हुआ है। किन्तु यह सारा जगत् त्रिगुणमयी [सत्त्व, रज और तम तीन गुण हैं] प्रकृति और उसके सोलह विकारों का प्रसार है। जब तक जीव इन में भटकता है तब तक उसका दुःख कभी समाप्त नहीं हो सकता। रवि बाबू तो निषेध कर रहे हैं—'उस जगत् में मेरा स्थान है जिसकी सृष्टि मैंने अपने-आपको लुटाकर की है' अर्थात् अहंकार का विसर्जन करने के बाद। तब 'मैं' और 'मेरा' का भाव शेष नहीं रह सकता। हर प्रकार के बन्धन टूट और छूट जाते हैं इसीलिए वे आगे कहते हैं—'यह पंच भूत अथवा चौंसठ भूतों का अड्डा नहीं, मेरे हृदय का नीड़ है।' अर्थात् संसार के सामान्य नियम अब इस हार्दिक-निर्माण पर लागू नहीं होते।

[परिमाण-वस्तु : १३६,३१] रूप के साथ परिमाण का ध्यान रखे बिना सन्तुलन रखा ही नहीं जा सकता। कलाकार को केवल वस्तु की आकृति का ही नहीं, उसके तुलनात्मक परिमाण का भी ध्यान रखना पड़ता है। हाथी और चींटी के चित्र यदि बनाने हों तो हाथी के रूप, चींटी के रूप का ही ध्यान रखना आवश्यक न होगा दोनों के अनुपात की 'परिमाण-वस्तु' ठीक समझनी होगी अन्यथा कला त्रुटिपूर्ण होगी।

[पर्जन्य : ४२३,१८ एवं ४४०,२७] एक वैदिक देवता जिन्हें बरसने वाले गरजते मेघों के रूप में पहले मान्यता दी गयी थी। धीरे-धीरे मनुष्य का ज्ञान जितना बढ़ता गया उतना उसे पता चलता गया कि वायु, सूर्य और आकाश से स्वतन्त्र बादलों का कोई अस्तित्व नहीं होता। आरम्भ में पृथ्वी को स्त्री और पर्जन्य को पुरुष मान कर धरती के समस्त उत्पादनों की व्याख्या करने का प्रयत्न हुआ था। ऋग्वेद में इसके केवल तीन मंत्र हैं। अतः बाद में पर्जन्य को इन्द्र के नामों में से एक मान लिया गया और उसके स्वतन्त्र रूप की चर्चा छूट गयी। थोड़ी-सी चर्चा जब तक है तब तक वर्षा और बीजों का फलना-फूलना उन से ही संबद्ध मानते थे। इसलिए निरुक्तकार ने स्पष्ट कह दिया है कि अग्नि पृथ्वी में, इन्द्र अन्तरिक्ष में और सूर्य स्वर्ग में—बस यही तीन प्रधान देवता हैं। शेष सब इन्हीं में से किसी-न-किसी के नाम-रूप हैं या इन्हीं प्रधान देवताओं से सम्बद्ध और इन्हीं के अधीन अन्य देवताओं को समझना चाहिए। वैदिक देवताओं की इस चर्चा में मैक्समूलर की इस समझ का भी उल्लेख समीचीन है कि प्रारम्भ में प्रकृति की अलग-अलग शक्तियों को स्वतन्त्र रूप से पहचान कर बाद में इन सब का अन्योन्याश्रय और इन सबकी एकसूत्रता भी वैदिक ऋषियों के अनुभव में आ गयी। इस प्रकार वैदिक ऋषियों की धारणा पोलीथीस्टिक 'बहुदेववादी' नहीं है, उसे 'पोलिथीस्टिक मोनोथीज़म' अर्थात् 'बहुधा अभिव्यक्त एकमेवशक्ति'-वाद कहना चाहिए। इस प्रकार वैदिक कल्पना में ही परवर्ती वेदान्त के अद्वैतवाद का बीज सिद्ध होता है।

[पवन, उनचास : २१५, २१] उनचास प्रकार के पवनों की चर्चा विभिन्न शास्त्रों में आयी है। उनका विवेचन यहां प्रासंगिक नहीं है। [देखिये मरुत्] पवन को महान् शक्ति-

शाली माना जाता है, विस्तार, प्रसार और गति वायु के लक्षण हैं। रवि बाबू ने प्रस्तुत प्रसंग में अपने यहां के बच्चों के शिक्षक लारेन्स साहब के बहाने समस्त अंग्रेज जाति के अदम्य उत्साह, द्रुत वेग, कठिन परिश्रम, कौशल और दौड़-धूप के साथ जिम्मेदारी के प्रति गहरी निष्ठा की प्रशंसा करते हुए यह कहा है कि मानो विधाता ने सभी मरुतों को इन में उत्साह भर देने के लिए नियुक्त कर दिया हो।

[पिटालि : १८, १३] मुरकुण्डा नामक वृक्ष जिनका तकनीकी वानस्पतिक नाम 'ट्रेविया न्यूडीफ्लोरा' है।

[पुरी डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का भूखण्ड : २१७, ३२ से ३५ एवं २५२, १४] रवि बाबू और आचार्य वसु दोनों के पत्रों में अलग-अलग इसकी चर्चा आती है। किसी समय दोनों मित्रों में चर्चा हुई थी कि पवित्र पुरी में ही निवास किया जाये। रवि बाबू की वहां जमीन थी। ध्यान रहे कि जगन्नाथपुरी के मन्दिर और तीर्थ क्षेत्र को छोड़कर शेष नगर और रेलवे स्टेशन आदि को संक्षेप में 'पुरी' ही कहा जाता है। जब पुरी में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की स्थापना हुई तो कलक्टर को वही जगह पसन्द आयी। जगह लेकर खाली छोड़ी हुई थी, वहां किसी प्रकार का निर्माण नहीं हुआ था। रवि बाबू ने पुरी में स्थायी रूप से निवास का विचार त्याग दिया। आचार्य वसु का विचार वहां अकेले रहने का नहीं था। वह तो रवि बाबू के सत्संग-लाभ के लिए वहां बसने का विचार कर रहे थे। फलतः दोनों सज्जनों में से कोई वहां नहीं गये और वह भूमि पुरी जिला परिषद् के उपयोग में आ गयी।

[प्रकाण्ड रहस्य : ११६, ३६] मनुष्य की प्राणशक्ति अथवा आत्मा क्या है, इसी प्रश्न पर विचार करते हुए रवि बाबू ने इसे प्रकाण्ड रहस्य—'ऐसा गहरा रहस्य जिसका कोई अता-पता नहीं मिलता' कहा है। बहुत से दार्शनिक और वैज्ञानिक सदियों की खोज के बाद भी आज तक इस रहस्य का उद्घाटन नहीं कर पाये। प्राण इतना रहस्यमय है, फिर भी हम सारे जीव इसे कितनी आसानी से धारण करते हैं, यही महान् आश्चर्य है।

[प्रजापति देवता की शरण ली : ७, २०] मनुस्मृति ३/२१, याज्ञवल्क्य स्मृति १/५८-६१ के अनुसार आठ प्रकार के विवाह होते हैं—१. ब्राह्म, २. दैव ३. आर्ष, ४. प्रजापत्य, ५. आसुर, ६. गन्धर्व, ७. राक्षस और ८. पैशाच। प्रथम चार विवाह उचित और शेष चार अनुचित माने जाते हैं यद्यपि विवाह के रूप में उनकी भी मान्यता है। ब्राह्म विवाह वही है जो सामान्यतः हिन्दुओं की द्विजातियों में प्रचलित है। दैव विवाह में यज्ञ कराने वाले ऋत्विक् को आभूषण आदि से विभूषित कन्या दी जाती है। आर्ष विवाह में आभूषण आदि तो नहीं, केवल दो गायें दी जाती हैं। इन तीनों प्रकार के विवाहों में कुछ-न-कुछ व्यय तो होता ही है। चौथे, प्रजापत्य विवाह में कुछ भी नहीं दिया जाता, केवल वर-वधु को यह उपदेश दिया जाता है कि 'धर्म का आचरण करो।'—यही पद्धति बिन्दु के विवाह में अपनायी गयी, इसीलिए इस वाक्य के पूर्वखण्ड में मृणाल ने 'अन्त में अपनी शक्ति से बिन्दु को विदा करने में असमर्थ' लोगों पर व्यंग्य किया है। शेष जो चार निन्दित विवाह हैं उनकी थोड़ी व्याख्या : आसुर विवाह में तो कन्या के बदले धन लिया जाता है।

गन्धर्व विवाह को आधुनिक प्रेम-विवाह कह सकते हैं किन्तु इस विवाह की सार्वजनिक घोषणा नहीं होती और न कोई इसका साक्षी होता है इसलिए दुष्यन्तों के मुकर जाने और शकुन्तलाओं के विपत्ति में पड़ने की आशंका रहती है। 'राक्षस' विवाह में बलपूर्वक कन्या का हरण होता है और पैशाच विवाह में छल से सोती हुई या मूर्च्छित लड़की का हरण होता है। विन्दु का प्रजापत्य विवाह हो रहा था, मृणाल को इसका बहुत दुःख था और लोगों की इच्छा के विरुद्ध उसने विन्दु को कुछ-न-कुछ अलंकृत कर ही दिया था। शास्त्र के ब्राह्म और दैव विवाहों में कन्या के अलंकृत होने का ही विधान है। प्रजापति स्वयं पर-ब्रह्म को, ब्रह्मा को, कश्यप, दक्ष आदि ब्रह्मा के पुत्रों को—कहते हैं, यह प्रश्न यहां तनिक भी प्रासंगिक नहीं है। कामदेव का वाहन तितली है, यह चर्चा भी यहां काम की नहीं। इस पत्र में मृणाल ने अपने घर छोड़ने के कारण बताये हैं—विन्दु का प्रजापत्य विवाह उन कारणों में से एक है।

[पूतना : ३६०, २१] बच्चों के एक भयावह रोग एवं एक राक्षसी के रूप में पुराणों और महाभारत आदि में प्राचीन परम्परा से उल्लिखित है। प्रस्तुत प्रसंग में उस से प्रयोजन नहीं। इस प्राचीन प्रतीक में सर्वथा नवीन अर्थ की स्थापना हुई है। अर्थशास्त्री कीन्स के विचारों की आड़ में स्वतंत्र प्रतिस्पर्धा वाले बाजारों में भयानक युद्धास्त्र, धन की अन्धी होड़ और अनियंत्रित लोभ को ही मनमानी का मौका मिला है। पश्चिम के इस अवदान को इस अर्थ में पूतना कहा गया है कि इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण उत्पादनों का सम्यक् वितरण नहीं हो पाता और अविकसित राष्ट्र घोर दुर्दशा झेल रहे हैं। नवजात राष्ट्रों के लिए तो यह प्रवृत्ति पूतना ही जैसी जानलेवा है। पौराणिक पूतना तो भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा मार डाली गयी, यह पूतना अविकास उपजाने के लिए स्वच्छन्द छूटी हुई है। पश्चिम की चका-चौंध में इसका चरित्र भी स्पष्ट नहीं पहचाना जा रहा है। भारत ने अपनी दीनता-हीनता के बावजूद विश्व को ज़ेन जैसा उपहार दिया था। पश्चिम, श्रेष्ठता के इतने बड़े दावों के बावजूद बहुसंख्यक मनुष्यता को पीड़ित एवं त्रस्त ही कर रहा है। मूल विषय से तनिक भी हटे बिना केवल एक शब्द के इस पुराने प्रतीक में नयी प्राण-प्रतिष्ठा कर इस विभीषिका की आर मार्मिक संकेत किया गया है।

[प्रकाण्ड कक्ष : ११४, १६] सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में तरह-तरह के कक्षों में विभिन्न पिण्ड परिक्रमा कर रहे हैं। किन्तु सब मिलकर एक बहुत ही बड़े कक्ष में घूम रहे हैं—एक ही मूल केन्द्र के सूत्र से बिंधे हुए—अस्तित्व मात्र की एकमेवता के इस कक्ष पर कोई चर्चा नहीं चल रही है। इसकी ओर से लोग अभी अंधियारे में हैं। रवि बाबू ने रहस्यवादी शैली में इसी मूल कक्ष की ओर सबका ध्यान आकृष्ट किया है।

[प्रकृत विज्ञान मन्दिर : १५१, ६] मन के मन्दिर, मनुष्य की मनन शक्ति को आचार्य ने असली विज्ञान मन्दिर कहा है।

[प्रिटोरिया क्रिसमस : २१६, ७ से १०] अंग्रेज सेनापति लार्ड रॉबर्ट्स अफ्रीका में भयानक 'बोर युद्ध' कर रहा था। जो अफ्रीकी लोग आत्मसमर्पण नहीं करते थे उनके पूरे-के-

पूरे गांव उसने जला दिये। जिस दिन वह आततायी बेचारे अफ्रीकियों को हराकर राजधानी प्रिटोरिया पहुंचा उस दिन पूरा प्रिटोरिया आग की लपटों से घिरा हुआ था। वह क्रिसमस अर्थात् प्रेम और क्षमा के अवतार प्रभु जीसस क्राइस्ट का पवित्र जन्म-दिन था ! रवि बाबू ने इसी घटना की रूपक में चर्चा की है और आचार्य वसु को प्रेरित किया है कि तर्क की आग से उनके घर जला डालिये ! विज्ञान में आततायियों को पराजित कर आप 'प्रिटोरिया क्रिसमस' का बदला लेंगे।

[प्रस्तर युग : ४३१, ३२] सभ्यता के इतिहास में मनुष्य किसी-न-किसी प्रकार के यंत्र इस्तेमाल करना कब सीख सका इसका ठीक पता नहीं। अनुमान है कि सबसे पहले आदमी ने लकड़ी, हड्डी और पत्थर का उपयोग सीखा। लगभग ईसा पूर्व ७००० वर्ष से ३५०० ई. पू. तक का समय 'प्रस्तर युग' कहा जाता है। वैसे सारी धरती पर इस युग के आरम्भ और अन्त के प्रमाण एक साथ नहीं मिलते। इस युग में भद्दे उपकरणों से धीरे-धीरे चिकने, नोकदार और धारदार यंत्रों की ओर मानव जाति ने प्रगति की। पुरातत्त्व शास्त्र के अन्तर्गत इस विषय का अध्ययन किया जाता है।

[प्रेसिडेन्सी कॉलेज, कलकत्ता : २५१, १४] उन दिनों कलकत्ता का सबसे अच्छा कॉलेज था। उस में वहुत बड़े लोगों के बच्चों को ही असाधारण प्रतिभा के प्रमाण मिलने पर प्रवेश मिलता था। इस कॉलेज में प्रायः सभी अंग्रेज प्राध्यापक होते थे। कभी-कभी वड़ी कठिनाई से किसी भारतीय प्रोफेसर को इस कॉलेज में स्थान मिलता था। आचार्य बसु ने अध्यापक के रूप में नियुक्त होकर इस कॉलेज से अपना कर्मजीवन आरम्भ किया था। इस कॉलेज का प्रिंसिपल डाइरेक्टर के समकक्ष होता था। अलेक्जेण्डर पेडलर इसी कॉलेज से सम्बद्ध थे और एशियाटिक सोसायटी की उस सभा के अध्यक्ष वही थे जिस में आचार्य वसु ने विद्युत-समावर्त्तन पर अपना लेख पढ़ा था। यहीं प्रफुल्लचन्द्र राय, चन्द्रभूषण भादुड़ी, डॉक्टर रुडॉल्फ़ हार्नले आदि ने आचार्य वसु के लेख की प्रशंसा की और वह लेख एशियाटिक सोसाइटी के मुख-पत्र में प्रकाशित हुआ। उसके वाद उसे लार्ड रेले के पास भेजा गया जिनकी अनुशंसा पर 'इलक्ट्रिशियन' पत्रिका से आचार्य का सम्वन्ध वना। उन्हीं के प्रोत्साहन देने और अनुशंसा करने पर आचार्य वसु को यूरोप की यात्रा और पेरिस की विज्ञान सभा में वोलने के अवसर मिले। प्रेसिडन्सी कॉलेज की प्रयोगशाला में ही आचार्य बसु ने 'अदृश्य आलोक' और 'कृत्रिम चक्षु' पर काम किये थे जिसे वंगाल के गवर्नर लार्ड मेकेंजी की उपस्थिति में उन्होंने टाउन हॉल कलकत्ता में १८९४ ई. में प्रदर्शित किया। इसी कॉलेज की नौकरी के दौरान उन्हें विश्वस्तर पर ख्याति मिली और यहीं से सेवा-निवृत्त होने के उपरान्त वे एमरथिस्ट प्रोफेसर हुए।

[प्रेय : ३६६, २६] संसार के अधिकतर दर्शनों ने 'श्रेय' और 'प्रय' को परस्पर विलोम सिद्ध कर रक्खा है। संसार—जिस में हम जन्म लेते हैं और पलते हैं, अधिकतर दर्शनों के अनुसार निन्द्य और त्याज्य है। उस से पूर्णतः विमुख हुए बिना 'श्रेय' अर्थात् परमात्मा, अध्यात्म आदि उपलब्ध नहीं हो सकते। प्रेय [प्रीति के योग्य] और श्रेय का झगड़ा ज़ेन

दर्शन खड़ा ही नहीं करता। ज़ेन सद्गुरुओं का मत है कि दोनों एक ही हैं। असल गड़बड़ी मनुष्य की मानसिकता में है। वह ठीक हो तो संसार ही अध्यात्म की सीढ़ी है।

[फर्लो : २६२, ४] अवैतनिक छुट्टी के लिए पारिभाषिक। वैसे इस शब्द में कर्म-विराग और कर्म-त्याग के भाव भी निहित हैं। आचार्य वसु प्रेसिडेन्सी कॉलेज की नौकरी से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं करना चाहते थे और नौकरी करते हुए वे अपना अनुसन्धान कार्य नहीं चला सकते थे। इस द्वन्द्व में उन्हें बहुत कष्ट उठाने पड़े जिसकी चर्चा पत्रों में है।

[फाटक / मवेशीखाना : २२,१७ एवं २०] कांजी हाउस, पालतू पशुओं की जेल। जिस व्यक्ति को किसी का पालतू पशु क्षति पहुंचाता है वह पशु को पकड़ कर फाटक में डाल आता है। खोये हुए पशु को ढूंढ़ने वाला पशुओं का मालिक आर्थिक दण्ड चुका कर अपने पशु को छुड़ा ले जाता है। जिस पशु को निश्चित समय के बीच कोई छुड़ाने नहीं आता उसे गोहाट या गोहट्टी में नीलाम कर दिया जाता है। पशुओं के हानि पहुंचा देने के कारण अधिकतर लोगों में गम्भीर फौजदारी हो जाती थी जिस में कभी-कभी मनुष्यों की भी जान चली जाती थी। ऐसे झगड़ों को मिटाने के लिए ही यह व्यवस्था की गयी थी।

[फ़िज़िसिस्ट : २५८, २४] भौतिकीवेत्ता।

[फ़िज़ियोलॉजिस्ट : २५८, २५] शारीरिकीवेत्ता। जीव-विज्ञान और भौतिकी, विज्ञान की अलग-अलग शाखाएं हैं। अधिकतर विज्ञान की एक शाखा के विद्वान् दूसरी शाखा में काम नहीं करते। कोई करता है तो उसे हतोत्साहित किया जाता है। आचार्य वसु विधिवत् भौतिकी के विद्वान् थे अतः जब उन्होंने जीव विज्ञान और वनस्पति शास्त्र में काम किया तो उनकी स्थापनाओं के विरोधियों और ईर्ष्यालुओं को उनके विरोध का सुन्दर सुयोग मिल गया।

[फ़ोटोग्राफ़िक सोसाइटी : २५७, ३] लन्दन की इस विश्वविख्यात सोसाइटी ने ३० मई १९०२ को आचार्य वसु को निमंत्रित किया। उनका भाषण अमेच्योर फ़ोटोग्राफ़र नामक सोसाइटी के मुख-पत्र में प्रकाशित हुआ।

[बंगदर्शन : २२१, २७] इस पत्रिका का सम्पादन बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय ने चार वर्ष किया तत्पश्चात् उनके भाई ने उसे संभाला किन्तु बंकिम बाबू भी काम करते रहे। उनके देहान्त [१८९४ ई.] के उपरान्त इस पत्रिका की हालत बिगड़ी और बन्द होने की नौबत आ गयी तब रवि बाबू ने उसका सम्पादन संभाल कर उसे फिर से चलाया। प्रसंगाधीन पहला अंक १५ मई, १९०१ ई. [१ ज्येष्ठ १३०८ बंगाब्द] का है। इस में रवि बाबू के कारण आचार्य वसु के भी लेख छपे और उनकी यूरोप यात्रा की चर्चा भी उसके पृष्ठों पर हुई। इस पत्रिका का सम्पादन पांच वर्षों तक रवि बाबू ने किया और इसकी प्रतिष्ठा एवं लोकप्रियता में काफी वृद्धि की।

[बंगभवन : २५३, ३-४] आचार्य वसु इस संस्था की स्थापना के लिए उत्सुक थे। कुछ सरकारी प्रतिबन्धों के कारण और कुछ रवि बाबू की असहमतिवश यह योजना आगे नहीं

चल सकी। वैसे १६ अक्तूबर १९०५ ई. को फेडरेशन हॉल, मिलन मन्दिर या अखण्ड बंग भवन के नाम से आचार्य वसु के बहनोई आनन्द मोहन वसु के नेतृत्व में इसकी स्थापना हुई थी और इसके घोषणापत्र का बांग्ला अनुवाद स्वयं रवि बाबू ने पढ़ा था। फिर, इस से कोई विशेष हित होने की सम्भावना न देख कर रवि बाबू तो सर्वथा अलग हो गये और आचार्य वसु ने भी इस में रुचि लेना बन्द कर दिया।

[वसन्त : ५, २६] बंगाल में शीतला, माता आदि के नाम से चेचक रोग को जाना जाता है और इसे महादुर्गा का प्रकोप समझा जाता है। इसीलिए रोगार्थक कोई नाम न लेकर इसे 'वसन्त' कहते हैं। इस अभिव्यक्ति में भयंकर व्यंग्य है। बिन्दु को अम्हौरियां निकली थीं। उन्हें वसन्त घोषित करने पर ही मृणाल का हृदय विदीर्ण हुआ।

[वसु विज्ञान मन्दिर : १५०. २८; २०६. १३; २३१. ११ एवं ५२८, ११] आरम्भ में खोज सम्बन्धी सारा कार्य आचार्य वसु प्रेसिडेन्सी कॉलिज की प्रयोगशाला में ही करते थे। एक बार वे महाराजा त्रिपुरा और रवि बाबू को साथ लेकर अपने कुछ प्रयोग दिखाना चाहते थे किन्तु अधिकारियों ने इनकी अनुमति नहीं दी। उसी समय रवि बाबू को अनुभव हुआ कि शीघ्र ही बीस हजार [उन दिनों प्रयोगशालाओं की लागत यही आती थी।] का प्रबन्ध कर एक स्वतन्त्र प्रयोगशाला आचार्य वसु के लिए उपलब्ध रहनी ही चाहिए। किन्तु कुछ कुयोगों के कारण उस समय यह नहीं हो पाया। दूसरी बार इस प्रयोगशाला की स्थापना आचार्य वसु ने विदेश में पहुंच कर आवश्यक समझी। रॉयल इन्स्टीट्यूट की कार्य-प्रणाली देख कर आचार्य वसु काफी प्रभावित हुए और उन्होंने इसकी आवश्यकता का अनुभव बहुत तीव्रता से किया। उनकी धर्मपत्नी अबला वसु भी इस यात्रा में उनकी संगिनी थीं। अबला वसु व्यावहारिक कार्यों में आचार्य देव की सहायता करती थीं और इस तरह के स्वप्नों के ताने-बाने बुनने में उनका सहयोग और अधिक हुआ करता था। अन्त में आचार्य वसु के स्वदेश लौटने पर ३० नवम्बर १९१७ ई. को इस भव्य विज्ञान मन्दिर की स्थापना कलकत्ते के आचार्य प्रफुल्लचन्द्र मार्ग पर हुई। इस संस्था के उद्देश्य यह थे कि यहां जो अनुसन्धाता चाहें पूर्ण स्वतन्त्रता से अपनी गवेषणा चलायेंगे। जाति, धर्म, देश आदि के कारण किसी को भी किसी भी प्रकार से वसु विज्ञान मन्दिर में काम करने से रोका नहीं जा सकेगा। इसके लिए आचार्य प्रवर ने अपनी सम्पूर्ण—लगभग बारह लाख रुपये की—सम्पत्ति स्वाहा कर दी। उनके बाद इस विज्ञान मन्दिर के लिए पर्याप्त चन्दा सामान्य जन ने दिया। यह संस्था उसी स्थान पर 'बोस इन्स्टीट्यूट' के रूप में विद्यमान है।

[बहूरानी : २४०, १०] मूलतः बांग्ला में 'बौठाकरुन' जिसे 'बहू ठाकुरानी' या 'बड़ी भाभी' समझना चाहिए। यह चर्चा श्री ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर की धर्मपत्नी कादम्बरी देवी की है, जिनका देहान्त सन् १८८४ ई. [बंगाब्द १२९१] में हो गया।

[बाउल : ११४, १ ; ११५, ३ एवं ३४३, ८] शब्दार्थ है 'बावला' अर्थात् पागल। बंगाल के सर्वसमन्वयवादी, हर जाति धर्म से आये हुए, निःस्व, निरीह लोगों की बिरादरी

जो गांव-गांव घूमा करती है। इनका मन्त्र वाक्य है : 'उतसव आमार जाति, आनन्द आमार गोत्र'। सामान्य बंगाली लोग अपने वाउलों के प्रति वड़े श्रद्धालु होते हैं। इन्हें महाप्रभु चैतन्य के अनुयायियों की शाखा-विशेष कहा जाता है। इन लोगों के मतानुसार श्रीराधा-कृष्ण परम देवता हैं। चन्द्र, सूर्य, अग्नि, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, गोलोक, वैकुण्ठ, वृन्दावन सबका आवास ये लोग मानव-शरीर को ही मानते हैं। ये लोग देह तत्त्व को प्रसिद्ध मानते हैं और प्रकृति साधना ही इनकी प्रधान साधना है। तिलक, माला, डोर, कोपीन और वहिर्वस्त्र ये लोग धारण करते हैं। ये लोग सर पर वड़े वालों का जूड़ा रखते हैं। मिलने पर 'दण्डवत' करते हैं। इन में से कुछ लोगों को 'क्षेपा' उपाधि भी मिलती है।

[वाण गंगा : ४७३, २०] विलाड़ा का एक जलस्रोत जहां एक तरह का तीर्थस्थल-सा वन गया है। वहां एक कुण्ड-सा वना हुआ है जिसमें स्नान करते हैं। आस-पास के लोग अपने मृतकों का अन्तिम संस्कार भी यहीं करते हैं। देश के अनेक स्थानों की तरह इसके विषय में भी प्रचलित है कि राजा वलि के वाणों से यह धारा उत्पन्न हुई। प्रति वर्ष चैत्र की अमावस्या को यहां मेला लगता है, यह मेला 'नौसती' के नाम से भी विख्यात है।

[वेविलोन : २०२, १६] यह अव पिछड़े हुए, इराक-ईरान के रूप में अवशिष्ट है। किन्तु दजला-फुरात की घाटियों की चार प्राचीनतम सुसभ्यताओं का क्रोड़ यही इराकी भू-भाग था। इन सभ्यताओं का विकास ईसा पूर्व ३५०० से ५३८ ई. पू. के मध्य हुआ था। इस क्षेत्र में—सुमेरी [३५०० ई. पू.], वैविलोनियाई [१५५० ई पू.], असीरियाई [७५० ई. पू.] और काल्दी [६१२ ई. पू. से ५३८ ई. पू. तक] सभ्यताएं विकसित हुई थीं। यूरोप वालों को इस क्षेत्र का ज्ञान वाइविल से हुआ था। लगभग सारी वाइविल के मुख्य प्रसंग इसी क्षेत्र से सम्वद्ध हैं।

[वेला का व्याह : २२२, १६] रवि वावू की वड़ी वेटी माधुरीलता का घरेलू नाम वेला था। आचार्य वसु के जय-संवाद से इस उत्सव की शोभा रवि वावू के अनुसार दोगुनी हो गयी थी। इस अवसर पर वेला को आचार्य वसु ने अपने हस्ताक्षर से मण्डित अपनी पुस्तक उपहारस्वरूप दी थी।

[वोधिवृक्ष : ३४३, २० एवं ५१७, ३] प्रथम प्रसंग रवि वावू का है—वोध गया के संसार-प्रसिद्ध वृक्ष के नीचे भगवान् बुद्ध को परम ज्ञान हुआ था। यद्यपि ज्ञान होने में वृक्ष का कोई कार्य-कारण सम्वन्ध नहीं है, फिर भी रवि वावू के अनुसार उनकी सम्यक् सम्वोधि में कुछ स्वर वृक्ष के भी मिल गये थे। दूसरा प्रसंग विज्जी की 'अधूरी चिट्ठी' का है। उन्होंने इसका प्रयोग रूपक की तरह किया है। भगवान बुद्ध को उसी समय ज्ञान हुआ जव वे वटवृक्ष तले वैठे थे, अतः उस अवसर के कारण वृक्ष को वहुत श्रेय मिल गया। वैसे ही, विज्जी को लोक-व्यवहार, लेन-देन से आतमवोध हुआ। उनका वोधिवृक्ष यही लेन-देन का व्यवहार है।

[वोधिसत्त्व : ३५५, १६] जातक कथाओं में वहुत वार भगवान् बुद्ध ने अपने वृक्ष

देवता होने की वात कही है। वल्कि उन्होंने अपने लिए कुश और अरण्ड जैसे नगण्य पेड़-पौधे होने तक की वात कही है। यदि एक साथ वनस्पति सम्वन्धी सारी कथाओं पर ध्यान दिया जाये तो किसी वृक्ष पर कुल्हाड़ा चलाना तो वड़ी वात, घास पर भी पैर रखने से डर लगे कि कहीं वोधिसत्त्व को ही कुचल डालने के महानतम पाप का भागी न होना पड़े। वोधिसत्त्व ने निर्वाण के पूर्व सभी योनियों में रहकर जगत् का उपकार किया था। बौद्ध-शास्त्रों के इस पारिभाषिक का अर्थ यह होता है कि उसे वुद्ध चेतना उपलव्ध है, उसे पूर्व जन्मों के वृत्तान्त याद हैं, वस कल्याण करने की अन्तिम लालसा उसे विभिन्न योनियों में ले जाती है। यह इच्छा भी जव समाप्त होती है तव पूर्णतः निर्वाण हो जाता है। ऐसी वहुतेरी कथाएं वैष्णव परम्परा में भी मिलती हैं कि देवता, सिद्ध और योगी व्रज भूमि और वृन्दावन में वृक्ष रूप में रहते हैं। अभिप्राय उनका भी यही है कि वृक्षों का आदर हो और उनके प्रति दुर्व्यवहार का साहस कोई न करे।

[वोर्खेस : ५६०, १७ एवं ५८४, १८] अर्जेण्टिना में १८९९ ई. में जन्मे। पूरा नाम जार्ग लुई वोर्खेस। कहानीकार, निवन्धकार और कवि—तीनों। प्रथम महायुद्ध के दौरान यूरोप में रहे। सन् १९२१ में अपने जन्म स्थान लौटे। उनकी पीढ़ी के सभी लोगों में यूरोप के प्रति गहरा आकर्षण था। इनकी विशेषता यह थी कि इन की प्रवृत्ति फ्रांस की अपेक्षा इंग्लैण्ड की ओर अधिक थी। यूरोप प्रवास के दौरान हर प्रकार के वुद्धिजीवियों के संसर्ग में आये। स्पेनी अतिवादियों का प्रभाव इन पर विशेष माना जाता है। इनकी कहानियां निश्चित नक्शों की जटिल वनावट के साथ-साथ पहेलियां खड़ी करती हैं। नरक और नारकीय यातनाएं उनका प्रिय विषय हैं। अपनी रचनाओं में वे वार-वार संशोधन परिवर्द्धन करते रहते हैं। एक प्रकार की रहस्यप्रियता भी उनकी रचनाओं में मिलती है। राजनीति से उनका लेखक के रूप में तनिक भी तालमेल नहीं। कदाचित इसीलिए लातीनी अमरीका में इन्हें अस्वीकार किया जाता है और इन पर दक्षिणपन्थी होने का आरोप है। कई वार विचाराधीन होते हुए भी इन्हें नोवुल पुरस्कार नहीं मिला।

[व्रिटिश एसोसिएशन : २६२, १] व्रिटिश एसोसिएशन फार द एडवान्समेण्ट आफ साइन्स, यार्क, इंग्लैण्ड। वैज्ञानिक प्रगति के लिए वर्तानवी वाशिन्दों का संघ। इस संस्था की स्थापना, १८३१ ई. में हुई थी। इसके उद्देश्यों में—वैज्ञानिक खोज का अधिक व्यवस्थित दिशा-निर्देश कर इसे अधिक संवेग प्रदान करना, अधिकतम वैज्ञानिक ज्ञान उपलव्ध करना, वैज्ञानिक प्रगति के मार्ग की वाधाएं दूर करना, वैज्ञानिकों में आपसी संवाद स्थापित करना और देशी-विदेशी विचारकों का सम्पर्क जोड़ना भी है। उन्नीसवीं सदी में वैज्ञानिक शिक्षा की आवश्यकता और महत्त्व जनता और सरकार दोनों को समझाने में इस संस्था ने वहुत काम किया। दोनों विश्व युद्धों के दुष्काल को छोड़ कर प्रति वर्ष इसके सम्मेलन होते हैं और चिकित्साशास्त्र छोड़कर विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र से सम्वद्ध आयोजन होते हैं। इसके वार्षिक सम्मेलनों में वैज्ञानिकों का अपने ढंग का सवसे वड़ा जुड़ाव होता है। यही एक मात्र संस्था है जिसकी सभा में सामान्य जनता के सदस्य भी अपने महान् वैज्ञानिकों के समक्ष अपने दृष्टिकोण रखते हैं। इसकी सभाओं में न केवल वैज्ञानिकों के लिए अपने क्षेत्र की

प्रगति से अवगत होने का अवसर होता है वल्कि अनाड़ियों को भी सीखने-जानने का अवसर मिलता है। इस संस्था ने क्यू की विशाल प्रयोगशाला, सम्वद्ध विषयों पर अनुसन्धाताओं को सूचना देने के लिए चला रक्खी है। अव अधिकतर यह संस्था सामान्य जनता तक वैज्ञानिक जानकारियां पहुंचाने का कार्य साल भर करती रहती है। इसी के प्रभाव से १९६० ई. में इंग्लैण्ड में दाशमिक प्रणाली लागू हो पायी। इस संस्था द्वारा एक पत्रिका का भी नियमित प्रकाशन होता है। प्रस्तुत प्रसंग में आचार्य वसु इस संस्था द्वारा आमंत्रित होने पर वहुत उत्साहित हुए थे और उन्हें अपने सिद्धान्तों के सर्वमान्य होने की आशा दिखने लगी थी।

[भरहुत : ४३४, २०] मध्य प्रदेश के सतना स्टेशन से ९ मील [लगभग १५ किमी.] की दूरी पर मेहर नदी के उत्तरी सिरे पर यह गांव वसा है। यहां से उज्जैन-विदिशा से पाटलिपुत्र की ओर रास्ता मुड़ता था और कौशाम्वी तथा श्रावस्ती को भी एक रास्ता जाता था। स्तूप की चारों दिशाओं में चार तोरण थे तथा अस्तिवेदिका स्तम्भों से घिरी थी। इसके लाल पत्थर अनुमानतः विन्ध्य पर्वत की कैमूर श्रेणी से आये थे। वेदिका पर ईसा पूर्व पहली दूसरी सदी के शुंग राजाओं का उल्लेख है। इस पर सात वृक्ष सात मानुषी वुद्धों के प्रतीक हैं। इसके चित्रों के नीचे व्राह्मी अक्षरों में चित्र-परिचय भी दिया हुआ है। स्तूप के शीर्ष पर दो परों वाले वैल या सिंह का चित्र है। वंडेरियों [पत्थर की चौखट] के छोर पर दुम सहित मकर अंकित हैं। एक-एक दिशा में अजातशत्रु और नागराज इलापत्र के भगवान् वुद्ध के वन्दनार्थ आने का सुन्दर चित्रांकन है। इस पर जातक कथाएं वनी हैं। महाकपि जातक का चित्रांकन अत्यन्त सूक्ष्म और हृदयग्राही है। यक्ष-यक्षिणियों के चित्र भी मोहक हैं। राजाओं और सेठों के चित्र पगड़ियों सहित पाये जाते हैं। यह स्तूप वौद्ध धर्म की हीनयान शाखा से सम्वद्ध है। भरहुत के अवशेष पुरातत्त्वविद कनिंघम को भग्नावस्था में मिले थे। गांव वालों ने इसकी ईंटों से अपने घर वना डाले थे। इसलिए जितनी सामग्री वे एकत्र कर सके उसे ले जाकर उन्होंने कलकत्ता के भारतीय संग्रहालय में सुरक्षित कर दिया है। भरहुत की चित्र कला में लोक संस्कृति एवं वनजातियों की संस्कृति के भी चिह्न हैं। यह भरहुत भी यन्त्रपूर्व मानव के अद्वितीय कौशल का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

[भवभूति का भारत पूर्णतया दरिद्र नहीं हुआ : ५६, २६] कालिदास के वाद भवभूति सातवीं-आठवीं शती ईस्वी में संस्कृत साहित्य के सवसे वड़े कवि-नाटककार माने गये हैं। इनकी तीन रचनाएं प्रसिद्ध हैं—१. मालती-माधव २. महावीर चरित [राम की कथा अयोध्या की वापसी तक] ३. उत्तर रामचरित [सीता वनवास और आगे की कथा] परन्तु लोक में सवसे अधिक ख्याति उन्हें केवल अपनी इस गर्वोक्ति के कारण मिली है—

ये केचिदह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्तु ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि-समानधर्मा
कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥

—'चाहे जो लोग भी मुझे तुच्छ समझकर आज मेरी कविता का निरादर करते हों उन्हें जान

लेना चाहिए कि मेरे ये प्रयास उनके लिए नहीं हैं। यह पृथ्वी बहुत बड़ी है और काल-प्रवाह भी क़िसी आज-कल-सी छोटी अवधि में बंधा हुआ नहीं है। कहीं-न-कहीं और कभी-न-कभी तो मुझ जैसी अनुभूति रखने वाला कोई-न-कोई जन्म लेगा ही। वही मेरी रचनाएं समझेगा और उनका आनन्द लेगा।' प्रस्तुत प्रसंग में इसी वचन की ओर संकेत किया गया है। यह कष्ट कुछ अकेले महाकवि भवभूति को ही नहीं झेलना पड़ा। जब भी कोई रचनाकार परम्परा की पिटी-पिटायी राह से हट कर कोई नयी ज़मीन निकालता है, उसे ठीक ऐसी अवज्ञा सहनी पड़ती है। लेकिन जिस भारत में भवभूति-जैसे सिद्ध कलाकार हो चुके वह आज भी पूरी तरह दरिद्र नहीं हुआ है। आज भी यहां झीनी व गूढ़ कला के मर्मज्ञ मिल ही जाते हैं।

[भारतीय चिन्ता : १५१, ४] आचार्य बसु का तात्पर्य भारतीय चिन्तन की सहस्रों वर्ष पुरानी धारा से है।

[भैयादूज : ११, ४ एवं २५३, १८] कार्त्तिक शुक्ल द्वितीया का मांगलिक त्यौहार, जब स्त्रियां अपने भाई का विधिवत् पूजन करती हैं। 'स्त्रीर पत्र' के प्रसंग में ध्यान देने योग्य है कि ससुराल में रहने वाली स्त्रियों के लिए यह त्यौहार बड़ी भावुकता का होता है। चूंकि मृणाल के परिवार वाले उसके भाई शरत् का आना पसन्द नहीं करते थे इसलिए उस बेचारी को भैयादूज का तिलक भी दूसरों के हाथ से भेजना पड़ता था। इस बात से भी वह बहुत आहत थी। किन्तु, बिन्दु के प्रति उसके प्रेम की पराकाष्ठा इस से सिद्ध होती है कि उसने शरत् को अपने यहां बुलाया और उससे सहायता ली।

[मन : १५१,१९] भारतीय शास्त्रीय दृष्टि से मन चंचल, क्षण-क्षण परिवर्तनशील होने के कारण सर्वथा अविश्वसनीय होता है। इसकी चर्चा बहुत आ चुकी। आचार्य बसु ने इससे बिल्कुल ही भिन्न अर्थ में यहां प्रयोग किया है। यह 'मन' एक अलग पारिभाषिक है, जिसका अर्थ मनन का विवेकपूर्ण यन्त्र है। प्राचीन शब्दावली में इसे 'संचेतना'—सम्यक् चेतना का पर्याय मानना होगा।

[मन्दाक्रान्ता : ३५८,२८] संस्कृत का प्रसिद्ध छन्द। इस छन्द में १७ वर्णों के वृत्त होते हैं। इस छन्द के गण हैं—म, भ, न, त, त, ग, ग [४,६,७] प्रतीक में—ऽऽऽ,ऽ।।, ।।।,ऽऽ।, ऽऽ।, ऽ,ऽ कालिदास का सम्पूर्ण मेघदूत इसी छन्द में है। कालिदास की लोकप्रियता के कारण अब 'मन्दाक्रान्ता' को अत्यन्त मधुर, रसमय एवं कलापूर्ण छन्द होने की मान्यता प्राप्त है। लोकप्रिय हो जाने पर इस छन्द के उदाहरण बहुत मिलने लगे और अभ्यास आसान हो गया इसलिए दूसरे छन्दों पर अतिरिक्त परिश्रम करने के स्थान पर कवियों को यही छन्द अधिक सुगम लगने लगा।

[महारानी के राज्य में कोई किसी का गुलाम नहीं है : २६,६] महारानी विक्टोरिया [शासन काल, १८३६-१९०१ ई.] ने १८५७ ई. के विप्लव के उपरान्त जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी से भारत का राज्य अधिग्रहण किया तो जो घोषणा हुई उस में प्रजा-वर्ग की

समानता आदि के आदर्श खूब प्रचारित हुए। वास्तविकता वही होती है, जो होती है। सबल-सबल होता है; निर्बल, निर्बल। देखिये, गफूर के इस कथन और फिर जमींदार के यहां उसकी पिटाई के सरल चित्रण के द्वारा शरत् बाबू ने इसके यथार्थ को कितनी गहराई से उकेरा है।

[मानस-पद्म की विज्ञान् सरस्वती को देश के हृदय-पद्म पर प्रतिष्ठित कर रहे हो: २३१,२६-२७] योग शास्त्र ने मनुष्य की चेतना के सात तल माने हैं। जब चेतना तीन निचले तल पार कर जाती है तो हृदय-चक्र का कमल खिल उठता है। तभी ज्ञान की बातें समझ में आने लगती हैं। चेतना का सबसे ऊपरी तल सहस्रार अर्थात् सहस्रदल कमल कहलाता है। तात्पर्य यह है कि चरम सीमा तक ज्ञान प्राप्त कर अब तुम दूसरों को भी ज्ञान प्रदान कर रहे हो। हृदय पद्म चेतना के कमलों में सबसे छोटा है और जिसे रवि बाबू मानस पद्म कह रहे हैं वह सबसे बड़ा है।

[माया की रात: ४७१,१५] बहुत आसानी से इसे 'सुहागरात' कह दिया जा सकता है। किन्तु वह विशेष रात जो दो शरीरों को एक प्राण करती है—जिस में मोह-माया के सारे दबे-छिपे-अंकुर फूट पड़ते हैं—उसके पहले मनुष्य अकेला होता है। अतीत के जो मोह-बन्धन होते हैं वे पुराने पड़ चुके होते हैं—इसी रात एक दम वर्त्तमान के नये-नये नाते सर उठाते हैं—भविष्य के नये सम्बन्धों के रेशमी बन्धन मजबूती से बुने जाने लगते हैं, व्यक्ति समाज का, परम्परा का, पितरों का अंग बनने लगता है।

[मारुत: ४२३,१८ एवं ४४०,२६] मरुत, पवन, वायु, श्वसन, स्पर्शन, सदागति, गन्ध-वह, समीर, जगत्प्राण, समीरण, नभस्वान्, वात, पवमान, प्रभंजन, मातरिश्वा, पृषदश्व, अनिल, आशुग आदि अनेक नामों और गुणों वाले वैदिक देवता। यही बादलों को लाने और हटाने वाले हैं, यही अग्नि को प्रज्वलित करते हैं। इनका बल, इनकी गति, इनका प्रसार सबसे बढ़कर है। सबसे बढ़ कर यही श्वास-प्रश्वास द्वारा जगत् को प्राण देते हैं। अतः दूसरे देवताओं का महत्त्व घटा-बढ़ा, किन्तु वायु देवता, अग्नि देवता और सूर्य देव का सम्मान कभी नहीं घटा-बढ़ा। ज्ञान में प्रगति के साथ शरीर के अन्दर भी प्राण, व्यान, समान, उदान और अपान वायु को खोज लिया गया। वायु के वेग से ही जलयात्राएं होती थीं। वायु का महत्त्व इसीलिए दिनानुदिन बढ़ता ही गया। अनेक प्राचीन आख्यानों में ४९ पवनों की चर्चा मिलती है किन्तु ४९ पवन कौन-कौन से हैं इसका सन्तोषजनक उत्तर उप-लब्ध नहीं है। एक आचार्य ने मरुतों के सात गणों, सातों के स्थानों और उनके कक्षों का निरूपण कर दिया किन्तु वे पैंतीस नाम ही बता पाये। सातवें गण में उन्होंने एक भी नाम नहीं बताया। तीसरे गण में केवल पांच, चौथे गण में केवल दो नाम बताकर रह गये। अन्य एक आचार्य ने ४७ पवनों के नाम ढूंढ़ निकाले लेकिन दो नाम उन्हें भी नहीं मिल पाये। दोनों सूचियों में पांच-छह नामों से अधिक पर सहमति नहीं मिल सकी। दोनों सूची छोड़ कर हम इस विषय को खोज, विचार और सम्यक् व्याख्या तथा अनुसन्धान के

लिए खुला हुआ मानते हैं। आशा करते हैं योग्य विद्वान इस विषय पर शीघ्र प्रकाश डालेंगे।

[मुक्ति का उपाय : २२४,३४] रवि बाबू की कहानी, जो सम्भवत: हिन्दी में प्रकाशित होने वाली उनकी पहली कहानी थी। रवि बाबू स्वयं उस अनुवाद से सन्तुष्ट थे कि 'कहीं रस भंग नहीं हुआ।' यह कहानी अगस्त १६०१ ई. में विख्यात हिन्दी पत्रिका सरस्वती में छपी थी।

[मुहूर्त्त : १०८,३०] भारतीय काल गणनानुसार पलक झपकने के समय को एक निमेष [१/२७ विपल ; २/१३५ सेकण्ड], १८ निमेष की एक काष्ठा [२/३ विपल ; ४/१५ सेकण्ड], ३० काष्ठा की एक कला [२० विपल अर्थात् ८ सेकण्ड], ३० कला का एक क्षण [२० पल ; ४ मिनट], १२ क्षण का एक मुहूर्त्त [२ घटी ; ४८ मिनट] ३० मुहूर्त्त का एक दिन-रात अर्थात् २४ घण्टा। प्रस्तुत प्रसंग में, अथवा जहां कहीं आचार्य बसु या रवि बाबू ने 'मुहूर्त्त' शब्द का प्रयोग किया है वहां उनका आशय केवल निमेष-मात्र—या छोटी-सी कालावधि है। कहीं वास्तविक 'मुहूर्त्त' का प्रयोजन नहीं।

[मृत्युजनित-आक्षेप : १५०,१८] किसी भी जीव के शरीर में मरते समय जो ऐंठन या तनाव दिखते हैं।

[मैग्नेटिक एम्प्लीफायर-यंत्र : १५३,१२] आचार्य बसु द्वारा आविष्कृत एक यन्त्र जो चुम्बकीय शक्ति से वास्तविक रूप को करोड़ गुना कर दिखाता था।

[यन्त्र उद्भावनी शक्ति : २०५,१०] यंत्र बना सकने—नये-नये यंत्रों का आविष्कार कर सकने की शक्ति।

[रजतगिरिनिभ : १४०,२५] चांदी के पहाड़ जैसा।

[रवि बाबू की सप्ततितम जन्म वार्षिकी : २६३,१] आचार्य बसु ने रवि बाबू का सत्तरवां जन्म समारोह अत्यन्त उल्लास और उत्सवपूर्वक मनाने का महान उद्योग किया था। उस अवसर पर उन्होंने 'गोल्डेन बुक ऑफ टैगोर' छपवायी और उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए यह श्रद्धा-अर्घ स्वयं लिखा। इस क्रम में जो भी आयोजन हुए उन सब में आचार्य बसु का उत्साह और उल्लास ही प्राण-शक्ति का काम कर रहा था।

[रसिक नागर : २०,१७] 'रसिक' रस पूर्ण बातें करने वाले को कहते हैं किन्तु मसखरे, भांड़ या जोकर भी 'रसिक' कहे जाते हैं। 'नागर' शब्द का 'शहरी, ठग और चतुर' के रूप में बुरे अर्थ में प्रयोग है। कथा सन्दर्भ यह है कि भूखा 'महेश' सवेरे से बंधा हुआ था। उसे देखकर तर्करत्न महाशय गफूर को डांटने गये थे। लेकिन अपने भूखे बैल के लिए जब गफूर ने उनसे खड़ मांगा तो उसके अनुनय का उन्होंने अभिनय किया और उल्टा उसे ही 'रसिक नागर' कहा! वह भूखे बैल को उन से कुछ खड़ लेकर खिला देता तो उसकी ठगी और चतुराई होती! जब कि, स्वयं तर्करत्न महाशय बड़े शास्त्रज्ञ और गोभक्त थे! इन दो

शिष्ट-से शब्दों में उन महाशय ने गफूर को जो भद्दी गाली दी—केवल इतने से उनका पाखण्डपूर्ण निष्करुण चरित्र-चित्रण हो गया। यही कौशल शरत् बाबू को सारे कहानीकारों से विशिष्ट करता है।

[रानी रासमणि : ६, ७] बंगाल की अत्यन्त प्रसिद्ध धर्मप्राण महारानी जिन्होंने दक्षिणेश्वर में महाकाली का विख्यात मन्दिर बनवाया और परमहंसदेव श्रीरामकृष्ण को उसका पुजारी नियुक्त किया। उनका इसके कारण बहुत विरोध हुआ किन्तु वे अडिग रहीं। यहीं रामकृष्ण देव की अधिकतर लीलाएं हुईं। विवेकानन्द की दीक्षा भी यहीं हुई थी। जब रानी रासमणि पर किसी का बस नहीं चला तो लोगों ने 'स्वेच्छाचारिणी स्त्री' के रूप में उनके नाम का अपवाद स्वरूप प्रयोग करना शुरू कर दिया। फिर जिस किसी स्त्री को पुरुष लोग दबाना और सताना चाहते थे उसे 'रानी रासमणि' कह देते थे। बिन्दु के पागल पति को बिन्दु की साधारण थाली सोने की थाली दिखायी दी तो उसने बिन्दु को 'रानी रासमणि' समझा।

[रॉयल सोसाइटी, लन्दन : १९७,२६; २९१,१८ एवं २७२,८] यह इंगलैण्ड की सबसे पुरानी वैज्ञानिक संस्था है और यूरोप की सबसे पुरानी संस्थाओं में से एक। इसका पूरा नाम है 'रॉयल सोसाइटी ऑफ लन्दन फॉर इम्प्रूविंग नेचुरल नॉलेज' प्राकृतिक ज्ञान विकासार्थ लन्दन की राजकीय संस्था। इसकी विधिवत् स्थापना तो १६६० ई. में हुई किन्तु इसका एक नाभिक-सा छोटा अस्तित्व बहुत पहले से था। १६४५ ई. में भी इसकी साप्ताहिक गोष्ठियां हुआ करती थीं। 'ज्ञान सरिता में डुबकी लगाने वाले ऐसे सुयोग्य लोग जो प्राकृत दर्शन या मानवीय ज्ञान की अन्य शाखाओं के प्रति जिज्ञासु हैं—जिसे 'नया दर्शन' या 'प्रायोगिक दर्शन' कहा जाता है।' दार्शनिकों का यह सम्मेलन वही है जिसका राबर्ट बॉयल ने अपने १६४६-४७ के पत्रों में 'अदृश्य कॉलेज' कह कर उल्लेख किया है। पहले साप्ताहिक गोष्ठियां होती रहीं फिर २८ नवम्बर, १६६० को इस सोसाइटी की पहली पत्रिका प्रकाशित हुई। धीरे-धीरे लोगों में अधिक उत्साह जगा तो इसका विकास एक बहुत बड़ी संस्था के रूप में हो गया। सामान्यतः यह संस्था अपने मुख-पत्र में वैज्ञानिक संस्थाओं के अधिवेशनों में पढ़े गये शोध-पत्र नहीं प्रकाशित करती। किन्तु 'यांत्रिक या वैद्युतिक उद्दीपन से अकार्बनिक वस्तुओं की प्रतिक्रिया' वाला आचार्य बसु का शोध-पत्र इस सभा ने अपने नियमों के अपवाद स्वरूप स्वीकार कर लिया था। शर्त यही थी कि उस समय के जीव-वैज्ञानिकों को उस पर आपत्ति न हो। ऑक्सफोर्ड के सर वार्डन सैण्डर्सन और डॉक्टर वैलर दोनों आचार्य बसु के विरोधी हो गये। इसलिए उसका प्रकाशन स्थगित हो गया। किन्तु, आठ महीने बाद डॉक्टर वैलर ने उसे हू-ब-हू अपने नाम से छपवा दिया। वही डॉक्टर वैलर लीनियन सोसाइटी में आचार्य बसु के कट्टु विरोधी थे।

[रूपम ४११,१] श्री कोमल कोठारी और विजयदान देथा ने जोधपुर से इस नाम की एक पत्रिका प्रकाशित की थी। इस का पहला और अन्तिम अंक १५ अगस्त, १९५८ ई. को प्रकाशित हुआ। पृष्ठ ४१९ से ४३३ तक की सामग्री का प्रथम प्रकाशन उक्त रूपम में

ही हुआ था। इसके विषय में पृष्ठ ५०४-५०५ भी द्रष्टव्य है। 'साहित्य और समाज' के नाम से संकलित होकर ये लेख मार्च, १९६० में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुए थे।

[रोण्टजन किरणें : २६८,२७-२८] आज एक्सरे के नाम से चिकित्सा-विज्ञान के अत्यन्त उपयोगी साधन के रूप में जिसका उपयोग हो रहा है, उसका प्रारम्भिक नाम। ८ नवम्बर १८९५ को वर्जबर्ग यूनिवर्सिटी, जर्मनी के भौतिकी के प्रोफेसर विल्हेम कॉनराड रोण्टजन ने विद्युत चुम्बकीय विकिरण से ये किरणें प्राप्त करने का उपाय निकाल कर पेटेण्ट करा लिया। इस से न केवल चिकित्सा विज्ञान में बल्कि भौतिकी की विभिन्न शाखाओं और उद्योग में इतनी गतिविधियां उत्पन्न हुईं कि विख्यात इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका के २३वें खण्ड में पृष्ठ ८४२ से ८५८ तक इसका सुदीर्घ उल्लेख है। आचार्य वसु ने १८९४ ई. में ही इस विषय पर अपना कार्य पूरा कर लिया था। साधनों की अपर्याप्तता, देशी-विदेशी विघ्न-बाधाएं जिन्हें स्वचक्र-परचक्र रूपी भयंकर ईतियां कहना चाहिए—ऐसी प्रबल हो गयीं कि आचार्य वसु इस महान् आविष्कार के श्रेय से सर्वथा वंचित रह गये।

[रोम : २०२, १७] वर्त्तमान इताल्वी क्षेत्र। यहीं रोम की वह विख्यात सभ्यता विकसित हुई थी जिसके उत्तराधिकार पर आधुनिक यूरोप को बड़ा गर्व है। ईसा पूर्व ७५३ में इस सभ्यता की नींव पड़ी थी। इसे प्राचीन सभ्यताओं में सब से नयी भी कहा जा सकता है।

[लीनियन सोसाइटी, लन्दन : २५६, २७] यह संस्था स्वेडन के कारोलस लीनियस [१७०७-१७७८ ई.] नामक महान् वनस्पति शास्त्री के नाम पर स्थापित है। लीनियस आठ वर्ष की उम्र में ही 'नन्हें वनस्पति-शास्त्री' कहे जाने लगे थे। उन्होंने ही पेड़-पौधों को जातियों तथा वर्गों में विभाजित किया था। लीनियन सोसाइटी के पहले अध्यक्ष सर जे. ई. स्मिथ, लीनियस की विधवा से उनकी सारी किताबें और पौधों का समस्त संग्रह खरीद कर लन्दन ले आये। सर स्मिथ की वह निजी सम्पत्ति थी, अतः १८२८ ई. में उनके देहान्त के बाद सार्वजनिक चन्दा करके लीनियस महोदय का सारा संग्रह सोसाइटी के लिए खरीद लिया गया। तब से वह वहीं है।

जीव-वैज्ञानिकों के विरोध के कारण जब रॉयल सोसाइटी द्वारा आचार्य बसु का शोध-पत्र प्रकाशित न हो सका उन्हीं दिनों वे विभिन्न प्रकार के संकटों में घिरे हुए थे। न उनकी छुट्टी स्वीकार हो पा रही थी, न अन्य कोई योग्य निर्णय हो पा रहा था। उस समय कैम्ब्रिज के प्रोफेसर माइन्स, जो वनस्पति शास्त्री थे, अचानक उनकी सहायता के लिए आये। वे होरेस ब्राउन नामक वनस्पति शास्त्री और साउथ केनसिंग्टन कॉलेज के अध्यापक हाउपेस को साथ लेकर आचार्य बसु की प्रयोगशाला देखने आये। वे लोग आचार्य वसु के प्रयोग देख कर मुग्ध हो गये। उसी समय उन्होंने आचार्य वसु को राय दी कि रॉयल सोसाइटी यदि आपका शोध पत्र प्रकाशित नहीं कर रही है तो उसे लीनियन सोसाइटी के पास भेज दीजिये। उस वर्ष प्रोफेसर माइन्स लीनियन सोसाइटी के अध्यक्ष और प्रो. हाउपेस उसके मुख-पत्र के सम्पादक थे। प्रो. माइन्स ने ही आचार्य वसु को एक शोध-पत्र

लीनियन सोसाइटी में पढ़ने को आमंत्रित किया। उस में प्रो. माइन्स ने विशेषतः उन जीव विज्ञानवेत्ताओं को उपस्थित रहने के लिए आमन्त्रित किया था जो केवल अज्ञानवश प्रो. वसु का विरोध कर रहे थे। २० मार्च १९०२ ई. को आचार्य वसु ने अपने ऐतिहासिक भाषण में अपनी प्रत्येक स्थापना प्रयोगों द्वारा सिद्ध कर दिखायी। और कहा कि इस ज्ञान के लिए विरोध चाहे जैसा हो फिर भी वे सत्य से विमुख नहीं हो सकते। प्रत्यक्ष प्रयोग देखने के वाद उनका विरोध वड़ी सीमा तक शान्त हो गया। प्रोफेसर हाउपेस और माइन्स ने उनकी वहुत अधिक सम्मानपूर्वक प्रशंसा की।

[लेण्ट : ४७, १२] यूरोपीय ईसाइयों का पवित्र चालीसा व्रतोत्सव। 'ऐश' वुधवार से आरम्भ होकर यह व्रतोत्सव चालीस दिनों तक लगातार चलता है। विशेष रूप से उत्सव का काल वसन्त के आरम्भ में आता है जवकि दिन का परिमाण वढ़ने लगता है और रूस की भयंकर सर्दियों में कमी आने लगती है। इस समारोहपूर्ण पुनीतकाल में लोग रविवार को छोड़ कर प्रतिदिन व्रत-उपवास करते हैं और प्रायश्चित्त करते हैं। इस काल में आन्तरिक-वाह्य पूरी सफाई की जाती है ताकि सर्वथा निर्मल और पाप-भार मुक्त-होकर नया साल आरम्भ किया जाये। प्रस्तुत प्रसंग यह है कि दवाव में आकर अल्योशा ने उस्तिन्या से शादी की चर्चा तो फिर नहीं चलायी किन्तु उस मार्मिक चोट को भुला न सका। ठीक लेण्ट के दौरान उसे दुर्घटनाग्रस्त करा के पितामह तोलस्तोय ने यही व्यक्त किया है कि 'लेण्ट' की तथाकथित सफाई समाज में चल रही है किन्तु केवल स्वार्थवश नौकर और वार्वचिन के विवाह में जो वाधा उत्पन्न की जा रही है उसे पाप महसूस ही नहीं किया जा रहा है, यही जघन्यतम पाप सारे उपक्रम को विद्रूप वना देता है।

[वन-चाण्डाल : १५९, ९] इसका एक नाम टेलिग्राफिक प्लांट भी मिलता है। इसकी विशेषता यह है कि इसके वड़े पत्तों के साथ दो छोटे पत्ते भी होते हैं जो सदैव हिलते ही रहते हैं। इसका कारण आचार्य वसु ने यह ढूंढ़ा था कि अतिरिक्त शक्ति जव पौधा संचित कर लेता है तो पत्तों को गति देकर वही अतिरिक्त शक्ति व्यय कर देता है। पत्तों का यह हिलना इसी का द्योतक होता है। 'लज्जावती' और 'वन चाण्डाल' ये दोनों वनस्पतियां इसलिए उल्लेखनीय वन गयी हैं कि आचार्य वसु ने पौधों का जीवन प्रमाणित करने के लिए इनका ही उपयोग सवसे अधिक किया।

[वरुण : ४२३, १८ एवं ४४०, २०] वैदिक देवता। वैदिक काल में इनकी शक्ति वहुत वड़ी मानी जाती थी और उस समय के यह प्रधानतम देवों में से थे। सम्भवतः प्रारम्भिक मानव को भी पता चल गया था कि पृथ्वी एक जलग्रह है जिसका लगभग ८३ प्रतिशत अंश जल है और स्थल भाग केवल १७ प्रतिशत के लगभग है, अतः जल के देवता को प्रसन्न करना आवश्यक था। समुद्र यात्राओं का उन दिनों कम प्रचलन था किन्तु नदियां प्राचीन काल में मानव के आवागमन का प्रधान स्रोत थीं। अधिकतर मानवीय वस्तियां जल की सुविधा के विचार से नदियों के आस-पास ही वसी हुई थीं। इस कारणवश भी जल के देवता वरुण देव की प्रसन्नता वहुत आवश्यक थी। किन्तु परवर्ती काल में वरुण देव

की इतनी अधिक महत्ता नहीं रह गयी। अन्तिम काल आते-आते तो इन्हें भी एक दिक्पाल मात्र मान कर छोड़ दिया गया।

[वार्डन : सेण्डरसन : १९२, २९] आचार्य बसु के समय यह सर्वप्रधान जीवतत्त्वविद् माने जाते थे। अनेक प्रसंग देखने से ज्ञात होता है कि यह अपने समय के प्रभावशाली व्यक्ति थे और उन्हें आचार्य बसु से अकारण वैर हो गया था। आज उनकी चर्चा केवल इस कार्यवश की जा रही है कि उन्होंने बाधक बन कर आचार्य बसु के साथ परोक्ष रूप से महान् सहयोग किया था। बाधाएं हमारी क्षमताओं को जगा देती हैं।

[विंश शताब्दी पत्रिका : २२४, २६] इस के ३१ जुलाई १९०१ ई. [आषाढ़, १३०८ वंगाब्द] वाले अंक में नरहरिदास के नाम से रवि बाबू के काव्य ग्रन्थ 'नैवेद्य' की लम्बी समालोचना छपी थी। कहा जाता है कि ब्राह्म विद्यालय के प्रधानाचार्य ब्रह्मबान्धव उपाध्याय ने ही नरहरिदास के छद्म नाम से वह समालोचना लिखी थी। इन्हीं उपाध्याय ने सर्व प्रथम रवि बाबू को 'गुरुदेव' कहा था। यह सम्बोधन बाद में उनके लिए बहुत प्रचलित हो गया। उस समालोचना का सार यह था : 'नैवेद्य मानव-हृदय का विराट सत्ता के प्रति समर्पित भाव है। इस में सुख-दुःख, संघर्ष, सफलता, असफलता, आकांक्षा, मिलनेच्छा, राष्ट्रीयता आदि मानव-मन के सभी उच्छ्‌वासों का आत्म-समर्पण है। कविताएं धर्म या सम्प्रदाय-विशेष से सम्बद्ध नहीं हैं। कवि ने उपनिषद् की वाणी का पुनः अवतरण किया है। उस विराट् सत्ता तक पहुंचने के ज्ञान और भक्ति के दोनों मार्गों का निचोड़ है, यह नैवेद्य। यह ऐसी वास्तविकता के गीत हैं जिस से सम्बन्धों की छाया आलोक में बदल जाती है। इसके सॉनेट्स जाज्वल्यमान मोती की तरह हैं जो विराट् की असीम अनुकम्पा से जगमगा रहे हैं।'

[विश्व-बाउल : ३४३, ८] बंगाल के चैतन्य मार्गी, असाम्प्रदायिक बाउल सन्तों की चर्चा पृष्ठ ११४-१५ के प्रसंगों में हो चुकी। यहां रवि बाबू ने वृक्षों को ही विश्व-बाउल की वीणा कह कर वृक्षों और बाउलों—-दोनों के प्रति अपने गहरे सम्मान को अभिव्यक्ति दी है।

[वीनस गाछ : १८७, ११] यह एक कीटभक्षी पौधा है। इसके पत्ते खुले रहते हैं, जैसे ही कीड़ा सम्पर्क में आया होंठों की तरह बन्द हो जाते हैं। वृक्षों के पास पाकस्थली का होना इस से प्रमाणित होता है। साथ ही साबित होता है कि वृक्ष सजीव हैं।

[शाखा : पृष्ठ आठ] निरुक्तकार महर्षि यास्क ने 'खे शयति इति शाखा।'—'जो आकाश में शयन करे वह शाखा' इस रूप में इस शब्द की परिभाषा दी है। 'रूंख' के साथ इस अर्थ का सामंजस्य देख कर—-भाव की दृष्टि से ; विषय सूची के बदले हमने यह शब्द अपनाया है।

[शान्ति निकेतन : ४००, ३०] पहले यह बोलपुर के नाम से ही जाना जाता था, बंगाल का एक उपेक्षित-सा गांव था। कहते हैं कि रवि बाबू के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर को

यहीं आत्मज्ञान अथवा शान्ति मिली थी, इसीलिए इस स्थान पर रवि वावू ने शान्ति-निकेतन की स्थापना की। शान्ति निकेतन को रवि वावू प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं परम्परा के अनुसार एक गुरुकुल वनाना चाहते थे। यहां शाल वृक्षों की छाया में लता-गुल्मों के वीच, कुंजों और वीथिकाओं में, आरण्यकों और उपनिषदों के युग की तरह शिक्षा-दीक्षा चलती थी। यहीं स्वयं रवि वावू ने प्रत्येक ऋतु के अनुसार आनन्द, उल्लास-पूर्वक, संगीतमय जीवन वनाने और प्रकृति और मानव के जीवन में समस्वरता लाने का आयोजन किया था। इसके साथ-साथ ज्ञान-विज्ञान की प्राचीन-आधुनिक शिक्षा का भी प्रवन्ध था। अव यह शान्ति निकेतन, विश्वभारती विश्वविद्यालय के रूप में सम्पूर्ण विश्व को रवि वावू की जीवन-दृष्टि से अवगत करा रहा है। इसके चप्पे-चप्पे पर रवि वावू का प्रकृति-प्रेम, उनकी काव्य-प्रेरणा और कला-निरीक्षण के प्रमाण विखरे पड़े हैं। यहां के लता-पल्लवों के मध्य उन्होंने विराट्-सत्ता से अपनी वीणा के सुर मिलाये थे। यहीं ऊषा का सौन्दर्य और गोधूलि का रंग उनकी वाणी में घुला था। आज यह विश्व भर के ज्ञान-पिपासुओं, साहित्य-मर्मज्ञों, संगीत-तलस्पर्शियों के लिए तीर्थ स्वरूप है। विश्व की विभूतियों में से जो भी भारत आता है वह एक वार यहां अपनी श्रद्धांजलि अवश्य अर्पित करता है।

[शुभ्र-तुषार प्रान्तर : १५५, ५] यूरोप के वे प्रदेश जहां वेहद वर्फ गिरती है और जहां प्रथम विश्व युद्ध के दौरान सभी कोटि के भारतीय सैनिकों ने जाकर प्राण दिये थे।

[श्रीक्षेत्र / जगन्नाथ का क्षेत्र १,५ ; ३६५,११ एवं ४५२,१२] श्री जगन्नाथपुरी [उड़ीसा], सुप्रसिद्ध वैष्णव तीर्थ—उसका केवल मुख्य मन्दिर ही नहीं, आस-पास का सारा क्षेत्र। स्त्रियों के लिए 'श्रीक्षेत्र' [जगज्जननी महालक्ष्मी का क्षेत्र] इसका नाम है, और पुरुषों के लिए जगन्नाथ क्षेत्र। भारतीय भाषाओं की यह अद्भुत विशेषता है कि स्त्रियों की वोलचाल के शब्द और मुहावरे, वस्तुओं के नाम आदि पुरुषों के शब्दों से अलग, और विशेषत: सुमधुर हैं। वंगाल वैसे तो शाक्त क्षेत्र है। अव भी वंगालियों में महाशक्ति के प्रति भक्ति में कोई कमी नहीं आयी है। यह चमत्कार चैतन्य देव का है कि उन्होने शक्ति क्षेत्र में वैष्णवधर्म की भक्ति का अश्वत्थ खड़ा कर भागवत् धर्म के प्रति गहरी आस्था जगा दी। इस तीर्थ में जाति, वर्ग, देश आदि के आधार पर मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद नहीं माना जाता। इसी आधार पर रवि वावू ने साहित्य को जगन्नाथ का क्षेत्र कहा था। साहित्य विशालतर अर्थ में जगन्नाथ क्षेत्र है, क्योंकि यहां जाति-वर्ग आदि की कौन कहे—देश, धर्म, भाषा, संस्कृति किसी प्रकार का भेद नहीं। जिस तरह जगन्नाथ क्षेत्र के पवित्र तीर्थ से हर सच्चे हार्दिक भक्त को उसका इष्ट मिलता है, उसी प्रकार साहित्य क्षेत्र में रसग्राही, हार्दिक एवं संवेदनशील व्यक्ति को देश-काल की सारी वाधाएं लांघ कर पूर्ण रस मिलता है।

[श्रीचरणकमलेषु : १,१] प्रस्तुत प्रथम सम्भार में प्राचीन परम्परागत शैली के छह सम्वोधन प्रयुक्त या उल्लिखित हैं : १. श्रीचरणकमलेषु [पृष्ठ १, प्रथम पंक्ति], २. श्रद्धास्पदेषु [पृष्ठ २४०, मूल पत्र पंक्ति १८], ३. कविवरेषु। पहला सम्वोधन कुटुम्ब परि-

वार के सभी श्रेष्ठजन, गुरुजन—माता, पिता, पति आदि के लिए है। दूसरा हर प्रकार के श्रेष्ठ-लोगों के लिए। तीसरा सम्बोधन केवल किन्हीं बड़े कवि के लिए ही उचित है। पहले सम्बोधन का भाव है 'श्रीमान् के पवित्र चरणों में', दूसरे का—'श्रद्धेय की सेवा में', तीसरे का 'कवियों में श्रेष्ठ की सेवा में,' ४. प्रियवरेषु [पृष्ठ २१३, २१४, २१५ की प्रथम पंक्तियां] ५. सुहृद्वरेषु [पृ. २४५ ,२४६ प्रथम पंक्तियां] ये दोनों सम्बोधन सम-कोटि के मित्रजन के लिए हैं। इनके भाव हैं: 'प्रियजन में प्रधान की सेवा में' तथा 'मित्रों में प्रधान की सेवा में'। ६. माननीयासु [पृष्ठ २३७, २३८, २३९, २४० की प्रथम पंक्तियां] यह सम्बोधन विशेषत: मान्य महिलाओं के लिए है। पत्र में अधिकरण कारक की सप्तमी विभक्ति का प्रयोग व्याकरण-सम्मत है। नव्य-न्याय की तर्क प्रवण भूमि—बंगाल और मिथिला की संस्कृतियों में—बस, 'में' लिखकर छोड़ देना, 'प्रणाम' आदि अभिवादन के शब्द न लिखना दो कारणों से है। पहला यह कि 'श्री चरणों में यह पत्र प्रेषित है' का भाव पद में कह दिया गया और स्वभावत: प्रणति हो गयी। अभिवादन का विधान केवल 'प्रणाम' शब्द बोल देना नहीं है, सचमुच का नमन, झुकने की क्रिया अपेक्षित है। मात्र लिख देने से क्रिया सम्पन्न नहीं होती तो वचन के विरुद्ध आचरण से 'वदतो व्याघात' दोष होता है। परम्परा के आग्रही सभी विद्वानों के यहां, विशेषत: बंगाल और मिथिलांचल में अब भी इस रीति का पालन दिख जाता है। वैसे नयी पीढ़ी ने सारी परम्पराओं की तरह इसका भी परित्याग कर दिया है।

[षड् ऋतु : १२,३०-३१] अधिकतर लोग तीन, कुछ लोग चार ऋतुएं जानते-मानते हैं किन्तु भारतीय मत से ऋतुएं छह हैं। घटते जाड़े और बढ़ती गर्मी का मौसम वसन्त, फाल्गुन एवं चैत्र मासों में; पूरी गर्मी का मौसम वैशाख एवं ज्येष्ठ मासों में, वर्षा ऋतु आषाढ़-श्रावण में, वर्षा और ग्रीष्म के संयुक्त प्रभाव वाली शरत् ऋतु भाद्रपद-अश्विन में; आरम्भिक जाड़े की हेमन्त ऋतु कार्त्तिक-मार्गशीर्ष में, पौष-माघ पूर्ण शीत की ऋतु अर्थात् शिशिर। प्रसंग केवल इतना है कि छहों ऋतुओं की विलक्षणताएं और विशेषताएं होती हैं—किन्तु घर की चहारदीवारियों में कैद भोगनेवाली पर्दानशीन औरतों को इनकी खबर तक नहीं होती। वे स्वयं तो क्या, उनकी दृष्टि तक घर की चौखट नहीं लांघ पाती!

[सन्ध्या : ४३२,१९ एवं ४४०,२६] एक वैदिक देवी। वैदिक कविता ने सूर्य और ऊषा तथा सूर्य और सन्ध्या को आधार मान कर उड़ानें भरी हैं; निष्कर्ष यह निकाला है कि इनका मिलन क्षणिक ही हो पाता है, फिर वियोग हो जाता है। परवर्ती काल में सन्ध्या का महत्त्व दूसरी ओर झुक कर अधिक बौद्धिक हो गया। अब सन्ध्या 'सन्धि काल' दिन और रात के मिलन-बिन्दुओं को कहने लगे। पहले सन्ध्याएं त्रिकाल होती थीं; फिर दो-वार का ही रिवाज रह गया। सन्ध्या काल में प्राणायाम-पूर्वक गायत्री जाप, शरीर-शुद्धि आदि दैनिक कर्मों में सम्मिलित हो गये।

[संपूरण -१,२,३ ; ४०९-५८९] मूल पाठ, संपूरण और परिशिष्ट इन तीन खण्डों में 'रूंख' का यह प्रथम संभार बंटा हुआ है। 'संपूरण' मूल-पाठ पर प्रकाश डालकर उसकी

सम्यक् पूर्ति करता है।

[संवोधि : ३६२,३४] सम्यक् वोध हो जाना। योग शास्त्र में इसका पारिभाषिक समाधि है। इसका भी अर्थ बुद्धि का सम्यक् स्थिति में आ जाना ही है। 'समाधि' शब्द में लम्वा काल वीत जाने के कारण वहुतेरे विकार आ गये। अव तो मृतकों के स्मारक तक को समाधि कहने लगे। 'सम्वोधि' अधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति है। सम्यक् तत्त्व पर वौद्ध दर्शन में वहुत वल दिया गया है। सम्यक् का अर्थ ही है, पूर्ण सन्तुलन की स्थिति। न आवश्यकता से कुछ भी कम, न कुछ भी अधिक, जव सन्तुलन की स्थिति आन्तरिक रूप से प्राप्त हो जाती है तभी सम्वोधि घटित मानी जाती है।

[सतोरी : ३६२,३५] सम्वोधि का पर्याय था। फिर वौद्ध शास्त्रकारों ने दोनों में सूक्ष्म अन्तर स्थापित किया। 'सतोरी' एक झलक की तरह आती है किन्तु उस से विचलन भी होता है। सम्वोधि हो जाने के वाद फिर विचलन का प्रश्न नहीं होता। सम्वोधि के लिए पूरी तरह दिन निकल आने की उपमा दी गयी है; सतोरी के लिए रात के अन्तिम क्षणों की आंख-मिचौनी की। कुछ देर प्रकाश और अन्धकार में से, कभी अन्धकार फिर छा जाता प्रतीत होता है। 'सतोरी' की पहली झलक मिलने के वाद मन के पुराने संस्कार—भय और लोभ का संसार पुनः पूरे वेग से जागता है। सम्वोधि के वाद इसका स्थान नहीं होता। मन के यन्त्र का स्विच दिखने लगता है। इसीलिए सम्वोधि प्राप्त करके अपना आनन्द वांटने के लिए सद्गुरु फिर संसार में आते हैं।

[समताल यन्त्र : १५६,६] वताया जा चुका है कि हृदय गति के ताल को जिस तरह इलेक्ट्रो कार्डियोग्राफ़ रेखाओं के रूप में अंकित कर लेता है उसी प्रकार वृक्ष की प्रतिक्रियाएं अभिलिखित कर लेने के लिए आचार्य वसु ने जो प्रारम्भिक यन्त्र वनाया था उसका नाम उन्होंने समताल यन्त्र दिया था। इसका भी उतना ही विवरण उपलब्ध है जितना आचार्य वसु अपने लेख में दे चुके हैं। अधिक कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है।

[समोवार : ४४,८] चाय वनाने का एक पात्र। उसके सवसे निचले हिस्से में आग दहकाने का प्रवन्ध होता है। उसके ऊपर पानी खौलाने का। ऊपरी हिस्से से सम्वद्ध टोंटी होती है जिस से प्याले में चाय निकाल ली जाती है। ठण्डे देशों में समोवार का सदा गर्म रहना जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। प्रस्तुत प्रसंग में अल्योशा की योग्यता प्रदर्शित की गयी है। जिन कामों में वह व्यतिरेक न होने देता था उन में से एक है समोवार को सदा जगाये रखना, ताकि जव आवश्यकता हो तव चाय मिल सके।

['सरस्वती' हिन्दी मासिक : २२४,३२] आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित और इण्डियन प्रेस, इलाहावाद द्वारा प्रकाशित हिन्दी की युग-प्रवर्त्तक पत्रिका। वताने की आवश्यकता नहीं कि 'सरस्वती' के प्रकाशन से 'भारतेन्दु युग' का अन्त और 'द्विवेदी युग' का आरम्भ माना जाता है। रवि वावू की कहानी 'मुक्ति का उपाय' अनूदित होकर सरस्वती के अगस्त, १६०१ ई. के अंक में प्रकाशित हुई थी। रवि वावू ने स्वयं उसे पढ़ा

था और अनुवाद से सन्तुष्ट थे कि कहीं भी रस-भंग नहीं होता। इसी वर्ष सरस्वती का प्रकाशन आरम्भ हुआ था अतः वह अंक आरम्भिक ही होगा।

[सर्कुलर रोड स्थित छोटी बैठक : २२६,१६-२०] विदेश जाने के पहले आचार्य बसु कलकत्ते के सर्कुलर रोड पर ही रहते थे। वहां एक छोटी बैठक थी जिस में दोनों मित्र मिलते और 'मछली के झोल' का भी रसास्वादन करते थे। रवि बाबू बीते दिनों का प्रतिस्मरण कर रहे हैं। रवि बाबू ने यहां बैठ कर न जाने कौन-कौन-सी कविताएं और कहानियां आचार्य वसु को सुनायी थीं और आचार्य ने भी न जाने यहां बैठ कर कैसे-कैसे सम्भावित आविष्कारों और शोधों के स्वप्न अपने प्रिय मित्र को सुनाये होंगे। यदि हम जागरित लोग होते तो सर्कुलर रोड का वह मकान एक वैज्ञानिक-सांस्कृतिक तीर्थ बन चुका होता। अब तो सर्कुलर रोड पर पूछने से भी शायद ही कोई बता सके कि वह छोटी बैठक कौन-सी थी।

[सांची : ४३४,२०] विदिशा से छह मील [दस कि. मी.] की दूरी पर स्थित पहाड़ पर कई स्तूप हैं इसीलिए महावंश में इसे 'चेतीयगिरि'—'स्तूप वाला पहाड़' कहा है। अशोक काल में [ईसा पूर्व ३००] यहां के प्रथम निर्माण हुए होंगे फिर पुष्यमित्र शुंग के बेटे अग्निमित्र शुंग ने दूसरी सदी ईसा पूर्व में भी यहां निर्माण-विस्तार कराये। इस स्थान पर पहले अशोक राज्यपाल के रूप में रह चुका था। राजा हुआ तो वह यहां फिर आया। उसने श्रेष्ठी की बेटी से विवाह किया। भगवान् बुद्ध के जीवन से सांची का कोई सम्बन्ध नहीं था। फिर भी उनके आदेश का पालन कर यहां स्तूप बनवाने का कारण इसका एक प्रकार के चौराहे पर पड़ना है। पाटलिपुत्र, कौशाम्बी, उज्जैन और सांची होता हुआ यह मार्ग पश्चिमी समुद्र की बन्दरगाह भड़ौंच [गुजरात] तक जाता था। मथुरा से उज्जैन जाने के मार्ग में भी यह पड़ता है। सांची की वेदी पर शुंगकाल बोधक अभिलेख हैं। इस पर राजाओं के नाम भी अंकित हैं और विभिन्न दानियों के भी। अर्थात् यह बहुत बड़ा सामूहिक प्रयास है। इसकी वेदी बहुत सादा है। किन्तु इसके तोरण अत्यन्त सुसज्जित हैं। अलग-अलग तोरण विभिन्न काल में बने। षड्दन्त हाथी पर छत्र [बुद्ध का प्रतीक] और षड्दन्त जातक की पूरी कथा अत्यन्त सजीव रूप से खुदी है। इसके स्तूप पर रामग्राम की स्तूप पूजा के लिए हाथी पर अशोक का जाना दिखाया गया है। इस से मौर्य काल में ही स्तूप पूजा आरम्भ हो जाने का प्रमाण मिला। शातकर्णि के समय दक्षिण द्वार का तोरण बना, ऐसा उस पर अभिलेख है। सांची में सदियों उत्साहपूर्वक निर्माण कार्य चलता रहा। सांची की वेदी अलंकरणहीन है और उस पर दानकर्त्ताओं के नामोल्लेख हैं लेकिन तोरण अत्यन्त सुन्दर और सुअलंकृत हैं। बुद्ध भगवान के जन्म के चारों प्रतीक—माया देवी का सपना, कमल, कमल पर आसीन देवी और गजलक्ष्मी—इस पर सुन्दरता से अंकित हैं। वृक्ष बुद्ध का ही प्रतीक है। महाकपि जातक चित्रित करते समय कपि के पुल बने शरीर को अधिक महत्त्व दिया गया है। इस प्रकार सांची का स्तूप असाधारण महत्त्व का और यन्त्र-पूर्व मानव के दिव्य कौशल का सुन्दर प्रतीक है।

[साड़ा : १४६, १८] इस शब्द का सामान्य वंग भाषा में अर्थ है 'प्रतिक्रिया'। किन्तु आचार्य वसु ने इसका उपयोग प्रतिक्रिया करने की विधि या ढंग के रूप में किया है। इसीलिए उनके अनुसार 'ससाड़' और 'असाड़' दो प्रकार के वृक्ष होते हैं। स-साड़ वृक्षों में लज्जावती कोटि के वृक्ष हैं। तात्पर्य यह है कि ये अत्यन्त शीघ्रता से प्रतिक्रिया करते हैं। असाड़ वृक्ष वे हैं जो कठिनाई से प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। आचार्य वसु ने वैद्युतिक उपाय से इस वाधा को दूर कर यह स्थिति उत्पन्न की कि सभी पेड़ साड़ा देते हैं। आचार्य वसु ने वृक्षों की प्राणवत्ता तो सन्देह की सीमा से वाहर प्रमाणित कर ही दी, किन्तु उनका विचार था कि धातु और यन्त्र भी 'साड़ा' देते हैं। उन्होंने 'साड़ा-लिपि' अर्थात् सांड़ा देने का संकेत जो अभिलिखित कराया तो पता चला कि यन्त्र भी थक जाते हैं। उनकी 'साड़ा-लिपि' में यह तथ्य दिखाई देता है। विश्राम के वाद क्लान्ति दूर होने पर यन्त्र फिर पूर्ववत साड़ा देने लगे। क्षुद्र साड़ा, भारी साड़ा, पूरा साड़ा, वृहत्तर साड़ा, सांच-झूठ के भिन्न-भिन्न साड़े, स्वीकृति-अस्वीकृति के साड़े, हिल कर साड़ा देना, पत्ते हिलाकर साड़ा देना, वाह्य आघात जनित साड़ा, उत्तेजित अवस्था में लम्वा साड़ा, विमर्ष अवस्था का छोटा-सा साड़ा, मुमूर्षु का एक दीर्घ और फिर लुप्त साड़ा—अन्तिम प्रकाण्ड साड़ा देकर मर जाना—साड़ों के इतने रूप चर्चा में आये हैं। मृत्यु के वाद किसी भी प्रकार का साड़ा नहीं मिलता। 'साड़ा' लिखने के यन्त्र को समताल यन्त्र कहते हैं।

[साही : १००,१०] चूहा और गिलहरी जैसा—सामान्य चूहों से वहुत वड़ा किन्तु विल्लियों-खरगोशों मे छोटा एक जन्तु। इसके सारे शरीर पर रोएं की जगह पर कांटे होते हैं। तीखे-तच्च, जहरीले भी। खतरा देख कर साही मुंह नीचे मोड़ कर एक गेंद की तरह शरीर को गोल कर लेती है। उसके सारे रोयें खड़े होकर उसकी चारों ओर से रक्षा करते हैं। अव जो जीव भी उस पर आक्रमण करता है उसकी ही जान जाती है, साही को कभी चोट नहीं पहुंचती। प्रस्तुत प्रसंग में—वाईस नम्वर को वुलाते समय नर्स को प्रतीक्षा थी नायक की—आ गया वूढ़ा विश्नोई। 'उसका उपचार करते समय मानो नर्स के मन में साही दुवक गयी हो।' इस अभिव्यक्ति का भाव यह है कि उसे संकोच, भय, आघात और प्रतिकार के चारों आवेगों ने एक साथ घेर लिया। 'साही मन में दुवके' तो आत्मनिरीक्षण करना चाहिए—अन्यथा इसका भाव नहीं समझा जा सकता।

[सिरोपाव : १७, ६] राजा की आज्ञा से सर की पगड़ी से लेकर पांव के मोज़ों तक जो पांचों टूक वस्त्र किसी सेवा के पुरस्कार एवं राज-मान्यता के रूप में मिलते थे—ख़िलअत। सिरोपाव में पगड़ी या साफा ; अचकन या शेरवानी, अंगरखे या कुर्त्ते ; पाजामा या धोती ; और मोजे दिये जाते थे। यह खिलअत पुरस्कार पाने वाले की हस्ती के अनुसार नहीं, बल्कि राजा की हैसियत के अनुसार होती थी। इसलिए ख़िलअत अधिकतर वहुमूल्य, सोने-चांदी का काम की हुई और रत्नजटित तक होती थी। सिरोपाव जिसको मिले उसे कुछ पद, पदवी, जागीर आदि भी मिले—यह तो अनिवार्य नहीं था लेकिन पद, पदवी, जागीर आदि जव मिलते थे तव सिरोपाव भी अवश्य मिलता था।

[सीज़र जिस नाव पर सवार हो, वह नाव क्या कभी डूव सकती है : २१६, ४ एवं २५०, ४] इस वाक्य में संकेत विख्यात रूमी नायक जूलियस सीज़र की अपोलिना की घटना की ओर है। सीज़र के साथ थोड़ी-सी सेना ही थी। शत्रु प्रवल था। यह देख कर सीज़र ने एक दुस्साहसिक योजना वनायी और गुलाम के-से नगण्य वेश में जहाज पर जा चढ़ा। रात में अचानक तूफान आ गया और नाव के आगे वढ़ने की कोई सम्भावना ही न रही। जहाज के मालिक ने जहाज वापस लौटाने का आदेश दिया। उसी समय सीज़र उसके सामने अपने असली रूप में प्रकट हो गया। मालिक उसे देख कर वहुत घवराया। उस समय उपर्युक्त वाक्य सीज़र ने कहा और नाव के मालिक को साहस दिलाया। नाव नहीं डूवी। सीज़र उस पार वाली अपनी विशाल सेना लेकर शत्रुओं को परास्त करने में सफल हुआ—रवि वावू ने इसी घटना की ओर संकेत कर आचार्य वसु का उत्साह वढ़ाया है। आचार्य वसु ने [२५०, ४] स्वयं को सीज़र जैसा महाप्रतापी मानने से इनकार किया। किन्तु एक प्रकार से स्वयं को उस से अधिक भाग्यवान मान लिया। सीज़र के पेट में व्रूटस ने छुरा मारा तो वह नहीं उवर सका किन्तु तीन डॉक्टर डेढ़ घण्टे तक आचार्य वसु के पेट के प्रति मनमानी करते रहे फिर भी वे वच गये।

[सूर्य : ४२३, १८ ; ४४०, २६] वैदिक देवता ; कदाचित विश्व की सभी आदिम जातियों ने देवत्व के प्रथम दर्शन उन्हीं में किये थे। संस्कृत भाषा में उनके ३७ नामों की चर्चा विख्यात है। एक टीकाकार ने उनमें १७ नाम और जोड़े हैं। आर्य धर्म का आधार मन्त्र सावित्री, जो सम्भवत: गायित्री छन्द की पहली रचना होने के कारण लोक में 'गायत्री मन्त्र' के नाम से अधिक जाना जाता है—इन देवता को सारी वुद्धि और समस्त ज्ञान का मूल स्रोत कहता है। आधुनिक विज्ञान भी सौर ऊर्जा को जिस ढंग से देख रहा है उस से यही प्रमाणित होता है कि हमारे आस-पास जो कुछ प्राणवान है, सव सूर्य के कारण ही है। सूर्य ही आत्मा है, शास्त्रों का वचन है। इन सविता देव की प्रतिष्ठा कभी घटी नहीं, वल्कि वढ़ती गयी है। पात्र-कुपात्र विना विचारे वे सवको प्रकाश और ऊर्जा लुटाते हैं। उन्हें यम और शनि का पिता माना जाता है। पुराणों और लोक-कथाओं में उनका जितना वर्णन है उतना किसी का नहीं है। मिस्र, मेसोपोटामिया-काल्दिया, जापान, चीन—जहां भी मनुष्य ने सोचा है, सवसे पहले दिव्य लक्षण सूर्य में ही दिखे हैं।

[सेमुल : १४५, ७] वांग्ला, शाल्मलि संस्कृत, पौर्वात्य खण्डों में 'सेमल' के नाम से विख्यात एक सघन वृक्ष, जिसके फूल लाल होते हैं और जिसके फलों से अत्यन्त नर्म रूई निकलती है किन्तु इसके रेशे लम्वे नहीं होते इसीलिए सेमल की रूई का उद्योग में कोई मूल्य नहीं। इसके वीज प्रकृति का एक आश्चर्य हैं। वीज के चारों ओर रूई की वारीक किरणें सी होती हैं जो इसके वीजों को आसानी से कहीं भी उड़ा ले जाती हैं।

[सोम : ४२३, १९ ; ४४०, २६] वैदिक देवता। चन्द्रमा। इसे मन का प्रतीक माना जाता है। यह संस्कृत में असंख्य नामों वाला है। २० नाम वहुत विख्यात हैं। धरती पर औषधियां और जड़ी-वूटियां इसी के प्रभाववश मानी जाती हैं। इसकी प्रतिष्ठा भी विश्व

की कई प्राचीन सभ्यताओं में है। इसे भी पुराण कथाओं और लोक-कथाओं के साथ कवि कल्पनाओं का सवसे अधिक विषय वनाया गया है। विज्ञान ने भी १९५७ ई. में अपने अन्तरिक्ष युग का आरम्भ कर के सवसे पहले सोम-देव को ही लक्ष्य वनाया है। सोम नामक दिव्य औषधि सभी प्राचीन ऋषियों और देवताओं की प्रिय थी। सोम-पान के अधिकारी हाने-न-होने की वहस की भी एकाधिक कहानियां हैं।

[स्पर्शमणि : १४८, २] वह पौराणिक, काल्पनिक मणि जिसके स्पर्श मात्र से कोई भी वस्तु स्वर्ण में परिणत हो जाये। प्रस्तुत प्रसंग में 'स्पर्शमणि' मां की ममता, उसके वात्सल्य और दुलार को कहा गया है।

[स्पेक्ट्रॉस्कोप : १२०, २०,] किरणों के वर्णक्रम नापने का यन्त्र—स्पेक्ट्रमदर्शी। यह यन्त्र सूर्य की किरण के सातों रंगों को अलग-अलग कर लेता है फिर दृश्य में किस रंग का अनुपात क्या है, यह नापता है। यहां प्रसंग यह है कि मनुष्य की आंखें समग्र को देखती हैं। एक-एक वस्तु को अलग-अलग कर नहीं देखतीं।

[स्वयं अपना दीपक जलाना है, दीपक वनाना है : ३६०, १२] इस वचन का आधार भगवान् वुद्ध का अन्तिम सन्देश है। जव उनके सभी शिष्यों ने अन्त में पूछा : 'भन्ते, आप हमें अन्तिम सन्देश क्या देते हैं ?' तो भगवान् ने आंखें खोलीं, मुस्कराये और कहा : 'अप्प दीपो भव !' स्वयं ही अपने दीप हो जाओ। शास्ता के इसी वहुमूल्य वचन के आधार पर सम्पूर्ण जेन पद्धति विकसित हुई।

[हण्टर साहब की प्रणाली : १६२, २] अंग्रेजों ने फोनेटिक लिपि के आविष्कार और प्रचार के पहले हर देश की, हर भाषा की नामावली आदि को रोमन लिपि में लिखने का प्रयास किया। आरम्भ में उन्होंने लिप्यन्तरण के सिद्धान्त स्थिर किये जिनके सहारे काम चला। संस्कृत, बांग्ला आदि भारतीय भाषाओं के लिप्यन्तरण की जो विधि थी उसे तत्कालीन हण्टर कमीशन के अध्यक्ष मिस्टर हण्टर ने निर्धारित किया, अतः उसे हण्टर प्रणाली कहते थे। यह और ऐसी सारी कामचलाऊ विधियां बिल्कुल व्यर्थ पायी गयीं। अन्ततः अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ध्वन्यात्मक वर्णमाला का आविष्कार किया गया और अब अंग्रेज़ी आदि भाषाओं का उच्चारण भी फ़ोनेटिक विधि से ही समझाया जाता है। फ़ोनेटिक विधि सीखना अव सब के लिए अनिवार्य है। हण्टर विधि के कारण ही आचार्य वसु को अपने यन्त्रों के नाम अपनी इच्छा के विरुद्ध रखने पड़े।

[हमारे पूर्वी बंगाल का भोजन : २, ३] संसार-भर की स्त्रियां मायके की निन्दा सुन कर 'आहत का साड़' देती हैं। मृणाल ने भी अपने पत्र में इसका उल्लेख इसी आशय से किया है। वैसे, हर व्यक्ति, परिवार, कुल, जाति, वर्ग, प्रान्त, देश में स्वयं को सर्वोत्कृष्ट और शेष समस्त विश्व को हेय और नगण्य मानने की धारणा होती है, जो और कुछ नहीं, केवल अहंकार का प्रतिफलन है। वैसे स्थानीय वोल-चाल, खान-पान, आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज में कुछ-न-कुछ भेद होता ही है। कुछ लोग इस विविधता का आनन्द लेते हैं,

कुछ अपनी ही हर बात को श्रेष्ठ मान कर प्रत्येक विभिन्नता को अप्रिय समझते हैं। किन्तु, किसी को विवश समझकर हंसी उड़ाना उचित नहीं। हां, तो पूर्वी बंगाल में मिर्च मसालों का व्यवहार अधिक होता था और उनकी पाक-प्रक्रिया पश्चिमी बंगाल वालों से कुछ भिन्न थी, अतः इधरवालों के लिए उनका भोजन कुछ अरुचिकर होता था। मजाक के रिश्तों के आधार पर ऐसी बातों पर हंसी-विनोद की परिपाटी हर जगह है। किन्तु, जिस किसी के पास मृणाल जैसी संवेदनशीलता होती है, उसे तो आहत होना ही पड़ता है।

[हस्ताक्षर में 'श्री' : २१३, अन्तिम पंक्ति] भारत का पुराना शिष्टाचार था कि अपना, पत्नी का, ज्येष्ठ सन्तान का, गुरुजन का और अतिकृपण व्यक्ति का नाम न लिया जाये। अर्थात् यदि ये नाम लेने की आवश्यकता ही पड़ जाये तो इन में कुछ ऐसा अवश्य जोड़ दिया जाय जिस से अभिज्ञान में तो बाधा न पड़े, किन्तु निषिद्ध-नामोच्चार का दोष भी न लगे। इसी आधार पर अपने नाम को 'श्री'युक्त किया जाता था। रवि बाबू और आचार्य बसु दोनों ने ही गहरी आत्मीयता होने के पूर्व तक तो अपने नाम में श्री जोड़कर और बाद में उसे अत्यन्त संक्षिप्त कर यह नियम निभाया है। अब विदेशी प्रभाववश यह समझा जाता है कि श्री केवल दूसरों के नाम के साथ लगाना चाहिए, अपने नाम को श्रीहीन ही रखना शिष्टाचार है। ऐसी समझ परम्परा के अभिज्ञान की कमी से है। आज भी बंगाल और मिथिलांचल में इस परम्परा के नमूने सजीव मिलते हैं।

[हार्ज : १४६, १] हाइनरिख रुडाल्फ हर्ज नामक जर्मन वैज्ञानिक जिन्होंने रेडियो तरंगों के प्रेषण एवं ग्रहण-विषय का सूत्रपात किया। १८८३ ई. में जब वे किएल गये तो उन्हें मैक्सवेल के विद्युत् चुम्बकीय नियम पर काम करने का अवसर मिला। १८८५-८६ के बीच अदृश्य किरणों के ऐसे सूत्र उन्हें मिले जिस से उन्हें ख्याति मिल गयी। केवल ३७ वर्ष की आयु में वह चल बसे। जिस वर्ष उनका देहान्त हुआ—१८९४ ई. में, उसी वर्ष आचार्य बसु ने उनके कार्य का अगला चरण प्रस्तुत कर दिया। 'हर्ज' के नाम पर ध्वनि-तारता [पिच] का अन्तर्राष्ट्रीय मात्रक विख्यात है जिसका 'किलो हर्ज', 'मेगा हर्ज' आदि के रूप में रेडियो प्रसारण में अधिक प्रयोग होता है।

[हीलिओ-ट्रॉपिज्म : १७२, ४] सूर्यावर्त ; सूर्यानुवर्तन ; सूर्य के प्रकाश की ओर उन्मुख होने की प्रवृत्ति जो सूरजमुखी-स्वभाव की वनस्पतियों का लक्षण है। ००

जब तक भारतीय मुद्रण कला का इस रूप में विकास नहीं हो जाता कि सर्वशुद्ध मुद्रण सम्भव हो तब तक छपाई में आ जाने वाली त्रुटियों की कुछ इस रूप में चर्चा आवश्यक है। प्रस्तुत प्रसंग में तीन प्रकार की त्रुटियां सामने आयीं :

१. रस भंग करने वाली अनर्थकारी त्रुटियां। इन्हें तुरन्त शुद्ध कर तब पाठ आरम्भ करना उचित होगा :

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	१४	विभ्रत	विव्रत
७	१७	इस बात की तवज्जुह	इस की ओर तवज्जोह
१०	१३	रंगमात्र	रंचमात्र
५५	३१	कुछ	क्रुद्ध
८४	२४	अघूवड़	अघबूड़
८५	१३	हा	हो
९०	१४	ऑन	ओन
९०	२२	आड	आठ
९४	१८	उत्खनित	उत्खनक को
९७	३४	फाटक	फटाक
९९	७	हैरानी	हैरान
१२०	१६-१७	मुक्ति-तर्क	युक्ति-तर्क
१२७	७	जो	यो
१४९	१०	१८९८	१८९४
१४९	२०	उत्तेजित	उत्तेजक

परिशिष्ट: ८

अन्तिम परिष्कार

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५०	२०	प्रक्रिया	प्रतिक्रिया
१७५	५	द्रव्याकार	द्रवाकार
१७७	३४	द्रव्य	द्रव
१७९	११	परिणाम	परिमाण
१८४	१४	इन्द्रिय-जन्य	इन्द्रियगम्य
१८४	२१, २७, ३५	समुख	सम्मुख
१८५	५	समुख	सम्मुख
१८९	२८	पॉटेशियम ब्रमाइड	पोटैशियम ब्रोमाइड
१९७	२५	जो	यह
१९७	२८	इनऑर्गिक	इनऑर्गनिक
२२१	१६	सकतो	सकते
२३३	३	काव्य-क्रंदन-संगत	काव्य-क्रन्दन—संगत
२४१	१२	के	में
२४५	२	सुहृदरेषु	सुहृद्वरेषु
२४६	२	सुहृदरेषु	सुहृद्वरेषु
२५०	८	अस्त्र	शस्त्र
२५५	६	ज्वाल	ज्वाला
२५५	६	हिन्दुस्तान	हिन्दुस्तानी
२६८	१	रॉ	रो
२६८	१०	उद्धत	उद्यत
२६८	११	-तक	-तव
२६८	२७	रोन्टेजन	रोण्टजन
२६८	२८	रोन्टेजन	रोण्टजन
२६८	३०	१८८५	१८९४
२६८	३४	मैसनी	मैस्कार्ट
२६९	३	ज्ञान	सान
२७०	८	प्रवर्त	प्रवत्तित
२७१	५	आनुभाविक	आनुभविक
३१५ श्लोक पं.	२	रुग्दातो	रुद्गीतो
३१७ "	३	फलै	फलै-
३२० "	२	धर्मा...	घर्मा...
३२६ "	२	दिग्तटानि	दिक्तटानि
३२६ "	४	घर्मार्तैः	घर्मार्तैः

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२७ श्लोक पं.	१	महीध्रमूर्घ्नि	महीध्रमूर्ध्नि
३२७ "	२	नवकर्णिकार:	नवकर्णिकार:
३२८ "	१	तोयात्तीर्णा श्रयति	तोयात्तीर्णाश्रयति
३३३ "	४	फलान्याकण्ठमुक्तिण्ठित:	फलान्याकण्ठमुत्कण्ठित:
३४६	१४	विद्याधर	विद्याकर
३४९	२	उन्मुक्त	उन्मुख
४००	३०	पत्रावली	पदावली
४२८	५	सद्याश्रित	तात्कालिक
४२८	६	अवैविध्य	वैविध्यहीन
४३०	४	निसर्ग	नैसर्गिक
४३१	३	शीशा	सीसा
४४३	६	दार्शनीकरण	दर्शनीकरण
४४९	१२	अंजन	इंजन
४५३	८	पैरो	पैसे
४६८	३६	पर	को
४७७	९	पाटी-वस्ते	पाटी-वरते
५१५	३२	सृजन-कला	सृजन—कला
५७६	१०	आ की	आने की

२. लिंग, वचन, कारक आदि की भूलें—संभव है पाठक स्वयं ही इसे ठीक कर लें फिर भी, वाधा पड़ने की आशंका है।

८	१२	वैठ	वैठे
२९	१८	वन	वने
३१	३२	पड़ी	पड़ीं
४७	१२	जमे	जमी
४७	१३	सारा	सारी
४९	११	की	के
५५	६	विन्दु को भी	विन्दु से भी
६४	१०	हुंई	हुई
७६	२९	कोई	किसी
८४	१४	कैसा	कैसी
९२	३	लोह	लोहे
१०६	१८	पहुंचता	पहुंचाता
१०८	१३	है	हैं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०८	२१	हमारे	अपने
११६	२२	यही चेष्टा ही	यह चेष्टा ही
१२२	१	यही बेसुरापन ही	यह बेसुरापन ही
१२२	६	तुम्हारे	अपने
१२८	१८	मेरी	अपनी
१३५	२०	वहीं पर ही	वहीं पर
१३६	३२	इसीलिए ही	इसलिए ही
१३७	१४	उसी का प्रतिबिम्ब ही	उसका प्रतिबिम्ब ही
१३९	३०	की	के
१४०	२६	रही	रहा
१५०	१७	वैसी	वैसा
१५१	१६	चाहिए	चाहिएं
१५३	१३	बढ़ानी पड़ी	बढ़ाना पड़ा
१५५	२०	समतलगामी	समतलगामिनी
१५५	२०	निम्नगामी	निम्नगामिनी
१६५	१३	वही संकोचन ही	वही संकोचन
१८२	३२	की	के
१८६	३५-३६	उसी शक्ति से ही	उस शक्ति से ही
१८७	६	जितना	जितनी
२०८	१२	उसी का ही सार	उसी का सार
२१६	१४	हमारे	अपने
२३१	१७	तुम्हारे	अपने
२३६	१६	कोने-कोने	कोने
२३९	२३	मेरे	अपने
२७१	१३	करे दे	कर दे
२७५	१८	चाहिए	चाहिएं
२८५	११	पुरानी	पुराने
२८८	११	हाजिर-जवाबी	हाजिर-जवाब
२९०	३३	अच्छी	अच्छे
३०९	२१	तुम्हारी	अपनी
३४७	२२	की	के
३७२	१६	सुहाती	सुहाता
३७२	१७	सुहाती	सुहाता

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३७३	१०	अधिकांश भाग	अधिक भाग
३८५	६	आखिरकव	आखिर कव
४२०	१५	कोई	किसी
४२०	१८	कोई	किसी
४३१	१५	की	का
४३१	१६	अपनी आत्मरक्षा	अपनी रक्षा
४४१	४	है	हैं
४४३	३५	रखने से	रखने में
४४४	१८-१९	इसी...ही का	इसी...का
४४७	३४	की	के
४८६	२९	अपनी	अपने
४८७	२२	हा	हां
५०७	६	मेरे	अपने

३. ऐसी विकृतियां जिन के बावजूद शब्द पहचाना जाता है। मुद्रण-काल में कहीं (ं) लोप से, कहीं अनावश्यक (ं) लगने से, व-व, य-थ, प-ष, ट-ठ, र् (ꞅ) ऋ (ृ) (ं) या अन्य मात्राओं के लुप्त, या एक दूसरे की जगह, या अधिक हो जाने से ये दोष उत्पन्न हुए हैं। वर्णानुक्रम से निम्नलिखित शब्दों के शुद्ध रूप ध्यान में रखने से भ्रम-भूल से बचा जा सकेगा :

अंट-शंट, अंतःप्रकृति, अंतःप्रज्ञा, अचरज, अत्यन्त, अदृश्य, अधीन, अनगढ़, अनावृत [आवृत], अनिर्दिष्ट, अनहैप्पी [हैप्पी], अनुगृहीत, अपराह्ण [मध्याह्न], अभाव, अवश्य, ऑइस्टर, आर्त्तनाद, आवेष्टित [परिवेष्टित, वेष्टित], आह्लादकारी, इनकार, इलेक्ट्रिक, ईर्ष्या, उद्दीपन, उनचास, ऊर्मि, ऊर्ध्व, एकच्छत्र, एलोपैथीक, एवं, कैरेक्टरिस्टिक, कुमायूं, क्रेस्कोग्राफ, क्रुक्स, क्रोपाट्किन, क्वणन, खा-मखाह, खीसें, गंधी, गंवा, गण्यमान्य, गुम्फित, गारीबाल्दी, चयित, चिनगारी, चिह्न [चिह्नित], चेक, छवि, छायी, छेनी, जड़ें, ज़बान, जवाब, जाग्रत, जितने, जिह्वा, टाल-मटोल, ठिठोली, डांड़, डाइनोसौर, तत्त्व, तावीज, तैंतीस, तोक्यो, थोड़ा, दीप्त, दुःख, दुर्दशा,, दुर्दिन, दोस्त, दौर, द्रष्टव्य, द्रष्टा, धारणागम्य, धुआं, नम्बर, नरक, नासपीटे, निर्निमेष, निर्भर, निर्मित, निर्विघ्न, निविड़, निवृत्त, निस्संशय, नीरोग, नेस्तोनाबूद, पड़ूं, परवरिश, परिपूर्ण, परिवर्द्धित, पृथ्वी, पैनी, पैवन्द, पोंछ, प्रक्रिया, प्रान्तर, प्रायश्चित्त, बनायी, बहिः, बावर्ची [बावर्चिन], बहुरंगी, बाग-बगीचों, बारिश, बासी, बिन्दु, बिसूरता [ते], बीभत्स, बुद्ध, बृहत्त्व, बृहदाकार, बेंच, बेशी, बेशकीमत, बर्तोल्त ब्रेख्त, भावधारा, भविष्य, भोंका, भोंडा [डी], मक्सिम गोर्की, मनुष्य, मनोवांछित, महत्त्व, महाशक्ति, माणिक्य, मिल, मूर्च्छित, मैग्नेटिक (-टिज्म),

मेसर्स, रवि, रोव, वकालत, वरगला, विक्षत, लॉरेन्स, लुक-छिप, लैटिन, वर्णिका, वॉन गॉग, वसंत, वानस्पतिक, वास्तविकता, विराजमान, वैर, वैषम्यपूर्ण, व्यंजना, व्यक्ति, शान्ति, शिचिरि, श्रृंगारिक, पड्, संक्रान्तिमय, संगृहीत, सम्वन्धों, संसार, सड़ांध, सदनुष्ठान, सदृश, सलोनी, साइण्टिफिक, साधनकृच्छ्रता साद्धर्म्य, सुसंगतता, सूक्तिकारों, सेकण्ड, समोवार, स्तंभ, स्तब्धता, स्नानाहार, स्रष्टा, हतप्रभ, होम्योपैथी। ०००